श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्ड की

प्रस्तावना

श्री

किमपि प्रास्ताविकम्

औपनिषद-पुरुष के अनुग्रह से 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—तृतीय खण्ड' उपनिषत् प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। एवं प्रस्तुत तृतीय-खण्ड की उपरति के साथ ही खण्ड-त्रयात्मक 'भूमिकाग्रन्थ' उपरत हो रहा है। प्रस्तुत तृतीय खण्ड में आठ स्तम्भ समाविष्ट हैं, जिनकी संक्षिप्त दिशा से यों परिचय प्राप्त किया जा सकता है कि—

(१)—विज्ञान-स्तुति-इतिहास-निरूपणात्मक ११३१ अवान्तर-शाखाग्रन्थों में विभक्त 'संहितावेद' वेदशास्त्र का प्रथम विभाग है। निष्कामकर्म्मयोगात्मक धर्म्मबुद्धियोग का प्रतिपादक, संहिताशाखाभेदानुरोध से ११३१ शाखाग्रन्थों में ही विभक्त 'विधि' नामक 'ब्राह्मणवेद' वेदशास्त्र का द्वितीय विभाग है। निष्कामभक्तियोगात्मक ऐश्वर्य्यबुद्धियोग (उपासना) का प्रतिपादक, ११३१ शाखाग्रन्थों में ही विभक्त 'आरण्यकवेद' वेदशास्त्र का तृतीय विभाग है। ज्ञानकर्म्मोभयलक्षण वैराग्यबुद्धियोग का प्रतिपादक, एवं निवृत्तिकर्म्मात्मक ज्ञानयोगापरपर्य्यायक ज्ञानबुद्धियोग का लोकसंग्रहदृष्ट्या संग्रह करने वाला ज्ञानकर्म्मोभयसमत्वलक्षण वैराग्यबुद्धियोग का प्रतिपादक, ११३१ शाखाग्रन्थों में ही विभक्त 'उपनिषद्वेद' वेदशास्त्र का चतुर्थ, किंवा अन्तिम विभाग है। अतएव यह 'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वेद के अन्तिम (चतुर्थ) भागरूप उपनिषद्वचनों के पारस्परिक समन्वय के लिए प्रवृत्त होने वाला सूत्रग्रन्थ (व्याससूत्र) भी इसी दृष्टि से लोकव्यवहार में 'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध हो पड़ा है। आत्माद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादक वेदान्तशास्त्र (उपनिषच्छास्त्र) किसी अद्वय-अखण्ड-निरञ्जन-निर्द्धर्म्मक-निरस्तसमस्तोपाधि-प्रपञ्चोपशम ब्रह्म को मूलाधार बनाता हुआ ही सञ्चर-प्रतिसञ्चररूपेण द्विधा विभक्त विश्वविज्ञान के मौलिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करने वाला सच्छास्त्र प्रमाणित हो रहा है। आत्मसत्ताद्वारेण सुप्रतिष्ठित मौलिक विज्ञानसिद्धान्त ही मानवीय प्रज्ञा को लक्षीभूत विषय के सान्निध्य में निश्चयरूपेण निर्भ्रान्तरूपेण प्रतिष्ठित कर सकता है। अतएव यह उपपत्तिविज्ञानात्मक मौलिक सिद्धान्त ही-'उप-नि-षत्' रूप से 'उपनिषत्' शब्द का अवच्छेदक बना हुआ है जैसा कि भूमिकाप्रथमखण्ड में विस्तार से प्रतिपादित है। "ज्ञानसहकृत विज्ञानसिद्धान्त ही उपनिषत् इसलिए है कि, इसके द्वारा मानवीय-प्रज्ञा लक्षीभूत विषय के उप-समीप अन्तस्तल पर, नि निश्चयेन-आस्थान-श्रद्धान पूर्वक, षत्-प्रतिष्ठित हो जाती है"।

इत्थंभूत वेदान्तलक्षण उपनिषच्छास्त्र की बहिरङ्गपरीक्षा से सम्बन्ध रखने वाले **'वेद पौरुषेय है, अथवा अपौरुषेय ?'** इस प्रक्रान्त प्रश्न के समाधान के लिए ही प्रस्तुत तृतीयखण्ड में-**'पौरुषेयापौरुषेयमीमांसा'** नामक प्रथमस्तम्भ का समावेश हुआ है। भगवान् जैमिनि के-**'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध ०'** इत्यादि सूत्रसन्दर्भ के माध्यम से ही इस स्तम्भ में उक्त प्रश्न के समन्वय की चेष्टा हुई है, जिसका निष्कर्ष यही है कि वाङ्मय नित्यशब्दात्मक वेदशास्त्र जहाँ सर्वथा अपौरुषेय है, वहाँ प्रयोगशब्दात्मक वेदशास्त्र **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृति-र्वेदे'** इत्यादि कणादसिद्धान्तानुसार पौरुषेय ही है, कृतक ही है। इस प्रश्न के माध्यम से विद्वत्समाज में विगत-कतिपय शताब्दियों से नितान्त भावुकतापूर्ण जो विवाद प्रक्रान्त है, उससे वेदशास्त्र पर आस्था-श्रद्धा-रखने वाले सामान्यवर्ग का अहित ही हुआ है। इसी प्रश्न के महासमारम्भात्मक वाक्-कलह ने विद्वानों की प्रज्ञा को स्वयं वेदशास्त्र के ज्ञातव्य-कर्त्तव्य-रहस्यपूर्ण तत्त्वों से पराङ्मुख ही प्रमाणित किया है। **'वेद ईश्वर के बनाए हुए हैं, अथवा मनुष्यों के द्वारा (ऋषियों के द्वारा) बुद्धिपूर्वक अन्य ग्रन्थों की भाँति इनकी भी रचना हुई है ?'** इस प्रश्न का उस समय यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व शेष नहीं रह जाता, जब कि हम चतुर्थी विभक्त स्वयं वेदशास्त्र के **'तत्त्वात्मक वेदपदार्थ'** का स्वरूप अवगत कर लेते हैं। भूमिका-द्वितीय खण्ड में विस्तार के साथ इसी तत्त्वात्मक वेदपदार्थ की व्याख्या हुई है। अभी कुछ ही समय पूर्व व्याकरणशास्त्र के एक प्रज्ञाशील विद्वान् का किसी अर्वाचीन-प्रज्ञानिष्ठ के साथ हमनें उस दिशा में जैसा पारस्परिक वाग्विजृम्भण देखा-सुना, उससे सहसा हमें इसलिये स्तब्ध हो जाना पड़ा कि, दोनों ही विद्वान् वेदस्वरूपचर्चा से कोई सम्बन्ध न रखते हुये केवल कल्पना के आधार पर ही अहमहमिका के अनुगामी बने हुये थे। शब्दशास्त्रज्ञ महाभाग का आवेशपूर्वक इस सम्बन्ध में यह तर्क था कि,-"यदि कोई हमें यह प्रमाणित कर दे कि, अमुक वर्ष-तिथि-स्थान में बैठ कर अमुक ने वेद बनाया, तो हम उसे इसी क्षण दशसहस्र पुरस्कार प्रदान कर सकते हैं"। वेदप्रामाण्य से सम्बन्ध रखने वाली इस आस्था-श्रद्धा का जहाँ अभिनन्दन किया जायगा, वहाँ इसप्रकार के बालोपलालन को सर्वथा इसलिये आपातरमणीयमूलक अभिनिवेश ही माना जायगा कि, इसप्रकार की काल्पनिक संधार्षा से कदापि वेदशास्त्र का गौरव सुरक्षित नहीं रक्खा जा सकता। वर्त्तमान युग की प्रतीच्य प्रज्ञा जहाँ वेदार्थमीमांसा में सतत-जागरूक बन रही हो, वहाँ हमारे वर्गों की प्राच्यप्रज्ञा इत्थंभूत केवल वाग्विलापन से ही अपनी वेदप्रामाण्यभक्ति का अवसान करती रहे, सचमुच यह शोचनीय अवस्था है। शीघ्र से शीघ्र इस विवाद को उपरान्त कर भारतीय मानवप्रज्ञा अपने सर्वस्वरूप वेदशास्त्र के तात्त्विक चिन्तन में प्रवृत्त होने का निःसीम

अनुग्रह करे, इसी कामना से जैमिनिसूत्रसन्दर्भ के माध्यम से प्रथमस्तम्भ का प्रकृत खण्ड में समावेश हुआ है।

(२)—वेद के अन्तिम भागात्मक उपनिषदों में किन किन विषयों का निरूपण हुआ है ?, द्वितीय स्तम्भ इसी प्रश्न की समाधानदिशा के लिए प्रवृत्त हुआ है। प्रश्न का वास्तविक समाधान तो अनन्यनिष्ठानुगत चिरन्तन स्वाध्यायव्रत पर ही अवलम्बित है। तथापि तात्कालिक कल्परूप-शान्तिमात्र के लिये प्रस्तुत स्तम्भ में औपनिषद आत्मतत्त्व के स्वरूप विश्लेषण के द्वारा 'ईश–केन–कठ–प्रश्न–मुण्डक–माण्डूक्य–तैत्तिरीय–ऐतरेय–छान्दोग्य–बृहदारण्यक–श्वेताश्वतर–कौषीतकि–मैत्रायणी' इन १३ उपनिषद्ग्रन्थों की विषयतालिका उद्धृत कर दी गई है। उपनिषत्–स्वाध्यायव्रतियों को अवश्यमेव इसके द्वारा अंशतः तुष्टिभाव उपलब्ध हो सकेगा, ऐसी आस्था है।

(३)—'आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर,' मानवीय संस्था के स्वरूपसम्पादक इन चारों पर्वों में उपनिषदों के द्वारा क्या अतिशयाधान होता है ?, चारों के दोषमार्ज्जन–हीनाङ्गपूर्त्ति, तथा अतिशयाधान के लिये उपनिषदों से मानव को कौन कौन सी मौलिक शिक्षाएँ उपलब्ध होती हैं ?, सहजभाषानुसार–'उपनिषत् हमें क्या सिखाती है ?,' औपनिषद–शिक्षा का मानव के आत्मजीवन में तो क्या उपयोग है ?, एवं लोकजीवन में क्या उपयोग है ?, प्रस्तुत स्तम्भ इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है।

(४)—"ईश्वरीय ज्ञानात्मक वेद का मानवमात्र को अधिकार है, क्योंकि सभी मानव ईश्वर की ही सन्तान हैं, सभी में आत्म–बुद्धि–मन –शरीर–भावसमन्विता समानता व्यवस्थित है" इस प्रकार के तत्त्वज्ञानशून्य-प्रकृतिरहस्यविज्ञानपराङ्मुख-हेत्वाभास के द्वारा समानाधिकार-व्यामोहन से व्यामुग्ध बन जाने वाले कल्पित 'मानवता' के अनुगामी भावुकभेदों के उद्बोधन के लिये ही प्रस्तुत चतुर्थ स्तम्भ समाविष्ट हुआ है। अवश्य ही भौतिक–शारीरिक–मानसिक–एवं ऐन्द्रियक बाह्य–आकार–प्रकार की दृष्टि से मानवमात्र का एक ही 'मानवजाति' में अन्तर्भाव है। एवं इस दृष्टि से मानवजाति समानाधिकार की ही अनुगामिनी मानी जा सकती है, मानी गई है, जो कि भौतिक–समानाधिकार आहार–निद्रा–भयादि भौतिक अधिकारों पर ही विश्रान्त है। भोजन–वस्त्र–शयन–अपत्योत्पादन–गमन–हसन–मानसिक विनोद–आदि भौतिक विषयों में सभी मानव समानाधिकार से समन्वित हैं, क्योंकि इन अधिकारों का उस 'मानवजाति' से सम्बन्ध है, जो मानवजाति 'आकृतिग्रहणा जाति' के अनुसार मानव के बाह्य भौतिक शारीरिक ऐन्द्रियक आकारों के आधार पर प्रतिष्ठित है।

७—सप्तम स्तम्भ में "औपनिषद्–ज्ञान के प्रथम प्रवर्त्तकत्त्व" को बीज मान कर इस से सम्बन्ध रखनें वाले लोकानुरञ्जक समाधान का स्पष्टीकरण हुआ है । एवं अन्ततोगत्वा ब्रह्मर्षिवंश से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्तपक्ष का स्थापन हुआ है ।

८—एक विशेष कारण से पौरुषेयशास्त्रों में गीताशास्त्र सदा से ही सर्वमूर्द्धन्य प्रमाणित होता आ रहा है । गीताशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली इसी आस्था–श्रद्धा ने आज सर्वसामान्य का भी ध्यान इसी की ओर केन्द्रित कर लिया है, जिस आस्था–श्रद्धा का अभिनन्दन ही किया जायगा। यह सब कुछ अभिनन्दनीय होनें पर भी गीताशास्त्र को ही स्वकर्त्तव्यकर्म्मनिर्णय में प्रमुख मान बैठना सर्वथैव भावुकता ही कही जायगी इसलिए कि, गीताशास्त्र किसी भी कर्त्तव्यकर्म्म का अनुशासन नहीं करता। 'क्या करना चाहिए ?, क्या नहीं करना चाहिए ?' गीता का इस प्रश्न के समाधान से कोई सम्बन्ध नहीं है । अपितु जब भी गीताशास्त्र से कर्त्तव्य–कर्म्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया जाता है, तो यह इस प्रश्न का समस्त उत्तरदायित्त्व अपनें से अन्यशास्त्र के प्रति ही समर्पित कर देता है, जैसा कि–'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' इत्यादि से स्पष्ट है ❀ ।

अक्षरप्रकृतिमूलक, वेदप्राणस्वरूपव्यवस्थापक–संहिता–ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषत्–रूपेण चतुर्द्धा विभक्त 'श्रुतिशास्त्र', क्षरप्रकृतिमूलक–भूतप्राणस्वरूपव्यवस्थापक–मनु–याज्ञवल्क्य–वसिष्ठ–विष्णु–आदि रूपेण विभक्त मन्वर्थानुसारी 'स्मृतिशास्त्र', एवं क्षराक्षरप्रकृतिनिबन्धन शिपि विष्टारमक पशुप्राणस्वरूपोपबृंहक 'पुराणशास्त्र', यह शास्त्रत्रयी ही गीता के द्वारा निर्दिष्ट वह 'शास्त्र' है, जिसके सुव्यवस्थित विधि–विधानों के आधार पर ही भारतीय मानव की कर्त्तव्य-कर्म्मनिष्ठा, तत्त्वोपासना, एवं निवृत्तिमूलक ज्ञान प्रतिष्ठित है। बिना इस शास्त्रत्रयी के केवल गीताभक्ति के आधार पर कदापि आस्तिक मानव कर्त्तव्यनिष्ठा को सुरक्षित नहीं रख सकता । प्रश्न सम्भव है कि, फिर गीता का उपयोग ही क्या ? । इसी प्रश्न के समाधान के लिए अष्टम स्तम्भ प्रवृत्त हुआ है । जो उपयोगिता अपौरुषेय श्रुतिशास्त्र में उपनिषच्छास्त्र की है, वही

❀–यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ॥
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं, न परां गतिम् ॥१॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ॥
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्मकर्तुमिहार्हसि ॥२॥
—गीता० १६।२३,२४, ।

उपयोगिता पौरुषेय गीताशास्त्र की है। जिन विज्ञानसिद्धान्तात्मक कर्म्मोपास्तिज्ञान-कौशलों का उपनिषच्छास्त्र सर्वथा रहस्यपूर्ण, एवं संक्षिप्त भाषा में निरूपण करता है, गीताशास्त्र उन्हीं कौशलों का, औपनिषद-रहस्यों का सर्वथा लोक-प्राञ्जल-भाषा में विस्तार से निरूपण करता है। कैसे करना चाहिए ?, क्यों करना चाहिए ?, क्या विज्ञानसिद्धान्त है अमुक कर्म-उपासना ज्ञान का ?, इत्यादि जिन प्रश्नों का उपनिषदों में संक्षेप से दिग्दर्शन हुआ है, गीताशास्त्र में उन्हीं का विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है। संकोचभाव का विस्तार ही 'गान' है। इसी विस्तारभाव के कारण भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के मुखपङ्कज से विनिःसृत यह तत्त्ववाद, एवं भगवान् कृष्ण द्वैपायन के द्वारा प्राञ्जलभावोपेता इतिहासभाषा में (महाभारत में) संकलित शब्दात्मक यह शास्त्र 'गीताशास्त्र' नाम से व्यवहृत हुआ है। उपनिषदों के रहस्यार्थों का विस्तार से निरूपण करने के कारण ही इस पौरुषेय भी गीताशास्त्र को अपौरुषेया 'उपनिषत्' की उपाधि से समलङ्कृत कर दिया गया है जैसा कि-'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु०' इत्यादि अध्यायोपसंहारवाक्य से प्रमाणित है। समस्त वेदशास्त्र की संक्षिप्ता सूची' का स्थान ग्रहण करने वाला गीताशास्त्र अवश्य ही अपौरुषेय उपनिषच्छास्त्र का ऐसा प्रातिनिध्य कर रहा है, जिसे साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से अभिभूत कर हमनें सर्वथैव विस्मृत कर दिया है।

उक्त आठ स्तम्भों के अतिरिक्त इच्छा न रहते हुए भी मन्मित्रों के विशेष आग्रह से सर्वान्त में 'परिशिष्टसंग्रह' नामक एक प्रकरण का समावेश और हो गया है जिसमें उन शास्त्रीय प्रमाण-वचनों की अक्षरार्थसङ्गति कर दी गई है, जो वचन प्रस्तुत तृतीय खण्ड में यत्र-तत्र समाविष्ट हुए हैं। उपनिषत्-स्वाध्याय में प्रवृत्त होने वाले मादृश वेदवीथि-पथिकों के लिए यह प्रयास अवश्य ही सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः मनस्तुष्टि का ही कारण प्रमाणित होगा।

आज से अनुमानतः १३ वर्ष पूर्व खण्डत्रयात्मक यह भूमिकाग्रन्थ सम्पन्न हो गया था। किन्तु नियति के निग्रह से अद्यावधि इसे व्यक्तीभाव का अवसर प्राप्त न हो सका। विगत कार्त्तिक मास में स्थापित 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' के सहयोग से प्रकाशनप्रवृत्ति पुनः प्रक्रान्त हुई है, जिसके परिणामस्वरूप संस्थान की ओर से अब तक तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। खण्डचतुष्टयात्मक-'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता' नामक ग्रन्थ का प्रथम खण्ड प्रथम प्रकाशित हुआ। अनन्तर 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड' प्रकाशित हुआ*। एवं तीसरा प्रकाशन अष्टस्तम्भात्मक प्रस्तुत 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्ड' है।

---

* 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-प्रथमखण्ड' आज से १०-१२ वर्ष पूर्व प्रकाशित हो गया था, जो योग्य विद्वानों में निःशुल्क बाँट दिया गया है। पुनःप्रकाशनानन्तर ही इस प्रथमखण्ड की उपलब्धि सम्भव होगी, जो कि पुनःप्रकाशन यथावधि तो संस्थान-संचालकों की मानसेच्छा (उस्यात्याकांक्षा) पर ही निर्भर है।

सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी माननीय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल महाभाग की प्रेरणा के फलस्वरूप ही संस्थान स्थापित हुआ, जिसमें प्राणप्रतिष्ठा की श्रेष्ठिप्रवर श्रीकुञ्जीलालजी सेक्सरिया श्रीमहावीरप्रसादजी मुरारका, तथा श्रीजगदीशप्रसादजी सेक्सरिया महाभाग ने। चैसाकि, डॉ० महाभाग का अनुमान था, प्रारम्भिक मूलप्रतिष्ठा के अनन्तर ही राजस्थानसत्ता का ध्यान भी संस्थान की ओर आकर्षित होगा, एवं तन्माध्यम से संस्थान-प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठित बन जायगी। इसी दृष्टिबिन्दुमाध्यम से डॉ० महाभाग निरन्तर १० मास से प्रयत्नशील हैं। राजस्थानसत्ता के माननीय मुख्यमन्त्री महोदय श्रीसुखाडियाजी महोदय से भी संस्थान के अन्यतम सस्कृतिनिष्ठ माननीय श्रीलक्ष्मीलालजी जोशी महोदय के माध्यम से ३-४ वार साक्षात्कार हुआ, जिनमें माननीय मुख्यमन्त्री महोदय ने पूर्णनिष्ठा के साथ ही इस दिशा में अविलम्ब कुछ न कुछ करने का आश्वासन प्रदान किया। 'आशा बलवती राजन्!' न्याय से अब भी डॉ० महोदय इस दिशा में निराश नहीं हैं। और हम भी यही मङ्गलकामना अभिव्यक्त कर रहे हैं कि, अवश्य ही डॉ० महाभाग को इस दिशा में कभी न कभी अवश्य ही सफलता प्राप्त होगी।

जहाँ तक हमारा अपना प्रश्न है, इस दिशा में यह प्रपत्ति अश्मालग्णभावापन्ना बन चुकी है कि,-"जब तक व्यापकरूप से इस आर्ष वैदिक साहित्य की ज्ञानविज्ञानात्मिका मौलिक दिशा से राष्ट्रप्रज्ञा परिचित नहीं हो जाती, तब तक प्रा तीय सत्ताओं से, एवं केन्द्रसत्ता से केवल इतस्ततः धुन्धुम्यमाणवृत्ति से इस दिशा में कदापि सफलता नहीं मिल सकती"। विगत तीन वर्ष पर्य्यन्त एक विशेष मित्र के प्रबलतम आग्रह से हमने इस दिशा में पूर्ण प्रयत्न कर लिए हैं, जिनके द्वारा हो पड़ने वाली आर्थिक क्षति का संवरण हम अद्यावधि भी नहीं कर सके हैं। भूतपूर्व मुख्यमन्त्री माननीय श्रीजयनारायणजी व्यास के करकमलों के द्वारा प्रकाशनसमिति का उद्घाटन हुआ। तत्कालीन शिक्षामन्त्री महोदय माननीय श्रीभोलानाथजी महोदय के इस दिशा में निश्चित आश्वासन उपलब्ध हुए। राजस्थानसत्ता के चार मन्त्री तत्कालीन समिति के सम्मान्य सदस्य भी बने। इनकी प्रेरणा से अभिनन्दन-उत्सवादि सभी सामयिक आयोजनों का अनुगमन भी हुआ। किन्तु अन्ततोगत्वा 'पुनस्तथैवावलम्बितो वेताल' ही परिणाम निकला। और अधिक समय पर्य्यन्त इन नग्नप्रयासों के भारवहन में अपने आपको नितान्त असमर्थ अनुभूत करते हुए हमने गतवर्ष की समाप्ति पर ही इस लोकनाट्यात्मिका सत्ता के व्यामोहन से सदा के लिए आत्मत्राण कर लेना ही श्रेयःपन्था मान लिया।

इसी अवसरावेला में मा० डॉ० महोदय ने अपने प्रयास से नवीन 'संस्थान' स्थापित किया, एवं तदीनन्तर से ग्रन्थमाला का उपक्रम किया, जिसका इतिवृत्त पूर्व में स्पष्ट किया ही जा चुका

है। डॉ॰ महाभाग के सान्निध्य का हमने यही अर्थ समझा है कि, "निरतिशय श्रम-परिश्रमात्मक आश्रम-जीवन में संलग्न रहते हुए एकाकीरूप से साहित्यसेवा में प्रवृत्त रहने के कारण सर्वथैव शिथिलकाय बन जाने वाले वर्त्तमान जीवन में ऐसा सहयोग उपलब्ध होगा, जिसके बल पर बाह्य-चिन्ताओं से उन्मुक्त होकर हम अपने शेष जीवन में केवल अध्ययनाध्यापन में ही प्रवृत्त रह सकें"। संस्थान के मुक्त-प्रक्रान्तकाल में अद्यावधि तो हमें ऐसा अवसर नहीं मिल सका है। अपितु ठीक इसके विपरीत अमुक उन समस्याओं का ही साम्मुख्य करना पड़ा है, जिनका स्वाध्यायनिष्ठा से न केवल कोई सम्बन्ध ही नहीं है, अपितु जो एषणाएँ स्वाध्याय-प्रतिबन्धिका ही प्रमाणित हुई हैं। हमें वैसा कोई सा भी लोक-सहयोग किसी भी सन्धा पर अभीप्सित नहीं है, जो समस्यानिराकरण के स्थान में अधिक समस्याजनक बन जाय। 'सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिन' ही हमारे जीवन का मूलमन्त्र रहा है, एवं यावज्जीवन रहेगा बड़े से बड़ा लोकमूल्य चुका कर भी। हम डॉ॰ महोदय से यही आवेदन करेंगे कि, 'संस्थान' का सूत्रपात्र उनकी व्यावहारिकी प्रज्ञा के आधार पर ही हुआ है। अतएव 'संस्थान' का भरसण एकमात्र उनकी निष्ठा पर ही व्यवलम्बित है। सर्वतोभावेन 'संस्थान' का विकास उन्हीं के सहयोग पर अवलम्बित है। हमारा इसप्रकार का स्पष्टीकरण इससे पूर्व भी अमुक मित्रों को हमारी केवल 'सनक' ही प्रतीत होता रहा है। किन्तु यह स्पष्ट है कि-इसी 'सनक' ने हमें अद्यावधि लोकैषणाओं से उन्मुक्त रखते हुये स्वाध्यायनिष्ठ बनाए रक्खा है। हम तो कृतज्ञ हैं संस्थान की ओर से उस श्रेष्ठिप्रवरत्रयी के प्रति, जिसने संस्थान को प्राणदान देने का अनुग्रह किया है, एवं जिसके बल पर तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो सके हैं, एवं दो मेधावी आचार्य्य वेदस्वाध्यायक्रम के अनुगामी बन सके हैं। और इस दिशा में हमारी ऐसी आत्मनिष्ठा है कि, प्रकाशनकार्य्य भले ही कालान्तर में अर्थाभाव से उपरत हो जाय, किन्तु मानवाश्रमविद्यापीठ की यह अध्ययनाध्यापनपरम्परा तो उसी श्रेष्ठिप्रवरत्रयी के अनुग्रह से सदा ही अक्षुण्ण बनी रहेगी। तदतिरिक्त हमारी यह भी आस्था है कि, यदि माननीय डॉ॰ महाभाग कुछ समय पर्य्यन्त 'संस्थान' को ही लक्ष्य बना कर, इसे ही स्थायीरूप प्रदान करने की कामना से निष्ठापूर्वक योगदान का अनुग्रह करेंगे, तो अवश्यमेव 'संस्थान' भारत के लिए एक आदर्श ही प्रमाणित होगा, इसी मङ्गलकामना के साथ यह 'किमपि प्रास्ताविकम्' उपरत हो रहा है।

नम्रो विधेयः—

मोतीलालशर्म्मा (भारद्वाज)
वेदवीथीपथिकः

मानवाश्रमविद्यापीठ—
दुर्गापुरा (जयपुर)
श्रीकृष्णजन्माष्टमी
वि २ १२

सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी माननीय डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल महाभाग की प्रेरणा के फलस्वरूप ही संस्थान स्थापित हुआ, जिसमें प्राणप्रतिष्ठा की श्रेष्ठिप्रवर श्रीकुंडीलालजी सेकसरिया श्रीमहावीरप्रसादजी सुरारका, तथा श्रीजगदीशप्रसादजी सेकसरिया महाभाग ने। जैसाकि, डॉ० महाभाग का अनुमान था, प्रारम्भिक मूलप्रतिष्ठा के अनन्तर ही राजस्थानसत्ता का ध्यान भी संस्थान की ओर आकर्षित होगा, एवं तन्माध्यम से संस्थान-प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठित बन जायगी। इसी दृष्टिबिन्दुमाध्यम से डॉ० महाभाग निरन्तर १० मास से प्रयत्नशील हैं। राजस्थानसत्ता के माननीय मुख्यमन्त्री महोदय श्रीसुखाडियाजी महोदय से भी संस्थान के अन्यतम संस्कृतिनिष्ठ माननीय श्रीलक्ष्मीलालजी जोशी महोदय के माध्यम से ३-४ बार साक्षात्कार हुआ, जिनमें माननीय मुख्यमन्त्री महोदय ने पूर्णनिष्ठा के साथ ही इस दिशा में अविलम्ब कुछ न कुछ करने का आश्वासन प्रदान किया। 'आशा बलवती राजन्!' न्याय से अब भी डॉ० महोदय इस दिशा में निराश नहीं हैं। और हम भी यही मङ्गलकामना अभिव्यक्त कर रहे हैं कि, अवश्य ही डॉ० महाभाग को इस दिशा में कभी न कभी अवश्य ही सफलता प्राप्त होगी।

जहाँ तक हमारा अपना प्रश्न है, इस दिशा में यह प्रपत्ति अस्मात्सर्णामावापन्ना बन चुकी है कि,-"जब तक व्यापकरूप से इस आर्ष वैदिक साहित्य की ज्ञानविज्ञानात्मिका मौलिक दिशा से राष्ट्रप्रज्ञा परिचित नहीं हो जाती, तब तक प्रादेशीय सत्ताओं से, एवं केन्द्रसत्ता से केवल इतस्ततः वन्द्रन्यमाणधृति से इस दिशा में कदापि सफलता नहीं मिल सकती"। विगत तीन वर्ष पर्य्यन्त एक विशेष मित्र के प्रबलतम आग्रह से हमने इस दिशा में पूर्ण प्रयत्न कर लिए हैं, जिनके द्वारा हो पड़ने वाली आर्थिक क्षति का संवरण हम अद्यावधि भी नहीं कर सके हैं। भूतपूर्व मुख्यमन्त्री माननीय श्रीजयनारायणजी व्यास के करकमलों के द्वारा प्रकाशनसमिति का उद्घाटन हुआ। तत्कालीन शिक्षामन्त्री महोदय माननीय श्रीभोलानाथजी महोदय के इस दिशा में लिखित आश्वासन उपलब्ध हुए। राजस्थानसत्ता के चार मन्त्री तत्कालीन समिति के सम्मान्य सदस्य भी बने। इनकी प्रेरणा से अभिनन्दन-उत्सवादि सभी सामयिक आयोजनों का अनुगमन भी हुआ। किन्तु अन्ततोगत्वा 'पुनस्तथैवावलम्बितो वेतालः' ही परिणाम निकला। और अधिक समय पर्य्यन्त इन भ्रान्तभावों के भारवहन में अपने आपको नितान्त असमर्थ अनुभूत करते हुए हमने गतवर्ष की समाप्ति पर ही इस लोकतन्त्रात्मिका सत्ता के व्यामोहन से सदा के लिए आत्मत्राण कर लेना ही श्रेयःपन्था मान लिया।

इसी अवमानवेला में मा० डॉ० महोदय ने अपने प्रयास से नवीन 'संस्थान' स्थापित किया, एवं नवानरूप से सत्तासहयोग का उपक्रम किया, जिसका इतिवृत्त पूर्व में

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्ड की
संक्षिप्त-विषयसूची

(२)–द्वितीयस्तम्भे-एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्या —

इति–चतुश्चत्वारिंशत्–(४४)–परिच्छेदात्मक.–द्वितीय–स्तम्भ

—२—

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्ड की

संक्षिप्त-विषयसूची

१–प्रथमस्तम्भे-एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्याः—

इति–एकोनविंशति–(१९)–परिच्छेदात्मकः–प्रथम'–स्तम्भ

—१—

६—षष्ठस्तम्भे-एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्या —

इति-अष्ट (८) परिच्छेदात्मक-षष्ठ -स्तम्भ

—६—

———❀———

७— सप्तमस्तम्भे-एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्या —

इति-षट्-(६)-परिच्छेदात्मकः—सप्तम-स्तम्भ

—७—

———❀———

८—अष्टमस्तम्भे-एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्या —

इति—षट्—(६)—परिच्छेदात्मकः—अष्टमः—स्तम्भ

८

———❀———

उपरतश्चाय अष्टस्तम्भात्मकः—भूमिका—तृतीयखण्ड

उपरता चेय तृतीयखण्डस्य

सङ्क्षिप्ता—विषयसूची

३–तृतीयस्तम्भे–एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्या —

इति–दश (१०) परिच्छेदात्मक –तृतीय -स्तम्भ

—३—

———*———

४–चतुर्थस्तम्भे–एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्या—

इति–दश–(१०)–परिच्छेदात्मक–चतुर्थ स्तम्भ

—४—

———*———

५–पञ्चमस्तम्भे–एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्या —

इति—नव–(९)–परिच्छेदात्मक–पञ्चम -स्तम्भ

—५—

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

पौरुषेय-अपौरुषेयमीमांसा नामक

प्रथमस्तम्भ

१

——*——
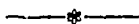
श्रीः

ओं तत् सद्-ब्रह्मणे नमः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका

तृतीयखण्ड

१—पौरुषेय-अपौरुषेय मीमांसा (प्रथमस्तम्भ)

१—माङ्गलिक संस्मरण—

नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥१॥

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति—"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥२॥

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥३॥

वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥४॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥५॥

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ ॥६॥

ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥७॥

२—मन्दर्ममङ्गति—

"आत्मनिवेदन, मङ्गलरहस्य, उपनिषच्छब्दार्थ, उपनिषदों का वेदत्व" इन चार विषयों का भूमिका-प्रथमखण्ड में क्रमिक निरूपण हुआ है। चारों में से चौथा विषय किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए बहुविस्तृत बन गया है। पहिले हमारा ऐसा अनुमान था कि, भूमिका प्रथमखण्ड में ही चौथे विषय का स्पष्टीकरण हो जायगा, एवं द्वितीयखण्ड में प्रतिज्ञात शेष पाँचों विषयों का समावेश हो जायगा। फलतः भूमिका

३–दार्शनिक दृष्टि, और मीमांसासूत्र—

उक्त प्रश्न के वैज्ञानिक निर्णय से पहिले हमें दार्शनिकों के, विशेषत पूर्वमीमांसा (जैमिनिसूत्रों) के उन दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा करनी है, जिनके आधार पर सवभी भाष्यकार शबरस्वामी ने विज्ञानानुमोदित मीमांसासूत्रों की दार्शनिकव्याख्या करते हुए शब्दात्मक वेदग्रन्थों की अपौरुषेयता सिद्ध करने का प्रयास किया है । वेद की अपौरुषेयता के सम्बन्ध में जो सब से महा हेतु हमारे सामने आता है, वह है—'शब्दनित्यतावाद' । स्वयं जैमिनि भगवान् ने शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध मानते हुए इसी वाद का समर्थन किया है ।

सूत्रकार ने जिस दृष्टि से शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध मानते हुए शब्दनित्यता के आधार पर वेद की अपौरुषयता स्थापित की है, उस दृष्टि का अनादिनिधना नित्या उस वाक् से सम्बन्ध है, जिससे नित्य शब्दार्थों का प्रादुर्भाव हुआ है । 'वागृषिभ्यश्च वेदा' इत्यादि श्रुतिसिद्ध वाङ्मय वेद नित्या वाक् से सम्बन्ध रखता हुआ अवश्य ही अपौरुषेय है जिस अपौरुषेय वेद को हम 'वेदविद्या' कहा करते हैं, जिसके स्पष्टीकरण के लिए 'वेदग्रन्थों' का आविर्भाव हुआ है । परन्तु भाष्यकार शबरस्वामी की पक्तियों से कुछ ऐसा भान हो रहा है कि, वे शब्दात्मक वेदग्रन्थों को ही अपौरुषेय मानने का प्रयास कर रहे हैं, जो कि प्रयास 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वै द०) इत्यादि कणाद सिद्धान्त से तो विरुद्ध है ही, साथ ही स्वयं सूत्रों से भी यह प्रयास गतार्थ नहीं हो रहा ।

अस्तु जैमिनिसूत्रों का विज्ञानानुमोदित तात्पर्य्य क्या है ?, यह आगे स्पष्ट होने वाला है । अभी तो हमें लोकप्रचलित शबर–स्वामी की दृष्टि को लक्ष्य में रख कर दार्शनिक दृष्टि से ही वेद की अपौरुषयता का विचार करना है । पूर्वमीमांसा ने आरम्भ में 'धर्म्मजिज्ञासा' से विषय का उत्थान करते हुए धर्म्म को 'चोदनालक्षण' (शब्दप्रमाणलक्षण आदेश) बतलाया है । धर्म्म स्वयं एक अतीन्द्रिय पदार्थ है । अतएव धर्म्मप्रामाण्य के सम्बन्ध में इन्द्रियसापेक्ष प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा कोई निर्णय नहीं किया जा सकता । इस सम्बन्ध में तो उन आप्त-पुरुषों का शब्द ही एकमात्र निर्णायक माना जायगा, जिन्होंने अपनी अतीन्द्रियज्ञानलक्षणा आर्षदृष्टि से अतीन्द्रिय धर्म्मतत्त्व का साक्षात्कार कर शब्द के द्वारा उसके सम्बन्ध में अपना निर्भ्रान्त, स्वत प्रमाणभूत निर्णय प्रकट किया है । सूत्रकार के सामने जब धर्म्मजिज्ञासा का प्रश्न उपस्थित हुआ, तो उन्होंने निम्नलिखित सूत्रों से उक्त प्रामाण्य का ही समर्थन किया—

१—"अथातो धर्म्मजिज्ञासा" (१।१।१)

२—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्म" (१।१।२)

३—"तस्य निमित्तपरीष्टि" (१।१।३)

४—"सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म–
सत्प्रत्यक्षनिमित्त, विद्यमानोपलम्भनत्वात्" (१।१।४)

ग्रन्थ दो खण्डों में सम्पन्न हो जायगा। परन्तु उपनिषदों के वेदत्व की मीमांसा आरम्भ करते हुए जब हमनें तात्त्विक वेद के स्वरूप का उपक्रम किया, तो ऐसा भान होने लगा कि, प्रथमखण्ड में इस विषय का पूरा स्पष्टीकरण न हो सकेगा। तात्त्विक वेद से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक वेदनिरुक्तियों का सामान्यतः दिग्दर्शन करा के ही प्रथमखण्ड समाप्त कर देना पड़ा।

भूमिका द्वितीयखण्ड में वेद के तात्त्विक स्वरूप का निरूपण हुआ। वेदपदार्थ से सम्बन्ध रखने वाले विविध विषयों के स्पष्टीकरण से द्वितीयखण्ड का कलेवर यद्यपि प्रथम खण्ड की अपेक्षा से बहुविस्तृत बन गया। तथापि शब्दार्थसिद्धानुबन्धिनी जिस 'पौरुषेयापौरुषेय' समस्या को सुसमन्वित करने के लिए वेद के तात्त्विक स्वरूप का निरूपण हुआ था, अवसर न मिला। परिणामतः इस चौथे विषय के इस अत्यावश्यक अङ्ग के स्पष्टीकरण के लिए, एवं अवशिष्ट शेष पाँच विषयों के लिए भूमिका–तृतीयखण्ड प्रस्तुत करना पड़ा। इस प्रकार आरम्भ में एक ही खण्ड में, एवं आगे जाकर दो खण्डों में समाप्त होने वाला भूमिकाग्रन्थ तीन खण्डों में सम्पन्न हुआ।

यद्यपि हम यह अनुभव कर रहे हैं कि, 'उपनिषद्भूमिका' के सम्बन्ध में वेदनिरूपण को इतना विशद रूप देना ग्रन्थस्वरूपमर्य्यादा से अतिक्रान्त है। इसके लिए हमें स्वतन्त्र ही प्रयास करना चाहिये था। तथापि प्रकरणसमत्व से ग्रन्थमर्य्यादा की उपेक्षा करते हुए उपनिषद्भूमिका में ही 'वेदमीमांसा' का समावेश कर देना सामयिक मान लिया गया। इसी प्रासङ्गिक वेदमीमांसा से प्रस्तुत ग्रन्थ विशद बन गया। भूमिका प्रथमखण्ड के लगभग २० पृष्ठ, ५ पृष्ठात्मक सम्पूर्ण द्वितीयखण्ड, एवं तृतीयखण्ड के १८० पृष्ठ, इस प्रकार सम्भूय ८०० पृष्ठों में तो केवल "क्या उपनिषत् वेद है ?" इस चतुर्थ प्रश्न की ही मीमांसा हुई है।

प्रश्नमीमांसा से सम्बन्ध रखने वाले दार्शनिक, तथा वैज्ञानिक भावों का अब तक स्पष्टीकरण हुआ है। जैसा कि प्रश्नोपक्रम में यह स्पष्ट किया गया था कि, "क्या उपनिषत् वेद है ?" इस प्रश्न का समाधान वेदापौरुषेय–पौरुषेय से सम्बन्ध रखता है, एवं अपौरुषेयत्व भावों की निश्चित मीमांसा के लिए वेद के वैज्ञानिक स्वरूप का विश्लेषण आवश्यकरूप से अपेक्षित है" (देखिए–भू० १ खण्ड ४ प्रकरण, पृ० सं० १–१२७) इसी उपक्रम–प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए प्रथमखण्ड से आरम्भ होने वाली दार्शनिकदृष्टि से द्वितीयखण्ड–समाप्ति पर्य्यन्त वेदस्वरूप का स्पष्टीकरण करना पड़ा। इस प्रतिपादित वेदस्वरूप के आधार पर विज्ञ पाठकों को यह विदित हुआ होगा कि, शब्दात्मक वेदग्रन्थ पौरुषेय है, एवं तत्त्वात्मक वेद अपौरुषेय है।

शब्दार्थ–सम्बन्ध की जटिल समस्या से सम्बन्ध रखने वाली पौरुषेयापौरुषेयमीमांसा इसप्रकार यद्यपि वेद के तात्त्विकस्वरूप विश्लेषण से बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है। तथापि शब्दनित्यत्वपक्षपाती मीमांसकों के सुदृढ वैज्ञानिक सिद्धान्त को देखते हुए अभी तक मीमांसा अपूर्ण ही मानी जायगी। इसी अपूर्णता की पूर्ति के लिए प्रक्रान्त चतुर्थ प्रश्न के सम्बन्ध में 'पौरुषेय, अपौरुषेयमीमांसा' नाम से एक स्वतन्त्र प्रकरण का समावेश करना आवश्यक समझा गया है। इस प्रकरण में शब्दार्थसम्बन्ध का स्पष्टीकरण करते हुए मीमांसा-सूत्रों के तात्पर्य्यार्थ की ही निश्चित व्यवस्था होगी। एवं इसी आधार पर 'क्या उपनिषत् वेद है ?' इस चतुर्थ प्रश्न का निश्चित निर्णय किया जायगा।

३—परपक्षनिराकरणम्—

"सम तु तत्र दर्शन सत परम दर्शन विषयानागमात् प्रयोगस्य परमादित्यव–
यौगपद्य वर्णान्तरमविकारो नादवृद्धिपरा" ।

* * * * *

४—स्वपक्षसमर्थनम्—

"नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् सर्वत्र यौगपद्यात्–
सख्याभावादनपेक्षत्वात् प्रख्याभावाच्च योगस्य लिङ्गदर्शनाच्च" ।

* * * * *

५—शब्दवाचकत्वनिरूपणम्—

"उत्पत्तौ वाऽवचनास्स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात्तद्भूतानां–
क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वाल्लोके सन्नि–
यमात् प्रयोगसन्निकर्ष स्यात्" ।

* * * * *

प्रतृयगपाठ —

(१)—स्वसिद्धान्तोद्घाटनम्—

(१)–१–"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध (क) ।
तस्य ज्ञानमुपदेश , अव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे (ख) ।
तत् प्रमाण बादरायणस्य, अनपेक्षत्वात्" (पू० मी० १।१।५) ।

* * * * *

(२)—परपक्षोद्घाटनम्—

(२)–१–"कर्म्मैके, तत्र दर्शनात्" (१।१।६।) ।
(३)–२–"अस्थानात्" (१।१।७।) ।
(४)–३–"करोति–शब्दात्" (१।१।८।) ।
(५)–४–"सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात्" (१।१।८।) ।
(६)–५–"प्रकृति–विकृत्योश्च" (१।१।१०।) ।
(७)–६–"वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य" (१।१।११।) ।

उक्त सूत्रचतुष्टयी का प्रकृत विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव इसकी मीमांसा में न पड़ते हुए इस सम्बन्ध में केवल यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, धर्म्मसम्बन्ध में प्रत्यक्षादि प्रमाणों को अवसर नहीं है। एकमात्र शब्दनोदनालक्षण शब्दप्रमाण ही धर्म्म में प्रमाण है। शब्दप्रामाण्यवाद जब हमारे सम्मुख उपस्थित होता है तो सर्वप्रथम शब्दार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध-ज्ञान की जिज्ञासा होती है। इसी सम्बन्ध-जिज्ञासा को शान्त करने के लिए निम्नलिखित सूत्रसन्दर्भ हमारे सम्मुख उपस्थित होता है—

✱ निर्भुजपाठ—

"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे-तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। कर्म्मेकि तत्र दर्शनादस्थानात् करोतिशब्दात्, सत्वान्तरे च यौगपद्यात् प्रकृतिविकृत्योश्च वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य। समं तु तत्र दर्शनं सतः परमदर्शनं विषयानागमात् प्रयोगस्य परमादित्यवद्यौगपद्यं वर्णान्तरमविकारो नादवृद्धिपरा। नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् सर्वत्र यौगपद्यात् सङ्ख्याभावादनपेक्षत्वात् प्रख्याभावाच्च योगस्य लिङ्गदर्शनाच्च। उत्पत्तौ वाऽवचनाःस्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात्तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वाल्लोके सन्नियमात् प्रयोगसन्निकर्षः स्यात्"।

* * * * *

उक्त सूत्रसन्दर्भ को हम ५ भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक सूत्रात्मक प्रथम विभाग में सिद्धान्त पक्ष का, षट्सूत्रात्मक द्वितीय विभाग में परपक्ष का, षट्सूत्रात्मक तृतीय विभाग में परपक्षखण्डन का, षट्सूत्रात्मक चतुर्थविभाग में स्वपक्ष समर्थन का, तथा सूत्रत्रयात्मक पञ्चमविभाग में शब्दवाचकत्व का स्पष्टीकरण हुआ है। इस विभागदृष्टि से सूत्रसन्दर्भ का निम्नलिखित संस्थान क्रम हो जाता है—

१—स्वसिद्धान्तोद्घाटनम्—

"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्य-
तिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्"।

* * * * *

२—परपक्षोद्घाटनम्—

"कर्म्मेकि तत्र दर्शनादस्थानात् करोति शब्दात् सत्वान्तरे च-
यौगपद्यात् प्रकृतिविकृत्योश्च वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य"।

* * * * *

✱ ऐतरेय आरण्यक ने दो प्रकार के पाठों की व्यवस्था की है। विषय विभाग न करते हुए संहितारूप से होने वाला पारायणोपयोगी पाठ 'निर्भुजपाठ' कहलाया है। एवं विषयविभाग को स्पष्ट करने वाला, अर्थज्ञानोपयोगी पाठ 'प्रतृण्णपाठ' कहलाया है। यहाँ सूत्रसन्दर्भ के दोनों पाठ उद्धृत कर दिए गए हैं।

है (इसलिए भी शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य ही मानना पड़ता है)। (शास्त्रीय शब्दमर्य्यादा से, विशेषतः वेदशब्दमर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाला आप्तादेश लक्षण शब्दोपदेश) अवश्य ही प्रमाण है। भगवान् बादरायण ने भी ('निरपेक्षो रवः श्रुतिः' इस सिद्धान्त को लक्ष्य में रखते हुए) आप्तोपदेशलक्षण वेद-प्रामाण्य की निर्भ्रान्त प्रामाणिकता स्वीकार की है"। (सिद्धान्तपक्ष) (१)।

* * * * * *

(२)–परपक्षोद्घाटनम्—

(२)—१-(शब्दानित्यत्ववादी) कितने एक दार्शनिक (नैय्यायिकादि) कहते हैं कि, शब्द में कर्म्म का समावेश है। (उन अनित्यवादियों का कहना है कि, उच्चारणक्रिया के प्रवृत्त होने पर उसमें शब्द मर्य्यादा) देखी जाती है। (कर्म्म क्योंकि अनित्य है, एवं इसका शब्द के साथ ओतप्रोतभाव देखा जाता है, इसी आधार पर मानना पड़ेगा कि, शब्द सर्वथा अनित्य है)। श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द का सुनना ही उच्चारण क्रिया में शब्द का दर्शन है, एवं श्रवण लक्षण यह दर्शन ही शब्दानित्यत्व का पोषक बन रहा है। (१)।

(३)—२"(शब्द की अनित्यता में दूसरा कारण बतलाता हुआ परपक्षी कहता है कि) 'अस्थान' हेतु से भी हम शब्द को अनित्य ही कहेंगे। (मुख से बोले हुए शब्द की न तो हम मुखस्थान में ही कोई प्रतिष्ठा देखते, न कर्णशष्कुली में ही, न आकाश में ही। देखते हैं कि, देवदत्त ने यज्ञदत्त से सुना, यज्ञदत्त ने विष्णुदत्त से, इस प्रकार एक दूसरे के मुखविवर से शब्द उत्पन्न होता गया साथ ही साथ विलीन भी होता गया। उत्पन्न-प्रध्वस्त स्थान-प्रतिष्ठा शून्य ऐसे शब्द को कभी नित्य नहीं कहा जा सकता)। (२)।

(४)—३-अपिच (शब्द का उच्चारण करो-'शब्दं कुरु', शब्द का उच्चारण मत करो- 'शब्दं मा कार्षीः' इत्यादि रूप से) 'करोति' शब्द से शब्द का सम्बन्ध देखा जाता है। ('करोति' शब्दमर्य्यादा ही अपने अनित्यलक्षण क्रियाभाव से यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि, शब्द अवश्य ही अनित्य है")। (३)।

(५)—४-अपिच-"(हम देखते हैं कि, एक ही 'राम' शब्द का) एक ही समय में अनेक व्यक्ति उच्चारण करते हैं। (शब्दोच्चारण का यह यौगपद्य भी शब्दानित्यत्व का ही समर्थन कर रहा है। यदि शब्द नित्य होता, तो एक व्यक्ति के द्वारा एक समय में उच्चारण का विषय बनता हुआ वह अन्य व्यक्ति के द्वारा उसी समय में कभी उच्चारण का विषय न बनता)"। (४)।

(६)—५-अपिच-"(वर्णों के) प्रकृति-विकृतिभाव से भी शब्द का अनित्यत्व ही सिद्ध हो रहा है। (जो तत्त्व नित्य होता है वह अपने प्राकृतिक स्वरूप को कभी नहीं छोड़ता। परन्तु देखते हैं कि सुध्यु-पास्य, दध्यत्र, चिदात्मा, चिन्मय, चिल्लय, चिच्छक्ति, चिच्छन्य, चित्तत्व, चिड्डामर, इत्यादि शब्दों में वर्णप्रकृति के अनेक विकार उपलब्ध हो रहे हैं। वर्णों का यह विकारभाव भी शब्दानित्यत्व का ही समर्थक बन रहा है) "। (५)।

७—६-अपिच- 'समोच्चारणकाल में वही शब्द वृद्धिभाव में परिणत देखा (सुना) जाता है। (यदि अनेक व्यक्ति एक साथ मिलकर किसी शब्द का उच्चारण करते हैं, तो एक व्यक्ति के उच्चारण की

(३)—परपक्षनिराकरणम्—

(८)—१—"समं तु तत्र दर्शनम्" (१।१।१२।)

(९)—२—"सतः परमदर्शनं, विषयानागमात्" (१।१।१३।)।

(१०)—३—"प्रयोगस्य परम्" (१।१।१४।)।

(११)—४—"आदित्यवद्यौगपद्यम्" (१।१।१५।)

(१२)—५—"वर्णान्तरमविकारः" (१।१।१६।)।

(१३)—६—"नादवृद्धिपरा" (१।१।१७।)।

* * * * *

(४)—स्वपक्षसमर्थनम्—

(१४)—१—"नित्यस्तु स्यात्, दर्शनस्य परार्थत्वात्" (१।१।१८।)।

(१५)—२—"सर्वत्र यौगपद्यात्"

(१६)—३—"सङ्ख्याभावात्" (१।१।२०)।

(१७)—४—"अनपेक्षत्वात्" (१।१।२१)।

(१८)—५—"प्रख्याभावाच्च योगस्य" (१।१।२२।)।

(१९)—६—"लिङ्गदर्शनाच्च" (१।१।२३।)।

* * * * *

(५)—शब्दवाचकत्वनिरूपणम्—

(२०)—१—"उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्युः, अर्थस्यातन्निमित्तत्वात्" (१।१।२४।)।

(२१)—२—"तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः, अर्थस्य तन्निमित्तत्वात् (१।१।२५।)।

(२२)—३—"लोके सन्नियमात् प्रयोगसन्निकर्षः स्यात्" (१।१।२६।)।

* * * * *

(१)—स्वसिद्धान्तोद्घाटनम्—

(१)—१ 'शब्द, का अर्थ के साथ औत्पत्तिक (उत्पत्ति—सृष्ट, नतु उत्पन्न-सृष्ट) सम्बन्ध है। (कौन शब्द किस अर्थ का वाचक है, इत्याकारक शब्द तथा अर्थ के इस औत्पत्तिक सम्बन्ध का) ज्ञान (वृद्धव्यवहार लक्षण परम्परारूप उपदेश से लोक मर्य्यादा में, तथा शास्त्रीय शब्दार्थमर्य्यादा में आप्तोपदेश लक्षण) उपदेश से होता है। (जब उपदेश के द्वारा नित्यसिद्ध शब्दार्थ का ज्ञान हो जाता है, तो तत् शब्दवाच्य) अर्थ (विषय) के न रहने पर (भी तद्वाचक शब्द के द्वारा ही तद्वाच्य अर्थ) का बोध हो जाता

इस हेतु का भी उस समय कोई महत्त्व नहीं रह जाता, जब सत्-सूर्य का उदाहरण हमारे सामने आता है। हम मानते हैं कि, कण्ठताल्वादि जनित संयोग-विभाग कर्म्म से ही शब्दोच्चारण होता है। परन्तु एतावता ही शब्द का अनित्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। संयोग विभाग तो शब्द के अभिव्यञ्जक मात्र ही मानें जायँगे। सायकाल सूर्य के दर्शन होते हैं, पृथ्वी की भूमारूप आवरण के आजाने से रहते हुए भी सूर्य का अदर्शन (अप्रत्यक्ष) हो जाता है। जब आवरण हट जाता है, तो प्रात पुन सूर्य दर्शन होजाता है। सूर्य सत् पदार्थ है। परन्तु देखते हैं, आवरण से वह नहीं भी दिखलाई देता। नियत स्थान प्रतिष्ठा में रहता हुआ भी सत् सूर्य्य जैसे आवरण से, अभिव्यञ्जक सामग्री के अभाव से दृष्टि का विषय नहीं बनता, एवमेव सत्-शब्द भी आवरण से अस्थानवत् सा प्रतीत होने लगता है। दर्शनादर्शनलक्षण अस्थान भाव शब्द की अस्थिरता का समर्थन करने में असमर्थ है। (२)"।

(१०)–३ "वादी का कहना था कि, शब्द के साथ 'शब्दं कुरु'–'शब्दं मा कार्षीः' इत्यादि रूप से 'करोति' लक्षण अनित्या क्रिया का सम्बन्ध देखा जाता है, इस लिए भी शब्द अनित्य है"। इस सम्बन्ध में हमारा यह कहना है कि, जिन जिन स्थानों में 'करोति' का सम्बन्ध देखा जाता है उन उन स्थानों में शब्द प्रयोग के लिए ही इस 'प्रैष' का सम्बन्ध मानना पड़ेगा। तात्पर्य यही है कि, कुरु, मा कार्षी, इत्यादि प्रैष (आज्ञा) शब्द के प्रयोग से सम्बन्ध रखता है, न कि शब्द से। हम देखते हैं कि, शब्दप्रयोग करने वाले के लिए ही "यह शब्द करता है" इत्यादि रूप से 'करोति' का व्यवहार होता है। फलत करोति का सम्बन्ध शब्द प्रयोग से है, न कि शब्द से। जब शब्द के साथ 'करोति' का सम्बन्ध ही नहीं, तो इस हेतु से शब्द का अनित्यत्व कैसे सिद्ध किया जासकता है" (३)

(११)–४ "वादी का चौथा हेतु यह था कि "एक ही रामशब्द का एक ही समय में अनेक व्यक्ति उच्चारण करते हैं। यह यौगपद्य भी शब्दानित्यता ही सिद्ध कर रहा है"। इस के उत्तरमें सूर्य्य-दृष्टान्त ही पर्य्याप्त होगा। सत्-सूर्य एक है, यह निर्विवाद है। इस एक सत्-सूर्य्य का एक ही समय में असंख्य व्यक्ति दर्शन कर रहे हैं। क्या इस यौगपद्य से सत्-सूर्य्य की नित्यता में कोई बाधा है?। यदि नहीं, तो सत् शब्द के सम्बन्ध में होने वाला उच्चारणानुबन्धी यौगपद्य शब्दनित्यता में कैसे बाधक माना जासकता है ?" (४)।

(१२)–५ "पांचवां हेतु वर्णों का विकारभाव था। वादी का कहना था कि 'दध्यत्र' इत्यादि स्थानों में 'इकार' प्रकृति के स्थान में यकार विकृति उपलब्धि हो रही है। विकारभाव अनित्यता का समर्थक है। उत्तर में यह निवेदन करना है कि, वर्णसमाम्नाय में पठित अकारादि ५ वर्ण सर्वथा नित्य हैं। इन नित्य वर्णों के सम्बन्ध में शब्दतत्त्वरहस्यवेत्ता विद्वानों ने यह व्यवस्था की है कि, 'अमुक स्थल में–प्रसङ्ग में–अमुक वर्ण का ही उच्चारण करना चाहिए। इकार एक स्वतन्त्र नित्य वर्ण है, यकार एक स्वतन्त्र नित्य वर्ण है। शास्त्र व्यवस्था करता है कि, जहाँ इकार के आगे अकार वर्ण रहे, वहाँ इकार का उच्चारण न कर यकार का उच्चारण करना चाहिए। क्या इस वर्णव्यत्यासलक्षणा व्यवस्था से शब्द अनित्य होगया ?। कभी नहीं' (५)।

(१३)–६ "अनेक व्यक्तियों के एक साथ मिल कर शब्दोच्चारण से भेरी मृदङ्गादि के शब्द से शब्द में वृद्धि देखी जाती है" इस छठे हेतु का भी उस समय कोई महत्त्व नहीं रह जाता, जब हमारा ध्यान शब्दानु स्यूत 'नाद' भाव की ओर जाता है। वायवीय संयोग विभाग से सम्बन्ध रखने वाला शब्द नादभाव में परिणत

अपेक्षा यही शब्द उच्चस्वरयुक्त सुनाई पड़ता है । शब्द का यह वृद्धिभाव भी अनित्यत्व का समर्थन कर रहा है । उच्चारण का तारतम्य ही शब्दावयवों के अपचय का समर्थक बनता हुआ इनका अनित्यत्व सिद्ध कर रहा है ")। (१)। (परपक्षः)

*　　*　　*　　*　　*　　*

(३)—परपक्षनिरसनम्—

८—१-"(उक्त ६ सूत्रों से सूत्रकार शब्दानित्यत्व का उद्भावन कर, आगे के ६ सूत्रों से उक्त हेतुवादों का हेत्वाभासत्व–मिथ्या हेतुत्व–सिद्ध करते हुए कहते हैं कि) पूर्व में शब्दानित्यत्व समर्थन के लिए जो हेतु उपस्थित किए गए हैं, वे हेत्वाभास हैं । इनसे कभी शब्द का अनित्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता । शब्द में वादी ने कर्म्म का दर्शन (श्रवण) बतलाते हुए शब्द की अनित्यता बतलाई थी । इस प्रथम हेतु के सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि जो अर्थ (विषय) नित्य होता है, उसके सम्बन्ध में भी कर्म्म की मर्य्यादा देखी सुनी जाती है । विद्यमान अर्थ का सदा सर्वदा दर्शन हो ही यह नियम नहीं है । बहुत दूर होने से, बहुत समीप होने से, इन्द्रियदोष से, इन्द्रिय सहकारी प्रज्ञान (सर्वेन्द्रियमन) के अस्थिर रहने से, विषय की आत्यन्तिक सूक्ष्मता से, विषय तथा इन्द्रियों के मध्य में किसी व्यवधान के आजाने से, तथा ऐसे ही अनेक कारणों से विद्यमान वस्तु भी दर्शन का विषय नहीं बना करती । उक्त प्रतिबन्धकों को हटाने के लिए प्रयत्नलक्षण कर्म्म करने से ही उस सद्वस्तु का दर्शन होता है । आवरण हटाने के लिए किए गए कर्म्म मात्र से उस सद्वस्तु का अनित्यत्व सिद्ध होगया, यह कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा । हमारे कर्म्म से आवरण मात्र हटता है, न कि शब्द उत्पन्न होता है । 'प्रयत्नलक्षण कर्म्म से शब्द का दर्शन (श्रवण) होता है,' इस हेतु का सम्मक्त वादी ने यह तात्पर्य्य समझ लिया है कि, यह कर्म्म शब्द का उत्पादक है । उत्पन्न वस्तु अनित्य होती है, इसीलिए प्रयत्न कर्म्म से उत्पन्न शब्द भी अनित्य है । इस पर हमारा कहना है कि, जिस कर्म्म को वादी ने शब्द का उत्पादक मान लिया है, वह कर्म्म तो शब्द का अभिव्यञ्जकमात्र है । पीतमृत्तिका में पहिले से गन्ध विद्यमान है । परन्तु अभिव्यञ्जक पदार्थ के सम्बन्ध न होने पर्य्यन्त पहिले से विद्यमान भी मृद्गन्ध के दर्शन (गन्धग्रहण) नहीं होते । जब इसमें जलसेक कर्म्म किया जाता है, तो तत्काल गन्ध के दर्शन होजाते हैं । क्या जलसेक कर्म्म गन्ध का उत्पादक है ? । ठीक यही परिस्थिति यहाँ समझिए । उच्चारण से पहिले जो नित्य विद्यमान शब्द अनभिव्यक्त था वही उच्चारण कर्म्म से अभिव्यक्त होता हुआ हमारे दर्शन (श्रवण) का विषय बन गया है, एतावता क्या उच्चारण कर्म्म शब्द का उत्पादक मान लिया जायगा ? । कदापि नहीं ।

और फिर हमारे यह भी समझ में नहीं आया कि, वादी ने इस अप्रयोजक, तथा अनैकान्तिक हेतु को उद्धृत ही क्यों किया, जब कि यह हेतु नित्यानित्य दोनों पक्षों में समान है । यदि शब्द अनित्य है, तब भी उच्चारण कर्म्म अभिव्यञ्जक मात्र है । यदि शब्द नित्य है, तब भी यह कर्म्म अभिव्यञ्जक मात्र है । इससे शब्द की नित्यता, अनित्यता का जब कोई सम्बन्ध ही नहीं, तो ऐसे हेतु को उद्धृत करना क्या निष्प्रयोजन नहीं है ? (१) ।'

९—२-वादी का दूसरा हेतु था 'अस्थानात्' । "शब्द की कोई प्रतिष्ठा नहीं है, अपितु यह उच्चरित–प्रध्वस्त है । यदि शब्द सत् (नित्य) होता, तो उसकी कोई प्रतिष्ठा होती, हमें यह सदा सुनाई पड़ता"

सम्बन्ध रखता हुआ अर्थप्रत्यय का साधक बन रहा है, एवं इसी प्राक्तन शक्तिग्रह के आधार पर श्रोता को अर्थावबोध कराने के लिए उच्चारयिता शब्द का उच्चारण करने में कोई आपत्ति नहीं समझता। जिस शब्दार्थ-शक्तिग्रह से इस समय अर्थबोध होता है, वह शक्ति उच्चारणविषयीभूत जिस शब्द में पहिले से गृहीत है, वही शक्ति उसी शब्द मे आज भी अविच्छिन्नरूप से विद्यमान है। वही राम शब्द है, वही उसका अर्थ है, एवं वही शक्तिग्रह है। राम शब्द नवीन हो, उस में शक्तिग्रह नवीन हो, यह बात नहीं है, जिसका हेतु पूर्व में बतलाया जा चुका है। इसप्रकार अर्थप्रतिपत्ति के समन्वय के लिए शब्द का नित्यत्व ही सिद्ध हो रहा है" (१)।

(१५)—२-"शब्द नित्य है, इस सम्बन्ध में दूसरा निर्बाध हेतु है-'*शब्द का यौगपद्य*'। *गौ शब्द* के सुनते ही हमें एक साथ सम्पूर्ण गौ व्यक्तियों का बोध हो जाता है। दूसरे शब्दों में गौ शब्द गोजाति का बोधक बन रहा है। यदि शब्द अनित्य होता, तो कभी यह जाति का बोधक नहीं बन सकता था।

दूसरी दृष्टि (विज्ञानदृष्टि) से सूत्रार्थ का समन्वय कीजिए। किसी एक व्यक्ति ने अपने मुख से गौ शब्द का उच्चारण किया। सामने असंख्य श्रोता खड़े हैं। सबने यह गौ शब्द सुना, एवं सबको शब्दार्थ का *ज्ञान हो गया। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब कि शब्द को नित्य मान लिया जाय।* जिनके मत में शब्द अनित्य है, वे इस यौगपद्य का कथमपि समन्वय नहीं कर सकते। कारण स्पष्ट है। अनित्यता-पक्ष में शब्द मुख से उत्पन्न हुआ, वहीं नष्ट हो गया। ऐसी दशा में अन्य व्यक्तियों के लिए इसका भान असम्भव है। कण्ठ-ताल्वादि स्थान, करण, संयोग, विभागादि शब्दोत्पादक व्यापार केवल उच्चारयिता से ही सम्बन्ध रखते हैं। अन्यत्र इनका अभाव है। जब अन्यत्र शब्दोत्पादक व्यापारों का अभाव है, तो अन्यत्र शब्द श्रवण का भी अभाव ही मानना पड़ेगा।

इधर जो शब्द को नित्य मानते हैं, उनके मतानुसार यौगपद्य का भलीभाँति समन्वय हो रहा है। मुखप्रदेशलक्षण एक नियत बिन्दु से निकला हुआ नित्य शब्द एक ही साथ चारों ओर आकाश मण्डल में (वीचीतरङ्गन्याय से) अपना एक परिमण्डल (वृत्त) बना डालता है। पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ऊपर नीचे सर्वत्र इस शब्दमण्डल की व्याप्ति हो जाती है। *इस शब्दपरिमण्डल की सीमा के गर्भ* में जितने व्यक्ति प्रतिष्ठित रहते हैं, परिमण्डलान्तर्वर्त्ती शब्द उन सब व्यक्तियों में उस शब्द की नोदना कर देता है, फलतः सब उसे सुनने में समर्थ हो जाते हैं। इसप्रकार हमारा यह 'शब्दयौगपद्य' भी शब्द-नित्यता का ही समर्थन कर रहा है" (२)।

(१६)—३-"संख्या का अभाव भी शब्दनित्यता ही सिद्ध कर रहा है। यदि एक व्यक्ति अपने मुख से १-१५ बार एक ही गौशब्द का उच्चारण करता है, तो लोक में ऐसे उच्चारयिता के सम्बन्ध में कहा जाता है कि-'इसने १-१५ बार एक ही गौ शब्द का उच्चारण किया'। शक्तिग्राहकशिरोमणिभूत यह लोकव्यवहार केवल उच्चारण की अनेक संख्या बतलाता हुआ, साथ ही शब्द की एक संख्या बतलाता हुआ शब्दनित्यत्व ही घोषित कर रहा है। यदि शब्द अनित्य होता, तो पूर्व व्यवहार के स्थान में यह व्यवहार होता कि-"अमुक व्यक्ति १-१५ गौ शब्द बोल रहा है"। परन्तु ऐसा व्यवहार नहीं होता, जिसका कि एक मात्र मूल हेतु है-शब्द का नित्यत्व" (३)।

होजाता है। शब्दोच्चारण के अभिव्यञ्जक वायवीय संयोग विभाग ही 'नाद' शब्द से व्यवहृत हुए हैं। शब्दोच्चारण में जो वृद्धि सुनी जाती है, वह यथार्थ में नाद की वृद्धि है, न कि शब्द की। फलतः वादी के इस अन्तिम हेतु का भी कोई महत्त्व नहीं रह जाता" (६)। (परपक्षखण्डनम्)।

(४) स्वपक्षसमर्थनम्—

प्रथम सूत्र से शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध बतलाते हुए सूत्रकारने शब्दका नित्यत्व (सिद्धान्त) व्यवस्थित किया। आगे के (२–७) के ६ सूत्रों से उन ६ हेत्वाभासों का स्पष्टीकरण किया, जिन के आधार पर परपक्षी शब्द का अनित्यत्व सिद्ध कर रहा है। उत्तर के (८–१३) ६ सूत्रों से उन ६ ओं हेत्वाभासों का निराकरण करते हुए सूत्रकारने परपक्ष का खण्डन किया। अब आगे के (१४–१६) ६ सूत्रों से स्वसिद्धान्त (शब्द–नित्यत्व) का समर्थन करने वाले कुछ एक तात्त्विक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण हो रहा है—

(१४)–१–"यदि वस्तुस्थिति का तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाता है, तो यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है कि, "शब्द सर्वथा नित्य ही है।" शब्दोच्चारयिता का यथार्थ शब्ददर्शन ही शब्दनित्यता में निर्बाध हेतु है। उच्चारयिता शब्दस्वरूप के परिचय के लिए, दूसरे शब्दों में शब्द-स्वरूप की प्रतिपत्ति (बोध के लिए अपने मुख से शब्द का उच्चारण नहीं करता। यद्यपि यह ठीक है कि उच्चारयिता के शब्दोच्चारण-श्रोता को शब्दस्वरूप का बोध होता है, तथापि उच्चारयिता के प्रयत्न का यहीं विश्राम नहीं मान लिया जाता अपितु वह शब्दप्रतिपत्ति के द्वारा तत्-शब्दवाच्य किसी अर्थ का श्रोता को बोध कराना चाहता है। यही क्यं उच्चारयिता का प्रधान लक्ष्य यही रहता है कि, मुझ से उच्चरित शब्द का श्रोता अमुक तात्पर्य समझे। बि अर्थप्रतिपत्ति को लक्ष्य बनाए कोई भी उच्चारयिता निरुद्देश्य, निरर्थक शब्द का उच्चारण नहीं किया करता इसी आधार पर मानना पड़ेगा कि, उच्चारयिता का प्रधान लक्ष्य है–श्रोता को शब्द के द्वारा अर्थप्रतिपत्ति कराना

अब देखना यह है कि, उच्चारयिता के मुख से निकला हुआ शब्द श्रोता को तद्वाच्य (शब्दवाच्य अर्थ का बोध कैसे करा देता है?। कहना पड़ेगा कि, इस अर्थावबोध के लिए शब्दविशेष का अर्थविशेष साथ शक्तिग्रह होना परमावश्यक है। 'राम शब्द का अमुक अर्थ है' यह जाने बिना कभी श्रोता राम शब्द श्रवण से लाभ नहीं उठा सकता। शब्द का अर्थ के साथ जो नियत शक्तिग्रह है, वही शब्द के अर्थबोध प्रधान हेतु है। शक्तिग्रह के द्वारा शब्द के वाच्य अर्थ का बोध होना तभी सम्भव बन सकता है जब कि शब्द नित्य मान लिया जाय। यदि परपक्षी के कथनानुसार शब्द अनित्य है, तो वह उच्चरित-प्रध्वस्त–मर्यादा से आक्रान्त मानना पड़ेगा। अपने इस नाशधर्म्म से पूर्व-शब्द उत्तर काल में प्राप्त नहीं होसकता। यह भी कहन पड़ेगा। जिस राम शब्द का जिस अर्थ में उच्चारयिता, तथा श्रोता दोनों को पहिले से शक्तिग्रह था, शब्द नित्यत्वपक्ष में इदानीं उस शक्तिग्रह का अभाव है। क्योंकि पहिला शब्द भिन्न था, इस समय श्रोता सुन गया शब्द भिन्न है। इस समय (तत्काल) उत्पन्न होने वाले शब्द का अर्थ के साथ शक्तिग्रह है नहीं। फि शब्दार्थ बोध (श्रोता को) हुआ कैसे ?, एवं ऐसे अविज्ञात शक्तिग्रह वाले शब्द का उच्चारयिता ने उच्चारण किया कैसे ?, यह उन्हीं शब्दानित्यत्ववादियों से प्रष्टव्य है।

जिनके मत में शब्द नित्य है, वे इस विप्रतिपत्ति से दूर हैं। उच्चारयिता इस समय अर्थप्रत्ययदृष्टि से जिस नित्य शब्द का उच्चारण कर रहा है, उसका यह शब्दोच्चारण उसी अभिप्रायाधीन शक्तिग्रह से

(१६)—"-"शब्दप्रमाणका वयं, यच्छब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्' इस सिद्धान्त को मानने वालों की दृष्टि में युक्ति-तर्क-हेतु वादों का कोई महत्त्व नहीं है। अब तक हमने तर्कादि के द्वारा ही शब्द का नित्यत्व व्यवस्थित किया है। परन्तु अब हम उन शब्दप्रमाण को उद्धृत करते हैं, जिसकी प्रामाणिकता आस्तिकजगत् में सर्वमूर्द्धन्या मानी जाती है। निम्नलिखित श्रौत-स्मार्त-लिङ्ग (वचन) शब्द को ब्रह्म बतलाते हुए, वाग्देवी को अनादिनिधना मानते हुए इसकी नित्यता का ही समर्थन कर रहे हैं—

१—"वाग् ब्रह्म" (श्रुति)
२—"वाचा विरूपनित्यया" (श्रुति)
३—"अथो वागेवेदं सर्वम्" (श्रुति)
४—"वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता" (श्रुति)
५—"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा" (स्मृति) " (६)।

(स्वसिद्धान्तसमर्थनम्)

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

(५)—शब्दवाचकत्वनिरूपणम्—

"औत्पत्तिकस्तु॰" (१।१।५) से आरम्भ कर "लिङ्गदर्शनाच्च" (१।१।२३) पर्य्यन्त (१६ सूत्रों से) सूत्रकार ने शब्द की नित्यता, अनित्यता का विचार करते हुए सिद्धान्त में शब्दनित्यत्ववाद स्थापित किया। अब "उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्यु॰" (१।१।२४) इत्यादि से आरम्भ कर "लोके सन्नियमात्॰" (१।१।२६) पर्य्यन्त सूत्रत्रयी के द्वारा वाचकत्व, अवाचकत्व के सम्बन्ध में सूत्रकार अपना अभिप्राय प्रकट करते हैं। प्रश्न इस सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि, 'शब्द और अर्थ का यदि औत्पत्तिक सम्बन्ध है, तो शब्द अर्थों के वाचक किस आधार पर मान लिए गए'। । यही विषयोत्थानिका करते हुए सूत्रकार कहते हैं *—

(२) "शब्द, तथा अर्थ, दोनों का प्रादुर्भाव यद्यपि एक नित्य वाक्तत्त्व से ही हुआ है। तथापि ये शब्द उन अर्थों के वाचक नहीं माने जा सकते। शब्दार्थ क्योंकि समानप्रभव हैं, अतः इनके औत्पत्तिक सम्बन्ध स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु एतावता ही शब्दों का वाचकत्व सिद्ध नहीं होता। यदि अर्थ का शब्द निमित्त होता, दूसरे शब्दों में यदि अर्थाविर्भाव में शब्द का सहयोग होता, तो इस निमित्त-सम्बन्ध से यथाकथञ्चित् शब्दों को अर्थों का वाचक माना जा सकता था। परन्तु ऐसा नहीं

*—विज्ञानदृष्टि से शब्द, तथा अर्थ, दोनों की उत्पत्ति एक ही वाक्तत्त्व से हुई है, जो कि वाक्तत्त्व सर्वथा नित्य है। प्रकृत जैमिनिसूत्र इसी नित्या वाक् को लक्ष्य में रख कर प्रवृत्त हुए हैं। दूसरे शब्दों में जैमिनि ने जिस शब्द को नित्य कहा है, वह यही वाक्तत्त्व है, जिससे अर्थ और वर्णात्मक अनित्यशब्द का प्रादुर्भाव हुआ है। इस विज्ञानदृष्टि का आगे के परिच्छेदों में विस्तार से स्पष्टीकरण होने वाला है। अभी प्रस्तुत सिद्धान्त का (यथोद्देशपक्षानुसार) स्वीकार करके ही हमें सूत्रत्रयी का समन्वय करना है।

(१७)—४-" 'अनपेक्षत्व' हेतु से भी शब्द की नित्यता ही सिद्ध हो रही है। सापेक्षवाद का उपादान लक्षण कार्य्य-कारणभाव से सम्बन्ध है। घट कार्य्य है, मृत्तिका कारण है। पट कार्य्य है, तन्तु कारण है। घट-पट कार्य्यों की स्वस्वरूपनिष्पत्ति के लिए उपादानकारणरूप मृत्तिका-तन्तुओं की अपेक्षा रहती है। परन्तु देखते हैं, शब्द अपने स्वरूप के लिए किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता। शब्द के आरम्भक अवयवविशेष घट-पटवत् शब्द का स्वरूप निर्माण करते हों, यह बात नहीं है। कण्ठताल्वादि निमित्तकारणों से नित्य शब्द किसी उपादान कारण की अपेक्षा न रखता हुआ स्वत प्रकट हो जाता है। जो अनपेक्ष है, वह अवश्य ही नित्य है" (४)

(१८)—५-"यदि कोई यह आग्रह करे कि "शब्दस्वरूपसिद्धि के लिए अवयवरूप कारणों की अपेक्षा अवश्य ही रहती है। 'राम' शब्द की सिद्धि 'र्-अ-अ-म्-अ' इतने अवयवों की समष्टि पर निर्भर है। ऐसी दशा में घट-पटवत् हम शब्द को भी सापेक्ष ही कहेंगे। जब शब्द सापेक्ष है, तो वह अनित्य भी अवश्य ही है"। तो इस अवयवयोग के सम्बन्ध में हमें 'प्रख्याभाव' हेतु उपस्थित करना पड़ेगा। केवल वर्णों की समष्टि देख कर अपेक्षा मानना असङ्गत है। कौन कहता है—'र-अ-अ-म्-अ' मिल कर राम शब्द बना है। 'राम' इत्याकारक शब्द स्वतन्त्र है, वर्ण स्वतन्त्र हैं। अतएव 'राम' शब्द से जो अर्थ प्रतीत होता है, वह उक्त वर्णों से कभी सम्भव नहीं है। यदि अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाय कि, वर्णसमष्टि ही शब्दनिष्पत्ति का कारण है, तब भी प्रख्या के अभाव से वह कारणता अपेक्षावाद का समर्थन करने में असमर्थ है। घट-पटादि में मृत्-तन्तु का जैसा योग बतलाया जाता है, क्या शब्दमर्य्यादा में वैसा योग प्रतीत होता है? नहीं। शब्दस्वरूपनिष्पत्ति प्राकृतिक है, नित्य है। इधर घट-पट की स्वरूपनिष्पत्ति विकारभाव से सम्बन्ध रखती हुई अनित्य है। शब्दसम्बन्धी कार्य्यकारणभाव भावात्मक होने से नित्य है, घट-पट सम्बन्धी कार्य्य-कारणभाव गुणात्मक होने से अनित्य है। दोनों में अहोरात्र का अन्तर है। उधर अपेक्षावाद का साम्राज्य भूतसृष्टि से ही सम्बन्ध रखता है, न कि भावसृष्टि से। मानसीसृष्टि ही भावसृष्टि है, जिसका भूतसृष्टिलक्षणा वैकारिकी, तथा मैथुनीसृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस पर भी यदि कोई *प्रातिशाख्यसिद्धान्त* को लेकर यह आक्षेप करे कि, "*वायुः खात्, शब्दस्तत्*" इस प्रातिशाख्य वचन के अनुसार वायु ही शब्दरूप में परिणित होता है। वायु एक भौतिक कारण है। इस अनित्य (भौतिक) वायु की कारणता से सम्बन्ध रखने वाला शब्द भी अवश्य ही अनित्य है" तो इस आक्षेप के सम्बन्ध में भी 'योगस्य प्रख्याभावात्' यही उत्तर दिया जायगा। शब्दाविर्भाव में जो महत्त्व संयोग-विभागादि भावनात्मक कारणों का है, वायु भी (भूत होता हुआ भी) शब्दाविर्भाव में अपना वही महत्त्व रखता है। वायु केवल नोदनारूप से निमित्तमात्र बनता है, मृत्तिका-तन्तुवत् शब्द का उपादान नहीं।

वायु को शब्दोत्पत्ति में कारण मानने वालों से हम पूछते हैं कि, यदि वायु मृत्तिका-तन्तुवत् शब्द का उत्पादान कारण है, तो शब्द में वायु का सन्निवेश क्यों नहीं उपलब्ध होता। मृत्तिका से उत्पन्न घट में हमें मृत्तिका उपलब्ध हो रही है। परन्तु देखते हैं शब्द में वायवीय अवयवों का कहीं गन्ध भी नहीं है। यदि शब्द में वायवीय अवयव होते, तो वायुवत् शब्द का भी स्पर्श होता। फलतः सिद्ध हो जाता है कि, वायु शब्द का उपादान नहीं है, अपितु शब्दाविर्भाव का निमित्त मात्र है।" (५)।

(१६)—८—"शब्दप्रमाणका वय, यच्छब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्" इस सिद्धान्त को मानने वालों की दृष्टि में युक्ति-तर्क-हेतु वादों का कोई महत्व नहीं है। अब तक हमनें तर्कादि के द्वारा ही शब्द का नित्यत्व व्यवस्थित किया है। परन्तु अब हम उस शब्दप्रमाण को उद्धृत करते हैं, जिसकी प्रामाणिकता आस्तिकजगत् में सर्वमूर्द्धन्या मानी जाती है। निम्नलिखित श्रौत-स्मार्त-लिङ्ग (वचन) शब्द को ब्रह्म बतलाते हुए, वाग्देवी को अनादिनिधना मानते हुए इसकी नित्यता का ही समर्थन कर रहे हैं—

१—"वाग् ब्रह्म" (श्रुति)
२—"वाचा विरूपनित्यया" (श्रुति)
३—"अथो वागेवेद सर्वम्" (श्रुति)
४—"वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता" (श्रुति)
५—"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा" (स्मृति) " (६)।

(स्वसिद्धान्तसमर्थनम्)

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

(५)—शब्दवाचकत्त्वनिरूपणम्—

"औत्पत्तिकस्तु॰" (१।१।५) आरम्भ कर "लिङ्गदर्शनाच्च" (१।१।२३) पर्य्यन्त (१९ सूत्रों से) सूत्रकार ने शब्द की नित्यता, अनित्यता का विचार करते हुए सिद्धान्त में शब्दनित्यत्ववाद स्थापित किया। अब "उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्यु॰" (१।१।२४) इत्यादि से आरम्भ कर "लोके सन्नियमात्॰" (१।१।२६) पर्य्यन्त सूत्रत्रयी के द्वारा वाचकत्व, अवाचकत्व के सम्बन्ध में सूत्रकार अपना अभिप्राय प्रकट करते हैं। प्रश्न इस सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि, 'शब्द और अर्थ का यदि औत्पत्तिक सम्बन्ध है, तो शब्द अर्थों के वाचक किस आधार पर मान लिए गए'! । यही विषयोपस्थानिका करते हुए सूत्रकार कहते हैं *—

(२) "शब्द, तथा अर्थ, दोनों का प्रादुर्भाव यद्यपि एक नित्य वाक्तत्त्व से ही हुआ है। तथापि वे शब्द उन अर्थों के वाचक नहीं माने जा सकते। शब्दार्थ क्योंकि समानप्रभव हैं, अतः इनके औत्पत्तिक सम्बन्ध स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं आ सकती। परन्तु एतावता ही शब्दों का वाचकत्व सिद्ध नहीं होता। यदि अर्थ का शब्द निमित्त होता, दूसरे शब्दों में यदि अर्थाविर्भाव में शब्द का सहयोग होता, तो इस निमित्त-सम्बन्ध से यथाकथंचित् शब्दों को अर्थों का वाचक माना जा सकता था। परन्तु ऐसा नहीं

*—विज्ञानदृष्टि से शब्द, तथा अर्थ, दोनों की उत्पत्ति एक ही वाक्तत्त्व से हुई है, जो कि वाक्तत्त्व सर्वथा नित्य है। प्रकृत जैमिनिसूत्र इसी नित्या वाक् को लक्ष्य में रख कर प्रवृत्त हुए हैं। दूसरे शब्दों में जैमिनि ने जिस शब्द को नित्य कहा है, वह यही वाक्तत्व है, जिसने अर्थ और वर्णात्मक अनित्यशब्द का प्रादुर्भाव हुआ है। इस विज्ञानदृष्टि का आगे के परिच्छेदों में विस्तार से स्पष्टीकरण होने वाला है। अभी प्रस्तुत सिद्धान्त का (यथोद्देशपद्धानुसार) स्वीकार करके ही हमें सूत्रत्रयी का समन्वय करना है।

है। शब्द, अर्थ दोनों के आविर्भाव का निमित्त तीव्रा वाक्सत्त्व है, एवं इसी लिए शब्दार्थ का समान प्रभवत्व भी सिद्ध होता है। दो समान प्रभवों में एक दूसरे का परस्पर लिङ्ग (परिचायक) नहीं बन सकता। जब कि शब्द अर्थ का निमित्त नहीं है, दोनों का आविर्भाव समकक्षा में आता हुआ अब स्वतन्त्र है, तो कभी शब्दों को अर्थों का वाचक नहीं माना जा सकता। जब शब्द अर्थ का वाचक ही नहीं, तो ऐसी शब्दलक्षणा चोदना को धर्म्म में क्यों कर प्रमाण माना जा सकता है" (१)।

(२१) समानप्रभवत्व हेतु के द्वारा वाचकत्व का विरोध उद्धृत कर, इस पक्ष का निराकरण करते हुए आगे चाकर सूत्रकार कहते हैं कि शब्द की अनिमित्तता के आधार पर ही शब्दों की वाचकता का विरोध नहीं किया जा सकता। जिस क्रिया से, जैसी क्रिया से अर्थों का आविर्भाव हुआ है, उसी क्रिया से, वैसी ही क्रिया से शब्दों का आविर्भाव हुआ है। अर्थात् शब्दब्रह्म, अर्थब्रह्म दोनों का आविर्भाव, आविर्भावा-नुबन्धिनी क्रिया समनुशिष्ट है। जैसी जो व्यवस्था शब्दब्रह्म की है, वैसी वही व्यवस्था अर्थब्रह्म की है। (जैसा कि आगे के परिच्छेदों में "शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति" इत्यादि सिद्धान्त के सम्बन्ध में स्पष्ट किया जाने वाला है)।

तात्पर्य्य कहने का यह हुआ कि, यद्यपि स्वयं शब्द अर्थ का निमित्त नहीं है, किन्तु शब्दाविर्भावानु-बन्धिनी प्रक्रिया अवश्य ही अर्थ का निमित्त बन रही है। शब्दानुबन्धिनी प्रक्रिया एक ऐसा साँचा है, जिसके अनुरूप ही अर्थ का आविर्भाव होता है। इसी क्रियासादृश्यलक्षण निमित्त के आधार पर (वाचकाभिप्राय से) शब्दों का समाम्नाय (उच्चारण) करना अन्वर्थ बन रहा है।

उत्पत्तिक्रिया के प्रकार का प्रदर्शन (लोकव्यवहार में) उस क्रिया से उत्पन्न अर्थ को व्यक्त करता देखा जाता है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति अपने हाथ को यदि अपनी ओर लाने की क्रिया करता है, तो इस क्रिया से किसी अन्य व्यक्ति को बुलाने का तात्पर्य्य सूचित होता है। यदि हाथ को अपने से विरुद्ध ले जाने की क्रिया करता है, तो इससे उस व्यक्ति को लौटाने का संकेत सूचित होता है। इस दृष्टान्त के आधार पर जब हम शब्दार्थ की मीमांसा करने चलते हैं, तो हमें स्वीकार करना पड़ता है कि, शब्दों, तथा अर्थों का समानप्रक्रिया से सम्बन्ध रहने के कारण एक के प्रदर्शन से अन्य का स्वरूप गतार्थ हो जाता है। प्रत्यक्ष में देखते हैं कि वक्ता जिस भाव को लक्ष्य बनाकर जिस प्रक्रिया से शब्द का उच्चारण करता है, श्रोता पर इस क्रिया के अनुरूप ही उच्चावच भावों का प्रभाव पड़ता है। सिद्ध होता जाता है कि, शब्द अपनी उत्पत्ति-क्रिया के संकेत द्वारा वैसे ही क्रिया से उत्पन्न अर्थ का बोध कराता हुआ अवश्यमेव उस अर्थ का वाचक बन रहा है (२)"।

(२२)—"उत्पत्ति क्रिया के सादृश्य से जहाँ शब्दों का वाचकत्व सिद्ध हो रहा है, वहाँ औत्पत्तिकता भी इतरूप से प्रमाणित हो रही है। दोनों का प्रभव एक, प्रभवप्रक्रिया समान, इसीलिए दोनों का औत्पत्तिक सम्बन्ध, एवं शब्दार्थ का वाच्यवाचकभाव निःसंदिग्ध बना रहा है। शब्द, अर्थ, दोनों सम-सम्बन्धी हैं। अतएव एक के द्वारा दूसरे सम्बन्धी का बोध हो पड़ता है, जैसाकि—'एकसम्बन्धिज्ञानमपर सम्बन्धिनः स्मारकं भवति' इस न्याय से स्पष्ट है। गौ शब्द वाचक है, गौ पदार्थ वाच्य है, दोनों

का मूल एक ही आप्या वाक् है। यही कारण है कि, गौ शब्द सुनने से गोपदार्थ बुद्धि में आ जाता है, एवं गोपदार्थ देखने से गौशब्द हमारे अन्तर्जगत् में प्रकट हो जाता है। इसप्रकार शब्दनित्यत्व, शब्दार्थ का औत्पत्तिकत्व, शब्दार्थ का वाच्यवाचकत्व सर्वात्मना सिद्ध हो रहा है।

अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न शेष रह जाता है। प्रकृत सूत्र उसी का समाधान कर रहा है। "यच्च यावत् शब्दों तथा अर्थों का मूलप्रभव एक ही वाक्तत्त्व है, यह कहा गया है। यदि ऐसा है, तो सभी शब्दों को सभी अर्थों का वाचक होना चाहिए। सबसे सबका बोध होना चाहिए। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। प्रत्येक शब्द नियत अर्थ का ही सूचक बन रहा है। इससे तो यही सिद्ध हो रहा है कि, शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध नहीं है, अपितु उत्पन्नसृष्टसम्बन्ध है। पीछे से शब्दों की योग्यता के अनुसार अर्थों का सम्बन्ध करा दिया गया है।" इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"यद्यपि यह ठीक है कि, औत्पत्तिक सम्बन्ध के आधार पर सभी शब्द सब अर्थों के वाचक हैं। तथापि व्यवहार की सुविधा के लिए शब्दार्थ के सम्बन्ध का, सम्बन्धानुबन्धी वाचकत्व का नियमन किया गया है। यह व्यवस्था की गई है कि, 'अमुक शब्द से अमुक अर्थ का ही ग्रहण करना चाहिए, अन्य अर्थों का नहीं। *सिद्धान्तरूप से शब्द का सर्वार्थवाचकत्व रहने पर भी प्रयोग करने वाला व्यक्ति स्वप्रयुक्त शब्द* से सांकेतिक नियत अर्थ का ग्रहण करता हुआ ही शब्द का प्रयोग करता है। तात्पर्य्य यह हुआ कि, 'अमुक अर्थ के अभिप्राय से अमुक शब्द प्रयुक्त हुआ है, सर्वार्थाभिप्राय से नहीं, इस नियम से प्रयोग के आधार पर प्रयोग के अनुरूप ही अर्थ का संनिकर्ष होगा।

उदाहरण के लिए 'घूप' शब्द को लीजिए। राजपूताना की प्रान्तीय भाषा में घूप शब्द के प्रयोग से सूर्य्यातपलक्षण अर्थ का ग्रहण होता है। किन्तु शास्त्रभाषा में यही शब्द धूममय गन्धयुक्त द्रव्यविशेष का संग्राहक बन रहा है। इस नियमव्यवस्था का एकमात्र हेतु है लोकव्यवहार। प्रयोगात्मक शब्द को सुनने वाला श्रोता अपनी बुद्धि में लोकव्यवहार संचालन के लिए नियत अर्थ का ही संनिकर्ष प्राप्त करे, एकमात्र इसी हेतु से 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' इस सिद्धान्त पक्ष की उक्त व्यवस्था करना आवश्यक समझा गया है। यह व्यवस्था केवल व्यावहारिकी है, सिद्धान्ततः सभी शब्द सब अर्थों के वाचक हैं" (२)।

तीनों सूत्रों की उक्त व्याख्या का निम्नलिखित दृष्टिकोण से भी समन्वय किया जा सकता है। "एक ही वाक्तत्त्व से शब्दार्थ का आविर्भाव हुआ है। इसलिए हम मान लेते हैं कि, दोनों का औत्पत्तिक सम्बन्ध है। तथापि शब्दार्थ का वाच्य-वाचक भाव नहीं बन सकता। समान उत्पत्ति स्वीकार कर लेने पर भी शब्द अर्थों के अवचन (अवाचक) ही माने जायेंगे। क्योंकि जो जिसका निमित्त होता है, वही उसका वाचक माना जाता है। इधर शब्द अर्थाविर्भाव का क्योंकि निमित्त नहीं है, अतएव शब्द अवाचक हैं" (१)।

"यह ठीक है कि, शब्द अर्थ का निमित्त नहीं है, तथापि शब्दों का वाचकत्व अप्रतिहत है। कारण यही है कि, तत्तदर्थों के सम्बन्ध में लोकव्यवहारप्रक्रिया के उद्देश्य से संकेतविधि से तत्तत् शब्दों का समाम्नाय किया गया है। निघण्टु, निर्वचनादि प्रक्रियाओं के द्वारा पूर्वकाल से आरम्भ कर अद्यावधि शब्दोपदेशपरम्परा सुरक्षित देखी जाती है। 'अयं काकः, अयं पिकः', इत्यादि व्यवहार अविच्छिन्न रूप से चला आ

होनें वाली कार्य्यकारिणी के मन्त्रित्त्व के लिए आपको आमन्त्रित किया गया, जिस कार्य्यकारिणी में अन्य सम्मान्य महानुभावों के अतिरिक्त राजस्थान सत्तातन्त्र के मान्य गृहमन्त्री-वित्तमन्त्री-स्वास्थ्य-मन्त्री-कृषिमन्त्री भी समाविष्ट थे। भूतपूर्व मुख्यमन्त्री माननीय श्रीजयनारायणव्यास के द्वारा उद्घाटन हुआ, तदतिरिक्त अन्य विशेष आयोजन, सम्मान्य राष्ट्रपतिमहाभाग का स्वागत, आदि आदि वे सभी विधि-विधान पूरे हुए, जो युगधर्म्मानुगता भावुकता से पूरे होनें चाहिए थे। निरन्तर तीन वर्ष पर्य्यन्त इस प्रकार की लोकोपासना अनवच्छिन्नरूप से प्रक्रान्त रही, जिसका गत वैशाख मास में हमनें अपनी ओर से अवभृथस्नान करा लेना ही श्रेयपन्था अनुभूत कर लिया है।

अनन्तर १ नवम्बर सन् ५५ को सुप्रसिद्ध संस्कृतसाहित्यप्रेमी माननीय श्रीलक्ष्मीलालजी जोशी (जागीरकमिश्नर, राजस्थान), तथा श्रीवासुदेवशरणअग्रवाल के परामर्श से एक नवीन-संस्था का जन्म हुआ, जिसका मन्त्रित्त्व श्रीअमपाल महाभाग से ही अनुप्राणित माना गया। संस्था का विधानपूर्वक पञ्जीयन हुआ। एव संस्था के मान्य मन्त्री महाभाग के साथ हमें भी प्रकाशनव्यवस्था के लिए गत दिसम्बरमास में बम्बईयात्रा करनी पड़ी। एकमात्र श्रीमन्त्री महोदय के निष्ठाबल से संस्था को थोड़ा आर्थिक सहयोग यहाँ प्राप्त हुआ, जिसके लिए संस्था उन सहयोगदाताओं के प्रति अवश्य ही कृतज्ञता व्यक्त करेगी। हम स्वयं तो संस्था के प्रति ही कृतज्ञता अभिव्यक्त कर रहे हैं, जिसने हमें निबन्ध के प्रस्तुत उस प्रथम खण्ड के शेषांश के प्रकाशन का अवसर प्रदान किया, जिसके २,२ पृष्ठ अनुमानतः एक वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हो गए थे, एवं शेष अद्ध भाग अर्थाभाव से अप्रकाशित ही था। हमारी ऐसी मान्यता है कि, संस्था के सुयोग्य मन्त्री महाभाग के अनुग्रह से भविष्य में भी हमें वैसी सुविधा उपलब्ध होती रहेगी, जिस से 'मानवोपयवैरोशिकग्रबोध' नामक 'मानवाश्रमविद्यापीठ' अध्ययनाध्यापनानुष्ठान-प्रचारानुष्ठान-प्रकाशनानुष्ठान-आदि प्रवृत्तियों में सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः अवश्य सफल बन सकेगा।

उक्त कृतज्ञताज्ञापनानन्तर निबन्धानुगत विषयों के सम्बन्ध में भी दो शब्द व्यक्त कर दिए जाते हैं। खण्डचतुष्ट्यात्मक निबन्ध में जो स्तम्भ पहिले सङ्कल्पित थे, जिनका प्रस्तुत प्रथम खण्ड में उल्लेख किया जा चुका है-(देखिए प्र० ख० पृ० सं० १११), आगे चल कर उनमें थोड़ा परिवर्त्तन कर दिया गया है। एवं इस नवीन संशोधन के अनुपात से चार खण्डों में प्रतिपादित स्तम्भों का सन्निवेश परिवर्त्तित हो गया है। वही परिवर्त्तित तालिका यहाँ उद्धृत हो रही है—

न्विक उपेक्षा कर केवल आध्यात्मिक (सो भी सर्वथा काल्पनिक) शून्य आधारों को ही अपनी साधना का मूलाधार मानने-मनवाने की महती भ्रान्ति कर बैठने वाले अध्यात्मवादी साधक और सिद्ध, दोनों नें ही ज्ञान-कर्म्म अर्थ-समन्वयमूला सफलता से सर्वथा विपरीत परिणाम में उपलब्ध होने वाली मानसिक अभावोपरति, शून्यभावात्मिका अवसानस्थिति को ही (जिस शून्यस्थिति में न कुछ व्यवस्थित मानने के लिए रहता, न व्यक्त कर्म्म ही रहता, न व्यक्त भूतोपलब्धि ही होती) 'आत्मशान्ति' जैसी महत्त्वपूर्ण अभिधा से उद्घोषित मान रक्खा है। जिस प्रकार एक गुरुतम भार से लदा भार वाही मार्ग में चलता चलता अपने भार को अमुक उच्च प्रदेश में क्षणमात्र के लिए रखता हुआ अपने आपको शान्त मान बैठता है, तथैव अपनी इत्थंभूता काल्पनिक अध्यात्मसाधनाओं के क्षण में साधक-सिद्ध, दोनों ही लोकभार से क्षणमात्र के लिए पृथक् होकर शून्य में आ जाते हैं। और यही शून्यता इनकी दृष्टि में 'आत्मशान्ति' बन जाती है, जिसका ये 'बड़ी शान्ति मिलती है, बड़ा आनन्द आता है', कह कर स्वयं तो प्रतारित होते ही हैं, साथ ही स्वसमानधर्म्मा अन्य अकर्म्मण्यों को भी इस गन्धर्वनगर की ओर आकर्षित करते रहते हैं। इस प्रकार की कल्पित आत्मशान्ति के सूत्राधार सिद्ध गुरु भगवान्, एवं ऐसे शान्तिपथ के इच्छुक साधक शिष्यभक्त, दोनों की वैतालचेष्टाओं से सहजस्वस्थ-प्रकृतिस्थ भी मानव आज किस प्रकार 'आत्म', 'अध्यात्म' नहीं, अपितु 'अध्यात्म-अध्यात्म'-की रट लगाता हुआ निर्लक्ष्य प्रमाणित हो चुका है, होता जा रहा है ?, प्रश्न के विभीषिकामय समाधान से असंस्पृष्ट बने रहना ही श्रेयपन्था है।

निवेदन यही कर देना है कि, अधिदैवतभावानुगत मनोमय ज्ञानतन्त्र, अध्यात्मभावानुगत प्राणमय कर्म्मतन्त्र, एवं अधिभूतभावानुगत वाङ्मय अर्थतन्त्र, तीनों से स्वरूप परिपूर्ण मानव अपनी जीवनीय पद्धति में इन तीनों का समन्वय करके ही प्रकृतिस्थतापूर्वक स्वस्थता-लाभ कर सकता है, जिस स्वस्थता का ही नाम 'मानवता' है। ऐसी सम-समन्वयात्मिका मानवता से अनुप्राणित मानव लोक में सर्वश्रेष्ठ विभूति माना गया है, जिसे दुर्भाग्यवश तथाकथित कल्पित सिद्ध-गुरु-भगवानों नें केवल अपनी लोकैषणापूर्त्ति के लिए आज सर्वथा पापात्मा-दीन-हीन-पतित उद्घोषित कर रक्खा है। विगत कतिपय शताब्दियों से प्रक्रान्त बने रहने वाले, देश-काल-पात्र-द्रव्य-के तारतम्य से बड़े कौशल से इसमें परिवर्त्तन करते रहने वाले साम्प्रदायिकों के 'अध्यात्मवाद' का ऐसा ही कुछ दुःखपूर्ण इतिहास है जिसके पौनःपुनिक आवर्त्तन के दुष्परिणामस्वरूप ही भारतीय आस्तिक मानव, किन्तु भावुक मानव सम्पूर्ण साधन-परिग्रहों के विद्यमान रहते भी आत्यन्तिक दुःखी ही प्रमाणित हो रहा है। काल्पनिक अध्यात्मवाद, उत्थमूल अध्यात्मवाद से अनुप्राणित मतवादात्मक धर्म्मवाद, ऐसे वादों से समुद्भूत अभिनिवेशवाद आदि आदि वादपरम्पराओं नें

अनुमानत: ३००० तीन सहस्र पृष्ठसंख्या में उपनिबद्ध यह सामयिक निबन्ध उस शतपृष्ठात्मक पूर्वनिबन्ध का ही विकसित स्वरूप है, जिस के माध्यम से हमनें प्रधानरूप से उस अचिन्त्यकारणभूता 'भावुकता', एवं तदपेक्षिता 'निष्ठा' के स्वरूपोपासन की ही भावुकतापूर्णा चेष्टा की है, जिस के द्वारा हम निश्चयेन कालान्तर में सर्वात्मना भावुकताप्रवर्त्तिका प्रकृति के ही क्रोड में अपनें आपको समर्पित कर देंगे। और यही हमारे भावुकतापूर्ण प्राकृत जीवन का वास्तविक अवभृथस्नान माना जायगा।

लोकानुबन्धी सामाजिक, तथा राष्ट्रीय जीवन ही मानव का लौकिक जीवन कहलाया है। राष्ट्र के दुर्भाग्य से कुछ समय से इस भारतराष्ट्र की प्रज्ञा की ऐसी धारणा बन गई है, अथवा तो पूर्वसंस्कोपेक्षिता साम्प्रदायिक दृष्टि ने बलपूर्वक बना दी है कि, मानव का प्रधान पौरुष आत्मिक शान्ति लाभ करना ही है। अवश्य ही आत्मशान्ति प्राप्त कर लेना मानव का महान् पौरुष है। किन्तु लोक की उपेक्षा कर कदापि इस पुरुषार्थसाधन में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। लोकजीवन ही प्राकृतिक जीवन है, जिस की स्वरूपस्थिति ही मानव की प्रकृतिस्थता कहलाई है। प्रकृति की उपेक्षा कर मानव कदापि केवल पुरुषानुगता स्वस्थता-शान्ति का अनुगमन नहीं कर सकता। प्रकृतिस्थता ही स्वस्थता का आधार है लोकतन्त्र में, जबकि स्वस्थता ही प्रकृतिस्थता का आधार मानी गई है अध्यात्मतन्त्र में। दोनों एक ही के दो स्वरूप हैं, विवर्त्तभाव हैं, महिमभाव हैं। प्रकृतिगर्भित पुरुष ही 'अध्यात्मम्' है, एवं पुरुषगर्भिता प्रकृति ही 'अधिभूतम्' है। दोनों का जिस सुसूक्ष्म केन्द्रबिन्दु पर समसमन्वय हो रहा है, वही 'अधिदैवतम्' है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि, तीनों में से किसी एक को ही प्रधान मानकर शेष दोनों की उपेक्षा कर देना सर्वथा वैसी भावुकता ही है, जिससे परिणाम में शून्य शून्य के अतिरिक्त कुछ भी उपलब्ध नहीं होता।

'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्'—'त्रय सदेकमयमात्मा' इत्यादि सिद्धान्तानुसार एक ही तत्त्व इन तीन दैवत-आत्म-भूत-भावों में व्यक्त हो रहा है सर्गदशा में। एवं तीनों सर्वथा एक ही रूप में परिणत हो जाते हैं प्रतिसर्गदशा में। एक ही आत्मतत्त्व का व्यक्त विश्वदशा में त्रिधा वितान हुआ है। अतएव तीनों स्वरूप सर्वथा समानरूपेण मानव के उपकारक बने हुए हैं। यही नहीं, तीनों का निर्विरोध * समन्वय—अनुष्ठान—अनुगमन—ही मानव की वास्तविक स्वरूपस्थिति मानी गई है, जिसे भावुकतावश विस्मृत कर मानवनें आज अपने स्वरूप को ही विस्मृत कर लिया है। आश्चर्य्य तो यह देख-सुन कर होता है कि, अधिभूत, तथा अधिदैवत से सम्बन्ध रखने वाले विधि-विधानों की आत्य

---

* अधिदैवतदृष्ट्या समन्वय, अध्यात्मदृष्ट्या अनुष्ठान, एवं अधिभूतदृष्ट्या अनुगमन।

व्यवस्थापक भगवान् ब्रह्मा (मानवाभिध भौम ब्रह्मा) ने 'सिन्धु' नद को मध्यस्थ मानकर भारतवर्ष के आर्य्यावर्त्त आर्य्यायण-नामक दो विभाग कर डाले। सिन्धुनद के इस ओर का क्षेत्र 'सिन्धुस्थान' कहलाया, एवं सिन्धु के उस पार का स्थान 'पारस्थान' कहलाया। सिन्धुस्थान आर्य्यावर्त्त कहलाया, एवं पारस्थान आर्य्यायण कहलाया। कुछ एक विशेष मान्यताओं को छोड़कर अन्य सभी मान्यताओं में दोनों क्षेत्रों के अनुगामी समाज समान्वत ही रहे। इसके अतिरिक्त आर्य्यायण नामक पारस्थान में निवास करने वाले पारस्थानी वारुण ब्राह्मण सिन्धुस्थानवासी आर्य्यावर्त्त के ऐन्द्र ब्राह्मणों को, तदनुगामी आर्य्यमण्डल को विद्या-बुद्धि-विज्ञान-शौर्य्य-आदि में अपने से श्रेष्ठ ही मानते रहे। एवं इस सहज आभिजात्यधर्म्म से आकर्षित होकर ही उन्होंनें आर्य्यावर्त्तनिवासी मानवसमाज को—'हिन्द' नाम से व्यवहृत किया।

वारुणब्राह्मणों में सुप्रसिद्ध 'ऋुजाश्व' नामक महर्षि की परम्परा में आविर्भूत सर्वश्री जरथुस्त्र महाभाग से सम्बद्ध 'छन्दोम्यस्ता' नामक वैदिकवाङ्मय के प्रतिरूप में उपनिबद्ध 'जेन्दावस्ता' में प्रयुक्त 'हिन्द' शब्द ही कालान्तरभावी 'हिन्दू' शब्द का मौलिकरूप है। 'यहूदियों की धर्मपुस्तक ओल्ड टेस्टामेन्ट' (बाइबिल के पुराने भाग) में भी 'हन्दू' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो निश्चयेन जेन्दावस्ता के 'हिन्द' का ही अवतरण है। क्रिश्चियनों की मान्यता के अनुसार बाइबिल का यथाक्त यत पुरातन भाग क्राइस्ट से भी पाँच हजार वर्ष पूर्व का है। यह पुरातन धर्म्मशास्त्र (ओल्ड टेस्टामेन्ट) 'हिब्रू' (इब्रीय) भाषा में उपनिबद्ध है, जिसकी अपेक्षा पारसियों की जेन्दावस्ता की 'जेन्द' भाषा अति पुरातन है। स्पष्ट है कि, हिन्दू का मूलभूत 'हिन्द' शब्द वास्तव में हमारी पुरातन सभ्यता का पुरातन श्रेष्ठ ही प्रतीक है*। जेन्दावस्ता में स्पष्ट उल्लेख है कि,—"हिन्द से महाविद्वान् 'व्यास' नामक हिन्द (हिन्दू) ब्राह्मण पारस्थान आए, और उन्होंनें प्रेतात्मविद्या के आधार पर तत्रत्यों को आत्मस्वरूप से अवगत कराया। हिन्द व्यास से बढ़ कर सचमुच इस युग में दूसरा बुद्धिमान् नहीं है। तत्कालीन 'गुश्तास्ब' (ईरानभूपति) ने व्यास का स्वागत किया"। —†

---

* 'सिन्धु' से 'हिन्दू' नाम चल पड़ा, इस भावुकतापूर्ण मान्यता का उस दशा में कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता, जबकि, आर्य्यायणनिवासी पारस्थानी (पारसी) वारुणब्राह्मणों के पुरातनग्रन्थों में विद्या-बुद्धि-विज्ञान-शौर्य्यादि उत्कृष्ट गुणों के लिए ही स्वतन्त्ररूप से ही 'हिन्दू' शब्द व्यवस्थित बन रहा है।

† चैव हिन्द वाजगरते। अकनू बिरहमने व्यास नाम, अज हिन्द आमद, बसदान के अक्लि चुना नेस्त (६५ वीं आयत)। चूँ व्यास हिन्दी बलख आमद गस्तस्प अरतुस्तरा बख्वाँद। (१६२ वीं आयत)। मनसरदे अम हिन्द नजादे। (जेन्दावस्ता)।

आज मानव की वैय्यक्तिक–पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय व्यवस्था को, सर्वसमन्वयात्मिका जीवनपद्धति को सर्वथा अस्तव्यस्त प्रमाणित करते हुए विश्वमानवता के लिए एक भयावह स्थिति उत्पन्न कर दी है।

उद्बोधन प्राप्त कर ही लेना है मानव को, विशेषत भारतीय मानव को, तत्रापि विशेषत उस हिन्दू मानव को अपनी भावमूला उस महती विभीषिका से, जिससे यही सर्वाधिकरूपेण प्रभावित होता रहा है अपनी श्रद्धा–आस्था–मूला सहज भावुकता के कारण। इसीलिए प्रस्तुत निबन्ध का नामकरण हमनें मानवसामान्य से अनुप्राणित न कर केवल 'भारतीय भावुक हिन्दू मानव' नाम से ही सम्बद्ध मान लिया है। अवश्य ही आज के सर्वतन्त्रस्वतन्त्रयुग की उन्मुक्त वरदा अभया छत्रच्छाया में विचरण करने वाला प्रत्येक भारतीय मानव अपने आपको सवतन्त्र–स्वतन्त्र अनुभूत कर रहा है। और इस अनुभूति के सु? परिणामस्वरूप ही 'शरीरनिबन्धन आदेश, मनोनिबन्धन–उपदेश, बुद्धिनिबन्धन अनुशासन, एवं आत्मनिबन्धना सवित्' इन चारों ही व्यवस्थातन्त्रों का कुछ भी महत्त्व शेष नहीं रह गया है आज के राष्ट्रीय मानव के लिए। इसी स्वैराचारपरायणात्मिका सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता की काल्पनिक अनुभूति से अपनी निष्ठापूर्ण अभिजात उपाधियों से, भारतानिनिबन्धना 'हिन्दू' उपाधि से भी घृणा होने लगी है आज भारतीय मानव को, जिन उपाधियों के गर्भ में ही इसका गौरवपूर्ण चिरन्तन इतिहास अद्यावधि भी सुरक्षित चला आ रहा है। यह सब कुछ जानते और अनुभव करते हुए भी चिरन्तन 'हिन्दू' शब्द ही भारतीय मानव की सहज अभिधा इसलिए स्वीकृत हुआ है कि, इसी अभिधा के गर्भ में भारतीय मानव की उद्बोधनात्मिका सहजनिष्ठा प्रतिष्ठित है।

पुरातन आर्ष–देवयुग में, जबकि भारतवर्ष की पूर्वसीमा पीतसमुद्र (चीन का कसोसी) था, पश्चिमसीमा महीसागर (मेडिट्रेनियेन्सी) था, दक्षिणसीमा निरक्षवृत्तानुगत ❀ लङ्काद्वीप था, उत्तरसीमा रवीनदीविनिर्गमनात्मक शार्य्यात्तव पर्वत (शिवालक) था, इन्द्र और वरुण, दोनों प्राणदेवताओं की मान्यताएँ पृथक्–पृथक्–रूपेण प्रक्रान्त हो चलीं थीं एक घटना–विशेष को लेकर। फलत तत्कालीन ब्राह्मणसमाज के ऐन्द्रब्राह्मण, वारुणब्राह्मण, रूप से दो स्वतन्त्र वर्ग बन गए थे। अनुदिन प्रवृद्धमाना दोनों की सघर्षवृत्ति को उपशान्त करते हुए तत्कालीन समाज

❀ आजकल 'सीलोन' को 'लङ्का' माना जा रहा है। किन्तु भारतीय द्वीपव्यवस्था के अनुसार सीलोन तो 'सिंहलद्वीप' है। लङ्काद्वीप सर्वथा इससे पृथक् था, जो आज समुद्रगर्भ में विलीन है।

व्यवस्थापक भगवान् ब्रह्मा (मानवाभिध भौम ब्रह्मा) ने 'सिन्धु' नद को मध्यस्थ मानकर भारतवर्ष के आर्य्यावर्त आर्य्यायण-नामक दो विभाग कर डाले। सिन्धुनद के इस ओर का क्षेत्र 'सिन्धुस्थान' कहलाया, एवं सिन्धु के उस पार का स्थान 'पारस्थान' कहलाया। सिन्धुस्थान आर्य्यावर्त्त कहलाया, एवं पारस्थान आर्य्यायण कहलाया। कुछ एक विशेष मान्यताओं को छोड़कर अन्य सभी मान्यताओं में दोनों क्षेत्रों के अनुगामी समाज समान्वत ही रहे। इसके अतिरिक्त आर्य्यायण नामक पारस्थान में निवास करने वाले पारस्थानी वारुणब्राह्मण सिन्धुस्थानवासी आर्य्यावर्त्त के ऐन्द्र ब्राह्मणों को, तदनुगामी आर्य्यमण्डल को विद्या-बुद्धि-विज्ञान-शौर्य्य-आदि में अपने से श्रेष्ठ ही मानते रहे। एवं इस सहज आभिजात्यधर्म्म से आकर्षित होकर ही उन्होंने आर्य्यावर्त्तनिवासी मानवसमाज को-'हिन्द' नाम से व्यवहृत किया।

वारुणब्राह्मणों में सुप्रसिद्ध 'ऋतुप्राश्व' नामक महर्षि की परम्परा में आविर्भूत सर्वश्री जरथुस्त्र महाभाग से सम्बद्ध 'छन्दोभ्यस्ता' नामक वैदिकवाङ्मय के प्रतिरूप में उपनिबद्ध 'जेन्दा-वस्ता' में प्रयुक्त 'हिन्द' शब्द ही कालान्तरभावी 'हिन्दू' शब्द का मौलिकरूप है। 'यहूदियों की धर्मपुस्तक ओल्ड टेस्टामेन्ट' (बाइबिल के पुराने भाग) में भी 'हन्दु' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो निश्चयेन जेन्दावस्ता के 'हिन्द' का ही अवतरण है। क्रिश्चियनों की मान्यता के अनुसार बाइबिल का सयाक थव पुरातनभाग क्राइस्ट से भी पाँच हजार वर्ष पूर्व का है। यह पुरातन धर्म्मशास्त्र (ओल्ड टेस्टामेन्ट) 'हिब्रू' (इब्रीय) भाषा में उपनिबद्ध है, जिसकी अपेक्षा पारसियों की जेन्दावस्ता की 'जेन्द' भाषा अति पुरातन है। स्पष्ट है कि, हिन्दू का मूलभूत 'हिन्द' शब्द वास्तव में हमारी पुरातन सभ्यता का पुरातन श्रेष्ठ ही प्रतीक है।*। जेन्दावस्ता में स्पष्ट उल्लेख है कि,—"हिन्द से महाविद्वान् 'व्यास' नामक हिन्द (हिन्दू) ब्राह्मण पारस्थान आए, और उन्होंने प्रेतात्मविद्या के आधार पर तत्रत्यों को आत्मस्वरूप से अवगत कराया। हिन्द व्यास से बढ़ कर सचमुच इस युग में दूसरा बुद्धिमान् नहीं है। तत्कालीन 'गुस्ताश्व' (ईरानभूपति) ने व्यास का स्वागत किया"। —

**

* 'सिन्धु' से 'हिन्दू' नाम चल पड़ा, इस भावुकतापूर्णा मान्यता का उस दशा में कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता, जबकि, आर्य्यायणनिवासी पारस्थानी (पारसी) वारुणब्राह्मणों के पुरातनग्रन्थों में विद्या-बुद्धि-विज्ञान-शौर्य्यादि उत्कृष्ट गुणों के लिए ही स्वतन्त्ररूप से ही 'हिन्दू' शब्द व्यवस्थित बन रहा है।

** — वेव हिन्द बाजगश्ते। अकनूं बिरहमने व्यास नाम, अज हिन्द आमद, वसदाना के अक्लि चुना नेस्त (६५ वीं आयत)। चूं व्यास हिन्दी बलख आमद गस्तस्प जरतुस्तरा बख्वाँद। (१६३ वीं आयत)। मनमरदे अम हिन्द नजादे। (जेन्दावस्ता)।

उक्त निदर्शनों के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, वेदयुगात्मक देवयुग-समकालीन जेन्दावस्ता की 'जेन्द' भाषा का 'हिन्द' शब्द ही यूनानियों की धर्म्मपुस्तक की हिब्रू भाषा में समागत हुआ, जिसका अर्थ हिब्रू में हुआ है–विक्रम–गौरव–वैभव–प्रजाशक्ति–प्रभाव–इत्यादि। 'ओल्डटेस्टामेन्ट नामक यहूदियों का धर्म्मग्रन्थ ३६ भागों में विभक्त है, जिसकी १७ वीं पुस्तक का नाम है—'दि बुक ऑफ एस्थर' (The Book of Esther), जिसका हिब्रू नाम है—'आस्थुर'। इसके प्रथम अध्याय में लिखा है कि—

"Now it came to pass in the days of Ahasuerus This is Ahasuerus which reigned from India even unto Ethiopia, over an hundred and seven and twenty provinces Esther Chapter I Verse I"

उक्त उद्धरण का 'अहासुरस् राजा ने इन्डिया से ईथियोपिया पर्य्यन्त राज किया" यह वाक्य विशेष रूप से अवधेय है। वाक्य का 'इन्डिया' शब्द हिब्रू के 'हन्द' से निष्पन्न 'हिन्द' हिन्दुस्थान–हिन्दुस्तान से ही सम्बन्ध रख रहा है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'इन्डिया' हुआ है। "हिन्द से (शक्तिविशिष्ट राष्ट्र से) लेकर ईथियोपिया पर्य्यन्त राज किया" वाक्य स्पष्ट ही तन्मूलक हिन्द–हिन्दू–शब्द की प्राचीनता व्यक्त कर रहा है, साथ ही विशिष्टता भी। यराक्लुश नामक एक ग्रीक (यहूदी) ग्रन्थकार ने लिखा है कि— "भारतवर्ष का विक्रम–गौरव–विद्यावैभव देखकर ही यहूदी लोग इस देश को 'हन्द' कह कर पुकारते थे"। आर्षवैदिकसभ्यता के प्रतिरूपात्मक जेन्दावस्ता ग्रन्थ में महान् वैशिष्ट्य के लिए प्रयुक्त 'हिन्द' शब्द ही 'हिन्दू' का मूलाधार है, जो कि भारतीय आस्तिक ऐन्द्रमानव की विशेषता ही अभिव्यक्त कर रहा है। यह हिन्द शब्द ही कालान्तर में सिक्खधर्म्मप्रवर्त्तक गुरुनानक के सैनिक शिष्यों के द्वारा गुरुमुखीभाषा में 'हिन्दु' रूप में परिणत हो गया। नानक से पूर्व यह शब्द 'हिन्द' 'हिन्दव'–'हन्द' इत्यादि अभिधाओं में ही परिणत रहा। अन्ततोगत्वा गुरुमुखी का 'हिन्दु' ही हिन्दुवंशावतंस सिक्खों के द्वारा 'हिन्दू' रूप में परिणत हो गया। विवेचन से स्पष्ट है कि 'हिन्दू' शब्द किसी भी प्रकार की सङ्कुचित साम्प्रदायिकता से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। अपितु जिस प्रकार 'आर्य्य' शब्द आर्य्यावर्त्त की भाषा में विशिष्ट–गुण–योग्यतादि–गुणों का वाचक है, वैसे ही 'हिन्दू' शब्द भी आर्य्यापत्र की जेन्दभाषा में गुण का ही वाचक है। जिस प्रकार 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' इस वाक्य के द्वारा मानवमात्र को 'आर्य्य' बना डालने की कामना अभिव्यक्त हुई है, तद्वत् 'हिन्दू' शब्द भी इसी आर्य्यभाव को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रख रहा है। आर्य्यसभ्यता के विकासकाल में ही आर्य्यभारतीय मानव को इसकी आर्य्यता के पुरस्कार में ही आर्य्यापत्रों के द्वारा 'हिन्द' यह गुणात्मिका सम्मानिता उपाधि मिली है, जिसका वर्त्तमानरूप 'हिन्दू' है। सुप्रसिद्ध फरासीसी लेखक जाकोलियेट अपने ग्रन्थ में लिखता है कि— "असाधारण बल और असाधारण विद्वत्ता के कारण पूर्वकाल में भारतवर्ष पृथिवी की सम्पूर्ण जातियों का आदरपात्र था"।

जिस प्रकार 'मानव' शब्द 'मनु' रूपा केन्द्रशक्ति–गुण का अनुगामी बनता हुआ मानव मात्र का संग्राहक है, एवमेव 'आर्य्य' तथा–'हिन्दू' शब्द भी विशिष्टगुण–शक्ति बलवीर्य्य–पराक्रम–विद्या–सत्य–आदि विशिष्ट भावों के वाचक बनते हुए तद्गुणविशिष्ट मानवमात्र के लिये ही व्यवहृत हो सकते हैं, हुए हैं अन्य देशीय–अन्य जातीय–वैसे विशिष्ट मानवों के लिए। यदि ऐसा न होता, तो क्वापि—'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' यह घोषणा न होती। कौन 'आर्य्य' जैसे, 'हिन्दू' जैसे गरिमा–महिमामय गुणों से समन्वित होना न चाहेगा ?। जिस प्रकार पङ्क से उत्पन्न वस्तुमात्र के लिए उपयुक्त होने वाला 'पङ्कज' शब्द कमल की अपनी विशिष्टता के लिए कालान्तर में केवल 'कमल' में ही निरूढ हो गया, और आज 'पङ्कज' शब्द केवल 'कमल' का ही वाचक बन रहा है। एवमेव श्रेष्ठता–विशिष्टतादि से सम्बद्ध भी आर्य्य, तथा हिन्दू शब्द तद्गुणक विश्व के यच्चयावत् श्रेष्ठ–विशिष्ट मानवों से सम्बन्ध रखता हुआ भी उस भारतीय आस्तिक सांस्कृतिक मानवमात्र में ही निरूढ हो गया, जिसने अपने आत्ममूलक समदर्शन के आधार पर मानवमात्र के अभ्युदय की कामना की प्राणिमात्र की स्वस्तिकामना की, और तदाधारेणैव जिस भारतीय आर्य्य हिन्दू मानव की–'सर्वे सन्तु निरामयाः'–मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्' इत्यादि उदात्त घोषणाएँ प्रतिष्ठित बनीं। और यों इस पारम्परिक वैशिष्ट्य से ही गुणवाचक भी आर्य्य, तथा हिन्दूशब्द उस भारतीय आस्तिक मानवजाति में ही कालान्तर में निरूढ हो गए, जिस भारतीय मानवजाति ने अपने सम्पूर्ण विधि–विधान लोकैषणाओं से पृथक् रहते हुए मानवमात्र के हित से सम्बन्ध रखने वाले प्रकृतिसिद्ध सनातन विधि–विधानों को आधार बना कर ही प्रवृत्त किए हैं। अतएव जिसका यह प्रकृतिसिद्ध आर्य्यधर्म्म, किंवा हिन्दूधर्म्म 'सनातनधर्म्म' नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है, जो मानवमात्र का उपकारक होता हुआ 'मानवधर्म्म' नाम से भी प्रसिद्ध है।

न तो 'हिन्दू' शब्द भावुकतापूर्ण मान्यताओं के अनुसार साम्प्रदायिकता का ही सूचक है, न मतवादाभिनिविष्टों की मान्यता के अनुसार 'हिन्दू' शब्द 'कदर्य्य' भाव का ही द्योतक है, न हिन्दूशब्द आपातरमणीय मान्यताओं के अनुपात से 'कुफ्र' ('अविद्या') का ही वाचक है। न सिन्धु से ही हिन्दू का आविर्भाव हुआ है। न वर्त्तमान युग के भावुक विद्वानों के–'हीनं दूषयति' लक्षण काल्पनिक निर्वचन से ही हिन्दू शब्द का कोई सम्बन्ध है। अपितु यह शब्द है गौरव–गरिमा–गाम्भीर्य्य–गुण–शक्ति–विद्या–पौरुष–आदि भावों को अपने गर्भ में सुरक्षित रखने वाले सेन्धावस्ता में प्रयुक्त 'हिन्द' शब्द का कालान्तरभावी रूपान्तर, जिस रूपान्तर का श्रेय उस वीर सिक्ख जाति को प्राप्त है, जिसने गुरुमुखी में हिन्द को हिन्दु एवं हिन्दूरूप में परिणत किया है, एवं जिसने सर्वस्वसमर्पण के द्वारा हिन्दुत्व का संरक्षण किया है।

ज्ञानविज्ञानात्मक-सर्वशास्त्रमूलभूत प्राजापत्य आर्य्यशास्त्र (वेदशास्त्र) के महान् आदर्शों के सूचक, बल-वीर्य्य-पराक्रम-विद्या-बुद्धि-भावों के समाहक, अतएव पवित्र-प्रशस्त-चिरन्तन महान् इतिहास के अभिव्यञ्जक इत्थंभूत 'हिन्दू' शब्द के द्वारा आज भी भारत की आर्य्यजाति उद्बोधन ही प्राप्त कर रही है। 'हिन्दू' ही एकमात्र ऐसा शब्द है, जो 'आर्य्य' शब्द की भाँति उच्चारणमात्र से भारतीय मानवजाति में एक विशिष्ट आशा का प्रदीप प्रज्ज्वलित करने की क्षमता रखता है। इस के द्वारा जातीय गौरव का चिरन्तन इतिहास इसके सम्मुख प्रस्फुटित हो पड़ता है। ऐसे विशिष्ट गुणशाली 'हिन्दू' शब्द की विशिष्ट उपाधि से समलङ्कृत भारतीय आस्तिक मानव आज परप्रत्ययमूला जिस भावुकता से भावाविष्ट बनकर जिस प्रकार इस आभिजात्य उपाधिपद के प्रति उपेक्षा व्यक्त करता जा रहा है, वह सर्वथैव चिन्त्य है। हिन्दूजाति, हिन्दूधर्म्म, हिन्दूशास्त्र, हिन्दूपर्द्व व, आदि आदि के मौलिक इतिहासों का अन्यतम संमाहक, सर्वथैव विशिष्ट भावों का अभिव्यञ्जक 'हिन्दू' शब्द यदि भारतीय मानव से पृथक् कर दिया जाता है, तो इसकी भारतीयता का कुछ भी स्वरूप शेष नहीं रह जाता।

कारण स्पष्ट है। इस देश के प्राणप्रतिष्ठात्मक मौलिक प्राणाग्नि का ही नाम 'भारत' * है, जिस 'भारत' अग्नि के सम्बन्ध से ही यह देश 'भारत', किंवा भारतवर्ष कहलाया है। भारताग्नि ही इस भारतदेश के वे पुरोधा हैं—, जिन्हें अग्रणी मानकर ही इस देश के प्राणाग्नि-मूलक सम्पूर्ण विधि-विधान व्यवस्थित बने हैं। भारताग्नि के उपवृंहणस्वरूप त्रयात्मक अग्निवायु आदित्यप्राणों के वितानरूप+ ऋक्-यजु-सामतत्त्वों के आधार पर ही तो भारतीय मानव के कर्म्मकलाप प्रतिष्ठित हुए हैं। त्रयीवेदमूलक भाताग्नित्रयी-समन्वित इन कर्म्मकलापों के कारण ही तो भारतीय मानव ने अपनी प्रज्ञा से 'आर्य्य' उपाधि प्राप्त की है। एवं इसी भारताग्निगुणा-कर्षण से प्रभावित होकर ही तो सुप्रसिद्ध अग्न्युपासक आर्य्यायण देश के पुरातन मानवों ने इसे तद्गुणवाचक 'हिन्दू' उपाधि से समलङ्कृत किया है। ऐसी अवस्था में यदि यह परप्रत्यय-मूलोत्थ-आत्मप्रत्ययाभाव के द्वारा प्राप्ता भावुकता के आवेश में आकर काल्पनिक राष्ट्रीय-व्यामोह

---

* अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण ! भारतेति। (निगदमन्त्र-शत०)। अग्निर्वै देवेभ्यः-हव्यं भरति। (तस्मादग्निर्भारत) (शत १।४।२।२)।

— अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् (ऋक्सं० १।१।१)।

+ अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुःसाम-लक्षणम्॥ (मनु १।२३)।

का अनुगामी बनता हुआ अपनी आर्य्य उपाधि को, तदभिन्ना 'हिन्दू' जैसी गौरवपूर्ण पवित्र उपाधि को भी साम्प्रदायिक उपाधि मान बैठने की भयानक भूल करने लग पड़ता है, तो कहना पड़ेगा कि, आज के भारतीय मानव की आत्ममूला सहजनिष्ठा सर्वथैव अभिभूत हो चुकी है। तब तो इसे कालान्तर में अपनी 'भारतीय' उपाधि से भी पृथक् हो जाना पड़ेगा, किंवा उन्हीं कुनैष्ठिकों के द्वारा पृथक् कर दिया जायगा इसे 'भारताभिजनत्व' की सीमा से भी। यही क्यों, फिर तो इसे हिन्दू की उस हिन्दीभाषा का भी परित्याग कर देना पड़ेगा, जिसकी सीमा में इसका समस्त चिरन्तन इतिहास समाविष्ट हो चुका है। 'हिन्दू' शब्द से अपने आप को पृथक् मानने-मनवाने की भावुकतापूर्णा भ्रान्ति का अनुगामी वर्त्तमान प्रकान्त युग का भावुक भारतीय राष्ट्रीय मानव इस शब्द से, शब्दानुगत चिरन्तन इतिहास से अपने आपको पृथक् करता हुआ कालान्तर में किस रूप से शेष रह जायगा ?, प्रश्न का स्वयं उसे अपने अन्तर्जगत् में ही मुकुलितनयन बन कर विचार करना चाहिए। परप्रत्ययमूला भावुकता के आवेश में आकर इसने क्या क्या नहीं छोड़ दिया ?। क्या शेष रह गया है आज के इस भावुक हिन्दू मानव के कोश में ?। हाँ 'नाममह' अवश्य ही शेष है आज पर्य्यन्त भ। आज शेषभूत इसी नाममह के अनुग्रह से इसे पुनः इसके चिरन्तन इतिहास की ओर आकर्षित किया जा सकता है, किया जा सकेगा। एकमात्र इसी अनुबन्ध से सर्वथा निष्ठादृष्टि से हमनें प्रस्तुत निबन्ध का–'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता' अभिधाकरण ही सामयिक माना है। जिस भावुकतादोष से भारतीय मानव 'हिन्दू' जैसी नैष्ठिक अभिधा से भी आज उद्वेग करने लग पड़ा, उसकी भावुकता के निराकरण के लिए, तत्स्थान में आत्ममूला निष्ठा के प्रतिष्ठापन के प्रधान उद्देश्य से उपनिबद्ध प्रस्तुत निबन्ध का इस अभिधा-करण के अतिरिक्त और क्या नामकरण हो सकता था ?

अब दो शब्दों में प्रस्तुत प्रथमखण्ड के दोनों स्तम्भों की स्वरूपदिशा में भी किञ्चिदिव निवेदन कर देना प्रासङ्गिक बन रहा है। स्तम्भद्वयात्मक प्रस्तुत प्रथमखण्ड में 'असदाख्यान-मीमांसा' नामक प्रथम स्तम्भ के द्वारा आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के भारतीय भावुक हिन्दू मानव की भावुकता के उदाहरणों का ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है। धर्म्मभीरु पाण्डुपुत्रों ने इसी भावुकता के कारण प्रकृतिसिद्ध निष्ठातन्त्र की उपेक्षा कर जिस द्यूतक्रीडनपरम्परा का अनुगमन किया था, तन्माध्यम से ही आज के धर्म्मभीरु भावुक हिन्दूमानव को उद्बुद्ध कराने का प्रयास हुआ है। दूसरे 'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक स्तम्भ में उस विश्व का तात्त्विक स्वरूप समन्वित करने की चेष्टा हुई है, जिस विश्व के गर्भ में आवास निवास करने वाला मानव विश्व के प्राकृत स्वरूप से अपरिचित रहने के कारण ही प्रकृतिव्यामोहनमूला भावुकता का लक्ष्य बन जाया करता है।

प्राकृतिक विश्व प्रकृतिस्थता के द्वारा जहाँ मानव को निष्ठावान् प्रदान करता है, वहाँ यही प्राकृतिक विश्व प्रकृतिस्खलन के द्वारा मानव को सर्वथा उस सीमापर्य्यन्त भावुक बना देता है, जिस सीमा पर पहुँचने के अनन्तर मानव अपने आत्मपुरुषानुगत मौलिक स्वरूप को विस्मृत कर उसी प्रकार से विश्वप्रकृति का एक प्राकृतिक अङ्ग ही बना रह जाता है, जैसे कि मानवेतर केवल प्राकृतिक पशु–पक्षी–आदि आत्मपुरुषाभिव्यक्तित्व से शून्य रहते हुए स्वतन्त्र पुरुषार्थ करने में सर्वथा असमर्थ बने रहते हैं। दूसरे शब्दों में विश्वानुगत–विश्वात्मक प्राकृतिक पदार्थों का प्रेमी जहाँ स्वयं इस प्राकृत व्यामोहन से व्यामुग्ध होकर स्वस्वरूप से विमुख बन जाता है, वहाँ विश्वप्रकृति की सर्गात्मिका व्याख्या के द्वारा प्राकृतिक पदार्थों में ईश्वरभावना व्यवस्थित मानने वाला विश्वप्रकृति का आराधक मानव प्राकृतिक पदार्थों की उपयोगिता से समन्वित हो जाता है, एवं प्रेमानुरागमूलक प्राकृतिक व्यामोहन से असंस्पृष्ट रहता हुआ स्वात्मस्वरूप से अभिव्यक्त बन कर स्वस्थ भी प्रमाणित होता रहता है। आचारमीमांसा से सर्वथा असंस्पृष्ट, केवल तत्त्वमीमांसावेशाविष्ट नूतन वेदान्तियों की आपातरमणीया कल्पना की भाँति विश्वेश्वर का स्थूलशरीररूप विश्व मिथ्या नहीं है, अपितु 'सत्यं शिवं सुन्दरं' ही विश्व की स्वरूपव्याख्या है। इत्थंभूत सत्यविश्व का सत्य सर्ग ही मानव की विश्वानुबन्धिनी प्रकृति को अभ्युदयशीला बनाने की क्षमता रखता है। सत्यस्य सत्येश्वरप्रजापति के सत्यात्मक विश्व की इसी सर्गव्याख्या–स्वरूपव्याख्या पर क्योंकि मानव की मानवतालक्षणा प्रकृति व्यवस्थित बनी रहती है। अतएव भावुक हिन्दू मानव की स्वरूपमीमांसा में प्रवृत्त होने से पूर्व ही हमें भावुकतास्वरूपविश्लेषक उपव्याख्यान, तथा विश्वस्वरूपविश्लेषिका विश्वस्वरूपमीमांसा, इन दो स्तम्भों का अनुगमन करना पड़ा है। शेषभूत तीनों खण्डों के स्तम्भों का स्वरूपदिग्दर्शन तत्खण्डों से ही अनुप्राणित माना जायगा।

आर्यमानव आर्य्यमानव–हिन्दूमानव–आदि विविध अभिधाओं से प्रसिद्ध भारतीय मानव की भावुकता से इसकी मूलप्रतिष्ठात्मिका मूलसंस्कृति–सभ्यता–आदर्श–आचार–साहित्य आदि आदि सभी कुछ असंख्यसंख्यात मतवादों के आवरण से, आक्रान्ता आततायियों के आक्रमणों से आवृत–अभिभूत ही हो गये हैं, जिसके परिणामस्वरूप आज के नितान्त आस्तिक भी इस भारतीय हिन्दू मानव की व्यक्त जीवनपद्धति में 'स्वसत्त्व' रूप से प्रमाणित करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह गया है। अवश्य ही सनातनधर्म्म–आर्य्यधर्म्म–हिन्दूधर्म्म–वैष्णवधर्म्म–अन्यान्य परःशत सन्तधर्म्म–आदि विविध धर्म्मपरम्पराओं की उद्घोषणाओं में आज भी इस धर्म्मभीरु को प्रवाहित देखा–सुना जा रहा है। किन्तु वास्तविक तथ्य यही है कि, जिसे आज का हिन्दू मानवधर्म्म कहता है, वह तो तत्वतः वैसा सामयिक मतवाद है, जिसका शाश्वत सनातन

निष्ठात्मक धर्म्म से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जिस मूलशास्त्र (वेदशास्त्र) में ज्ञानविज्ञानसिद्ध सनातन निष्ठाधर्म्म की रहस्यव्याख्या हुई है, उस वेदशास्त्र के मौलिक अध्ययनाध्यापन से तो यह हिन्दू मानव शताब्दियों से ही विमुख हो गया है। यही नहीं, इसने भावुकतावश अपनी सामयिक आपातरमणीय मान्यताओं को भी (सामान्य धर्म्मभीरु मानवों की प्रतारणा के लिए) वेदशास्त्र से अनुप्राणित प्रमाणित करने की विफल चेष्टा की है। एवं अपनी सर्वथा काल्पनिक धारणाओं को भी वेदशास्त्रासिद्ध प्रमाणित करने का अक्षम्य अपराध करते हुए इसने धर्म्म के व्याज से प्रत्यक्षामत्यक्ष में आपणव्यवसाय* को ही प्रोत्साहित किया है। परिणाम इसकी इस वञ्चनात्मिका आपणव्यवसायवृत्ति का यह हुआ है कि, धर्म्म-संस्कृति-साहित्य-आदर्श-आदि के प्रति सहजरूप से आस्था-श्रद्धा रखने वाले वर्ग की भी आस्था-श्रद्धा आज विचलित हो पड़ी है। फिर सामान्य वर्ग के सम्बन्ध में तो कुछ कहना शेष ही नहीं रह जाता।

सचिदर्थ भारतीय हिन्दू मानव के इस सर्वस्वाभिभूतिकालात्मक आवरणकाल में यदि इसकी मूलसंस्कृति-मूलसभ्यता-मूलआदर्श-मूलआचार-तथा मौलिकसाहित्य के प्रति सर्वसामान्य की, विशेषत स्वयं इसकी भी यदि उपेक्षा प्रक्रान्त हो पड़े, तो कोई आश्चर्य नहीं है। और कोई आश्चर्य नहीं है, वर्त्तमान सत्तातन्त्र यदि एकमात्र इसी आज के मृदुलग्रीव भावुक हिन्दू मानव की उपेक्षा करना अपना परम पौरुष उद्घोषित कर रहा हो तो। सत्तातन्त्र से इस दिशा में इसलिए कुछ भी आवेदन करना कोई अर्थ नहीं रखता कि, उसने 'हिन्दू' नाम को ही दुर्भाग्यवश एक साम्प्रदायिक नाम मान लिया है, जबकि यह निरीह सम्प्रदायवाद जैसी विभीषिका से स्वयं ही शताब्दियों से उत्पीड़ित है। आवश्यकता तो आज इस बात की थी कि, इसके विशुद्ध सांस्कृतिक स्वरूपपरीक्षण को सत्तातन्त्र अपनी योजनाओं में स्थान प्रदान करने का अनुग्रह करता। एवं तदनन्तर ही इसके सम्बन्ध में अपनी यथेच्छ धारणा निर्धारित करता। किन्तु । इस किन्तु-परन्तु का उत्तर कालपुरुष के अतिरिक्त और कौन द सकता है ?

केवल भावुक हिन्दू मानव के लिए ही सम्भवतः आविष्कृत, अतएव सम्भवतः केवल इसी के लिए संविधान की 'धर्म्मनिरपेक्ष' घोषणा का अनुगमन करने वाले सत्तातन्त्र की दृष्टि में आज का हिन्दू ही उपेक्षित है, उस की संस्कृति-सभ्यता-मौलिक साहित्य ही उपेक्षित है, जबकि वही धर्म्मनिरपेक्ष भी सत्तातन्त्र हिन्दूमानव के अतिरिक्त अन्यान्य मुद्धादि सभी मतवादों के लिए, उनके धार्मिक महान् समारम्भों के लिए मुक्तहस्त ही बन रहा है। सुस्वागत ही करेगा सचमुच-

---

* दूकानदारी।

हितरत हिन्दूमानव अपने सत्तातन्त्र की इस उदारता का। अवश्य ही सभी को प्रश्रय प्राप्त होता रहना ही चाहिए सत्तातन्त्र की ममता भरी छत्रच्छाया में। प्रश्न केवल यही शेष रह जाता है कि, क्या हिन्दुस्तान में अपना प्रमुख अतिशय अनुभव करने वाले हिन्दू ही इस छत्रच्छाया के लिए उपेक्षणीय हैं? ऐसा क्यों?, और कैसे घटित-विघटित हो रहा है?, प्रश्न की विशद मीमांसा निबन्ध के तृतीयखण्ड में- 'श्वेतक्रान्ति का महान् संदेश' नामक परिच्छेद में होने वाली है। अभी तो भासप्याज पर ही इस उद्वेगकर प्रश्न को उपरत किया जा रहा है।

सत्तातन्त्र उदासीन है उदासीन ही रहेगा तबतक, जबतक कि यह स्वयं इस भारतदेश की मूलनिष्ठा के मौलिकस्वरूप को अन्तर्यामसम्बन्ध से स्वप्रज्ञा में प्रतिष्ठित नहीं कर लेगा। मानते हैं, अभी कुछ एक बाह्य समस्याएँ ही ऐसी हैं, जिनका समन्वय सत्तातन्त्र के लिए प्रथम अपेक्षित है। प्रक्रान्त भौतिक कल्मषावता से जब भी सत्तातन्त्र उन्मना बन जायगा, अवश्य ही उसका उस उपरतिदशा में इस ओर भी ध्यान जायगा ही, और उस स्थिति में इसे अवश्य ही यह अनुभव कर ही लेना पड़ेगा कि, "सचमुच हिन्दूमानव की मूलसंस्कृति ही एकमात्र वैसी संस्कृति है, जिसकी प्रथम प्राणप्रतिष्ठा के द्वारा ही 'यथा वः सुसहासति' (ऋग्वेद) लक्षण सहास्तित्वसिद्धान्त, तथा तन्मूलक विश्वमानवबन्धुत्व प्रतिष्ठित हो सकता है"। तथाभूत नैष्ठिकयुग के शीघ्र से शीघ्र आनयन के लिए ही राष्ट्रप्रज्ञा के सम्मुख सर्वथा प्रणतभाव से उद्बोधनात्मक यह सामयिक निबन्ध प्रस्तुत हो रहा है।

अलम् सपल्लवितेन। महत्सौभाग्य से प्राप्त सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता के आज के 'विचार-स्वातन्त्र्य' जैसे उन्मुक्त युग में अपनी राष्ट्रीय प्रज्ञा से प्रत्येक विषय का स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने वाले राष्ट्रीय मानवों से अन्त में हम यही नम्र आवेदन करेंगे कि, दोषान्वेषणदृष्टि से ही सही, एक बार वे अपनी मूलसंस्कृति के विशुद्ध मौलिक स्वरूप पर भी दृक्पात का अनुग्रह तो करें। तदनन्तर ही इस दिशा में अपना उदार निर्णय व्यक्त करने का निश्चय अनुग्रह होगा, जो यह भारतराष्ट्र का महत्सौभाग्य ही माना जायगा। भूगर्भ में निमज्जिता सूर्य्यकान्तमणि नूपुरों के पारम्परिक वेष्टनों से यदि अपने बाह्य रूपस्वरूप से मलिन भी बन गई है, तब भी उसका सूर्य्य-कान्तमणित्व तो अक्षुण्ण ही माना जायगा, जबकि विविध बाह्य चाकचिक्यों से दृष्टिमात्र से कान्तिमान् प्रतीत भी काच काच ही माना गया है। 'काचः काचः, मणिर्मणिः' इस व्यपच्छेद दृष्टि से अवश्य ही राष्ट्रीय मानवों को अपने राष्ट्र की मूलनिधि के उस परीक्षण में प्रवृत्त होना ही चाहिए, जिस एतद्देशानुगता वाङ्मयी निधि के परीक्षण में प्रत्यन्तदेश के असंख्यात मानव-श्रेष्ठ आज भी अहोरात्र जागरूक बने हुए हैं, जिन के उत्कट प्रयास के फलस्वरूप ही इस भारत-

हीन आज के भावुक हिन्दू मानव को भी यदा-कदा अपनी मूलनिधि के पत्रों के दर्शन का महत् सौभाग्य उपलब्ध हो जाता है, जिस मूलनिधि का आविर्भाव कभी इसी के पुरातन पुरुषों से हुआ था।

सुख-शान्ति-समृद्धि-तृप्ति-तुष्टि-पुष्टि की कारणभूता सम्पूर्ण साधन-परिग्रहों की विद्यमानता भी मानव की प्रज्ञातव्यामोहनमूला परदर्शनात्मिका पराकर्षणप्रवर्त्तिका भावुकता के निग्रहानुग्रह से सुखादि के स्थान में दुःख-अशान्ति-दारिद्र्य-क्षोभ-उपरति-ह्रास का ही कारण प्रमाणित होती रहती है। सम-विषम-विविध प्राकृतिक वैकारिक स्थिति-परिस्थितियों के निग्रहानुग्रह से गन्धर्वनगरवत् सहसा आविर्भूत हो पड़ जाने वाली सर्वनाशकारिणी 'भावुकता' पलायित हो, एवं सुख-शान्ति-समृद्ध्यादि की अन्यतम कारणभूता कालातिक्रम से विविध आवरणों से आवृता सुषुप्ता आत्ममूला निष्ठा जाग्रत हो, यही निबन्ध का एकमात्र उद्‍देश्य है। निबन्ध सर्वथा लोकानुबन्धी है, किन्तु निबन्ध की भाषा इसलिए निष्ठाभावानुगता ही है कि, दैववश (दैवानुग्रह से) वर्त्तमान युग की लोक-प्रान्त-भाषापरम्पराओं के बोध की कथा तो विदूर रहो, 'स्पर्श' की भी इस भावुक के साथ कल्पना भी नहीं की जा सकती।

बुद्धि की 'धी' रूपा रश्मियों से सम्बन्ध रखने वाले विश्वास से समन्विता, एवं सहजरूपेणैव सिद्ध आत्मनिष्ठा से संगृहीता मानसी श्रद्धा के आधार पर उपनिबद्ध प्रस्तुत सामयिक निबन्ध के सम्बन्ध में इस भावुक भारतीय की यह अनन्य आस्था है कि, यदि वर्त्तमान भावुक मानव अनुग्रह कर एक बार भी आद्योपान्त खण्डचतुष्टयात्मक इस निबन्ध को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कर लेंगे, तो निश्चयेन अवश्यमेव उनकी परप्रत्ययनेयमूला भावुकता उस निष्ठागुण से सर्वात्मना अभिभूत हो जायगी, जिस निष्ठा के बिना मानव आज प्रत्येक क्षेत्र में अपने आपको पराजितवत्-असमर्थवत्-शून्यवत्-अशक्तवत्-भ्रान्तवत्-क्लान्तवत्-क्षुब्धवत्-अशान्तवत्-उद्विग्नवत्-दरिद्रवत्-दीनप्रज्ञवत्-अनुभूत करता रहता है।

'आस्था' इस भावुक की अपनी है। एवं इस आस्था को अभिव्यक्त करने वाली 'निष्ठा' एकान्तनिष्ठ परमप्राज्ञ अचार्य्य परमश्रद्धेय सहज मानवश्रेष्ठ उन स्वामिप्रवर श्रीभीष्मानन्द-महाराज का ही मर्यादनभाग है, जिसके प्रवर्ग्यांश से ही यह नितान्त भावुक भी जन इस सामयिक निबन्ध को भावुकतापूर्णा भाषा, भाषानुगता नितान्तभावुकतापूर्णा लिपि के माध्यम से बहिर्जगत की वस्तु बनाने जा रहा है। 'निष्ठा' की सगुणमूर्त्ति श्रद्धेय स्वामीजी महाराज जिस वसुन्धरा को अपने पावन संस्पर्श से धन्य बना रहे हैं, वह भारतवसुन्धरा वास्तव में अन्य भूभागों के सम-

तुलना में सर्वमूर्द्धन्या ही मानी जायगी। धर्मिष्ठ-व्रतपरायण स्वामिमहाभाग ही इस व्रतप्रसारक निबन्ध के अनन्याधार हैं। अतएव 'तुभ्यमेव समर्पये' इस आर्षपरम्परा के माध्यम से इसी अर्पणभावना के साथ यह 'किमपि प्रास्ताविकम्' उपरत हो रहा है। एवं अपनी के इसी माङ्गलिकसंस्मरण को हृत्प्रविष्ट करते हुए इस परिच्छेद के साथ निबन्ध का प्रथमखण्ड इस प्रकार उपक्रान्त हो रहा है कि—

'एक महत्त्वपूर्ण चिरन्तन प्रश्न, और उसके समाधान का प्रयत्न'

मानवाश्रम-विद्यापीठ
दुर्गापुरा (जयपुर)
पौषकृष्णप्रतिपत् वि० २०१६
भौमवासर

—इति निवेदयति—मोतीलालशर्म्मा, वेदवीथीपथिकः
भारद्वाजोपाह्वः
जयपत्तनाभिजनः

श्री

स्तम्भद्वयात्मक-प्रथमखण्ड की

संक्षिप्त-विषयसूची

एवं

तालिका-परिलेखसूची

भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता

(उद्बोधनात्मक—सामयिक निबन्ध)

तदन्तर्गत—

प्रथमखण्ड की—सांक्षिप्त—विषयसूची

तस्मिन्नेतस्मिन् प्रथमखण्डे द्वौ स्तम्भौ निरूपितौ द्रष्टव्यौ—

श्री

'भारतीयहिन्दूमानव, और उसकी भावुकता'-

निबन्धोपक्रमाधारभूता—प्रथमखण्डान्तर्गता

प्रथमस्तम्भात्मिका

'असदाख्यानस्वरूपमीमांसा'

(१)—प्रथमस्तम्भात्मिकायां—'असदाख्यानस्वरूपमीमांसायां'—एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्या'

[१ पृष्ठ १३४ पृष्ठपर्य्यन्त]

उपरता चेयं निबन्धोपक्रमाधारभूता-प्रथमखण्डान्तर्गता

प्रथमस्तम्भात्मिका

असदाख्यानस्वरूपमीमांसा

—१—

भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता

(उद्बोधनात्मक—सामयिक निबन्ध)

तदन्तर्गत—

प्रथमखण्ड की—संक्षिप्त—विषयसूची

तस्मिन्नेतस्मिन् प्रथमखण्डे द्वौ स्तम्भौ निरूपितौ द्रष्टव्यौ—

——•••——

श्री

'भारतीयहिन्दूमानव, और उसकी भावुकता'-

निबन्धोपक्रमाधारभूता—प्रथमखण्डान्तर्गता

प्रथमस्तम्भात्मिका

'असदाख्यानस्वरूपमीमांसा'

(१)—प्रथमस्तम्भात्मिकायां—'असदाख्यानस्वरूपमीमांसायां'—एते परिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्याः

[१ पृष्ठ० १३४ पृष्ठपर्य्यन्त]

'भारतीय हिन्दूमानव, और उसकी भावुकता'-

निबन्धानुगता—प्रथमखण्डान्तर्गता द्वितीयस्तम्भाभिधा

विश्वस्वरूपमीमांसा

परिच्छेदनाम — पृष्ठसंख्या

उपरता चेयं खण्डद्वयात्मकस्य प्रथमखण्डस्य

संक्षिप्तविषयसूची

—✻—

---

* २३५ संख्या भूल से दो बार समाविष्ट हो गई है ।

उपरता चेयं तालिका-परिलेखसूची

स्तम्भद्वयात्मकस्य प्रथमखण्डस्य

१

श्री

'भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता'

निबन्धान्तर्गत स्तम्भद्वयात्मक-प्रथमखण्ड की

तालिका-परिलेखसूची

श्री

'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'

निबन्धान्तर्गता–

'असदाख्यानमीमांसा'

प्रथमखण्डान्तर्गता

(पौराणिक आख्यान की ऐतिहासिक मीमांसा)

नामक

प्रथमस्तम्भ

१

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः

भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता

(उद्बोधनात्मक-सामयिक निबन्ध)

मांगलिकसंस्मरण

१—नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥
—ऋक्संहिता १०।११२।६।

२—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' ॥
—ऋक्संहिता ६।४।२६।

३—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।४।

४—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥
—तै० ब्रा० २।८।८।

५—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवं 'आत्मबुद्धिप्रकाशं' मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१८।

६—ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥
—ऐतरेय आरण्यक

१–भावुकतास्वरूपसंग्राहक–'असदाख्यानो'पक्रम—

कालदोष, संस्कारदोष, शिक्षादोष, वेदानभ्यासदोष, आलस्यदोष, आचारपरित्यागदोष, अन्नदोष, सङ्गदोष, परप्रत्ययनेयतादोष, आदि आदि दोषपरम्पराओं के निग्रहानुग्रह से परिपूर्ण–नितान्त नैष्ठिक भी मानव किस प्रकार आत्मसहकृता बुद्धिलक्षणा सन्निष्ठा से पराङ्मुख बनता हुआ शरीरसहकृता मनोऽनुभूति-लक्षणा भावुकता से आक्रान्त होकर अपनी प्रकृतिसिद्ध सहज परिपूर्णता से अपने आपको अभिभूत कर लेता है ?, प्रश्नमीमांसा वर्त्तमानयुग के युगधर्म्मानुगत, सर्वात्मना परप्रत्ययनेयबुद्धि, अतएव ऐकान्तिक भावुक भारतीय हिन्दू मानव के लिए कोई विशेष महत्त्व इसलिए नहीं रख रही कि, यह स्वयं ही इस मीमांसा का लक्ष्य बना हुआ है। क्या वर्त्तमानयुगीय भारतीय मानव ही इस भावुकतापूर्णा मीमांसा का लक्ष्य है ?, प्रश्नमीमांसा का सम्बन्ध अवश्य ही पूर्वयुगानुगत उस भावुक मानव की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है, जो पूर्वयुगयुक्त पुरातन भावुक मानवश्रेष्ठ प्रस्तुत 'असदाख्यान' का उपक्रम बन रहा है।

भारतीय चतुर्युगानुबन्धिनी कालगणना के अनुपात से सप्तम वैवस्वत * मन्वन्तर की २२ वीं चतुर्युगी के अन्तिम कलियुग के युक्त आनुमानिक ५ सहस्रपूर्व के सुप्रसिद्ध महाभारतयुग में, उस महाभारतयुग में–जो युग भारतीय निगमागमसाहित्य, संस्कृति, सभ्यता, आम्नायपरम्परा, धर्म्म, आदर्श, आचार, लोक-नीति, राजनीति, परिवारनीति, व्यक्तिनीति आदि के लिए एक निःसीम निरतिशय संक्रमणात्मक–संघर्षात्मक–द्वन्द्वात्मक युग प्रमाणित हो रहा था, उस पूर्वयुग में–जहाँ मानवता और दानवता में प्राकृतिक देवासुरसंग्रामवत् प्रतिद्वन्द्विता प्रक्रान्त थी, उस पूर्वयुग में–जहाँ सत्त्व और तम (मध्यस्थ रजोगुण के समसमन्वयाभाव से), दोनों चरम उत्कर्षानुगामी बने हुए थे, उस पूर्वयुग में–जहाँ आत्मानुप्राणित धर्म्म, एवं शरीरानुगत कर्म्म, दोनों (मध्यस्था बुद्धि, तथा मध्यस्थ मन के सन्तुलन के अभाव से) सर्वथा विभक्त बने रहते हुए उन्मध्यादित होकर अधर्म्म एवं अकर्म्म के ही उत्तेजक बन रहे थे, उस पूर्वयुग में–जहाँ भारतवैभव चरमसीमानुगामी बनता हुआ भी मानवतृष्णा की तुष्टि के लिए सन्तोषकर प्रमाणित नहीं हो रहा था, उस पूर्वयुग में–जहाँ मानव का आत्मबुद्ध्यनुगत निग्रहनिष्ठ मन शरीरानुगता भावुकता से आक्रान्त होकर मूर्च्छित बन रहा था, उस पूर्वयुग में–जहाँ सहज भावुकता का दर्प दलन कर आसुर निग्रहबल भावुक मानव समाज को लक्ष्यच्युत बना रहा था, उस पूर्वयुग में–जहाँ आस्थायुक्ता श्रद्धोपेता पूर्णा आस्तिकता के साथ साथ आस्थाश्रद्धाविरहिता नास्तिकता भी प्रबलवेग से अपना प्रभाव व्यक्त कर रही थी, तादृश विविध द्वन्द्वपरम्पराक्रान्त, संघर्षित, नितान्त संघर्षात्मक महाभारतकालीन तथाविध

---

* मन्वन्तरानुगता इस कालगणना का विशद वैज्ञानिक विवेचन खण्डचतुष्टयात्मक भाष्यविज्ञानग्रन्थ के 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड में द्रष्टव्य है।

एक महत्त्वपूर्ण चिरन्तन प्रश्न, और उसके समाधान का प्रयत्न

महामायी परात्पर परमेश्वर के सहस्रवल्शात्मक महाविश्व के आगमापायच्छिन्न पार्थिव विश्व में निवास करने वाला मानव अपने मौलिक स्वरूप से जबकि सर्वात्मना परिपूर्ण है, आप्तकाम है, आत्मकाम है, अतएव निष्काम है, तो इसके लिए "दुःख-अशान्ति-शोक-मोह-भय-चीत्कार-अपूर्णता-अभाव-असफलता"-आदि भावों का आविर्भाव कैसे, और क्यों, किस के द्वारा हो पड़ा ?, अवश्य ही यह एक महत्वपूर्ण चिरन्तन प्रश्न माना जायगा, जिसके समाधान के लिए मानवीय मस्तिष्क चिरन्तन काल से ही प्रयत्नशील बना रहा है । क्या मानव ने यथाकथित प्रश्न का समाधान प्राप्त कर लिया ?, यह एक सामयिक प्रश्न है, जिसे लक्ष्यबिन्दु मान कर ही हमें मानव की इन समस्यापरम्पराओं के चिरन्तन इतिहास की रूपरेखा का अनुगमन करना है ।

विश्वमानव की समस्याओं के चिरन्तन इतिहास की रूपरेखा से सम्बन्धित व्यापक दृष्टिबिन्दु के साथ साथ हमें उस भारतीय मानव की समस्याओं को भी लक्ष्य बनाना पड़ेगा, जिस भारतीय मानव का ऐसा महान् उद्घोष कर्णाकर्णिपरम्परया श्रुत उपश्रुत है कि, उसी ने सर्वप्रथम इस प्रश्न के आत्यन्तिक समाधान का सफल प्रयत्न किया है । "विश्वेश्वर के प्राकृतिक विश्व का तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण करने वाला निगमशास्त्र, तदनुगामी आगमशास्त्र, तद्व्याख्यारूप इतिहास-पुराणशास्त्र, तदाम्नायसंरक्षक दर्शनशास्त्र, आदि आदि रूपेण भारतीय शास्त्रपरम्परा ने मानव की उन सम्पूर्ण समस्याओं का सफल समाधान कर दिया है, जिसके द्वारा भारतीय मानव अपनी प्राकृतिक परिपूर्णता को सर्वात्मना अन्वय बना सकता है" इस मान्यता के सम्बन्ध में यह स्वाभाविक प्रश्न बलात्या समुपस्थित हो ही जाता है कि, क्या भारतीय मानव ने अपनी लोकोत्तर शास्त्रपरम्परा से अपनी प्राकृतिक परिपूर्णता को अन्वय बना लिया है ?। मानसिक सन्तुष्टि विभिन्न दृष्टिकोण है, एवं वस्तुपनुगता आत्मतृप्ति अन्य दृष्टिकोण है । वस्तुस्थिति वास्तव में ऐसी प्रतीत होती हो रही है कि, विगत सहस्राब्दियों का इतिहास तो इस दिशा में भारतीय मानव को सर्वात्मना असफल ही प्रमाणित कर रहा है । इस प्रत्यक्षानुभूता प्रतीति के साक्षक बने रहते हुए उस महान् उद्घोष का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता, जिसे शास्त्रभक्त भारतीय मानव सगर्व लक्ष्य बनाए हुए है । शास्त्रभक्ति की आलोचना हमारा लक्ष्य नहीं है । लक्ष्य है 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' लक्षण लक्ष्यबिन्दु । शास्त्रों की विद्यमानता में भी भारतीय मानव कैसे सब दिशाओं में पराभूत बन गया ?, प्रश्न की मीमांसा में समय यापन करते रहना सर्वथा असामयिक, एवं व्यर्थ ही माना जायगा । निदान अन्वेष्टव्य है उस रोग का, जिसने 'शास्त्र' जैसी अमोघ दिव्यौषधि के विद्यमान रहते भी भारतीय मानव को आपादमस्तक मानसाभिव्यः अस्वस्थ-अशान्त-अधान्त-भ्रान्त बना रक्खा है । इसी 'अन्वेषण' लक्ष्य की साधना के सम्बन्ध में मानवसमस्याचिन्तकों की उदार सम्मति की निम्रहानुग्रहभावजिज्ञासाभिव्यक्ति के उद्देश्य से यह सामयिक निबन्ध लिपिबद्ध हुआ है । हमारी ऐसी धारणा है कि, प्रस्तुत सामयिक निबन्ध के आद्योपान्त निरीक्षण के द्वारा मानव चिरन्तनप्रश्नसमाधि के साथ साथ युगधर्मानुगत अन्यान्य सभी आपातरमणीय समस्याओं के निदान में सफल बन सकेगा । इसी माङ्गलिक भावना के माध्यम से ऐतिहासिकसन्दर्भरूप 'असदाख्यान' उपक्रान्त है ।

१–भावुकतास्वरूपसंग्राहक–'असदाख्यानो'पक्रम—

कालदोष, संस्कारदोष, शिक्षादोष, वेदानभ्यासदोष, आलस्यदोष, आचारपरित्यागदोष, अन्नदोष, सङ्गदोष, परप्रत्ययनेयतादोष, आदि आदि दोषपरम्पराओं के निग्रहानुग्रह से परिपूर्ण–नितान्त नैष्ठिक भी मानव किस प्रकार आत्मसहकृता बुद्धिलक्षणा सन्निष्ठा से पराङ्मुख बनता हुआ शरीरसहकृता मनोऽनुभूतिलक्षणा भावुकता से आक्रान्त होकर अपनी प्रकृतिसिद्ध सहज परिपूर्णता से अपने आपको अभिभूत कर लेता है ?, प्रश्नमीमांसा वर्त्तमानयुग के युगधर्म्मानुगत, सर्वात्मना परप्रत्ययनेयबुद्धि, अतएव ऐकान्तिक भावुक भारतीय हिन्दू मानव के लिए कोई विशेष महत्त्व इसलिए नहीं रख रही कि, यह स्वयं ही इस मीमांसा का सञ्चक बना हुआ है। क्या वर्त्तमानयुगीय भारतीय मानव ही इस भावुकतापूर्ण मीमांसा का सर्वक है ?, प्रश्नमीमांसा का सम्बन्ध अवश्य ही पूर्वयुगानुगत उस भावुक मानव की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है, जो पूर्वयुगभुक्त पुरातन भावुक मानवश्रेष्ठ प्रस्तुत 'असदाख्यान' का उपक्रम बन रहा है।

भारतीय चतुर्युगानुबन्धिनी कालगणना के अनुपात से सप्तम वैवस्वत * मन्वन्तर की २२ वीं चतुर्युगी के अन्तिम कलियुग के मुक्त आनुमानिक ५ सहस्रपूर्व के सुप्रसिद्ध महाभारतयुग में, उस महाभारतयुग में—जो युग भारतीय *निगमागमसाहित्य, संस्कृति, सभ्यता, आम्नायपरम्परा, धर्म्म, आदर्श, आचार,* लोकनीति, राजनीति, परिवारनीति, व्यक्तिनीति आदि के लिए एक निःसीम निरतिशय संक्रमणात्मक–संघर्षात्मक–द्वन्द्वात्मक युग प्रमाणित हो रहा था, उस पूर्वयुग में–जहाँ मानवता और दानवता में प्राकृतिक देवासुरसंग्रामवत् प्रतिद्वन्द्विता प्रक्रान्त थी, उस पूर्वयुग में–जहाँ सत्त्व और तम (मध्यस्थ रजोगुण के समसमन्वयाभाव से), दोनों चरम उत्कर्षानुगामी बने हुए थे, उस पूर्वयुग में–जहाँ आत्मानुप्राणित धर्म्म, एवं शरीरानुगत कर्म्म, दोनों (मध्यस्था बुद्धि, तथा मध्यस्थ मन के सन्तुलन के अभाव से) सर्वथा विभक्त बने रहते हुए उन्मर्यादित होकर अधर्म्म एवं अकर्म्म के ही उत्तेजक बन रहे थे, उस पूर्वयुग में–जहाँ भारतवैभव चरमसीमानुगामी बनता हुआ भी मानवतृष्णा की तुष्टि के लिए सन्तोषकर प्रमाणित नहीं हो रहा था, उस पूर्वयुग में–जहाँ मानव का आत्मबुद्ध्यनुगत निष्ठाबल मन शरीरानुगता भावुकता से आक्रान्त होकर मूर्च्छित बन रहा था, उस पूर्वयुग में–जहाँ सहज भावुकता का दर्प दलन कर आसुर निष्ठाबल भावुक मानव समाज को लक्ष्यच्युत बना रहा था, उस पूर्वयुग में–जहाँ आस्थायुक्ता श्रद्धोपेता पूर्ण आस्तिकता के साथ साथ अनास्थाश्रद्धाश्रिता नास्तिकता भी प्रबलवेग से अपना प्रभाव व्यक्त कर रही थी सदित्य विविध द्वन्द्वपरम्पराक्रान्त, तर्योपवर्णित, नितान्त संघर्षात्मक महाभारतकालीन तथाविध

---

* मन्वन्तरानुगता इस कालगणना का विशद वैज्ञानिक विवेचन खण्डचतुष्टयात्मक श्राद्धविज्ञानग्रन्थ के 'भारतपिण्डोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड में द्रष्टव्य है।

पूर्वयुग से सम्बन्ध रखने वाला एक महत्वपूर्ण 'असदाख्यान'× एक विशेष उद्देश्य से आज हम 'विश्व-मानव' के सम्मुख, तथापि 'भारतीय हिन्दू मानव' के सम्मुख, एवं निष्कर्षतः–'भारतीय भावुक हिन्दू मानव' के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं, जो 'असदाख्यान' अपने सहज उपलालनभाव से करुणाप्रधान बनता हुआ भी 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' इस सिद्धान्तानुसार + आख्यानव्याज से मानव के सम्मुख लक्षीभूत 'सत्य' स्थिति ही अभिव्यक्त किया करता है।

२–असदाख्यान के लक्षीभूत पूर्वमानव—

प्रतिपाद्य संकल्पित असदाख्यान उस महाभारतकाल से सम्बन्धित है, जिसके प्रधान लक्ष्य बन रहे हैं दुर्य्योधनप्रमुख कौरव, एवं युधिष्ठिरप्रमुख पाण्डव। प्रज्ञाचक्षुष्क धृतराष्ट्र के लोकैषणात्मक दुर्य्योधनप्रमुख धार्त्तराष्ट्र, एवं सहज भावुक अतएव पाण्डुपत्नी नृपति के लोककामना से भी पराङ्मुख युधिष्ठिर प्रमुख पाण्डव, दोनों ही पूर्वपरिष्कृदोपवर्णित प्रतिद्वन्द्विता के अनुगामी बने रहते हुए सर्वथा विभिन्न विरुद्धदिग्द्वयानुगत दो लक्ष्यों पर आरूढ़ हो चले थे। कर्म्मभीरु दुर्य्योधन का पथ विभिन्न था, एवं धर्म्मभीरु युधिष्ठिर का मार्ग स्वतन्त्र था। दूसरे शब्दों में लोकैभय से आकर्षितमना बनते हुए दुर्य्योधन जहाँ केवल 'कुरु' (इदं कुरु) लक्षण कर्म्मक्षेत्र के अनुगामी थे, वहाँ पारलौकिक आत्मशान्तिमात्र से ही अपने आपको कृतकृत्य अनुभूत करने वाले धर्म्मराज युधिष्ठिर केवल धर्म्मक्षेत्र के पथिक बने हुए थे। दुर्य्योधन जहाँ भूतजिप्सा के अर्जन में आसक्त्यासक्त थे, वहाँ युधिष्ठिर आत्मसत्यसंरक्षण में ही पूर्णरूपेण तल्लीन थे। इस प्रकार वसुगानुगता राज्यसत्ता, किंवा राजसत्ता इन दो विभिन्नधर्म्मा शासकों के नियन्त्रण से नियन्त्रित बनी रहती हुई वसुगानुगता भारतीय प्रजा भी सर्वथा विभिन्न दो लक्ष्यों की समिका प्रमाणित हो रही थी, एवं 'राजा कालस्य कारणम्' यह ऐतिहासिक तथ्य अक्षरशः अन्वर्थ बन रहा था।

स्वाभाविक ही था प्रतिद्वन्द्वितात्मिका तथाविधा स्थिति में 'बल' (भूतबल) के द्वारा 'सत्य' (आत्मसत्य) का तात्कालिक अभिभव, किंवा प्रत्यक्षरूप्या पराभव। 'बलं सत्याद्रोजीयः' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार बल सत्य की अपेक्षा आरम्भ में अवश्य ही अपने सहज आक्रमणभाव से ओजस्वी बना रहता है। अतएव इन दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में कुछ समय के लिए बल ही प्रमुख बन जाया करता है। एक भूतशाली (भौतिक वित्त परिग्रहशाली, एवं भौतिक शारीरिक बलशाली धनमदान्ध

× पुराण में उपवर्णित सुप्रसिद्ध आठ प्रकार के आख्यानों में उपलालनभावात्मक एक विशेष आख्यान ही 'असदाख्यान' कहलाता है, जिन आठों का तात्त्विक विवेचन 'शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत स्वयम्भूर्द्धरयोपाख्यानप्रकरण' में (तृतीयखण्ड में) द्रष्टव्य है।

+ उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥
—भगवान् भर्तृहरिः

धनिक, एवं शरीरबलसम्पन्न मल्ल) दुष्टबुद्धि आततायी आसुर मानव के भौतिक प्रहार के सम्मुख सहसा एकबार तो सत्यनिष्ठ—सत्यवादी को अवनतशिरस्क ही बन जाना पड़ता है। 'अकारणाविष्कृतवैरिदारुणादसज्जनात् कस्य भयं न जायते' आभाणक प्रसिद्ध ही है।

३—सत्त्वीभूत पूर्व मानवों का प्रारम्भिक उदर्क (परिणाम)—

प्रारम्भिक उदर्क (परिणाम) वही घटित हुआ, जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति के साम्राज्य में घटित होता रहता है। बलासक्त बलाभिमानी दुर्योधन की प्रतिद्वन्द्विता में सत्यासक्त आत्माभिमानी युधिष्ठिर को स्वभ्रातृवर्गसहित न्यायसिद्ध लोकवैभव—राज्यसत्ता से वञ्चित हो जाना पड़ा। बलशाली दुर्योधन बन बैठे साम्राज्यभोक्ता, एवं सत्यासक्त धर्म्मभीरू युधिष्ठिर बना दिए गए 'शून्य—शून्यम्'। कैसी विषमावस्था थी !, कैसा प्राकृतिक वैषम्य था !। वैषम्य इसलिए कि, निगमागमशास्त्र—श्रुतिनिष्ठापरम्परा लोकमान्यता परम्परा—सबकी धारणा, निश्चित आस्था के अनुसार **'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः, स धर्म्मः'** इस दार्शनिक सिद्धान्तानुसार सत्यात्मक धर्म्म, किंवा धर्म्मात्मक सत्य * ही ऐहलौकिक 'अभ्युदय' नामक 'समृद्धानन्द' (लोकसमृद्धि लोकवैभव—लोकसुख) का, तथा पारलौकिक 'निःश्रेयस्' नामक 'शान्तानन्द' (पारलौकिक ऋद्धि—शान्ति) का, दोनों का अनन्याधार—प्रवर्त्तक—संरक्षक—संवर्द्धक माना गया है। किन्तु स्थिति घटित—विघटित हुई धारणा के सर्वथा विपरीत। बलनिष्ठ कौरवों के सम्मुख सत्यनिष्ठ पाण्डवों की कैसी दशा दुर्दशा भुक्त—प्रक्रान्त रही !, प्रश्न की मार्मिक व्यञ्जना से भी धर्म्मनिष्ठ आस्तिक सुपरिचित हैं। क्या यही है धर्म्मनिष्ठानुगति का परिणाम !, निरतिशय दुःखात्मक उदर्क !।

४—असदाख्यान के प्रति अभिनिविष्टों का अभिनिवेश—

'वेदभक्ति' व्याज से वेदमर्म्मसंहारक अमुक अभिनिविष्ट वर्ग पौराणिक 'असदाख्यान' की प्रामाणिकता के भी प्रति अन्यान्य सनातन सिद्धान्तों की भाँति भावुकप्रजा के व्यामोहन का कारण बन सकता है। एक अन्य वर्ग ओर भी है, जिसे हम 'विज्ञानवादी' वर्ग कहेंगे। दोनों ही वर्ग भारतीय सनातन मान्यताओं के प्रति सर्वात्मना अभिनिविष्ट बने हुए हैं। वेदभक्त अभिनिविष्ट वर्ग के निरर्थक शून्य तर्कवादाभास का महत्त्व तो आस्तिक प्रजा को विदित हो चुका है। अतः तत्सम्बन्ध में हमें विशेष वक्तव्य नहीं है। वक्तव्य है उस द्वितीय वर्ग के अभिनिवेश के सम्बन्ध में, जिसने क्षणिक भौतिक विज्ञानवाद की आपातरमणीयता से आज आस्तिक मानव को सर्वथा आत्मविस्मृत कर दिया है। प्रत्यक्षानुभूति के द्वारा प्रमाणित, अतएव तात्कालिकरूपेण प्रभावोत्पादक, अतएव सहसा मानवीय श्रद्धा—विश्वास को दृढ़ बनाने में समर्थ वर्त्तमान भौतिक विज्ञान की दृष्टि से ही प्रत्येक विषय की मीमांसा के लिए आतुर विज्ञानवादी मानव की दृष्टि में, तथा तदनुगामी गतानुगतिक नवशिक्षासुसंस्कृत भारतीय मानव की दृष्टि

* यो वै धर्म्मः—सत्यं वै। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुः—'धर्म्मं वदति' इति। धर्म्मं वा वदन्तं 'सत्यं वदति' इति। (शत॰ १४।४।२।६।)

पूर्वयुग से सम्बन्ध रखने वाला एक महत्त्वपूर्ण 'असदाख्यान'× एक विशेष उद्देश्य से आज हम 'विश्व-मानव' के सम्मुख, तथापि 'भारतीय हिन्दू मानव' के सम्मुख, एवं निष्कर्षतः-'भारतीय भावुक हिन्दू मानव' के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं, जो 'असदाख्यान' अपने सहज उपलालनभाव से कल्पनाप्रधान बनता हुआ भी 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' इस सिद्धान्तानुसार + आख्यानव्याज से मानव के सम्मुख लक्ष्यीभूत 'सत्य' स्थिति ही अभिव्यक्त किया करता है।

२—असदाख्यान के लक्ष्यीभूत पूर्वमानव—

प्रतिपाद्य सङ्कल्पित असदाख्यान उस महाभारतकाल से सम्बन्धित है, जिसके प्रधान लक्ष्य बन रहे हैं दुर्योधनप्रमुख कौरव, एवं युधिष्ठिरप्रमुख पाण्डव। प्रज्ञाचक्षुष्क धृतराष्ट्र के लोकैषणात्मक दुर्योधनप्रमुख धार्त्तराष्ट्र, एवं सहज भावुक अतएव पाण्डुसंज्ञ नृपति के लोककामना से भी परान्मुख युधिष्ठिर प्रमुख पाण्डव, दोनों ही पूर्वपरिच्छेदोपवर्णित प्रतिद्वन्द्विता के अनुगामी बने रहते हुए सर्वथा विभिन्न विरुद्धदिग्द्वयानुगत दो लक्ष्यों पर आरूढ़ हो चले थे। कर्म्मभीरु दुर्योधन का पथ विभिन्न था, एवं धर्म्मभीरु युधिष्ठिर का मार्ग स्वतन्त्र था। दूसरे शब्दों में लोकवैभव से आकर्षितमना बनते हुए दुर्योधन जहाँ केवल 'कुरु' (इद कुरु) लक्षण कर्म्मक्षेत्र के अनुगामी थे, वहाँ पारलौकिक आत्मशान्तिमात्र से ही अपने आपको कृतकृत्य अनुभूत करने वाले धर्मराज युधिष्ठिर केवल धर्म्मक्षेत्र के पथिक बने हुए थे। दुर्योधन जहाँ भूतलिप्सा के अर्जन में आसक्त्यात्मक थे, वहाँ युधिष्ठिर आत्मसत्यसंरक्षण में ही पूर्णरूपेण तल्लीन थे। इस प्रकार तद्गुणानुगता राज्यसत्ता, किंवा राजसत्ता इन दो विभिन्नधर्म्मा शासकों के नियन्त्रण से नियन्त्रित बनी रहती हुई तद्गुणानुगता भारतीय प्रजा भी सर्वथा विभिन्न दो लक्ष्यों की समर्थिका प्रमाणित हो रही थी, एवं 'राजा कालस्य कारणम्' यह ऐतिहासिक तथ्य अक्षरशः अन्वर्थ बन रहा था।

स्वाभाविक ही था प्रतिद्वन्द्वितात्मिका तथाविधा स्थिति में 'बल' (भूतबल) के द्वारा 'सत्य' (आत्मसत्य) का तात्कालिक अभिभव, किंवा प्रत्यक्षदृष्ट्या पराभव। 'बलं सत्यादोजीयः' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार बल सत्य की अपेक्षा आरम्भ में अवश्य ही अपने सहज आक्रमणभाव से ओजस्वी बना रहता है। अतएव इन दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में कुछ समय के लिए बल ही प्रमुख बन जाया करता है। एक भूतशाली (भौतिक वित्त परिग्रहशाली, एवं भौतिक शारीरिक बलशाली धनमदान्ध

× पुराण में उपवर्णित सुप्रसिद्ध आठ प्रकार के आख्यानों में उपलालनभावात्मक एक विशेष आख्यान ही 'असदाख्यान' कहलाता है, जिन आठों का तात्त्विक विवेचन 'शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत स्तम्भस्कुम्भुहरवोपाख्यानप्रकरण' में (तृतीयखण्ड में) द्रष्टव्य है।

+ उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥
—भगवान् भर्तृहरिः

पौराणिक यह आख्यान भी सर्वात्मना मान्य है, जिसका मूल भी निगमशास्त्र ही बना हुआ है। ऐसी स्थिति में उन वैज्ञानिकों के अभिनिवेश का समादर नहीं किया जा सकता, नहीं करना चाहिए।

५–'सदाख्यानोपक्रम माध्यम से अभिनिवेशतुष्टि का प्रयास—

पुराणमहात्मक अभिनिवेश को स्वीकृत करते हुए हम अभ्युपगमवाद से तुष्यद्दुर्जनन्यायेन विज्ञानवादी के मनोभावों का समादर कर लेते हैं, एवं नैगमिक 'सदाख्यान' के माध्यम से ही पूर्वस्थिति की प्रामाणिकता की ओर उनका ध्यान आकर्षित करते हैं। हमारी ऐसी धारणा है कि, परदेशीय वैज्ञानिक, एवं तदुच्छिष्टभोगी भारतीय वैज्ञानिक, दोनों ही निगमशास्त्र को अप्रामाणिक घोषित करते हुए सङ्कुचित हो पड़ते हैं। अवश्य ही मानना पड़ेगा कि, किसी न किसी रूप से निगम की ओर उनका सहज आकर्षण है। महाभारत युग से शत-सहस्र युग-परम्पराओं से कहीं पूर्व के 'देवयुगात्मक' 'यज्ञयुग' (वैदिकयुग) में एक बार इसी दृष्टिकोण के माध्यम से धर्मनिष्ठा के सम्बन्ध में महाभारतयुगवत् ही सघर्ष उत्पन्न हो गया था, जिसका ब्राह्मणग्रन्थों में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। वही सदाख्यान यहाँ संक्षेप से प्रस्तुत किया जा रहा है।

६–निष्ठास्वरूपप्रवर्त्तक वैदिक 'सदाख्यान' की रूपरेखा—

"स ये हाग्रऽईजिरे, ते ह स्मावमर्शं यजन्ते। ते पापीयांस आसुः। अथ ये नेजिरे, ते श्रेयांस आसुः। ततोऽश्रद्धा मनुष्यान् विवेद–'ये यजन्ते–पापीयांसस्ते भवन्ति, यऽउ न यजन्ते–श्रेयांसस्ते भवन्ति' इति (वदन्तः)। मत इतो देवान् हविर्न जगाम। इत प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति।

ते ह देवा ऊचुः–बृहस्पतिमाङ्गिरसं–'अश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्, तेभ्यो विधेहि यज्ञम्' इति। स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः–कथं न यजध्व–इति। ते होचुः–'किं काम्या यजेमहि। ये यजन्ते–पापीयांसस्ते भवन्ति, यऽउ न यजन्ते–श्रेयांसस्ते भवन्ति' इति।

स होवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः–यद्वै शुश्रुम–'देवानां परिपूतं सदेव यज्ञो भवति–यच्छृतानि हवींषि, प्रस्तुत्वा वेदिं। तेनावमर्शमचारिष्ट। तस्मात्पापीयांसोऽभूव।

तेनावमर्शं यजध्वम्। तथा श्रेयांसो भविष्यथ–इति। आ कियत इति?। आ बर्हिषस्तरणात्–इति। बर्हिषा ह वै खल्वेषा शाम्यति। स यदि पुरा बर्हिषस्तरणात् किञ्चिदापद्येत, बर्हिरेवस्तरणमपास्येत्। अथ यदा बर्हिस्तृणन्ति, अपि पदामितिष्ठन्ति। स यो हैव विद्वाननवमर्शं यजते, श्रेयान् हैव भवति। तस्मादनवमर्शमेव यजेत" इति।

—शतपथब्राह्मण १।२।३।२४,२५,२६ कं०।

में पुराणेतिहास का विशेष महत्त्व इसलिए नहीं है कि, पुराणप्रतिपादित आख्यानों का यह अपनी प्रयोगशालाओं (Laboratrles) में हाइड्रोजन (Hydrogen) ऑक्सिजन (Oxygen) कार्बन (Carbon) नाइट्रोजन, (Nytrogen) आदि तत्त्वों की भाँति यन्त्रमाध्यम से विश्लेषण (Analyse) पूर्वक परीक्षण नहीं कर सकता। बिना इस भौतिक-वैज्ञानिक-परीक्षण के उस वैज्ञानिक, तथा तदनुगामी नवशिक्षित भारतीय की दृष्टि में सम्पूर्ण भारतीय आम्नाय नहीं, तो न्यूनतम दन्तकथात्मक पुराण तो अवश्य ही अप्रामाणिक, अतएव मानव के सहज विकास का अवरोधक नितान्त व्यर्थ का अकाण्डताण्डवमात्र ही है। यह बड़े शिक्षाधुरीणों के श्रीमुख से ऐसी पैमरी वाणी विनिर्गत हुई है कि—'पुराण ? अरे पुराण तो माइथालॉजी (Mythology) है'। तात्पर्य्य इस वाणी का यही कि, "पुराण के विषय, उसके आख्यानोपाख्यान, गाथाएँ, इतिहास, सब कुछ काल्पनिक हैं, अतएव पुराण तो सर्वथा उपेक्षणीय है"। जबकि भारतीय इतिहास पुराण ग्रन्थ ही अवैज्ञानिक, अतएव अप्रामाणिक हैं, तो तदनुबन्धी 'असदाख्यान' के माध्यम से मानव की किसी महती समस्या के समाधान की चेष्टा करना क्या अप्रामाणिक नहीं माना जायगा ?, ओमित्येतत्।

पुराणेतिहासज्ञानलव से भी असंस्पृष्ट विज्ञानवादियों को यह स्मरण रखना चाहिए कि, 'असदाख्यान' तो पुराण का आठ प्रकार के आख्यानों में से केवल अन्तिम, सो भी बालानामुपलालनात्मक एक विभाग है। शेष सात दैविक-भौतिक-आत्मिकादि आख्यानों की वैज्ञानिकता का जिस दिन उन विज्ञानवादियों को आभास भी हो जायगा, तत्क्षण वे अपने सर्वस्वघातक क्षणिक विज्ञान का अहि-कञ्चुकिवत् परित्याग करते हुए प्रणतभाव से पुराणेतिहास के क्रोड़ का आश्रय ग्रहण कर लेंगे। अस्तु, यह कथा विषयान्तर से सम्बन्ध रखती है। अभी मान लेते हैं हम विज्ञानवादियों का अभिनिवेशात्मक अभियोग। इस सम्बन्ध में हम उनके सम्मुख केवल एक यही प्रतिप्रश्न उपस्थित करेंगे कि, क्या शिक्षापद्धति में उनके यहाँ 'माइथालॉजी' का कोई महत्त्व नहीं है ?। अवश्य ही अमुक सामान्यवर्ग के प्रारम्भिक उद्बोधन के लिए वहाँ की शिक्षापद्धति में भी असद्ज्ञानसरणी समाविष्ट है। खगोलीय-भूगोलीय वृत्तों के बोध कराने के लिए पार्थिव मृण्मयादि गोलकों को ही तो शिक्षक इसे अपने हाथ से परिभ्रममाण रखते हुए—यह उत्तर ध्रुव है, यह दक्षिण ध्रुव है, यह इक्वेटर है, यह सेन्टर है, इत्यादि उपलालनात्मिका माइथालॉजी को ही तो माध्यम बनाते रहते हैं। इसी आधार पर तो भारतीय उपासना काण्ड में उपासक की लक्ष्यसिद्धि के लिए प्रतिमा को माध्यम माना गया है *। 'माइथा' शब्द 'मिथ्या भाव समाहक' 'लॉजी' शब्द 'ज्ञान' भाव का समाहक। फलतः 'माइथालॉजी' का भावार्थ हुआ 'मिथ्या ज्ञान'। यही तो तात्पर्य्य 'असदाख्यान' शब्द का है। एवं आरम्भविज्ञानुगत उपलालनभाव की अपेक्षा

* अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

जबकि हम प्रत्यक्ष में यह अनुभव कर रहे हैं, देख रहे हैं कि, जो हम लोग यज्ञ कर रहे हैं, वे तो दु:ख दारिद्र्य से उत्पीड़ित बने हुए हैं। एवं जो नहीं कर रहे, वे सुख-समृद्धि के भोक्ता बने हुए हैं।"

भारतीय मानवप्रजा के यज्ञकर्म्मपरित्यागनिबन्धन तथाकथित कारण के वास्तविक तथ्य को हृदयङ्गम करते हुए, यज्ञकर्म के वास्तविक-प्राकृतिक-मौलिक रहस्यात्मक-सत्यवाद के आधार पर समाधान में प्रवृत्त आङ्गिरस महर्षि कहने लगे कि-हे मनुष्यो! हम सनातनपरम्परा से-यज्ञविज्ञानरहस्यवेत्ता वैदिक महामहर्षियों की परम्परा से-ऐसा सुनते आ रहे हैं कि, यह जो तुम्हारा वैध यज्ञकर्म्म है, यह कोई साधारण लौकिक कर्म नहीं है। (मन शरीरानुबन्धी भौतिक कर्म नहीं है), अपितु यह तो देवपरिपूत कर्म्म है, छन्दोबद्ध-मर्य्यादित-प्राकृतिक-सौरप्राण देवताओं के द्वारा सञ्चालित नित्य प्राकृतिक ईश्वरीय यज्ञ की प्रतिकृति में देवप्राणात्मक देवयज्ञरहस्यवेत्ता महर्षियों के द्वारा मानव अभ्युदय के लिए आविष्कृत दिव्य कर्म्म है, अलौकिक कर्म है, जिसमें मानवीय मानस कल्पना का समावेश कदापि इष्टजनक नहीं बन सकता। तात्पर्य-अशन, पान, भोग, भुक्ति, आदि की भाँति यज्ञकर्म्म कोई साधारण लौकिक कर्म्म नहीं है। अपितु प्रत्यक्ष में वितायमान वेदि-इध्म-बर्हि-पुरोडाश-स्फ्य-कपालादि पात्र-इत्यादि पार्थिव भौतिक परिग्रहों से समन्वित इस वैध यज्ञकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा वह परोक्ष अतीन्द्रिय प्राकृतिक प्राण तत्त्व है, जिसमें यत्किञ्चित् भी प्रमाद-असावधानी-मानवीयकल्पनासमावेश-से, मन्त्रप्रयोगानुगत वर्ण-अक्षर-पद-वाक्य-स्वर के दोष के समावेश से यह यज्ञकर्म्म इष्टफलसाधकता के स्थान में सर्वनाश का कारण बन जाया करता है। हमारी धारणा नहीं, विश्वास है कि, अवश्य ही तुम मनुष्योंने-'मनुष्या पर्य्येकेऽति चममन्ति' (शत० २।४।२।६।) इस सहज स्खलनदोष से इस यज्ञकर्म्म में कहीं न कहीं प्राकृतिक यज्ञ के विरुद्ध कोई वैसी भूल कर डाली है, जिससे यह यज्ञ तुम्हारे लिए इष्टस्थान में अनिष्ट का कारण बन गया है। उस अज्ञातदोष से अपरिचित रहने के कारण ही तुमने दूसरी महाभयावह यह भ्रान्ति कर डाली है कि, तुमने यज्ञ को ही अनिष्ट का कारण घोषित करते हुए इसके प्रति अश्रद्धा कर ली है। उसी प्रमाद से तुम्हारा उद्बोधन कराने के लिए सौमदेवताओं की ओर से हमें यहाँ आना पड़ा है।

सुनो! अवधान पूर्वक सुनो! और समझो कि, तुमने कहाँ भूल कर डाली। तुमने देवताओं को आहुति देने के लिए हविर्द्रव्य का परिपाक कर लिया, यथाविधि वेदि का स्वरूप सम्पादन कर लिया। एवं यहाँ तक तुमने-**'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'** आदेश के अनुसार अपने इस विकृतियज्ञ में प्रकृतिवत् ही सब कुछ सम्पादन किया। किन्तु आगे चल कर तृणादि अपकरण के लिए तुमने अवैधरूप से प्रकृतिविरुद्ध वेदि का स्पर्श कर डाला। वेदि बन ही चुकी थी, अभी उस पर दर्भास्तरण नहीं हुआ था। कहीं से कोई तृण वेदि पर आ गिरा होगा। तुमने हाथ से उसे निकाल दिया, किन्तु यह न सोचा कि, दर्भास्तरण से पूर्व वेदि का किसी भी निमित्त से स्पर्श कर लेना अपने सर्वनाश का आमन्त्रण करना है। इसी स्पर्शदोष से तुम्हारा अनिष्ट हो गया। अतएव भविष्य के लिए हम तुम्हें सावधान कर देते हैं कि, वेदि का हाथ से स्पर्श न करते हुए ही तुम्हें यज्ञकर्म्म में प्रवृत्त होना चाहिए।

"उस पूर्वयुग में (तात्त्विक रहस्य को न जानने के कारण) भारतीय मानवोंने जो यज्ञानुष्ठान किया, उस अनुष्ठानकर्म्म में उन्होंने अन्धमर्यादापूर्वक वेदभिन्नतापूर्वक (यदिका स्पर्श करते हुए) यज्ञपद्धति का अनुगमन किया। परिणाम यह हुआ इस वेदविप्लव का कि, इष्टफलभोग के स्थान में वे यज्ञकर्त्ता मानव अनिष्ट-पतन-प्रत्यवाय के भागी बन गए। ठीक इसके विपरीत उस युग में भी जो अश्रद्धावान-नास्तिक-आसुरभावापन्न भारतीय मानव यज्ञ में श्रद्धा नहीं रखते थे, यज्ञ नहीं करते थे, वे (अपनी भौतिक लौकिक कर्म्म परम्परा के अनुगमन से-लोककर्म्मानुष्ठान से लोकदृष्ट्या) सुखोपभोक्ता बने हुए थे। इस वैषम्य के आधार पर श्रद्धाशील यज्ञकर्त्ता आस्तिक मानव के मानसक्षेत्र में सहसा इस प्रकार की अश्रद्धा उत्पन्न हो गई कि, अरे! देखते हैं—जो हम मानव यज्ञ कर रहे हैं उनका तो पतन हो रहा है, दुःखी हो रहे हैं हम यज्ञानुष्ठान से। एवं जो यज्ञ का नामस्मरण भी नहीं करते, वे सुखी-समृद्ध बन रहे हैं। इस अश्रद्धा के कारण आस्तिकोंनें भी सहसा यज्ञानुष्ठान का परित्याग कर दिया। परिणाम यह हुआ कि, यज्ञानुगता आहुति के अवरुद्ध हो जाने से आन्तरिक्ष्य प्राकृतिक प्राणदेवता इस वैध पार्थिव प्राणाहुति से वञ्चित होकर कोपप्रवर्त्तक बन गए (प्रकृति की आदान-प्रदानात्मिका परस्परभावात्मिका सहज शान्ति उच्छिन्न हो गई *) क्योंकि, पार्थिव यज्ञाहुति से ही तो प्राणदेवात्मिका-प्रकृति स्वस्थ बनी रहती है। प्राकृतिक प्राणदेवों की स्वस्थता-स्वरूपस्थिति ही तो उनकी जीवनसत्ता है।

—

सर्वात्मना विकम्पित भारतवर्ष की, तन्मानवों की इस प्रकार की अश्रद्धा का इतिवृत्त तत् समय के भौम-पार्थिव मानवदेवताओं के समीप जब पहुँचा, तो वे चिन्तित हो पड़े। तत्काल मन्त्रणा कर उन्होंनें यज्ञरहस्यवेत्ता अङ्गिरसप्राण, अतएव 'आङ्गिरस' नाम से प्रसिद्ध देवगुरु बृहस्पति को भारतवर्ष में इस उद्देश्य से भेजा कि, वे यहाँ आकर यज्ञरहस्यविश्लेषणपूर्वक भारतीय मानवों की चलित श्रद्धा को पुनः यज्ञकर्म्म में स्थिर बनाते हुए प्राकृतिक कोप का उपशम करें। मन्त्रणानुसार बृहस्पति आए इलावृतवर्षात्मक भौम स्वर्गस्थान से भारतवर्षात्मक इस कृष्णमृगदेश (यज्ञदेश) में। बृहस्पतिने प्रश्न किया कि—हे मानवो! तुम लोग यज्ञ कैसे नहीं करते?, क्यों तुम लोगोंनें यज्ञकर्म्मानुष्ठान का परित्याग कर दिया?। उत्तर स्पष्ट था। मानव कहने लगे—हे देवगुरो! हम किस इष्टसिद्धि-फलकामना के लिए यज्ञ करें,

---

* प्राणदेवता, अभिमानीदेवता मन्त्रदेवता, कर्म्मदेवता, आम्नदेवता, पार्थिवभूतदेवता, भौममानवदेवता, आध्यात्मिकदेवता भेद से देवविज्ञान आठ भागों में विभक्त है। प्रकृतिवत् इस पृथिवी पर भी स्वयम्भू ब्रह्मा के द्वारा देवत्रैलोक्य, एवं असुरत्रैलोक्य-व्यवस्था व्यवस्थित हुई थी, जो वस्तुतःसोमरक्षक गन्धर्व मानव चन्द्रमा के कृपावश से कालान्तर में मानव असुरों के द्वारा स्मृतिगर्भ में विलीन कर दी गई। यह सम्पूर्ण देवविज्ञान शतपथब्राह्मण में यत्रतत्र विस्तार से प्रतिपादित हुआ है। तद्युग के भौम देवताओं-मनुष्यदेवताओं-नें ही बृहस्पति को यहाँ भेजा था।

७–महामाया द्वारा लोकमानव का विमोहन—

निश्चयेन केवल अपने प्रज्ञापराध से घटित–विघटित दुर्दशापरम्परा का दोष अपनी सहज भावुकता के तात्कालिक आवेश से अन्यान्य व्यक्तियों से सम्बन्धित मानने वाले, किंवा दैव को ही इस दोषपरम्परा का कारण घोषित करने की महती भ्रान्ति करने वाले एक वैसे ही कर्त्तव्यविमुख सुप्रसिद्ध भावुक मानव के तात्कालिक भावाविष्ट उद्गारों की ओर आज हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जो मानव प्रारम्भोपवर्णित महाभारतानुगत पूर्वयुग में अपने 'आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक' इन चारों ही आध्यात्मिक–मानवस्वरूपनिबन्धन–पर्वों से असाधारण योग्यता प्रमाणित कर रहा था। नित्य–प्राकृतिक–विज्ञानानुमोदित वेदशास्त्र सिद्ध 'अवतारवाद' सिद्धान्त के अनुसार तो, सुनते हैं–यदि उस पूर्वयुग में वासुदेव श्रीकृष्ण सौर हिरण्मय मण्डल को अपने महिमामय आपोमण्डल में बुद्बुद्वत् गर्भीभूत बनाए रखने वाले पारमेष्ठ्य नारायण विष्णु के पूर्णावतार थे, तो यह महामानव सौर इन्द्रात्मक ज्योतिर्मय 'नर' का अवतार था। पारमेष्ठ्य आपोमय नारायण, एवं सौर ज्योतिरिन्द्ररूप नर, दोनों का प्राकृतिक महाब्रह्माण्ड में सहज सख्यसम्बन्ध सनातनरूप से सुरक्षित है। अतएव पारमेष्ठ्य नारायणावतार (विष्ण्ववतार) रूप वासुदेवकृष्ण, तथा नरावतार (इन्द्रावतार) रूप इस महामानव का मैत्रीसम्बन्ध इन दोनों के इस योगमायानिबन्धन पार्थिव–अवतार–स्वरूपों में भी वद्युग में प्रकृतिवत् अक्षुण्ण बना रहा था, जिसकी वैज्ञानिक दिशा का गीताविज्ञानभाष्य में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। सभी कुछ यथार्थ था, प्राकृतिक था यद्यपि, तथापि—

> "ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
> बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥"
>
> —दुर्गासप्तशती

इत्यादि रहस्यवादी के सनातन नियमानुसार नरावताररूप सर्वात्मना सुयोग्यतम–कुशल–मेधावी–प्रज्ञाशील–बुद्धिनिष्ठ–महासत्त्व–महाप्राण–आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण उस महामानव पर भी सदसद्विलक्षणा–परात्परा–ईश्वरीपरमेश्वरी–जगन्माता जगदम्बा योगमाया के बलवत् मोहपाश का वैसा आक्रमण हो ही गया, जिस आक्रमण का सम्भार वैसा महामानव भी न संभाल सका, न संभाल सका। एवं तत्परिणामस्वरूप इस मोहपाशाक्रमण से अपनी सहज भी बुद्धिनिष्ठा को, परिपूर्ण भी मानवता को, सनातन भी आस्थाश्रद्धा को, निर्णीत भी शास्त्रकर्मनैतिककर्त्तव्यतापरायणता को सर्वात्मना विस्मृत करता हुआ, इस लौकिकी सामान्या मनोऽनुगता–यथाजातमानवमान्यता युक्ता–मुग्धभावापन्ना किंकर्त्तव्यविमूढोत्पादिका भावुकस्थिति से समन्वित होता हुआ सर्वात्मना पुरुषार्थशून्य–सा, आत्मविमूढ–सा, बुद्धिनिष्ठा–वञ्चित–सा, उदासीनवदासीन–सा, दिग्विमूढ सा, असहाय–सा, सर्वसाधन–परिग्रह–शून्य–सा बनता हुआ आज अपने सर्वसमर्थ परिपूर्ण अतिमानव (आधिकारिक–अवतार) मित्र के सम्मुख अश्रुपूर्णाकुलेक्षणभावमाध्यम से

कम तक हम वेदिका स्पर्श न करें ?, यदि वेदि पर निरर्थक, अतएव अयज्ञिय तृणादि पत्ता में आ जायें तो उन्हें कैसे दूर करें ?, यह जिज्ञासा अभिव्यक्त करने पर बृहस्पति ने समाधान किया कि, बर्हिस्तरण से पहिले पहिले वेदि का हाथ से स्पर्श इसलिए नहीं करना चाहिए कि, 'स्फ्य' नामक यज्ञिय शस्त्र से भूगर्भ की मृत्तिका को उत्पीड़ित कर (खोद कर) वेदि का जो स्वरूपनिर्म्माण किया जाता है, इस शस्त्रप्रहारकर्म्म से वेदि हिंसात्मक क्रूरकर्म्मानुगत घातक प्राण से समन्वित बन जाती है। इस घातक प्राण को सुशान्त करने की शक्ति और आपोमय रश्मिरूप 'वेन' से उत्पन्न 'बर्हि' (दभ-डाभ) में मानी गई है। जब तक इस बर्हि का स्तरण वेदि पर नहीं कर दिया जाता, तब तक वेदि घातक प्राण से आक्रान्त रहती है। अतएव इस समय यदि हस्तस्पर्श कर लिया जायगा, तो वेदिस्थ घातक प्राण यज्ञ को अनिष्टभाव से समन्वित कर देगा। अतएव बर्हिस्तरण से पूर्व पूर्व यदि वेदि पर अन्य तृण आदि आ भी जायँ, तो उन्हें बर्हि से ही हटाना चाहिए। जब बर्हि बिछा दिए जाते हैं, तो हिंसाप्राण उपशान्त हो जाता है। तदनन्तर हस्तस्पर्श ही क्या, यदि (अभ्युपगमवादेन) तुम वेदि पर पैर भी रख दोगे, तो भी कोई अनिष्ट न होगा। इस प्रकार कुशास्तरण से पूर्व पूर्व अनवमर्श (अस्पृष्ट) रूप से यजन करने वाला यज्ञ कर्त्ता द्विजाति मानव अवश्यमेव इष्टफलभोक्ता ही बनता है। इसलिए-'अनवमर्शमेव यजेत' ।*"।

उक्त वैदिक-नैगमिक-सदाख्यान से प्रकृत में हमें इसी तथ्य का अनुगामी बनना है कि, मानव कभी कभी अपने प्रज्ञापराध (नासमझी) जनित दोषों का स्वरूप न जानता हुआ अपने इन दोषों-अपराधों-भ्रान्तियों-त्रुटियों का उत्तरदायित्व दैववाद पर छोड़ने की महती भ्रान्ति कर बैठता है। भूल होती है स्वयं इस की, दोष दिया करता है यह दैव को। अज्ञानतावश-मोहवश-आवेशवश-अभिनिवेशाक-पितान्त:करणमना मानव अभ्युदय-निःश्रेयस् पथ से वञ्चित रहता हुआ कभी दैववाद (भाग्य) को, कभी सहयोगी मानवों को, कभी साधनों को, तो कभी साध्य धर्म्म-कर्म्म-शास्त्रादि अन्यान्य निमित्तों को दोषी ठहराता हुआ कालान्तर में अपनी निश्चित-निर्णीत-शास्त्रनिष्ठा से पराङ्मुख बन जाया करता है, कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा से च्युत हो जाया करता है। आज एक वैसे ही मानव, किंवा महामानव, किन्तु भावुकतावश लक्ष्यच्युत बने हुए भारतीय मानव से सम्बन्ध रखने वाले उस ऐतिहासिक तथ्य की ओर हमें भावुक मानवसमाज का ध्यान आकर्षित करना है, जिसकी मध्यस्थता ही प्रस्तुत सामयिक निबन्ध की जननी प्रमाणित होने वाली है।

---

* इस सदाख्यान का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य-प्रथमवर्ष के 'वेदिब्राह्मण' नामक प्रकरण में हो चुका है, जो प्रथमवर्ष अब पुन प्रकाशन सापेक्ष है। हम इस प्रयास में जागरूक हैं कि, सुविधा प्राप्त होने पर शतपथभाष्य के १-२-३- वर्षत्रयात्मक तीनों खण्ड पुनः प्रकाशित कर दिए जाँय, जिस इस जागरूकता की सफलता का एकमात्र उत्तरदायित्व भाष्यसंस्कृतिप्रेमी साहित्यिकों की लोकैषणाविनिर्मुक्ता निष्ठा पर ही अवलम्बित है।

७–महामाया द्वारा लोकमानव का विमोहन—

निश्चयेन केवल अपने प्रज्ञापराध से घटित–विघटित दुर्दशापरम्परा का दोष अपनी सहज भावुकता के तात्कालिक आवेश से अन्यान्य व्यक्तियों से सम्बन्धित मानने वाले, किंवा दैव को ही इस दोष परम्परा का कारण घोषित करने की महती भ्रान्ति करने वाले एक वैसे ही कर्त्तव्यविमुख सुप्रसिद्ध भावुक मानव के तात्कालिक भावाविष्ट उद्गारों की ओर आज हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जो मानव प्रारम्भोपवर्णित महाभारतानुगत पूर्वयुग में अपने 'आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक' इन चारों ही आध्यात्मिक–मानवस्वरूपनिबन्धन–पर्वों से असाधारण योग्यता प्रमाणित कर रहा था। नित्य–प्राकृतिक–विज्ञानानुमोदित वेदशास्त्र सिद्ध 'अवतारवाद' सिद्धान्त के अनुसार तो, सुनते हैं–यदि उस पूर्वयुग में वासुदेव श्रीकृष्ण सौर हिरण्मय मण्डल को अपने महिमामय आपोमण्डल में बुद्बुद्वत् गर्भीभूत बनाए रखने वाले पारमेष्ठ्य नारायण विष्णु के पूर्णावतार थे, तो यह महामानव सौर इन्द्रात्मक ज्योतिर्मय 'नर' का अवतार था। पारमेष्ठ्य आपोमय नारायण, एवं सौर ज्योतिरिन्द्ररूप नर, दोनों का प्राकृतिक महाब्रह्माण्ड में सहज सख्यसम्बन्ध सनातनरूप से सुरक्षित है। अतएव पारमेष्ठ्य नारायणावतार (विष्ण्वावतार) रूप वासुदेवकृष्ण, तथा नरावतार (इन्द्रावतार) रूप इस महामानव का मैत्रीसम्बन्ध इन दोनों के इस योगमायानिबन्धन पार्थिव–अवतार–स्वरूपों में भी उस युग में प्रकृतिवत् अक्षुण्ण बना रहा था, जिसकी वैज्ञानिक दिशा का गीताविज्ञानभाष्य में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। सभी कुछ यथार्थ था, प्राकृतिक था यद्यपि, तथापि—

> "ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
> बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥"
>
> —दुर्गासप्तशती

इत्यादि रहस्यवाणी के सनातन नियमानुसार नरावताररूप सर्वात्मना सुयोग्यतम–कुशल–मेधावी–प्रज्ञाशील–बुद्धिनिष्ठ–महासत्त्व–महाप्राज्ञ–आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण उस महामानव पर भी सदसद्विलक्षणा–परात्परा–परमा–ईश्वरीपरमेश्वरी–जगन्माता जगदम्बा योगमाया के बलवत् मोहपाश का वैसा आक्रमण हो ही गया, जिस आक्रमण का सम्भार वैसा महामानव भी न संभाल सका, न संभाल सका। एवं तत्परिणामस्वरूप इस मोहपाशाक्रमण से अपनी सहज भी बुद्धिनिष्ठा को, परिपूर्ण भी मानवता को, सनातन भी आस्थाश्रद्धा को, निर्णीत भी शास्त्रकर्मनैतिककर्त्तव्यतापरायणता को सर्वात्मना विस्मृत करता हुआ, इस लौकिकी सामान्या मनोऽनुगता–यथाजातमानवमान्यता युक्ता–मुग्धभावापन्ना–किंकर्त्तव्यविमूढ़ोलादिका भावुक-स्थिति से समन्वित होता हुआ सर्वात्मना पुरुषार्थशून्य–सा, आत्मविमूढ़–सा, बुद्धिनिष्ठा–वञ्चित–सा, उदासीनवदासीन–सा, दिङ्विमूढ़ सा, असहाय–सा, सर्वसाधन–परिग्रह–शून्य–सा बनता हुआ आज अपने सबसमर्थ परिपूर्ण अतिमानव (आधिकारिक-अवतार) मित्र के सम्मुख अश्रुपूर्णाकुलेक्षणभावमाध्यम से

अपने इस नितान्त भावुकतापूर्ण अन्तर्द्वन्द्व के समाधान के लिए समुपस्थित होता हुआ इस प्रश्नभाव का अनुगामी मन रहा है—

> कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म्मसम्मूढचेताः ।
> यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥
>
> —गीता २।७।

इस व्यामोहनप्रसङ्ग में ही एक आभ्यन्तर सामयिक प्रश्न । यह यथार्थ है कि, महामायाऽभिन्ना योगमाया (विष्णुमाया) के मोहपाशाक्रमण से नितान्त ज्ञाननिष्ठ मानव भी लक्ष्यच्युत बन जाया करते हैं । महतोमहीयान् आश्चर्य्य ! क्या महामङ्गलविधात्री जगन्माता 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' अपनी इस मातृभावना के सर्वथा विपरीत इसी प्रकार स्वसन्तति पर अपना वात्सल्य अभिव्यक्त करती है ! । क्या मङ्गलमयी माता का स्ववात्सल्याभिव्यक्ति के लिए एकमात्र यही कर्त्तव्य शेष रह गया है कि, वह अपनी ज्ञाननिष्ठ-सर्वविध योग्य-धारणाश्रद्धासमन्वित भी सन्तति पर सहसा अपने स्नायुमण्डलावेधक मोहपाश का आक्रमण कर इसे सर्वात्मना हतवीर्य्य बना दे !, इसकी जागरूक सहज शक्तियों को कुण्ठित- अभिभूत कर इसे दीनहीन-सा, मूर्खविमूढ-सा, किंकर्त्तव्यविमूढ-सा बना दे !, यही वह सामयिक प्रश्न है, जो अवश्य ही हमारे इस ऐतिहासिक 'मानव' के गाथा प्रसङ्ग में एक आस्तिक-भावुक, विशेषत धर्म्मभीरु भावुक भारतीय मानव के विद्यमान सौम्य अन्तःकरण में एक जटिल समस्या उत्पन्न कर रहा है । इस महत्त्वपूर्ण सामयिक प्रश्न का समाधान हम क्या करें, जबकि हम स्वयं भी इसी पथ के पथिक बने हुए हैं । इस समस्यात्मक प्रश्न के समाधान का उत्तरदायित्व तो एकमात्र कालपुरुष के अनुग्रह पर ही अवलम्बित माना जायगा । पार्थिव—चान्द्र—सौरसम्वत्सरत्रयीरूप कालचक्रत्रयी की सतत परिभ्रममाणा-नियति के निग्रहानुग्रह से पार्थिव मानवसमाज की चन्द्रानुगता मानसिक प्रवृत्तियों में कब क्या क्या उच्चावच परिवर्त्तन हुआ करते हैं !, स्वयं मानव इन प्राकृतिक परिवर्त्तनों के प्रति किस सीमा पर्य्यन्त उत्तरदायी है !, इत्यादि प्रश्नपरम्परा एक स्वतन्त्र विषय है, जिसका 'मानवस्वरूपमीमांसा' रूप से अग्रिम परिच्छेदों में समाधान करने की चेष्टा की जारही है । प्रकृत में सन्दर्भसङ्गतिमात्र के लिए दो शब्दों में तत्र निरूपित समाधानदिशामात्र से ही पाठकों को अवगत करा दिया जाता है ।

८—लोकमानव की ग्राम्यपशुता, और मायाविमोहनसमाधानचेष्टा—

नैगमिक 'पञ्चपशुविज्ञान' के अनुसार अश्व-गो-अवि (भेड़)-अज (बकरा) वत् पुरुष भी महाकालद्वारा कमलित बना रहने के कारण अन्नस्थानीय (सौम्यस्थानीय) बना रहता हुआ (मनःशरीर भावद्वयीमात्र की अपेक्षा से) एक प्रकार का 'पशु' ही माना गया है, जैसा कि—'अन्नमन् पुरुषं पशुम्' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है । पञ्चविध 'पुरुषाश्वगवाव्यजाः' इन प्राकृतिक पार्थिव मुख्य पशुओं के जाति—उपजाति—अवान्तरजाति—अनुलोम—प्रतिलोमसंकर—आदि बीज—योनि भेद से अवान्तर शत—सहस्र

विभिन्न हो रहे हैं। इन असंख्य भेदभिन्न पशुपशुजातियों का भारतीय वैज्ञानिक महर्षियोंनें 'आरण्यक-पशु'–'ग्राम्यपशु' इन दो भागों में वर्गीकरण करते हुए पशुस्वरूप की तात्त्विक मीमांसा की है।

'पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यान्–आरण्यान्–ग्राम्याश्च ये' इत्यादि रूप से पशुवर्ग–ग्राम्यपशु, आरण्य पशु, इन दो वर्गों में विभक्त है। दुर्भाग्यवश, किंवा निगतशताब्दियों से परम्परया उत्तराधिकारसमर्पण प्रक्रिया की भाँति मातृकमानवपरम्परा के द्वारा मातृकमानवपरम्परा को दायादरूप से प्राप्त मातृकतावश वैदिकपरम्परा के अभिभूत हो जाने से वेदार्थमीमांसा के सम्बन्ध में सर्वसामान्य चलितप्रज्ञ व्याख्याताओं की कौन कहे, महामान्य मेधावी वेदव्याख्याताओं के द्वारा भी यत्रतत्र वैसी उद्वेगकारी भ्रान्तियाँ अभिव्यक्त हो पड़ीं हैं, उन भ्रान्त व्याख्याओं के अनुग्रह से अर्थ के स्थान में बड़े बड़े अनर्थ हो पड़े हैं। उदाहरण, यही प्रक्रान्त पशुवर्गद्वयी। व्याख्याताओंनें 'आरण्यपशु' का अर्थ किया है–'जङ्गलीपशु' (अर्थात्–शून्य निर्जन–वनोपवनों में स्वच्छन्द विचरण करने वाले पशु)। एवं 'ग्राम्यपशु' का अर्थ किया है–'गाँव के पशु' (अर्थात् ग्राम, एवं नगर में रहने वाले पशु)। मातृकतापूर्णा प्रत्यक्षप्रमाणमूला लोकदृष्टि से इस अर्थ में कोई त्रुटि प्रतीत नहीं हो रही, जबकि 'अरण्य', एवं 'ग्राम' शब्दों के अमरकार सम्मत 'जंगल' और 'गाँव' अर्थ सर्वसाधारण की लोकदृष्टि में लोकसम्मत बन रहे हैं। किन्तु

'किन्तु' का आश्रयग्रहण इसलिए करना पड़ा कि, वैदिकसाहित्य काव्यनाटकसाहित्य की भाँति कोई लौकिक साहित्य नहीं है, जिसे लोककोश–एवं लोकव्याकरण के माध्यम से सहसा समन्वित कर लिया जाय, किंवा आपातरमणीयभावापन्ना प्रत्यक्षदृष्टिमात्रमाध्यम से जिसका यथेच्छ समन्वय कर लिया जाय। अपितु अलौकिक–अपौरुषेय–तत्त्वपरिपूर्ण–रहस्यार्थगम्भीर–वेदशास्त्र की अपनी रहस्यपूर्णा एक स्वतन्त्र परोक्ष, किन्तु आम्नायपरम्परानुप्राणित परिभाषापरम्परा है, जिसे आधार बनाए बिना अन्य लौकिक सहस्र मेधावी प्रयत्नों–लोकव्याख्याओं से भी कथमपि वेदार्थ का तत्त्वार्थबोध सुसमन्वित नहीं बन सकता, कथमपि नहीं बन सकता।

'आरण्य' शब्द का पारिभाषिक अर्थ है 'अरण' सम्बन्ध से 'एकाकीभाव', एवं 'ग्राम' शब्द का अर्थ है 'समूहभाव'। वनोपवनादि में क्योंकि ऐकान्तिकता (एकान्तपना) स्वाभाविक है, सहज सुलभ है। अतएव इस एकाकीपन से वनादि प्रान्त भी 'अरण्य' नाम से लोक में व्यवहृत होने लग गए हैं। एवमेव ग्रामनगरादि में क्योंकि प्राणी सामूहिक रूप से आवास निवास करते हुए से प्रतीत होते हैं। अतएव ग्रामनगरों को 'ग्राम' नाम से व्यवहृत करना भी लोकसम्मत बन गया है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, अरण्य और ग्राम शब्द एकाकीपन एवं सामूहिकभाव के सर्जक नहीं हैं, अपितु एकाकीभाव, समूहभाव अरण्य–ग्राम–शब्दों के सर्जक हैं। दूसरे शब्दों में अरण्य एवं ग्राम शब्दों का मुख्य अर्थ है एकाकीभाव, एवं समूहभाव, न कि जंगल, और गाँव। अरण्य (एकाकीभाव), एवं ग्राम (समूहभाव) के कारण वनोपवनादि अरण्य, एवं प्राणिसमूहात्मक प्रदेश ग्राम कहलाए हैं। वनोपवनादि, एवं ग्राम-

नगरादि कदापि 'अरण्य–ग्राम' शब्दों के वाच्य नहीं है। ऐसे सामान्य यथाजात लोकमानव की स्थूलदृष्टि से अरण्य–ग्राम शब्दों का जँगल–गाँव अर्थ घोषित करते रहना भी लोकदृष्ट्या समादरणीय बन ही रहा है। एवं इस लौकिक दृष्टि के अनुग्रह से 'आरण्यकपशु' का अर्थ–'जँगल के जीव', और 'ग्राम्यपशु' का अर्थ 'गाँव के जीव' करते रहना कोई अक्षम्य अपराध नहीं माना जा सकता। हाँ, वैदिक अरण्य–ग्राम शब्दों के साथ न तो यह जँगलीपना ही सम्य है, एवं न यह गँवारपना ही उपेक्षणीय है।

तात्त्विकदृष्ट्या 'अरण्य' शब्द का अर्थ होगा 'एकान्तिकता', एवं 'ग्राम' शब्द का अर्थ होगा 'सामूहिकता'। इस दृष्टि से 'आरण्यकपशु' का अर्थ होगा 'एकान्तनिष्ठप्राणी', एवं 'ग्राम्यपशु' का अर्थ होगा–'समूहनिष्ठप्राणी'। एकाकी निवास विचरणशील प्राणी ही आरण्यकपशु कहा जायगा, एवं सामूहिक (समूह बना कर–निवास–विचरण करने वाला) प्राणी ग्राम्यपशु माना जायगा। लौकिक दृष्टि से सम्बन्धित अरण्य (जँगल) में भी आरण्य–ग्राम्य, दोनों प्रकार के प्राणी उपलब्ध हो सकते हैं, होते हैं। एवं ग्राम (गाँव–शहर) में भी दोनों निवास–विचरण करते हैं। पहिले 'पशु' नाम से प्रसिद्ध दोनों प्राणियों के उभयत्र निवास का अन्वेषण कीजिए। शरभ–अष्टापद–सिंह–व्याघ्र–आदि पुरुषानुगत पराक्रमी पशु भेड़ बकरियों की भाँति समूह–झुण्ड बना कर विचरण–निवास करते रहना अपने स्वतन्त्र पुरुषार्थ के सर्वथा विरुद्ध मानते हैं। स्वतन्त्ररूप से स्वच्छन्द वृत्ति से विचरण करते रहना ही इन शर आदि कतिपय भेद पशुओं का सहज स्वभाव है। ऐसे शरभादि जँगली प्राणियों को ही हम 'आरण्यकपशु' कहेंगे। मदमत्त मौक्तिक गज, पमूषवराह प्रतिकृतिरूप महासत्त्व शूकर, वाम्र गन्धवप्राणप्रतीकरूप चलितप्रज्ञ–चलितशरीरत्वधिधर्मा–सचकितनयन मृग, धूर्तशिरोमणि शृगाल, आदि आदि मनःशरीरानुगत वीर्य्य–बलानुशयानुभावित कतिपय पशु समूह झुण्ड बना कर ही आवास निवास किया करते हैं। झुण्ड के झुण्ड बना कर विचरण करते रहना ही इन जँगली पशुओं का सहज स्वभाव है। इस झुण्डरूप सामूहिकभाव के कारण ही इन जँगली पशुओं को 'ग्राम्यपशु' कहा जायगा। तदित्थं–केवल आरण्य (जँगल) में ही आरण्यक, तथा ग्राम्य, दोनों प्रकार के पशुओं का आवास प्रमाणित हो रहा है। यही उभयवर्ग ग्राम से सम्बन्धित माने जायँगे। महासत्त्व सायक वृषभ (साँकल) उत्सुपुष्पष, महाप्राण सायक महिष (सवीर्य्य भैंसा), मस्तकविस्फोटक नर अवि (मींढा), आदि आदि कितने एक नागरिक पशु नगर में रहते हुए भी ऐकान्तिकरूप से विचरण करते हुए अपनी आरण्यामिधा को अन्वर्थ बनाते रहते हैं। 'गौ–महिष–श्वान–वाहतुरग–आदि पशु सामूहिकरूप के अनुगामी बने रहते हुए ग्रामनिवासी 'ग्राम्याभिधा' को अन्वर्थ बना रहे हैं। तदित्थं ऐकान्तिकरूप से, तथा सामूहिकरूप से नगर–ग्रामों में निवास करने वाले पशु क्रमशः आरण्यक–ग्राम्य बने हुए हैं। दोनों ही वर्ग अरण्य में, दोनों ही वर्ग ग्राम में। अरण्य में भी आरण्यक–ग्राम्य दोनों, ग्राम में भी आरण्यक, ग्राम्य दोनों, यही निष्कर्ष है। अलमतिपल्लवितेन। अब शेष प्रश्न रह जाता है पशुभेद मानववर्ग के सम्बन्ध में, जिसकी मीमांसा विस्तार से इसी निबन्ध के द्वितीयप्रकरण में होने वाली है। विषय-सन्दर्भसमन्वयदृष्टि से अभी इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि—

आश्रमचतुष्टयानुगत द्विजातिमानव, एवं यथाजात लौकिकमानव, भेद से सर्वप्रथम हम मानव के दो वर्ग मानते हुए इन्हें क्रमशः **अलौकिक परिपूर्ण नैष्ठिक मानव, लौकिक अपूर्ण भावुक मानव,** इन नामों से व्यवहृत करेंगे। अतीतानागतज्ञ-विदितवेदितव्य-अधिगतयाथातथ्य-तपःपूत-निगमागमतत्त्ववित्-तत्त्वानुशीलननिष्ठ आरण्यक आचार्य्य (ऋषि) के पावन चरणों में समिधग्रहणपूर्वक प्रणतभाव से ऋजुभाव-अविमता-सत्य-श्रद्धा-आदि सत्त्वगुणमाध्यम से पञ्चविंशतिवर्षात्मक प्रथम वय में श्रौतस्मार्त्त ज्ञाननिष्ठा प्राप्त कर उत्तरपञ्चविंशति में श्रौतस्मार्त्त यज्ञकर्म्मों का अनुगमन करता हुआ, तृतीयपञ्चविंशति में निवृत्तिप्रधान कर्म्मों का अनुगामी बनता हुआ, चतुर्थ पञ्चविंशति में कामत्यागलक्षणा सन्यासनिष्ठा के द्वारा मानवजीवन को धन्य बनाता हुआ द्विजातिमानव ही **'अलौकिकमानव'** कहलाया है। इस प्रकार के द्विजातिमानव की सेवाशुश्रूषा में निष्छलरूप से अपने आपको अर्पित रखने वाला शास्त्रसिद्ध वर्णधर्म्मानुसार आजीविकाकर्म्म में निरत रहता हुआ, लोकमान्यताओं के अनुसार पितृ-देवकर्म्मों का अनुगमन करता हुआ मानव ही **'लौकिकमानव'** है, जिन इन द्विविध मानवों का विशद वैज्ञानिकस्वरूप द्वितीय खण्ड की प्रतीक्षा कर रहा है। इन्हीं दोनों वर्गों को हम क्रमशः **'आत्मबुद्धिनिष्ठमानव'**, एवं **'मनःशरीरयुक्तमानव'** इन नामों से व्यवहृत करेंगे।

अलौकिक मानव भी मन शरीरभावों से युक्त है। किन्तु यहाँ प्रधानता आत्मा, और बुद्धि की है। एवमेव लौकिक मानव भी आत्मबुद्धिभावों से युक्त है। किन्तु यहाँ प्रधानता मन-शरीरभावों की है। आत्मा और बुद्धि (विद्याबुद्धि) सदा एकान्तनिष्ठा को ही लक्ष्य बनाते हैं। अतएव तत्प्रधान अलौकिक मानव को हम 'आरण्यक मानव' ही कहेंगे, फिर यह वीणोदकपद्धति से अरण्य (जंगल) में रहे, अथवा तो भूमोदर्कपद्धति से ग्राम-नगर में रहे। 'पशु' सर्ग चौदह भागों में विभक्त है, जिसका रजोविशाल मध्य सर्ग 'मानवसर्ग' कहलाया है। यह सर्ग 'चान्द्रसर्ग' है *। चन्द्रमा ही मनोभाव का स्वरूप सम्पादक है। अतएव मन शरीरप्रधान, अतएव रजोविशाल इस लौकिक 'चान्द्रमानव' को ही हम 'पशु' श्रेणि से सम्बद्ध मानेंगे। आत्मबुद्धि का प्रभव सूर्य्य माना गया है, जैसा कि-**'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**-**'धियो यो नः प्रचोदयात्'** इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। यही देवसर्ग का अभिष्ठाता है। यही आत्मबुद्धि प्रधान सत्त्वविशाल अलौकिक मानव की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अतएव इस **'सौरमानव'** को हम **'देवमानव'** मानते हुए पशुश्रेणि से सर्वात्मना असम्पृष्ट ही घोषित करेंगे। इसी अलौकिक सौर देव मानव को लक्ष्य बना कर मानवधर्म्मस्वरूपविधाता भगवान् मनु ने-**'पितृभ्यो देवमानवाः'** (मनु ३।२०१।) यह घोषणा अभिव्यक्त की है। तात्पर्य्य, इन दोनों मानव वर्गों में से आत्मबुद्धिनिष्ठ सौर

* श्राद्धविज्ञानोपनिषद्ग्रन्थान्तर्गत **'सापिण्ड्यपिण्डानोपनिषत्'** नामक प्रथमखण्ड में (पृ० २५० से ३०० पर्य्यन्त) इस चतुर्दशविध चान्द्र पशुसर्ग का विस्तार से उपबृंहण हुआ है।

दिव्याविमानव आरण्यक ही है, एवं यह 'मानव' ही है, देव ही है। दूसरा मन शरीरयुक्त चान्द्र पशुमानव मानव ग्राम्य ही है, यह 'पशु' ही है। इसी के लिए संस्कृतसाहित्य में 'दयानां प्रियः' अभिधा व्यवहृत हुई है, जिस अभिधा को निगमनिष्ठामाग से स्खलित भावुकतापूर्णमतवादाभिनिविष्ट प्रमुख भारतीय भावुक राजाओंने (अशोकादिने) भी अन्वय बनाया है।

प्रसङ्ग प्रकान्त है 'भावुकता' से सम्बन्ध रखने वाले प्रसद्व्याख्यान का। निष्ठा जहाँ विद्याबुद्धि का सहज धर्म है, वहाँ भावुकता मन का सहज भाव है। इस दृष्टि से आत्मबुद्ध्यनुगत नैष्ठिक आरण्यक और मानव, एवं मनःशरीरयुक्त भावुक ग्राम्य चान्द्र मानव, दोनों में से भावुक ग्राम्य मानव को ही हम पशुमीमांसाप्रसङ्ग में प्रधान मानेंगे, एवं इसी लोकमानव के माध्यम से हम महामायानुगत विमोहन की मीमांसा करेंगे। आत्मबुद्ध्यनुगत नैष्ठिक महामानव तो 'निर्मानमोहाः-जितसंगदोषाः' इत्यादि के अनुसार इस प्रक्रान्त मीमांसा से सर्वात्मना असंस्पृष्ट ही माने जायँगे। 'ज्ञानिनामपि० बलादाकृष्य मोहाय०' इत्यादि महामायामोहपाशाक्रमण के लक्ष्य पशुमानव-ग्राम्यमानव-लोकमानव-मन शरीरयुक्त मानव-भावुकमानव ही बना करते हैं, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है।

'मानव सामाजिक प्राणी है' इस लोकमान्यता की मीमांसा में प्रवृत्त होने से पूर्व ही हमें मानव के पूर्वप्रतिपादित आरण्यक, ग्राम्य, दोनों अलौकिक-लौकिक वर्गों को लक्ष्य बना लेना चाहिए। अलौकिक मानव को वस्तुतत्त्व 'आरण्यक' कहना भी उसकी परिपूर्णता पर आक्रमण ही करना है। वह स्व स्वरूपत आत्मबुद्ध्यपेक्षया एकान्तनिष्ठ बनता हुआ जहाँ आरण्यक है, वहाँ लोकसंग्रहमात्र के लिए मन शरीरापेक्षया समाजनिष्ठ बनता हुआ यह ग्राम्य भी प्रतीत होने लगता है। यह दोनों हैं, दोनों हीं नहीं है, सब कुछ है, असवत् सर्वधर्मोपपन्न है। अतएव लोकदृष्ट्या वैसा महामानव ग्राम्यलौकिक मानवदृष्ट्या सर्वथा अमीमांस्य है। मीमांस्य है केवल मन शरीरयुक्त भावुक वह लौकिक मानव, जो अपने सहज आत्मबुद्धिलक्षण नैष्ठिक स्वरूप को प्रत्यक्ष-प्रमाद-द्वारा विस्मृत करता हुआ सहसा पशुसमाजधर्मा बनता हुआ पशुवत् किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है। ऐसा है यह लौकिक ग्राम्य (सामाजिक) पशुमानव, जिसके लौकिक स्वरूप विश्लेषण के लिए हमें मानव के दो वर्गों की रूपरेखा उपस्थित करनी पड़ी। अभी एक तीसरा लौकिक ग्राम्य मानववर्ग और मीमांस्य है, जो अविद्याबुद्धिसहकृता असभिज्ञा का महापात्र बनता हुआ भावुक मानव को सतत उत्पीड़ित किया करता है। प्रतीक्षा कीजिए उस असभिज्ञ दानवमानव की असत्स्वरूपमीमांसा की कुछ काल पर्यन्त।

(लोकदृष्ट्या)-मानव आरण्यक पशु नहीं है, अपितु 'ग्राम्यपशु' है समूहात्मक पशु है, समष्टि में आवासनिवास विचरण करने वाला 'सामूहिक प्राणी है, जिसका अर्थ किया जाता है वर्तमानयुग के नितान्त भावुक समाजशास्त्रियों के द्वारा 'सामाजिक प्राणी'। मानव की-लोकमानव की-ग्राम्यमानव की- नागरिक मानव की-किंवा वर्तमान भावुकभाषाव्यवहार की अपेक्षा राष्ट्रिय मानव की वैयक्तिक-

पारिवारिक-कौटुम्बिक-ज्ञातीय-सामाजिक-नागरिक-राष्ट्रिय आदि आदि कुछ एक ऐसी अनिवार्य आवश्यकता-परम्पराएँ हैं, जिन का अनुगामी बने रहना, जिनके प्रति सर्वात्मभावेन आत्मसमर्पण किए रहना, मानव का—लोकमानव का अनन्य कर्त्तव्य बना रहता है। इस सामूहिक कर्त्तव्यानुगति के कारण ही लोकमानव को 'सामाजिक प्राणी', किंवा 'ग्राम्यपशु' बन जाना पड़ता है, विवशता वश बना रहना पड़ता है। तब तक बना रहना पड़ता है, जब तक कि यह स्वस्वरूपबोधपूर्वक आत्मबुद्धिनिष्ठ नहीं बन जाता। लोकमानव की इस सामाजिकानुबन्ध की सीमा का क्षेत्र बहु विस्तृत है। व्यक्तिगत शिक्षा—योग्यता—निष्ठा—प्राप्ति के अतिरिक्त इसे अगत्या अपने व्यक्तितन्त्र के साथ साथ पारिवारिक कौटुम्बिक—ज्ञातीय—सामाजिक—नागरिक—एवं राष्ट्रिय अनुबन्धों से अनुप्राणित शिक्षा—योग्यता—नैतिकता—आदि का भी लक्ष्य बना रहना पड़ता है, तदनुपात से ही इसे सदसत् परिणामों का अनुगामी बना रहना पड़ता है। यही नहीं, अपितु समाज, किंवा राष्ट्रदोष से स्व-समस्वयोग से स्खलित कालपुरुषानुगत प्राकृतिक मण्डल में घटित विघटित घटना—दुर्घटनाओं का भी इसे फलभोक्ता बना रहना पड़ता है। सुनते हैं एक पापात्मा के विराजमान हो जाने मात्र से सम्पूर्ण नौका ही सरितातल में निमज्जित हो जाया करती है। प्रकृतिविरोध—प्रकृतिवैषम्य—जनपदोध्वंसिनी—महामारी—अतिवृष्टि—स्वल्पवृष्टि—अवृष्टि—करकापात—हिमपात—उल्कातारविद्युत्वज्रपात—आदि आदि प्राकृतिक महादण्डों से इस सामाजिक प्राणी के व्यक्तितन्त्र को भी अवश्य ही दण्डित होना पड़ता है। किंवा इन सब झञ्झावातों के निग्रहानुग्रह का फलाफल—कुफल—सुफल—उस लोक—ग्राम्य मानव को भी परिस्थितिविवश, एवं अपनी सामाजिक ग्राम्य पशुता के अनुपात—तारतम्य से भोगना ही पड़ता है, जिस लोकमानव ने स्वप्न में भी प्रकृतिविरुद्ध कर्मात्मक अधर्मपथ का संस्मरण भी तो नहीं किया था। इसी दिशा में तो 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' को चरितार्थ होने का अवसर प्राप्त हुआ करता है। निष्कर्षतः—तात्कालिक सम—विषम सामाजिक राष्ट्रिय वातावरणों के तात्कालिक प्रभाव से निर्दोष भी भावुक लोकमानव सर्वात्मना स्वभाव करने में असमर्थ ही बना रहता है।

जो महामानव, अलौकिक परिपूर्ण मानव, आधिकारिक पुरुषोत्तम मानव एवंविध संघर्षात्मक—प्रतिद्वन्द्वितात्मक विभीषिकामय संक्रमणकालानुबन्धी विषम वातावरणों का भी अतिक्रमण कर निराकुल—सुशान्त—धीर—दृढ़नैतिक—अविकम्पित बने रहते हुए नैगमिक पथ पर आरूढ़ रहते हैं, वे ही मानव वास्तव में 'मानव' जैसी सर्वश्रेष्ठतम अभिधा के पात्र माने गए हैं। तथाकथित महाभारतात्मक संक्रमणात्मक युग में समस्त भारत में ही क्या, अपितु सम्पूर्ण विश्व में तथाविध विषमकालात्मक भयावह अशान्त—क्षुब्ध—बीभत्स—उत्तेजक—वातावरण से अपने आपको एकान्ततः असंस्पृष्ट बनाए रखने में केवल चार ही अतिमानव—लोकोत्तरमानव—सर्वात्मना समर्थ प्रमाणित हुए ये हमारी धारणा से भी, एवं तद्युग की आस्तिक मान्यता से भी। चारों के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण मानव उस युग में कालप्रभाव से आक्रान्त थे, कुछ एक मानव तो स्वदोषात्मिका प्रज्ञास्खलनरूपा अपनी भावुकता से, एवं कुछ एक सामाजिक

दिव्यातिमानव आरण्यक ही है, एव यह 'मानव' ही है, देव ही है। दूसरा मन शरीरयुक्त चान्द्र यथाजात मानव ग्राम्य ही है, यह 'पशु' ही है। इसी के लिए संस्कृतसाहित्य में 'देवानां प्रिय' अभिधा प्रवाहत हुई है, जिस अभिधा को निगमनिष्ठामार्ग से स्खलित भावुकतापूर्णमतवादाभिनिविष्ट अमुक भारतीय भावुक सम्राटोंनें (अशोकादिनें) भी अन्वर्थ बनाया है।

प्रसङ्ग प्रकान्त है 'भावुकता' से सम्बन्ध रखने वाले प्रसङ्गाख्यान का। निष्ठा जहाँ विद्याबुद्धि का सहज धर्म है, वहाँ भावुकता मन का सहज भाव है। इस दृष्टि से आत्मबुद्ध्यनुगत नैष्ठिक आरण्यक सौर मानव, एवं मन शरीरयुक्त भावुक ग्राम्य चान्द्र मानव, दोनों में से भावुक ग्राम्य मानव को ही हम पशुमीमांसाप्रसङ्ग में प्रधान मानेंगे, एव इसी लोकमानव के माध्यम से हम महामायानुगत विमोहन की मीमांसा करेंगे। आत्मबुद्ध्यनुगत नैष्ठिक महामानव तो 'निर्मानमोहा'-जितसंगदोषा'' इत्यादि के अनुसार इस प्रक्रान्त मीमांसा से सर्वात्मना असंस्पृष्ट ही माने जायेंगे। 'ज्ञानिनामपि० बलादाकृष्य मोहाय०' इत्यादि महामायामोहपाशाक्रमण के लक्ष्य पशुमानव-ग्राम्यमानव-लोकमानव-मन शरीरयुक्त मानव-भावुकमानव ही बना करते हैं, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है।

'मानव सामाजिक प्राणी है' इस लोकमान्यता की मीमांसा में प्रवृत्त होने से पूर्व ही हमें मानव के पूर्वप्रतिपादित आरण्यक, ग्राम्य, दोनों अलौकिक-लौकिक वर्गों को लक्ष्य बना लेना चाहिए। अलौकिक मानव को वस्तुतस्तु 'आरण्यक' कहना भी उसकी परिपूर्णता पर आक्रमण ही करना है। वह स्व-स्वरूपतः आत्मबुद्ध्यपेक्षया एकान्तनिष्ठ बनता हुआ जहाँ आरण्यक है, वहाँ लोकसंग्रहमात्र के लिए मनःशरीरापेक्षया समाजनिष्ठ बनता हुआ वह ग्राम्य भी प्रतीत होने लगता है। वह दोनों है, दोनों ही नहीं है, सब कुछ है, अतएव सर्वधर्म्मोपपन्न है। अतएव लोकदृष्ट्या वैसा महामानव ग्राम्यलौकिक मानवदृष्ट्या सर्वथा अमीमांस्य है। मीमांस्य है केवल मनःशरीरयुक्त भावुक वह लौकिक मानव, जो अपने सहज आत्मबुद्धिलक्षण नैष्ठिक स्वरूप को प्रत्यक्ष-प्रमाण-द्वारा विस्मृत करता हुआ सहसा पशुसमानधर्म्मा बनता हुआ पशुवत् किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। ऐसा है यह लौकिक ग्राम्य (सामाजिक) पशुमानव, जिसके लौकिक स्वरूप विश्लेषण के लिए हमें मानव के दो वर्गों की रूपरेखा उपस्थित करनी पड़ी। अभी एक तीसरा लौकिक ग्राम्य मानववर्ग और मीमांस्य है, जो अविद्याबुद्धिसहकृता असभिज्ञा का महापात्र बनता हुआ भावुक मानव को सतत उत्पीडित किया करता है। प्रतीक्षा कीजिए उस असभिज्ञ दानवमानव की असत्स्वरूपमीमांसा की कुछ काल पर्य्यन्त।

(लोकदृष्ट्या)—मानव आरण्यक पशु नहीं है, अपितु 'ग्राम्यपशु' है, समूहात्मक पशु है, समष्टि में आवासनिवास विचरण करने वाला 'सामूहिक प्राणी' है, जिसका अर्थ किया जाता है वर्त्तमानयुग के नितान्त भावुक समाजशास्त्रियों के द्वारा 'सामाजिक प्राणी'। मानव की-लोकमानव की-ग्राम्यमानव की- नागरिक मानव की-किंवा वर्त्तमान भावुकभाषाव्यवहार की अपेक्षा राष्ट्रिय मानव की वैयक्तिक-

पारिवारिक-कौटुम्बिक-जातीय-सामाजिक-नागरिक-राष्ट्रिय आदि आदि कुछ एक ऐसी अनिवार्य आवश्यकता-परम्पराएँ हैं, जिन का अनुगामी बने रहना, जिनके प्रति सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण किए रहना, मानव का-लोकमानव का अनन्य कर्त्तव्य बना रहता है। इस सामूहिक कर्त्तव्यानुगति के कारण ही लोकमानव को 'सामाजिक प्राणी', किंवा 'ग्राम्यपशु' बन जाना पड़ता है, विवशता वश बना रहना पड़ता है। तब तक बना रहना पड़ता है, जब तक कि यह स्वस्वरूपबोधपूर्वक आत्मबुद्धि निष्ठ नहीं बन जाता। लोकमानव की इस सामाजिकानुबन्ध की सीमा का क्षेत्र बहु विस्तृत है। व्यक्तिगत शिक्षा-योग्यता-निष्ठा-आदि के अतिरिक्त इसे अगत्या अपने व्यक्तित्व के साथ साथ पारिवारिक कौटुम्बिक-जातीय-सामाजिक-नागरिक-एवं राष्ट्रिय अनुबन्धों से अनुप्राणित शिक्षा-योग्यता-नैतिकता-आदि का भी लक्ष्य बना रहना पड़ता है, तदनुपात से ही इसे तदवत् परिणामों का अनुगामी बना रहना पड़ता है। यही नहीं, अपितु समाज, किंवा राष्ट्रदोष से स्व-समस्वयोग से स्खलित कालपुरुषानुगत प्राकृतिक मण्डल में घटित विघटित घटना-दुर्घटनाओं का भी इसे फलभोक्ता बना रहना पड़ता है। सुनते हैं एक पापात्मा के विराजमान हो जाने मात्र से सम्पूर्ण नौका ही सरितातल में निमज्जित हो जाया करती है। प्रकृतिविरोध-प्रकृतिवैषम्य-जनपदोध्वंसिनी-महामारी-अतिवृष्टि-स्वल्पवृष्टि-अवृष्टि-करकापात-हिमपात-उल्कातारावि‌द्युत्पात-आदि आदि प्राकृतिक महादण्डों से इस सामाजिक प्राणी के व्यक्तित्व को भी अवश्य ही दण्डित होना पड़ता है। किंवा इन सब भूकम्पाघातों के निग्रहानुग्रह का फलाफल-कुफल-सुफल-उस लोक-ग्राम्य मानव को भी परिस्थितिवश, एवं अपनी सामाजिक ग्राम्य-पशुता के अनुपात-तारतम्य से भोगना ही पड़ता है, जिस लोकमानव ने स्वप्न में भी प्रकृतिविरुद्ध कर्मात्मक अधर्मपथ का सस्मरण भी तो नहीं किया था। इसी दिशा में तो 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' को चरितार्थ होने का अवसर प्राप्त हुआ करता है। निष्कर्षत-तात्कालिक सम-विषम सामाजिक राष्ट्रिय वातावरणों के तात्कालिक प्रभाव से निर्दोष भी भावुक लोकमानव सर्वात्मना स्वत्राण करने में असमर्थ ही बना रहता है।

जो महामानव, अलौकिक परिपूर्ण मानव, आधिकारिक पुरुषोत्तम मानव एवंविध उभयात्मक-प्रतिद्वन्द्वितात्मक तिमीस्त्रिकामय संक्रमणकालानुबन्धी विषम वातावरणों का भी अतिक्रमण कर निराकुल-सुशान्त-धीर-दृढ़नैतिक-अविकम्पित बने रहते हुए नैगमिक पथ पर आरूढ़ रहते हैं, वे ही मानव वास्तव में 'मानव' जैसी सर्वश्रेष्ठतम अभिधा के पात्र माने गए हैं। तथाकथित महाभारतात्मक संक्रमणात्मक युग में समस्त भारत में ही क्या, अपितु सम्पूर्ण विश्व में तथाविध विषमकालात्मक भयावह अशान्त-क्षुब्ध-बीभत्स-उद्वेजक-वातावरण से अपने आपको एकान्ततः असंस्पृष्ट बनाए रखने में केवल चार ही प्रतिमानव-लोकोत्तरमानव-सर्वात्मना समर्थ प्रमाणित हुए ये हमारी धारणा से भी, एवं तद्युग की आस्तिक मान्यता से भी। चारों के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण मानव उस युग में कालप्रभाव से आक्रान्त थे, कुछ एक मानव तो स्वदोषात्मिका प्रज्ञास्खलनरूपा अपनी भावुकता से, एवं कुछ एक सामाजिक

राष्ट्रिय-भावानुगत यातायात्या दोष से, जिसे आस्तिकप्रजा 'कालप्रभाव' नाम से घोषित किया करती है। पूर्णावतार पूर्णेश्वर स्वयं भगवान् वासुदेवश्रीकृष्ण, पूर्णज्ञानवैराग्यनिष्ठ पुराणपुरुष भगवान् कृष्ण द्वैपायन (व्यास), सत्यवती सूनु भीष्मप्रतिज्ञ महाप्राज्ञ महात्मा दृढव्रत (भीष्मपितामह), एवं धर्म-राजनीतितत्त्वरहस्यवेत्ता महात्मा विदुर, इन चार अतिमानवों के अतिरिक्त महाभारतकालीन सम्पूर्ण मानवसमाज ही स्वयं मानव के वैय्यक्तिक-पारिवारिक-कौटुम्बिक-सामाजिक-एवं राष्ट्रिय, आदि में से किसी न किसी विषमभावापन्न कालदोष के प्रभाव से महामाया जगदम्बा के सहज-वात्सल्यपरिपूर्ण अनुग्रह से वञ्चित रहता हुआ लक्ष्यच्युत बन कर-'ज्ञानिनामपि चेतांसि०' इत्यादि पूर्वोद्धृता रहस्य-वाणी को चरितार्थ कर रहा था, जिस चरितार्थता की कोटि में सन्नीभूत हमारे ऐतिहासिक उस प्रधान पात्र का भी समावेश हो पड़ा था उसकी सहज भावुकता से, जो ऐतिहासिक सर्वगुणसम्पन्न नरपुङ्गव वसुग में 'पार्थ, महाबाहु' आदि प्रशस्त सम्बोधनों से यत्रतत्र उपवर्णित होता हुआ सुप्रसिद्ध 'अर्जुन' नाम की नरावतार-इन्द्रावतार-निष्ठा को भी अभिव्यक्त कर रहा था ०।

---

० प्रसिद्ध है कि, पाँचों पाण्डुपुत्र प्राणदेवताओं के अंश से ही समुत्पन्न थे। धर्म से युधिष्ठिर की, वायु से भीम की, इन्द्र से अर्जुन की, एवं नासत्य-दस्र नामक दोनों अश्विनीकुमारों से नकुल-तथा सहदेव की उत्पत्ति हुई थी। 'अर्जुन' वास्तव में प्राकृतिक सौर इन्द्रप्राण का गुह्य-परोक्ष नाम है, प्राति स्विक अभिधा है। जैसे लोक में श्रेष्ठ सम्मान्य मानव का जन्मानुगत प्रातिस्विक नाम व्यवहार में लाना अशिष्टता अभद्रता माना जाता है, तथैव इन्द्र को भी 'अर्जुन' इस प्रातिस्विक नाम से सम्बोधित करना एक प्रकार का समाचारानुबन्धी शिष्टताविरोधी 'आगः' (अपराध) माना गया है। अतएव ब्राह्मणग्रन्थों में इन्द्र को 'अर्जुन' इस प्रातिस्विक अभिधा से सम्बोधित न कर 'इन्द्र' इस यौगिकार्थानुगत प्रत्यक्ष नाम से ही व्यवहृत किया गया है। नरावतार अर्जुन में इन्द्र का व्यक्तिगत प्राणांश ही अवतरित हुआ था। अतएव इसे 'अर्जुन' इस इन्द्र के व्यक्तिगत नाम से ही व्यवहृत करना अन्वर्थ माना गया। 'इन्द्र' और 'अर्जुन' शब्दों के इस रहस्यार्थ का विश्लेषण निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति से भलीभाँति व्यक्त हो जाता है—

> "अर्जुनो ह वै नामेन्द्र, यदस्य गुह्यं नाम। को ह्येतस्यार्हति गुह्यं नाम ग्रहीतुम्"।
>
> —शत० ब्रा० २।१।२।११।

"इन्द्र का वास्तविक वैय्यक्तिक नाम इसके शुक्ल-धवल-ज्योतिर्मयभाव के कारण ही 'अर्जुन' है, जो कि नाम सर्वथा गुह्य है परोक्ष माना गया है। भला किस में यह साहस है कि, जो देवाधिपति अतएव 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध इस त्रैलोक्याधिष्ठाता सौरप्राणदेवता के परोक्ष गुह्य नाम का लोकव्यवहार में उच्चारण कर सके'।

६–महाभारतयुगानुगता संक्रमणावस्था—

नरावतार–इन्द्रावतार–पार्थ अर्जुन को 'भावुकतानिबन्ध' का सूत्राधार मानने से पूर्व हमें तत्कालीन महाभारतयुग की सम–विषम कालिक, दैशिक, राष्ट्रिय स्थिति–परिस्थितियों को विहङ्गमदृष्ट्या लक्ष्य बना लेना होगा। अपनी विशेष गुण–विभूति के तारतम्य से ज्योतिःशास्त्रसम्मत द्वादशमासवत् द्वादश (१२) श्रेणिविभागों–वर्गों–में विभक्त इस सामाजिक मानव प्राणी के १२ हों वर्ग महाभारतयुग में सर्वात्मना समुपलब्ध थे, जैसा कि द्वितीय खण्डात्मिका मानवस्वरूपमीमांसा में इन द्वादश मानववर्गों की स्वरूप दिशा का स्पष्टीकरण होने वाला है। उत्कृष्ट–उत्कृष्टतर–उत्कृष्टतम, एवं निकृष्ट–निकृष्टतर–निकृष्टतम–मानव की सभी श्रेणियाँ महाभारतयुग को समलङ्कृत कर रहीं थीं। एक दूसरी श्रेणि के मानवीय गुण दोष मानव के सहज सामाजिक–भावानुबन्धन के कारण, पारस्परिक आदान–प्रदान सम्बन्ध के कारण परस्पर संक्रान्त थे। यही कारण था कि, उस युग में बड़े से बड़ा धार्मिक मानव भी तात्कालिक वातावरण से तात्कालिकरूप से प्रभावित होकर प्रकृतिविरुद्ध अधर्म्मपथ का तात्कालिक समर्थन कर बैठता था। क्या धृतराष्ट्र धर्म्म–बुद्धिशून्य थे? नहीं। किन्तु कालदोषात्मक वातावरणदोष से इन्हें भी अनेक बार अपने मनोभावों में समविषम परिवर्त्तन करने पड़े। क्या गुरुद्रोण का कौरवों की ओर से युद्ध में समाविष्ट होना धर्म्मपथ था?। क्या द्यूतकर्म्मावसर पर भारतीय नारी की निर्लज्जता के रोमाञ्चकर वातावरण को देखते हुए भी वहाँ के सभासदों का मौनवृत्ति से तटस्थ–दर्शकमात्र बने रह जाना नैतिकता थी?। वदित्थं–महाभारतयुग का वातावरण ही एक अभूत–अदृष्टपूर्व घोर–घोरतम सङ्घर्षात्मक संक्रमणकाल प्रमाणित होरहा था। पूर्व क्षण में यदि उस युग में किसी का उद्बोधन कराया जाता था, तो उत्तर क्षण में ही पुनः वह उद्बोधन स्मृतिगर्भ में विलीन हो जाता था। उद्बोधन कराने वाले वासुदेव, व्यासादि थक थक जाते थे उद्बोधन कराते कराते। किन्तु उद्बोधन के पात्र उद्बोधनपथों को अविलम्ब विस्मृत कर देने में यत्किञ्चित् भी तो शिथिलता प्रदर्शित नहीं करते थे। स्थिरता–दृढ़ता–निष्ठा–धृति–आदि से सर्वात्मना वञ्चित एक ओर का विशुद्ध भावुकतापूर्ण महाभारतयुग, तो दूसरी ओर का शकुनि–कर्ण–दुर्योधन–दुःशासन–आदि जैसे कपल नीतिनिष्ठ मानवों का सुदृढ़ अवभिष्ठात्मक युग। परस्परात्यन्तविरुद्ध भावों का कैसा अद्भुत–आश्चर्य्यप्रद समन्वय था उस युग में, जिस युग में मानव का अपने वैय्यक्तिक तन्त्र को सुशान्त–सुस्थिर–सुनिष्ठ–निराकुल–निरापद बनाए रख लेना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भवप्राय ही था।

तथाकथित राजनैतिक क्षेत्र की भाँति धार्म्मिक–सांस्कृतिक–साहित्यिक क्षेत्र की भी ऐसी ही संक्रमणावस्था प्रक्रान्त थी उस युग में। वस्तुतस्तु यह संक्रमणावस्था ही तो नैतिक–संक्रमणावस्था की जननी बनी थी। ययाति—आस्तिकप्रजा से यह भारतीय सिद्धान्त परोक्ष नहीं है कि, विकृतिस्थानीया पार्थिव मानवप्रजा अपने मूलभूत प्राकृतिक विधत्त–प्राकृतिक–नियम के विरुद्ध जब उत्पथ-गमन में प्रवृत्त हो जाती है, तो प्रकृति क्षुब्ध हो पड़ती है। प्रकृति का यह प्रारम्भिक क्षोभ ही भूकम्प–महामारी आदि कोपों का जनक बनता हुआ पार्थिव प्रजा के उत्पीड़न के द्वारा इसके उद्बोधन का प्रारम्भिक प्रयास करता है।

यदि इसकी उपेक्षा कर लक्ष्यच्युत मानव उत्तरोत्तर अधिकाधिक उच्छृङ्खल बनने लगता है, तो तदनुपात में ही प्रकृति भी अधिकाधिक क्षुब्ध होने लगती है। जब यह प्राकृतिक क्षोभ निःसीम बन जाता है, प्राकृतिक सनातन नियमधर्मात्मक सनातनधर्म मानव के प्रज्ञापराध से अभिभूत हो जाता है, तो प्रकृतिसहयोगी चेतनपुरुष विकम्पित हो पड़ता है, जिसका परिणाम होता है चिदंश का प्रकृति के द्वारा योगमायामाध्यम से पार्थिव आधिकारिक अवतरण, यही अवतारसिद्धान्त का रहस्यार्थ है। धर्मग्लानि के उपशम के लिए ही भगवदवतार हुआ करते हैं, जैसा कि 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति०' इत्यादि आगमवचन से प्रमाणित है। पूर्णकलापेत (षोडशकलापेत प्रजापति की सोलह कलाओं से संयुक्त), अतएव 'पूर्णावतार' नाम से उपवर्णित भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण का अवतार ही स्वयम्भ से महाभारतयुगानुगता धर्मग्लानि का, परिपूर्ण प्राकृतिक क्षोभ का, मानवीय आत्यन्तिक स्खलन का समर्थक बना हुआ है।

धर्म की मूलप्रतिष्ठा है निगमशास्त्र–'वेदात् धर्मो हि निर्बभौ' (मनुः)। निगमाम्नाय जब जब मानव के प्रज्ञापराध से अभिभूत हो जाता है, तब तब ही वेदसिद्ध सनातनधर्म अधर्म से अभिभूत हो जाता है, अतएव मानना पड़ेगा कि, महाभारतयुगीय संघर्षात्मक क्षोभात्मक भावों का मूलकारण निगमाम्नाय का अभिभव ही था। निगमाम्नायमूलक विधि–विधान उसी प्रकार उस युग में अभिभूत हो गए थे, जैसे कि वर्तमानयुग में मानवप्रजा की अमर्यादा से वेदाम्नायपरम्परा सर्वात्मना स्मृतिगर्भ में विलीन हो गई है। तत्–युगों में तत्तद्युगों के महर्षि अभिभूत वेदाम्नाय को पुनः पुनः अभिव्यक्त करते हुए धर्मसंरक्षण में प्रयत्नशील ✽ बने रहते हैं। इनका प्रयत्न जब उपरत हो जाता है, तो उस स्थिति में पूर्णेश्वर को अवतार धारण करना पड़ता है।

तथोपवर्णित महाभारतयुगीय राजनैतिक क्षेत्र की, सामाजिक–पारिवारिक जातीय–भावों की दुरवस्था का मूलकारण था निगमाम्नायसम्मत आत्मबुद्धिलक्षण बुद्धियोगपथ की विस्मृति। नैगमिक आम्नाय ही धर्म का, धर्म ही साहित्य का, साहित्य ही संस्कृति का, एवं संस्कृति ही सभ्यता का परम्परया आधार बना करते हैं। निगमाम्नाय की विलुप्ति के दुष्परिणामस्वरूप उसकी धर्मनिष्ठा, तदनुप्राणिता साहित्यनिष्ठा (शास्त्रनिष्ठा), तदभिन्ना संस्कृति, तन्मूला सभ्यता (श्रौतस्मार्त आचार–व्यवहार–शिष्टता आदि) आदि जब दीनहीन दशा को प्राप्त हो गए, तो तत्प्रकार की पारिवारिक–सामाजिक–राजनैतिक दीनहीन दशा का जन्म हुआ। उदाहरण के लिए हिरण्यगर्भ महर्षि के द्वारा उद्भाविता प्रकृतिप्रधाना समन्वयशालिका कर्मलक्षणा 'योगनिष्ठा' सर्वथा स्वतन्त्ररूप से प्रगतिशील बन चुकी थी उस युग में निगमाम्नाय से वञ्चिता रहने के कारण। उधर महर्षि कपिल के द्वारा उद्भाविता कर्मत्यागलक्षणा 'सांख्यनिष्ठा' स्वतन्त्र

✽ युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा॥

रूप से ही अपना डिण्डिमघोष अव्यक्तरूप से व्यक्त कर रही थी। इन दोनों शास्त्रीय निष्ठाओं में परस्पर अश्वमाहिष्य प्रक्रान्त था। परिणामस्वरूप तद्राष्ट्र में विभिन्न इस प्रकार के दो विरोधी सम्प्रदाय बन गए थे, जो अपनी अपनी निष्ठा के यशोगान में ही तल्लीन बने रहते हुए पारस्परिक दोषान्वेषणमूला भावुकता को ही अपना मुख्य पुरुषार्थ मान बैठे थे। विवस्वान् से सम्बन्धित देवयुग से आरम्भ होकर अमुक युग पर्य्यन्त आचार्य-अन्तेवासी परम्परारूप से अविच्छिन्नरूप से प्रक्रान्त बनी रहने वाली उभय समन्वयात्मिका आत्मबुद्धिमूला बुद्धियोगनिष्ठा महाभारत युग में आकर निष्ठाद्वयी के काल्पनिक-अकल्पित कलहात्मक-कलिवात्याहित संघर्ष से सर्वथा विलुप्त-अभिभूत हो गई थी।

इस स्थिति का इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है कि, धर्म्मनिष्ठा का स्थान वर्त्तमान युग की भाँति उस युग में मतवाद ने ही ग्रहण कर लिया था। निगमनिष्ठा का स्थान मतवादानुगता भावुकता ने ग्रहण कर लिया था। धर्म्म का नीति ने अभिभव कर डाला था। जो नीति-राजनीति नैगमिक प्राकृतिक धर्म्म के स्वरूप-संरक्षण के लिए विहित थी, वह मतवादानुग्रह से अनीतिलक्षणा विशुद्ध-धर्म्मनिरपेक्षा नीति बनती हुई धर्म्म की उपेक्षा, अधर्म्म के समर्थन में ही अपना सर्वागौरव-अनुभूत करने लगी थी। एवं इसी एकमात्र नैगमिकधर्म्मबहिष्कृता, धर्म्मभीरुत्वानुगता अनीतिलक्षणा स्वार्थलिप्सापरिपूर्णा महाभारतयुगानुगता नीति ने पूर्वोपवर्णिता संक्रमणावस्था को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त किया था और उस प्रकार राष्ट्र के धार्मिक-साहित्यिक-सांस्कृतिक-संघर्षात्मक-संक्रमणात्मक वातावरण से तत्कालीन वैय्यक्तिक-पारिवारिक-जातीय-सामाजिक-राष्ट्रिय वातावरण सर्वात्मना संक्रमणात्मक बनता हुआ मतवादानुगता सांख्य-योगनिष्ठा की भाँति भावुकवर्ग असत्निष्ठवर्ग रूप से दो मार्गों में विभक्त होता हुआ अश्वमाहिष्यवत् परस्पर प्रतिद्वन्द्विता का अनुगामी बन चला था। कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा को आदर्श मान लिया था धर्म्मभीरु सहज भावुक मानववर्ग ने, एवं कामनालक्षणा योगनिष्ठा को मूल बना लिया था असत्कर्म्मलिप्सु सहजनिष्ठ मानववर्गने। धर्म्मकर्म्मोभयसमन्वयात्मिका बुद्धियोग निष्ठा यों महाभारतकाल में-'**एकं सांख्यञ्च योगञ्च**' सिद्धान्त को सर्वात्मना विस्मृत कर '**सांख्ययोगौ** पृथग् बालाः प्रवदन्ति' को सर्वात्मना चरितार्थ बना चुकी था।

यह सर्वथा स्वाभाविक है कि, अवश्य ही राष्ट्र के सामाजिक, एवं राजनैतिक वातावरण के साथ साथ धार्मिक-सांस्कृतिक-संघर्षमय वातावरण से भी मानव अपने आप को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता। एवं वैसा मानव, जो सहजरूप से दिव्य-सात्त्विक-गुणों से जन्मतः समन्वित रहता हुआ धर्म्म परायण है, वह तो अपनी सहज ऋजुता-कोमलता के कारण अवश्य ही ऐसे संघर्षात्मक-संक्रमणात्मक-युग में स्खलित-चलितप्रज्ञ बनता हुआ किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। असन्निष्ठ, किंवा कुनिष्ठ मानवा भास-मानव स्वार्थासक्त बना रहता हुआ जहाँ ऐसे संघर्षात्मक राष्ट्रभयसमाकुलित-अशान्त वातावरणों से स्वार्थलिप्सालाभ उठाने में कुशल बन जाता है, वहाँ सभिष्ठ-सुकोमलमति-धर्म्मपरायण (धर्म्मभीरु) मानव इस प्रकार के संघर्षात्मक वातावरणों में सहयोगदान की अपेक्षा भिक्षावृत्ति का अनुगामी बन

यदि इसकी उपेक्षा कर लक्ष्यच्युत मानव आवेशवश अधिकाधिक उच्छृङ्खल बनने लगता है, तो तदनुपात से ही प्रकृति भी अधिकाधिक क्षुब्ध होने लगती है। जब यह प्राकृतिक क्षोभ निःसीम बन जाता है, प्राकृतिक सनातन नियमसंघात्मक सनातनधर्म्म मानव के प्रज्ञास्खलन से अभिभूत हो जाता है, तो प्रकृतिसहयोगी चेतनपुरुष विकम्पित हो पड़ता है, जिसका परिणाम होता है चिदंश का प्रकृति के द्वारा योगमायामाध्यम से पार्थिव आधिकारिक अवतरण, यही अवतारसिद्धान्त का रहस्यार्थ है। धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए ही भगवदवतार हुआ करते हैं, जैसा कि 'यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति०' इत्यादि आगमवचन से प्रमाणित है। पूर्णकलापेत (षोडशकलोपेत प्रजापति की सोलह कलाओं से संयुक्त), अतएव 'पूर्णावतार' नाम से उपवर्णित भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण का अवतार ही स्वरूप से महाभारतयुगानुगता धर्म्मग्लानि का, परिपूर्ण प्राकृतिक क्षोभ का, मानवीय आत्यन्तिक स्खलन का समर्थक बना हुआ है।

धर्म्म की मूलप्रतिष्ठा है निगमशास्त्र–'**वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ**' (मनु)। निगमाम्नाय जब जब मानव के प्रज्ञापराध से अभिभूत हो जाता है, तब तब ही वेदसिद्ध सनातनधर्म्म अधर्म्म से अभिभूत हो जाता है, अतएव मानना पड़ेगा कि, महाभारतयुगीय संघर्षात्मक क्षोभात्मक भावों का मूलकारण निगमाम्नाय का अभिभव ही था। निगमाम्नायमूलक विधि–विधान उसी प्रकार उस युग में अभिभूत हो गए थे, जैसे कि वर्त्तमानयुग में मानवप्रजा की अमर्य्यादा से वेदाम्नायपरम्परा सर्वात्मना विस्मृतिगर्भ में विलीन हो गई है। तत्–युगों में तत्तद्युगों के महर्षि अभिभूत वेदाम्नाय को पुनः पुनः अभिव्यक्त करते हुए धर्म्मसंरक्षण में प्रयत्नशील * बने रहते हैं। इनका प्रयत्न जब उपरत हो जाता है, तो उस स्थिति में पूर्णेश्वर को अवतार धारण करना पड़ता है।

तथोपवर्णित महाभारतयुगीय राजनैतिक क्षेत्र की, सामाजिक–पारिवारिक जातीय–भावों की दुर्व्यवस्था का मूलकारण था निगमाम्नायसम्मत आत्मबुद्धिलक्षण बुद्धियोगपथ की विस्मृति। नैगमिक आम्नाय ही धर्म्म का, धर्म्म ही साहित्य का, साहित्य ही संस्कृति का, एवं संस्कृति ही सभ्यता का परम्परया आधार बना करते हैं। निगमाम्नाय की विलुप्ति के दुष्परिणामस्वरूप उसकी धर्म्मनिष्ठा, तदनुप्राणिता साहित्यनिष्ठा (शास्त्रनिष्ठा), तन्निष्ठा संस्कृति, तन्मूला सभ्यता (श्रौतस्मार्त आचार–व्यवहार–शिष्टता आदि) आदि जब दीनहीन दशा को प्राप्त हो गए, तो तत्प्रकार की पारिवारिक–सामाजिक–राजनैतिक दीनहीन दशा का जन्म हुआ। उदाहरण के लिए हिरण्यगर्भ महर्षि के द्वारा उद्भाविता प्रकृतिप्रधाना यज्ञयज्ञात्मिका कर्म्मलक्षणा 'योगनिष्ठा' सर्वथा स्वतन्त्ररूप से प्रगतिशील बन चुकी थी उस युग में निगमाम्नाय से वञ्चित रहने के कारण। उधर महर्षि कपिल के द्वारा उद्भाविता कर्म्मत्यागलक्षणा 'सांख्यनिष्ठा' स्वतन्त्र

---

* युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

रूप से ही अपना विरोधघोष अव्यक्तरूप से व्यक्त कर रही थी। इन दोनों शास्त्रीय निष्ठाओं में परस्पर असूयमाहिष्य प्रकान्त था। परिणामस्वरूप तद्राष्ट्र में विभिन्न इस प्रकार के दो विरोधी सम्प्रदाय बन गए थे, जो अपनी अपनी निष्ठा के यशोगान में ही तल्लीन बने रहते हुए पारस्परिक दोषान्वेषणमूला भावुकता को ही अपना मुख्य पुरुषार्थ मान बैठे थे। विवस्वान् से सम्बन्धित देवयुग से आरम्भ होकर अमुक युग पर्य्यन्त आचार्य–अन्तेवासी परम्परारूप से अविच्छिन्नरूप से प्रकान्त बनी रहने वाली उभय समन्वयात्मिका आत्मबुद्धिमूला बुद्धियोगनिष्ठा महाभारत युग में आकर निष्ठाद्वयी के काल्पनिक–अकल्पित कलहात्मक–कलिवात्याहित संघर्ष से सर्वथा विलुप्त–अभिभूत हो गई थी।

इस स्थिति का इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है कि, धर्म्मनिष्ठा का स्थान वर्त्तमान युग की भाँति उस युग में मतवाद ने ही ग्रहण कर लिया था। निगमनिष्ठा का स्थान मतवादानुगता भावुकता ने ग्रहण कर लिया था। धर्म्म का नीति ने अभिभव कर डाला था। जो नीति–राजनीति नैगमिक प्राकृतिक धर्म्म के स्वरूप–संरक्षण के लिए विहित थी, वह मतवादानुग्रह से अनीतिलक्षणा विशुद्ध–धर्म्मनिरपेक्षा नीति बनती हुई धर्म्म की उपेक्षा, अधर्म्म के समर्थन में ही अपना सत्तागौरव–अनुभूत करने लगी थी। एवं इसी एकमात्र नैगमिकधर्म्मबहिष्कृता, धर्म्मभीरुतानुगता अनीतिलक्षणा स्वार्थलिप्सापरिपूर्णा महाभारतयुगानुगता नीति ने पूर्वोपवर्णिता संक्रमणावस्था को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त किया था और उस प्रकार राष्ट्र के धार्म्मिक–साहित्यिक–सांस्कृतिक–संघर्षात्मक–संक्रमणात्मक वातावरण से तत्कालीन वैय्यक्तिक–पारिवारिक–जातीय–सामाजिक–राष्ट्रिय वातावरण सर्वात्मना संक्रमणात्मक बनता हुआ मतवादानुगता सांख्य–योगनिष्ठा की भाँति **भावुकवर्ग असन्निष्ठवर्ग** रूप से दो भागों में विभक्त होता हुआ असूयमाहिष्यवत् परस्पर प्रतिद्वन्द्विता का अनुगामी बन चला था। कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा को आदर्श मान लिया था धर्म्मभीरु सहज भावुक मानववर्ग ने, एवं कामनालक्षणा योगनिष्ठा को मूल बना लिया था असत्कर्म्मलिप्सु सहजनिष्ठ मानववर्गने। धर्म्मकर्म्मोभयसमन्वयात्मिका बुद्धियोग निष्ठा यों महाभारतकाल में–**'एकं सांख्यञ्च योगञ्च'** सिद्धान्त को सर्वात्मना विस्मृत कर **'सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति'** को सर्वात्मना चरितार्थ बना चुकी था।

यह सर्वथा स्वाभाविक है कि, अवश्य ही राष्ट्र के सामाजिक, एवं राजनैतिक वातावरण के साथ साथ धार्म्मिक–सांस्कृतिक–संघर्षमय वातावरण से भी मानव अपने आप को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता। एवं वैसा मानव, जो सहजरूप से दिव्य–सात्त्विक–गुणों से जन्मतः समन्वित रहता हुआ धर्म्म परायण है, वह तो अपनी सहज ऋजुता–कोमलता के कारण अवश्य ही ऐसे संघर्षात्मक–संक्रमणात्मक–युग में स्खलित–चलितमना बनता हुआ किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। असन्निष्ठ, किंवा कुनिष्ठ मानवाभास–मानव स्वार्थासक्त बना रहता हुआ जहाँ ऐसे संघर्षात्मक राष्ट्रमयसमाकुलित–अशान्त वातावरणों से स्वार्थलिप्सालाभ उठाने में कुशल बन जाता है, वहाँ सभिष्ठ–सुकोमलमति–धर्म्मपरायण (धर्म्मभीरु) मानव इस प्रकार के संघर्षात्मक वातावरणों में सहयोगदान की अपेक्षा भिक्षावृत्ति का अनुगामी बन

जाता यही अधिक उत्तम पन्थ मान बैठता है, जैसा कि–'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' (गी॰ २।५)–'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः, किन्तु महीकृते' इत्यादि भावुकमानवश्रेष्ठोद्‌गारों से स्पष्ट है। यही महाभारतकालानुगता उस संक्रमणावस्था का संक्षिप्त स्वरूपनिदर्शन है, जिसके माध्यम से ही हमें महामायानुगत आत्मविमोहन–समाधान की चेष्टा करनी है।

(१०) तथाविध संक्रमणकाल, एवं सामाजिक मानव का विमोहन—

प्रसिद्ध अन्यमानव जहाँ संक्रमणकालों को स्वार्थलिप्सा–साधन के लिए उपादेयकाल मानते हैं, वहाँ प्रसिद्ध सन्मानव ऐसी संघर्षावस्था में सहसा विकम्पित होता हुआ स्वार्थ–परमार्थ–दोनों को विस्मृत कर बैठता है। अतएव इस विमोहन का निमित्त हम कालदोष ही मान सकते हैं, जिसका बीज बनता है 'भावुकता' ही। यदि सन्मानव नैगमिक निष्ठा पर आरूढ़ रहता है, तो कदापि इसका विमोहन नहीं हो सकता। इस दृष्टिबिन्दु से एकमात्र 'भावुकता' को ही हम आत्मविमोहन का अनन्यकारण घोषित करेंगे, जिसका इस भावुक की भावुकतासंरक्षण के व्याज से इन शब्दों में अभिनय किया जा सकता है कि, सामाजिकानुबन्ध ही वह महामोहपाश है, जिसके माध्यम से महामाया जगदम्बा महामानव की सहज सद्‌बुद्धिनिष्ठा को सहसा आवृत कर लिया करती है। इस महामायानुबन्धी महामोहपाश से आत्मत्राण प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय शेष रह जाता है आस्थाश्रद्धाशील मानव के समीप कि, वह अपनी सहज भावुकता को समाजानुबन्धात्मक संघर्षभाव में अर्पित न कर अपनी इस भावुकता को भावुकता के रूप से ही उस 'महामाया-पीताम्बरा-भगवती के पावन चरणों में ही अनन्यनिष्ठापूर्वक सहजरूप से अर्पित कर दे, जिस आगमीय पद्धति–प्रकार के माध्यम से ही पीताम्बरोपासक, अतएव पीताम्बरधरानुगामी अतिमानव नारायण (वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण) ने अन्तर्लोकगस्था अपने लक्ष्यच्युत–किंकर्तव्यविमूढ़–सखा को पीताम्बरा की शरण में न्यस्त करते हुए ही उसे विजयश्री की प्रमुखा नीति में सफलता प्रदान करने का महद्यश प्राप्त किया था *।

---

* ऐतिहासिक स्वाध्यायशील श्रद्धालुओं से यह परोक्ष नहीं है कि, महाभारतयुद्धप्रसङ्ग में अपने अनन्य सखा–सयुक् न्यायक सखा–नरांश अर्जुन को युद्ध में विजयश्री का भोक्ता बनाने के लिए युद्ध से पूर्व ही पीताम्बराराधना में प्रवृत्त किया था। इसी उपासना के बल पर भगवती पीताम्बरा से अर्जुन ने लोकसंघर्ष–विजय का वर प्राप्त किया था, जिस पीताम्बरास्तोत्र का एवंविध सम्पूर्ण इतिवृत्त महाभारत–शान्तिपर्व में जिस अध्याय से श्रीमद्‌भगवतगीता आरम्भ होती है, उस अध्याय के पूर्वाध्याय में ही स्पष्ट हुआ है। गीताभक्तों से हम आग्रह करेंगे कि, वे गीता के नवीन संस्करणों में उस अध्याय का भी इसलिए समावेश करने का देने का निःसीम अनुग्रह करेंगे कि, यही अध्याय वस्तुतः भगवद्‌गीता का मूलाधार है, जिस मूल के आधार पर पुराणपुरुष के मुख से गीतोपसंहार में यह आप्तसूक्ति विनिःसृत हुई है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥
—गीता १८।७८।

यद्वा तद्वास्तु । आपातरमणीय भावुकतापरिपूर्ण सभी सामयिक प्रश्नाभासों का यथानुरूप लोकसंग्रहात्मक समाधान सम्भव बन ही जाय, इस भावुकतापूर्ण चिन्ता में कालयापन व्यर्थ है । अर्जुन महासत्त्व था, सन्निष्ठ था, तो उसमें भावुकता का उदय क्यों और कैसे हो गया !, महामाया ने क्यों ऐसे महाप्राज्ञ आस्तिक ज्ञाननिष्ठ मानवश्रेष्ठ का आत्मविमोहन कर डाला !, क्यों धीर धनुर्द्धर पार्थ सहसा इस प्रकार अनाप्यज्ञुण्ण कायरता का अनुगामी बन गया !, इत्यादि भावुकतापूर्ण प्रश्नाभास के समाधान का उत्तरदायित्त्व वर्त्तमानयुग के नीरक्षीरविवेकी भावुकतापरिपूर्ण आलोचकों-प्रत्यालोचकों के मनोऽनुरञ्जन के लिए शेष छोड़ते हुए हमें तो उस घटना की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है, जो ऐतिहासिक घटना हमारे इस प्रस्तुत उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध का मूलाधार प्रमाणित होने वाली है । हाँ, नरावतार जिस अर्जुन को, सर्वगुण-योग्यताशाली जिस पार्थ महाबाहु क्षत्रियश्रेष्ठ को निबन्धमूलाधारभूता जिस आख्यान घटना का मुख्य पात्र बनाया जा रहा है, उसके सम्बन्ध में अवश्य ही एक ऐसी विप्रतिपत्ति शेष रह जाती है, जिसके समन्वय-समाधान के बिना निबन्धोपक्रम निर्मूल सा प्रतीत होने लगता है ।

(११)-निबन्धमाध्यम में महती विप्रतिपत्ति, एवं तत् समाधान—

युधिष्ठिरप्रमुख पाण्डव सर्वात्मना दु:खार्त्त, एवं दुर्योधनप्रमुख कौरव सर्वात्मना सुखी-समृद्ध क्यों और कैसे !, यह है वह मूल प्रश्न, जिसका हिन्दू मानव की भावुकता के माध्यम से हमें निबन्ध में विश्लेषण करना है । इसके लिए हम महाभारत की ऐतिहासिक घटना को लक्ष्य बना रहे हैं, एवं उस घटना का प्रधान लक्ष्य बनाया जा रहा है महाबाहु पार्थ धनुर्द्धर, किन्तु सहज भावुक 'अर्जुन' को। यही, इसी दशा में एक महती विप्रतिपत्ति, महती समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाती है, जिसका हम केवल अपनी भावुकता के माध्यम से ही इस प्रकार समाधान करने के लिए आतुर बनते जा रहे हैं । श्रूयताम् !

प्रकृतिसिद्ध-धात्रधर्मसमन्वित-सहजसिद्ध राज्यवैभव से वञ्चित होकर पाण्डुपुत्रों का सर्वथा दीनहीन-दशा में अनाथवत् इतस्ततः दन्द्रम्यमाण बने रहने का प्रधान उत्तरदायित्त्व किस पर ! यह प्रश्न है । जिस पाण्डुपुत्र के भी साथ यह उत्तरदायित्व विशेषरूप से समन्वित होगा, न्यायत: वही प्रस्तुत भावुकता-निबन्ध का मूलाधार माना जायगा । प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्यवत् यह प्रत्यक्ष प्रमाणित है कि, इस सम्पूर्ण उत्तरदायित्व का सम्बन्ध नि:शेषरूप से एकमात्र धर्मराज-धर्मनिष्ठ युधिष्ठिर के साथ ही सम्बन्धित है । अपनी धर्म्मासक्ति-धर्म्माग्रह-धर्म्माभिनिवेश के आवेश से भूतावेशवत् आमूलचूड सतत आविष्टमना बने रहते हुए युधिष्ठिर ही अपने भीमार्जुनादि अनुजों के समय समय पर आग्रहपूर्वक निरोध करते रहने पर भी दुष्टबुद्धि-असन्निष्ठ-दुर्य्योधनप्रमुख कौरवों को बन्धुभावरूप से अपनाते रहने की भयावह भ्रान्ति का अनुगमन करते रहे, करते ही गए। एवं अपनी इस भावुकतापूर्णा बन्धुजनस्नेहासक्ति

में आसक्त्यासक्तमना मन्युद्वैषी युधिष्ठिर एकप्रकार से ही क्यों, निश्चितरूप से कौरवों की अनभिष्ठा सच्चया दुर्बुद्धि को ही परोक्षरूपेण प्रोत्साहित करते रहने वाले परोक्ष निमित्त बनते रहे, बनते ही गए। सर्वलोकवैभवापहारिणी द्यूत-क्रीडा जैसे निगमविरुद्ध-शास्त्रविरुद्ध-आमन्त्रण को भी एकमात्र अपने कुलश्रेष्ठ-मानव पुत्रमोहान्ध-सबाध धृतराष्ट्र के अनुबन्ध से ही युधिष्ठिरने धर्मानुगत मानने की भयावह भ्रान्ति कर डाली। इस द्यूतकर्म्म में शकुनिप्रेरित कौरवों के द्वारा घटित सर्वस्वापहरण के प्रत्यक्ष निमित्त भी एकमात्र युधिष्ठिर ही बने। नितान्त अधन्या धर्मविरुद्ध इस अपथ-परम्परा का यदि महाबली भीम, महाप्राण अर्जुन ने मध्ये मध्ये अवरोध करने की व्यग्रता अभिव्यक्त की भी, तो युधिष्ठिर के परोक्ष संकेत इन आज्ञावशवर्त्ती अनुजों को अपने गदास्त्र एवं गाण्डीवास्त्रों को अवनत करते हुए विवशता पूर्वक अपने उचित भी आवेश को उपशान्त ही कर लेना पड़ा। इस प्रकार अथ से इति पर्य्यन्त एकमात्र युधिष्ठिर की धर्म्मानुगता, किंवा अनुचित मन्युरागासक्त्यनुगता भावुकता के निग्रहानुग्रह से ही पाण्डुपुत्रों को न्यायसिद्ध राज्यतन्त्र से विमुख बनते हुए अपने जीवन को कष्टकाकीर्ण बना लेना पड़ा। स्वयं द्रौपदी जैसी सलज्जा आर्य्यनारी तक को आपद्धर्म्मविधया इन्हीं सब प्रमाणित कारणपरम्पराओं के माध्यम से युधिष्ठिर की जैसी भर्त्सना करने का साहस करना पड़ा था, वह भी सर्वविदित है ही। ऐसी स्थिति में सर्वानिष्टजनक-निमित्तरूप नितान्त भावुक युधिष्ठिर को निबन्ध का उपक्रम न बना कर (अमुक अंशों में भावुक, किन्तु) समय समय पर निष्ठाकर्म्म की ही घोषणा करने वाले महावीर दृढप्रतिज्ञ अर्जुन जैसे नरावतार मानवश्रेष्ठ को 'भावुकता' का प्रतीक बनाते हुए निबन्धोपक्रम करना क्या एक महतीविप्रतिपत्ति नहीं है।

है, और अवश्य है। किन्तु एक भावुक मानव की दृष्टि में, जो प्रत्यक्षदृष्टि-श्रुति के आधार पर तत्काल ही प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर अपने भावुकतापूर्ण मानस-परिवर्त्तनों के साथ-साथ ही क्षण-क्षण में सिद्धान्त परिवर्त्तित करता रहता है। 'भावुकता' स्वयं एक वैसा दुरधिगम्य समस्यापूर्णा-विप्रतिपन्न जटिल तत्त्व है, जिसके यथावत् स्वरूपसमन्वय में बड़े से बड़ा नैष्ठिक भी सहसा कुण्ठित हो जाता है, जैसा कि निबन्धानुगत उदाहरणों के द्वारा आगे यथावसर स्पष्ट होने वाला है। बड़े आटोप के साथ विप्रतिपत्ति का स्वरूपविश्लेषण करते हुए हमने प्रातःस्मरणीय धर्म्मराज जिस युधिष्ठिर को नितान्त भावुक प्रमाणित करते हुए उन्हें ही एकमात्र सर्वानिष्ट का उत्तरदायी बनाने, एवं मानने का महत्पातक कर डाला, उन संस्मरणीय धर्म्मराज धर्म्म की सगुणमूर्त्ति युधिष्ठिर की धर्म्मसीमानुगता धर्म्मनिष्ठालक्षणा धर्म्मभावुकता के अनुग्रह से ही शेष पाण्डुपुत्रों के यशःशरीर अद्यावधि अक्षुण्ण बने हुए हैं। धर्म्मनिष्ठात्मिका धर्म्मभावना के दृष्टिकोण से युधिष्ठिर न केवल महामानव ही थे अपितु अतिमानव थे, आधिकारिक अवतारमानवसमतुलित धर्म्म के सगुण अवतार थे। वे अपनी इस धर्म्मानुगति में अनन्यनिष्ठा से प्रणत-भाव द्वारा आराधाश्रद्धापूर्वक आध्यापथ में तल्लीन थे। अर्जुन की भाँति—'करिष्ये वचनं तव' रूप से युधिष्ठिर धर्म्ममान्यता के सम्बन्ध में किसी भी अन्यप्रेरणा-अभ्यर्थना से प्रभावित होने के लिए स्वप्न में भी सहमत न थे। यही कारण था कि, कुरुक्षेत्रयुद्ध-प्रसङ्गावसर पर वासुदेवकृष्ण के महतो-

महीयान् प्रबलतम प्रयास–आग्रह–निग्रह के अनन्तर भी इस अतिमानव के पावन मुख से केवल वैखरी वाणीमात्र के रूप में ही अन्तर्भावों के सर्वथा विपरीत, सो भी पूर्ण आत्मदमन करते हुए दुःखखिन्नमानस बनते हुए—'अश्वत्थामा हतः—नरो वा, कुंजरो वा' (अश्वत्थामा मारा गया, किन्तु विदित नहीं–यह इस नाम का हाथी मारा गया, अथवा तो नर) ये परिमित–सीमित अक्षरमात्र ही विनिर्गत हो सके थे।

भावुकता की चरमसीमात्मिका धर्म्मभावुकता ही 'निष्ठा' का उपक्रमस्थान मानी गई है, जैसा कि निबन्ध में यत्र–तत्र विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है। अपनी आत्यन्तिक धर्म्मभावुकता, किंवा मनोऽनुगता धर्म्मभावना से ही आत्मबुद्ध्यनुगता सत्य–धर्म्मनिष्ठा से सत्य–धर्म्मनिष्ठ बन जाने वाले अतिमानव धर्म्मराज युधिष्ठिर इसी धर्म्मनिष्ठा के बल पर सदेह स्वर्गारोहण में समर्थ हुए थे, जबकि इनके अन्य अनुज, और प्रतारणा करने वाली द्रौपदी मध्य मध्ये ही विराम ग्रहण कर चुके थे। धर्म्ममूर्त्ति यक्ष के सम्मुख भावावेशवश निधनावस्था को प्राप्त भीमादि चारों अनुजों को इसी धर्म्मनिष्ठा के प्रभाव से यक्ष को प्रश्नोत्तरविमर्शद्वारा तुष्ट करते हुए पुनरुज्जीवित किया था इसी धर्म्मभावुक अतिमानव ने। इसी धर्म्मनिष्ठा के आकर्षण से स्वयं मूर्त्तिमान् धर्म्म ने इस अतिमानव की महायात्रा में प्रच्छन्नरूप से सहयोग प्रदान करते हुए अपने आपको धन्य माना था। इसी सांस्कारिकी दृढ़तमा धर्म्मभावना के प्रभाव से स्वर्गारोहण करते समय इनके पावनतम आतिवाहिक शरीर से संलग्न वायुदेवता पवित्र हो गए थे, जिस पवित्र वायु के संस्पर्शमात्र से यामी यातनाएँ सहन करने वाले प्रेतलोकस्थ प्रेतभावापन्न इनके बन्धु क्षणमात्र के लिए शान्ति–स्वस्ति के भोक्ता बन गए थे ×। ऐसे धर्म्मनिष्ठ, अतएव नितान्तनिष्ठ, यावज्जीवन अनन्यरूप से इस निष्ठातन्त्र के उपासक बने रहने वाले लोकदृष्ट्या 'भावुक' भी प्रतीयमान युधिष्ठिर को, इस धर्म्ममूर्त्ति अतिमानव को 'भावुकता' जैसे लौकिक–निघर्ष का आधार, किंवा माध्यम बना कर क्या यह भावुक निबन्धा सदा के लिए अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी बना लेता ?। नेतिहोवाच ! अब्रह्मण्यम् !! अब्रह्मण्यम् !!!

होंगे, और अवश्य ही होंगे अमुक परिगणित भावों की दृष्टि से बलशाली वायुपुत्र भीम भी अवश्य ही भावुक। किन्तु अवसर प्राप्त होने पर क्षणमात्र भी विलम्ब न करते हुए अपने विपक्षी पर

× धार्मिक सिद्धान्त है कि, युद्ध में मृत क्षत्रिय योद्धा स्वर्गगति का ही अधिकारी बनता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न सहज बन जाता है कि, युद्ध में हत कर्ण–दुर्य्योधनादि युधिष्ठिर के बन्धुबान्धव नरकगामी कैसे बने !, जहाँ युधिष्ठिर के शारीरिक वायु से उन्हें शान्ति प्राप्त हुई। कर्म्मभोक्ता भूतात्मा अवश्य ही स्वर्गगति का अधिकारी बन जाता है। किन्तु 'रमशा' नामक रुद्रदेवतानुबन्धी हंसात्मा, एवं तन्मिश्र औपपातिक महानात्मा, दोनों एकात्मक बनते हुए कर्म्मानुसार तीन उत्तम लोकों के भोक्ता बने रहते हैं। यही प्रेतात्मा है, जिसकी दृष्टि से उक्त भाव अभिव्यक्त हुआ है। श्राद्धविज्ञानग्रन्थान्तर्गत 'मापियक्ष्यविज्ञानोपनिषत्' द्वितीय खण्ड में इन विषयों का विशद वैज्ञानिक विवेचन द्रष्टव्य है।

अणुमात्र भी दया-करुणा प्रदर्शित न कर उसे सर्वात्मना निःशेष कर देने की जैसी निष्ठा सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव जैसी इस उग्रकर्म्मा-भीमकर्म्मा-क्रूरकर्म्मा पाण्डुपुत्र में सहज-निसर्गरूप-से विद्यमान थी, उसका अन्य पाण्डुनन्दनों में अभाव ही था। युधिष्ठिर की क्षमाशीलता तो प्रसिद्ध है ही। अर्जुन भी वैसे अवसरों पर नितान्त भावुक ही बन जाया करते थे, जैसा कि कर्णार्जुन-युद्धप्रसङ्गावसर पर निःशस्त्र असहाय बने हुए प्रातःस्मरणीय कर्ण पर भावुकतावश प्रहार करने से अर्जुन सहसा तटस्थ बन गए थे, एवं अनन्तर निष्ठावतार भगवान् की प्रेरणा से कहीं अर्जुन का इस दिशा में उद्बोधन हो पाया था। यह भीम की भीमा निष्ठा का ही सुपरिणाम था कि, वर्षों से विगलितकेशा-वेणीबन्धनवञ्चिता-प्रतिक्रिया नुगता द्रौपदी को दुःशासन के उष्णातम सद्योविनिःसृत रक्त-सिञ्चन से वेणीबन्धन का सौभाग्य प्राप्त हो सका था। शत्रुविमर्दनलक्षणा इस अनन्यनिष्ठा के सन्तुलन में वृकोदर भीम बड़े से बड़े अनिष्ट की भी उपेक्षा कर डालना अपना सहज धर्म्म मानते रहते थे। शत्रु के सम्मुख किसी भी परिस्थिति में अवनतशिरस्क बन जाना, किंवा उस पर दया-ममता अभिव्यक्त करते हुए क्षमा प्रदान कर देना, ऐसा कोई शब्द उनके लिए कोश में निर्म्मित ही नहीं हुआ था। द्रोणपुत्र अश्वत्थामा के द्वारा पाण्डवविनाशार्थ प्रक्षिप्त देवविद्यात्मक मन्त्राभिमन्त्रित ब्रह्मास्त्र के सम्मुख भी तो भीम ने तब तक रथ से अवतीर्ण होकर नतमस्तक बनना स्वीकार नहीं किया, जब तक कि स्वयं श्रीकृष्ण ने करग्रहणपूर्वक भीम को रथ से नीचे उतार कर बलवदावेश से उसके क्षात्रतेज को ब्रह्मास्त्रतेज के सम्मुख कृताञ्जलि नहीं बना डाला। द्रौपदीमानमर्द्दनकर्त्ता आततायी कीचक का उपहास में ही नामशेष कर देने वाले पाँचों पाण्डवों में से भीमातिरिक्त और किस पाण्डुनन्दन में ऐसा असम साहस था ?। और इस प्रकार की भूतबलानुगता शारीरिक निष्ठा का एकमात्र कारण था भीम की सुप्रसिद्धा यह 'आहारनिष्ठा,' जिसके अनुग्रह से इन्हें महायात्रा में मध्य में ही गिर जाना पड़ा था। युद्धकर्म्मनिष्ठासंरक्षिका भूतबलनिष्ठा की आधारभूता आहारनिष्ठा अन्य सभी पाण्डुपुत्रों की अपेक्षा भीम में अप्रतिम थी, फिर भले ही मन्वादि धर्म्माचार्य्यों ने इस निष्ठा को सत्त्वगुणविघातिका निन्द्या ही घोषित क्यों न किया हो। आहारनिष्ठा के अतिरिक्त बाल्यवयोऽनुगता जलतलस्पर्शनिबन्धना सौम्यनागदेवताप्रदत्ता सौम्या बलशक्ति भी इस निष्ठा का मूलकारण बनी हुई थी, जिसके अनुग्रह से भीम 'दशसहस्रगजबलमिलबलशाली' नाम से प्रसिद्ध थे। पूर्ण स्वस्थता-निराकुलता-के साथ साथ अपनी आहारनिष्ठा पर प्रयासपूर्वक आरूढ़ रहते हुए 'युद्धाय कृतनिश्चयः' लक्षणा क्षात्र निष्ठा का बिना किसी गीतादि-उपदेशाकर्णन के ही निष्ठाबरूपेण अनुगमन करने वाले अन्यान्य व्यावहारिक-लौकिक-सामाजिक भावुकता-निष्ठापरम्पराओं से अपने आपको सर्वात्मना असंस्पृष्ट बनाए रखने वाले ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर के अनुशासन-आदेश को नतमस्तक बन कर स्वीकार करते रहने वाले एवंविध लोकनिष्ठ स्वधर्म्मगुप्त क्षत्रिय मानव को भी लौकिक भावुकता-निबन्ध का माध्यम नहीं बनाया जा सकता था, नहीं बनाया गया।

सर्वात्मना सौम्यभावापन्न माद्रीसुत नकुल, और सहदेव अवश्य ही निरतिशयरूपेण भावुक थे। किन्तु इनकी भावुकता लोकसम्पर्क से सर्वथा असंस्पृष्ट बनी रहती हुई वैसी कास्पालीकृता-पिम्बमाना-

रसथा भावुकता थी, जैसी भावुकता मातृस्तनपान करने वाले एक अबोध शिशु में रहा करती है। सौम्य माद्रीसुत अपनी ज्येष्ठभ्रातृत्रयी की सर्वसमर्थ छत्रछाया में निरापद-निराकुलरूप से स्वस्थतापूर्वक अपने सहज आमोद-प्रमोद में तल्लीन थे। अशन पान, और स्वमूलप्राणनिबन्धन सहज अश्वप्रेम से आकर्षित नकुल-सहदेवयुग्म की निष्ठा अधिक से अधिक पाण्डवराज्य की अश्वशाला का पर्य्यवेक्षण निरीक्षण था। किसी भी पारलौकिकी, ऐहलौकिकी धर्म्म-समाज-राजनीतिनिष्ठाओं के उत्तरदायित्व का इन दोनों से कोई विशेष सम्पर्क न था। ज्येष्ठबन्धुत्रयी की आज्ञा का अनुगमन करते हुए, उनकी सुख-दु खानुभूतियों के साथ साथ यथावसर यथायोग्यता वैसी स्थिति-परिस्थितियों को ही स्वानुगत बनाने वाले माद्रीसुत भी इस सपरपृथ भावुकता-निबन्ध के माध्यम नहीं बनाये जा सकते थे, नहीं बनाने चाहिये थ।

अब शेष रह गए थे केवल 'अर्जुन'। स्वाधिकारबन्धित पाँचों पाण्डवों में से अपेक्षया महाबाहु अर्जुन के अतिरिक्त महाभारतयुग में अन्य कोई वैसा सर्वात्मना योग्य भावुक मानवश्रेष्ठ उपलब्ध न हो सका, जिसे हम निबन्ध का माध्यम बना लेते। महासत्व, महाप्राण, महाधनुर्द्धर, नरावतार, अतएव अवतार गुणविभूषित, अतएव च सर्वगुणसम्पन्न, शास्त्रनिष्ठ, आस्थाश्रद्धापरायण महामानव 'अर्जुन' जैसे मानव श्रेष्ठ को 'भावुकता' जैसे मानस भाव का प्रतीक मानते हुए हम अन्तरात्मना संक्षुब्ध हैं। यह भी सम्भव है कि स्वयं अपनी सहज-भावुकता के कारण समुत्पन्न दृष्टिदोष से ही हमारे लक्ष्य अर्जुन जैसे महामानव बन रहे हों। इस अपनी भावुकता का, अपने दृष्टिदोष का इसके अतिरिक्त हमारे समीप और कोई अन्य समाधान शेष नहीं है कि, मानव की प्रत्येक महती विप्रतिपत्ति-महती-समस्या का मूलाधार महाप्राण मानव ही बना करता है। सुप्रसिद्ध है कि, युद्धविजय की कामना से कुरुक्षेत्रभूमि को बीरप्राण-सस्काराधान से सुसंस्कृत बनाने के लिए उस युग के सर्वश्रेष्ठ अप्रतिम-साथ ही निर्दोष (अतएव भावुक) नरपुङ्गव भीमपुत्र बर्बरी का ही आलम्बन आवश्यक समझा गया था, अनुरूप माना गया था। इसी दृष्टि बिन्दुमाध्यम से हम इस महती विप्रतिपत्ति के समाधान के लिए महामानव अर्जुन को ही निबन्धमाध्यम मानने की धृष्टता कर रहे हैं, जिसके लिए चान्द्रमण्डलस्थ अर्जुन का हसात्मा हमें क्षमा प्रदान करेगा।

नरावतार अर्जुन जैसे सर्वगुणसम्पन्न महामानव समस्या उपस्थित करने वाले, एवं नारायणावतार वासुदेवकृष्ण जैसे अतिमानव समस्या का सफल समाधान करने वाले, इन दोनों लोकोत्तर गुरुशिष्यों की प्रश्नोत्तरपरम्परा से महलोमहीयान् बने हुए महाभारतयुगानुगत, महाभारत समर से पूर्व-एवं राज्याधिकार से वञ्चित पाण्डुपुत्रों के सपरपात्मककाल में घटित नितान्तभावुकतापूर्ण यह आख्यान उपक्रान्त हो रहा है, जिसे अवधानपूर्वक श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

(११)-कौरवनिष्ठा का स्खलन, और भावुक अर्जुन से कुशलप्रश्न—

महाभारतयुग के सुप्रसिद्ध शिल्पी शुक्रशास्त्रपारङ्गत मयासुर के द्वारा विनिर्मित पाण्डुपुत्रों के त्रैलोक्याप्रतिम सभाभवन में द्रौपदी के नारीसुलभ सहजभावुकतापूर्ण नितान्त घातक उपहास से, द्रौपदी

अणुमात्र भी दया–करुणा प्रदर्शित न कर उसे सर्वात्मना निःशेष कर देने की जैसी निष्ठा सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव वैसी इस उग्रकर्म्मा–भीमकम्मा–क्रूरकर्म्मा पाण्डुपुत्र में सहज–निसर्गक्रम–से विद्यमान थी, उसका अन्य पाण्डुनन्दनों में अभाव ही था। युधिष्ठिर की क्षमाशीलता तो प्रसिद्ध है ही। अर्जुन भी वैसे अवसरों पर नितान्त भावुक ही बन जाया करते थे, जैसा कि कर्णार्जुन–युद्धप्रसङ्गावसर पर निःशस्त्र असहाय बने हुए प्रातःस्मरणीय कर्ण पर भावुकतावश प्रहार करने से अर्जुन सहसा तटस्थ बन गए थे, एवं अनन्तर निग्रहवतार भगवान् की प्रेरणा से कहीं अर्जुन का इस दिशा में उद्बोधन हो पाया था। यह भीम की भीमा निष्ठा का ही सुपरिणाम था कि, वर्षों से विगलितकेशा–वेणीबन्धनवंचिता–प्रतिक्रिया नुगता द्रौपदी को दुःशासन के उष्णतम वक्षोविनिःसृत रक्त–सिञ्चन से वेणीबन्धन का सौभाग्य प्राप्त हो सका था। शत्रुविमर्दनलक्षणा इस अनन्यनिष्ठा के समतुलन में वृकोदर भीम बड़े से बड़े अनिष्ट की भी उपेक्षा कर डालना अपना सहज धर्म्म मानते रहते थे। शत्रु के सम्मुख किसी भी परिस्थिति में अवनत शिरस्क बन जाना, किंवा उस पर दया–ममता अभिव्यक्त करते हुए क्षमा प्रदान कर देना, ऐसा कोई शब्द उनके लिए कोश में निर्म्मित ही नहीं हुआ था। द्रोणपुत्र अश्वत्थामा के द्वारा पाण्डवविनाशाय प्रक्षिप्त देवविद्यात्मक मन्त्राभिमन्त्रित ब्रह्मास्त्र के सम्मुख भी तो भीम ने तब तक रथ से अवतीर्ण होकर नतमस्तक बनना स्वीकार नहीं किया, जब तक कि स्वयं श्रीकृष्ण ने करग्रहणपूर्वक भीम को रथ से नीचे उतार कर बलवदादेश से उसके क्षात्रतेज को ब्रह्मास्त्रतेज के सम्मुख कृताञ्जलि नहीं बना डाला। द्रौपदीमानमर्द्दनकर्त्ता आततायी कीचक का उपहास में ही नामलेश कर देने वाले पाँचों पाण्डवों में से भीमातिरिक्त और किस पाण्डुनन्दन में ऐसा असम साहस था ?। और इस प्रकार की भूतबलानुगता शारीरिक निष्ठा का एकमात्र कारण था भीम की सुप्रसिद्धा यह 'आहारनिष्ठा,' जिसके अनुग्रह से इन्हें महायात्रा में मध्य में ही गिर जाना पड़ा था। युद्धकर्म्मनिष्ठासंरक्षिका भूतबलनिष्ठा की आधारभूता आहारनिष्ठा अन्य सभी पाण्डुपुत्रों की अपेक्षा भीम में अप्रतिम थी, फिर भले ही मन्वादि धर्म्माचार्य्यों ने इस निष्ठा को सत्त्वगुणविघातिका निन्द्या ही घोषित क्यों न किया हो। आहारनिष्ठा के अतिरिक्त बाल्यवयोऽनुगता जल सलस्पर्शानिबन्धना सौम्यनागदेवताप्रदत्ता सौम्या बलशक्ति भी इस निष्ठा का मूलकारण बनी हुई थी, जिसके अनुग्रह से भीम 'दशसहस्रगजबलसमितबलशाली' नाम से प्रसिद्ध थे। पूर्ण स्वस्थता–निराकुलता–के साथ साथ अपनी आहारनिष्ठा पर प्रयासपूर्वक आरूढ़ रहते हुए 'युद्धाय कृतनिश्चयः' लक्षणा क्षात्र निष्ठा का बिना किसी गीतादि–उपदेशाकरण के ही निष्पाबस्पेण अनुगमन करने वाले, अन्यान्य व्यावहारिक–लौकिक–सामाजिक भावुकता–निष्ठापरम्पराओं से अपने आपको सर्वात्मना असंस्पृष्ट बनाए रखने वाले जेष्ठ भ्राता युधिष्ठिर के अनुशासन–आदेश को नतमस्तक बन कर स्वीकार करते रहने वाले एवंविध लोकप्रसिद्ध स्ववीर्य्यगुप्त क्षत्रिय मानव को भी लौकिक भावुकता–निरूपण का माध्यम नहीं बनाया जा सकता था, नहीं बनाया गया।

सर्वात्मना सौम्यभावापन्न माद्रीसुत नकुल, और सहदेव अवश्य ही निरतिशयरूपेण भावुक थे। किन्तु इनकी भावुकता लोकसंघर्ष से सर्वथा असंस्पृष्ट बनी रहती हुई वैसी कास्वालीकृता–पिण्डमाना–

से आतिथ्य किया। परस्पर नीवारपाकादिकङ्करीया लक्षणा कुशलक्षेमपरम्परा के आदेश का सामयिक अनुगमन हुआ। रात्री विश्रामवेला में एकान्त में कृष्ण के अनन्य सखा अर्जुन अपनी विगत मुक्त एवं प्रक्रान्त करुणापूर्ण दयनीय स्थिति से अश्रुपूर्णाश्रुलेखया बनते हुए श्रीकृष्णावासशाला की ओर समसम्मुख हुए। अपने इस अन्यतम सखा का आलिङ्गन कर निःशेषरूप से आत्मविभोर बनते हुए, त्रैलोक्यमाधुरी का मानो उपहास–सा ही करने वाले अपने सहज मन्दस्मितभाव से निष्ठापूर्ण उद्घोषरव पूर्वक सर्वप्रथम वासुदेव ने शान्ति–स्वस्त्ययनात्मक सहज प्रश्न किया कि—

मित्र ! कहो, कुशल तो है ?

(१३)–अर्जुन के द्वारा उपस्थिता समस्यापूर्णा भावुकतापरम्परा—

नितान्त भावुक अर्जुन, परिस्थित्यनुगत कालदोषमाध्यम से महामाया के द्वारा चलितप्रज्ञ बने हुए अर्जुन, अपनी इस कालदोषानुगता आगन्तुक भावुकता के अनुग्रह से भावाविष्ट बने रहने वाले अर्जुन अपने मान्य सखा के उक्त कुशलप्रश्न से सहसा आविष्ट हो पड़े। एवं आवेशपूर्णा वैखरी वाणी का अनुसरण करते हुए अर्जुन निम्नलिखित शब्दावली के माध्यम से अपनी भावुकता अभिव्यक्त करने लगे–

भगवन् ! शास्त्रानुशीलन के द्वारा, श्रौतस्मार्तकर्म्मानुष्ठान के द्वारा, वृद्धपरम्परा–आराधना के द्वारा साक्षात्, तथा परम्परया अवलोकित, एवं श्रुत है कि,—"**जो द्विजातिमानव निगमागमशास्त्र विहित विधि–विधानों का अनुगमन करता हुआ अपनी आत्मबुद्धिमनःशरीरलक्षणा अध्यात्म संस्था को आश्रमचतुष्टयीपूर्वक नियत वर्णधर्म्म के माध्यम से नियत कर्त्तव्यकर्म्म द्वारा नियमितरूप से सञ्चालित रखता है, निश्चयेन धर्म्मात्मक इस शास्त्रीय कर्म्मानुष्ठान से अपनी अध्यात्मसंस्था को परिपूर्ण बनाता हुआ प्रजापतिसमतुलित वह मानवश्रेष्ठ ऐहलौकिक सुख समृद्धि का भोक्ता बनता हुआ प्रेत्य पारलौकिक शान्ति–स्वस्ति का सफल प्रतिथि प्रमाणित हो जाता है**'।

आध्यात्मिक संस्था के स्वायम्भुव भूतात्मा, सौरी बुद्धि, चान्द्र मन, एवं पार्थिव शरीर, इन चारों पर्वों की गहन–गम्भीरतमा व्याख्या शास्त्रकारों ने कुछ भी की हो, उस शास्त्रीय दुरधिगम्या मीमांसा का प्रकृत में अवसर नहीं है। अभी तो सर्वथा लौकिक दृष्टि से ही इस मान्यता के आधार पर ही नम्र निवेदन किया जा रहा है कि, 'धर्म्म–पराक्रम–अनुशासन–दक्षता–' मानव की इन चार पुरुषार्थ-वृत्तियों को, दूसरे शब्दों में चार कर्त्तव्य–कर्म्ममार्गों को क्रमशः अध्यात्मसंस्था के चारों 'आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर' आध्यात्मिक पर्वों के लौकिक (एवं अमुक अंशपर्य्यन्त पारमार्थिक भी) स्वरूपसंरक्षक कहा और माना जा सकता है। सत्यात्मक धर्म्म, किंवा धर्म्मात्मक सत्य सत्यस्वरूप स्वायम्भुव आत्मा का स्वरूप-संरक्षक (मूलप्रतिष्ठा) है, तो पर पर आक्रमण कर उस पर को अपने सत्त्व से आक्रान्त करने वाला–

की भावुकता का समर्थन कर डालने वाले तात्कालिक भावुकतामग्न स्त्रैणधर्म्मा आहारनिष्ठापरायण भीमादि द्वारा उपहाससमर्थन से धृतराष्ट्र के नीतिकुशल-सुयोग्य पुत्र अतिथिरूपेण समागत एकान्तनिष्ठ दुर्य्योधन के मानस पटल पर प्रतिक्रिया का जो विपाक्त बीज दैवदुर्विपाक से न्युप्त हो गया था, वही कालान्तर में भारतराष्ट्र की लोकसमृद्धि, लोकवैभव का सर्वस्व संहारक बना, यह ऐतिहासिक तथ्य सभी इतिवृत्तवेत्ता स्वीकार कर रहे हैं। सामान्य-सी भी भ्रान्ति से समुत्पन्ना प्रतिक्रिया कालपरिपाकानन्तर कैसा घातक स्वरूप धारण कर लेती है !, यदि भावुक मानव प्रतिक्रिया के इस महादुष्परिणाम से अंशतः भी परिचित बना रहे, तो तात्कालिकी भावुकता से समुत्पन्ना अनर्थपरम्परा का निरोध शक्य बन सकता है। किन्तु !

सर्वस्व घातक इस 'किन्तु !' का समाधान यथावसर आगे चल कर स्वतएव सम्भव बन जायगा। अभी आख्यान-प्रसङ्ग के समन्वय को लक्ष्य बनाइए। द्रौपदी की भावुकता से समुत्पन्ना दुर्य्योधन की प्रतिक्रिया प्रज्वलित बनी भीम के उपहास से, एवं इस प्रज्वलित प्रतिक्रिया को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ उस युग के कूटनीतिचतुरचायक्य लोकनिष्ठ महातन्त्री शकुनिराज के द्वारा। इस घृताग्निसमन्वय से यह प्रतिक्रियाज्वाला निःसीम हो पड़ी, जिसके झञ्झावात-समन्विता घातक आक्रमण से भावुक पाण्डुपुत्र अपना आत्मत्राण न कर सके, न कर सके। नीति से, अनीति से, छल से, बल से, द्यूत से, प्रतारणात्मक-भ्रान्तिभाव प्रहार से, जैसे भी शक्य बन सका, शकुनिप्रमुख दुर्य्योधन के सुसंघटित-सर्वसाधन सुसम्पन्न-तन्त्र ने पाण्डवों का वह समृद्ध वैभव देखते देखते ही अपने अधिकार में कर लिया। और यों जिस त्रैलोक्यसुन्दर सभाभवन के जल-स्थल-व्यतिक्रमात्मक शिल्पकौशलों के माध्यम से पाण्डुपुत्रों ने दुर्य्योधन को प्रतिक्रियानुगामी बनाने की भयावह भ्रान्ति कर डाली थी, वही सभाभवन कालान्तर में कौरवनरेश दुर्य्योधन की यशःपताका से सुमण्डित बन कर अपने पताकाविकम्पनधर्म्म से पाण्डुपुत्रों को अधिकाधिक विकम्पित करने लगा, और साथ ही नैष्ठिक सुयोधन की यशोगाथा का विमलगान करने लगा।

दुर्य्योधन के नीतिकौशल-प्रभाव से पाण्डवों का स्वदेश में शान्ति-स्वस्तिपूर्वक जीवनयापन भी असम्भव बन गया। अमुक सन्धा के भ्यात्मक छल से इन्हें एक सुदीर्घकाल पर्य्यन्त वनवास एवं अज्ञातवास का अनुगामी बना रहना पड़ा। यों अपनी भावुकता से प्रतारित ये राजपुत्र सम्पूर्ण राजवैभवों से वञ्चित रहते हुए कालान्तर में अपनी वैराग्यवृत्ति को अन्वर्थ बनाते हुए पुनरप्येव स्वदेश में दीनहीन क्षतविक्षत-आत्मदशा में परिवर्त्तित हुए। पाण्डुपुत्रों के अन्यतम हितैषी वासुदेव श्रीकृष्ण को जब यह विदित हुआ कि, कालपुरुष से प्रतारित पाण्डुपुत्र पुनः इन्द्रप्रस्थ परावर्त्तित हो गए हैं, तो अपने सहज आत्म-बन्धुभाव से आकर्षितमना बनते हुए द्वारिकाधीश इनकी कुशल-क्षेम-कामना-अभिव्यक्ति के लिए, सान्त्वनाप्रदान के लिए, एवं प्रबोधनिग्रहरूप से इनकी भावुकता का उद्बोधन कराने के लिए सहसा एक दिन इन्द्रप्रस्थ पधार आए। पाण्डुपुत्रों ने यथासाधन पूर्णश्रद्धा से अपने इस आराध्यदेव का प्रसादमाव

से आतिथ्य किया। परस्पर नीवारपाकादिकद्वारीया लक्षया कुशलक्षेमपरम्परा के आदान का सामयिक अनुगमन हुआ। रात्रौ विश्रामवेला में एकान्त में कृष्ण के अनन्य सखा अर्जुन अपनी विगत शुक एवं प्रक्रान्त करुणापूर्ण दयनीय स्थिति से प्रभुपूर्णाकुलेक्षण बनते हुए श्रीकृष्णआवासशाला की ओर समसम्मुख हुए। अपने इस अन्यतम सखा का आलिङ्गन कर निःशेषरूप से आत्मविभोर बनते हुए, त्रैलोक्यमाधुरी का मानो उपहास–सा ही करने वाले अपने सहज मन्दस्मितभाव से निष्ठापूर्ण उद्बोधनपूर्वक सर्वप्रथम वासुदेव ने शान्ति–स्वस्त्ययनात्मक सहज प्रश्न किया कि—

मित्र ! कहो, कुशल तो है ?

(१३)–अर्जुन के द्वारा उपस्थिता समस्यापूर्णा भावुकतापरम्परा—

नितान्त भावुक अर्जुन, परिस्थित्यनुगत कालदोषमाध्यम से महामाया के द्वारा चलितप्रज्ञ बने हुए अर्जुन, अपनी इस कालदोषानुगता आगन्तुक भावुकता के अनुग्रह से मायाविष्ट बने रहने वाले अर्जुन अपने मान्य सखा के उक्त कुशलप्रश्न से सहसा आविष्ट हो पड़े। एवं आवेशपूर्णा वैखरी वाणी का अनुसरण करते हुए अर्जुन निम्नलिखित शब्दावली के माध्यम से अपनी भावुकता अभिव्यक्त करने लगे—

भगवन् ! शास्त्रानुशीलन के द्वारा, श्रौतस्मार्तकर्म्मानुष्ठान के द्वारा, वृद्धपरम्परा–आराधना के द्वारा साक्षात्, तथा परम्परया अवलोकित, एवं श्रुत है कि,—**"जो द्विजातिमानव निगमागमशास्त्र विहित विधि–विधानों का अनुगमन करता हुआ अपनी आत्मबुद्धिमनःशरीरलक्षणा अध्यात्म संस्था को आश्रमचतुष्टयीपूर्वक नियत वर्णधर्म्म के माध्यम से नियत कैसम्यकर्म्म द्वारा नियमितरूप से संचालित रखता है, निश्चयेन धर्म्मात्मक इस शास्त्रीय कर्म्मानुष्ठान से अपनी अध्यात्मसंस्था को परिपूर्ण बनाता हुआ प्रजापतिसमतुलित वह मानवश्रेष्ठ ऐहलौकिक सुख समृद्धि का भोक्ता बनता हुआ प्रेत्य पारलौकिक शान्ति–स्वस्ति का सफल अतिथि प्रमाणित हो जाता है'** ।

आध्यात्मिक संस्था के स्वायम्भुव भूतात्मा, सौरी बुद्धि, चान्द्र मन, एवं पार्थिव शरीर, इन चारों पर्वों की गहन–गभीरतमा व्याख्या शास्त्रकारों ने कुछ भी की हो, उस शास्त्रीय दुरधिगम्या मीमांसा का प्रकृत में अवसर नहीं है। अभी तो सर्वथा लौकिक दृष्टि से ही इस मान्यता के आधार पर ही नम्र निवेदन किया जा रहा है कि, **'धर्म्म–पराक्रम–अनुशासन–दक्षता–'** मानव की इन चार पुरुषार्थ वृत्तियों को, दूसरे शब्दों में चार कर्त्तव्य–कर्म्मभावों को क्रमशः अध्यात्मसंस्था के चारों **'आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर'** आध्यात्मिक पर्वों के लौकिक (एवं अमुक अंशपर्य्यन्त पारमार्थिक भी) स्वरूपसंरक्षक कहा और माना जा सकता है। सत्यात्मक धर्म्म, किंवा धर्म्मात्मक सत्य सत्यस्वरूप स्वायम्भुव आत्मा का स्वरूप-संरक्षक (मूलप्रतिष्ठा) है, तो पर पर आक्रमण कर उस पर को अपने सत्त्व से आक्रान्त करने वाला–

'पराक्रम'–भाव'' सौरी बुद्धि का सहज उपोद्बलक है *। अनुशासन–नियमन—संयम–आज्ञावशवर्त्तित्व–आदि एक ही अनुशासनशीलता के विभिन्न स्वरूप हैं, जिन्हें चञ्चल सौम्य मन का अनुग्राहक माना गया है। स्नायु–मज्जा–शिरा–धमन्यादि की दृढ़ता ही दृढ़गात्रता है। यही वह वास्तविक दृढ़ता है, जिसके आधार पर शेष तीनों आध्यात्मिक पर्व सुव्यवस्थित बने रहते हैं। इसी आधार पर तो देवकीनन्दन ! 'शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्' सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। दृढ़निश्चय, दृढ़प्रतिज्ञा का निर्वाह–पालन–दृढ़गात्र–दृढ़ावयव–शरीर से ही तो शक्य बनता है। अतएव इस दृष्टि से इस दृढ़ता, साथ ही दृढ़प्रतिज्ञा का चतुर्थ शरीरपर्व के साथ सम्बन्ध माना जा सकता है।

निवेदन इस सम्बन्ध में यहाँ यही करना है कि, समष्टिरूप से नहीं, तो व्यष्टिरूप से अवश्य ही पाण्डुपुत्रों ने मानव की तथाकथिता पूर्णमात्रापन्ना अध्यात्मसंस्था को लक्ष्य बनाते हुए ही अब तक जीवन–यापन किया है। चारों ही आध्यात्मिक शास्त्रीय कर्त्तव्यकर्म्मों का आगरूकता–पूर्वक अनुगमन करते हुए ही आपके इन आत्मीय बन्धुओं ने मानव की 'परिपूर्णता' को अन्वर्थ बनाए रखने का यथाशक्य प्रयास प्रक्रान्त रक्खा है। मानवोचित उन सभी सुव्यवस्थित कर्त्तव्यों का पाण्डुपुत्रोंने समष्टि–व्यष्टिरूप से उभयथा निर्व्याजरूप से अनुसरण करते हुए सर्वात्मना यह प्रमाणित कर दिया है कि,–''पाण्डुपुत्र वास्तव में धर्म्मपथ पर, अभ्युदयनिःश्रेयससाधक शास्त्रीय पथ पर, न्यायपथ पर ही आरूढ़ हैं''। मधुनन्दन ! परिस्थितिवश आकुल–व्याकुलमना बन जाने वाले अपने इस न्योक सखा के आवेश पर किसी अन्यथा कल्पना को स्थान नहीं मिलना चाहिये, यह विशेष प्रार्थना है। जैसी सहज अनुभूति हो रही है, प्रसन्नभाव से अपने आराध्य सखा के सम्मुख प्रस्तुत है। अनुभूति गतार्थ है इसी निवेदन से। अनुभूति का सर्वथा लौकिक विश्लेषण होना चाहिए अर्जुन !। क्या भगवन् यह भी अपेक्षित है ?। यथाज्ञापयति देवः !।

आराध्य वासुदेव ! अजातशत्रु धर्मराज युधिष्ठिर जैसे धर्म्मनिष्ठ–धर्म्मात्मा अतिमानव, धर्म्मनिष्ठा से एकान्तनिष्ठ बने हुए 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्' शास्त्रादेश का अक्षरशः पालन करने वाले न्योक्तवर्ग के अनुशासनवर्त्ती महावीराग्रणी भीम जैसे पराक्रमी, सर्वथा सौम्यमूर्त्ति–मनोमूर्त्ति आज्ञानुकारी माद्रीसुत नकुल सहदेव जैसे अनुशासनानुगामी व्यक्ति वर्त्तमानयुग में अन्यत्र कहां उपलब्ध होंगे ? अतिमान नहीं कर रहा भगवन् ! इस न्योकसखा की दृढ़प्रतिज्ञा–दृढ़निष्ठा–शास्त्रनिष्ठा भी आप से तो

---

* बुद्धिबल 'पराक्रम' है, मनोबल 'वीर्य्य' है, एवं शरीरबल 'बल' है। लौकिक उदाहरण है–'पुरुष–सिंह–गज'। गज शरीरबलात्मक 'बल' का उदाहरण है, सिंह मनोबलात्मक 'वीर्य्य' का उदाहरण है, एवं पुरुष बुद्धिबलात्मक 'पराक्रम' का उदाहरण है। तीनों उत्तरोत्तर ज्यायान् हैं। अतएव बलशाली गज को वीर्य्यशाली सिंह परास्त कर देता है, एवं वीर्य्यशाली सिंह को पराक्रमशाली मानव पञ्जरबद्ध कर देता है।

परोक्ष नहीं है। ऐसे सुसमन्वित सुसंघटित शास्त्रनिष्ठ अध्यात्मनिष्ठ आत्मबुद्धिमनःशरीरपर्व–संरक्षक समुदाय का अन्यत्र मिल सकना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है।

भारतीय मानवधर्मशास्त्र की पमी घोषणा देखी–सुनी गई है कि, यदि मानव सुख–शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहता है, तो उसे अनन्यनिष्ठा से निव्यार्जबुद्धि से धर्मशील,-पराक्रमी, अनुशासनानुशासित, एवं दृढ़प्रतिज्ञ बना रहना चाहिए। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' के अनुसार धर्मानुशीलता–धर्माचरण से मानव जहाँ ऐहलौकिक ऐश्वर्यलक्षण अभ्युदयात्मक सुखोपभोग में समर्थ बन जाता है, वहाँ इसी धर्मानुष्ठान–प्रभाव से यह पारलौकिक निःश्रेयसात्मक शान्तानन्द–लाभ में समर्थ बन जाया करता है। शारीरिक बलात्मक 'बल', एवं मनोबलात्मक 'वीर्य', इन दोनों बलों से संयुक्त मानव बुद्धिबलात्मक 'पराक्रम' के प्रभाव से उन लौकिक आततायीवर्ग के दर्पदलन में समर्थ बना रहता है, जो दुष्टबुद्धि असन्निष्ठ आततायी मनुष्य धर्मशील मानव की सुख–शान्ति में विघ्न उपस्थित करने का जघन्य प्रयत्न किया करते हैं। पारिवारिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, जातीय, तथा राष्ट्रिय समसामयिक अनुशासनों से (राजशासनानुशासन से) नम्रतापूर्वक अनुशासित रहने वाला मानव क्रमशः अपने परिवार–कुटुम्ब–समाज–जाति एवं राष्ट्र के लौकिक व्यवस्थातन्त्रों को अक्षुण्ण बनाए रखने में सफल होता हुआ इन तन्त्रों का सहयोग अपनी सुव्यवस्था के लिए सहजभाव से प्राप्त करता रहता है। सर्वोपरि अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा से समन्वित दृढ़निश्चय के प्रभाव से पुरुषार्थसाधक प्रत्येक शास्त्रीय, तथा लौकिक कर्मानुष्ठान में निश्चयात्मिका सफलता प्राप्त करता हुआ मानव कभी किसी साधन–परिग्रह–सुविधा–प्राप्ति–से भी वञ्चित नहीं रहता, एवं किसी क्षेत्र में असफल भी नहीं बनता। इस प्रकार "धर्म–पराक्रम–अनुशासन दृढ़प्रतिज्ञालक्षण दृढनिश्चय" इन चारों शास्त्रीय आदेशों का अनुगमन करने वाला मानव सदा पूर्ण शान्त–सुखी–लोकवैभवसम्पन्न–अक्षपत्न–बना रहता हुआ अपने मानव जीवन को सर्वात्मना कृतकृत्य बना लेता है, जिसके प्रतीक युधिष्ठिर–भीम माद्रीसुत, एवं आपका यह स्नेही सखा (अर्जुन) माने जा सकते हैं। धर्मानुगत युधिष्ठिर, पराक्रमानुगत भीम, अनुशासनानुगत माद्रीसुत, एवं दृढ़प्रतिज्ञानुगत आपका यह स्नेही अर्जुन, पाँचों ही अन्तःकरण से मनसा–वाचा–कर्मणा तयोक्त शास्त्रादेश का अबतक अक्षरशः अनुगमन करते चले आरहे हैं। किन्तु ?

किन्तु परिणाम इस शास्त्रादेशानुगति के आपके इन पाण्डवों को अबतक क्या क्या और कैसे कैसे भोगने पड़े हैं !, और कौन जाने, अथवा तो आप ही जानें–भविष्य में इस धर्मासक्ति–शास्त्रासक्ति के और क्या क्या परिणाम–दुष्परिणाम कैसे कैसे हमें भोगने पड़ेंगे !, यह एक महती समस्या आज आपके इस श्रद्धाशील उस अर्जुन को आकुल व्याकुल बना रही है। सर्वविध सुखशान्तिप्रवर्त्तक तथा कथित शास्त्रीय आदेशों का ज्यों ज्यों हमनें आवेशपूर्वक अनुगमन किया, त्यों त्यों उत्तरोत्तर हम अधिकाधिक दुःखी–संत्रस्त बनते गए। सांसारिक सुखसमृद्ध वैभव की कथा तो दूर रही, इस शास्त्रनिष्ठा के निःसीम अनुग्रह से हम तो अपने जन्मसिद्ध शरीरयात्रानिर्वाहक पैतृक दायाद भोग से भी मक्षिकावत्

'पराक्रम'–भाव" सौरी बुद्धि का सहज उपोद्बलक है *। अनुशासन–नियमन––संयम–आज्ञापरवर्तित्व–आदि एक ही अनुशासनशीलता के विभिन्न स्वरूप हैं, जिन्हें चञ्चल सौम्य मन का अनुग्राहक माना गया है। स्नायु–मज्जा–शिरा–धमन्यादि की दृढ़ता ही दृढ़गात्रता है। यही वह वास्तविक दृढ़ता है, जिसके आधार पर शेष तीनों आध्यात्मिक पर्व सुव्यवस्थित बने रहते हैं। इसी आधार पर तो देवकीनन्दन ! 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। दृढनिश्चय, दृढ़प्रतिज्ञा का निर्वाह–पालन–दृढ़गात्र–दृढ़ावयव–शरीर से ही तो शक्य बनता है। अतएव इस दृष्टि से इस दृढ़ता, साथ ही दृढ़प्रतिज्ञा का सत्त्व शरीरपर्व के साथ सम्बन्ध माना जा सकता है।

निवेदन इस सम्बन्ध में यहीं यही करना है कि, समष्टिरूप से नहीं, तो व्यष्टिरूप से अवश्य ही पाण्डुपुत्रों ने मानव की तथाकथिता पूर्णभावापन्ना अध्यात्मसंस्था को लक्ष्य बनाते हुए ही अब तक जीवन्–यापन किया है। चारों ही आध्यात्मिक शास्त्रीय कर्त्तव्यकर्मों का जागरूकता–पूर्वक अनुगमन करते हुए ही आपके इन आत्मीय बन्धुओं ने मानव की 'परिपूर्णता' को अन्वर्थ बनाए रखने का यथाशक्य प्रयास प्रक्रान्त रक्खा है। मानवोचित उन सभी सुव्यवस्थित कर्त्तव्यों का पाण्डुपुत्रोंने समष्टि–व्यष्टिरूप से उभयथा निर्व्याजरूप से अनुसरण करते हुए सर्वात्मना यह प्रमाणित कर दिया है कि,–"**पाण्डुपुत्र वास्तव में धर्मपथ पर, अभ्युदयनिःश्रेयससाधक शास्त्रीय पथ पर, न्यायपथ पर ही आरूढ़ हैं**"। यदुनन्दन ! परिस्थितिवश आकुल–व्याकुलमना बन जाने वाले अपने इस न्योक सखा के आवेश पर किसी अन्यथा कल्पना को स्थान नहीं मिलना चाहिये, यह विशेष प्रार्थना है। जैसी सहज अनुभूति हो रही है, प्रश्नतमाष से अपने आराध्य सखा के सम्मुख प्रस्तुत है। अनुभूति गतार्थ है इसी निवेदन से। अनुभूति का सर्वथा लौकिक विश्लेषण होना चाहिए अर्जुन !। क्या भगवन् वह भी अपेक्षित है ?। **यथाज्ञापयति देवः !।**

आराध्य वासुदेव ! अजातशत्रु धर्मराज युधिष्ठिर जैसे धर्मनिष्ठ–धर्मात्मा प्रतिमानव, क्षात्रनिष्ठा से एकान्तनिष्ठ बने हुए '**आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्**' शास्त्रादेश का सत्वचण पालन करने वाले ज्येष्ठवग के अनुशासनवर्त्ती महावीरोत्र भीम जैसे पराक्रमी, सर्वथा सौम्यमूर्त्ति–मनोमूर्त्ति आज्ञानुकारी माद्रीसुत नकुल सहदेव जैसे अनुशासनानुगामी व्यक्ति वर्त्तमानयुग में अन्यत्र कहां उपलब्ध होंगे ! अभिमान नहीं कर रहा भगवन ! इस न्योकसखा की **दृढ़प्रतिज्ञा–बद्धनिष्ठा**–शास्त्रनिष्ठा भी आप से तो

---

* बुद्धिबल 'पराक्रम' है, मनोबल 'वीर्य्य' है, एवं शरीरबल 'बल' है। लौकिक उदाहरण है–'पुरुष–सिंह–गज'। गज शरीरबलात्मक 'बल' का उदाहरण है, सिंह मनोबलात्मक 'वीर्य्य' का उदाहरण है, एवं पुरुष बुद्धिबलात्मक 'पराक्रम' का उदाहरण है। तीनों उत्तरोत्तर ज्यायान् हैं। अतएव बलशाली गज को वीर्य्यशाली सिंह परास्त कर देता है, एवं वीर्य्यशाली सिंह को पराक्रमशाली मानव पञ्जरबद्ध कर देता है।

चेष्टा की थी। द्यूतशिरोमणि चाटुकार शकुनि के गुप्तम मणारूप प्रेरणाबल के आधार पर आयोजित द्यूतक्रीडा के छल से किसी के सहजसिद्ध धर्मसम्मत सत्ताधिकार के अपहरण करने का ही नाम यदि पराक्रम है, तो फिर योगमायासमावृत भगवान्! आसुरी माया की परिभाषा क्या की जायगी ?। असंख्य उदाहरणों में से उद्धृत ये कुछ एक उदाहरण ही कौरवों के पराक्रम के यश पूर्ण इतिहास को अभिव्यक्त करने के लिए सम्भवतः आपकी दृष्टि में पर्याप्त बन जायेंगे।

तीसरे मनोनिग्रहघन 'अनुशासन', आदेशपालन का इतिहास तो हमारी अपेक्षा कौरवों के वे मातापिता ही सम्यग्रूपेण उपवर्णित कर सकेंगे, जिनके आदेशों का सुपुत्र कौरव अक्षरशः अनुगमन करते रहते थे। 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' इत्यादि अनुशासनात्मक औपनिषद आदेशों का पदे पदे उल्लंघन करने में पूर्ण कुशल दुर्योधन ने अपने वृद्ध अन्ध पिता धृतराष्ट्र के सामयिक उद्बोधन सूत्रों (चेतावनी) का, आदेशोपदेशों का किस सीमापर्यन्त अनुगमन किया ?, अनुशासनसम्बन्धी ये सम्पूर्ण मनोभाव अन्तर्यामी भगवान् के लिए सम्भवतः परोक्ष न होंगे। क्षमा करेंगे भगवन् इस कालप्रवाहित प्रश्न का, 'अतिथिदेवो भव' इस श्रौत अनुशासन का मुख्य ? तो स्वयं वासुदेव जैसे महामान्य अतिथि को भी " " । 'आचार्य देवो भव' आदेश के उल्लंघनरूप महासत्कार से गुरु द्रोणाचार्य भी अनेक बार आत्मतुष्टि का अनुभव कर चुके होंगे ?। गुरुजनों की आदेशानुशासन परम्परा को गजनिमीलिकान्याय से सर्वथा निराकृत करने वाले दुर्योधन की—'सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन माधव' घोषणा का रहस्यवेत्ता आपके अतिरिक्त और कौन होगा ?। हाँ, शरीरानुगता दृढनिश्चयात्मिका दृढनिष्ठा अवश्य ही दुर्योधन की लोकोत्तर मानी जानी चाहिए, जिसके आधार पर उसका एकमात्र मूलमन्त्र था—'शरीरं वा पातयामि, कार्य्यं वा साधयामि' यह। क्या इस दुराग्रहरूपा दृढनिष्ठा का 'दृढप्रतिज्ञ' जैसे सत्स्वभाव से आप समतुलन करेंगे ?। कदापि नहीं, सर्वथा नहीं। तदित्थं, पाण्डवों की दिशा से सर्वथा विपरीत धर्म–पराक्रम–अनुशासन–दृढप्रतिज्ञा–चारों शास्त्रीय निष्ठाओं–मर्यादाओं–आदेशोपदेशों–विधिविधानों का प्रत्यक्षरूप से पदे–पदे, स्थाने–स्थाने, क्षणे–क्षणे उल्लंघन करते रहने वाले दुर्योधनप्रमुख कौरव आज स्वच्छन्दरूप से साम्राज्य–सुखोपभोग के सफल उपभोक्ता प्रमाणित हो रहे हैं।

"शास्त्रनिष्ठ–आस्थाश्रद्धापूर्वक नैगमिक वर्णाश्रमनिबन्धन–स्वधर्मात्मक नियत–कर्मनिष्ठ सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों की ऐकान्तिक दुःखानुगति, एवं शास्त्रविमुख–आस्थाश्रद्धाशून्य–उच्छृङ्खलकर्मरत स्वार्थजिष्णु आततायी सर्वपापसम्पन्न भी कौरवों की आत्यन्तिक सुखानुगति" क्या यह वैषम्य विधि का विचित्र विमोहक सिद्धान्त नहीं है ?। ऐसे विचित्र, आस्तिक श्रद्धालु मानव का विमोहक, इसकी आस्था–श्रद्धा को निःशेषरूप से विगलित कर देने वाला वैषम्य क्या भगवान् से आज परोक्ष रह गया है ?। ऐसी स्थिति में, ऐसे विचित्र–विषम–विधिविधानों के समुपस्थित रहते हुए आज हमारे आत्मीय सत्या मानो हमारा ही नहीं, अपितु शास्त्रनिष्ठा, धर्मनिष्ठा, निगमनिष्ठा, आचारनिष्ठा, आदर्श

बहिष्कृत कर दिए गए भाततायीवर्ग के द्वारा। अनन्त कृतज्ञतापरम्परा समर्पित है सचन्यवाद इस आपकी शास्त्रनिष्ठा के प्रति, धर्म्माचरण के प्रति, जिसके लोकोत्तर अनुग्रह से आज हम वर्त्तमान उस स्थिति में उपस्थित हो गए हैं, जिस स्थिति के स्मरणमात्र से भी सहृदय मानव विकम्पित हो पड़ता है।

सुनने का अनुग्रह करेंगे भगवन्! इसी प्रक्रान्त प्रसङ्ग में पाण्डवों के कुशलक्षेमात्मक समाधान से ही सम्बन्धित एक दूसरे प्रत्यक्ष दृष्टिकोण का स्वरूपविश्लेषण ?। यदि हाँ, तो सुनिए! सज्जीभूत मन कर सुनिए! सम्भव है यह पावनगाथा आपके 'परित्राणाय साधूनाम्' इस उद्घोष को बलप्रदान कर सके। पाण्डवों के ही बंधुबन्धुगण दुर्योधनप्रमुख कौरवों की आत्मगाथा, विमलगाथा से सम्भवतः वासुदेव अपरिचित न होंगे, जिन्होंने जगतीतल पर अवतीर्ण होने के अव्यवहितोत्तरक्षण से ही अपना अकाण्ड ताण्डवलक्षण सर्वशान्तिविघातक ताण्डवनृत्य आरम्भ करते हुए संहारक रुद्र के ताण्डवनृत्य को भी स्मृतिगर्भ में विलीन कर दिया है। बालक्रीडाप्रसङ्ग जैसे सर्वथा शुद्ध–भावुक–रागद्वेषशून्य–पावन वातावरण से ही यह ताण्डव आरम्भ होगया था उन आततायी कौरवों का। बालक्रीडाप्रसङ्ग पर हमारे ज्येष्ठभ्राता भीम को सरोवर में निष्प्राण बना कर निमज्जित कर देने की कौरवबालकों की अश्रुतपूर्वा अदृष्टपूर्वा धर्म्मगाथा ! की पावनस्मृति ! सम्भवतः आप के स्मृतिपटल से अद्यावधि विलुप्त नहीं हुई होगी !। विश्वमानव की सभ्यता–संस्कृति–आदर्श–धर्म्म–आदि को आमूलचूल विकम्पित कर देने वाली निगमविरुद्ध द्यूतक्रीडा के सुअवसर ! पर घटित विघटित की जाने वाली उन धर्म्मधुरीणों ! की धर्म्मोद्गता !, हाँ, विशुद्धधर्म्मानुगता सर्वथा सत्यनिष्ठ ! शकुनिराजसञ्चालकत्वा द्यूतपद्धति के उद्गमकर इतिहास की पावनस्मृति भी सम्भवत मेरे भगवान् अब तक विस्मृत न कर सके होंगे !। सम्भवतः क्यों, निश्चय ही अपने बंधुबन्धु पाण्डवों की जीवनिवृत्तिमात्र के लिए, इस करुणापूर्णा शुभ वासना को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए ही आयोजित 'लाक्षागृहदाह' की पावनगाथा भी आपने अपने अनन्यभक्त विदुर से सुन ही रक्खी होगी !। परमपरार्द्धमित भी गणनाङ्क निःशेष बन रहे हैं मेरे वासुदेव कृष्ण! उन कौरवबन्धुओं की इस प्रकार की पावन–गाथा परम्परा का यशोगान करने के लिए। यही है उन नैष्ठिक दुर्योधनप्रमुख कौरवों की धर्म्मशीलता–धर्म्मपरायणता का लोकोत्तर इतिहास, जिसे स्मृत्वा स्मृत्वा अवश्य ही भगवान् भी लोकमानववत् 'रोमहर्षश्च जायते' वैखरी अभिव्यक्त किए बिना न रह सकेंगे, नहीं रह सकेंगे।

यह तो हुआ आत्मानुगता धर्म्मगाथा की तत्सम्बन्धिनी पावनगाथा का संक्षिप्त इतिवृत्त। दूसरी बुद्ध्यनुगता पराक्रमविभूति के भी शतशः सहस्रशः सफल उदाहरण उनके सम्बन्ध में उपस्थित किए जा सकते हैं। द्रुपदराज के गोवंश का स्तेयकर्म्म जैसे पावन ! कर्म्म के पराक्रममाध्यम से अपहरण करने के लिए निष्फल प्रयास करने के अतिरिक्त उनके पराक्रम का ज्वलन्त उदाहरण और क्या हो सकता है ! यदि उस समय भावुक धर्म्मराज अनुग्रह न करते, तो विश्वविख्यात बन जाता कौरवों का यह पराक्रम, जिसके बल पर उन्होंने गन्धर्व्वराज चित्ररथ के ऐकान्तिक उपवन–विहार में हस्तक्षेप करने की जघन्य

अभिव्यक्त किया कि,–"यदि ऐसा है, तो सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डव दुःखी क्यों ?, एवं सर्व दोषान्वित भी कौरव सुखी क्यों" इस अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में ही हम तुम से आज कुछ कहना है तुम्हारी मान्यता का समादर करते हुए ही।

हम यह कहना पड़ेगा कि, तुम्हारी इत्थंभूता अभिव्यक्ति नितान्त भावुकतापूर्ण है। कारण स्पष्ट है इस तात्कालिक भावुकता का। अपनी भुक्त–वर्त्तमान संघर्षपरम्परा के निबिड़ निग्रहपाश से विमोहित तुम्हारी सहज धृति आज पलायित हो रही है। अतएव क्षणमात्र भी पूर्वापर के समन्वय–पर्य्यवेक्षणमूला धृति का अनुगमन तुम्हारे लिए अशक्य बन गया है। यदि धृतिलेश के माध्यम से भी तुम अपनी समस्या पर दृष्टिपात कर लेते, तो तुम स्वयं अपनी समस्या का सरल समाधान प्राप्त कर लेते। यदि तुम से ऐसा भी सम्भव न था, तो अपनी आभ्यन्तर धृति से तुम कुछ समय और कालपुरुष की तो प्रतीक्षा करते। कालपुरुष–प्रतीक्षा निकट भविष्य में ही तुम्हारी सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान कर देती। तुम्हें कालान्तर में यह अनुभव हो जाता कि, सत्परिणाम सत् ही होता है, एवं असत् परिणाम असत् ही रहता है। आस्तां तावत्। जो कुछ हो पड़ा, उसकी भावुकतापूर्ण निरर्थक चर्वणा से अपने आपको उत्पीड़ित करते रहना अब निष्प्रयोजन है। अब तो तुमने आवेशपूर्वक परिस्थिति वैसी उत्पन्न कर दी है, सर्वथा लौकिक–भावुकता के आवेश से तुमने जो समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित कर दी है, सर्वथा लौकिक–निष्ठा के आधार पर ही हमें तुम्हारा तात्कालिक समाधान करना ही पड़ेगा।

मानते हैं, सर्वात्मना अनुभव कर रहे हैं कि, पाण्डव सर्वगुणसम्पन्न हैं, एवं कौरव सर्वदोषसम्पन्न। किन्तु इस मान्यता के साथ साथ ही क्या हम तुम्हारी इस मान्यता का इस रूप से विरोध नहीं कर सकते कि, "सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों में एक वैसा महतो महीयान् महादोष आज अन्तर्य्यामसम्बन्ध से उनमें समाविष्ट हो पड़ा है, जिस उस एक ही बलवत्तम महादोष ने सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों को सन्त्रस्त बना डाला है, एवं जिस उस एक ही दोष से उनके सम्पूर्ण गुण भी दोषरूप में परिणत हो गए हैं"। अपने उस अज्ञात महादोष से ही पाण्डवों ने अपनी अथ से इतिपर्य्यन्त दुःख–सन्ताप–शोकानुशोकपरम्परा का जानबूझ कर आमन्त्रण किया है।

ठीक इसके विपरीत, "सर्वदोषसम्पन्न भी कौरवों में एक वैसा महतो महीयान् महागुण अन्तर्य्याम सम्बन्ध से उनका मूलाधार बन गया है, जिस उस एक ही बलवत्तम महागुण ने सर्वदोषसम्पन्न भी कौरवों को वैभवशाली बना दिया है, एवं जिस उस एक ही गुण से उनके सम्पूर्ण दोष भी गुणरूप में परिणत प्रतीत हो रहे हैं"। अपने उस सर्वथा ज्ञात महागुण से ही कौरवों ने अपनी अथ से इतिपर्य्यन्त सुख–समृद्धि–राज्यवैभव परम्परा का सर्वथा अवधानपूर्वक अर्जन कर लिया है।

अर्जुन ! सहज भावुक पार्थ ! अपने भावावेश के कारण तुम सहसा अभी ही हम से प्रश्न कर बैठोगे कि, वह कौन सा वैसा महादोष है, जिसने पाण्डवों के सम्पूर्ण गुणों को दोषरूप में परिणत कर

निद्रा, परलोकनिद्रा, आदि का उपहास-सा ही करते हुए अपने आत्तायस्थापन्न अश्रुपूर्णाकुलेक्षण इस योकसम्मा से प्रश्न कर रहे हैं कि,-'मित्र! सब कुशल तो है?'।

भगवन्! यही है आपकी आत्ममन्धुस्नेहमूला कुशलप्रश्नजिज्ञासा का संचित, किन्तु नितान्त उद्वेगकर समाधान, जिसके गर्भ में आपने इस प्रिय सखा अर्जुन की ओर से परोक्षरूपेण निहित महती समस्या आज एक सर्वसमर्थ समाधानकर्त्ता अतिमानव के सम्मुख उपस्थित हो रही है। इस परोक्षसमस्या समुपस्थिति के साथ साथ ही अर्जुन आज स्वय अपने अन्यतम हितैषी वासुदेव श्रीकृष्ण से धृष्टतापूर्वक यह प्रतिप्रश्न कर रहा है कि, भगवन्! अपने आत्ममन्धु पाण्डवों की तथापरिणीत, एवं लोकसंग्रहदृष्ट्या लोकसंग्राहक भगवान् के द्वारा भी कथाकर्णपरम्परया श्रुत-उपश्रुत वर्त्तमान दीन-हीन-दुःखार्त्त तथा-दुरवस्था से निश्चयेन निरतिशयेन रूपेण अपने अन्तर्जगत् में क्षुब्धवत्-आर्त्तवत् बने रहते हुए मेरे अन्यतम स्नेही वासुदेव!

"आप कुशलक्षेमपूर्वक ना है?"

(१४)-कृष्णार्जुनप्रश्नोत्तरपरम्परा—

अर्जुन की ओर से, महामायात्मक मोहपाशनिबन्धन परिस्थितिलक्षण कालक्षेप से भावुक बने हुए नितान्त क्षुब्ध-आर्त्त-अश्रुपूर्णाकुलेक्षण चलितप्रज्ञ अर्जुन की ओर से समुपस्थित समस्या के आधार पर समाधानदिशा के अमुक रहस्यपूर्ण (निष्ठापूर्ण) दृष्टिकोण को परोक्षरूपेण लक्ष्य बनाते हुए अन्तर्यामी वासुदेव कृष्ण अपने भावुक सखा की तात्कालिक भावुकता का लोकसंग्रहदृष्ट्या समर्थन करते हुए गम्भीर वाणी से उद्बोधन कराते हुए प्रहसन्निव कहने लगे, मित्र अर्जुन! तुमने अपनी समस्या-महती समस्याओं-के सम्बन्ध में अब तक जो कुछ भी उद्गार प्रकट किए, उसका अक्षर अक्षर यथार्थ है, सत्य है। अवश्य ही सहसद्गुणोपेत सूर्यवत् पाण्डव सद्गुणसम्पन्न ही हैं, एवं कौरव सर्वदोषसम्पन्न ही हैं। पाँचों पाण्डवों में से प्रत्येक अपने अपने गुण-योग्यता-शक्ति-शौर्य-पराक्रम-साहस-धृति-धर्मपरायणता-आदि आदि सद्विभूतियों के सम्बन्ध में आज सम्पूर्ण विश्व की मानवता के लिए आदर्श प्रमाणित हो रहे हैं। ठीक इसके विपरीत दुर्योधन की, तथा तत्सहयोगी दुःशासन-शकुनि-आदि असन्निष्ठ मानवों की अवगुण-अयोग्यता-भीरुता-अधर्माचरण-आदिलक्षणा आसुरी माया से आज समस्त विश्व की मानवता विकम्पित है। पाण्डवों तथा कौरवों के सम्बन्ध में समरसात्मना से समुपस्थित किया जाने वाला सम्पूर्ण तथ्य प्रामाणिक है, अतएव सर्वात्मना अनुमोदनीय है। इस सम्बन्ध में तुमने जो कुछ भी कहा, अक्षरशः यथार्थ है, अनवद्य है। इस यथार्थता के साथ साथ ही तुम्हारा यह कथन भी सर्वात्मना सर्वसम्मत, अतएव सर्वथा मान्य ही माना जायगा कि, 'शास्त्रसिद्ध गुणविभूति के अनुगमन से जहाँ मानव प्रतिदिन श्रेयःश्रेयः अभ्युदय-निःश्रेयस्स्वरूप सुख-शान्ति का भोक्ता बना रहता है, वहाँ शास्त्रविरुद्ध दोषपरम्परा के अनुगमन से मानव प्रतिदिन दुःखापभोक्ता ही प्रमाणित होता रहता है"। इसी गुण-दोषात्मक दृष्टिबिन्दु के माध्यम से तुमने आवेशपूर्वक जो यह

अभिव्यक्त किया कि,–"यदि ऐसा है, तो सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डव दुःखी क्यों ?, एवं सर्व दोषान्वित भी कौरव सुखी क्यों" इस अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में ही हम तुम से आज कुछ कहना है तुम्हारी मान्यता का समादर करते हुए ही।

हमें यह कहना पड़ेगा कि, तुम्हारी इत्थंभूता अभिव्यक्ति नितान्त भावुकतापूर्ण है। कारण स्पष्ट है इस तात्कालिक भावुकता का। अपनी मुक्त–वर्त्तमान मेधापरम्परा के निबिड़ निग्रहपाश से विमोहित तुम्हारी सहज धृति आज पलायित हो रही है। अतएव क्षणमात्र भी पूर्वापर के समन्वय–पर्य्यवेक्षणमूला धृति का अनुगमन तुम्हारे लिए अशक्य बन गया है। यदि धृतिलेश के माध्यम से भी तुम अपनी समस्या पर दृष्टिपात कर लेते, तो तुम स्वयं अपनी समस्या का सफल समाधान प्राप्त कर लेते। यदि तुम से ऐसा भी सम्भव न था, तो अपनी आभ्यन्तर धृति से तुम कुछ समय और कालपुरुष की तो प्रतीक्षा करते। कालपुरुष–प्रतीक्षा निकट-भविष्य में ही तुम्हारी सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान कर देती। तुम्हें कालान्तर में यह अनुभव हो जाता कि, सत्परिणाम सत् ही होता है, एवं असत् परिणाम असत् ही रहता है। आस्तां तावत्। जो कुछ हो गया, उसकी भावुकतापूर्ण निरर्थक चर्वणा से अपने आपको उत्पीड़ित करते रहना अब निष्प्रयोजन है। अब तो तुमने आवेशपूर्वक परिस्थिति वैसी उत्पन्न कर दी है, सर्वथा लौकिक–भावुकता के आवेश से तुमने जो समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित कर दी है, सर्वथा लौकिक–निष्ठा के आधार पर ही हमें तुम्हारा तात्कालिक समाधान करना ही पड़ेगा।

मानते हैं, सर्वात्मना अनुभव कर रहे हैं कि, पाण्डव सर्वगुणसम्पन्न हैं, एवं कौरव सर्वदोषसम्पन्न। किन्तु इस मान्यता के साथ साथ ही क्या हम तुम्हारी इस मान्यता का इस रूप से विरोध नहीं कर सकते कि, "सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों में एक वैसा महतो महीयान् महादोष आज अन्तर्य्यामसम्बन्ध से उनमें समाविष्ट हो पड़ा है, जिस उस एक ही बलवत्तम महादोष ने सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों को सन्त्रस्त बना डाला है, एवं जिस उस एक ही दोष से उनके सम्पूर्ण गुण भी दोषरूप में परिणत हो गए हैं"। अपने उस अज्ञात महादोष से ही पाण्डवों ने अपनी अथ से इतपर्य्यन्त दुःख–सन्ताप–शोकानुशोकपरम्परा का जानबूझ कर आमन्त्रण किया है।

ठीक इसके विपरीत, "सर्वदोषसम्पन्न भी कौरवों में एक वैसा महतो महीयान् महागुण अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से उनका मूलाधार बन गया है, जिस उस एक ही बलवत्तम महागुण ने सर्वदोषसम्पन्न भी कौरवों को वैभवशाली बना दिया है, एवं जिस उस एक ही गुण से उनके सम्पूर्ण शेष भी गुणरूप में परिणत प्रतीत हो रहे हैं'। अपने उस सर्वथा ज्ञात महागुण से ही कौरवों ने अपनी अथ से इतिपर्य्यन्त सुख–समृद्धि–राज्यवैभव परम्परा का सर्वथा अवधानपूर्वक अर्जन कर लिया है।

अर्जुन ! सहज भावुक पार्थ ! अपने भावावेश के कारण तुम सहसा अभी ही हम से प्रश्न कर बैठोगे कि, वह कौन सा वैसा महादोष है, जिसने पाण्डवों के सम्पूर्ण गुणों को दोषरूप में परिणत कर

इन्हें 'आद्यन्त का दुःखी' बना डाला ! । एवं यह ऐसा कौनसा महागुण है, जिसने कौरवों के सम्पूर्ण दोषों को गुणरूप में परिणत करते हुए उन्हें 'आद्यन्त का सुखी' बना डाला ? । प्रश्न का समाधान अवश्य ही आरम्भ में तुम्ह भावुक अर्जुन को अमुक अंशों में अस्तव्यस्त-सा, अशान्त-सा, अपथ्य-सा समविषमसमस्या-निराकरण के स्थान में समस्यावृद्धि का ही कारण प्रतीत होगा । किन्तु यह निश्चित है कि, कालान्तर में धृतिपूर्वक पूर्वापरविचार-विवेकविमर्शपूर्वक जब भी प्रस्तुत समाधान के आध्यात्मिक मौलिक रहस्य की ओर तेरा ध्यान आकर्षित होगा, अवश्य ही इस समाधान से आत्मतुष्ट बनता हुआ तू लब्धानन्द हो जायगा ।

नैगमिक ब्राह्मणग्रन्थों में उपवर्णित सुप्रसिद्ध 'भावुकता' ही पाण्डवों का वह सब से बड़ा लौकिक दोष माना जायगा, जिसने पाण्डवों की स्वाभाविक लोकनिष्ठा को आवृत-आच्छादित कर तद्द्वारा पाण्डवों की गुणविभूति को अन्तर्मुख बनाते हुए इन्हें आद्यन्त का दुःखी बना डाला । एवं नैगमिक ग्रन्थों में ही उपवर्णित सुप्रसिद्ध 'निष्ठा' ही कौरवों का वह सब से बड़ा लौकिक गुण माना जायगा, जिसने कौरवों की स्वाभाविक लोकभावुकता को आवृत कर तद्द्वारा कौरवों की दोषपरम्परा को अन्तर्मुख बनाते हुए उन्हें आद्यन्त का सुखी बना दिया । अर्जुन ! होगया न इस समाधान से तेरी समस्या का समाधान ? ।

परिस्थिति की विषमता से आक्रान्तमना क्लान्त-भ्रान्त-विभ्रान्त अर्जुन भगवान् की ओर से समुपस्थित समस्या-समाधान के आध्यात्मिक-तथ्य का तत्काल समन्वय करने में असमर्थ बनता हुआ अपने आवेश पर नियन्त्रण न कर सका, न कर सका । परिणामस्वरूप अपनी तात्कालिक चलितप्रज्ञा के आवेश से स्वयं ही भावुकता-निष्ठा-द्वन्द्व का लौकिक-बाह्य-आपातरमणीय समन्वय करने की भ्रान्ति से आविष्टमना अर्जुन सहसा इन उद्गारों का अनुगमन कर ही तो बैठा कि—

भगवन् ! आपकी दृष्टि में सम्भवतः 'भावुकता' का यही तात्पर्य होगा कि, "**भावुकता एक वैसा दोष है, जो मानव को दृढनिश्चयी, दृढप्रतिज्ञ, कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं बनने देता**' । दूसरे शब्दों में भावुक मानव स्वदृढनिश्चय को, स्वप्रतिज्ञा को, अपने कर्त्तव्यकर्म को कार्यरूप में परिणत करने में क्योंकि असमर्थ-असफल रहता है, अतएव ऐसा भावुक मानव लोकवैभव-लोकसमृद्धि से वञ्चित बना रह जाता है । उधर आपकी दृष्टि में 'निष्ठा' का तात्पर्य भी इसके अतिरिक्त और क्या होगा कि, "**निष्ठा एक वैसा गुण है, जो मानव को कर्त्तव्यनिष्ठ-कर्त्तव्यपरायण बनाए रहता है**" । दूसरे शब्दों में नैष्ठिक मानव अपने दृढ निश्चय को, अनन्य लक्ष्य को क्योंकि कालप्रतीक्षा किए बिना अविलम्ब सोत्साह कार्यरूप में परिणत कर लेता है, अतएव यह लोकवैभव-समृद्धि से समन्वित बन जाता है । निष्कर्ष यदि आपकी दृष्टि में निष्ठा-भावुकता-शब्दों की यही परिभाषा है कि—

"दृढ निश्चयात्मक प्रतिज्ञापालन का प्रतिबन्धक-निरोधक दोष ही भावुकता है, एवं दृढ-निश्चयात्मक प्रतिज्ञापालन-कर्त्तव्यपालन का समर्थक-उत्तेजक-गुण ही निष्ठा है"

ना भगवन् ! क्षमा करेंगे इस धृष्टता के लिए मुझे आप कि, पाण्डवों पर यह कलङ्क स्वप्न में भी नहीं लगाया जाना चाहिये, नहीं लगाया जा सकता। कौन कहता है कि, पाण्डव पृथक्लक्षणयुक्त भावुकता मार्ग के अनुगामी हैं ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! कौन यह कहने का दुःसाहस कर सकता है कि, पाण्डव दृढनिश्चयी नहीं हैं, किंवा कर्त्तव्यपालक नहीं हैं ?। यह आरोप, यह दोषारोपण, भगवन् क्षमा करना, आपकी ओर से हो रहा है। यदि दृढप्रतिज्ञ दृढनिश्चयी आपके इस स्नेही अर्जुन के सम्मुख पाण्डवों के सम्बन्ध में दूसरा कोई इस प्रकार की आलोचना करने का उपक्रम करता, तो तत्क्षण उसे ।

यह कौन नहीं जानता कि, धर्मराज युधिष्ठिर ने धर्मसम्मता इस प्रतिज्ञापालन, इस कर्त्तव्यनिष्ठा की अनुगति-पूर्त्ति के लिए ही हास-परिहासपूर्वक वनयातनापरम्परा का सहन कर लिया। अतिशय विनम्र शब्दों में-क्योंकि प्रसङ्ग उपस्थित हो ही गया है, तो इस अनुचरता को भी सम्भवतः इस सम्बन्ध में यह निवेदन कर देने का अवसर दिया जा सकता है कि, एकमात्र दृढनिश्चयलक्षण दृढनिष्ठागुण के संरक्षण के लिए ही, किसी समय में किसी कारणानुबन्ध से परस्पर सन्धापूर्वक की गई प्रतिज्ञा के संरक्षण के लिए ही आततायी तस्कर के द्वारा अपहृत ब्राह्मण के गोधन के प्रसङ्ग में धर्मराज युधिष्ठिर के एकान्तकक्ष में निहित अपने गाण्डीव के आदान माध्यम से इस स्नेही ने उल्लासपूर्वक ही 'वननिवास' अङ्गीकृत कर लिया था। अपने इसी दृढनिश्चय के आधार पर गुरुवर द्रोणाचार्य के प्रतिद्वन्द्वी द्रुपदराज का गर्व खर्व किया गया था। इसी अनन्यनिष्ठा के अनुग्रह से स्वयम्वर में मत्स्यवेध के द्वारा पाञ्चाली का वरण सम्भव बना, शस्त्रास्त्र-परीक्षणप्रसङ्ग में चक्रमीवामात्र लक्ष्य बनी, गुरुद्रोण का मत्स्याक्रमण से त्राण हुआ। अलमतिपल्लवितेन। एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, उदाहरणशतसहस्रपरम्पराओं के द्वारा आपके सम्मुख यह प्रमाणित करने की धृष्टता की जा सकती है कि, पाण्डवों का दृढनिश्चय, प्रतिज्ञापालन, अनन्यकर्त्तव्यनिष्ठानुगति, जिसे आप 'निर्णय' महागुण घोषित कर रहे हैं, यह तो पाण्डवों के लिए सर्वथा सहजभाव है।

ठीक इसके विपरीत जिन दुर्योधनप्रमुख कौरवों को आप जिस निष्ठागुण से सुविभूषित ? घोषित करते हुए हमारे उद्बोधन का अनुग्रह अभिव्यक्त कर रहे हैं, उन दुष्टबुद्धि असन्मानवाधर्मों के सम्बन्ध में शतशः सहस्रशः वैसे उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं, जिनसे यह सर्वात्मना प्रमाणित हो जाता है कि, कौरववर्ग से अधिक लक्ष्यच्युत-प्रतिज्ञाविभञ्जक-असत्यपरायण-स्खलितवचन-धूर्त-वञ्चक-पर प्रतारक मानववर्ग का अन्यत्र मिल सकना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। सुरक्षित-सुसभ्य-धर्मनिष्ठ वृद्ध ऋषि-मुनि-नीतिज्ञ मानवश्रेष्ठसुविभूषित कुरुकुल की राजसभा में आप्यनारी द्रुपदसुता पाञ्चाली के नारीसुलभ लज्जापहरण का निर्लज्ज उद्वेगकर अधन्य प्रयास, सर्वथा छल-कपटपूर्वक द्यूतकर्म में विजयलाभ, गुप्तमन्त्रणा द्वारा लाक्षागृहनिर्माण का निकृष्टतम आयोजन, द्रुपदराज के गोधन जैसे पावनतम धन के अपहरण की कुत्सित मनोवृत्ति, न्यायसिद्ध दायाद का धूर्ततामाध्यम से अपहरण, अपनी अल्पावस्था में ही अपने वशजों को विपरीतानुगत बनाने जैसा महापातक कर्म, अपने प्रज्ञाचक्षु पिता का

पदे पदे तिरस्कार, आदि आदि उदाहरण क्या कौरवों के दृढ़निश्चयात्मक-प्रतिज्ञापालनात्मक-निष्ठारूप गुण क महत्वपूर्ण लाक्षणिकत्व ? निदर्शन हैं ? । पुनः पुनः क्षमा याचना करता हुआ आपका यह भावुक ! अर्जुन इस सम्बन्ध में विवश बन कर यही आत्मनिवेदन करेगा कि, वासुदेव ने कौरवों, तथा पाण्डवों की प्रकरान्त जटिल समस्या का 'भावुकता', तथा 'निष्ठा' नामक दो आकर्षक शब्दमात्रों के तथाकथित सम्भावित तात्पर्यों के आधार पर जो समस्यानिराकरण अर्जुन के सम्मुख रखने का निःसीम अनुग्रह किया, अर्जुन इससे सर्वात्मना तो क्या अंशतः भी सन्तुष्ट ही क्या नहीं है, अपितु विशेषरूप से उद्विग्न है । किसी भी दशा में स्वप्न में भी पाण्डव इस अभियोगपरम्परा के लाञ्छन के लक्ष्य बनने के लिए कदापि सन्नद्ध नहीं है, एवं कौरव त्रिकाल में भी कथमपि इस अभियोग परम्परा से अपना आत्मत्राण नहीं कर सकते ।

अर्जुन की, भावाविष्ट सौम्य अर्जुन की तुष्टिवञ्चिता तथोपवर्णिता रुचि के आवेशपूर्ण भावुक उद्गारों के प्रति प्रहसितमिव वासुदेव श्रीकृष्ण उपलालनभाव के माध्यम से अपने इस सौम्य सखा को सम्बोधित करते हुए कहने लगे कि, अर्जुन ! प्रतीत होता है हमारे समस्या-समाधान से तू क्षुब्ध-रुष्ट बन गया है । ठीक ही है, जानते थे हम इस परिणाम को पहिले से ही । यही तो भावुक मानव की भावुकता का प्रत्यक्ष स्वरूप है, जिसका निमित्त बन रहा है हमारा प्रिय सखा अर्जुन । भावुक मानव अपनी भावुकता पूर्णा मान्यता के विरुद्ध एक अक्षर भी सुनना नहीं चाहता । कठिन है ऐसे उस भावुक का मनोऽनुरञ्जन, जो स्वमान्यता के विरुद्ध कुछ भी सहन न करता हुआ बड़े ही भावावेश के साथ उस समाधान के खण्डन में प्रवृत्त हो जाता है । खण्डन इस भावुक का धर्म्म है भी कहाँ । केवल खण्डनपरायण, निषेधात्मिव भावुक मण्डनात्मिका विधि से तबतक अनुभावित नहीं किया जा सकता, जबतक कि वह स्वयं मण्डनात्मिका विधि का साक्षात्कार न कर ले । तदक्षविपर्य्यस्त तो भावुक मानव सहसा आवेश में आते हुए यों ही क्षणे क्षणे पदे-पदे तुष्ट एवं रुष्ट होते रहते हैं । इसी आधार पर तो हमें यह कहना पड़ रहा है, बार बार कहना पड़ रहा है कि, इस तात्कालिक भावावेशलक्षणा मानसिक भावुकता ने ही सहज निष्ठाबुद्धि को अभिभूत करते हुए सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों को आद्यन्त का दुःखी बना डाला है ।

निष्ठागुण का महतो महीयान् फल है-'प्रत्यक्ष से कभी भी प्रभावित न होना' । नैष्ठिक मानव प्रत्यक्ष से प्रभावित होना जानता ही नहीं । वह एक ओर जहाँ अपनी बड़ी से बड़ी स्तुति का, यशोवर्णन का, गरिमागाथाश्रवण का, कीर्त्तिउपवर्णन का सहजभाव से सर्वात्मना निगरण कर जाता है, वहाँ दूसरी ओर अपनी बड़ी से बड़ी निन्दा-अपयशस्थापन-लघिमागाथाश्रवण-अपकीर्त्तिउपवर्णन को भी उसी सहज भाव से अपने विपुलोदरमहिमागर्भ में निमज्जित कर लेता है । ऐसा यह नैष्ठिक महामानव, महामहिम-महाप्राणयुक्त-महासत्त्व मानव प्रत्यक्ष में घटित विघटित उत्तम-मध्यमाधम किसी भी प्रकार की श्रेष्ठ-कनिष्ठ-ही-स्थिति-परिस्थिति से यत्किञ्चित् भी तो प्रभावित नहीं होता । न इसे अनुकूल स्थिति (अनुकूल परिस्थिति) चलितमना बना सकती, एवं नाहीं इसे प्रतिकूल स्थिति (विपरीत परिस्थिति) स्खलित

कर सकती। अन्यथा सम्पूर्ण उच्चावच स्थिति परिस्थितियों में–'वृक्ष इव स्तब्धस्तिष्ठति' को अन्वर्थ बनाता हुआ 'स यथा यथोपासते, तथैव भवति' इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार यह नैष्ठिक मानव लोकसंग्रहमात्र के लिए अपनी पारिवारिक–सामाजिक–एवं राष्ट्रिय उच्चावच अनुकूल–प्रतिकूल स्थिति परिस्थितियों के अनुरूप ही अपने आप को प्रदर्शित करता हुआ जरीजागर्ति, सदा सर्वदा जागरूक बना रहता है।

कारण स्पष्ट है। निष्ठावान मानव का अनन्य लक्ष्य बना रहता है 'स्व' मात्र। भावुक मानव जहाँ 'पर' भावानुगत बना रहता हुआ परदृष्टा रहता है, वहाँ नैष्ठिक मानव 'स्व' भावानुगत बनता हुआ 'स्वद्रष्टा' है। केवल अपने आपके दर्शन–प्रत्यवेक्षण का ही इसे ध्यान रहता है, जबकि परभावानुगत भावुक मानव सदा परदर्शन–प्रत्यवेक्षण–आलोचना–आदि में ही अहोरात्र चिन्तानिमग्न बना रहता है। भावुक जहाँ अहोरात्र 'पर' तन्त्रचिन्तानिमग्न बना रहता हुआ पर उत्तरदायित्व से लक्ष्यच्युत रहता है, वहाँ नैष्ठिक को सदा अपने उत्तरदायित्वरूप 'स्व' तन्त्रसंरक्षण का ही ध्यान रहता है। वर्त्तमान कालात्मिका 'स्थितिबिन्दु' ही इस नैष्ठिक की 'स्व' भावानुगता मूलप्रतिष्ठा है। स्वभावानुगत–वर्त्तमान कालात्मक इस स्वरूपसंरक्षक स्थितिबिन्दुमात्र के संरक्षण में ही अनन्य-से प्रयत्नशील बने रहने वाले नैष्ठिक मानव को अपनी वर्त्तमानकालानुगता 'स्थिति' (स्वरूपस्थिति) की रक्षा के लिए सतत जागरूक भाव से भूत, एवं भविष्यत्, दोनों पूर्वापर कालस्थितियों को सदा लक्ष्यभूमि बनाए रखना पड़ता है। अतीत, और आगामी (भविष्य) का परिणामवाद ही क्योंकि इसकी वर्तमान स्थिति का स्वरूप संरक्षण करने की क्षमता रखता है, इसी रक्षासाधन के के बल पर इसकी वर्त्तमानस्थितिस्वरूप 'स्व' भाव की रक्षा विकास पुष्टि–अभिवृद्धि अवलम्बित है। यही कारण है कि, त्रिकालनिष्ठ–भूतभवत्भविष्यत्–निष्ठ–वर्त्तमानकालानुगामी यह नैष्ठिक मानव भूत–भविष्यत्कालसम्बन्धिता पूर्वापरपरिस्थितिविगलिता, अतएव उभयाधारशून्या, अतएव च सर्वात्मना अप्रतिष्ठिता केवल वर्त्तमानकालानुगता तात्कालिकभाव-मात्रा प्रत्यक्षस्थिति के आवेशपूर्ण तात्कालिक प्रभाव से सदा अपने आपका संत्राण करता रहता है, सदा बचता रहता है अपने लक्षीभूत कर्मसिद्धि के लिए प्रत्यक्षानुगत वाच्यावाच्यवादपरम्पराओं से। संयुक्त रखता है यह नैष्ठिक अपने आपको अतीत भविष्यदनुगामी परिणामवाद के साथ, परिस्थितिवाद के साथ। परिस्थितिवादानुगामी नैष्ठिक की, ऐसे स्वद्रष्टा एकान्तनैष्ठिक महामानव की सफलता निश्चित है। इसलिए इसकी सफलता निश्चित है कि—,

इस 'स्व' (आत्मवृद्धि) तन्त्रमात्रैकनिष्ठ स्वनिष्ठ मानव के शब्दकोष में 'परार्थ–परमार्थ–परोपकार–परमोपकार' आदि भावुक शब्दों का प्रवेश सर्वात्मना निषिद्ध बन रहा है। कोई महत्त्व नहीं है इसकी दृष्टि में इस आपातरमणीय–प्रत्यक्ष–प्रमादोत्पादक–अतएव नितान्त भावुकतापरिपूर्ण–क्षणप्रियमात्र–मन–शरीरविमोहक–परोपकारादि मोहक शब्दजाल का। हाँ, लोकानुगता भावुकता के स्वरूप–संरक्षण के लिए यह नैष्ठिक एक सफल अभिनेता की भाँति इन मोहक शब्दों का गतानुगतिकन्याय से अभिनय अवश्य

करता रहता है। इसका यह अभिनयकौशल उसी सीमापर्य्यन्त प्रक्रान्त बना रहता है, जिस सीमापर्य्यन्त इस कौशल से परम्परया प्रत्यक्ष, तथा परोक्षरूप से इसका 'स्वार्थसाधन' सम्भव बना रहता है। 'स्वार्थ' की परिपूर्णता के उपरान्त यह स्वार्थप्रतिबन्धक, किंवा स्वार्थविघातक परमार्थादि मोहजाल का अभिनय, अभिनयकौशलानुगता लोकसम्मोहिका मधुरवाणी–वेशभूषा आदि का बहिष्कारपूर्वक परित्याग कर देता है। कहना न होगा कि, भूतभविष्यदननुगामी परिणामवादी, प्रत्यक्ष से प्रभावित होने वाला, परिस्थिति के अनुसार अपने आपको एक कुशल अभिनेता की भाँति लोकरुचिलक्षणा–परिवर्तनशीला–भावुकता के अनुरूप नवीन नवीन भाव–भङ्गियों में परिणत करते रहने की अभिनयकला में कुशल ऐसा मानव, नैष्ठिक मानवश्रेष्ठ सदा लौकिक सुख–समृद्धि का सफल उपभोक्ता बना रहता है।

अर्जुन! अवधानपूर्वक समस्या को लक्ष्य बनाते हुए ही तुम्हें हमारे समाधान–तथ्य को लक्ष्य बनाना चाहिए। तू निःसंशय बुद्धिमान् है, प्रज्ञाशील है, आस्थाश्रद्धापरायण है, निगमागमशास्त्रभक्त है। अतएव स्वयं तुम्हें ही इस समस्या–समाधान के अन्वेषण में प्रवृत्त होना है। हमने तो सूत्ररूप से संकेतमात्र कर दिया है। स्वयं तुम्हें ही अपने आप से ही धैर्यपूर्वक स्थितप्रज्ञ बन कर यह प्रश्न करना चाहिए कि, सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डवों ने क्या तथालक्षणा निष्ठा का अनुगमन किया है?। क्या पाण्डवों ने कभी प्रत्यक्ष से प्रभावित होने से अपने आपको बचाया है?। क्या कभी तुम लोगों ने अतीत एवं भविष्यत् के परिणामों को लक्ष्य बनाते हुए अपने वर्त्तमान को लक्ष्यबिन्दु बनाने का कष्ट उठाया है?। क्या कभी तुमने भावुकता का संवरण करते हुए अपने आपको सुदीर्घकाल–पर्यन्त दृढ़ प्रतिज्ञ रहने में सफलता प्राप्त की है?। क्या पाण्डुनन्दनों ने कभी अपने निश्चित लक्ष्य–साधन के लिए अनन्यनिष्ठापूर्वक आत्मार्पण किया है?। यदि इत्यादि प्रश्नों का समाधान निषेध रूप से ही तुम्हें प्राप्त हो, तो उस अवस्था में तो अवनतशिरस्क बन कर यह स्वीकार कर लेने में सम्भवतः तुम्हें कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि, वास्तव में सर्वगुणसुविभूषित भी पाण्डव भावुकता दोष से नित्य आक्रान्त हैं, अत एव आत्यन्त के दुःखी हैं। एवं सर्वदोष–संयुक्त भी कौरव निष्ठागुण–सुविभूषित हैं, अतएव आत्यन्त के सुखी हैं।

अपनी तात्कालिक भावुकता के आवेश को अभी तक उपशान्त करने में असमर्थ बने रहते हुए भावाविष्ट भावुक अर्जुन भगवान् के द्वारा परोक्ष–प्रत्यक्षरूप से समुपस्थित तथोक्त समाधान से सन्तुष्ट हो ही कैसे सकते थे। परिणामस्वरूप भगवद्द्वारा उपस्थित समाधान से सुशान्त–सन्तुष्ट होने के स्थान में अत्यधिक उग्र–आविष्ट बन गए भावुक अर्जुन महाभाग और इसी उद्वेगकर असम्भावित आवेश को अभिव्यक्त करते हुए यह प्रतिप्रश्न कर ही तो बैठे आविष्ट प्रतिक्रियावादी अर्जुन कि, भगवन्! मैंने अत्यन्त ही धैर्य्य से स्थिरप्रज्ञा के माध्यम से आपके कथनानुसार सभी प्रश्न अपने अन्तर्जगत् में मीमांस्य बना डाले। किन्तु मुझे तो इस प्रश्नपरम्परा में यत्किञ्चित् भी तो तथ्य प्रतीत नहीं हुआ। आप पूज्य हैं, आराध्य हैं, पाण्डवों के अन्यतम हितैषी हैं, एवं हम स्नेही के प्रति अनन्य करुणादृष्टि रखने वाले

अर्जुन के हैं उपास्य देव। इस नैसर्गिक मान्यता श्रद्धा के आकर्षण से नतमस्तक होकर आपके सुझाव को, पाण्डवों के प्रति आपकी ओर से उपस्थित अभियोगपरम्परा को स्वीकार कर लेता है यह अर्जुन। किन्तु भगवन् ।

सावधान अर्जुन ! अब सीमा का अतिक्रमण हो रहा है। हमारी ऐसी धारणा थी कि, अभी सद्भाग्य से पाण्डवों में इतनी प्रज्ञा शेष है, जिसके आधार पर वे अपने हिताहित का धैर्यपूर्वक पूर्वापर विमर्श करने की क्षमता सम्भवतः रख रहे हैं। किन्तु आज हमने यह देख लिया, सर्वात्मना अनुभव कर लिया कि, दुःखपरम्परा के आघात-प्रत्याघातों ने पाण्डवों के स्थिरप्रज्ञाबल को, स्थितप्रज्ञता को, सद् सद्विवेकशालिनी विवेकबुद्धि को सर्वथा अभिभूत बना दिया है। पूर्वापरविवेकसंस्कारशून्य-पशुसमानधर्म्मा यथाजात विमूढ इन्द्रियपरायण लोकमानव जिस प्रकार अपने बाह्य भौतिक विषयसंस्कारासक्तिलिप्त-क्लिन्नक्लिन्न-इन्द्रिय मन के भावुकतापूर्ण प्रत्यक्षभाव के परितोष के लिए सर्वथा स्थूल-स्थूलतर-सुस्थूलतम बाह्य-भौतिक-प्रत्यक्षात्मक उदाहरणों के बिना सन्तुष्ट नहीं हो सकता, बुद्धिगम्या प्रज्ञासमन्विता परोक्ष विषयपरीक्षणप्रणाली जिस प्रकार इस लौकिक मानव का समाधान करने में तटस्थ बनी रहती है, दुर्दैववश आज वैसी ही दशा, किंवा दुर्दशा तुम पाण्डवों के मनोराज्य की हो रही है। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! पाण्डवों को आज एक बुद्धिशून्य यथाजात ग्रामीण विमूढ मानव की भाँति अपनी मन स्तुष्टि के लिए प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्यक्षात्मक भौतिक उदाहरणों की अपेक्षा हो रही है, यह जान कर आज हम स्तब्ध हो गए हैं। क्या पाण्डव यह चाहते हैं कि, हम उनके सम्मुख उन्हें सर्वथा विमूढ मानव मानते हुए लौकिक प्रत्यक्ष उदाहरणों के द्वारा हम उनका अनुरञ्जन करें ! । दुरधिगम्य असम्प्रज्ञात काल-प्रभाव से समुत्पन्न पाण्डुपुत्रों की, विशेषतः भावाविष्ट प्रतिक्रियाशील अर्जुन की इस आत्यन्तिक पतना वस्था को कालपुरुष के उत्तरदायित्व पर ही अर्पित करते हुए उचित था कि, यह अप्रिय प्रसङ्ग यहीं निःशेष कर दिया जाता। किन्तु परिणामानुगता निष्ठा हमें इसके लिए प्रकृत्या विवश बना रही है कि, तुष्यद्दुर्जनन्यायेन एक बार, एवं अन्तिम बार उस प्रत्यक्षानुगता भौतिक-पद्धति के माध्यम से भी पाण्डु पुत्रों की भावुकता का संरक्षण कर लेने का प्रयत्न और कर लिया जाय, जिस प्रत्यक्षपद्धति का सम्बन्ध प्रत्यक्षप्रमाणानुगत यथाजात मानव के ही दृष्टिबिन्दु से माना गया है।

(१५)—पाण्डुपुत्रों की भावुकता का प्रथमोदाहरण—

सुनो अर्जुन ! अवधानपूर्वक सुनो, समझो, और तदनन्तर जिस भी तथ्य का अनुगमन कर सको, करो। पाण्डवों की भावुकता से सम्बन्धित हमें वैसे कतिपय प्रत्यक्ष उदाहरणों की ओर ही तुम्हारा ध्यान आकर्षित कर देना है, जिनके माध्यम से तुम स्वयं अपने अभिनिवेश की सामयिकता की मीमांसा के द्वारा यह अनुभव कर सको कि, वास्तव में पाण्डुपुत्र सर्वथा भावुक हैं, वैसे ऐकान्तिक भावुक हैं, जिनकी भावुकता ने हीं जिन्हें लौकिक-धार्मिक-सामाजिक-पारिवारिक-आदि सभी क्षेत्रों में आत्मविमुग्ध बनाया है। लक्ष्य बनाओ निम्नलिखित प्रथमोदाहरण को—

(१)—"द्यूतकर्म्म के लिए अपने से श्रेष्ठ वयोवृद्ध किसी कुलपुरुष की ओर से आग्रहात्मक-आदेशात्मक-आमन्त्रण-निमन्त्रण प्राप्त होने पर अवश्य ही आदिष्ट आमन्त्रित व्यक्ति को उसमें योगदान करना चाहिए" इस नैतिक लोकधर्म्म ! के संरक्षण के लिए धर्म्मशील युधिष्ठिर महात्मा विदुर के द्वारा प्रेषित कुलवृद्ध पुत्रमोहाविष्ट धृतराष्ट्र के द्यूतकर्मरति-आमन्त्रण के प्रति भावुकतावश आकर्षित होते हुए इस जघन्य कर्म में बन्धुगण सहित समाविष्ट हो ही तो गए*। थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि, शास्त्रविरुद्ध द्यूतकर्म्म की निकृष्ट व्यञ्जना, घातक परिणाम से सुपरिचित + भी रहते हुए युधिष्ठिर धृतराष्ट्रप्रदत्त आदेश की मान्यतामात्र के माध्यम से लोकसंग्रहबुद्ध्या द्यूतकर्म्म में प्रवृत्त होते हुए इस लोकानुगता प्रत्यक्षदृष्टि से अवश्य ही लोकनिष्ठा के समर्थक प्रमाणित हो रहे हैं। किन्तु मत्यधानुगता

---

*'ततो विद्वान् विदुर मन्त्रिमुख्यमुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः।
युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा मद्वाक्येन क्षिप्रमिहानयस्व।
साहश्यतां भ्रातृभिः सार्द्धमेत्य सुहृत-द्यूतं वर्त्ततामत्र चेति ॥"।
एवमुक्त्वा विदुरं धर्म्मराजः प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम्।
प्रायात्-श्वो भूते सगणः सानुयात्रः सहस्त्रीभिर्द्रौपदीमादिकृत्वा ॥
—महाभारत सभापर्व ५७-५८ अ०।

युधिष्ठिर उवाच—
—द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते न को वै द्यूतं रोचते बुध्यमान।
किंवा भवान् मन्यते युक्तरूपं भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म ॥

विदुर उवाच—
जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं कृतस्च यत्नोऽस्य मया निवारणे।
राजा च मां प्राहिणोत् त्वत्सकाशं श्रुत्वा विद्वन् श्रेय इहाचरस्व ॥
(म० भा० स० ५८ अ०)।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः।
—ऋक्संहिता १०।३४।१३।

द्यूतकर्म्म का मूल मानसिक दृष्टिकोण है, "विशेष परिश्रम के बिना ही स्वल्प द्रव्य निक्षेप से बहुलाभ। इसी आकर्षण से तो भावुक मानव द्यूतकर्म में प्रवृत्त होता हुआ अपनी सर्वश्रेष्ठ 'मानव' उपाधि को 'कितव' (जुआरी-जुआखोर) जैसी अधम्म निकृष्टतम उपाधि से आवृत कर लेता है। ऐसे कितव का उद्बोधन कराती हुई ही श्रुति कह रही है कि, हे कितव! तुम अक्षों (पाँसों) से द्यूत-

लोकनीति (किन्तु धर्म्मशून्या अनीति ही) से भावुकतापूर्ण प्रत्यक्ष वातावरण से प्रभावित होने वाले युधिष्ठिर यह विस्मृत कर बैठते हैं कि, भारतीय नीति के साथ (राजनीति, एवं समाजनीति के साथ) ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध से आबद्ध धर्म्मनीति का यह प्रबलतम आग्रह है कि, अभ्युदय निःश्रेयसकामुक शास्त्रनिष्ठ मानव को, धार्मिक मानव को उसी लोकनीति का लोकसंग्रहदृष्ट्या समर्थन करना चाहिए, जो लोकनीति धर्म्मनीति को ही अपना मूलाधार बनाए रहती हो। यदि कहीं दोनों नीतियों में संघर्ष, किंवा प्रतिद्वन्द्विता का अवसर आ जाय, तो उस स्थिति में धर्म्मनीति का समादर करते हुए धर्म्मविरोधिनी-धर्म्म निरपेक्षा लोकनीति की सर्वथा उपेक्षा ही कर देनी चाहिए। लोकनीति से सम्बद्ध द्यूतकर्म्म प्रत्यक्ष में जब आम्नायविरुद्ध है, लोकशिष्टमान्यता से भी विरुद्ध है, 'अक्षैर्मा दीव्येत्' रूप से जब विस्पष्ट शब्दों में द्यूतकर्म्म निषिद्ध घोषित हुआ है, तो ऐसी स्थिति में द्यूतकर्म्मामन्त्रण-निमन्त्रणा, अतएव शास्त्रविरुद्धा ऐसी लोकनीति का लोकसंग्रहात्मिका लोकनिष्ठा का समर्थन करना क्या युधिष्ठिर जैसे धर्म्मनिष्ठ के लिए उचित था ?। युधिष्ठिर की इस धर्म्मविरुद्धा द्यूतकर्म्मनिष्ठा-उपनाम नितान्त भावुकता से जो अनर्थ परम्परा समुद्भूत हो पड़ी, उसका समर्थन हमारे दृढ़प्रतिज्ञ-दृढ़निष्ठ अर्जुन किस आधार पर कर सकेंगे ?।

नीति और धर्म्म, दोनों का निर्विरोध समसमन्वय ही यहाँ का लोकोत्तर वैशिष्ट्य रहा है। सीमातिक्रान्ता नीति दण्डित हुई है यहाँ धर्म के द्वारा, एवं उन्मार्गाद धर्म्म का नियमन हुआ है यहाँ नीति के द्वारा। नीति का जहाँ केवल मन शरीरानुगत लौकिक विश्वानुबन्धी आधिभौतिक अभ्युदय से सम्बन्ध है, वहाँ धर्म्म का आत्मबुद्धिसमन्वित अलौकिक विश्वेश्वरानुबन्धी आध्यात्मिक निःश्रेयस् से सम्बन्ध है। नीतिधर्म्मसमन्विता उभयरूपा नीति ही, किंवा धर्म्म ही अभ्युदयनिःश्रेयस्, दोनों का संसाधक बनता है। संघर्षावस्था में लोकमूला नीति इसलिए उपेक्षणीय बन जाती है कि, परलोकमूलक निःश्रेयस्साधक धर्म्म

कर्म्म मत करो, अपितु अपनी इस द्यूतवासना-एक लगाना, और सौ पानारूपा वासना-को चरितार्थ करने के लिए कृषि कर्म्म का ही अनुगमन करो, जो कि कृषिरूप अक्षविच धातुद्रव्य (सुवर्णरजतादि) की अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है। (अधिक धातुवित्त की लालसा इसीलिए तो है तुम्हारी कि, तुम उस भोग्य सम्पत्ति से समन्वित बन सको, जिसके लोकात्मकरूप अन्न-गोपशु जाया आदि ही माने गए हैं। हम तुम्हें विश्वास दिलाते हैं कि) इस कृषिकर्म्म में गौ-जाया-अन्नादि सम्पूर्ण लोकविभूतियाँ निहित हैं। प्रेरणाप्रदाता सविता ने मुझे यही रहस्य बतलाया है कि, विश्व का सब से बड़ा कितव तो यह सविता है, जो कृषि के द्वारा कृषिकर्म्मात्मक मानव कितव की प्रतिस्पर्धा में सदा हारता ही रहता है। एक लगाओ, और सौ पाओ, एक अन्नबीज भूमि में न्युप्त करो, और बदले में सौ बालियाँ प्राप्त करो। तात्पर्य्य, कृषि-गोरक्षादि द्वारा शरीरयात्रा निर्वाह करना उत्तम, किन्तु अक्षों से द्यूतकर्म्म करना सर्वनाश का कारण।

(१)—"द्यूतकर्म के लिए अपने से श्रेष्ठ वयोवृद्ध किसी कुलपुरुष की ओर से आमहात्मक-आदेशात्मक-आमन्त्रण-निमन्त्रण प्राप्त होने पर अवश्य ही आदिष्ट आमन्त्रित व्यक्ति को उसमें योगदान करना चाहिए" इस नैतिक लोकधर्म ! के संरक्षण के लिए धर्मशील युधिष्ठिर महात्मा विदुर के द्वारा प्रेषित कुलवृद्ध पुत्रमोहाविष्ट धृतराष्ट्र के द्यूतकर्मरति-आमन्त्रण के प्रति भावुकतावश आकर्षित होते हुए इस जघन्य कर्म में बन्धुगण सहित समाविष्ट हो ही तो गए* । थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि, शास्त्रविरुद्ध द्यूतकर्म की निकृष्ट व्यञ्जना, घातक परिणाम से सुपरिचित + भी रहते हुए युधिष्ठिर धृतराष्ट्रप्रदत्त आदेश की मान्यतामात्र के माध्यम से लोकसंग्रहबुद्धया द्यूतकर्म में प्रवृत्त होते हुए इस लोकानुगता प्रत्यक्षदृष्टि से अवश्य ही लोकनिष्ठा के समर्थक प्रमाणित हो रहे हैं। किन्तु प्रत्यक्षानुगता

---

*'ततो विद्वान् विदुर मन्त्रिमुख्यमुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः ।
युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा मद्वाक्येन क्षिप्रमिहानयस्व ।
सादृश्यतां भ्रातृभिः सार्द्धमेत्य सुहृद्-द्यूतं वर्त्ततामत्र चेति ॥"।
एवमुक्त्वा विदुरं धर्म्मराजः प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम् ।
प्रायात्-श्वो भूते सगणः सानुयात्रः सहस्त्रीभिर्द्रौपदीमादिकृत्वा ॥

—महाभारत सभापर्व ५७-५८ अ० ।

युधिष्ठिर उवाच—

—द्यूते क्षत्र कलहो विद्यते नः को वै द्यूतं रोचते बुध्यमानः ।
किंवा भवान् मन्यते युक्तरूपं भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म ॥

विदुर उवाच—

जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं कृतश्च यत्नोऽस्य मया निवारणे ।
राजा च मां प्राहिणोत् त्वत्सकाशं श्रुत्वा विद्वन् श्रेय इहाचरस्व ॥

(म० भा० स० ५८ अ०) ।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ।

—ऋक्संहिता १०।३४।१३।

द्यूतकर्म्म का मूल मानसिक दृष्टिकोण है, "विशेष परिश्रम के बिना ही स्वल्प द्रव्य विनिमय से बहुलाभ" । इसी आकर्षण से तो भावुक मानव द्यूतकर्म्म में प्रवृत्त होता हुआ अपनी सर्वश्रेष्ठ 'मानव' उपाधि को 'कितव' (जुआरी-जुआबाज) जैसी जघन्य निकृष्टतम उपाधि से आवृत कर लेता है। ऐसे कितव का उद्बोधन करती हुई ही श्रुति कह रही है कि, हे कितव ! तुम अक्षों (पाँसों) से द्यूत

एतादृशस्य किं मे ह्यजीवितेन विशांपते !
वर्द्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयं त्वस्थिरवृद्धय ॥
शकुनिरुवाच—यां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे ।
तप्यते, तां हरिष्यामि 'द्यूतेन' जयतांवर ! ॥
दुर्य्योधन उवाच—अयमुत्सहते राजन् श्रियमाहर्तु मक्षवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥
धृतराष्ट्र उवाच—अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र ! सग्रन्थनं कलहस्यातियाति ।
तद्वै प्रवृत्तं तु यथाकथञ्चित् सृजेदसीन्निशितान् सायकांश्च ॥
—महाभारत सभापर्व ४५ अ०

स्वयं युधिष्ठिर ने—'द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते०' इत्यादि रूप से द्यूतको निन्द्य ही अनुभूत किया भी है। यह सब कुछ जानते हुए भी युधिष्ठिर का इस व्यक्तित्वस्वार्थमूलक आमन्त्रण को स्वीकार कर लेना इससे अधिक और कुछ भी महत्त्व नहीं रखता कि, युधिष्ठिर सहज भावुक थे, कोमलप्रज्ञ थे, मन्द-प्रज्ञ थे। अतएव तात्कालिक प्रत्यक्ष वातावरण के प्रभाव से ये अपने आपको बचाने में नितान्त असमर्थ थे। और यही इनका इनकी धर्म्मनिष्ठा के साथ आमूलचूड आबद्ध रहने वाला सर्वस्वघातक भावुकता निबन्धन 'भीरुता' दोष था, जिसके कारण इन्हें यदि 'धर्म्मभीरु' भी कह दिया जाय, तो भी कोई अतिशयोक्ति न होगी। धर्म्मनिष्ठ होना एक पक्ष है, धर्म्मभीरु होना अन्य पक्ष है। दोनों दृष्टिकोणों में अहोरात्र का अन्तर है। धर्म्मनिष्ठा का आधार सर्वत्र 'निष्ठा' है, एवं धर्म्मभीरुता का आधार सर्वत्र भावुकता है। एक ओर धर्म्मनिष्ठा के आधार पर जहाँ युधिष्ठिर द्यूतकार्य की सर्वस्वघातकता का अनुभव करते हुए इसे निन्द्य घोषित कर रहे हैं, वहाँ वे ही युधिष्ठिर धर्म्मभीरुता के अनुग्रह से षड्यन्त्रमूला सर्वथा छलपूर्णा 'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया' के असामयिक नैतिक सिद्धान्त के अनुवर्त्ती बन जाते हैं। यही तो है भावुकतामूला प्रत्यक्षानुगति का, किंवा प्रत्यक्षमूला भावुकतानुगति का ज्वलन्त उदाहरण।

शकुनि और दुर्योधन के सम्मिलित षड्यन्त्र से प्रभावित प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र का एकान्तनिष्ठ अभिमानवश महात्मा विदुर के प्रति (सामन्त्रणमाध्यम के लिए बलवदनुशासन परम्परा युधिष्ठिर का 'अयं ह्यहावरस्व' विदुर के इस परोक्ष निरोध के अनन्तर भी द्यूत के लिए बड़े ही समारम्भ से विनिर्म्मित * सभामण्डप में बन्धुगण सहित प्रवेश, तत्र द्यूतावेशवश सर्वस्व का समर्पण, और अन्ततोगत्वा

* सहस्रस्तम्भां हेमवैदूर्य्यचित्रां शतद्वारां तोरणस्फाटिकाख्याम् ॥
सभामग्र्यां क्रोशमात्रायतामेतद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः ॥
कालेनाल्पेनानन्यनिष्ठां गतां तां सभां रम्यां बहुरत्नां विचित्राम्।
चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेतामाचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः ॥
—म० स० ५७ अ०।

अपने शाश्वतभाव से विशेष महत्त्व रखता है। अवश्य ही पूर्ण स्वस्थता के लिए दोनों पर्वों का (बुद्ध्यनुगत आत्मपर्व, एवं मनोऽनुगत शरीरपर्व, दोनों का) स्वरूपसंरक्षण अपेक्षित है। अतएव नीतियुक्त धर्म्म, किंवा धर्म्मयुक्ता नीति का अनुगमन ही उभयपर्वस्वस्थतासाधक बनता हुआ अनुगमनीय है। किन्तु दोनों में विशेष मूल्य क्योंकि आत्मपर्व का है। अतएव धर्मापरता में नीति उपेक्षणीय-त्याज्या ही घोषित हुई है। इस शास्त्रीय धर्म्मसम्मत दृष्टिकोण से युधिष्ठिर का यह कर्त्तव्य था कि, शिष्टजनानुगता आमन्त्रणात्मिका नीति, एवं भीत आवेशशिथिल धर्म्म, दोनों की उभयापरता में धर्म्मशून्य नीतिपथ की उपेक्षा कर महात्मा विदुर के—'आनाय्यह च् तमनर्थमूलं-श्रेय इहाचरस्व' इस परोक्ष संकेत के अनुसार न्यायसिद्ध धर्मपथ का अनुगमन ही अपने लिए अनिवार्य्य घोषित कर देते। और यों परिणामानुगता इस धर्म्मनिष्ठा—वास्तविक धर्म्मनिष्ठा के अनुग्रह से न तो युधिष्ठिर को लोकनिन्दा का अनुगमन करना पड़ता, एवं न अपने सर्वनाश के आमन्त्रण के लिए ही विवश बनना पड़ता। इसी प्रथमोदाहरण के सम्बन्ध में कुछ और भी सामयिक स्पष्टीकरण। सुन सकोगे तुम इसे!

'अभ्युपगमवाद' के आश्रय से थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि, युधिष्ठिर की मुख्य प्रतिष्ठाभूमि क्योंकि राजधर्म्म था, अतएव तदनुगत नीतिमार्ग की प्रधानता ही इनका सहज लक्ष्य बना रहना चाहिए था। धर्म्म का जहाँ युधिष्ठिर के केवल व्यक्तितन्त्र से सम्बन्ध था, वहाँ नीति का सम्पूर्ण राष्ट्रतन्त्र से सम्बन्ध था। द्यूत—आमन्त्रण की अस्वीकृति से उस युग के राष्ट्र के मुख्य कर्णधार ज्येष्ठ-वृद्धपुरुष धृतराष्ट्र की अप्रसन्नता स्वाभाविक बन जाती। इस अप्रसन्नता के दुष्परिणामस्वरूप अवश्य ही पारिवारिक-कौटुम्बिक-सामाजिक-तन्त्रदोषपरम्परा के द्वारा राष्ट्रतन्त्र-राष्ट्रनीति के निकम्पित हो जाने का भय स्वाभाविक बन जाता। इस भयपरम्परा से समष्टि के अनिष्ट की आशङ्का सहज बन जाती, जो व्यष्टि (वैय्यक्तिक) के अनिष्ट की अपेक्षा उसी प्रकार विशेष महत्त्व रखती है, जैसे कि नीति और धर्म्म, दोनों में धर्म्म विशेष महत्त्व रखने वाला प्रमाणित किया गया है। इसी तारतम्य का विमर्श करते हुए व्यापक हित के माध्यम से यदि युधिष्ठिर द्यूतानुगमन कर लेते हैं, तो यह इनका कौनसा अपराध है?।

अपराध है, और अक्षम्य अपराध है। इसलिए कि विदुरमाध्यम से होने वाले इस द्यूतकर्म्म आमन्त्रण का राष्ट्रनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। एवं भाही राजनीति के मूलप्रवर्त्तक शिष्ट आचार्यों की ओर से कहीं भी इस निन्द्यकर्म्म का किसी भी रूप से समर्थन हुआ है। यह तो असत्यपथ माध्यम द्वारा उपलालित दुष्टबुद्धि दुर्य्योधन के बलप्रवर आग्रह-दुराग्रह से समन्वित पुत्रमोहान्धकाराभिनिविष्ट धृतराष्ट्र की व्यक्तिगता-व्यष्टिरूपा पुत्रैषणा से समन्वित सर्वनाशक आमन्त्रण है, जिसकी सर्वनाशकता विदुर को आमन्त्रण देते हुए स्वयं धृतराष्ट्र ने स्वीकार की है। सुनो! स्वयं दुर्य्योधन एवं धृतराष्ट्र शकुनि के ही प्रश्नोत्तर के द्वारा द्यूतकर्म्म की व्यक्तिगत भावना का स्वरूप-विश्लेषण—

दुर्य्योधन उवाच—नाप्राप्य पाण्डवैश्वर्य्यं संशयो मे भविष्यति।

अवाप्स्ये वा श्रियं तां हि शिष्ये वा निहतो युधि॥

एतादृशस्य किं मे ह्यजीवितेन विशांपते ।
वर्द्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयं त्वस्थिरवृद्धयः ॥
शकुनिरुवाच—यां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे ।
तप्यसे, तां हरिष्यामि 'द्यूतेन' जयतांवर ! ॥
दुर्य्योधन उवाच—अयमुत्सहते राजन् श्रियमाहर्तुमक्षवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥
धृतराष्ट्र उवाच—अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र ! सग्रन्थन कलहस्यातियाति ।
तद्वै प्रवृत्तं तु यथाकथञ्चित् सृजेदसीन्निशितान् सायकांश्च ॥
—महाभारत सभापर्व ४५ अ०

स्वयं युधिष्ठिर ने—'द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते०' इत्यादि रूप से द्यूतको निन्द्य ही अनुभूत किया भी है। यह सब कुछ जानते हुए भी युधिष्ठिर का इस व्यक्तिस्वार्थमूलक आमन्त्रण को स्वीकार कर लेना इससे अधिक और कुछ भी महत्त्व नहीं रखता कि, युधिष्ठिर सहज भावुक थे, कोमलप्रज्ञ थे, मन्द प्रज्ञ थे। अतएव तात्कालिक प्रत्यक्ष वातावरण के प्रभाव से ये अपने आपको बचाने में नितान्त असमर्थ थे। और यही इनका इनकी धर्म्मनिष्ठा के साथ आमूलचूड़ आमद्ध रहने वाला सर्वस्वघातक भावुकता निबन्धन 'भीरुता' दोष था, जिसके कारण इन्हें यदि 'धर्म्मभीरु' भी कह दिया जाय, तो भी कोई अतिशयोक्ति न होगी। धर्म्मनिष्ठ होना एक पक्ष है, धर्म्मभीरु होना अन्य पक्ष है। दोनों दृष्टिकोणों में अहोरात्र का अन्तर है। धर्म्मनिष्ठा का आधार सर्वत्र 'निष्ठा' है, एवं धर्म्मभीरुता का आधार सर्वत्र भावुकता है। एक ओर धर्म्मनिष्ठा के आधार पर जहाँ युधिष्ठिर द्यूतकार्य की सर्वस्वघातकता का अनुभव करते हुए इसे निन्द्य घोषित कर रहे हैं, वहाँ वे ही युधिष्ठिर धर्म्मभीरुता के अनुग्रह से षड्यन्त्रमूला सर्वथा छलपूर्णा 'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया' के असामयिक नैतिक सिद्धान्त के अनुवर्त्ती बन जाते हैं। यही तो है *भावुकतामूला प्रत्यक्षानुगति का, किंवा प्रत्यक्षमूला भावुकतानुगति का ज्वलन्त उदाहरण।*

शकुनि और दुर्योधन के सम्मिलित षड्यन्त्र से प्रभावित प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र का एकान्तनिष्ठ अतिमानव महात्मा विदुर के प्रति ‹आमन्त्रणमाध्यम के लिए बलवदनुशासन परवश युधिष्ठिर का 'अयं ह्यसाधुरस्य' विदुर के इस परोक्ष निरोध के अनन्तर भी द्यूत के लिए बड़े ही समारम्भ से विनिर्म्मित * सभामण्डप में बन्धुगण सहित प्रवेश, तत्र द्यूतावेशवश सर्वस्व का समर्पण, और अन्ततोगत्वा

---

* सहस्रस्तम्भां हेमवैदूर्य्यचित्रां शतद्वारां तोरणस्फाटिकाख्याम् ॥
समामग्र्यां क्रोशमात्रायतामेतद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः ॥
कालेनाल्पेनान्यनिष्ठां गतां तां सभां रम्यां बहुरत्नां विचित्राम् ।
चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेतामाचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः ॥
—म० स० ४७ अ० ।

सर्वथा दोषविरहिता सत्प्रसूता आर्य्यनारी पाञ्चाली तक का इस प्रबन्ध यूतकर्म्म में नितान्त भावुकतापूर्ण उत्सर्ग। कभी इतिहास इस अपराधपरम्परा के लिए भावुक युधिष्ठिर को क्षमाप्रदान नहीं कर सकता, नहीं करना चाहिए। अवश्य ही यावच्चन्द्रदिवाकरौ यह घटना, किंवा निःसीम दुर्घटना मानवता के लिए कलङ्क ही प्रमाणित बनी रहेगी। यह भी स्पष्टतम है कि, इस शक्ति-अवमानरूप महत्पाप से निकट भविष्य में ही भारतवर्ष का समस्त राष्ट्रवैभव युद्धाग्नि की प्रचण्ड ज्वाला में आहुत हो जायगा। फिर भले ही अर्जुन! तुम पाण्डवों की कल्पित दृढनिष्ठा का कल्पित यशोगान ही क्यों न सतत करते रहो। क्यों अर्जुन! पाण्डवों की भावुकता के सम्बन्ध में यह प्रत्यक्ष प्रथमोदाहरण अनुरूप प्रतीत हुआ न तुम्हें!।

—१—

१६–पाण्डुपुत्रों की भावुकता का द्वितीयोदाहरण

(२)—द्वितीय प्रासङ्गिक उदाहरण का उपक्रम हमें इस रूप से करना पड़ेगा कि, मानवता-शान्त मानवता-में विघ्न उपस्थित करने वाला घातक–क्रूरकर्म्मा–दुष्टबुद्धि–परपीडक मानव शास्त्रों में किंवा 'आततायी' माना गया है। ऐसे आततायी के सम्बन्ध में शास्त्रने यह निश्चित निर्णय अभिव्यक्त है कि, "यदि कभी आततायी सम्मुख आ पड़े, तो अणुमात्र भी विचार किए विना अविलम्ब तत्क्षण उसे निःशेष कर देना चाहिए, भले ही वह कोई ही क्यों न हो" + । "तस्य पुराणप्रदो वधा-मन्युस्तं मन्युमृच्छति" इत्यादि के अनुसार जिस एक दुष्ट आततायी के मार देने से अनेक सुजनों का संरक्षण सम्भव बन जाता हो, वैसे दुष्ट को तो इस लिए मार ही डालना चाहिए कि, उसका पाप ही उस की मृत्यु का कारण बनता है। इस प्रकार एवंविध आततायी के लिए 'क्षमाप्रदान' जैसा कोई भी आदेश शास्त्र में हमें अद्यावधि कुत्रापि उपलब्ध नहीं हुआ है। अपितु सर्वत्र इसे निर्म्मूल बना देने वाले विधि–विधान ही उपश्रुत हुए हैं। घटना को घटित हुए शताब्दियाँ सहस्राब्दियाँ व्यतीत नहीं हुई। कल परसों की ही तो घटना है। क्या तुम्हें स्मरण नहीं अर्जुन उस घटना का!।

अपनी द्वादशवार्षिकी वनयात्रा के प्रसङ्ग में द्वैतवन में अपने अस्थायी निवास गृहादि निर्म्मित करते हुए समीपवर्त्तिनी पर्वत–कन्दराओं में निवास करने वाले वेदवेत्ता तपस्वियों की आराधना करते हुए जब तुमलोग किसी समय यहाँ विचरण कर रहे थे। द्वैतवन निवासी एक ब्राह्मण सहसा इन्द्रप्रस्थ पहुँचता है, तुम पाण्डवों की घन्य दुर्दशा से धृतराष्ट्र का उद्बोधन कराने के लिए। भीष्म–द्रोणमभृट

+ गुरुं वा बाल वा वृद्ध वा अपि वेदान्तपारगम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

बने हुए पाण्डवों की असह्य–अश्रुतपूर्व दु खगाथाओं का धृतराष्ट्र के सम्मुख उपवर्णन करने लगता है। तत्प्रेप्सित कर्ण–दुर्योधन को इस प्रसङ्ग से तुम्हारे निवास का पता लग जाता है। अविलम्ब एक नवीन योजना सम्पन्न बन जाती है। ये कौरव इस नीच कार्य के लिए सन्नद्ध हो पड़ते हैं कि, "इस दीन–हीन–असमर्थ दशा से सन्त्रस्त पाण्डवों की आत्ममनोवेदना को सुसमृद्ध करने के लिए अपना सुसमृद्ध ऐश्वर्य्य प्रदर्शित किया जाय, और यदि अवसर मिले तो पाण्डवों को वहीं नामशेषावस्था में भी परिणत कर दिया जाय।" धृतराष्ट्र के सम्मुख 'घोषयात्रा' को निमित्त घोषित करते हुए कौरवगण शस्त्रास्त्र सैन्य से सुसज्जित होकर द्वैतवन पहुँच ही तो जाते हैं। वहीं सहसा कौरवों के दुर्भाग्य से, साथ ही तुम्हारे सौभाग्य से द्वैतवन के सुशान्त एकान्त वातावरण में वनविहार के लिए समागत चित्ररथप्रमुख गन्धर्वपरिवार के साथ कौरवोंका संघर्ष हो पड़ता है। इस संघर्ष में कौरव गन्धर्वों से पराजित हो जाते हैं। महापराक्रमी गन्धर्वराज चित्ररथ के द्वारा कौरवप्रमुख दुर्योधनदु शासनादि बन्दी बना कर पाशबद्ध कर दिए जाते हैं। इस आकस्मिक आपत्ति से सन्त्राण प्राप्त करने में असमर्थ दुष्टबुद्धि दुर्योधन, किन्तु अवसर–वादी नैष्ठिक सुयोधन, आततायी धार्तराष्ट्र तुम्हारे ज्येष्ठभ्राता धर्मराज युधिष्ठिर की शरण में पहुँच जाता है। परिणाम क्या होता है?, यह तुम जानते ही हो।

भावुक युधिष्ठिर के भावनामय अन्त करण में इस आततायी के प्रति असामयिक शास्त्रविरुद्ध बन्धुप्रेम उमड़ पड़ता है। 'हमारे वंशज इस समय कष्ट में हैं' इस तात्कालिक प्रत्यक्ष स्थिति के साथ साथ क्या यह मीमांसा कर लेना सामयिक न था कि, अतीत में इन वंशबन्धुओं ने हमारा कैसा इष्ट साधन किया है?, एवं वर्त्तमान में भी किस महती कृपावृष्टि के लिए ये ससैन्य द्वैतवन में पधारे हैं?, तथा भविष्य में इन असन्नैष्ठिकों के द्वारा पाण्डवों के प्रति कौन सा अनुग्रहस्रोत प्रवाहित होने वाला है?। जबकि अतीत, और वर्त्तमान, दोनों ही काल इन वंशबन्धुओं के सम्बन्ध में कटु अनुभव अभिव्यक्त कर रहे हैं, तो भविष्यत्काल किस परिणाम का सर्जन करेगा?, प्रश्न भी स्वतः ही समाहित हो जाता है। *फिर यह कैसी बन्धुप्रेमाभिव्यक्ति?, आततायी का यह कैसा व्यामोहक आपातरमणीय संरक्षण?।* अब निकट भविष्य में ही कुफल भोग करना तुम लोग इस बन्धु प्रेम का। क्या यही है तुम्हारी निष्ठा का उदाहरण? स्मरण है तुम्हें अर्जुन! उस अवस्था में नैष्ठिक पराक्रमी भीम ने क्या उद्गार प्रकट किये थे?, जिन सामयिक उद्बोधन सूत्रों की 'शरणागतविम्ब न्यायधर्म्म' के माध्यम से भावुक युधिष्ठिर ने उपेक्षा कर दी थी। भीमने कहा था—

> अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम् ॥

महता हि प्रयत्नेन सनद्ध गजवाजिभि ।
अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम् ॥

—म० वनपर्व २४२ अ०, १५ श्लो०।

(१७)–पाण्डुपुत्रों की भावुकता का तृतीयोदाहरण—

स्थालीपुलाकन्यायेन पर्य्याप्त हैं दो ही उदाहरण पाण्डवों की भावुकता के उद्बोधन के लिए,

सर्वथा दोषविरहिता यज्ञप्रसूता आम्यनारी पाञ्चाली तक का इस प्रपन्य चूतकर्म्म में नितान्त भावुकतापूर्ण उत्सर्ग। कभी इतिहास इस अपराधपरम्परा के लिए भावुक युधिष्ठिर को क्षमाप्रदान नहीं कर सकता, नहीं करना चाहिए। अवश्य ही यावच्चन्द्रदिवाकरौ यह घटना, किंवा निःसीम दुर्घटना मानवता के लिए कलङ्क ही प्रमाणित बनी रहेगी। यह भी स्पष्टतम है कि, इस शक्ति-अपमानरूप महत्पाप से निकट भविष्य में ही भारतवर्ष का समस्त राष्ट्रवैभव युद्धाग्नि की प्रचण्ड ज्वाला में आहुत हो जायगा। फिर भले ही अर्जुन! तुम पाण्डवों की कल्पित दृढ़निष्ठा का कल्पित यशोगान ही क्यों न सतत करते रहो। क्यों अर्जुन! पाण्डवों की भावुकता के सम्बन्ध में यह प्रत्यक्ष प्रथमोदाहरण अनुरूप प्रतीत हुआ न तुम्हें!।

—१—

१६–पाण्डुपुत्रों की भावुकता का द्वितीयोदाहरण

(२)—द्वितीय प्रासङ्गिक उदाहरण का उपक्रम हमें इस रूप से करना पड़ेगा कि, मानवता-शान्त मानवता–में विघ्न उपस्थित करने वाला घातक–क्रूरकर्म्मा–दुष्टबुद्धि–परपीडक मानव शास्त्रों में किंवा 'आततायी' माना गया है। ऐसे आततायी के सम्बन्ध में शास्त्रने यह निश्चित निर्णय अभिव्यक्त है कि, "यदि कभी आततायी सम्मुख आ पड़े, तो अणुमात्र भी विचार किए बिना अविलम्ब तत्क्षण उसे निःशेष कर देना चाहिए, भले ही वह कोई ही क्यों न हो" +। "तस्य पुण्यमसौ यथा-मन्युस्त मन्युमृच्छति" इत्यादि के अनुसार जिस एक दुष्ट आततायी के मार देने से अनेक सुजनों का संरक्षण सम्भव बन जाता हो, वैसे दुष्ट को तो इस लिए मार ही डालना चाहिए कि, उसका पाप ही उस की मृत्यु का कारण बनता है। इस प्रकार एवंविध आततायी के लिए 'क्षमाप्रदान' जैसा कोई भी आदेश शास्त्र में हमें अद्यावधि कुत्रापि उपलब्ध नहीं हुआ है। अपितु सर्वथ इसे निर्म्मूल बना देने वाले विधि-विधान ही उपश्रुत हुए हैं। घटना को घटित हुए शताब्दियाँ सहस्राब्दियाँ व्यतीत नहीं हुईं। कल परसों की ही तो घटना है। क्या तुम्हें स्मरण नहीं अर्जुन उस घटना का!।

अपनी द्वादशवार्षिकी वनयात्रा के प्रसङ्ग में द्वैतवन में अपने अस्थायी निवास गृहादि निर्म्मित करते हुए समीपवर्त्तिनी पर्वत–कन्दराओं में निवास करने वाले वेदवेत्ता तपस्वियों की आराधना करते हुए जब तुमलोग किसी समय वहाँ विचरण कर रहे थे। द्वैतवन निवासी एक ब्राह्मण सहसा इन्द्रप्रस्थ पहुँचता है, तुम पाण्डवों की वन्य दुर्दशा से धृतराष्ट्र का उद्बोधन कराने के लिए। भीष्म-राज्यभ्रष्ट

+ — गुरुं वा बालं वा वृद्धं वा अपि वेदान्तपारगम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

एवं परोक्ष में अनेक बार अपने गाण्डीव की अमोघता की उदात्त घोषणाएँ की थीं। आविष्टमना धैर्यच्युत युधिष्ठिर को इस समय सम्भवतः यह स्मरण न रहा कि, अर्जुन ने यह भीष्म प्रतिज्ञा भी सुरक्षित बना रक्खी है कि,—"यदि कभी भी कोई भी भ्रान्ति से भी मुझे मेरे प्रिय गाण्डीव धनुष को उतार फेंकने का सङ्केतमात्र भी कर बैठेगा, तो तत्काल उस का शिरश्छेद कर दिया जायगा"।

दुर्भाग्यवश आज महाभारतसमराङ्गण में एक वैसा ही विषम प्रसङ्ग उपस्थित हो पड़ा। एक ओर नितान्त भावुक धर्म्मभीरु युधिष्ठिर, तो दूसरी ओर आत्यन्तिक भावुक कर्म्मभीरु अर्जुन। एक भावुक ने भावुकता के आवेश में आ कर दूसरे सहज भावुक की अमर्यादित निर्मम आलोचना आरम्भ कर ही तो डाली, जिस आलोचना का विराम हुआ इन शब्दों में कि—"अर्जुन! क्या यही है तेरा, और तेरे गाण्डीव धनुष का अप्रतिम पराक्रम!। तुझे आज से अपना यह गाण्डीव धनुष उतार फेंक देना चाहिए। धिक्कार है तेरे गाण्डीव को, धिक्कार है तेरे बाहुपराक्रम को, धिक्कार है तेरे असंख्य अमोघ बाणों को, धिक्कार है तेरी ध्वजा को, धिक्कार है अग्निप्रदत्त सबल रथ को"।

युधिष्ठिर की तथोक्त आक्रोशपरिपूर्णा वाग्वाक्प्रहारपरम्परा से सर्वात्मना आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य समुत्तेजित, सन्तप्त, संक्षुब्ध भावुक अर्जुन की अमुक कालनिबन्धना भावुकतापूर्णा तथाकथिता प्रतिज्ञा सहसा अग्निसोमसंयोगवत्, किंवा घृताग्निसमन्वयवत् ज्वालावत् प्रस्फुटित हो ही तो पड़ी। तत्काल "असिं जग्राह संक्रुद्धो जिघांसुर्भरतर्षभम्-" रूप से हाथ में तलवार उठा ली गई भरतकुलश्रेष्ठ स्व-ज्येष्ठभ्रातृ धर्म्मनिष्ठ युधिष्ठिर के आमूलचूड़ अनिष्ट के लिए मायाविष्ट क्रोधाविष्ट अर्जुन के द्वारा। सर्वत्र हाहाकारनिनाद तुमुलित हो पड़ा। महद्भाग्य था यह चान्द्रलोकस्थ पाण्डुराष्ट्र का कि, इस सर्वविनाशात्मक भीषण वातावरण के समय भगवान् यदुनन्दन वहीं समुपस्थित थे। नहीं, तो कौन जाने क्या महान् अनर्थ घटित हो जाता। चित्तज्ञ (मनोविज्ञानवेत्ता) श्रीकृष्ण ने अविलम्ब इस सम्पूर्ण स्थिति—भयानक परिस्थिति-के भावी भयावह दुष्परिणाम को लक्ष्य बना डाला। एवं अपनी सहजनिष्ठा के माध्यम से, निष्ठानुगता सहज मन्दस्मितसमन्विता गम्भीरवाणी से सर्वप्रथम भावुक अर्जुन का उद्बोधन उपक्रान्त कर दिया। वासुदेव कृष्ण उद्बोधन कराने में प्राणपण से संलग्न थे, और उधर अर्जुन घूर्णित—आरक्त भैरव नेत्रों से युधिष्ठिर का मानो अपनी क्रोधाविष्टदृष्टि से सशरीर निगरण कर जाने के लिए ही सन्नद्ध बन रहे थे। बड़ा ही रोचक प्रसङ्ग है इस विषमावस्था में भी, जिस के द्वारा पाण्डवों की मनःशरीरानुगता भावुकतामूला कर्म्मभीरुता, एवं आत्मबुद्ध्यनुगता निष्ठामूला धर्म्मभीरुता का स्वयं भगवान् कृष्ण के पावन मुखपद्म से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अतएव तत्प्रसङ्ग के कुछ एक अंश मूलरूप से यहाँ भी उद्धृत करने का लोभसंवरण करने में हम अपनी सहज भावुकता के आकर्षण से असमर्थ बनते जा रहे हैं—श्रूयताम्!

संजय उवाच—

श्रुत्वा कर्णं कल्पमुदारवीर्य्यं क्रुद्धः पार्थः फाल्गुनस्यामितौजाः ॥
धनञ्जयं वाक्यमुवाच चेदं युधिष्ठिरः कर्णशराभितप्तः ॥ १ ॥

यदि इन से पाण्डवों का उद्बोधन सम्भव बन सके, तो । किन्तु । 'किन्तु' इसलिए कि, पाण्डवों की भावुकता का उद्बोधन न हो सका, न हो सका। युधिष्ठिरादि अन्य पाण्डुपुत्रों की कथा तो छोड़िये। सम्भव है उनका उद्बोधन किसी ने कराया ही न हो। अतएव वे अपनी भावुकता को ही निष्ठा मानने की भ्रान्ति करते हुए सदा अनर्थ-परम्परा का ही सर्जन करते रहे हों। किन्तु भगवान् के सम्मुख बड़े आवेश के साथ महता समारम्भेण अपनी निष्ठा का यशोगान करने वाले प्रज्ञावादी उस भावुक अर्जुन का तो सदा के लिए उद्बोधन हो जाना चाहिए था, जिसे युद्धारम्भ में भगवान् ने सर्वांग-विधारहस्यविश्लेषणपूर्वक गीता के रूप में 'बुद्धियोगनिष्ठा' का अनुगामी बना दिया था, एवं तत्फल स्वरूप उपदेशान्त में–'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत !' रूप से अर्जुन ने स्वयं अपने मुख से अपनी उद्बोधननिष्ठा को अभिव्यक्त कर दिया था। किन्तु

अर्जुन की इस निष्ठा के वास्तविक तथ्य से सभी महाभारतेतिहासप्रेमी सुपरिचित हैं। तभी तो हमने इस भावुकतानिबन्ध का माध्यम पाँचों पाण्डवों में से भावुकमूर्धन्य–भावुकशिरोमणि अर्जुन को ही माना है। गीतोपदेशश्रवणानन्तर 'करिष्ये वचनं तव' इस दृढ़ निष्ठा प्रतिज्ञा पर आरूढ़ अर्जुन युद्ध में प्रवृत्त होते हैं। एवं आगे चल कर पुनः अर्जुन अपनी उसी सहज भावुकता के आवेश से आविष्ट बन जाते हैं, जिस इस अर्जुन की सनातन भावुकता के असंख्य उदाहरणों में से केवल एक रोचक निदर्शन इस भावुक-निबन्धा की ओर से पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

युधिष्ठिर की द्यूतकर्मनिबन्धना महती भावुकता के अनुग्रह से कौरवपाण्डवों में युद्ध प्रक्रान्त हो गया है। प्रथम सेनानी भारत के सौभाग्यसूर्य्य अतिमानव भीष्मपितामह अस्त हो गए हैं। तदनन्तर सेनानी बनने वाले गुरुवर द्रोणाचार्य्य भी आज अपने प्रिय शिष्यों से मानों गुरु दक्षिणा के रूप में ही शरविद्ध होते हुए कीनाशनिकेतनातिथि बनते हुए–'समार्थ्यो च समर्थोऽस्मि शापादपि शरादपि' घोषणा को स्मृति-गर्भ में विलीन कर गए हैं। प्रातःस्मरणीय महामानव सूर्य्यपुत्र अङ्गराज कर्ण आज सेनापति-पद को समलंकृत कर रहे हैं। अतुलित पराक्रमशाली कर्ण के सुतीक्ष्ण–अमोघ–अजस्रशरवर्षा से आज पाण्डवसेना 'कृपणशरामितप्रः' रूपेण अग्निज्वालावत् दग्ध होती जा रही है, जली जा रही है। सेना के साथ साथ सभी सेनाप्रमुख रथी–महारथी योद्धा, यहाँ तक कि स्वयं पाण्डव भी इस प्रकान्त कर्ण–शरवर्षा से आज उद्विग्न हैं, सक्षुब्ध हैं, सन्त्रस्त हैं, भविष्य के भयानक परिणाम से शङ्कित हैं, आतङ्कित हैं।

युद्ध के प्रधान उत्तरदायी युधिष्ठिर के सम्मुख जब ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाती है, तो बड़े से बड़े भय से भी अपना धैर्य्य अक्षुण्ण बनाए रखने में सुप्रसिद्ध धर्मराज भी सहसा विकम्पित हो पड़ते हैं। धैर्य्य विगलित हो जाता है, धर्मनिष्ठा अभिभूत बन जाती है। कर्णाक्रमणजनित पराभवाशङ्कातङ्कितमानस युधिष्ठिर सहसा किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाते हैं। एवं विमोहनजनित इस सम्पूर्ण आक्रोश का केन्द्र बन जाता है अमुक अर्जुन का वह 'गाण्डीवधनुष' जिस के अव्यर्थ प्रहार पर युधिष्ठिर को बहुत बड़ा आत्मविश्वास था। गाण्डीव के साथ ही साथ गाण्डीवधन्वा यह अर्जुन भी लक्ष्य बन गए युधिष्ठिर के, जिन्होंने प्रायश

एक परोक्ष में अनेक बार अपने गाण्डीव की अव्यथता की उदात्त घोषणाएँ की थीं। आविष्टमना धैर्य्यच्युत युधिष्ठिर को इस समय सम्भवत यह स्मरण न रहा कि, अर्जुन ने यह भीष्म प्रतिज्ञा भी सुरक्षित बना रक्खी है कि,–"यदि कभी भी कोई भी भ्रान्ति से भी मुझे मेरे प्रिय गाण्डीव धनुष को उतार फैंकने का संकेतमात्र भी कर बैठेगा, तो तत्काल उस का शिरच्छेद कर दिया जायगा"।

दुर्भाग्यवश आज महाभारतसमराङ्गण में एक वैसा ही विषम प्रसङ्ग उपस्थित हो पड़ा। एक ओर नितान्त भावुक धर्म्मभीरु युधिष्ठिर, तो दूसरी ओर आत्यन्तिक भावुक कर्म्मभीरु अर्जुन। एक भावुक ने भावुकता के आवेश में आ कर दूसरे सहज भावुक की अप्रत्याशित निर्मम आलोचना आरम्भ कर ही तो डाली, जिस आलोचना का विराम हुआ इन शब्दों में कि—"अर्जुन! क्या यही है तेरा, और तेरे गाण्डीव धनुष का अप्रतिम पराक्रम!। मुझे आज से अपना यह गाण्डीव धनुष उतार फैंक देना चाहिए। धिक्कार है तेरे गाण्डीव को, धिक्कार ह तेरे बाहुपराक्रम को, धिक्कार है तेरे असंख्य अम्यथ बाणों को, धिक्कार है तेरी रथध्वजा को, धिक्कार है अग्निप्रदत्त सबल रथ को"।

युधिष्ठिर की तथोक्ता आक्रोशपरिपूर्णा परुषवाक्प्रहारपरम्परा से सर्वात्मना आलोमभ्यः आनखाग्रभ्य समुत्तेजित, सन्तप्त, संक्षुब्ध भावुक अर्जुन की अमुक कालनिबन्धना भावुकतापूर्णा तथाकथिता प्रतिज्ञा सहसा अग्निसोमसंयोगवत्, किंवा घृताग्निसमन्वयवत् ज्वालावत् प्रस्फुटित हो ही तो पड़ी। तत्काल "असिं जग्राह संक्रुद्धो जिघांसुर्भरतर्षभम्–" रूप से हाथ में तलवार उठा ली गई भरतकुलश्रेष्ठ स्व ज्येष्ठभ्राता धर्म्मनिष्ठ युधिष्ठिर के आमूलचूड़ अनिष्ट के लिए भावाविष्ट क्रोधाविष्ट अर्जुन के द्वारा। सर्वत्र हाहाकारनिनाद तुमुलित हो पड़ा। महद्भाग्य था यह चान्द्रलोकस्थ पाण्डुराज का कि, इस सर्वविनाशात्मक भीषण वातावरण के समय भगवान् यदुनन्दन वहाँ समुपस्थित थे। नहीं, तो कौन जाने क्या महान् अनर्थ घटित हो जाता। चित्तज्ञ (मनोविज्ञानवेत्ता) श्रीकृष्ण ने अविलम्ब इस सम्पूर्ण स्थिति–भयानक परिस्थिति-के भावी यथावत् दुष्परिणाम को लक्ष्य बना डाला। एवं अपनी सहजनिष्ठा के माध्यम से, निष्ठानुगता सहज मन्दस्मितसमन्विता गम्भीरवाणी से सर्वप्रथम भावुक अर्जुन का उद्बोधन उपक्रान्त कर दिया। वासुदेव कृष्ण उद्बोधन कराने में प्राणपण से सलग्न थे, और उधर अर्जुन घूर्णित–आरक्त भैरव नेत्रों से युधिष्ठिर का मानो अपनी क्रोधाविष्टदृष्टि से सशरीर निगरण कर जाने के लिए ही सन्नद्ध बन रहे थे। बड़ा ही रोचक प्रसङ्ग है इस विषमावस्था में भी, जिस के द्वारा पाण्डवों की मनःशरीरानुगता भावुकतामूला कर्म्मभीरुता, एवं आत्मबुद्ध्यनुगता निष्ठामूला धर्म्मभीरुता का स्वयं भगवान् कृष्ण के पावन मुखपद्म से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अतएव तत्प्रसङ्ग के कुछ एक अंश मूलरूप से यहाँ भी उद्धृत करने का लोभसंवरण करने में हम अपनी सहज भावुकता के आकर्षण से असमर्थ बनते जा रहे हैं—श्रूयताम्!

संजय उवाच—

> श्रुत्वा कर्णं कल्यमुदारवीर्य्यं क्रुद्धः पार्थः फाल्गुनस्यामितौजाः ॥
> धनञ्जयं वाक्यमुवाच चेदं युधिष्ठिरः कर्णशराभितप्तः ॥ १ ॥

यदि इन से पाण्डवों का उद्बोधन सम्भव बन सके, तो'। किन्तु । 'किन्तु' इसलिए कि, पाण्डवों की भावुकता का उद्बोधन न हो सका, न हो सका। युधिष्ठिरादि अन्य पाण्डुपुत्रों की कथा तो छोड़िये। सम्भव है उनका उद्बोधन किसी ने कराया ही न हो। अतएव वे अपनी भावुकता को ही निष्ठा मानने की भ्रान्ति करते हुए सदा अनय-परम्परा का ही सर्जन करते रहे हों। किन्तु भगवान् के सम्मुख बड़े आवेश के साथ महता समारम्भेण अपनी निष्ठा का यशोगान करने वाले प्रभावशाली उस भावुक अर्जुन का तो सदा के लिए उद्बोधन हो जाना चाहिए था, जिसे युद्धारम्भ में भगवान् ने राजर्षि-विद्याराजगुह्यविशेषणपूर्वक गीता के रूप में 'बुद्धियोगनिष्ठा' का अनुगामी बना दिया था, एवं तत्फल स्वरूप उपदेशान्त में—'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत !' रूप से अर्जुन ने स्वयं अपने मुखसे अपनी उद्बोधननिष्ठा की अभिव्यक्ति कर दिया था। किन्तु

अर्जुन की इस निष्ठा के वास्तविक तथ्य से सभी महाभारतेतिहासप्रेमी सुपरिचित हैं। तभी तो हमने इस भावुकतानिबन्ध का माध्यम पाँचों पाण्डवों में से भावुकभूयन्य—भावुकशिरोमणि अर्जुन को ही माना है। गीतोपदेशश्रवणानन्तर 'करिष्ये वचनं तव' इस दृढ़ निष्ठा प्रतिज्ञा पर आरूढ़ अर्जुन युद्ध में प्रवृत्त होते हैं। एवं आगे चल कर पुनः अर्जुन अपनी उसी सहज भावुकता के आवेश से आविष्ट बन जाते हैं, जिस इस अर्जुन की सनातन भावुकता के असंख्य उदाहरणों में से केवल एक रोचक निदर्शन इस भावुकनिबन्धा की ओर से पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

युधिष्ठिर की द्यूतकर्म्मनिबन्धना महती भावुकता के अनुग्रह से कौरवपाण्डवों में युद्ध प्रक्रान्त हो गया है। प्रथम सेनानी भारत के सौभाग्यसूर्य्य अतिमानव भीष्मपितामह अस्त हो गए हैं। तदनन्तर सेनानी बनने वाले गुरुवर द्रोणाचार्य्य भी आज अपने प्रिय शिष्यों से मानों गुरु दक्षिणा के रूप में ही शरविद्ध होते हुए श्रीनाथनिकेतनातिथि बनते हुए—'इमाभ्यां च समर्थोऽस्मि शापादपि शरादपि' घोषणा को स्मृति-गर्भ में विलीन कर गए हैं। प्रातःस्मरणीय महामानव सूर्य्यपुत्र अङ्गराज कर्ण आज सेनापति-पद को समलङ्कृत कर रहे हैं। अतुलित पराक्रमशाली कर्ण के सुतीक्ष्ण—अमोघ—अनलसशरवर्षण से आज पाण्डवसेना *'कक्षशरदग्नितसरः' स्वेव अग्निज्वालावत् दग्ध होती जा रही है, जली जा रही है। सेना के साथ साथ सभी* सेनाप्रमुख रथी—महारथी योद्धा, यहाँ तक कि स्वयं पाण्डव भी इस प्रकान्त कर्ण—शरवर्षण से आज उद्विग्न हैं, संक्षुब्ध हैं, सन्त्रस्त हैं, भविष्य के भयानक परिणाम से सशङ्कित हैं, आतङ्कित हैं।

युद्ध के प्रधान उत्तरदायी युधिष्ठिर के सम्मुख जब ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाती है, तो बड़े से बड़े भय से भी अपना धैर्य्य अक्षुण्ण बनाए रखने में सुप्रसिद्ध धर्म्मराज भी सहसा विकम्पित हो पड़ते हैं। धैर्य्य विगलित हो जाता है, धर्म्मनिष्ठा अभिभूत बन जाती है। कर्णाक्रमणजनित पराभवाशङ्काशङ्कितमानस युधिष्ठिर सहसा किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाते हैं। एवं विमोहनजनित इस सम्पूर्ण आवेश का केन्द्र बन जाता है अनुज अर्जुन का वह 'गाण्डीवधनुष' जिस के अव्यर्थ प्रहार पर युधिष्ठिर को बहुत बड़ा आत्मविश्वास था। गाण्डीव के साथ ही साथ गाण्डीवधन्वा वह अर्जुन भी लक्ष्य बन गए युधिष्ठिर के, जिन्होंने प्रायश

एवं परोक्ष में अनेक बार अपने गाण्डीव की अव्यथता की उदात्त घोषणाएँ की थीं। आविष्टमना धैर्य्यच्युत युधिष्ठिर को इस समय सम्भवत यह स्मरण न रहा कि, अर्जुन ने यह भीष्म प्रतिज्ञा भी सुरक्षित बना रक्खी है कि,–"यदि कभी भी कोई भी भ्रान्ति से भी मुझे मेरे प्रिय गाण्डीव धनुष को उतार फेंकने का सङ्केतमात्र भी कर बैठेगा, तो तत्काल उस का शिरश्छेद कर दिया जायगा"।

दुर्भाग्यवश आज महाभारतसमराङ्गण में एक वैसा ही विषम प्रसङ्ग उपस्थित हो पड़ा। एक ओर नितान्त भावुक धर्म्मभीरु युधिष्ठिर, तो दूसरी ओर आत्यन्तिक भावुक कर्म्मभीरु अर्जुन। एक भावुक ने भावुकता के आवेश में आ कर दूसरे सहज भावुक की अप्रत्याशित निर्मम आलोचना आरम्भ कर ही तो डाली, जिस आलोचना का विराम हुआ इन शब्दों में कि—"अर्जुन! क्या यही है तेरा, और तेरे गाण्डीव धनुष का अप्रतिम पराक्रम!। तुझे आज से अपना यह गाण्डीव धनुष उतार फैंक देना चाहिए। धिक्कार है तेरे गाण्डीव को, धिक्कार है तेरे बाहुपराक्रम को, धिक्कार है तेरे असंख्य अव्यर्थ बाणों को, धिक्कार है तेरी रथध्वजा को, धिक्कार है अग्निप्रदत्त सबल रथ को"।

युधिष्ठिर की तथोक्त आक्षेपपरिपूर्णा परुषवाक्प्रहारपरम्परा से सर्वात्मना आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य समुत्तेजित, सन्तप्त, संक्षुब्ध भावुक अर्जुन की अमुक कालनिबन्धना भावुकतापूर्णा तथाकथिता प्रतिज्ञा सहसा अग्निसोमसंयोगवत्, किंवा घृताग्निसमन्वयवत् ज्वालावत् प्रस्फुटित हो ही तो पड़ी। तत्काल **"असिं जग्राह संक्रुद्धो जिघांसुर्भरतर्षभम्–"** रूप से हाथ में तलवार उठा ली गई भरतकुलश्रेष्ठ स्व ज्येष्ठबन्धु धर्म्मनिष्ठ युधिष्ठिर के आमूलचूड़ अनिष्ट के लिए मायाविष्ट क्रोधाविष्ट अर्जुन के द्वारा। सर्वत्र हाहाकारनिनाद तुमुलित हो पड़ा। महद्भाग्य था यह चान्द्रलोकस्थ पाण्डुराज का कि, इस सर्वविनाशात्मक भीषण वातावरण के समय भगवान् यदुनन्दन यहीं समुपस्थित थे। नहीं, तो कौन जाने क्या महान् अनर्थ घटित हो जाता। चित्तज्ञ (मनोविज्ञानवेत्ता) श्रीकृष्ण ने अविलम्ब इस सम्पूर्ण स्थिति–भयानक परिस्थिति-के भावी भयावह दुष्परिणाम को लक्ष्य बना डाला। एवं अपनी सहजनिष्ठा के माध्यम से, निष्ठानुगता सहज मन्दस्मितसमन्विता गम्भीरवाणी से सर्वप्रथम भावुक अर्जुन का उद्बोधन उपक्रान्त कर दिया। वासुदेव कृष्ण उद्बोधन कराने में प्राणपण से संलग्न थे, और उधर अर्जुन घूर्णित–आरक्त भैरव नेत्रों से युधिष्ठिर का मानो अपनी क्रोधाविष्टदृष्टि से सशरीर निगरण कर जाने के लिए ही सन्नद्ध बन रहे थे। बड़ा ही रोचक प्रसङ्ग है इस विषमावस्था में भी, जिस के द्वारा पाण्डवों की मनःशरीरानुगता भावुकतामूला कर्म्मभीरुता, एवं आत्मबुद्ध्यनुगता निष्ठामूला धर्म्मभीरुता का स्वयं भगवान् कृष्ण के पावन मुखपद्म से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अतएव तत्प्रसङ्ग के कुछ एक अंश मूलरूप से यहाँ भी उद्धृत करने का लोभसंवरण करने में हम अपनी सहज भावुकता के आकर्षण से असमर्थ बनते जा रहे हैं—श्रूयताम्!

संजय उवाच—

> श्रुत्वा कर्णं कल्पमुदारवीर्य्यं क्रुद्धः पार्थः फाल्गुनस्यामितौजा ॥
> धनञ्जयं वाक्यमुवाच चेदं युधिष्ठिरः कर्णशराभितप्तः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—विप्रद्रुता तात ! चमूस्त्वदीया तिरस्कृता चाद्य यथा न साधु ॥
भीतो भीम त्यज्यचापास्तथा त्व यन्नाशक कर्णमथो निहन्तुम् ॥ २ ॥

२—स्नेहस्त्वया पार्थ ! कृत' पृथाया गर्भे समाविश्य यथा न साधु ॥
त्यक्त्वा रणे यदपाया स भीम यन्नाशक सूतपुत्रं निहन्तुम् ॥ ३ ॥

३—यत्तद्वाक्य द्वैतवने त्वयोक्त कर्णं हन्तास्म्येकरथेन सत्यम् ॥
त्यक्त्वा त वै कथमथापयात कर्णाद् भीतो भीमसेन विहाय ॥ ४ ॥

४—इदं यदि द्वैतवनेऽप्यवक्षः कर्णं योद्धु न प्रशक्ष्ये नृपेति ॥
वय ततः प्राप्तकाल च सर्वे कृत्यान्युपैष्याम तथैव पार्थ ॥ ५ ॥

५—मयि प्रतिश्रुत्य वध हि तस्य न वै कृत तच्च तथैव वीर ॥
आनीय न शत्रुमध्य स कस्मात् समुत्क्षिप्य स्थण्डिले प्रत्यपिष्ठा ॥ ६ ॥

६—अप्याशिष्म वयमर्जुन त्वयि यियासवो बहुकल्याणमिष्टम् ॥
तच्च सर्वं विफल राजपुत्र ! फलार्थिनां विफल इवातिपुष्प ॥ ७ ॥

७—प्रच्छादित बडिशमिनामिषेण सच्छादितं गरलमिवाशनेन ॥
अनर्थक मे दर्शितवानसि त्व राज्यार्थिनो राज्यरूपं विनाशम् ॥ ८ ॥

८—त्रयोदशे माहि समा सदा वय त्वामन्वजीविष्म धनञ्जयाशया ॥
काले वर्षं देवमिवोप्तबीजं तच्च सर्वान्नरके त्व न्यमज्ज ॥ ९ ॥

९—यत्तत् पृथां वागुवाचान्तरिक्षे सप्ताहजाते त्वयि मन्दबुद्धौ ॥
जातः पुत्रो वासवविक्रमोऽय सर्वान् शूरान् शात्रवान् जेष्यतीति ॥१०॥

१०—अयं जेता खाण्डवे देवसघान् सर्वाणि भूतान्यपि चोत्तमौजाः ॥
अय जेता मद्रकलिङ्गकेकयानयं कुरुन्राजमध्ये निहन्ता ॥११॥

११—अस्मात्परो नो भविता धनुर्धरो नैन भूतं किञ्चन जातु जेता ॥
इच्छन्नय सर्वभूतानि कुर्य्याद्वशे वशी सर्वसमाप्तविद्य ॥१२॥

१२—कान्त्या शशाङ्कस्य जवेन वायोः स्थैर्य्येण मेरो क्षमया पृथिव्या ॥
सूर्य्यस्य भासा धनदस्य लक्ष्म्या शौर्य्येण शक्रस्य बलेन विष्णो ॥१३॥

१३ तुल्यो महात्मा तत्र कुन्तिपुत्रो जातोऽदितेर्विष्णुरिवारिहन्ता ॥
स्वेषां जयाय द्विपतां वधाय ख्यातोऽमितौजा कुलतन्तुकर्त्ता ॥१४॥

१४—इत्यन्तरिक्षे शतशृङ्गमूर्ध्नि तपस्विनां शृण्वतां वागुवाच ॥
एवंविध तव नाभूत्तथा च देवापि नूनमनृत वदन्ति ॥१५॥

१५—तथापरेषा मृषिमचमानां श्रुत्वा गिर' पूजयतां सदा त्वाम् ॥
न सनतिं प्रैमि सुयोधनस्य त्वां जानाम्याधिरथेर्मयार्त्तम् ॥१६॥

१६—पूर्वं यदुक्त हि सुयोधनेन न फाल्गुन प्रमुखे स्थास्यतीति ॥
कर्णस्य युद्धे ह महाबलस्य मौर्ख्यात्तु तच्चावबुद्ध मयासीत् ॥१७॥

१७—तेनाद्य तप्स्ये भृशमप्रमेयं यच्छक्रुवर्गे नरक प्रविष्ट ॥
तदैव वाच्योऽस्मि न तु त्वयाऽहं न योत्स्येऽहं सूतपुत्र कथञ्चित् ॥१८॥

१८—ततो नाहं सृञ्जयान् केकयांश्च समानयेय सुहृदो रणाय ॥
एव गते किं मयाऽत्र शक्यं कार्य्यं कर्त्तुं विग्रहे सूतजस्य ॥१९॥

१९—तथैव राज्ञश्च सुयोधनस्य ये वाऽपि मां योद्धकामाः समेता ॥
धिगस्तु मज्जीवितमत्र कृष्ण ! योऽहं वश सूतपुत्रस्य यात' ॥२०॥

२०—मध्ये कुरूणां सुहृदां च मध्ये ये चाप्यन्ये योद्धुकामा समेता ॥
यदि स्म जीवेत् स भवेत्—निहन्ता महारथानां प्रवरो रथोत्तम' ॥
तवाभिमन्युस्तनयोऽद्य पार्थ ! न चास्मि गन्ता समरे पराभवम् ॥२१॥

२१—अथापि जीवेत् समरे घटोत्कचस्तथापि नाहं समरे पराङ्मुखः ॥
मम ह्यभाग्यानि पुरा कृतानि पापानि नूनं बलवन्ति युद्धे ॥२२॥

२२—तृणं च कृत्वा समरे भवन्त ततोऽहमेव निकृतो दुरात्मना ॥
वैकर्तनेनैव तथा कृतोऽहं यथा ह्यशक्त क्रियते स्वबान्धव ॥२३॥

२३—आपद्गत कश्चन यो विमोचेत् स बान्धव स्नेहयुक्त सुहृच्च ॥
एवं पुराणा मुनयो वदन्ति धर्म्मः सदा सद्भिरनुष्ठितश्च ॥२४॥

२४—त्वष्टा कृत वाहमकूजनाक्ष शुभ समास्थाय कपिध्वज तम् ॥
खड्गं गृहीत्वा हेमपट्टानुबद्ध धनुश्चेदं गाण्डिव तालमात्रम् ॥२५॥

२५—स केशवेनोह्यमानः कथ त्वं कर्णाद् भीतो व्यपयातोऽसि पार्थ ॥
धनुस्च तत् केशवाय प्रयच्छ यन्ता भविष्यस्त्वं रथे केशवस्य ॥२६॥

२६—तदा हनिष्यत् केशव कर्णमुग्र मरुत्पतिर्वृत्रमिवात्तवज्रः ॥
राधेयमेतं यदि नाद्य शक्तश्चरन्तमुग्रं प्रतिवाधनाय ॥२७॥

२७—प्रयच्छान्यस्मै गाण्डीवमेतदद्य त्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वानरेन्द्र ॥
अस्मान्नैव पुत्रदारैर्विहीनान् सुखाद् भ्रष्टान् राज्यनाशाच्च भूय ॥२८॥

२८—धिग् गाण्डीव, धिक् च ते बाहुवीर्यं, असंख्येयान् बाणगणांश्च धिक् ते ॥
धिक् ते केतु केसरिणः सुतस्य, कृशानुदत्त च रथञ्च धिक् ते ॥२९॥

—महाभारत कर्णपर्व ६८ अ० ।

संजय उवाच—

युधिष्ठिरेणैवमुक्त कौन्तेय श्वेतवाहनः ॥
असिं जग्राह संक्रुद्धो जिघांसुर्भरतर्षभम् ॥३०॥
तस्य कोप समुद्वीक्ष्य 'चित्तज्ञः' केशवस्तदा ॥
उवाच किमिद पार्थ ! गृहीतः 'खड्ग' इत्यपि ॥३१॥

कृष्ण उवाच—

१—न हि प्रपश्यामि योद्धव्यं त्वया किञ्चिद्धनञ्जय ! ॥
ते ग्रस्ता धार्तराष्ट्रा हि भीमसेनेन धीमता ॥३२॥

२—अपयातोऽसि कौन्तेय ! राजा द्रष्टव्य इत्यपि ॥
स राजा भवता दृष्टः कुशली च युधिष्ठिरः ॥३३॥

३—स दृष्ट्वा नृपशार्दूल शार्दूलसमविक्रमम् ॥
हर्षकाले च सम्प्राप्ते किमिदं 'मोहकारितम्' ॥३४॥

४—न त पश्यामि कौन्तेय ! यस्ते वध्यो भविष्यति ॥
प्रहर्तुमिच्छसे कस्मात् किंवा ते 'चित्तविभ्रमः' ॥३५॥

५—कस्माद् भवान् महाखड्ग परिगृह्णाति 'सत्वरः' ॥
तत्–त्वां पृच्छामि कौन्तेय ! किमिद ते विचेष्टितम् ॥३६॥

६—परामृशसि यत् क्रुद्ध खड्गमद्भुतविक्रम ॥

संजय उवाच—

एवमुक्तस्तु कृष्णेन प्रेक्षमाणो युधिष्ठिरम् ॥३७॥
अर्जुन प्राह गोविन्द क्रुद्ध सर्प इव श्वसन् ॥

अर्जुन उवाच—

१—'अन्यस्मै देहि गाण्डीव'मिति मां योऽभिचोदयेत् ॥३८॥
२—'भिन्द्यामहं तस्य शिर' इत्युपांशु व्रत मम ॥
तदुक्त मम चानेन राज्ञामितपराक्रम ! ॥३९॥
३—समक्ष तव गोविन्द ! न तत् क्षन्तुमिहोत्सहे ॥
तस्मादेन वधिष्यामि राजान 'धर्म्मभीरुकम्' ॥४०॥
४—'प्रतिज्ञां पालयिष्यामि' हत्वैन नरसत्तमम् ॥
एतदर्थं मया खड्गो गृहीतो यदुनन्दन ! ॥४१॥
५—सोऽहं युधिष्ठिर हत्वा सत्यस्यानृण्यता गत ॥
विशोको विज्वरश्चापि भविष्यामि जनार्द्दन ! ॥४२॥
६—किंवा त्वं मन्यसे प्राप्तमस्मिन् काल उपस्थिते ॥
त्वमस्य जगतस्तात ! वेत्थ सर्व गतागतम् ॥४३॥
७—तथा प्रकरिष्यामि यथा मां वक्ष्यते भवान् ॥

संजय उवाच—

"धिग्–धिग्"इत्येव गोविन्द पार्थमुक्त्वाऽब्रवीत् पुन ॥४४॥

कृष्ण उवाच—

१—इदानीं पार्थ जानामि न वृद्धा सेवितास्त्वया ॥
कालेन पुरुषव्याघ्र ! सरम्भ यद्भवानगात् ॥४५॥
२—न हि धर्म्मविभागज्ञ कुर्य्यादेव धनञ्जय ! ॥
यथा त्व पाण्डवाद्येह धर्म्मभीरुरपण्डित ॥४४॥
३—अकार्य्याणां क्रियाणाञ्च संयोग यः करोति वै ॥
कार्य्याणामक्रियाणाञ्च स पार्थ ! पुरुषाधमः ॥४५॥
४—अनुसृत्य तु ये धर्म्मं कथयेयुरुपस्थिता ॥
समासविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम् ॥४६॥

२५—स केशवेनोह्यमानः कथ त्वं कर्णाद् भीतो व्यपयातोऽसि पार्थ ॥
धनुश्च तत् केशवाय प्रयच्छ यन्ता भविष्यस्त्वं रथे केशवस्य ॥२६॥

२६—तदा हनिष्यत् केशवः कर्णमुग्र मरुत्पतिर्वृत्रमिवात्तवज्रः ॥
राधेयमेतं यदि नाद्य शक्तश्चरन्तमुग्रं प्रतिबाधनाय ॥२७॥

२७—प्रयच्छान्यस्मै गाण्डीवमेतदद्य त्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वानरेन्द्र ॥
अस्मान्नैव पुत्रदारैर्विहीनान् सुखाद् भ्रष्टान् राज्यनाशाच्च भूय ॥२८॥

२८—धिग् गाण्डीव, धिक् च ते बाहुवीर्यं, असङ्ख्येयान् बाणगणांश्च धिक् ते ॥
धिक् ते केतु केसरिणः सुतस्य, कृशानुदत्त च रथञ्च धिक् ते ॥२९॥

—महाभारत कर्णपर्व ६८ अ० ।

संजय उवाच—

युधिष्ठिरेणैवमुक्त कौन्तेय श्वेतवाहनः ॥
असिं जग्राह संक्रुद्धो जिघांसुर्भरतर्षभम् ॥३०॥
तस्य कोप समुद्वीक्ष्य 'चित्तज्ञः' केशवस्तदा ॥
उवाच किमिदं पार्थ ! गृहीत' 'खड्ग' इत्यपि ॥३१॥

कृष्ण उवाच—

१—न हि प्रपश्यामि योद्धव्य त्वया किञ्चिद्धनञ्जय ! ॥
ते ग्रस्ता धार्तराष्ट्रा हि भीमसेनेन धीमता ॥३२॥

२—अपयातोऽसि कौन्तेय ! राजा द्रष्टव्य इत्यपि ॥
स राजा भवता दृष्टः कुशली च युधिष्ठिरः ॥३३॥

३—स दृष्ट्वा नृपशार्दूल शार्दूलसमविक्रमम् ॥
हर्षकाले च सम्प्राप्ते किमिद 'मोहकारितम्' ॥३४॥

४—न त पश्यामि कौन्तेय ! यस्ते वध्यो भविष्यति ॥
प्रहर्तुमिच्छसे कस्मात् किंवा ते 'चित्तविभ्रमः' ॥३५॥

५—कस्माद् भवान् महाखड्ग परिगृह्णाति 'सत्वरः' ॥
तत्-त्वां पृच्छामि कौन्तेय ! किमिद ते चिकीर्षितम् ॥३६॥

६—परामृशसि यत् क्रुद्ध खड्गमद्भुतविक्रम ॥

१७—भवेत् सत्यमवक्तव्य वक्तव्यमनृत भवेत् ॥
'यत्रानृत भवेत् सत्यं, सत्य चाप्यनृत भवेत्" ॥५६॥

१८—विवाहकाले, रतिसम्प्रयोगे, प्राणात्यये, सर्वधनापहारे ॥
विप्रस्य चार्थे—ह्यनृत वदेत, पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥६०॥

१६—सर्वस्वस्यापहारे तु वक्तव्यमनृत भवेत् ॥
तत्रानृत भवेत् सत्य सत्य चाप्यनृत भवेत् ॥
तादृश पश्यते बालो यस्य सत्यमनुष्ठितम् ॥६१॥

२०—भवेत् सत्यमवक्तव्य न वक्तव्यमनुष्ठितम् ॥
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्म्मवित् ॥६२॥

२१—"किमाश्चर्य्यं कृतप्रज्ञ पुरुषोऽपि सुदारुण ॥
सुमहत् प्राप्नुयात् पुण्य बलाकोऽन्धवधादिव ॥६३॥

२२—किमाश्चर्य्यं पुनर्म्मूढो धर्म्मकामो ह्यपण्डित· ॥
सुमहत् प्राप्नुयात् पापमापगास्विव कौशिकः ॥६४॥

अर्जुन उवाच—

२३—आचक्ष्व भगवन्नेतद्यथा विन्द्याम्यह तथा ॥
बलाकस्यानुसम्बद्ध नदीनां कौशिकस्य च ॥६५॥

वासुदेव उवाच—

२४—पुरा व्याधोऽभवत् कश्चित्—'बलाको' नाम भारत !"॥
यात्रार्थं पुत्रदारस्य मृगान् हन्ति, न कामतः ॥६६॥

२५—वृद्धौ च मातापितरौ बिभर्त्यन्यांश्च सश्रितान् ॥
स्वधर्म्मनिरतो नित्यं सत्यवागनसूयकः ॥६७॥

२६—स कदाचित्—मृगलिप्सुर्नान्यविन्दत् मृगं क्वचित् ॥
अपः पिबन्तं ददृशे श्वापद घ्राणचक्षुषम् ॥६८॥

२७—अदृष्टपूर्वमपि तत् सत्त्व तेन हत तदा ॥
अन्धे हते ततो व्योम्नः पुष्पवर्षं पपात च ॥६६॥

५—अनिश्चयज्ञो हि नर कार्य्याकार्य्यविनिश्चये ॥
अवशो मुह्यते पार्थ ! यथा त्व 'मूढ' एव तु ॥४७॥
६—न हि कार्य्यमकार्य्यं वा सुख ज्ञातु कथञ्चन ॥
श्रुतेन ज्ञायते सर्व्वं तच्च त्व नावबुद्ध्यसे ॥४८॥
७—अविज्ञानाद् भवान्यच्च धर्म्मं रक्षति धर्म्मवित् ॥
प्राणिनां त्व वधं पार्थ ! धार्म्मिको नावबुद्ध्यसे ॥४९॥
८—प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम ॥
"अनृतां वा वदेद्वाच न तु हिंस्यात् कथञ्चन ॥५०॥
९—स कथं भ्रातर ज्येष्ठ राजान धर्म्मकोविदम् ॥
हन्याद्भवान्नरश्रेष्ठ ! प्राकृतोऽन्यः पुमानिव ॥५१॥
१०—अयुध्यमानस्य वधस्तथाऽशत्रोश्च मानद ! ॥
पराङ्मुखस्य द्रवतः शरणं चापि गच्छतः ॥५२॥
११—कृताञ्जलेः प्रपन्नस्य प्रमत्तस्य तथैव च ॥
न वधः पूज्यते सद्भिस्तच्च सर्वं गुरौ तव ॥५३॥
१२—त्वया चैव व्रत पार्थ ! "बालेनेव" कृत पुरा ॥
तस्माद्धर्म्मसयुक्त "मौर्ख्यात्" कर्म्म व्यवस्यसि ॥५४॥
१३—स गुरु पार्थ ! कस्मात् त्वं हन्तुकामोऽभिधावसि ॥
असम्प्रधार्य्य धर्म्माणां गतिं सूक्ष्मां दुरत्ययाम् ॥५५॥
१४—इद धर्म्मरहस्यञ्च तव वक्ष्यामि पाण्डव ! ॥
यद् ब्रूयात्तव भीष्मो हि पाण्डवो वा युधिष्ठिरः ॥५६॥
१५—विदुरो वा तथा क्षत्ता कुन्ती वापि यशस्विनी ॥
तत्ते वक्ष्यामि तत्त्वेन निबोधैतद्धनञ्जय ! ॥५७॥

कृष्णप्रतिपादिता धर्म्मस्वरूपव्याख्या

१६—सत्यस्य वदिता साधुर्न सत्याद्विद्यते परम् ॥
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम् ॥५८॥

१७—भवेत् सत्यमवक्तव्य वक्तव्यमनृत भवेत् ॥
' यत्रानृत भवेत् सत्य, सत्य चाप्यनृत भवेत्" ॥५६॥

१८—विवाहकाले, रतिसम्प्रयोगे, प्राणात्यये, सर्वधनापहारे ॥
विप्रस्य चार्थे–ऽनृत वदेत, पश्चानृतान्याहुरपातकानि ॥६०॥

१६—सर्वस्वस्यापहारे तु वक्तव्यमनृत भवेत् ॥
तत्रानृत भवेत् सत्य सत्य चाप्यनृत भवेत् ॥
तादृशं पश्यते बालो यस्य सत्यमनुष्ठितम् ॥६१॥

२०—भवेत् सत्यमवक्तव्यं न वक्तव्यमनुष्ठितम् ॥
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्म्मवित् ॥६२॥

२१—"किमाश्चर्य्यं कृतप्रज्ञ पुरुषोऽपि सुदारुणः ॥
सुमहत् प्राप्नुयात् पुण्य बलाकोऽश्ववधादिव ॥६३॥

२२—किमाश्चर्य्यं पुनर्म्मूढो धर्म्मकामो ह्यपण्डितः ॥
सुमहत् प्राप्नुयात् पापमापगास्विव कौशिकः ॥६४॥

अर्जुन उवाच—

२३—आचक्ष्व भगवन्नेतद्यथा विन्दाम्यहं तथा ॥
बलाकस्यानुसम्बद्ध नदीनां कौशिकस्य च ॥६५॥

वासुदेव उवाच—

२४—पुरा व्याधोऽभवत् कश्चित्–'बलाको' नाम भारत !"॥
यात्रार्थं पुत्रदारस्य मृगान् हन्ति, न कामतः ॥६६॥

२५—वृद्धौ च मातापितरौ बिभर्त्यन्यांश्च संश्रितान् ॥
स्वधर्म्मनिरतो नित्य सत्यवागनसूयकः ॥६७॥

२६—स कदाचित्–मृगलिप्सुर्नान्यविन्दत् मृगं क्वचित् ॥
अपः पिबन्त ददृशे श्वापद घ्राणचक्षुषम् ॥६८॥

२७—अदृष्टपूर्वमपि तत् सत्त्व तेन हत तदा ॥
अन्धे हते ततो व्योम्नः पुष्पवर्षं पपात च ॥६९॥

२८—अप्सरोगीतवादित्रैर्नादितं च मनोरमम् ॥
विमानमगमत्–स्वर्गात्–मृगव्याधनिनीषया ॥७०॥

२९—तद्भूत सर्वभूतानामभावाय किलार्जुन ! ॥
तपस्तप्त्वा वरं प्राप्तं कृतमन्धं स्वयंभुवा ॥७१॥

३०—तद्धत्वा सर्वभूतानामभावकृतनिश्चयम् ॥
ततो बलाक. स्वरगादेव धर्म्मः सुदुर्विदः ॥७२॥

३१—कौशिकोऽप्यभवद् विप्रस्तपस्वी नो बहुश्रुतः ॥
नदीनां सङ्गमे ग्रामाददूरात् स किलावसत् ॥७३॥

३२—'सत्यं मया सदा वाच्य' मिति तस्याभवद् व्रतम् ॥
'सत्यवादी'ति विख्यातः स तदासीद्धनञ्जय ! ॥७४॥

३३—अथ दस्युभयात् केचित्तदा तद्वनमाविशन् ॥
तत्रापि दस्यवः क्रुद्धास्तान् मार्गन्त यत्नत ॥७५॥

३४—अथ कौशिकमभ्येत्य प्राहुस्ते सत्यवादिनम् ॥
कतमेन पथा याता भगवन् ! बहवो जनाः ॥७६॥

३५—सत्येन पृष्ट प्रब्रूहि यदि तान् वेत्थ, शंस न ॥
स पृष्ट कौशिकः सत्यं वचन तानुवाच ह ॥७७॥

३६—"बहुवृक्षलतागुल्ममेतद्वनमुपाश्रिता " ॥
इति तान् ख्यापयामास तेभ्यस्तत्त्व स कौशिकः ॥७८॥

३७—"ततस्ते तान् समासाद्य क्रूरा जघ्नु"रिति श्रुति ॥
तेनाधर्म्मेण महता वागुदुरुक्तेन कौशिकः ॥७९॥

३८—गतः स कष्टं नरकं सूक्ष्मधर्म्मेष्वकोविदः ॥
"यथा चान्यश्रुतो मूढो धर्म्माणामविभागवित्" ॥८०॥

३९—वृद्धानपृष्ट्वा सन्देहं महत्–श्वभ्रमिवार्हति ॥
तत्र ते लक्षणोद्देशः कश्चिदेव भविष्यति ॥८१॥

४०—"दुष्कर परमं ज्ञानं तर्केणानुव्यवस्यति ॥
'श्रुतेर्धर्म्म' इति ह्येके वदन्ति बहवो जना ॥८२॥

४१—तत्ते न प्रत्यसूयामि न च सर्व्वं विधीयते ॥
प्रभवार्थाय भूतानां धर्म्मप्रवचनं कृतम् ॥८३॥

४२—"यत् स्यादहिंसासंयुक्तं, स धर्म्म" इति निश्चयः ॥
"अहिंसार्थाय हिंस्राणां धर्म्मप्रवचनं कृतम्" ॥८४॥

४३—"धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजा ॥
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म्म" इति निश्चय ॥८५॥

४४—ये न्यायेन जिहीर्षन्तो धर्म्ममिच्छन्ति कर्हिचित् ॥
अकूजनेन मोक्ष वा नानुकूजेत् कथञ्चन ॥८६॥

४५—"अवश्य कूजितव्ये वा शङ्केरन्नप्यकूजत ॥
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत् सत्यमविचारितम्" ॥८७॥

४६—यः कार्य्येभ्यो व्रतं कृत्वा तस्य नानोपपादयेत् ॥
न तत् फलमवाप्नोति एवमाहुर्म्मनीषिणः ॥८८॥

४७—प्राणात्यये, विवाहे वा, सर्वज्ञातिधनात्यये ॥
नर्म्मण्यभिप्रवृत्ते वा न च प्रोक्तं मृषा भवेत् ॥८९॥

४८—अधर्म्मं नात्र पश्यन्ति धर्म्मतत्त्वार्थदर्शिनः ॥
यस्तेनैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथैरपि ॥९०॥

४९—"श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमविचारितम् ॥
न च तेभ्यो धनं देयं शक्ये सति कथञ्चन ॥९१॥

५०—पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत् ॥
"तस्माद्धर्म्मार्थमनृतमुक्त्वा नानृतभाग्भवेत्" ॥९२॥

५१—एष ते लक्षणोद्देशो मयोद्दिष्टो यथाविधि ॥
"यथाधर्म्मं यथाबुद्धि मयाद्य वै हितार्थिना" ॥९३॥

५२—एतच्छ्रुत्वा ब्रूहि पार्थ ! यदि वध्यो युधिष्ठिरः ? ॥

अर्जुन उवाच—

यथा ब्रूयान् महाप्राज्ञो यथा ब्रूयान् महामतिः ॥९४॥

१—हित चैव यथास्माकं तथैवद्वचन तव ॥
भवान् 'मातृसमो'ऽस्माकं तथा 'पितृसमो'ऽपि च ॥६५॥

२—गतिश्च परमा कृष्ण ! त्वमेव च परायणम् ॥
न हि ते त्रिषु लोकेषु विद्यतेऽविदितं क्वचित् ॥६६॥

३—तस्माद्भवान् परं धर्म्मं वेद सर्व्वं यथायथम् ॥
"भवत्य पाण्डव मन्ये धर्म्मराज युधिष्ठिरम्" ॥६७॥

४—अस्मिंस्तु मम सङ्कल्पे ब्रूहि किञ्चिदनुग्रहम् ॥
इद वा परमत्रैव शृणु इत्स्थ विवक्षितम् ॥६८॥

५—जानासि दाशार्ह ! मम व्रत त्व यो मां ब्रूयात् कश्चन मानुषेषु ॥
"अन्यस्मै त्व गाण्डीव देहि पार्थ" त्वत्तोऽस्त्रैर्वा वीर्य्यतो वा विशिष्टः ॥६९॥

६—हन्यामहं केशव ! तं प्रसह्य भीमो हन्यात्—तूबरकेति चोक्त ॥
तन्मे राजा प्रोक्तवांस्ते समक्ष 'धनुर्देही'त्यसकृद् वृष्णिवीर ! ॥१००॥

७—त हन्यां चेत् केशव ! 'जीवलोके' स्थाता नाह कालमप्यल्पमात्रम् ॥
ध्यात्वा नून मनसा चापि मुक्तो वध राज्ञो भ्रष्टवीर्य्यो विचेताः ॥१०१॥

८—"यथा 'प्रतिज्ञा मम' लोकबुद्धौ भवेत् सत्या" धर्म्मभृतां वरिष्ठ !
यथा जीवेत् पाण्डवोऽह च कृष्ण ! तथा बुद्धिं दातुमप्यर्हसि त्वम् ॥१०२॥

वासुदेव उवाच—

१—राजा श्रान्तो विक्षतो दुःखितश्च कर्णेन सङ्ख्ये निशितैर्बाणसंघैः ॥
यश्चानिश सूतपुत्रेण वीर ! शरैर्भृशं ताडितो युध्यमानः ॥१०३॥

२—अतस्त्वमेतेन सरोषमुक्तो दुःखान्वितेनेदमयुक्तरूपम् ॥
'प्रकोपितो ह्येष यदि स्म सङ्ख्ये कर्णं न हन्यादिति'चाब्रवीत् स ॥१०४॥

३—जानाति त पाण्डव एष चापि पापं लोके कर्णमसह्यमन्यैः ॥
मतस्त्वमुक्तो भृशरोषितेन राज्ञा समक्ष परुषाणि पार्थ ! ॥१०५॥

४—नित्योद्युक्ते सतत चाप्रसह्ये कर्णे द्यूत ह्यपरस्मे निबद्धम् ॥
तस्मिन् हते कुरवो निर्जिताः स्युरेवं बुद्धिः पार्थिवे धर्म्मपुत्रे ॥१०६॥

५—"ततो वध नार्हति धर्म्मपुत्रस्त्वया प्रतिज्ञार्जुन ! पालनीया ॥
जीवन्नय येन मृतो भवेद्धि तन्मे निबोधेह तवानुरूपम्" ॥१०७॥

६—"यदा मान लभते माननार्हस्तदा स वै जीवति जीवलोके ॥
यदावमान लभते महान्त तदा 'जीवन्मृत' इत्युच्यते स" ॥१०८॥

७—सम्मानित पार्थिवोऽय सदैव त्वया च भीमेन तथा यमाभ्याम् ॥
वृद्धैश्च लोके पुरुषैश्च शूरैस्तस्यापमान 'कलया प्रयुङ्क्ष्व' ॥१०९॥

८—'त्व' मित्यत्र 'भवन्त' हि ब्रूहि पार्थ ! युधिष्ठिरम् ॥
"त्व'मित्युक्तो हि निहितो गुरुर्भवति भारत !" ॥११०॥

९—एवमाचर कौन्तेय ! धर्म्मराजे युधिष्ठिर ॥
अधर्म्मयुक्त सयोग कुरुष्वैन कुरूद्वह ! ॥१११॥

१०—अथर्वाङ्गिरसी ह्येषा श्रुतीनामुत्तमा श्रुतिः ॥
अविचार्य्यैव कार्य्यैषा श्रेयस्कामैर्नरै सदा ॥११२॥

११—अवधेन वधः प्रोक्तो यद्गुरु'स्त्व'मिति प्रभु ॥
तद् ब्रूहि त्व यन्मयोक्त धर्म्मराजस्य धर्म्मवित् ॥११३॥

१२ वध ह्येष पाण्डव ! धर्म्मराजस्त्वत्तोऽयुक्त वेत्स्यते चैवमेषः ॥
ततोऽस्य पादावभिवाद्य पश्चात् सम ब्रूयाः सान्त्वयित्वा च पार्थ ! ॥११४॥

१३—भ्राता प्राज्ञस्तव कोप न जातु कुर्य्याद् राजा धर्म्ममवेक्ष्य चापि ॥
मुक्तोऽनृताद् भ्रातृवधाच्च पार्थ ! हृष्टः कर्ण त्व जहि सूतपुत्रम् ॥११५॥

सूत उवाच—

इत्येवमुक्तस्तु जनार्दनेन पार्थ प्रशस्याथ सुहृद्वचस्तत् ॥
ततोऽब्रवीदर्जुनो धर्म्मराजमनुक्तपूर्व परुष प्रसह्य ॥११६॥

अर्जुन उवाच—

१—मा 'त्वं' राजन् ! व्याहर व्याहरस्व यस्तिष्ठति क्रोशमात्रे रणार्द्ध ॥
भीमस्तु मामर्हति गर्हणाय यो युध्यते सर्वलोकप्रवीरैः ॥११७॥

२—काले हि शत्रून् परिपीड्य संख्ये हत्वा च शूरान् पृथिवीपतींस्तान् ॥
रथप्रधानोत्तमनागमुख्यान् सादिप्रवेकाननिर्ताश्च वीरान् ॥११८॥

१—हित चैव यथास्माक तथैवद्वचन तव ॥
भवान् 'मातृसमो'ऽस्माक तथा 'पितृसमो'ऽपि च ॥६५॥

२—गतिश्च परमा कृष्ण ! त्वमेव च परायणम् ॥
न हि ते त्रिषु लोकेषु विद्यतेऽविदित क्वचित् ॥६६॥

३—तस्माद्भवान् पर धर्म्मं वेद सर्व्वं यथायथम् ॥
"अवध्य पाण्डव मन्ये धर्म्मराज युधिष्ठिरम्" ॥६७॥

४—अस्मिस्तु मम सकल्पे ब्रूहि किञ्चिदनुग्रहम् ॥
इद वा परमत्रैव शृणु हृत्स्थ विवक्षितम् ॥६८॥

५—जानासि दाशार्ह ! मम व्रत त्व यो मां ब्रूयात् कश्चन मानुषेषु ॥
"अन्यस्मै त्व गाण्डीव देहि पार्थ" त्वचोऽस्त्रैर्वा वीर्य्यतो वा विशिष्टः ॥६९॥

६—हन्यामहं केशव ! तं प्रसह्य भीमो हन्यात्—तुवरकेति चोक्त ॥
तन्मे राजा प्रोक्तवांस्ते समक्षं 'धनुर्देही'त्यसकृद् वृष्णिवीर ! ॥१००॥

७—त हन्यां चेत् केशव ! 'जीवलोके' स्थाता नाहं कालमप्यल्पमात्रम् ॥
ध्यात्वा नून मनसा चापि मुक्तो वध राज्ञो भ्रष्टवीर्य्यो विचेताः ॥१०१॥

८—"यथा 'प्रतिज्ञा मम' लोकबुद्धौ भवेत् सत्या" धर्म्मभृतां वरिष्ठ !
यथा जीवेत् पाण्डवोऽहं च कृष्ण ! तथा बुद्धिं दातुमर्प्यर्हसि त्वम् ॥१०२॥

वासुदेव उवाच—

१—राजा श्रान्तो विक्षतो दुःखितश्च कर्णेन सख्ये निशितैर्बाणसंघैः ॥
यश्चानिशं सतपुत्रेण वीर ! शरैर्भृशं ताडितो युध्यमानः ॥१०३॥

२—अतस्त्वमेतेन सरोषमुक्तो दुःखान्वितेनेदमयुक्तरूपम् ॥
'प्रकोपितो ह्येप यदि स्म सख्ये कर्णं न हन्यादिति'चाब्रवीत् स ॥१०४॥

३—जानाति त पापतम एष चापि पार्थ लोके कर्णमसह्यमन्यैः ॥
ततस्त्वमुक्तो नृपरोपितेन राज्ञा समक्ष परुषाणि पार्थ ! ॥१०५॥

४—नित्योद्युक्ते सततं चाप्रसह्ये कर्णे द्यूतं ह्यद्यरथे निबद्धम् ॥
तस्मिन् हते कुरवो निर्जिताः स्युरेवं बुद्धिः पार्थिवे धर्म्मपुत्रे ॥१०६॥

१६—"श्रद्येपु दोषा बहवो विधर्म्मा श्रुतास्त्वया सहदेवोऽब्रवीद्यान् ॥
तान्नैपि त्व त्यक्तुमसाधुजुष्टास्तेन स्म सर्वे निरय प्रपन्नाः ॥१३२॥

१७—सुख त्वत्तो नाभिजानीम किंचिद्यतस्त्वमदैर्देवितु सम्प्रवृत्तः ॥
स्वय कृत्वा व्यसन पाण्डव ! त्वमस्मास्तीव्रा' श्रावयस्यद्य वाच. ॥१३३॥

१८—शेतेऽस्माभिर्निहता शत्रुसेना छिन्नैर्गात्रैर्भूमितले नदन्ती ॥
त्वया हि तत्कर्म्म कृत नृशस यस्माद्दोषः कौरवाणां वधश्च ॥१३४॥

१९—हता उदीच्या निहताः प्रतीच्या नष्टाः प्राच्या दाक्षिणात्या विशस्ताः ॥
कृत कर्म्माप्रतिरूप महद्भिस्तेषां योधैरस्मदीयैश्च युद्धे ॥१३५॥

२०—त्वं देविता त्वत्कृते राज्यनाशस्त्वत्सम्भव नो व्यसन नरेन्द्र ! ॥
मास्मान् क्रूरैर्वाक्प्रतोदैस्तुदस्त्व भूयो राजन् कोपयेस्त्वल्पभाग्यः ॥१३६॥

संजय उवाच—

*—"एता वाच परुषा सव्यसाची स्थिरप्रज्ञः श्रावयित्वा तु रूक्षा' ॥
बभूवासौ विमना 'धर्म्मभीरु' कृत्वा प्राज्ञ' पातक किंचिदेवम्" ॥१३७॥

*—तदानुतेपे सुरराजपुत्रो विनि श्वसंश्चासिमथोद्ववर्ह ॥
तमाह कृष्ण —

कृष्ण उवाच

१—किमिद पुनर्भवान् विशोकमाकाशनिभ करोत्यसिम् ॥१३८॥

२—"ब्रवीहि मां पुनरुत्तरं वचस्तथा प्रवक्ष्याम्यहमर्थसिद्धये" ॥

संजय उवाच—

इत्येवमुक्तः पुरुषोत्तमेन सुदुःखितः केशवमर्जुनोऽब्रवीत् ॥१३९॥

अर्जुन उवाच—

१—"अह हनिष्ये स्वशरीरमेव प्रसह्य येनाहितमाचर वै" ॥

संजय उवाच—

*—निशम्य तत् पार्थवचोऽब्रवीदिद धनञ्जयं धर्म्मभृतां वरिष्ठ ॥१४०॥

कृष्ण उवाच—

१—राजानमेनं 'त्व'मितीदमुक्त्वा किं कश्मल प्राविश पार्थ ! घोरम् ॥
त्व चात्मान हन्तुमिच्छस्यरिघ्न ! नेद सद्भिः सेवित वै किरीटिन् ॥१४१॥

३—य' कुञ्जराणामधिकं सहस्र हत्वा नदस्तुमुल सिंहनादम् ॥
काम्बोजानामयुत पार्वतीयान् मृगान् सिंहो विनिहत्येव चाजौ ॥११६॥

४—सुदुष्कर कर्म्म करोषि वीरः कर्तु यथा नार्हसि 'त्व' कदाचित् ॥
रथादवप्लुत्य गदां परामृशस्तया निर्हत्यश्वरथद्विपान्मृधे ॥१२०॥

५—वरासिना वाजिरथाश्वकुञ्जरांस्तथा रथाङ्गैर्धनुषादहत्यरीन् ॥
प्रगृह्य पद्भ्यामहिताभिहन्ति पुनस्तुदोर्भ्यां शतमन्युविक्रम ॥१२१॥

६—महाबलो वैश्रवणान्तकोपमः प्रसह्य हन्ता द्विषतामनीकिनीम् ॥
स भीमसेनोऽर्हति गर्हयां मे 'न त्व नित्य रक्ष्यसे य सहृद्भि' ॥१२२॥

७—महारथागजवरान् हयांश्च पदातिमुख्यानपि च प्रमथ्य ॥
एको भीमो धार्त्तराष्ट्रेषु मग्नः स मामुपालब्धुमरिन्दमोऽर्हति ॥१२३॥

८—कलिङ्गवङ्गाङ्गनिषादमागधान् सदा मदाभीलबलाहकोपमान् ॥
निहन्ति यः शत्रुगणाननेकान स मामुपालब्धुमरिन्दमोऽर्हति ॥१२४॥

९—स युक्तमास्थाय रथं हि काले धनुर्विधन्वन् शरपूर्णमुष्टिः ॥
सृजत्यसौ शरवर्षाणि वीरो महाहवे मेघ इवाम्बुधाराः ॥१२५॥

१०—शतान्यष्टौ वारणानामवश्य विशाति तैः कुम्भकराग्रहस्तैः ॥
भीमेनाजौ निहितान्यद्य यावौ स मां क्रूरं वक्तुमर्हत्यरिघ्न ॥१२६॥

११—'अल तु वाचि द्विजसत्तमानां, क्षात्र बुधा बाहुबल वदन्ति ॥
त्व वाग्बलो भारत ! निष्ठुरश्च त्वमेव मां वेत्थ यथाऽबलोऽहम्" ॥१२७॥

१२—यते ह नित्यं तव कर्तुमिष्ट दारै सुतैर्जीवितेनात्मना च ॥
एव यन्मां वाग्विशिखेन हन्सि त्वत्तः सुख न वय विद्म किञ्चित् ॥१२८॥

१३—मां मावमंस्था 'द्रौपदीतल्पसस्थो' महारथान् प्रतिहन्मि त्वदर्थे ॥
'तेनाभिशङ्की' भारत ! निष्ठुरोऽसि त्वत्तः सुखं नाभिजानामि किञ्चित्॥१२९॥

१४—प्रोक्तः स्वय सत्यसन्धेन मृत्युस्तव प्रियार्थं 'नरदेव !' युद्धे ॥
वीरः शिखण्डी द्रौपदोऽसौ महात्मा मयाभिगुप्तेन हतश्च तेन ॥१३०॥

१५—न चाभिनन्दामि तवाधिराज्य यतस्त्वमस्मद्धिताय सक्तः ॥
स्वय कृत्वा पापमनार्य्यजुष्टमस्माभिर्वा तर्तुमिच्छस्यरींस्त्वम् ॥१३१॥

स व्रीड्या नम्रशिराः किरीटी युधिष्ठिर प्राञ्जलिरभ्युवाच ॥

अर्जुन उवाच—

१—प्रसीद राजन्! क्षमयन्मयोक्त काले भवान् वेत्स्यति तन्नमस्ते ॥१५४॥

संजय उवाच—

*—प्रसाद्य राजानममित्रसाह स्थितोऽब्रवीच्चैव पुन प्रवीर ॥
नेद चिरात् क्षिप्रमिद भविष्यत् प्रावर्त्तते साध्वमियामि चैनम् ॥१५५॥

१—याम्येष भीम ममरात् प्रमोक्तु सर्वात्मना सूतपुत्रञ्च हन्तुम् ॥
तव प्रियार्थं मम जीवित हि ब्रवीमि सत्य तदवेहि राजन् ॥१५६॥

संजय उवाच—

*—इति प्रयास्यन्नुपगृह्य पादौ समुत्थितो दीप्ततेजा किरीटी ॥
एतच्छ्रुत्वा पाण्डवो धर्म्मराजो भ्रातुर्वाक्य परुष फाल्गुनस्य ॥१५७॥

*—उत्थाय तस्माच्छयनादुवाच पार्थं ततो दुःखपरीतचेता ॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—कृत मया पार्थ! यथा न साधु येन प्राप्त व्यसन व सुघोरम् ॥१५८॥

२—"तस्माच्छिरश्छिन्धि ममेदमद्य कुलान्तकस्याधमपूरुषस्य ॥
पापस्य पापव्यसनान्वितस्य विमूढबुद्धेरलसस्य भीरो ॥१५९॥

३—वृद्धावमन्तु पुरुषस्य चैव किन्ते चिर मे ह्यनुसृत्य रूक्षम् ॥
गच्छाम्यह वनमेवाद्य पाप सुख भवान् वर्त्तता मद्विहीनः ॥१६०॥

४—योग्यो राजा भीमसेनो महात्मा क्लीबस्य वा मम किं राज्यकृत्यम् ॥
न चापि शक्त परुषाणि सोढु पुनस्तवेमानि रुषान्वितस्य ॥१६१॥

५—भीमोऽस्तु राजा मम जीवितेन न कार्य्यमद्यावमतस्य वीर! ॥

संजय उवाच—

*—इत्येवमुक्त्वा सहसोत्पपात राजा ततस्तच्छयन विहाय ॥१६२॥

*—इयेष निर्गन्तुमथो वनाय, तं वासुदेवः प्रणतोऽभ्युवाच—

वासुदेव उवाच—

१—राजन्! विदितमेतद्धि यथा गाण्डीवधन्वन ॥
प्रतिज्ञा सत्यसन्धस्य गाण्डीवं प्रति विश्रुता ॥
ब्रूयाद् एवं गाण्डीवमन्यस्मै देयमित्युत ॥१६३॥

२—धर्म्मात्मान भ्रातर ज्येष्ठमथ खड्गेन चैन यदि हन्या नृवीर ! ॥
धर्म्माद्भीतस्तत्कथ नाम ते स्यात् किंचोत्तर वा करिष्यस्त्वमेव ॥१४२॥
३—सूक्ष्मो धर्म्मो दुर्विदश्चापि पार्थ ! विशेषतोऽज्ञैः प्रोच्यमानं निबोध ॥
हत्वात्मानमात्मना प्राप्नुयास्त्व वधाद् भ्रातुर्नरक चातिघोरम् ॥१४३॥
४—"ब्रवीहि वा चाद्य गुणानिहात्मनस्तथा हतात्मा भवितासि पार्थ!"॥
संजय उवाच—
*—'तथास्तु कृष्णो'त्यभिनद्य तद्वचो धनञ्जयः प्राह धनुर्विनाम्य ॥
युधिष्ठिर धर्म्मभृतां वरिष्ठ शृणुष्व राजन्निति शक्रसूनु ॥१४४॥
अर्जुन उवाच—
१—न मादृशोऽन्यो नरदेव ! विद्यते धनुर्द्धरो देवमृते पिनाकिनम् ॥१४५॥
२—अह हि तेनानुमतो महात्मना क्षणेन हन्यां सचराचर जगत् ॥
मया हि राजन् ! सदिगीश्वरा दिशो विजित्य सर्वा भवतः कृता वशे ॥१४६॥
३—स राजसूयश्च समाप्तदक्षिण सभा च दिव्या भवतो ममौजसा ॥
पाणौ पृषत्का निशिता ममैव धनुश्च सज्य वितत सबाणम् ॥१४७॥
४—पादौ च मे सरथौ सध्वजौ च न मादृश युद्धगत जयन्ति ॥
हता उदीच्या निहता प्रतीच्या प्राच्या निरस्ता दाक्षिणात्या विशस्ताः॥ १४८॥
५—संशप्तकानां किञ्चिदेवास्ति शिष्ट सर्वस्य सैन्यस्य हत मयार्द्धम् ॥
शेते मया निहता भारतीया चमू राजन् देवचमूप्रकाशा ॥१४९॥
६—ये चास्त्रज्ञास्तानह हन्मि चास्त्रैस्तस्मान्लोकानेप करोमि भस्म ॥
जैत्र रथ भीममास्थाय कृष्णाया व शीघ्र सूतपुत्रं निहन्तुम् ॥१५०॥
७—राजा भवत्वद्य सुनिर्वृतोऽयं कर्णो रणे नाशयितास्मि बाणै ॥
संजय उवाच—
(इत्येवमुक्त्वा पुनराह पार्थो युधिष्ठिर धर्म्मभृतां वरिष्ठम्) ॥१५१॥
८—अद्यापुत्रा सूतमाता भवित्री कुन्ती वाथो मामयातेन वापि ॥
सत्य वदाम्यद्य न कर्णमाजौ शरैरहत्वा कवचं विमोक्ष्ये ॥१५२॥
संजय उवाच—
*—इत्येवमुक्त्वा पुनरेव पार्थो युधिष्ठिर धर्म्मभृतां वरिष्ठम् ॥
विमुच्य शस्त्राणि धनुर्विसृज्य कोशे च खड्गं विनिधाय तूर्णम् ॥१५३॥

इतिस्म कृष्णवचनात् प्रत्युषार्घ्य युधिष्ठिरम् ॥
बभूव विमना॰ पार्थः किञ्चित् कृत्वेव पातकम् ॥१७६॥
तदाऽब्रवीद् वासुदेव प्रहसन्निव पाण्डवम् ॥

वासुदेव उवाच—

१—कथ नाम भवेदेतद्यदि त्वं पार्थ ! धर्म्मजम् ॥१७७॥

२—असिना तीक्ष्णधारेण हन्या धर्म्मे व्यवस्थितम् ॥
त्वमित्युक्त्वाथ राजानमेव कश्मलमाविशः ॥१७८॥

३—हत्वा तु नृपतिं पार्थ ! आकरिष्य॰ किमुत्तरम् ॥
एव हि दुर्विदो धर्म्मो मन्दप्रज्ञैर्विशेषत ॥१७९॥

४—स भवान् 'धर्म्मभीरुत्वात्' ध्रुवमैष्यन्महत्तम ॥
नरक घोररूपञ्च भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वै वधात् ॥१८०॥

५—स त्व धर्म्मभृतां श्रेष्ठ राजान धर्म्मसहितम् ॥
प्रसादय कुरुश्रेष्ठमेतदत्र मत मम ॥१८१॥

६—प्रसाद्य भक्त्या राजान प्रीते चैव युधिष्ठिरे ॥
प्रयावस्त्वरितौ योद्धु सूतपुत्र रथं प्रति ॥१८२॥

७—"हत्वा तु समरे कर्णं त्वमद्य निशितैः शरै
विपुलां प्रीतिमाधत्स्व धर्म्मपुत्रस्य मानद !" ॥१८३॥

८—एतदत्र महाबाहो ! प्राप्तकाल मत मम ॥
एवंकृते कृतञ्चैव तव कार्य्यं भविष्यति ॥१८४॥

संजय उवाच—

९—ततोऽर्जुनो महाराज ! 'लज्जया' वै समन्वित ॥
धर्म्मराजस्य चरणौ प्रपद्य शिरसा नतः ॥१८५॥
उवाच भरतश्रेष्ठ प्रसीदेति पुन पुनः ॥

अर्जुन उवाच—

१—क्षमस्व राजन् ! यत् प्रोक्त 'धर्म्मकामेन भीरुणा' ॥१८६॥

२—वध्योऽयं स पुमाँल्लोके त्वया प्रोक्तोऽयमीदृशम् ॥
ततः सत्यां प्रतिज्ञां तां पार्थेन प्रतिरक्षिता ॥१६४॥
३—यच्छन्दादवमानोऽयं कृतस्तव महीपते ! ॥
"गुरूणामवमानो हि 'वध' इत्यभिधीयते" ॥१६५॥
४—तस्मात् त्वं वै महाबाहो ! मम, पार्थस्य, चोभयोः ॥
व्यतिक्रममिमं राजन् ! सत्यसरक्षणं प्रति ॥१६६॥
५—"शरणं त्वा महाराज ! प्रपन्नौ स्व उभावपि
क्षन्तुमर्हसि मे राजन् ! प्रणतस्याभियाचत" ॥१६७॥
६—राधेयस्याद्य पापस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ॥
सत्यं ते प्रतिजानामि हतं विद्ध्यद्य सूतजम् ॥१६८॥
यस्येच्छसि वधं तस्य गतमप्यस्य जीवितम् ॥

सञ्जय उवाच—
●—इति कृष्णवचः श्रुत्वा धर्म्मराजो युधिष्ठिरः ॥१६९॥
स सम्भ्रमं 'हृषीकेश'मुत्थाप्य प्रणतं तदा ॥
कृताञ्जलिस्ततो वाक्यमुवाचानन्तरं वचः ॥१७०॥

युधिष्ठिर उवाच—
१—एवमेव यथात्थ त्वमस्त्येषोऽतिक्रमो मम ॥
अनुनीतोऽस्मि गोविन्द ! तारितश्चास्मि माधव ॥१७१॥
२—मोचिता व्यसनाद् घोराद् वयमद्य त्वयाऽच्युत ! ॥
भवन्तं नाथमासाद्य आवां व्यसनसागरात् ॥१७२॥
३—"घोरादद्य समुत्तीर्णावुभावज्ञानमोहितौ ॥
त्वद्बुद्धिप्लवमासाद्य दुःखशोकार्णवाद्वयम् ॥१७३॥
४—समुत्तीर्णाः सहामात्याः सनाथाः स्म त्वयाऽच्युत ! ॥१७४॥

संजय उवाच—
●—धर्म्मराजस्य तच्छ्रुत्वा प्रीतियुक्तं वचस्ततः ॥
पार्थं प्रोवाच धर्म्मात्मा गोविन्दो यदुनन्दनः ॥१७५॥

संजय उवाच—

*—एवमाभाष्य राजानमब्रवीन्माधव वच' ॥

अर्जुन उवाच—

१—अद्य कर्णं रणे कृष्ण ! सूदयिष्ये न संशय' ॥१९७॥

तव बुद्ध्या हि, भद्र ते, वधस्तस्य दुरात्मन' ॥

संजय उवाच—

एवमुक्तोऽब्रवीत् पार्थं केशवो राजसत्तम ! ॥१९८॥

केशव उवाच—

१—शक्तोऽसि भरतश्रेष्ठ ! हन्तु कर्णं महाबलम् ॥

एष चापि हि मे कामो नित्यमेव महारथ ! ॥१९९॥

कथ भवान् रणे कर्णं निहन्यात् ॥

संजय उवाच—

*— इति सत्तम ! ॥

भूयश्चोवाच मतिमान् माधवो धर्मनन्दनम् ॥२००॥

माधव उवाच—

१—युधिष्ठिरेम बीभत्सु त्व सान्त्वयितुमर्हसि ॥

अनुज्ञातु च कर्णस्य वधायाद्य दुरात्मन ॥२०१॥

२—श्रु त्वा ह्ययम चैव त्वां कर्णशरपीडितम् ॥

प्रवृत्ति ज्ञातुमायाताविहावां पाण्डुनन्दन ! ॥२०२॥

३—दिष्ट्यासि राजन्नहतो दिष्ट्या न ग्रहण गतः ॥

परिसान्त्वय बीभत्सु जयमाशाधि चानघ ! ॥२०३॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—एह्येहि पार्थ ! बीभत्सो ! मां परिष्वज पाण्डव ॥

वक्तव्यमुक्तोऽस्मि हित त्वया चान्त च तन्मया ॥२०४॥

२—अह त्वामनुजानामि जहि कर्णं धनञ्जय ! ॥

मन्यु च मा कृथाः पार्थ ! यन्मयोक्तोऽसि दारुणम् ॥२०५॥

संजय उवाच—

*—ततो धनञ्जयो राजन् ! शिरसा प्रणतस्तदा ।

पादौ जग्राह पाणिभ्यां भ्रातुर्ज्येष्ठस्य मारिष ॥२०६॥

संजय उवाच—

@—"दृष्ट्वा तु पतित पद्भ्या धर्म्मराजो युधिष्ठिर' ॥
धनञ्जयममित्रघ्न रुदन्त भरतर्षभ ! ॥१८७॥
उत्थाप्य भ्रातर राजा धर्म्मराजो धनञ्जयम् ॥
समाश्लिष्य च सस्नेह प्ररुरोद महीपति ॥१८८॥
रुदित्वा सुचिर काल भ्रातरौ सुमहाद्युती ॥
कृतशौचौ महाराज ! प्रीतिमन्तौ बभूवतु' ॥१८६॥
तत श्माश्लिष्य त प्रेम्णा मूर्ध्नि चाघ्राय पाण्डव ॥
प्रीत्या परमया युक्तो विस्मयश्च पुनः पुन' ॥
श्मब्रवीत्तं महेष्वास धर्म्मराजो धनञ्जयम ॥१६०॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—कर्णेन मे महाबाहो ! सर्वसैन्यस्य पश्यत ॥
कवचं च ध्वज चैव धनुः शक्तिर्हयाः शरा ॥१६१॥

२—शरैः कृता महेष्वास ! यतमानस्य संयुगे ॥
सोऽहं ज्ञात्वा रणे तस्य कर्म्म दृष्ट्वा च फाल्गुन ! ॥१६२॥

३—व्यवसीदामि दु खेन न च मे जीवित प्रियम् ॥
न चेदद्य हि तं वीर निहनिष्यसि संयुगे ॥१६३॥

४—प्राणानेव परित्यक्ष्ये जीवितार्थो हि को मम ॥

संजय उवाच—

*—एवमुक्तः प्रत्युवाच 'विजयो' भरतर्षभ ! ॥१६४॥

अर्जुन उवाच—

१—सत्येन ते शपे राजन् ! प्रसादेन तथैव च ॥
भीमेन च नरश्रेष्ठ ! यमाभ्यां च महीपते ! ॥१६५॥

२—यथाद्य समरे कर्णं हनिष्यामि हतोऽपि वा ॥
महीतले पतिष्यामि सत्येनायुधमालभे ॥१६६॥

संजय उवाच—

*—एवमाभाष्य राजानमब्रवीन्माधव वच' ॥

अर्जुन उवाच—

१—अद्य कर्णं रणे कृष्ण ! सूदयिष्ये न सशय' ॥१६७॥
तव बुद्ध्या हि, भद्र ते, वधस्तस्य दुरात्मन' ॥

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तोऽब्रवीत् पार्थं केशवो राजसत्तम ! ॥१६८॥

केशव उवाच—

१—शक्तोऽसि भरतश्रेष्ठ ! हन्तु कर्णं महाबलम् ॥
एष चापि हि मे कामो नित्यमेव महारथ ! ॥१६६॥
कथ भवान् रणे कर्णं निहन्यात् ॥

संजय उवाच—

*— इति सत्तम ! ॥
भूयश्चोवाच मतिमान् माधवो धर्म्मनन्दनम् ॥२००॥

माधव उवाच—

१—युधिष्ठिरेम बीभत्सु त्व सान्त्वयितुमर्हसि ॥
अनुज्ञातु च कर्णस्य वधायाद्य दुरात्मन ॥२०१॥
२—श्र त्वा ह्यहमय चैव त्वां कर्णशरपीडितम् ॥
प्रवृत्ति ज्ञातुमायातात्विहावां पाण्डुनन्दन ! ॥२०२॥
३—दिष्ट्यासि राजन्नहतो दिष्ट्या न ग्रहण गतः ॥
परिसान्त्वय बीभत्सु जयमाशाधि चानघ ! ॥२०३॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—एह्येहि पार्थ ! बीभत्सो ! मां परिष्वज पाण्डव ॥
वक्तव्यमुक्तोऽस्मि हित त्वया क्षान्त च तन्मया ॥२०४॥
२—अह त्वामनुजानामि जहि कर्णं धनञ्जय ! ॥
मन्यु च मा कृथाः पार्थ ! यन्मयोक्तोऽसि दारुणम् ॥२०५॥

संजय उवाच—

*—ततो धनञ्जयो राजन् ! शिरसा प्रणतस्तदा ।
पादौ जग्राह पाणिभ्यां भ्रातुर्ज्येष्ठस्य मारिष ॥२०६॥

तमुत्थाप्य ततो राजा परिष्वज्य च पीडितम् ॥
मूर्ध्न्युपाघ्राय चैवेनमिदं पुनरुवाच ह ॥२०७॥

युधिष्ठिर उवाच—

१—धनञ्जय ! महाबाहो ! मानितोऽस्मि दृढं त्वया ॥
माहात्म्यं विजयं चैव भूयः प्राप्नुहि शाश्वतम् ॥२०८॥

अर्जुन उवाच—

१—अद्य तं पापकर्माणं सानुबन्धं रणे शरैः ॥
नयाम्यन्तं समासाद्य राधेयं बलगर्वितम् ॥२०९॥

२—येन त्वं पीडितो बाणैर्दृढमायम्य कार्मुकम् ॥
तस्याद्य कर्मणः कर्णः फलमाप्स्यति दारुणम् ॥२१०॥

३—अद्य त्वामनुपश्यामि कर्णं हत्वा महीपते ! ॥
समाजयितुमाक्रन्दादिति सत्यं ब्रवीमि ते ॥२११॥

४—नाहत्वा विनिवर्तिष्ये कर्णमद्य रणाजिरात् ॥
इति सत्येन ते पादौ स्पृशामि जगतीपते ! ॥२१२॥

संजय उवाच—

इति प्रभाष्य सुमनाः किरीटिनं युधिष्ठिरः प्राह वचो बृहत्तरम् ॥
यशोऽक्षयं जीवितमीप्सितं ते जयं सदा वीर्यमरिक्षयं तदा ॥२१३॥

प्रयाहि वृद्धिं च दिशन्तु देवता 'यथाहमिच्छामि तवास्तु तत्तथा' ॥
प्रयाहि शीघ्रं जहि कर्णमाहवे पुरन्दरो वृत्रमिवात्मवृद्धये ॥२१४॥

इतिश्रीमहाभारते कर्णपर्वणि अर्जुनमतिज्ञायां एकसप्ततितमोऽध्यायः ।

—महाभारत कर्णपर्व ६८,६९,७०,७१ अध्यायाः

—★—

कर्णपर्व के ६८ (अड़सठ वें) अध्याय से आरम्भ कर ७१ (इकहत्तर) अध्याय पर्यन्त चार अध्यायों में पुराणपुरुष (भगवान् व्यास) की ओर से महावीर कर्ण के माध्यम से पाण्डवों की जिस भावुकता का, जिस धर्मभीरुता एवं कर्मभीरुता का स्वयं पाण्डवों के ही मुख से, तथा वासुदेव श्रीकृष्ण के द्वारा रोचक, रोमहर्षजनक, उद्वेगकर, विस्मयकर, आश्चर्यकर जो स्वरूपविश्लेषण हुआ है, उसका भावुकतास्वरूपविश्लेषक प्रस्तुत निबन्ध के आख्यानपरिच्छेद में समावेश करना प्रासङ्गिक ही माना जायगा। भावुक मानव किस प्रकार किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनता हुआ धर्म–लोक–समाजादि निष्ठाओं से पराङ्मुख हो जाता है !, ऐसे भावुक मानवों का समूह किस प्रकार सर्वथा भावुक स्त्रीवर्ग की भाँति, अथोव सौम्य भावुक बालकों की भाँति क्षण क्षण में कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी आक्रोश अभि–व्यक्त करता है, कभी निन्दा करता है, कभी स्तुति करता है, कभी हर्षोन्मत्त बन जाता है, तो कभी दुःखार्णव निमज्जन का अनुभव करने लगता है !, इत्यादि भावुकतानुबन्धिनी प्रत्यक्ष समस्या का स्वरूपविश्लेषण इस अध्यायचतुष्टयी में हुआ है, उसकी उपयोगिता के महत्त्व को लक्ष्य बनाते हुए अत्र उस का समावेश होना ही चाहिए था, अनिवार्य्यरूप से होना चाहिए था। पुराणपुरुष की सहजभाषा गम्भीरार्थसमन्विता होती हुई भी प्राञ्जल है। अतएव भारतीय संस्कृतिनिष्ठ मानवों को अत्र उद्धृत पूर्व सन्दर्भ के सुसमन्वय में कोई कठिनाई न होगी, ऐसी हमारी आत्मधारणा है। फिर पुराणपुरुष के आर्ष शब्दों की रहस्यपूर्णा व्यञ्जना–भावगरिमा का 'हिन्दी' जैसी प्राकृत–लौकिक–असंस्कृत–भाषा के उच्छिष्ट शब्दों के माध्यम से यथावत् तो क्या, अंशतः भी समन्वय नहीं किया जा सकता। यह सब कुछ यथार्थ होते हुए भी, जानते हुए भी एकान्त युगधर्मानुगता भाषा–हिन्दीभाषा–राष्ट्रभाषा–भावुकतान्तःकरण बने हुए भावुक मानवों के भावुकतापूर्ण परितोष के लिए भी भावुकभाषा में भी संक्षेप से उपात्त महाभारतसन्दर्भ की लोकदिशा का स्पष्टीकरण करा देना इस भावुक निबन्धा ने सामयिक, एवं लोकसंग्राहक मान लिया है।

स्पष्टीकरण से पहिले यह 'आमुख' हृदयङ्गम कर लेना चाहिए कि, पाण्डवों में सर्वज्येष्ठ–श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर की सहज भावुकता ही इस सन्दर्भ का मूलाधार है। युधिष्ठिर आरम्भ से ही सौम्य–शान्तिपरायण रहे हैं। किसी भी धार्मिक राजनैतिक एवं सामाजिक–पारिवारिक संघर्ष का नामश्रवण भी सदा से ही इनकी मनोवृत्ति के सर्वथा विरुद्ध रहा है। " जाने दो, क्षमा कर दो, व्यर्थ कलह में प्रवृत्त होना उचित नहीं दूसरों को सुखी होने दो, अपने कष्ट को ही आनन्द मान लेंगे" इस प्रकार ब्राह्मणवर्णोचिता क्षमाशीलता ही युधिष्ठिर का मुख्य लक्ष्य–बिन्दु रहा है। इसी क्षमाशीलता से अनुचित लाभ उठाते हुए दुर्बुद्धि कौरवों के द्वारा समय समय पर इन्हें भी निःसीम रूप से उत्पीड़ित होना पड़ा है, एवं इनके साथ साथ सम्पूर्ण पाण्डवपरिवार को भी दुःखपरम्पराओं से आर्त्त बना रहना पड़ा है। युधिष्ठिर ने स्वयं भी सहर्ष इन आर्त्तिपरम्पराओं का इच्छापूर्वक अनुगमन किया है, एवं अपने आज्ञावशवर्त्ती पारिवारिक व्यक्तियों को भी उनकी इच्छा के विरुद्ध अनुगमन करते रहने के लिए विवश बनाया है। सब कुछ सहा है युधिष्ठिर ने, किन्तु प्रतिक्रिया से सम्भावित संघर्ष से सदा अपने आपको असंग बनाए रखने का ही परमपुरुषार्थ ? अभिव्यक्त किया है। सम्भवतः इसीलिए स्वार्थनिष्ठ

परप्रतारक नैष्ठिकों ने युधिष्ठिर की भावुकता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए, इनकी इस भावुकता से अपना स्वार्थसाधन करने की दूषित भावना से ही इन्हें 'अजातशत्रु' जैसी भावुकतापूर्ण उपाधि से सुविभूषित किया है। ऐसा है धर्मराज युधिष्ठिर का सहज-स्वरूप विभ्रम, जिसे आमुख मान कर ही हमें महाभारतसन्दर्भ का समन्वय करना है।

महता प्रयासेन भगवान् कृष्ण ने जैसे तैसे युधिष्ठिरप्रमुख भावुक-सघपशून्य अनुकूलतापेमी पाण्डवों को क्षात्रधर्मोचित मानवधर्म के संस्थापन जैसे महान् उद्देश्य से युद्ध के लिए अभिमुख किया। ठीक युद्धारम्भप्रसङ्ग पर भावुकता के महान् प्रतीक अर्जुन में पुन पूर्वाभ्यस्त सहजभावुकता समुद्भूत हो पड़ी, जिसके उपशम के लिए श्रीमद्भगवद्गीतोपवर्णिता अव्ययेश्वरनिबन्धना उस बुद्धियोगनिष्ठा को अव्ययावतार वासुदेव को उसी प्रकार पुनः लक्ष्य बनाना पड़ा, जिस निष्ठा का अन्यशरीरावच्छिन्न इसी अव्ययेश्वर के द्वारा पुरा देवयुग में सर्वप्रथम मानवप्रजासम्राट् विवस्वान् मनु के प्रति उपदेश हुआ था। बुद्धियोगनिष्ठा के द्वारा अज्ञानजनित आत्मस्वरूपविमोहन पलायित हुआ। फलस्वरूप अर्जुन सकल्पित क्षात्र-निष्ठा (युद्ध) में अभिप्रवृत्त हुए। आगे चल कर अनेकबार भीष्म-द्रोण-आदि युद्धप्रसङ्गों में पाण्डवों में पुन पुन भावुकता जागरूक होती रही, एव परमनैष्ठिक भगवान् अपने सामयिक निष्ठासूत्रों से पाण्डवों का उद्बोधन कराते रहे। आज एक वैसा ही, उससे भी कहीं भयङ्कर अवसर उपस्थित हो पड़ा युधिष्ठिर की सहजभावुकता के अनुग्रह से, जिसके सचक बने महावीर अभिशोचा अङ्गराज कर्ण।

भीष्म और द्रोण के सेनापत्यकाल में भी युधिष्ठिर युद्ध में प्रवृत्त रहे थे। किन्तु उन दोनों अवसरों पर युधिष्ठिर वैय्यक्तिकरूप से विशेष उत्पीड़ित इसलिए नहीं हुए थे कि, भीष्म और द्रोण अन्नदासाकर्षण से कौरवसेना का आधिपत्य वहन करते हुए भी धर्मशील पाण्डवों के प्रति सहजरूप से अपना वात्सल्यप्रेम सुरक्षित रखते थे। दैवदुर्विपाक से दोनों ही महारथी क्षात्रगति को प्राप्त हो गए। अब सेनापति बनाए गए वे कर्ण, जिनका आरम्भ से ही पाण्डवों के प्रति सहज वैर प्रक्रान्त था, एव जो अङ्गराजोपाधिप्रदाता दुर्योधन के हित में अपनी अनन्य निष्काम निष्ठा रखते थे। इनके अन्तःकरण में पाण्डवों के प्रति अणुमात्र भी स्नेह-दया-करुणा-ममताभाव न थे। अर्जुन को छोड़ कर शेष चारों पाण्डवों के वधकर्म से तटस्थ बन जाने वाले मातृभक्त कर्ण ने इन चारों के प्राण अवश्य नहीं लिए। किन्तु प्राणान्त-कष्ट के अनुग्रह में कर्ण ने कुछ भी शेष नहीं रहने दिया। जो भी पाण्डुपुत्र कर्ण के सम्मुख आ पड़ा कर्णशरवर्षणानुग्रह से वही त्राहि त्राहि उद्घोष कर पड़ा। और यहीं आकर युधिष्ठिर की सहज भावुकता उत्पीड़ित हो पड़ी। कर्णप्रक्षिप्त सुतीक्ष्ण शरों के आघात से युधिष्ठिर आकुल-व्याकुल हो पड़े। पाण्डवसेना के देखते देखते कर्ण ने अपने अमोघ शरवर्षा से युधिष्ठिर के कवच-रथ-ध्वजा धनुष-शक्ति-रथाश्व-तूणीर-सब कुछ काट फेंके, जैसा स्वय युधिष्ठिर ने अपने मुख से स्वीकार किया है। निरस्त्र-हतवीर्य-युधिष्ठिर को कर्ण उसी क्षण यमराज का भी अतिथि बना सकते थे। किन्तु धर्मप्रतिज्ञा की दृष्टि से अनन्यनिष्ठ मात स्मरणीय कर्ण माता कुन्ती के साथ की गई प्रतिज्ञा का स्मरण कर वधकर्म से पराङ्मुख बन गए।

आकस्मिक संघर्ष सहज सौम्यभावुक मानव की भावुकता को चरमसीमानुगामी बनाता हुआ प्रतिक्रियासर्जनपूर्वक निष्ठा का जनक बन जाया करता है। सहज भावुक युधिष्ठिर के सम्बन्ध में भी यही लोकसूत्र अन्वर्थ बना। भावुकता सर्वात्मना पलायित हो गई, निष्ठा का उदय हो पड़ा। सदा के सुशान्त युधिष्ठिर कर्णशराभितप्त बन कर अपने आपको भूल गए। आक्रोश आगरूक हो पड़ा। और सर्वत्र क्षमाप्रदानशील युधिष्ठिर यों कर्णानुग्रह से चरमसीमा के प्रतिक्रियावादी बन बैठे। इस प्रतिक्रिया ने कर्ण का तो तत्काल कुछ अनिष्ट किया नहीं, लक्ष्य बना इस प्रतिक्रिया का अर्जुन का 'गाण्डीवधनुष'। इसलिए कि कर्ण के धनुष ने ही तो इन्हें सन्तप्त किया था। सहसा इन्हें अपने अर्जुन का यह गाण्डीवधनु स्मृत हो पड़ा, जिस की अप्रतिम शरवर्षणशक्ति का यशोगान युधिष्ठिर कई बार अर्जुन के मुख से सुन चुके थे। 'कर्ण का अवश्यमेव येन केनाप्युपायेन विनाश होना ही चाहिए' एक ओर युधिष्ठिर में जहाँ यह श्वानिष्ठा उदित हुई, वहाँ दूसरी ओर निष्ठाभक्लाक्रमण से सहसा बहिर्भूतप्राया भावुकता का लक्ष्य बना गाण्डीव, और तद्धारी अर्जुन। सम्पूर्ण विवेक खो बैठे इस दिशा में युधिष्ठिर। पुरोऽवस्थित महामान्य वासुदेव कृष्ण की उपस्थिति भी युधिष्ठिर का संयत न रख सकी। और यों—कर्णमूलाधारजनिता प्रतिक्रिया के अनुग्रह से महाभारत का अतिशय रोचक सन्दर्भ इस रूप से उपक्रान्त हो ही तो पड़ा कि—

सञ्जय उवाच— "श्रुत्वा कर्णं कल्पमुदारवीर्य्यम्"।

(१)—व्यासप्रदत्त 'परोक्षदर्शित्वम्' रूपा दैवविद्या के प्रभाव से कौरवराजभवन में समासीन धृतराष्ट्र को युद्धवृत्त सुनाने के लिए नियत सञ्जय धृतराष्ट्र से कहने लगे—राजन्! (धृतराष्ट्र!)—युद्ध प्रसङ्ग में महारथी कर्ण के लोकप्रसिद्ध उदार–उदात्त–बल–वीर्य्य–पराक्रम (शारीरिक–मानसिक–बौद्धिक–बल) सुन सुन कर युधिष्ठिर क्रोधाविष्ट बन गए। स्वयं भी कर्ण के सुतीक्ष्ण बाणों के निर्मम प्रहाररूप रसास्वादन! से सन्त्रस्त उत्तप्त–विक्षिप्त–से बने हुए प्रतिक्रियानुगामी क्रोधनिष्ठ युधिष्ठिर अर्जुन के सुप्रसिद्ध गाण्डीव धनुष को, एवं तद्धारक महारथी अर्जुन को लक्ष्य बनाते हुए आक्रोशपूर्वक इस प्रकार परुषवाक्प्रहार (धिक्कारयुक्ता वाणी का प्रहार) करने लगे कि—

(२) अर्जुन! गाण्डीवधारी अर्जुन! पृथापुत्र पार्थ! आज तुम्हारा सैन्यबल गलित–स्खलितवीर्य्य बन गया, कर्ण ने सहसा क्षणमात्र में तुम्हारी महती सेना का तिरस्कार कर डाला। क्या यह ठीक हुआ!। तुम कर्ण से भयत्रस्त बन कर भीम को असहाय छोड़ कर यहाँ आकर छिप गए। तुम युद्ध में कर्ण को मार न सके। (३)—अर्जुन! आज तुमने अपनी 'पार्थ' उपाधि को कलङ्कित करते हुए अपनी उस मातृकुक्षि (माता की कोख) को लज्जित ही कर दिया, जिस कुक्षि से उत्पन्न होकर भी भीम को असहाय छोड़ कर तुम युद्ध से पराङ्मुख से हो गए, किन्तु सूतपुत्र को मार न सके॥ (४) तुमने द्वैतवननिवास प्रसङ्ग में भी यह सत्य प्रतिज्ञा की थी कि, मैं युद्ध में एकाकी ही कर्ण का वध कर डालूँगा। कहाँ गई तुम्हारी वह प्रतिज्ञा!। देख रहा हूँ, प्रतिज्ञा का विस्मरण कर आज तुम डर कर भीम को असहायावस्था

परप्रतारक नैष्ठिकों ने युधिष्ठिर की भावुकता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए, इनकी इस भावुकता से अपना स्वार्थसाधन करने की कुत्सित भावना से ही इन्हें 'अजातशत्रु' जैसी भावुकतापूर्ण उपाधि से सुविभूषित किया है। ऐसा है धर्मराज युधिष्ठिर का सहज-स्वरूप चित्रण, जिसे आमुख मान कर ही हमें महाभारतसन्दर्भ का समन्वय करना है।

महता प्रयासेन भगवान् कृष्ण ने जैसे तैसे युधिष्ठिरप्रमुख भावुक-सत्पपक्षशून्य अनुकूलतापेक्षी पाण्डवों को क्षात्रधर्मोचित मानवधर्म के संस्थापन जैसे महान् उद्देश्य से युद्ध के लिए अभिमुख किया। ठीक युद्धारम्भप्रसङ्ग पर भावुकता के महान् प्रतीक अर्जुन में पुन पूर्वाभ्यस्त सहजभावुकता समुद्भूत हो पड़ी, जिसके उपशम के लिए श्रीमद्भगवद्गीतोपवर्णिता अव्ययेश्वरनिष्ठ घना उस बुद्धियोगनिष्ठा को अवतारवतार वासुदेव को उसी प्रकार पुन लक्ष्य बनाना पड़ा, जिस निष्ठा का अन्यशरीरावच्छिन्न इसी अव्ययेश्वर के द्वारा पुरा देवयुग में सर्वप्रथम मानवप्रजासम्राट् विवस्वान् मनु के प्रति उपदेश हुआ था। बुद्धियोगनिष्ठा के द्वारा अज्ञानजनित आत्मस्वरूपविमोहन पलायित हुआ। फलस्वरूप अर्जुन सङ्कल्पित क्षात्र-निष्ठा (युद्ध) में अभिप्रवृत्त हुए। आगे चल कर अनेकवार भीष्म-द्रोण-आदि युद्धप्रसङ्गों में पाण्डवों में पुन पुन भावुकता जागरूक होती रही, एवं परमनैष्ठिक भगवान् अपने सामयिक निष्ठासूत्रों से पाण्डवों का उद्बोधन कराते रहे। आज एक वैसा ही, उससे भी कहीं भयङ्कर अवसर उपस्थित हो पड़ा युधिष्ठिर की सहजभावुकता के अनुग्रह से, जिसके सञ्चक बने महावीर अभिलीबा अङ्गराज कर्ण।

भीष्म और द्रोण के सेनापत्यकाल में भी युधिष्ठिर युद्ध में प्रवृत्त रहे थे। किन्तु उन दोनों अवसरों पर युधिष्ठिर वैय्यक्तिकरूप से विशेष उत्पीड़ित इसलिए नहीं हुए थे कि, भीष्म और द्रोण अन्नदासाकर्षण से कौरवसेना का आधिपत्य वहन करते हुए भी धर्मशील पाण्डवों के प्रति सहजरूप से अपना वात्सल्यप्रेम सुरक्षित रखते थे। दैवदुर्विपाक से दोनों ही महारथी क्षात्रगति को प्राप्त हो गए। अब सेनापति बनाए गए थे *कर्ण, जिनका आरम्भ से ही पाण्डवों के प्रति सहज वैर एकान्त था, एवं जो* अङ्गराजोपाधिप्रदाता दुर्योधन के हित में अपनी अनन्य निर्व्याज निष्ठा रखते थे। इनके अन्तःकरण में पाण्डवों के प्रति अणुमात्र भी स्नेह-दया-करुणा-ममत्वाभाव न थे। अर्जुन को छोड़ कर शेष चारों पाण्डवों के वधकर्म से तटस्थ बन जाने वाले मातृभक्त कर्ण ने इन चारों के प्राण अवश्य नहीं लिए। किन्तु प्राणान्त-कष्ट के अनुग्रह में कर्ण ने कुछ भी शेष नहीं रहने दिया। जो भी पाण्डुपुत्र कर्ण के सम्मुख आ पड़ा कर्णशरवर्षणानुग्रह से त्राहि त्राहि उद्घोष कर पड़ा। और यहाँ आकर युधिष्ठिर की सहज भावुकता उत्पीड़ित हो पड़ी। कर्णप्रक्षिप्त सुतीक्ष्ण शरों के आघात से युधिष्ठिर आकुल-व्याकुल हो पड़े। पाण्डवसेना के देखते देखते कर्ण ने अपने अमोघ शरवर्षा से युधिष्ठिर के कवच-रथ-ध्वजा धनुष-शक्ति-रथाश्व-तूणीर-सब कुछ काट फेंके, जैसा स्वयं युधिष्ठिर ने अपने मुख से स्वीकार किया है। निरस्त्र-हतवीर्य-युधिष्ठिर को कर्ण उसी क्षण यमराज का भी अतिथि बना सकते थे। किन्तु धर्मप्रतिज्ञा की दृष्टि से अनन्यनिष्ठ मातःस्मरणीय कर्ण माता कुन्ती के साथ की गई प्रतिज्ञा का स्मरण कर वधकर्म से पराङ्मुख बन गए।

की थी, जिन महापुरुषों तक द्वारा तू सम्मानित होता था, उस तेरे लोकोत्तर महत्व के आधार पर मैंने दुष्टबुद्धि दुर्योधन को उपसर्णीय मान लिया था, एवं सर्वात्मना अपने आपको भविष्य के लिए इन भविष्य की आशाओं के माध्यम से निरापद अनुभूत कर लिया था ॥

(१५)—किसी समय जब दुर्योधन ने यह कहा था कि, "अर्जुन (फाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न, अतएव 'फाल्गुन'–निवीर्यनक्षत्रमात्रात्मक अर्जुन) महाबली कर्ण के साथ खड़ा भी न रह सकेगा" उस समय मैंने यह केवल दुर्योधन की मूर्खता ही समझी थी। मैंने उस समय यह न समझा था कि, वास्तव में तू दुर्योधन की पूर्ववाणी को यों चरितार्थ कर देगा ॥ (१६)—उसी अन्धविश्वास–मिथ्या अनुमान के कारण आज मैं चला जा रहा हूँ। आज शत्रुगण के सम्मुख कर्णद्वारा पराभूत होता हुआ मैं जीवित ही नरकगति (अधोगति) को प्राप्त हो गया हूँ। अरे अर्जुन! (कायर अर्जुन)! तुझे आरम्भ में ही मुझे यह कह देना चाहिए था कि, मैं कर्ण के साथ युद्ध करने में सर्वथा असमर्थ हूँ। एकमात्र तेरे बल पर ही मैं कर्ण के सम्मुख चला गया, और ऐसी दुर्दशा करा बैठा। क्या विदित था, और किसे विदित था कि, तू समय पर यों धोखा दे जायगा) ॥ (१७)—(यदि तेरी यह कापुरुषता तू पहिले ही व्यक्त कर देता, तो) मैं क्यों तो अपने मित्रराजा सृञ्जयों को आमन्त्रित करता, क्यों केकयराज को कष्ट देता। क्यों इनका उपकारभार वहन करता। अब मैं कब इस ऋण से उऋण बनूँगा। अथवा तो ऐसी विषमावस्था में मैं कर्ण के सम्मुख जाता ही क्यों ॥

(१८)—यही नहीं, (यदि तेरी कापुरुषता का मुझे यत्किंचित् भी आभास पूर्व में हो जाता, तो) न तो मैं दुर्योधन के सम्मुख ही (युद्धकामना से) उपस्थित होता, न अन्य शत्रुसेना की ही प्रतिद्वन्द्विता का अनुगामी बनता। सुन रहे हैं आप भी कृष्ण! (देख रहे हैं आप भी अपने सखा की कायरता !)। अब मेरे इस जीवित रहने को ही धिक्कार है, जिसने आज युद्ध में अपने आपको कर्ण के वश में कर दिया ॥ (१९)—न केवल कर्ण की दृष्टि में ही, अपितु समस्त उन कौरवों की दृष्टि में (शत्रुसेना की दृष्टि में), मित्रसेना की दृष्टि में, अन्यान्य भी जो भी ज्ञात–अज्ञात–शत्रुमित्र यहाँ युद्धकामना से उप–स्थित हुए हैं, उन सब की दृष्टि में मेरा जीवन सर्वथा धिक्कृत, अतएव निरर्थक बन गया है ॥ (हा धिक्) यदि आज महारथियों में श्रेष्ठ कोई मेरा आत्मबन्धु जीवित होता, तो अवश्य ही कर्ण का निहन्ता बनता। अर्जुन! यदि आज तेरा पुत्र अभिमन्यु जीवित रहता, तो किस की सामर्थ्य थी कि, वह मुझे इस प्रकार पराभूत कर देता ॥ (२०)—यदि भीमपुत्र घटोत्कच भी आज जीवित रहता, तो मैं इस प्रकार युद्ध में कर्ण के सम्मुख पराङ्मुख न बन जाता। आज मैंने यह मान लिया है कि, एकमात्र मेरी भाग्यहीनता से मेरे पूर्वजन्म के पाप बलवान् हो पड़े हैं ॥ (२१)—तभी तो अर्जुन तुझे तृण के समान अभिभूत कर के उस दुरात्मा कर्ण ने इस प्रकार मेरे मर्मस्थलों को स्थान-स्थान से क्षत-विक्षत कर दिया है। मुझे अपने सुतीक्ष्ण बाणों से कर्ण ने आज उस निर्दयता से स्थान स्थान से काट दिया है, जैसे धन्वमान्वय शल्य एक अवदाय को कोई आततायी निर्ममता से काट देता है ॥

में छोड़ कर पीठ दीखा कर (भिरुओं की भाँति) घर में आ घुसे हो ॥ (५)—उसी द्वैतवन में तुमने यह भी तो घोषणा की थी कि यदि हम लोग युद्ध में कर्ण को मारने में असमर्थ रहे, तो हम सब जीते-जी जल मरेंगे। होगई न तुम्हारी यह घोषणा भी आज सर्वथा निरर्थक ॥ (६)—अर्जुन ! तुम्हारे जैसे श्रेष्ठ धनुर्धर महावीर की विद्यमानता में हमने अपने मनोराज्य में अनेक महत्त्वाकांक्षाओं को स्थान दे रक्खा था। हमारी कल्पना थी कि, अर्जुन के द्वारा हमारे सम्पूर्ण इष्ट ससिद्ध होंगे। किन्तु राजपुत्र ! देख रहे हैं, हमारी ये सब फलाशायें अपुष्प-निष्फल वृक्षवत् सर्वथा विफल प्रमाणित हो गई हैं ॥ (७)—अर्जुन ! पूरे १२ वर्ष शतवनवास-कष्टपरम्परा, एक वर्ष अज्ञातवास-कष्ट, इस प्रकार तेरह वर्ष हमने इस आशा से अपना जीवन सुरक्षित रक्खा कि, किसी दिन अर्जुन इन सब के प्रवर्त्तक आततायी कर्ण-दुर्योधनादि से प्रतिशोध लेगा। किन्तु जिस प्रकार समय पर होने वाली वर्षा में देवद्वारा भूगम में न्युप्त बीज मूषमानव द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। तथैव तुमने देवद्वारा प्राप्त कल्याणप्रसङ्गरूप बीज को अपनी उपेक्षा से विस्मृत करते हुए आज हमें जीते जी नरक में निमज्जित कर दिया।

(८)—अर्जुन ! आज हमें यह मान लेना पड़ा कि, तुम्हारी उत्पत्ति के समय 'आकाश के देवताओं' ने जो भविष्यवाणी की थी, वह क्योंकि सर्वथा निष्फल प्रमाणित हो गई। अतएव देवता भी आज से हमारी दृष्टि में 'अनृतभाषी' प्रमाणित हो गए। जब तुम केवल सात ही दिन के थे, उस समय यह भविष्यवाणी की थी देवमानवों ने कि—तुम्हारे वंश में उत्पन्न यह बालक इन्द्रसदृश पराक्रमी होगा। अपने सम्पूर्ण प्रतिद्वन्द्वी महारथियों को युद्ध में परास्त करेगा ॥ (९)—खाण्डव वन में यह देवगणों को भी पराभूत कर देगा। सम्पूर्ण प्राणियों-देवमानवों-के समतुलन में यह अप्रतिम ओजस्वी प्रमाणित होगा। अपने शौर्य्य से सुप्रसिद्ध मद्र-कलिङ्ग-केकय वीरों को यह क्षणमात्र में निस्तेज कर देगा। यह कौरवों का सर्वनाशक प्रमाणित होगा ॥ (१०)—पृथिवी में इस से बढ़ कर कोई दूसरा धनुर्द्धर न होगा। संसार में कोई इसे पराजित न कर सकेगा। यह इच्छामात्र से सत्पथ सब को अपना वशवर्त्ती बना सकेगा। इस क्षात्रधर्म्म के साथ साथ यह सम्पूर्ण विद्याओं का भी पारगामी विद्वान् प्रमाणित होगा। (११)—यह अपनी शारीरिक कान्ति से चन्द्रमा के समान आकर्षक होगा, प्राणगत्यपेक्षया वायु-समान होगा, स्थिरता में मेरु की समता करेगा, क्षमा में पृथिवी की समता करेगा, प्रभा में सूर्य्य माना जायगा, लक्ष्मी में कुबेर कहलाएगा, शौर्य्य में 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध होगा, एवं बल में विष्णु की प्रतिस्पर्द्धा करेगा ॥ (१२)—विष्णु के समान शत्रुहन्ता (असुरहन्ता) तुम्हारे कुल में उत्पन्न यह कुन्तिपुत्र (अर्जुन) महामहिमशाली (महात्मा) प्रमाणित होगा। अपनों की विजय का निमित्त बनेगा, एवं द्वेष करने वालों के लिए प्रचण्ड 'वधिक' प्रमाणित होगा, इसका ओज अमित-निःसीम होगा। कुलतन्तुवितानसंरक्षक वंशवर्द्धक होगा ॥ (१३)—इस प्रकार 'शतशृङ्ग' नाम से प्रसिद्ध हिमपर्वतशिखा पर सपश्चर्या में निमग्न तपस्वी देवमानवों ने जो भविष्यवाणी की थी, वह सर्वात्मना मिथ्या प्रमाणित होती हुई 'देवा अपि नूनं मृषा वदन्ति' आज यह व्याज कर रही है। (१४)—इसी प्रकार जब आगे चलकर अन्य भारतीय महर्षियों तक ने तुम्हारे सम्बन्ध में जो उदात्त भविष्यवाणियें अभिव्यक्त

युधिष्ठिर न भावावेश में आकर परुषवाणी से मार्मिक शब्दों में उद्वेगजननी कटु-भर्त्सना कर डाली, तो भरतकुलश्रेष्ठ युधिष्ठिर के वध के लिए क्रोधाविष्ट बन जाने वाले अर्जुन ने सहसा तलवार उठा ही तो ली ॥ (२६)—भावुक-भावाविष्ट अर्जुन के इस तात्कालिक आवेशपूर्ण कर्म को लक्ष्य बनाने के साथ ही मनोविज्ञानवेत्ता (चित्तज्ञ) वासुदेव कृष्णने अर्जुन के मनोभाव पहिचान लिए, एवं अर्जुन की इस अनात्म्यबुद्धा भावुकता के उपशम के लिए वासुदेव कहने लगे कि, हे पार्थ! समझ में नहीं आरहा हमारे कि, इस असमय में तुमने खड्ग क्यों उठा लिया ? ॥ (३०)—देख रहे हैं हम, कौरवसेना के प्राय सभी प्रमुख महारथी तुम्हारे गाण्डीव से मारे जा चुके हैं। इस समय यहाँ, और क्या युद्धभूमि में भी अब कोई वैसा वीर शेष रहा प्रतीत नहीं हो रहा, जिसके साथ तुम्हें अभी युद्ध करना हो ! दुष्टबुद्धि धृतराष्ट्र के अधिकांश पुत्र भी बुद्धिनिष्ठ भीम की गदा से चूर्णशिरस्क बन ही चुके हैं ॥ (३१)—अर्जुन! आज तो वैसा शुभ समय अतिसन्निहित बनता जा रहा कि, निकट भविष्य में ही धर्मराज युधिष्ठिर राज्यपदासीन हों, तुम उन्हें राज्यारूढ़ देखो, वे तुम्हें अनुग्रहपूर्ण दृष्टि से देखें ॥ (३२)—इस परमप्रकार सर्वथा प्रसन्न-हर्षनिमग्न होने के ऐसे हर्षप्रद महामाङ्गलिक शुभावसर पर तुम यह खड्गोत्थानरूप महाअमाङ्गलिक, मोहात्मक कर्म करने के लिए जो सन्नद्ध प्रतीत हो रहे हो, क्या उत्तर दे सकोगे अपनी इस भावुकता का ? (३३)—अर्जुन ! हम तो पुनः तुमसे यही कहेंगे कि, अब तुम्हारे लिए इस समय कोई भी तो वध्य नहीं है। हम समझ न सके कि, किसे मारने के लिए तुम खड्गोत्थान किए सन्नीभूत बन रहे हो ! कहीं तुम्हारा चित्त तो विभ्रान्त (डाँवाडोल) नहीं हो गया है ? ॥ (३४)—क्या अविलम्ब यह स्पष्ट करने का कष्ट करोगे कि, किस लिए किस के लिए यहाँ—अपने हितैषी परिजनों के मध्य में—तुमने वेगपूर्वक (सपाटे से) यह अरिहन्ता खड्ग वितत कर लिया (तलवार तान ली) ?। सुन रहे हो अर्जुन ! हम तुम से प्रश्न कर रहे हैं, तुम्हें बतलाना ही पड़ेगा हमें कि, आज तुम यह क्या करने जा रहे हो, क्या करने का निश्चय कर डाला है तुमने, जो यों घूर्णितनेत्र बनकर क्रोधाविष्ट बनते हुए इस प्रकार इतस्ततः परिभ्रमणरूप से खड्ग को बारम्बार संभाल रहे हो, लक्ष्य बनाते जा रहे हो ? ॥

(३५)—सञ्जय कहने लगे कि, हे कुरुराज धृतराष्ट्र ! वासुदेव कृष्ण के द्वारा सर्वथा परोक्षरूप से मानो भगवान् इस खड्गधारणप्रसङ्ग से अपरिचित ही हों, इस तटस्थ दृष्टि से—अर्जुन के सम्मुख प्रश्न-परम्परा उपस्थित हो जाने पर क्रोधाविष्ट विषधर कृष्णसर्पवत् ऊर्ध्वाध:श्वासपरम्परा का अनुगमन करते हुए घूर्णित नेत्रों से युधिष्ठिर का मानों सशरीर ही निगरण करने का भाव अभिव्यक्त करते हुए क्रोधाविष्ट अर्जुन कृष्ण से कहने लगे कि—

(३६)—भगवन् ! सम्भवत आपको यह विदित न होगा कि—मैंने किसी समय उपांशुरूपसे—अपने मन ही मन में—यह यह व्रतग्रहण (प्रतिज्ञाग्रहण) कर लिया था कि,—"जो भी मुझ से जान में अथवा अनजान में कभी भी किसी भी अवस्था में यह कहने का दुःसाहस कर बैठेगा कि—'तू तेरा गाण्डीव धनुष उतार फैंक ॥ (३७)—तो तत्काल बिना पूर्वापरविमर्शविवेक के मैं उसका मस्तक ही काट डालूँगा"।

(२२)—"अपने आत्मीय बन्धु को विपत्ति में दुष्ट–शत्रु–आततायी के निर्मम आक्रमण से जो बचाता है, वही बान्धव है, वही स्नेहशील मित्र है ॥ इस प्रकार की बन्धु–सुहृद्व्याख्या, इस प्रकार का बन्धु–मित्रधर्म पुरातन मुनियों ने घोषित किया है, जो बन्धुधर्म इसी रूप से परम्परया श्रेष्ठ मानवकुलों में सदा से चला आता रहा है। (जो भी बन्धु, किंवा स्नेही इस धर्माम्नाय की उपेक्षा करता है, क्या उसे बन्धु माना जाय!, नहीं, कदापि नहीं ॥ (२३)—देवरथकार त्वष्टा के द्वारा विनिर्मित अश्वयुक्त–मारुतिध्वजयुक्त सुदृढ़ रथ, सुतीक्ष्ण खड्ग, सुवर्णपट्टबद्ध धनुष, तालपरिमाणयुक्त गाण्डीवधनुष, ऐसे लोकोत्तर युद्धसाधन परिग्रहों से युक्त भी अर्जुन ॥ (२४)—स्वयं कृष्ण द्वारा रथ से युद्ध में इतस्ततः अनुधावन करनेवाला अप्रतिम शक्तिशाली भी अर्जुन कर्ण से डर कर कैसे युद्धभूमि से पराङ्मुख बन गया!, सच–मुच यह महा आश्चर्य्य है। अर्जुन! अब इस स्थिति में तो मुझे यही कहना पड़ेगा कि, अपना गाण्डीव धनुष कृष्ण को ही समर्पित कर दे। तू तो केवल कृष्ण का अनुगामी (सारथी) बन जा ॥ (२५) मुझे विश्वास है, कृष्ण अवश्य ही उग्रकर्म्मा कर्ण का वध कर डालेंगे, उसी प्रकार से, जैसे कि वज्रधारी इन्द्र ने वृत्रासुर को मार डाला था (तात्पर्य्य इस युधिष्ठिर के आक्रोशवचन का यही है कि, अर्जुन तो डर गया था, किन्तु कृष्ण कहाँ चले गए थे उस समय। क्यों नहीं उन्होंने इस कायर अर्जुन के हाथ से गाण्डीव छीन कर, अथवा तो अपने सुप्रसिद्ध सुदर्शनचक्र से कर्ण का वध कर डाला!। दोनों लोकोत्तर वीरों के रहते कर्ण बचा रहे, यह कम आश्चर्य्य है क्या!) (२६) अर्जुन! अन्ततोगत्वा मुझे आज यह कहना ही पड़ता है कि, यदि राधेय कर्ण को मारने में तू असमर्थ है, तो—

आज से तुम्हें अपना गाण्डीव धनुष दूसरों को दे देना चाहिए। मेरी धारणा से तो वानरेन्द्र (वायुपुत्र) महापराक्रमी भीम ही इस गाण्डीव का पात्र है, जो तुमसे कहीं अधिक अस्त्र–शस्त्र प्रयोग में निपुण है। क्यों न गाण्डीव भी उसे ही दे दिया जाय?। गाण्डीव जैसे धनुष को धारण करते हुए तुम्हें अब कोई अधिकार नहीं है कि, अपनी उदासीनता–उपेक्षा (किंवा कायरता) से हमारे परिवार को, तथा राज्य को सङ्कट में डालते हुए तुम हमें सुखभ्रष्ट कर दो ॥ (२७)—धिक्कार है आज तुम्हारे इस गाण्डीवधनुष को। धिक्कार है तुम्हारे उन सशक्त हाथों को, जिन्होंने गाण्डीव को उठा रक्खा है। धिक्कार है तुम्हारे उस तूणीर को, जिसमें असंख्य सुतीक्ष्ण बाण समाविष्ट हैं। धिक्कार है तुम्हारी उस रथध्वजा को, जिसमें अप्रतिम बल के प्रतीक भगवान् मारुति का बिम्ब अङ्कित है। धिक्कार है तुम्हारे सबल सुदृढ रथ को, जो खाण्डववनदाह के अवसर पर साक्षात् अग्निदेव ने तुम्हें दिया था।

(२८)—इस स्थिति के द्रष्टा, एवं धृतराष्ट्र के प्रति उपवर्णयिता सञ्जय धृतराष्ट्र से कहने लगे कि, श्वेत अश्वों से सुसज्जित–सुशोभित अग्निप्रदत्त रथ में आरूढ़ धवलकीर्त्ति अर्जुन की जब इस प्रकार

ही रहा। अतएव उन वृद्ध अनुभवी ज्येष्ठपुरुषों (युधिष्ठिरादि) के उन मनोभावों से भी तू अपरिचित ही रहा, जिन मनोभावों के आधार पर परुषवाणी के द्वारा ये वृद्धकुलपुरुष अपने तुम जैसे भावुक आत्म-बन्धुओं का उद्बोधन कराया करते हैं। यही कारण है कि, वृद्धपुरुषों के त्रिकालानुगत परिणाम को न समझ कर चपल तात्कालिक सामयिक स्थितिविशेष से प्रभावितमना बन कर आज तू जिस आटोपपूर्ण जघन्य कर्म के लिए समुद्यत हो पड़ा, उसका कोई भी वृद्धोपसेवी श्रद्धालु सङ्कल्प भी नहीं कर सकता था। हे पुरुषव्याघ्र! वर्त्तमानकाल के तात्कालिक प्रभाव से जिस महारम्भ, किन्तु परिणाम में सर्वसंहारक लक्ष्य का तू अनुगामी बन गया, यह देखकर निश्चयेन यही मानना पड़ेगा हमें कि—'न वृद्धाः सेविता स्त्वया'॥ (४४)—अर्जुन! धर्म्म का गुहानिहित सुसूक्ष्म रहस्य जानने वाला कोई भी विचारशील धर्म्म निष्ठ मानव ऐसा आपातरमणीय कर्म्म नहीं कर सकता था, जैसा कि सर्वथा धर्म्मभीरु-सदसद्विवेक-शालिनी निष्ठाबुद्धि से वञ्चित तुम करने जा रहे थे॥ (४५)—अकर्त्तव्य को जो भावुक कर्त्तव्य मान बैठता है, दूसरे शब्दों में जिसे कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक नहीं रहता, उससे अधिक निकृष्ट अधम मानव और कौन होगा! दुःख है हमें अर्जुन!, तुम इसी पुरुषाधमस्थिति को आज चरितार्थ कर रहे हो॥ (४६)—अर्जुन! हमें आज तुम जैसे विवेकशून्य को इस कटुसत्य से संयुक्त मानना ही पड़ेगा कि, धर्म्म के रहस्यार्थ को लक्ष्य बना कर जो धर्म्मतत्त्ववेत्ता संक्षेप से एवं विस्तार से धर्म्म का निर्णयात्मक निष्कर्ष अभिव्यक्त किया करते हैं, तू उस निश्चित-निर्णीत धर्म्मपरिभाषा के ज्ञानलवमात्र से भी आजतक वञ्चित ही रहा है॥ (४७)—अर्जुन! तुम्हें यह विस्मरण नहीं कर देना चाहिए कि, धर्म्मतत्त्व के निश्चयात्मक स्वरूपज्ञान से वञ्चित रहने वाला मानव केवल अपनी भावुकप्रज्ञा के आधार पर-भावुकतानुगता तात्कालिकी-प्रत्यक्ष स्थिति के प्रभावाधार पर—अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णायक बनता हुआ अवश्यमेव प्रतारित हो जाता है (धोखा खा जाता है), जिसका, किंवा जिस मूढ़ता का प्रत्यक्ष उदाहरण बनता हुआ तू 'मूढ़' (ज्ञानविमुख आत्मबुद्धिस्वरूपज्ञानविमूढ़) ही प्रमाणित हो रहा है॥ (४८)—वृद्धोपसेवन की उपेक्षा करते हुए, धर्म्म-तत्त्ववेत्ताओं के सुनिश्चित निर्णय से वञ्चित रहते हुए, यों ही केवल अपनी भावुकप्रज्ञा के बल पर ही, विमूढ़भावानुगता केवल मनोऽनुभूति के तात्कालिक आकर्षण से ही सहज सुविधापूर्वक कथमपि मानव अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चयात्मक बोध नहीं प्राप्त कर सकता। वृद्धजनोपसेवनपरम्परानुगता उपदेश श्रवणपरम्परा से ही तो अर्जुन! कर्त्तव्यनिष्ठा की प्राप्ति सम्भव बना करती है, जिस रहस्यात्मिका ज्ञान-निष्ठा को तू आज तक नहीं समझ सका है॥ (४९)—अर्जुन! धर्म्म के सुसूक्ष्म रहस्य को न जानने के कारण ही निकृष्ट-'प्राणिवध' जैसे कुकर्म्मात्मक अधर्म्म को धर्म्म मानता हुआ आज तू यह समझ रहा है कि, 'इस हिंसा कर्म्म से मैं धर्म्म की रक्षा कर रहा हूँ। प्रतीत होता है, तू धर्म्मभावना से सर्वात्मना बहिष्कृत हो चुका है। क्यों?, क्या अब भी तुम्हें धार्मिक माना जाय?। कदापि नहीं॥ (५०)—सुन रहा है अर्जुन! हमारी दृष्टि में प्राणिमात्र को उत्पीडनरूपा हिंसा से बचाए रखना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म्म है। भले ही निर्दोष प्राणियों के स्वरूपसंरक्षणात्मक हित के लिए मिथ्याभाषण भी क्यों न करना पड़े, सो तो भला है। किन्तु प्राणिहिंसा कदापि क्षम्य नहीं है।

आज यहाँ वैसी ही दु सह दुर्घटना घटित हो पड़ी है केशव ! । (आपके सम्मुख ही तो) युधिष्ठिर ने मुझे मेरे गाण्डीव परित्याग करने का मतविरोधी आदेश देने की महाभयावह भ्रान्ति कर डाली है मधुसूदन ! ॥ (३८)—मेरे अनन्य हितैषी गोविन्द ! आपके सम्मुख इस आवेशपूर्ण स्थिति में भरा हुआ मैं आज आप से यह स्पष्ट आवेदन करने की धृष्टता करूँगा ही कि, किसी भी दशा में यह अर्जुन, सत्य प्रतिज्ञ दृढनिश्चयी अर्जुन इस प्रकार परुष वाक्प्रहार करने वाले युधिष्ठिर के इस अक्षम्य अपराध को सहन करने के लिए कदापि सन्नद्ध नहीं है । अवश्य ही आज मैं इस "धर्मभीरु" राजा का इस उत्तानित सुतीक्ष्ण खड्ग से वध करूँगा, अवश्य करूँगा ॥ (३९)—भगवन् ! इस धर्मभीरु आततायी युधिष्ठिर का 'आततायिनमायान्तं हन्यादेव-अविचारयन्' इस धार्मिक आदेश के संरक्षण के लिए अवश्य ही खड्ग से शिरश्छेद करूँगा, एवं इस वधकर्म्म से अपनी तथा-प्रतिज्ञाव उपांशुप्रतिज्ञा अवश्य ही आज पूर्ण करूँगा । अलम् ! आलम्यास यदुनन्दन ! बस एकमात्र यही कारण है मेरे सहसा खड्गोत्थान का ॥ (४०)—हे जनार्दन ! निकट भविष्य में ही—आपके सम्मुख ही—निष्पन्न होने वाले आततायी युधिष्ठिर के शिरश्छेद कर्म्म से आज वास्तव में यह अर्जुन प्रतिज्ञापालनात्मक सत्यधर्म्म के ऋणानुबन्ध से उन्मुक्त हो जायगा । इस वधकर्म्म से ही मैं शोकरहित—परितापरहित बन सकूँगा भगवन् ! नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय जनार्दन ! ॥

(४१)—अथवा तो भगवन् ! दुर्दैववशात् समुपस्थित, अघटितघटनात्मक, एसे घोर घोरतम विषम अवसर पर आपकी धारणा से क्या होना चाहिए ! क्या करना चाहिए इस अर्जुन को ! (क्योंकि इससे पूर्व भी अमुकामुक 'विषमे समुपस्थिते' आप ही के आदेश—पालन से अर्जुन लब्धलक्ष्य बना था)। गोविन्द ! आप ही अतीत और भविष्यत् के परिणामों के सम्यक्प्रकारेण जानने वाले हैं । (यह अर्जुन तो केवल वर्त्तमान के आधार पर ही निर्णय करना जानता है) ॥ (४२)—अन्तिम निर्णय इस विषमावसर पर अर्जुन का यही है कि, मेरे गोविन्द भूत—भवत्—भविष्यत् के शुभाशुभ परिणामों के माध्यम से जो भी आप निर्णय करेंगे, वही अर्जुन को बिना किसी तर्क-वितर्क के सर्वात्मना मान्य होगा, एवं तदनुसार ही अर्जुन करेगा ॥

सञ्जय कहने लगे कि, हे धृतराष्ट्र ! इस प्रकार अर्जुन के तथाविध भयानक दृढ निश्चय—आपातरमणीय संकल्प को सुन कर, साथ ही अर्जुन की भवितव्यरूपा जिज्ञासा को देख—सुनकर भगवान् कृष्ण ने सर्वथा रूक्षभाव से पहिले तो—"धिक्कार है अर्जुन तुझे, बार बार धिक्कार है तुझे" इस प्रकार अर्जुन की भर्त्सना की, एवं तदनन्तर वास्तविक स्थिति से अर्जुन का उद्बोध कराने के लिए साधूनां परित्राणाय आविर्भूत पूर्णेश्वर अर्जुन से यों कहने लगे कि ॥—

(४३)—पार्थ ! आज मुझे यह विदित हुआ कि,—'न वृद्धा सेवितास्त्वया' (वृद्ध पुरुषों के सहवास से तू आज तक वंचित ही रहा) फलतः धर्म के सुसूक्ष्म तत्त्वों का देश—काल—पात्र—द्रव्य-श्रद्धा—आस्था—मनोभाव-पूर्वापरविवेकपूर्वक समन्वय करने वाले धर्मतत्त्वज्ञ अनुभवी धर्मव्यवहारनिष्ठ नैष्ठिक वृद्धपुरुषों ने ऐसे विषम प्रसङ्गों के लिए जो निर्णय निर्णीत किए हैं, उनसे तू सर्वात्मना वञ्चित

गाथी यशस्विनी माता कुन्ती भी तुझे धर्मरहस्य का बोध करा सकती है । (हमें आश्चर्य है कि, अपने ही कुल-परिवार में ऐसे धर्मरहस्यवेत्ताओं के वात्सल्यपूर्ण वातावरण में उपलालित-वर्द्धित अर्जुन कैसे धर्मरहस्यज्ञान से वञ्चित रह गया ! । अस्तु जब प्रसङ्ग उपस्थित हो ही गया है, तो) हे धनञ्जय ! धर्म का यही सूक्ष्म रहस्य हम तुझे तथ्यरूप से बतला रहे हैं, जिसे अवधानपूर्वक तुझे लक्ष्य बनाना चाहिए ॥

भगवान् कृष्णद्वारा प्रतिपादित–'धर्म्मस्वरूपव्याख्या'

(५८)—अर्जुन ! लोक में 'सत्य' भाषण करने वाला मानव ही साधु (श्रेष्ठ) कहलाया है। अतएव इस लोकमान्यतानुसार मानना और कहना पड़ेगा कि, त्रैलोक्य में 'सत्य' से अतिरिक्त और कोई दूसरा 'पर' तत्त्व (उत्कृष्ट-विशिष्ट-तत्त्व) नहीं है। किन्तु इस सत्यभाषणात्मक-सत्यानुशीलनात्मक सत्यात्मक धर्म्म, किंवा (यद्वा वा इतरथा) धर्म्मात्मक सत्य का मौलिक रहस्य, व्यवहारकौशल सहसा सर्वसाधारण की प्रज्ञा में समाविष्ट नहीं हो सकता। अतएव इस सत्यधर्म्म को, किंवा धर्म्मसत्य को आप्तपुरुषों ने 'सुदुर्विज्ञेय' कहा है। जिस प्रकार इस सत्यधर्म्म का अनुष्ठान-(अनुशीलन एवं आचरण) हुआ करता है, वही तो कौशल है, एवं वही तो तुझे जानना है। प्रारम्भ में तुझे धर्म्मरहस्य के सम्बन्ध में यही मूलधारणा निश्चित कर लेनी है कि, सत्य ही धर्म्म का मौलिक स्वरूप है * ॥

---

* निगमग्रन्थों में विस्तार से सत्य की धर्म्मता का स्वरूपविश्लेषण हुआ है। ब्रह्म ने सृष्टि-सञ्चालन के लिए क्रमशः क्षत्र-विट्-शूद्रभाव उत्पन्न किए। किन्तु एतावता ही सृष्टिसञ्चालन कर्म्म में ब्रह्म सफलता प्राप्त न कर सके। अन्ततोगत्वा सर्वोत्कृष्ट उस धर्म्म का आविर्भाव हुआ ब्रह्म के द्वारा, जो 'सत्य' रूपसे लोक में प्रसिद्ध है। देखिए !

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव। तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत–'क्षत्रम्'। स नैव व्यभवत्। स विशमसृजत। स नैव व्यभवत्। स शौद्रं वर्णमसृजत–पूषणम्। स नैव व्यभवत्। तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत–'धर्म्मम्'। तस्माद् धर्म्मात्–परं नास्ति। अथो अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्म्मेण, यथा राजा–एवम्। यो वै स धर्म्मः 'सत्यं' वै। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुः–'धर्म्मं वदति' इति। धर्म्मं वा वदन्तमाहुः–'सत्यं वदति' इति। एतद्धि एतद् उभयं भवति" ॥

शतपथब्राह्मण १४।४।२।२३ से २६ पर्य्यन्त

सत्य धर्म्म के मौलिक रहस्यज्ञान से एकान्ततः असंस्पृष्ट प्रतीच्य विद्वानोंने 'धर्म्म' के सम्बन्ध में श्रुति के–'अथो अबलीयान् बलीयांसमाशंसते' इस रहस्य को न जानने के कारण जो यह सिद्धान्त मान लिया है कि,–'धर्म्म केवल निर्बलों की रक्षा का साधन है', वह नितान्त उपेक्षणीय है। विशेषविवरण के लिए देखिए–(भाष्यविज्ञान तृतीयखण्ड पृ० सं० ११०)

(५१)—और आज तू किसी सामान्य 'प्राणी' का ही नहीं, अपितु धर्मरहस्यवेत्ता अपने ज्येष्ठ-भ्रष्ठ-कुलवृद्ध-धर्मराज युधिष्ठिर जैसे महामानव का वध करने के लिए प्रवृत्त हो रहा है। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!। सर्वथा पशुसमान एक यथाजात नराधम-निकृष्ट विमूढ मानव-प्राकृत मानव-के अतिरिक्त और कौन प्रज्ञाशील मानव ऐसे अदृष्टपूर्व-अश्रुतपूर्व-जघन्य कर्म का सङ्कल्प भी कर सकता है!॥ (५२)—सुन अर्जुन! युद्ध के लिए सम्मुख उपस्थित न रहने वाले, किन्तु सहजरूप से सम्मुख उपस्थित रहने वाले ऐसे अयुध्यमान निर्दोष मानव का वध, जिसने कभी स्वप्न में भी शत्रुबुद्धि न की हो, वैसे स्नेही का वध, शस्त्रास्त्रप्रहार की वेदना सहने में असमर्थ, अतएव युद्ध से लौट आने वाले शिथिलगात्र मानव का वध, अपनी इस पराभूति से आत्मत्राण प्राप्त करने की कामना से अपने समर्थ सहायक बन्धुजनों के आश्रय में आ जाने वाले मानव का वध,॥ (५३)—अपनी असमर्थता के कारण ही विनयावनत बन कर शरण में आए हुए मानव का वध, उद्वेगकर-असह्य-परिस्थिति-वातावरणों के सांघातिक आक्रमण से चलितप्रज्ञता के कारण आत्मबुद्ध्यनुगत विवेक को विस्मृत कर देने वाले प्रमादभावापन्न मानव का वध शिष्ट मानवों की शिष्ट मान्यता में कदापि मान्य नहीं बन सका है। अर्जुन! ये सम्पूर्ण अवध्य धर्म्म धर्मराज उस युधिष्ठिर में समाविष्ट हो रहे हैं, जो अपनी ज्येष्ठता से तेरा 'गुरु' है। क्या इस अवध्य का तू वध करने के लिए ही आतुर हो रहा है!॥

(५४)—कभी अपनी पूर्वावस्था में अवस्थानुगता भावुकता के आवेश में आकर सर्वथा बालबुद्धि से पहिले तो उपांशु प्रतिज्ञा कर बैठना, और आज इस सर्वथा धर्म्मविरुद्ध अवध्य प्रसङ्ग में अधर्मयुक्त-मूर्खतापूर्ण निन्द्य कर्म के लिए उस बालभावानुगता उपांशुप्रतिज्ञा को चरितार्थ करने के लिए आवेशपूर्वक सन्नद्ध हो जाना, यह कैसी विडम्बना है!॥ (५५)—मानवधर्म्मशास्त्रोपवर्णित नैगमिक अतीन्द्रिय धर्म्मों की त्रिकालानुबन्धिनी सुसूक्ष्मा, अतएव प्रत्यक्षदृष्ट्या दुर्विज्ञेया गति का स्वरूप न जानते हुए अर्जुन! तू आज अपने अवध्य गुरु को मारने के लिए जो सहसा अनुधावन कर रहा है, यह विडम्बना नहीं, तो और क्या है!॥ (५६)—(जिस प्रकार तू वृद्धोपसेवन से पराङ्मुख है, एवमेव) हमें अब यह भी मान ही लेना चाहिए कि, धर्म के सुसूक्ष्म समन्वयात्मक मौलिक रहस्यज्ञान से भी तू आजतक वञ्चित ही रहा है। तेरे उद्बोधन के लिए आज यह आवश्यक हो गया है कि, तुझे धर्म के रहस्यात्मक उस दृष्टिकोण से परिचित कराया जाय, जिसका वास्तविक मर्म्म तुझे तेरे कुल में धर्मरहस्यवेत्ता महात्मा भीष्म, एवं धर्मानुशीलनपरायण धर्मराज युधिष्ठिर के द्वारा प्राप्त हो सकता है *॥ (५७)—भीष्म और युधिष्ठिर के अतिरिक्त अर्जुन! धर्म्म-नीति-पारदर्शी एकान्तनिष्ठ महात्मा विदुर, तथा तेरी जन्म-

---

* महान् आश्चर्य्य है इस 'भावुकता' के आश्चर्य्यपूर्ण दुर्विज्ञेय स्वरूप पर, जिसने आज उस अर्जुन को धर्म्मविरुद्ध कर्म में प्रवृत्त कर दिया, जो अर्जुन युद्धारम्भ से पूर्व भगवान् कृष्ण के द्वारा 'गीता' के माध्यम से सब कुछ जान चुका था। तभी तो हमने निरतिशय भावुक अर्जुन को इस निबन्ध का महान उदाहरण घोषित किया है।

वास्तव में अनृतानुष्ठान मनता हुआ पुण्य के स्थान में पाप का ही उत्तेजक प्रमाणित हो रहा है, एवं ऐसी दशा में तू सर्वात्मना प्रमाणित हो रहा है 'वाजमायापस प्रश्न ही ॥ (६२)—अर्जुन ! पुन हम तुमे यह स्मरण करा देना चाहते हैं कि, आपद्धर्मानुगत अमुक विशेष अवसरों पर प्रतिज्ञात सत्य भी परोक्ष मना लिया जाता है, एवं कभी अनुष्ठित ऐसा प्रतिज्ञात्मक सत्य काव्यरूप में तो क्या, वाणी का भी विषय नहीं मनाया जाता । सत्य, और अनृत, दोनों के इस आपेक्षिक व्यवहार्य-कौशल का अपनी विवेकबुद्धि से निश्चय करने के अनन्तर ही वह मानव वास्तव में धर्मरहस्यवेत्ता कहलाता है। ठीक इसके विपरीत जो 'भवत् सत्यमवक्तव्यं, न वक्तव्यमनुष्ठितम्' तत्त्व की अज्ञानता से सत्याभिनिविष्ट सत्याग्रही मना रहता है, एवं यह धर्मज्ञान से, एवं धर्म की मौलिकता से सर्वथा पराङ्मुख ही मना रहता है॥

(६३)—हे कृतप्रज्ञ अर्जुन ! (समझदार ! मानव !) तुझे सुप्रसिद्ध उस ऐतिहासिक घटना से कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए, जिसमें अपने हिंसा जैसे क्रूर कर्म से सुदारुण मना रहने वाला 'बलाक' नामक व्याध-(मृगयाप्रिय-शिकारी)-पुरुष अन्ध के वध से महतो महीयान् पुण्य का पुण्यभागी मन जाता है ॥ (६४)—एवं इस से भी अधिक और क्या आश्चर्य होगा कि, अहोरात्र धर्मकामना-तदनुगत धार्मिक कर्मों में ही आसक्तिपूर्वक आरूढ़ परमसत्यभक्त-सत्याग्रही 'कौशिक' नामक तपस्वी ब्राह्मण अपनी सम्यग्विवेकशून्या अभिनिविष्टा बुद्धि से सर्वथा विमूढ मनता हुआ 'आपगास्विव' महतामही-यान् पाप का भागी मन गया । इस प्रकार बलाक जैसा पापात्मा व्याध हिंसा जैसे जघन्य कर्म से पुण्य गति का अधिकारी मन जाता है, एवं कौशिक जैसा पुण्यात्मा ब्राह्मण सत्यभाषण जैसे उत्कृष्ट कर्म से पापगति का भोक्ता मन जाता है। जो पापपुण्यात्मक-अधर्मधर्ममूलक अनृतसत्य-हिंसा-अहिंसा के सुसूक्ष्म रहस्य को नहीं जानते उनके लिए तो यह ऐतिहासिक प्रसङ्ग आश्चर्य का ही विषय प्रमाणित होगा ॥

(६५)—(भावुक अर्जुन सचमुच कृष्ण के द्वारा श्रुत तथाकथित ऐतिहासिक सङ्केत से सहसा आश्चर्य विमुग्ध मन जाता है । इस आश्चर्य के उपशम के लिए अर्जुन जिज्ञासा कर ही तो बैठता है कि-) भगवन् ! अनुग्रह कर मुझे विस्पष्ट विशद रूप से वह ऐतिहासिक घटना बतलाने का अनुग्रह करें, जिसका 'बलाक' नामक व्याध के साथ, नदियों के साथ, एवं तपस्वी कौशिक के साथ सम्बन्ध है ॥ अर्जुन की इस सहज जिज्ञासा का उपशमन करते हुए वासुदेव कहने लगे)—

(६६)—अर्जुन ! घटना बहुत पुरानी है (पुरा) । "किसी अरण्योपान्त-प्रदेश में 'बलाक' नामक एक व्याध सपरिवार निवास करता था । वह व्याध अपनी मृगया के व्यसन से नहीं, अपितु अपने पुत्र पत्नी पुत्रवधू आदि की शरीरयात्रा निर्वाहमात्र के लिए सपरिमित ही मृगादि वन्य पशुओं का वध करता हुआ अपने कौटुम्बिक संरक्षण में प्रवृत्त रहता था । इस प्रकार बलाक व्याध का यह हिंसात्मक भी कर्म प्रकृतिराज्ञासिद्ध शरीरयात्रानिर्वाहकमात्र मना रहता हुआ उत्थाप्याकाङ्क्षारूपा इच्छात्मिका कामना (कामलिप्सा) से असंस्पृष्ट रह कर अकिञ्चन 'निष्कामकर्म' प्रमाणित हो रहा था ॥ (६७)—इस व्याध के मातापिता अत्यन्त वृद्ध थे । इन वृद्ध मातापिता का, एवं अन्यान्य अपने आश्रित मनों (भगिनी

(५९)—"सत्य सदा 'सत्य' ही है (सच सच ही है)। इसलिए प्रत्येक दशा–स्थिति–परिस्थिति में सत्यभाषण ही करना चाहिए। एवमेव अनृत अनृत ही है (झूँठ झूँठ ही है), इसलिए कभी अनृत-भाषण (मिथ्याभाषण) नहीं करना चाहिए" इस प्रकार आवेशपूर्वक आग्रहपूर्वक 'सत्य' को, किंवा तद्रूप धर्म्म को लौकिक ऐन्द्रियिक व्यवहारों में कभी नियन्त्रित नहीं किया जा सकता, नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि–देश–काल–पात्र–द्रव्य–श्रद्धा–युगधर्म्म–शारीरिक अवस्था–मानसिक स्थिति–युगधर्म–समाजनीति–राजनीति–आदि की स्थिति–परिस्थितियों के तारतम्य से व्यावहारिक लोकतन्त्र में सत्यधर्म का व्यतिक्रम अनिवार्य्य बन जाता है। *। ऐसे अवसर भी धर्मसम्मत माने गए हैं, जहाँ जान–बूझ कर सत्यसाधन को परोक्ष बना लिया जाता है, एवं अनृतभाषण को स्वीकृत कर लिया जाता है। जहाँ जिन स्थलविशेषों–परिस्थितिविशेषों में अनृत 'सत्य' रूप से व्यवहार में आ जाता है, एवं सत्य 'अनृत' रूप से व्यवहारानुगामी बन जाता है, (उनका स्मार्त्तधर्म्मग्रन्थों में विस्तार से उपवर्णन हुआ है, जिनमें से कुछ एक उदाहरण यहाँ भी उद्धृत कर दिए जाते हैं)॥

(६०)—विवाहानुगत सम्बन्धियों के नर्म्मव्यवहारों (उपहास–हास–परिहास–अवसरों) पर, गोवाह्मणात्मक दाम्पत्यसम्बन्ध के अवसर पर, किसी निर्दोष के प्राणसंकटावसर पर, किसी के न्यायसिद्ध वित्तापहरण प्रसङ्ग पर, निगमागमाम्नायनिष्ठ–तदनुशीलनपरायण–आचरणपरायण–उपदेशक–द्विजातिमानव के इष्टसाधन प्रसङ्गावसर पर, इन सुप्रसिद्ध पाँच स्थलविशेषों में जान–बूझ कर भी किया गया अनृत-भाषण सत्यभाषणवत् पुण्य कर्म्म ही मान लिया गया है॥ (६१)—जहाँ किसी निर्दोष प्राणी के सर्वस्वापहरण का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय, और वहाँ यदि एक तटस्थ व्यक्ति के मिथ्याभाषण से उस निर्दोष का संरक्षण हो जाय, तो ऐसी परिस्थिति में उस साक्षीभूत तटस्थ व्यक्ति के द्वारा बोला गया अनृत अवश्यमेव सत्यभाव में परिणत हो जाता है। और यदि वह साक्षीभूत व्यक्ति पूर्वोक्त (५९) प्रारम्भिक दृष्टिकोण के आधार पर आवेशपूर्वक सत्यभाषण का पक्षपाती बनता हुआ ऐसे अवसर पर साभिमान में सत्यभाषण कर बैठता है, इसके इस 'सत्याग्रहात्मक' सत्यभाषण से यदि उस निर्दोष मानव का आततायी दुष्ट दस्यु आदि के द्वारा सर्वस्वापहरण हो जाता है, तो साक्षी का वह सत्यधर्म्म निश्चयेन असत्य–अधर्मरूप में परिणत हो जाता है–'तथानृतं भवेत् सत्यं, सत्यं चाप्यनृतं भवेत्'। सत्यानृत के इस व्यतिक्रमात्मक-अपवादात्मक रहस्य को न जानने के कारण ही तो अर्जुन! तू आज अपनी बालभावानुगता उपांशुकृता सत्यप्रतिज्ञा को आग्रहपूर्वक सत्य मानने की भ्रान्ति करता हुआ युधिष्ठिर जैसे दोषरहित मानवश्रेष्ठ के वध के लिए सन्नद्ध कर बैठा। अपने सत्याग्रहाभिनिवेश से अभिनिविष्ट तू जिस प्रकार सत्यधर्म्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो पड़ा, कहना पड़ेगा कि, तेरा यह सत्यानुष्ठान

---

* जिस स्वदाराभिगमननिबन्धन स्मार्त्तधर्म्म का मखादि देवकर्म्मों में अनिवार्य अनुगमन विहित हुआ है, वही—'दीपयात्राविवाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति' इत्यादि रूप से धर्म्मग्रन्थों में अपवाद मान लिया गया है।

कौशिक के आश्रम के सन्निकटवर्त्ती अरण्य में कौशिक के देखते-देखते छिप गए। बड़ी ही सतर्कता से लक्षीभूत इन मानवों का अन्वेषण करते-करते क्रोधाविष्ट दस्यु इस ओर आ निकले ॥ (७६)—यहाँ सहसा तपस्वी कौशिक पर इन दस्युओं की दृष्टि पड़ी। दस्यु भी यह जानते थे कि, कौशिक सत्यवादी हैं, कभी झूँठ नहीं बोला करते। अतएव दस्यु इन से प्रश्न कर बैठे कि, भगवन्! बहुत से मनुष्य इस ओर पलायित होकर आए हैं। किस मार्ग से वे आए, और कहाँ चले गये, कृपया यह बतलाने का अनुग्रह करेंगे ॥ (७७)—हम सत्य को साक्षी बना कर आप से यह प्रश्न कर रहे हैं। यदि आप जानते हैं, तो बतलाइए! हमें कि, वे कहाँ गए, कहाँ छिपे? । सत्यवादी कौशिक-(किन्तु सत्यधर्म्म के सुसूक्ष्म रहस्य से अनभिज्ञ भावुक कौशिक) ने सत्यवाणी का उद्घोष कर ही तो डाला ॥ (७८)—धर्म्माभिनिविष्ट सत्यवादी ! कौशिक ने यह उदार घोषणा कर ही तो डाली दस्युओं को लक्ष्य बना कर कि,—'यह जो अमुक प्रदेश में वृक्ष-लता-गुल्म समुलित निबिड़ स्थान है, उसी धन्यप्रदेश में वे मनुष्य छिपे हैं ॥ (७६)—परिणाम इस सत्यवक्ता ब्राह्मण के सत्यभाषण का जो होना था, वही हुआ। उन क्रूर दस्युओं ने सत्यनिष्ठ कौशिक के निःसीम अनुग्रह से उन निर्दोष मानवों का निम्ममरूप से कौशिक की सत्यसाक्षी ! में ही वध कर डाला। दस्युगण कब इस पापकर्म्म का परिणाम भोगेंगे ?, प्रश्न का उत्तर कालपुरुष पर अवलम्बित बना। और इधर हमारे ये ब्राह्मणश्रेष्ठ अपने इस महा अधर्म्म के महान् सु ? परिणामस्वरूप, अपनी इस दुरुक्ता-दुष्प्रभावापन्ना वैखरीवाक् के महान् अनुग्रह ! स्वरूप ॥ (८०)—उस कष्टात्मक नरकगति को प्राप्त हुए, जहाँ धर्म्म के सूक्ष्मतत्त्वों को न जान कर धर्म्माभिनिवेश के द्वारा भावुकतापूर्ण कर्म्म करने वाले महानुभाव ससम्मान पधारते रहते हैं। अथवा तो जहाँ सामान्यज्ञानविमूढ-ज्ञानलव दुर्विग्ध-धर्म्मविभागरहस्यज्ञानानभिज्ञ मूर्ख जाया करते हैं ॥

(८१)—(बड़ा ही सुसूक्ष्म है यह सत्यधर्म्म, जिसके निश्चयात्मक स्वरूप-निर्णय के सम्बन्ध में शास्त्र में अनेक प्रकार उपवर्णित हुए हैं, जिनमें से कुछ एक अनिवार्य्य प्रकार वासुदेवकृष्ण के द्वारा यहाँ संग्रहीत हो रहे हैं)—अर्जुन ! जो (भावुक जन अपनी अस्थिरप्रज्ञा के कारण धर्म्मनिर्णय में, "इदमित्थमेव कर्त्तव्यं, नान्यथा" इस रूप से यथार्थ असन्दिग्ध विनिश्चय में स्वयं असमर्थ रहता है, उसके कर्त्तव्य कर्म्म निर्णय का सर्वश्रेष्ठ एकमात्र यही उपाय है कि, जैसा ऐसे अवसरों पर धर्म्मरहस्यवेत्ता अनुभवी वृद्धपुरुष आदेश दें, वैसा ही कर लेना चाहिए। उन्हीं के सम्मुख अपनी जिज्ञासा अभिव्यक्त कर देनी चाहिए। इस पर जैसा भी वे निर्णय करें, अवनतशिरस्क बन कर आस्था (बुद्धियोग)-श्रद्धा (मनोयोग) पूर्वक उसे लक्ष्य बना लेना चाहिए। स्वयं धर्म्मनिर्णय में असमर्थ भावुक मानव यदि वृद्धों से बिना निर्णय कराए ही अपनी प्रत्यक्ष-दृष्टिमात्र के आधार पर निर्णायक बन बैठता है, तो निश्चयमेनैव लक्ष्यच्युत बनता हुआ वह पापात्मक प्रत्यवाय का ही भागी बन जाता है। एवं निश्चयेन यह श्वभ्रगति (नरकगति) का अनुगामी बन जाता है। धर्म्म का लक्षणोद्देश (मौलिक आधार) क्या है ?, यह बोध प्राप्त किए बिना ही "होगा कुछ भी लक्षणोद्देश , ऐसा ही होगा अमुक धर्म्मादेश का

दौहित्रादि) का भरणपोषणभार भी इस कर्मयोगी पर अवलम्बित था। एक प्रकार से यह द्विजाति मानववत् गृहस्थानुबन्धिनी कौटुम्बिक व्यवस्था का संरक्षक बना हुआ था। यह अपने अवरवर्णोचित नियत–प्राकृतिक–कर्मरूप 'स्वधर्म' में अनन्य निष्ठा से आरूढ़ था। इसकी सहजवाणी सदा 'सत्य' को ही मूलाधार बनाए रहती थी। यह कभी किसी के साथ ईर्ष्या–द्वेष नहीं करता था॥ (६८)—एक दिन अपने पारिवारिक भरणपोषणाय नित्यनियमानुसार जब यह मृगया के लिए निकला, तो दैवदुर्विपाकवश उस दिन इसे कोई पशु उपलब्ध न हो सका। निराशा में निमग्न इस व्याध का ध्यान सहसा नदीकूल पर पानी पीते हुए एक चक्षुर्विहीन 'श्वापद' (वन्य पशुविशेष) की ओर आकर्षित हुआ॥ (६९) उस अरण्य में मृगया करते बलाक की बहुत आयु व्यतीत हो चुकी थी। किन्तु कभी इसने ऐसा विलक्षण पशु न देखा था। इसे क्योंकि पारिवारिक पोषण का ध्यान था, अतएव विलक्षणता की अधिक मीमांसा न कर व्याध ने इसे मार डाला। इस अन्ध श्वापद के मरते ही उसी समय व्याध पर आकाश से पुष्प-वृष्टि हुई॥ (७०)—यही नहीं, भौम अन्तरिक्षलोकनिवासी विमानचारी अप्सरा–गन्धर्वगणों ने मनोरम गीत–वाद्य से तदाकाश–मण्डल आपूर्ण बना दिया। इस मनोरम वातावरण में मृगव्याध को ले जाने के लिए सहसा स्वर्ग से विमान अवतरित हुआ॥ तथ्य यह है कि (७१)—(७२)—इस बलाक व्याध ने भूतासक्तिबन्धनविमोक की कामना से एक बार सुदारुण तप कर यह वर प्राप्त किया था कि, "कालान्तर में अपने स्वधर्म पर आरूढ़ रहते हुए ही मृगया करते हुए ही–जिस दिन तेरे हाथ से अन्ध श्वापद मारा जायगा, उसी समय पापपुण्यसमतुलन का क्षण आ जायगा। एवं इस निमित्तमात्र–व्याज–से तू स्वर्गगति प्राप्त कर लेगा"। वैसा ही घटित हुआ। इस प्रांशितपकर्म के व्याज से व्याध बलाक–धर्मनिष्ठ–सहजधर्मारूढ़–बलाक सद्गति को प्राप्त हो गया॥

७३—अर्जुन! अब आख्यान के उस दूसरे दृष्टिकोण की ओर तुम्हारा ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसका 'तपस्वीन' * कौशिक से सम्बन्ध है। बहुश्रुतप्रभृत तपस्वी कौशिक नामक ब्राह्मण नागरिक सम्पर्क से विदूर वैसे किसी सुशान्त नदीसङ्गमात्मक नैगमिक स्वाध्याय के अनुरूप एकान्त स्थान में निवास करता था, जो नदीसङ्गमात्मक एकान्त स्थान ब्राह्मण की नैगमिक सात्त्विक बुद्धि को सत्त्वविभूति की ओर आकर्षित रखता है+॥ (७४)—अर्जुन! इस द्विजभद्र ने भी तदनुसार ही किसी समय यह उपांशु प्रतिज्ञा करली थी कि,—"भले ही सम विषम कैसी भी अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थिति उपस्थित हो जाय, मैं सदा सत्य भाषण ही करूँगा"। इसी प्रतिज्ञा के कारण यह कौशिक तपस्वी तत्प्रान्त में (सत्यवादी हरिश्चन्द्र की भाँति) 'सत्यवादी' नाम से प्रसिद्ध हो गया था॥ (७५)—एक समय की घटना है कि, कुछ एक भ्रान्त मानव पश्चात्–अनुधावन करने वाले आततायी दस्युओं के भय से त्राण प्राप्त करने के लिए

---

* तपस्विनां–इन –श्रेष्ठ –'तपस्वीन' (तपस्विश्रेष्ठ , श्रेष्ठतपस्वी था)।
+ "उपह्वरे गिरीणां, सङ्गमे च नदीनां धिया विप्रोऽजायत" (ऋक्संहिता)।

पूरिका अनुक्ता अपवाद विधियों का समन्वय सामयिक माना जायगा। उदाहरण के लिए—'अग्नीपोमीयं पशुमालभेत' यह है 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' इस नियम विधि की अपवादविधि। इसकी पूरिका अनुक्ता अपवादविधि भी अनुमान द्वारा कल्पना की जायगी—'सर्वभूतात्मकविश्वयज्ञसंरक्षणायाग्नीपोमीयं-पशुमालभेत' इस प्रकार। इसी आनुमानिक विधिभाव का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, अर्जुन! न सत्यधर्म का समन्वय कर जो युधिष्ठिर को मारने के लिए उद्यत हो पड़ा, इस अपराध के लिए 'न प्रत्यसूयामि'। तुझे कोई विशेष दोष हम नहीं दे रहे इसलिए कि, तू धर्मविधियों के पूरक आनुमानिक विधिभावों से सर्वथा अपरिचित है। विधान हुआ है केवल मुख्य विधियों का ही। तत्पूरिका विधियाँ विहित नहीं हुई हैं, अपितु अनुमान के आधार पर कल्पित करली जातीं हैं। यही धर्मनिर्णय का आनुमानिक विधिकल्पनारूप तीसरा प्रकार है।

(बतलाया गया है कि, धर्म के लक्षणोद्देश से अपरिचित रहने के कारण ही धर्म का समन्वय नहीं होता। उस लक्षणोद्देश–मौलिक आधार–का स्वरूप क्या?, इसी प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं)—'प्रभावार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्'। सम्पूर्ण भूत–प्राणिमात्र अपने प्रभव भाव से सुरक्षित रहें, उत्पन्न भूतमात्र स्वरूप से सुरक्षित रहें, प्राणिमात्र (मानवमात्र) अभ्युदयपथानुगामी बने रहें, इसीलिए महर्षियों के द्वारा धर्म का प्रवचन हुआ है। अभ्युदय–संरक्षण–विकास–अभिवृद्धि–तृप्ति–तुष्टि–जिन आदेशों से हुआ करती है, वे आदेश ही धर्म हैं। निर्माण, अस्तित्व, स्वरूपसंरक्षण ही धर्म का मौलिक आधाररूप लक्षणोद्देश है। ध्वंस–नास्तित्व–स्वरूपविनाश कदापि धर्म का लक्षणोद्देश नहीं माना जा सकता। विधि यहाँ का धर्म है, निषेध नहीं। 'करना' यहाँ धर्म है, 'न करना' नहीं। 'अस्ति' यहाँ धर्म है, 'नास्ति' नहीं। 'प्रभव' यहाँ का धर्म है, 'विनाश' नहीं। इस लक्षणोद्देशरूपा निकषा (कसौटी) पर ही हमें धर्मविधियों की उपयोगिता के सम्बन्ध में निर्णय करना चाहिए। तदित्थं–महाजनपथसमर्थक वृद्धवचनप्रामाण्य, तर्कप्रामाण्य, अनुमानप्रामाण्य, रूप से तीन मुख्य प्रकार धर्म के सम्बन्ध में अनुगमनीय बना करते हैं। (जो भावुक इस रहस्य को न जान कर भारतीय धर्म के महाजनपथसम्मत वृद्धवचनप्रामाण्य के सम्बन्ध में यह आलोचना करने की धृष्टता करते हैं कि—"श्रुति–स्मृति–आदिवचन परस्पर विरोधी हैं। इस विरोधभाव से त्राण पाने के लिए ही महाजनपथ का आश्रय लिया है भारतीयों ने" वे इसका मर्म समझ ही नहीं सके हैं। विधि, एवं पूरक विधियों के, नियमविधि एवं अपवादविधियों के समन्वय के कारण जो विरोध प्रतीत होता है, वह सर्वसामान्य के लिए अज्ञात ही बना रहता है। इनके लिए तो इस समन्वय के आचार्य रहस्यवेत्ता महाजन पुरुषों का आदेश ही हितकर बन सकता है, यही तात्पर्य है इस सूक्ति के मर्म का, जिसका निम्नलिखित स्वरूप आस्तिक जगत् में सुप्रसिद्ध है)—

" श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्य्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां "महाजनो येन गतः स पन्थाः" ॥

अमुक तात्पर्य्य, जैसा कि हम समझ रहे हैं" इस आवेशमात्र से अपनी मान्यता के आधार पर धर्म्मनिर्णय कर बैठना वास्तव में दुर्गति का ही कारण बना करता है। इस सम्बन्ध में तो शिष्टवचन–वृद्धवचन–सम्मत पथ ही गतानुगतिक भावुक मानव के लिए श्रेय पन्था माना जायगा। श्रुति ने विस्पष्ट शब्दों में लोकमान्यता में सुप्रसिद्ध 'महाजनो येन गतः, स पन्था'* पथ को ही प्रशस्त घोषित किया है—

(८०)—धर्म्मनिर्णय के सम्बन्ध में आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण प्रथम शिष्टानुमोदित पक्ष तो 'वृद्धवचन-प्रामाण्यानुगमन' ही है। किन्तु यदि कोई भावुक इस वृद्धवचन के आम्नायसिद्ध तात्त्विक रहस्य का मर्म्म न समझता हो, तो उसके परितोष के लिए मन्वादि धर्म्माचार्य्यों के 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते, स धर्म्मं वेद' इत्यादयनुसार जिज्ञासात्मक तर्क–हेतु–युक्ति–कारणतावाद को भी धर्म्मनिर्णय के सम्बन्ध में उपादेय माना जा सकता है। श्रुतिप्रतिपादित रहस्यात्मक धर्म्म का आदेशात्मक जो विधान स्मृति में हुआ है, उसे तर्क के द्वारा भी निर्णीत माना जा सकता है। किन्तु सहसा तात्कालिक आवेश के आधार पर तो कथमपि कदापि केवल अपनी मान्यता के अनुपात से 'इदमित्थमेव नान्यथा' रूप निर्णय नहीं किया जा सकता, नहीं करना चाहिए इस सुसूक्ष्म धर्म्म के सुदुष्कर बोध के सम्बन्ध में॥

(८१)—मौलिक आधारभूत जिस लक्ष्योद्देश्य को लक्ष्य बना कर धर्म्म का विधान हुआ है—उसके अनुरूप उन विभागों का भी अनुमान के द्वारा प्रज्ञाशील मानव संग्रह कर लिया करते हैं। तात्पर्य्य यहाँ थोड़ा विमिश्रास्य है। 'स वै सत्यमेव वदेत्' यह है धर्म्मविधि का एक उदाहरण। केवल इस विधि वचन पर ही भावुकता के द्वारा आवेशपूर्वक आरूढ़ होने वाला मानव परिणाम में किस अशुभ फल का पात्र बन जाता है !, यह पूर्वोक्त सत्याभिनिविष्ट कौशिकोदाहरण से स्पष्ट है। अतएव यहाँ अनुमान द्वारा इस विधि के साथ साथ–'सर्वस्वापहारप्रहारप्रसंगे तु निष्ठिक'–अनृतमेव वदेत्' (सर्वस्वापहारे तु वक्तव्यमनृतं भवेत्) इस विधि का भी समन्वय करना पड़ेगा। तभी धर्म्म का यथार्थ समन्वय सम्भव बन सकेगा। विधान हुआ है केवल नियमविधियों का ही स्मार्त्त ग्रन्थों में। किन्तु इनकी पूरक बनती हैं वे अपवादविधियाँ, जिनका विधान तो नहीं हुआ है। किन्तु अनुमान द्वारा अनुक्त भी उनका विधान मान लिया जाता है। कितनीं एक नियमविधियाँ भी ऐसी हैं, जिनके साथ अनुक्त अन्य नियमविधियों का भी समन्वय करना अनिवार्य बन जाता है। उदाहरण के लिए–'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस नियम विधि की पूरिका 'अग्निष्टोमेन निष्कामो यजेत' विधि भी अनुमान द्वारा माननी पड़ेगी। नहीं तो निवृत्तिप्रधानकर्म्म का समन्वय असम्भव बन जायगा। एवमेव अपवादविधियों के साथ भी तत्

---

*अथ यदि ते कर्म्मविचिकित्सा वा, वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिन –युक्ता –अयुक्ता –अलूक्षा –धर्म्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्॥

—तैत्तिरीयोपनिषत् १।११।४।

पड़ी, जिससे महान् अनर्थ घटित हो जाता है। हो रहा है उसी प्रकार, जैसे कि अहिंसा, सत्य, संयम (इन्द्रियनिग्रह) आदि धर्मों में वर्त्तमान युग के धर्मव्याख्याता—'पत्स्याद्वारणसंयुक्तम्' इस भगवद्वचन के आधार पर, एवं 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' इस स्मार्त्तवचन के आधार पर सर्वथा वेदविरुद्ध कर्मों को भी 'धर्म' मानने-मनवाने की अनर्थपरम्परा का सर्जन कर रहे हैं। 'परोपकार ही धर्म है'—'अहिंसा ही परमधर्म है'—'सच बोलना ही अन्यतम धर्म है'—'आत्मा साक्षी प्रदान करे, वही धर्म है'—'किसी को दुःख न हो, वही धर्म है'—'गीतापाठ-मात्र कर लेना ही धर्म है'—इस प्रकार की कल्पित विधियों का मवन करने वाले, इनके आधार पर—'न्यायेन सन्तोषं जनयेत् प्रजाः-तदेवेश्वरपूजनम्' (न्यायपूर्वक-ईमानदारी से-काम करते हुए सन्तुष्ट बने रहना ही धर्म है, यही ईश्वरोपासना है) इस प्रकार की कल्पित सूक्तियों का सर्जन करने वाले यथेच्छाचारविहारपरायणमन शरीरानुगत काममोगानुगत मानव ' यदि अमुक को हम सुख न पहुँचाते, तो हमें पाप लगता'—'हमारी आत्मा-वास्तव में मन-ने साक्षी दे दी', इसलिए इसमें कोई पाप नहीं है, इत्यादि कल्पित मान्यताओं के आधार पर परदाराभिमर्शन जैसे* धर्मविरुद्ध कर्मों का भी समर्थन करने लग जाते हैं। ऐसे धर्मवादियों की, वस्तुतः धर्मापहारियों की आत्मसाक्षी के व्याज से केवल मनोभावानुगता काममोगवृत्ति के नियमन के लिए अन्ततोगत्वा भगवान् को उस शास्त्रनिष्ठा के माध्यम से मानव का उद्बोधन करना पड़ा, जिसका अन्य भगवद्ग्रन्थ में 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' रूप से उद्घोष हुआ है। इसमें अधिक से अधिक इसी मान्यता का समावेश सम्भव है कि, शास्त्रनिष्ठ वयोवृद्ध अनुभवी विद्वान् शास्त्र का जैसा तात्पर्य्य बतलायें, तदनुसार भी धर्मानुष्ठान शास्त्रसम्मत माना जा सकता है। इसी 'शब्दप्रमाणका वयम्। यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्' के अनुसार इसी शास्त्रनिष्ठा को धर्मनिर्णय में अन्यतम साधन-प्रमाण घोषित करते हुए भगवान् कहते हैं—)—"जो मानव (अपनी मानसिक कल्पनामात्र से कुकर्मों को-असत्-कार्यात्मक अधर्मों को-भी धारणात्मक धर्म घोषित करते हुए, वस्तुतस्तु) अन्याय-अधर्म से ही धर्माचरण की इच्छा रखते हैं, ऐसे धर्मध्वजी-धर्मवञ्चक-कल्पित स्वर्गमोक्षसुखेच्छु दम्भियों से तो सम्भाषण भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि उनका यह कल्पित धर्म्म अकृत्रिम (वेदद्वारा अनुक्त) भाषापक्ष बनता हुआ तत्त्वतः अधर्म्म ही है। वेदशास्त्रनिष्ठा से विरोध हो नहीं और फिर सामयिक धर्म्म से समाज स्वस्ति-लाभ प्राप्त कर सके, वैसा मान्य धर्म्म अवश्य ही संग्राह्य बन सकता है। उसे ही अनुक्तविधिरूप से अन्य शास्त्रविधि का पूरक माना जा सकता है, यही निष्कर्ष है"॥

(८७)—(बड़ा ही रहस्यपूर्ण है धर्म्म का समन्वय-पथ। तभी तो भीष्म जैसे अतिमानवों को भी 'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः' कहना पड़ा है। उक्त धर्मसमन्वय के सम्बन्ध में पुनः एक विप्रतिपत्ति उपस्थित

---

* न हीदृशमनायुष्यं परदारोपसेवनम् (मनु)

(८४)—("प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्" रूप से धर्म का लक्षणोद्देश्य प्रतिपादक सिद्धान्त भावुक मानव की शलथा भावुकप्रज्ञा के लिए प्रशव दुर्विज्ञेय बन रहा है। इसीलिए भगवान् एक अन्य सुविज्ञेय दृष्टिकोण से इस धर्ममूलाधार का, दूसरे शब्दों में 'धर्मोपनिषत्' का विश्लेषण करते हुए कहते हैं—)—"मानव का जो कर्म 'अहिंसा' से समन्वित होगा, निश्चयेन उसे ही धर्म, किंवा लक्षणोद्देश कहा जायगा। हिंसावृत्तिपरायण (परपीडनपरायण) क्रूर मानवों को अहिंसावृत्तिपरायण बनाने के लिए ही धर्माचार्यों ने धर्मप्रवचन किया है"। तात्पर्य स्पष्ट है। हिंसाकर्म से प्राणियों का विनाश होता है, इससे प्राकृतिक स्वरूप विकृत बन जाता है, इस से प्रकृति क्षुब्ध हो पड़ती है, एवं यह प्राकृतिक क्षोभ ही मानव समाज की सहज-प्राकृतिक शान्ति का विघातक बन जाता है। प्राकृतिक स्वस्थता सुरक्षित रहे, यही धर्मप्रवचन का मूलोद्देश्य है, यही है धर्म का प्रधान लक्षणोद्देश॥

(८५)—(सम्भव है भावुक मानव धर्म के इस 'अहिंसा' भाव का भी मर्म न समझे, एवं परिणामस्वरूप 'अहिंसा' शब्द का यथेच्छ काल्पनिक अर्थ करने लगे, जैसा कि, सनातनधर्मेतर मतवादों ने किया है, जैसा कि सत्याग्रहाभिनिविष्ट गतानुगतिक यथाजात मानव किया करते हैं। इसलिए आवश्यक हो गया कि, धर्म का कोई वैसा लक्षणोद्देश माना जाय, जो असंदिग्धरूप से धर्म की मौलिकता अभिव्यक्त कर सके। इसी आवश्यकता को अनुभूत करते हुए भगवान् कहते हैं—)—अर्जुन! धर्म का लक्षणोद्देश क्या है? प्रश्न का समाधान स्वयं 'धर्म'शब्द ही कर रहा है। धारणार्थक 'धृञ्' धातु से निष्पन्न 'धर्म' का धारणात्मक जो सहज अर्थ है, वही धर्म का मौलिक आधार है। 'धर्मिणा धृतः सन् धर्मिणं स्वस्वरूपेऽवस्थापयति यः, स धर्मः'। धर्मी पदार्थ के द्वारा धारण किया जाने वाला जो तत्त्व धर्मी पदार्थ को उसके स्वरूप में सुरक्षित रखता है, वह तत्त्व ही उस धर्मी पदार्थ का धर्म है जो 'स्वरूपधर्म'-'सहजधर्म'-'स्वधर्म' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। यही धर्म का स्वरूपलक्षण है। धारणावृत्ति से ही धारक तत्त्व 'धर्म' कहलाया है। सूर्य्य का प्रकाश, जल का निम्नगामित्व, वायु का तिर्य्यग्गामित्व, अग्नि का ताप, चान्द्रसोम का शैत्य, आदि आदि गुण ही सूर्य्यादि के स्वरूपसंरक्षक हैं। यही प्राकृतिक-धर्मपरिभाषा प्राणिजगत् में समाविष्ट है। इसी तारतम्य से इस नित्य धर्म के सामान्य धर्म, विशेष धर्म, रूप से दो विभाग हो जाते हैं। इसी निबन्ध के क्रमप्राप्त तीसरे 'मानव स्वरूपमीमांसा' नामक परिच्छेद में धर्म के मौलिकस्वरूप की मीमांसा होने वाली है। अतः इस धर्मलक्षणमीमांसा का यहीं उपरत किया जा रहा है। इस धर्मलक्षण के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, वस्तुस्वरूपसंरक्षण करने वाले सम्पूर्ण कर्म-फिर च प्रत्यक्ष में हिंसात्मक कर्म हों अथवा अहिंसात्मक, पापात्मक हों अथवा पुण्यात्मक, सत्यात्मक हों अथवा अनृतात्मक,-'धर्म' ही कहे जायँगे।

(८६)—(धर्म के उक्त मूलाधार से भावुक का सन्तोष हुआ, किन्तु इसके साथ ही भावुक की भावुकता उत्तेजित हो कर धर्मनिर्णय के सम्बन्ध में एक वैसे आपातरमणीय लक्ष्य की ओर आकर्षित हो

(६३)—अर्जुन ! हमने विभिन्न दृष्टिकोणमाध्यम से यथाधर्म्म, एवं अपनी समझ के अनुसार—जैसा कि हमने समझा है—एकमात्र तेरी हितैषिता के आकर्षण से धर्म्मानुबन्धी लक्षणोद्देश–धर्म्ममूला–धार–व्यक्त कर दिया है। इसे सुनकर–समझकर, पार्थ! कहो, अब भी तुम्हारी दृष्टि में युधिष्ठिर वध्य ही है क्या? ॥

उपरता चेयं धर्म्मस्वरूपव्याख्या वासुदेवकृष्णोक्ता

★

६४—भगवान् के द्वारा तथापर्य्यापिता धर्म्मव्याख्या के श्रवणानन्तर भावुक, किन्तु श्रद्धाशील अर्जुन का सामयिक उद्बोधन स्वाभाविक ही था। इसी तात्कालिक धर्म्मव्याख्याप्रभाव से तात्कालिकरूप से ही प्रभावित होता हुआ अर्जुन कहने लगा कि, भगवन्! आप जैसे महाप्राज्ञ–महामति–अतिमानव पुरुष ने जो कुछ अब तक कहा है, उसके अनुगमन में निश्चयेन हमारा हित ही है॥ (६५)—आपके वचन इस अर्जुन के लिए सर्वथा मान्य हैं। आप हम पाण्डवों के मातृपितृस्थानीय हैं। अतएव तद्रूपेणैव आपकी आज्ञा हमारे लिए शिरोधार्य्य है॥ (६६)—हे कृष्ण! हमारी गति (पहुँच) तो आप पर्य्यन्त ही है। आपही हमारी आश्रयभूमि हैं। सम्पूर्ण त्रैलोक्य में ऐसा कौनसा रहस्य है, जिसे यदुनन्दन न जानते हों! ॥ (६७)—त्रैलोक्यज्ञाननिष्ठात्मिका इस अतिमानवता के कारण आप धर्म्म के सम्पूर्ण उत्कृष्टतम यथार्थ रहस्य से अभिज्ञ हैं। अतएव आपके द्वारा प्रदर्शित धर्म्मरहस्य के बोधाधार पर यह अर्जुन अब धर्म्मराज युधिष्ठिर को अवध्य ही मान रहा है॥

(६८)—*किन्तु भगवन्! मेरा जो यह उपांशुसंकल्प (प्रतिज्ञा) है कि,–'जो मुझे गाण्डीव परित्याग के लिए किसी भी निमित्त से कह देगा, तत्क्षण उसका शिरश्छेद कर डालूँगा' उसके सम्बन्ध में भी तो निश्चित निर्णय का अनुग्रह कीजिए। (आश्चर्य है अर्जुन की इस भावुकता पर, जो अभी अभी तो वासुदेव कृष्ण के सम्बन्ध में आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण–"न हि ते त्रिषु लोकेषु विद्यतेऽविदितं क्वचित्"॥ (६९)" ये उद्गार प्रकट करता हुआ उन्हें सर्वज्ञ अन्तर्य्यामी घोषित कर रहा है, और तत्क्षण ही नितान्त

---

* धर्म्मव्याख्या के द्वारा ही यद्यपि भगवान् ने अर्जुन की सभी भावुकताओं का समाधान कर दिया था। अब विस्पष्ट शब्दों में भगवान् ने अर्जुन के सम्मुख यह सिद्धान्त समुपस्थित कर दिया कि, उस सत्यधर्म्म का, सत्यप्रतिज्ञा का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता, जबकि उस प्रतिज्ञा के पालन से किसी निर्दोष का वध सम्भव बन रहा हो, तो। अब क्या जिज्ञासा शेष रह गई थी अर्जुन की। किन्तु कहना पड़ेगा कि, भावुक सदा भावुक ही बना रहता है। समझ लेने पर भी पुनः पुनः वह अपने भावुकता पूर्ण दृष्टिकोण की ओर आकर्षित होता रहता है। क्षण क्षण में उद्बोधनात्मक निष्ठाबल विस्मृत करता रहता है। यदि ऐसा न होता, तो गीतानुगता बुद्धिनिष्ठा का तत्त्व सुनने के पश्चात् अर्जुन में ऐसी धर्म्मभीरुता पुनः उत्पन्न ही क्यों होती।

हो जाती है, जिसका भावुक अर्जुन के परितोषार्थ समाधान करना भगवान् के लिए अनिवार्य्य बन जाता है। विप्रतिपत्ति का स्वरूप यह है कि, "जहाँ जब ऐसा अवसर उपस्थित हो जाय, जिसमें—'यह करें, अथवा न करें' इस प्रकार सन्देह उपस्थित हो जाय, ऐसे संशयात्मक स्थलों में क्या किया जाय, जबकि न तो इस सम्बन्ध में विधिवचनवत् कोई शास्त्रीय वचन ही उपलब्ध होगा, एवं न लौकिक मान्यात्मक शिष्टजनसम्मत लौकिक वचन ही एस सन्देह में अपना कोई मन्तव्य प्रकट करता। क्या किया जाय, कैसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय किया जाय, ऐसे विषम–सन्देहास्पद स्थलों में, !" इस महती विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए ही भगवान् कहते हैं—)—

यह ठीक है कि, सर्वसाधारण के लिए ऐसे सन्देहास्पद स्थलों का निश्चित निर्णय करना कठिन है। किन्तु जो तत्त्ववेत्ता मनीषी विद्वान हैं, वे तो किसी भी स्थिति परिस्थिति में तथ्यात्मक निर्णय पर पहुँच ही जाते हैं। वे ही, उनका व्यक्तिगत वचन ही ऐसे अवसरों का निर्णायक मान लिया जाता है। निर्णायक के इस तथ्यात्मक सत्यात्मक निर्णय के प्रकट कर देने से यदि किसी निर्दोषी की हिंसा का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है, तो ऐसे अवसर पर तत्त्ववेत्ता को मौनव्रत धारण कर लेना चाहिए। यदि इसके मौनव्रत के प्रभाव से भी हिंसा का प्रसङ्ग अवरुद्ध नहीं होता, तो उस स्थिति में उस तथ्य को परोक्ष बनाते हुए मिथ्याभाषण कर देना चाहिए। यहाँ यह अनृतभाषण भी सत्यरूप में परिणत हो जाता है। सन्देहास्पद विषमस्थलों में अहिंसामूलक धर्म्म ही प्रधान मान लेना चाहिए, यही निष्कर्ष है। एवं इस अहिंसा के संरक्षण के लिए पहिले मौनव्रत, इससे सफलता प्राप्त न हो, तो अनृतवचन-प्रयोग का अनुगमन कर लेना चाहिए॥

(८८)—अर्जुन! (उक्त विशेषधर्म्मतत्त्वोपवर्णन के साथ-साथ अब हम प्रासङ्गिक इस सामान्य-धर्म्म की ओर भी तुम्हारा ध्यान आकर्षित करा देना चाहते हैं कि)—किसी भी कार्य्य का, किसी उद्देश्य का-लक्ष्य का-(कर्णवधादिरूपात्मक का) अपने अन्तर्जगत् में दृढ़ सङ्कल्प कर के जो मानव अन्यान्य प्रतारणा-पथों के द्वारा सङ्कल्प की उपेक्षा करना चाहता है, वह दाम्भिक है। व्रतपालन न करने से वह प्रत्यवाय का भागी बनता है। (अर्जुन! तुम्हारा ही तो यह व्रत था कि, तुम कर्ण को युद्ध में अवश्य मारोगे। आज इन प्रसङ्गों में पड़कर तुम अपना व्रत भग कर रहे हो, जो क्षत्रिय का सामान्यधर्म्म माना गया है। सामान्यव्रतधर्म्म की उपेक्षा, विशेषव्रतधर्म्म के लिए आवेश, यह कैसा विमोहन है तुम्हारा!॥

(८९)—किसी निर्दोष के प्राणसङ्कटावसर पर, विवाहावसर पर, कुलनाशप्रसङ्ग पर, पारस्परिक नर्म्म (उपहास) अवसर पर यदि अनृतभाषण मध्यस्थ बन जाता है, तो इससे पातक की आशङ्का करना विशुद्ध भावुकता ही मानी जायगी। (९०)-(९१)-(९२)-धर्म्मतत्त्वद्रष्टा विद्वान् ऐसे अनृतभाषण प्रसङ्ग में कोई अधर्म्म नहीं मानते। तत्त्व यही है इस सम्पूर्ण धर्म्मव्याख्या का कि—"तस्माद्धर्म्मार्थ-मनृतमुक्त्वा मानृतभाग् भवेत्" (धर्म्मस्वरूपसंरक्षण के लिए आश्रित अनृत-भाषण अनृत नहीं बना करता")॥

(६३)—अर्जुन ! हमने विभिन्न दृष्टिकोणमाध्यम से यथाधर्म्म, एवं अपनी समझ के अनुसार—जैसा कि हमने समझा है—एकमात्र तेरी हितैषिता के आकर्षण से धर्म्मानुबन्धी लक्षणोद्देश—धर्म्ममूलाधार—व्यक्त कर दिया है। इसे सुनकर—समझकर, पार्थ ! कहो, अब भी तुम्हारी दृष्टि में युधिष्ठिर वध्य ही है क्या ? ॥

उपरता चेयं धर्म्मस्वरूपव्याख्या वासुदेवकृष्णोक्ता

★

६४—भगवान् के द्वारा तथोपवर्णिता धर्म्मव्याख्या के श्रवणानन्तर भावुक, किन्तु श्रद्धाशील अर्जुन का सामयिक उद्बोधन स्वाभाविक ही था। इसी तात्कालिक धर्म्मव्याख्याप्रभाव से तात्कालिकरूप से ही प्रभावित होता हुआ अर्जुन कहने लगा कि, भगवन् ! आप जैसे महाप्राज्ञ—महामति—अतिमानव पुरुष ने जो कुछ अब तक कहा है, उसके अनुगमन में निश्चयेन हमारा हित ही है ॥ (६५)—आपके वचन इस अर्जुन के लिए सर्वथा मान्य हैं। आप हम पाण्डवों के मातृपितृस्थानीय हैं। अतएव तद्रूपेणैव आपकी आज्ञा हमारे लिए शिरोधार्य्य है ॥ (६६)—हे कृष्ण ! हमारी गति (पहुँच) तो आप पर्य्यन्त ही है। आपही हमारी आश्रयभूमि हैं। सम्पूर्ण त्रैलोक्य में ऐसा कौनसा रहस्य है, जिसे यदुनन्दन न जानते हों ! ॥ (६७)—त्रैलोक्यज्ञाननिष्ठात्मिका इस अतिमानवता के कारण आप धर्म्म के सम्पूर्ण उत्कृष्टतम यथार्थ रहस्य से अभिज्ञ हैं। अतएव आपके द्वारा प्रदर्शित धर्म्मरहस्य के बोधाधार पर यह **अर्जुन अब धर्म्मराज युधिष्ठिर को अवध्य ही मान रहा है ॥**

(६८)—*किन्तु भगवन् ! मेरा जो यह उपांशुसंकल्प (प्रतिज्ञा) है कि,—'जो मुझे गाण्डीव परित्याग के लिए किसी भी निमित्त से कह देगा, तत्क्षण उसका शिरश्छेद कर डालूँगा' उसके सम्बन्ध में भी तो निश्चित निर्णय का अनुग्रह कीजिए। (आश्चर्य है अर्जुन की इस भावुकता पर, जो अभी अभी तो वासुदेव कृष्ण के सम्बन्ध में आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण—"न हि ते त्रिषु लोकेषु विद्यतेऽविदितं क्वचित्"॥ (६९)" ये उद्गार प्रकट करता हुआ उन्हें सर्वज्ञ अन्तर्य्यामी घोषित कर रहा है, और तत्क्षण ही नितान्त

---

* धर्म्मव्याख्या के द्वारा ही यद्यपि भगवान् ने अर्जुन की सभी भावुकताओं का समाधान कर दिया था। जब विस्पष्ट शब्दों में भगवान् ने अर्जुन के सम्मुख यह सिद्धान्त समुपस्थित कर दिया कि, उस सत्यधर्म्म का, सत्यप्रतिज्ञा का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता, जबकि उस प्रतिज्ञा के पालन से किसी निर्दोष का वध सम्भव बन रहा हो, तो ! अब क्या जिज्ञासा शेष रह गई थी अर्जुन की। किन्तु कहना पड़ेगा कि, भावुक सदा भावुक ही बना रहता है। समझ लेने पर भी पुन पुनः वह अपने भावुकता पूर्ण दृष्टिकोण की ओर आकर्षित होता रहता है। क्षण क्षण में उद्बोधनात्मक निष्ठाबल विस्मृत करता रहता है। यदि ऐसा न होता, तो गीतानुगता बुद्धिनिष्ठा का तत्त्व सुनने के पश्चात् अर्जुन में ऐसी धर्म्मभीरुता पुन उत्पन्न ही क्यों होती।

भावुक अर्जुन अब यह कर रहा है कि)—"इदं वा परमं देव श्रृणु ! इत्यर्थं विवक्षितम्" । अर्जुन कहता है, वासुदेव ! (मुझे यह विश्वास तो है ही कि, आप मेरे उपांशु संकल्प के सम्बन्ध में निश्चित मन्तव्य अभिव्यक्त करेंगे । किन्तु उस निर्णय से पूर्व) मैं आपको यह सम्पूर्ण स्थिति सुना देना चाहता हूँ, जो अभी तक मेरे हृदय में ही प्रतिष्ठित है । मैं ही जानता हूँ उस स्थिति को (मानो इसे न जान कर न सुनकर ! वासुदेव कहीं अन्यथा निर्णय न कर डालें—अमवाक्य अमवाक्य ही समर्पित कर रहे हैं हम उस भावुक अर्जुन को अपनी ओर से सधन्यवाद, जो वासुदेव को अन्तर्यामी भी मान रहा है, एवं उन्हें अपने मनोभावों से अज्ञ भी अनुभूत कर रहा है । इससे अधिक अर्जुन की अमवाक्यता और क्या होगी ! महा आश्चर्य !!!) ॥

(६६)-(१००)—हे दाशार्ह वासुदेव ! अब आपको यह तो विदित हो ही गया है कि, मेरा किसी समय का किया हुआ यह व्रत (प्रतिज्ञा) है कि, "मानवों में जो भी व्यक्ति मुझे यह कहने की धृष्टता कर बैठेगा कि—'तू अपना गाण्डीव किसी दूसरे को समर्पित कर दे' तो तत्काल प्रबल आक्रमण कर, मैं उसे मार ही डालूँगा" । हे केशव ! आपको तो यह विदित ही है कि, युधिष्ठिर ने आक्रोशपूर्वक मुझे 'प्रयच्छान्यस्मै गाण्डीवमेतद्‌य-स्त्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वा नरेन्द्र' रूप से यह कहने का दुःसाहस कर डाला है। इस प्रकार युधिष्ठिर ने जो मुझे भीम जैसे 'तूवरक' (मधुभोजनपरायण—केवल भोजनमह) को तो मुझ से अधिक शस्त्रास्त्रप्रहार में कुशल एवं पराक्रमी घोषित कर दिया, और मुझे उसे गाण्डीव अर्पित करने का आदेश दे डाला । आपके सम्मुख ही तो हे धर्म्यावीर केशव ! उक्त प्रकार से भीम के समतुलन में मुझे अयोग्य हीनवीर्य घोषित करते हुए स्पष्टरूप से—'धनुर्देहि' (दे दे तेरा धनुष भीम को, उतार फैंक अपना यह गाण्डीवधनुष) यह परुष आदेश दे डाला है ॥

(१०१)—भगवन् ! आप यह भी भली प्रकार जानते हैं कि, अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए यदि परुषवक्ता युधिष्ठिर को मैं मार डालूँगा, तो उस दशा में मैं स्वयं भी क्षणमात्र भी इस जीवलोक* (चान्द्ररसगर्भित पार्थिवलोक) में न ठहर सकूँगा (अर्थात् युधिष्ठिर को मार कर मुझे भी मर जाना पड़ेगा) । सम्भव है आप उस दशा में मुझ से यह आग्रह करें कि, अर्जुन ! इस युधिष्ठिरवधजनित पाप का तू प्रायश्चित्त कर ले । यह भी सम्भव है कि, मैं आपके आदेशानुसार प्रायश्चित्त कर भी लूँ। यह भी मान लेता हूँ कि, सम्भव है इस प्रायश्चित्त से मैं पाप से मुक्त भी हो जाऊँ। किन्तु तथापि मैं जीवित

---

* मानव तत्त्वतः परिपूर्ण है, साक्षात् ब्रह्म है, ईश्वर की प्रतिकृति है। चतुर्दशविधभूतसर्गात्मक प्राणिवर्ग ही 'जीव' कहलाया है, । जिसका आवास-निवासस्थान चान्द्रगर्भित पार्थिव 'इलावृत' नामक सम्वत्सर माना गया है । यही जीवलोक है । जिसमें प्रारब्धकर्म्म भोगार्थ परिपूर्ण भी ईश्वर बेचारे मानव को भौतिक शरीर धारण कर आना पड़ता है । इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन श्राद्धविज्ञान ३ खण्ड में द्रष्टव्य है ।

न रह सकूँगा कदापि किसी भी दशा में भी। क्योंकि युधिष्ठिर के वध के अनन्तर मेरा चित्त स्खलित–अस्थिर बन जायगा। मैं इस वधकर्म से नष्टवीर्य बन जाऊँगा। एवं कोई भी मनस्वी ऐसी अस्थिरता अष्टवीर्यता में मर जाना ही उत्तम पक्ष मानेगा ॥

(१०२)—(इन सब विषमतार्थों को–जो मेरे हृदय में विस्फोटन कर रहीं हैं–आज आपको इसलिए यह अर्जुन सुना रहा है कि) हे धर्मधारकों में श्रेष्ठतम वासुदेव ! जिस उपाय से मेरी यह उपांशु प्रतिज्ञा भी लोकसामान्य में 'सत्य' प्रमाणित हो जाय, साथ ही युधिष्ठिर और मैं दोनों ही जीवित भी रह जायँ, हे कृष्ण ! आज आप एसी सद्बुद्धि ही प्रदान करने का अनुग्रह करेंगे * ॥

(१०३)—(उक्त भावुकतापूर्ण अर्जुनोद्गार–श्रवण से भगवान ने यह अनुभव कर लिया कि, अभी अर्जुन उसी भावावेश पर आरूढ़ है। धर्मरहस्य का मर्म अभी तक यह हृदयङ्गम नहीं कर सका है। अवश्य ही इसे अब सर्वथा लोकदृष्टि से—प्रत्यक्ष दृष्टि से–सन्तुष्ट करना पड़ेगा। तभी यह लक्ष्यारूढ़ बन सकेगा। इसी लोकदृष्टिमूलक समाधान का उपक्रम करते हुए,) वासुदेव कहने लगे, अर्जुन ! यह कल्पना कर ही कैसे ली तुमने कि, युधिष्ठिर वास्तव में तुम्हें गाण्डीव उतार फैंकने का आदेश दे रहे हैं। केवल वैखरीशब्द ही तो सब कुछ नहीं हैं। भावों के तारतम्य से ही तो शब्दार्थ के वास्तविक तथ्य का समन्वय हुआ करता है। युधिष्ठिर का भाव कुछ और था, शब्द किसी अन्य अर्थ से समन्वित थे। कैसे ?, तो सुनो।

युद्धप्रसङ्ग में महावीर कर्ण के द्वारा प्रबलवेग से प्रक्षिप्त सुतीक्ष्ण शरपरम्परा से आमूलचूड आमर्द विद्ध–क्षत–विक्षत–भ्रान्त–विभ्रान्त–सप्त–संतप्त बन जाने वाले युधिष्ठिर के अन्तर्जगत् में सहसा यह भावना अभिव्यक्त हो पड़ी कि, कर्ण जैसे अप्रतिम महापराक्रमी योद्धा को यों सहसा पाण्डवसेना में से कोई भी परास्त नहीं कर सकता। कहीं एसी दुर्घटना घटित न हो जाय कि, कर्ण अपने बाणवर्षण से ससैन्य पाण्डवों का सर्वसंहार कर डाले, और इस प्रकार अब तक का सम्पूर्ण पुरुषार्थ, सब कुछ बना–बनाया, इस

---

*—धर्मरहस्यात्मक समाधान प्राप्त करने के अनन्तर भी बार बार अपनी भावुकतापूर्ण प्रतिज्ञा का स्मरण, मारने–मरने की शून्य कल्पना, अनागत भय से संक्षुब्ध बन जाना, साथ ही एकमात्र इस इच्छा से कि–'संसार मुझे झूठा न कहे–प्रतिज्ञापालन के उपाय का अन्वेषण करना, मरने से डरना, मारने से भी विकम्पित होना, ये सब कुछ विडम्बनाएँ भावुक मानवों की सहजभावुकता के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। भावुक को अपने हिताहित की अपेक्षा लोकदर्शन–लोकख्याति की विशेष चिन्ता रहती है। हमें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति–प्राप्त हो जाय, वे हमें बुरा न कहें, इस भावुकतापूर्ण पद्धति से प्रभावित भावुक इस लोकैषणा से किस प्रकार अपने राष्ट्र के धन–जन का आततायिवर्ग के द्वारा सर्वस्वसंहार करा लेने में ही अपने आपको योग्य शासक मानने–मनवाने की भ्रान्ति करते रहते हैं !, यह वर्त्तमान युग में नैष्ठिकों की दृष्टि से परोक्ष नहीं है।

अन्तिम युद्ध–प्रसङ्ग में विजय के स्थान में पराजय का कारण प्रमाणित हो जाय। अवश्य ही एकमात्र अर्जुन ही कर्ण के बल का निरोध करने की क्षमता रखता है। किन्तु यह अनुभव हो रहा है मुझे कि, जब से कर्ण सेनापति बना है, तब से विदित नहीं, किस कारण से अर्जुन उदासीनवदासीन–सा–उपेक्षा–परायण–सा बना हुआ है। ससैन्य पाण्डव कर्ण के शरवर्षण से एक ओर जहाँ सन्त्रस्त बनते जा रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर अर्जुन कापुरुषवत् तटस्थ–सा बनता जा रहा है। यदि अधिक समय अर्जुन इसी उन्मना-वृत्ति का अनुगामी बना रहा, तो हमारा सर्वनाश निश्चित बन जायगा। अतएव अब क्षणमात्र भी विलम्ब न कर सत् असत्—जैसे भी बन पड़े, किसी न किसी उपाय से अर्जुन की इस उदासीनता पर वैसा निर्म्मम प्रहार कर ही डालना चाहिए, जिससे यह उद्दीप्त हो पड़े, इसका सुप्त क्षात्र तेज प्रज्वलित हो पड़े, और इसके द्वारा यह कर्णनिरोध में सफलता प्राप्त कर ले। ×

(एकमात्र उपर्य्युक्त सद्भावना से भावितान्त करण बने हुए युधिष्ठिर ने अर्जुन के प्रति यथाविध परुषवाक्प्रहार का प्रयोग कर डाला, जिसकी सद्भावव्यञ्जना से अपरिचित भावुक अर्जुन प्रत्यक्ष शब्दार्थ मात्र को ही आधार मान कर यों युधिष्ठिर के वधकर्म्म के लिए उद्यत हो पड़ा। क्या यह उचित था अर्जुन का भावावेश ?, इसी दृष्टिबिन्दुमाध्यम से भगवान् ने अर्जुन का उद्बोधन कराना आरम्भ किया कि—)—अर्जुन ! तू यह भली प्रकार जानता है कि पाण्डवराज युधिष्ठिर युद्ध से थक गये थे, क्षत-विक्षत होगए थे, दु:खसंविग्नमानस बन गए थे, युद्ध में सूतपुत्र महापराक्रमी कर्ण के द्वारा होने वाली अजस्र सुतीक्ष्ण शरवर्षा से कर्ण से युद्ध करते हुए धर्म्मराज आत्यन्तिकरूप से ताड़ित मर्म्माहत बन गए थे॥ (१०४)—एकमात्र इन सांघातिक–मर्म्मान्तक संवेदनाओं से रोषपूर्ण वातावरण से समन्वित बनते हुए, दु:खकातर बने हुए, अतएव पूर्ण परस्थिति का विचार करने में असमर्थ बनते हुए केवल इस भावना से कि—"कहीं बिना क्रोधपूर्ण आवेश के अर्जुन युद्ध में कर्ण वध से तटस्थ न बन जाय", युधिष्ठिर इस प्रकार अयुक्तरूप्या भी परुषवाक् का तुम पर प्रहार कर बैठे। (तात्पर्य्य, यदि अर्जुन क्रोधाविष्ट न बना, तो यह युद्ध में कर्ण का वध न कर सकेगा। एकमात्र इस सद्भावना से समन्वित युधिष्ठिर का आक्रोश न तो वास्तव में गाण्डीव उतार फिंकवा देना ही प्रमाणित कर रहा है, एवं न ऐसी अवस्था में केवल प्रत्यक्ष शब्दमात्र से प्रभावित होकर तेरा युधिष्ठिर के वधकर्म्म के लिए समुद्यत बन जाना ही कुछ अर्थ रखता है, यही प्रस्तुत भगवद्वाणी का निष्कर्षार्थ है)॥

(१०५)—हे पाण्डवार्जुन ! तुम स्वयं भी तो यह भली प्रकार जानते ही हो कि, सूतपुत्र कर्ण अपने दुष्कृत–पापाचरणों से (दुर्य्योधनसहानुगत पाण्डवोत्पीडनात्मक पापकर्म्मों से) पापात्मा बनता हुआ आत्यन्तिकरूपसे क्रूरकर्म्मा प्रमाणित है। इस असह्य वाग्प्रहार को तुम से अतिरिक्त और कोई सहन नहीं

× अप्रतिम बालवीर अभिमन्यु की स्वर्गगति–काल से ही महावीर अर्जुन उदासीन से बन गए थे। युद्ध करते थे, किन्तु उन्मना बन कर। प्रहार करते थ, किन्तु शिथिलतापूर्वक। तथाभूत कर्ण के सेनापत्यकाल में अर्जुन की यह उदासीनता पाण्डवों के सर्वनाश का ही कारण ही प्रमाणित होती जा रही थी।

कर सकता। इस प्रकार जिस दृष्टिकोण से तुम कर्ण के प्रति आविष्ट बने हुए थे, उसी दृष्टिकोण से कर्ण के प्रति आविष्ट बन जाने वाले युधिष्ठिर केवल तुम्हारे शौर्य्योत्तेजन के लिए यदि रोषपूर्वक तुम्हारे प्रति परुषवाणी का प्रयोग कर रहे हैं, तो एतावता ही तुमने यह किस आधार पर मान लिया कि, युधिष्ठिर वास्तव में तुम पर अप्रसन्न हैं, एवं वास्तव में वे तुम्हें गाण्डीव-परित्याग की ओर आकर्षित कर रहे हैं ?॥

(१०६)—अर्जुन ! क्या तुम यह जानते हो कि, 'कर्णवध' के भावी परिणाम के सम्बन्ध में धर्म्मपुत्र युधिष्ठिर के धृदितन्त्र में क्या धारणा है ?। नहीं, तो सुनो। हम बतलाते हैं। जिस प्रकार तुमने 'उपांशुप्रतिज्ञा' कर रक्खी है, वैसे ही युधिष्ठिर ने (एतकम्मप्रिय, एतद्व्यसा सहजभावुक युधिष्ठिर ने) भी एकान्त में अपनी बुद्धि में कर्ण के सम्बन्ध में इस 'पूत' (पूतात्मिका सभा) को माध्यम बना लिया है कि, "अपने छल-कपट-पूर्ण असद्व्यवहारों से, निर्म्मम शस्त्रप्रहारों से सदा से ही पाण्डवों के लिए, एवं पाण्डव-सेना के लिए असह्य बना रहता हुआ कर्ण यदि युद्ध में मारा जायगा, तो मैं यह बाजी लगाता हूँ कि, सम्पूर्ण कौरव ससैन्य विजित-एवं पराजित मान लिए जायँगे"। तात्पर्य्य-'कर्णवध ही कौरवों का पराजय है, कर्णविजय ही पाण्डवों का पराजय है। यह पूतात्मिका प्रतिज्ञा युधिष्ठिर ने कर रक्खी है। उदासीनता से युधिष्ठिर ने यह अनुभव किया कि, कहीं मेरी यह प्रतिज्ञा-पूतसभा-(होड़-बाजी-शर्त्त) निष्फल न बन जाय। क्योंकि, युधिष्ठिर यह मानते थे कि, युद्धमें यदि कोई कर्ण का वध कर सकता है, तो वह एकमात्र अर्जुन ही है। अपनी प्रतिज्ञा के निष्फल होने का अनुमान कर के ही युधिष्ठिर ने तुम्हारे प्रति इस प्रकार परुषवाणी से प्रहार किया है॥

(१०७)—क्यों अर्जुन ! अब तो भली प्रकार समझ में आगई न सम्पूर्ण वास्तविक स्थिति तुम्हारी समझ में !। क्या अब भी तुम युधिष्ठिर को वध्य मानते रहोगे ?। 'सतो वधं नार्हति धर्म्मपुत्रः'। इस लिए हमने कहा कि, धर्म्मपुत्र युधिष्ठिर किसी भी दशा में (न तो तुम्हारी प्रतिज्ञा के ही विरोधी हैं, अतएव) न वधार्ह ही हैं। फिर भी (भावुकतावश) तुम यही कल्पना कर रहे हो कि, वध तो युधिष्ठिर का उचित नहीं है, किन्तु सङ्कल्पित प्रतिज्ञा का तो भंग हुआ ही, भले ही भाव युधिष्ठिर का वैसा न हो (क्योंकि प्रतिज्ञा करते समय मैंने प्रतिज्ञासूत्र में इस व्यञ्जना का समावेश नहीं किया था कि — केवल शब्दारोप से प्रतिज्ञा भग न होगी, अपितु शब्द के साथ-साथ यदि भावदोष रहेगा, तभी प्रतिज्ञाभग माना जायगा)। ठीक ! समझ ! ! सम्यग्रूपेण समझे ॥ (भावुक ! अर्जुन ! हम। तो सुनो। यदि तुम्हें लोकदृष्ट्या-परनिन्दाभयदृष्ट्या प्रतिज्ञा का ऐसा ही विमोहन है, तो निम्नलिखित रूप से तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर लेना चाहिए। (कुछ भी ऊहापोह-सङ्कल्पविकल्प शेष रह न जाय अर्जुन तुम्हारे भावुक मनोराज्य में, नहीं तो निकट-भविष्य में ही समुपस्थित भीषणतम कर्णयुद्धप्रसङ्ग में यह सङ्कल्प-विफलता तुम्हें हतोत्साह करती रहेगी, परिणामस्वरूप कर्णपराभव असम्भव बन जायगा)। अर्जुन ! तू यही तो इच्छा रखता है कि, "युधिष्ठिर जीवित भी रहे, और मेरी प्रतिज्ञा भी पूर्ण होजाय'। ओमित्येतत् ।

अन्तिम युद्ध-प्रसङ्ग में विजय के स्थान में पराजय का कारण प्रमाणित हो जाय। अवश्य ही एकमात्र अर्जुन ही कर्ण के बल का निरोध करने की क्षमता रखता है। किन्तु यह अनुभव हो रहा है मुझे कि, जब से कर्ण सेनापति बना है, तब से विदित नहीं, किस कारण से अर्जुन उदासीनवदासीन-सा-उपेक्षा-परायण-सा बना हुआ है। सरैन्य पाण्डव कर्ण के शरवर्षण से एक ओर जहाँ सन्त्रस्त बनते जा रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर अर्जुन कापुरुषवत् तटस्थ-सा बनता जा रहा है। यदि अधिक समय अर्जुन इसी उन्मना वृत्ति का अनुगामी बना रहा, तो हमारा सर्वनाश निश्चित बन जायगा। अतएव अब क्षणमात्र भी विलम्ब न कर सत् असत्-जैसे भी बन पड़े, किसी न किसी उपाय से अर्जुन की इस उदासीनता पर वैसा निर्मम प्रहार कर ही डालना चाहिए, जिससे यह उद्दीप्त हो पड़े, इसका सुप्त क्षात्र तेज प्रज्वलित हो पड़े, और इसके द्वारा यह कर्णनिरोध में सफलता प्राप्त कर ले। ×

(एकमात्र उपर्युक्त सद्भावना से भावितान्तःकरण बने हुए युधिष्ठिर ने अर्जुन के प्रति यथाविध परुषवाक्प्रहार का प्रयोग कर डाला, जिसकी सद्भावव्यञ्जना से अपरिचित भावुक अर्जुन प्रत्यक्ष-शब्दार्थ मात्र को ही आधार मान कर यों युधिष्ठिर के वधकर्म के लिए उद्यत हो पड़ा। क्या यह उचित था अर्जुन का भावावेश ?, इसी दृष्टिबिन्दुमाध्यम से भगवान् ने अर्जुन का उद्बोधन कराना आरम्भ किया कि—)—अर्जुन ! तू यह भली प्रकार जानता है कि पाण्डवराज युधिष्ठिर युद्ध से थक गये थे, क्षत-विक्षत होगए थे, दुःखसंविग्नमानस बन गए थे, युद्ध में सूतपुत्र महापराक्रमी कर्ण के द्वारा होने वाली अत्यन्त सुतीक्ष्ण शरवर्षा से कर्ण से युद्ध करते हुए धर्मराज आत्यन्तिकरूप से ताड़ित मर्माहत बन गए थे॥ (१०४)—एकमात्र इन सांघातिक-मर्मान्तक संवेदनाओं से रोषपूर्ण वातावरण से समन्वित बनते हुए, दुःखकातर बने हुए, अतएव पूर्ण परिस्थिति का विचार करने में असमर्थ बनते हुए केवल इस भावना से कि—"कहीं बिना क्रोधपूर्ण आवेश के अर्जुन युद्ध में कर्ण वध से तटस्थ न बन जाय", युधिष्ठिर इस प्रकार अयुक्तरूपा भी परुषवाक् का तुम पर प्रहार कर बैठे। (तात्पर्य, यदि अर्जुन क्रोधा-विष्ट न बना, तो यह युद्ध में कर्ण का वध न कर सकेगा। एकमात्र इस सद्भावना से समन्वित युधिष्ठिर का आक्रोश न तो वास्तव में गाण्डीव उतार फिकवा देना ही प्रमाणित कर रहा है, एवं न एवं अन्तरङ्ग में केवल प्रत्यक्ष शब्दमात्र से प्रभावित होकर तेरा युधिष्ठिर के वधकर्म के लिए समुद्यत बन जाना ही कुछ अर्थ रखता है, यही प्रस्तुत भगवद्वाणी का निष्कर्षार्थ है)॥

(१०५)—हे पाण्डवार्जुन ! तुम स्वयं भी तो यह भली प्रकार जानते ही हो कि, सूतपुत्र कर्ण अपने दुष्कृत-पापाचरणों से (दुर्योधनसहानुगत पाण्डवोत्पीडनात्मक पापकर्मों से) पापात्मा बनता हुआ आत्यन्तिकरूपसे क्रूरकर्मा प्रमाणित है। इस अत्यन्त बाणप्रहार को तुम से अतिरिक्त और कोई सहन नहीं

× आमतिम बालवीर अभिमन्यु की लाभगति-काल से ही महावीर अर्जुन उदासीन से बन गए थे। युद्ध करते थे, किन्तु उन्मना बन कर। प्रहार करते थे, किन्तु शिथिलतापूर्वक। सचमुच कर्ण के सेना-पतिकाल में अर्जुन की यह उदासीनता पाण्डवों के सर्वनाश का ही कारण ही प्रमाणित होती जा रही थी।

भावुक का लक्ष्य बना हुआ था। भगवान् जान रहे थे कि, केवल हमारे कथनमात्र से अब अर्जुन को इस पथ में प्रवृत्त होने में इसलिए सङ्कोच हो सकता है कि, हमने बुद्धियोगनिष्ठास्वरूपप्रदर्शनावसर पर इसे 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' इस शास्त्रनिष्ठा में निष्ठ बना दिया है। भगवान् यह भी अनुभव कर रहे थे कि, प्रतिज्ञासमाधान के लिए प्रदर्शित उपाय की शास्त्रप्रामाणिकता में संदिग्ध बनता हुआ अर्जुन कहीं इस नवीन भावुकतापूर्णा-मीमांसा में प्रवृत्त हो पड़ा, तो बचायुद्ध-प्रसङ्ग तो तटस्थ बन जायगा, एवं शास्त्रचर्चा की भावुकमीमांसा उपक्रान्त बन जायगी। क्योंकि भावुक किसी भी विषय का आरम्भ तो करना जानता है, किन्तु समाप्ति-बिन्दु इसे सहसा उपलब्ध होता ही नहीं। इन्हीं सब भावी व्यञ्जनाओं को लक्ष्य बनाते हुए उपायप्रदर्शन के अव्यवहितोत्तरकाल में ही भगवान् को यह कहना पड़ा कि—)—"श्रुतियों में उत्तम अथर्वाङ्गिरसी श्रुति (आथर्वणश्रुति) हीं वृद्धावमानरूप अपमान-पथ में प्रमाण है अर्जुन। जिन्हें श्रेयोलाभ प्राप्त करना हो, अपना लोकाभ्युदय करना हो (लोक-सम्पत् प्राप्त करनी हो), उन्हें पूर्वापर का कुछ भी विचार किए बिना इस श्रुति का अनुसरण कर लेना चाहिए (जैसे कि महाआथर्वण के पौत्र भगवान् जामदग्नेय परशुराम ने इस ज्येष्ठावमानरूप पथ का आश्रय लेते हुए पूज्या माता का भी)॥ (११३)—(हाँ, तो आङ्गिरसी श्रुति के प्रमाण के आधार पर अब यह सिद्ध हो गया है कि)—'त्वम्' उच्चारण-सम्बोधनमात्र से बिना शस्त्रप्रहार के ही गुरुजन मृत बन जाते हैं। तो अब विलम्ब क्यों हो रहा है ? कह डालो धर्मराज युधिष्ठिर को 'त्वम्' सम्बोधन के माध्यम से, (जिससे फिर कहने के लिए तुम्हारे शब्दकोश में कुछ भी शेष रह न जाय अर्जुन)॥ (११४)—अर्जुन ! तुम्हारे इस 'त्वम्' सम्बोधन की युधिष्ठिर में क्या प्रतिक्रिया होगी ?, यह जानते हो। सुनो ! धर्मराज तुम्हारी इस अवमानपरम्परा से इस निष्कर्ष पर पहुंच जायँगे कि, आज इस अनुज ने मेरा वध ही कर डाला है। (बहुत सम्भव है, इस मृत्युरूप अपमान को सहन करने में असमर्थ युधि-ष्ठिर वास्तव में शरीर छोड़ देने के लिए ही उद्यत हो जायँ। अतएव सावधान अर्जुन ! अपमानपरम्परा के समाप्त होते ही तुम्हे अविलम्ब प्रणतभाव से ज्येष्ठभ्राता युधिष्ठिर के चरणों में प्रणिपात करते हुए क्षमवाणी का प्रयोग भी करना है, एवं प्रतिक्रियारूढ़ धर्मराज को सान्त्वना भी प्रदान करनी है॥

(११५)—हमें विश्वास है कि, तेरे इस श्रद्धानुगत प्रणिपात से अपना रोष-आक्रोश विस्मृत कर देंगे युधिष्ठिर, एवं धर्म का सूक्ष्म विधान लक्ष्य बना कर सब कुछ समन्वित कर लेंगे धर्मराज। इस प्रकार सब कुछ समन्वित हो जायगा। तू अन्यतरूप प्रतिज्ञाविरोध से भी मुक्त हो जायगा, एवं भ्रातृवधरूप महत्पातक से भी उन्मुक्त बन जायगा। तदित्थं सर्वात्मना तू हृष्ट (आत्मप्रसादगुणयुक्त-प्रसन्न-स्वस्थ-) बन जायगा। उस अवस्था में तुम्हारे सम्मुख अर्जुन हमारा एकमात्र यही प्रस्ताव उपस्थित करना शेष रह जायगा कि-'कर्णं त्वं जहि सूतपुत्रम्' सूतपुत्र कर्ण पर युद्ध में विजय प्राप्त करो)॥

(११६)—सञ्जय कहने लगे कि, हे धृतराष्ट्र ! जनार्दन वासुदेव कृष्ण के द्वारा अपनी प्रतिज्ञा पूर्त्ति के लिए इस प्रकार एक नवीन उपाय सुनकर सन्तुष्ट होते हुए पहिले तो अर्जुन ने भगवान् के

" जीवित रहता हुआ ही मानव कैसे मरा हुआ बन जाता है" इसका लौकिक प्रकार तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है ॥

(१०८)—विद्या-ऐश्वर्य्य-वित्त-वय-कलाद्यनुगत लोकमान्यतात्मक लोकसम्मान से सयुक्त सम्मान्य शिष्ट मानवश्रेष्ठ जबतक लोकद्वारा, स्वाश्रितों के द्वारा, पारिवारिक पुत्र-बन्धु आदि कनिष्ठ व्यक्तियों के द्वारा सम्मानित होता रहता है, तभी तक वह सम्मान्य जीवलोकात्मक पार्थिव मृत्युलोक में लोकानुबन्धव्यवस्था 'जीवित' माना जाता है। जब भी वैसा सम्मान्य व्यक्ति किसी अवर-कनिष्ठ के द्वारा किसी बड़े अपमान से अपमानित हो जाता है, तो वही "जीवन्मृत' (जीवित ही मृत, जीता हुआ ही मरा हुआ) कहलाने लगता है। लोकव्यवहार में 'जीवित' पद-'जीवन्मृत' की यही सहज परिभाषा मानी गई है ॥

(१०९)—अर्जुन ! पाण्डवराज युधिष्ठिर सदा से ही तुमसे, भीमसेन से, एवं नकुल-सहदेव से श्रद्धापूर्वक सम्मानित होते आरहे हैं। इसके अतिरिक्त कुरुराज्य में जो भी वृद्ध-एवं शिष्टपुरुष हैं, जो भी पराक्रमशाली शूर योद्धा हैं, उन सभी के द्वारा अजातशत्रु युधिष्ठिर सदा से ही सम्मानित रहे हैं। 'अपमान' क्या है !, इस प्रश्न की निष्कृष्ट व्यञ्जना से महामान्य सर्वमान्य धर्मराज सर्वथा अपरिचित हैं। यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है कि, तुम्हारी प्रतिज्ञा काम्यरूप में परिणत हो, तो तुम्हें इस महामान्य का पूर्व-परिभाषानुसार अपमान कर देना चाहिए। सावधान ! कहीं उच्छृङ्खलरूप से अपमान न कर बैठना। अपमान करने का भी एक शिष्टजनसम्मत कौशल होता है। अपमान करना भी एक कला है। इस कलात्मक कौशल से ही तुम्हें युधिष्ठिर का अपमान करना है—'तस्यापमानं कलया प्रयुङ्क्ष्व' ॥

(११०)—(भगवान् जानते थे भावुकों के द्वारा विधन्नित अपमान का कलाशून्य उच्छृङ्खल अव्यवस्थित-अमर्य्यादित प्रकार। अतएव भगवान् को स्वयं अपमान का कलात्मक स्वरूप भी बतलाना पड़ा। यही स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं)—अर्जुन ! कलात्मक शिष्टसम्मत अपमान का यही ऋजु प्रकार है कि, तुम 'भवान्' के स्थान में 'त्वम्' का सन्निवेशमात्र करते जाओ। 'त्वम्'मात्र से सम्बोधित होने से ही मान्य गुरु, मान्य ज्येष्ठ पुरुष की मृत्यु हो जाती है। (आजतक तुमने युधिष्ठिर का 'भवान्' (आप) रूप से सम्बोधन किया है। अब इस प्रतिज्ञापालन-प्रसङ्ग में 'त्वम्' (तुम-तू) रूप से सम्बोधन करते जाओ, यही तात्पर्य्य है) ॥

(१११)—हे कौन्तेय ! इस प्रकार पूज्यापमानरूप, अतएव तत्त्वत अधर्मात्मकसंयोगरूप इस 'त्व' व्यवहारात्मक आचरण का उपयोग कर लेना चाहिए तुम्हें धर्मराज युधिष्ठिर के प्रति अपनी प्रतिज्ञा के स्वरूपसंरक्षण के लिए ०॥ (११२)—(अर्जुन भी तो धर्मभीरु था) शास्त्रशास्त्रभक्ति भी तो इस

०—इस पथ को भगवान् अपथ्यपथ घोषित करते हुए अर्जुन का अन्तिम बार परोक्षरूपसे उद्-बोधन ही कराना चाहते हैं। सम्भव है अर्जुन इस निकृष्ट पथ का अनुगमन सर्वथा तत्त्वशून्या प्रतिज्ञा के व्यामोह में पड़ कर न करे। क्योंकि, भगवान् जानते हैं कि, इसकी प्रतिक्रिया युधिष्ठिर में क्या विपत्ति कर सकती है ? किन्तु ।

विक्रमशाली पराक्रमी भीम जब समराङ्गण में अवतीर्ण हो पड़ते हैं, तो शत्रुसेना को स्पष्टरूप से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि, मानों साक्षात् महाकाल–यमराज ही प्रलयान्तकोप से संयुक्त होकर उपस्थित हो गए हैं। दो–चार सैनिकों को ही नहीं, अपितु आक्रोश करने वाली पूरी सेना को ये वैभवस्वान्तकोपम भीम स्मृतिगम में विलीन कर देते हैं। ऐसे अप्रतिम भीम यदि इस अर्जुन की गर्हणा (भर्त्सना–निन्दा) करते, तो ठीक भी था। वे कर सकते हैं, और उसे अर्जुन सुन भी सकता है। किन्तु युधिष्ठिर तुम, अरे! तुम क्या अर्जुन की निन्दा करोगे, जो स्वयं अपने मित्र–आत्मरक्षा से अपनी रक्षा की चिन्ता में निमग्न बने रहते हो॥ (१२३)—उधर महापराक्रमी भीम सिंहवत् एकाकी निर्भय युद्ध में विचरण करते हुए कभी महारथियों को विकम्पित करते हैं, कभी गजारूढ श्रेष्ठ योद्धाओं का मानविमर्दन करते हैं, कभी अश्वारोही सैनिकों का वक्षःस्थल विदीर्ण करते हैं, तो कभी पदातिसेना को ही कुचलते रहते हैं। सम्पूर्ण वासरान्तों में इस प्रकार उनको, तथा उनके सम्बन्धित सेनाओं को एकाकी ही विकम्पित करने वाले शत्रु-पराभवकर्ता भीम मुझे उपालम्भ देने की क्षमता रखते हैं। तुम क्या तो मुझे उपालम्भ दोगे, और क्या तुम्हारे जैसे भीरु के उपालम्भ का मुझ अर्जुन पर कुछ प्रभाव होगा?॥ (१२४)—अपनी प्रचण्ड पराक्रमप्रभा से नीलवज्राहकोपम बने रहने वाले, अपने शौर्यमद से मदोन्मत्त सिंह–गजादिवत् मद गर्वित बन रहने वाले ऐसे विश्वविश्रुत कलिङ्ग–वङ्ग–निषाद–मागधादि युद्धर्थ महावीरों को, इन शत्रुओं के समूहों के समूहों को जो भीम देखते–देखते निष्प्राण बना देते हैं, युधिष्ठिर! वे भीम मुझे उपालम्भ देने की योग्यता–क्षमता रखते हैं, तुम नहीं॥ (१२५)—जिस प्रकार वर्षाकाल में पुष्करावर्तकादि विशेष जाति के घनकृष्णवर्णात्मक महामेघ महानिनादपूर्वक प्रचण्ड जलधारा से मेदिनी को आप्लावित कर देते हैं, एवमेव मानों अम्बुधारावर्षण करते हुए ही भीम अपने महारथ में सन्नद्धीभूत बन कर युक्तरूप से प्रतिष्ठित होकर इस महायुद्धात्मक कुरुक्षेत्र के महामेदिनी–प्राङ्गण को अपने महाधनुष के महाघोष के साथ बाणों से आच्छादित कर देते हैं॥ (१२६)—महामदोन्मत्त अनुमानतः आठसौ महागजों को तो भीम ने इस युद्ध में उन गजों के शुण्डादण्ड (सूँड) पकड़-पकड़ कर ही अब तक भूमिसात् कर दिया है। एवं इतने गजों का उस अरिघ्न भीम ने बाणप्रहार से निःशेष कर दिया है॥ (सकल्प भी किया है कभी युधिष्ठिर तुमने ऐसे महापराक्रमों का युद्धभूमि में?। नहीं, तो किस अपने वाक्–बलप्रधान भीमुख से तुमने मेरी गर्हणा कर डाली?)॥ (१२७)—सम्भवतः यह तो तुम्हें विदित होगा ही कि, निगमशास्त्रनिष्ठ ब्राह्मणों की ही वाणी में बल प्रतिष्ठित रहता है। तत्त्वज्ञ विद्वानों ने क्षत्रियों का प्रधान बल तो 'बाहुबल' ही माना* है। हे भारत! (युधिष्ठिर!) तुम में तो केवल द्विजोचित वाग्बल प्रतिष्ठित है। इसीलिए तो तुम

---

* सिद्धं ह्येतद्–'वाचि वीर्य्यं द्विजानां'–बाह्वोर्वीर्य्यं यत्तु तत् क्षत्रियाणाम्।
शस्त्रग्राही ब्राह्मणो जामदग्न्यस्तस्मिन् दान्ते का स्तुतिस्तस्य राज्ञः॥

—भवभूतिः।

वचनों का यशोगान किया, अनन्तर अपनी प्रतिज्ञा के संरक्षण के लिए आजतक अपने पूर्व जीवन में जैसा स्वप्न में भी अर्जुन ने संकल्प भी न किया था, वैसे परुषवाक् का आवेशपूर्वक युधिष्ठिर पर प्रहार आरम्भ ही तो कर दिया निम्नलिखित रूप से—

(११७)—भावाविष्ट अर्जुन युधिष्ठिर को लक्ष्य बना कर कहने लगे कि, हे राजा युधिष्ठिर! 'तुम' जल्प न करो बल्प न करो (बक–बक मत करो), जो कि तुम अपनी सहज भीरुता–कायरता से स्वयं रणधर्म्म से कोसों दूर रहने वाले हो (तुम जब युद्ध का मर्म्म जानते ही नहीं, तो तुम्हें युद्धसम्बन्ध में निरर्थक जल्प (बक–बक) करने का अधिकार ही क्या है ?) । हाँ, ज्येष्ठभ्राता भीम अवश्य ही हमारी प्रतारणा करने का अधिकार रखते हैं, जोकि सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध श्रेष्ठवीरों के साथ एकाकी ही युद्ध में निर्भय बन कर युद्ध करने लगते हैं (जूझ पड़ते हैं) ॥ (११८)—(सुनना चाहते हो युधिष्ठिर ! भीरु युधिष्ठिर ! तुम महापराक्रमी भीमसेन के पराक्रम की यशोगाथा !, तो सुनो)—जब युद्धभूमि में भीम अवसीर्ण होते हैं, तो बड़े बड़े शूरवीर–भूपतियों को मसल डालते हैं, मार डालते हैं, निःशेष कर देते हैं, बड़े बड़े सुदृढ़ विशिष्ट शस्त्रास्त्रसुसज्जित रथों में आरूढ़ युद्धकर्म्म में दुर्द्धर्ष सुप्रसिद्ध महारथी नागवीरों नागयोद्धाओं को, असंख्य 'सादिप्रवेक' नामक वीरों को क्षणमात्र में विस्मृति के गर्भ में विलीन कर देते हैं ॥ (११९)—जिस अप्रतिम वीर ने हजारों हाथियों को मार कर अपने तुमुल सिंहनाद से शत्रुसैन्य को विकम्पित कर दिया, अगणित काम्बोजवीरों का, असंख्य पार्वतीय वीरों का निर्म्मम संहार उसी प्रकार कर डाला, जैसे मदोन्मत्त सिंह मृगयूथ का अनायास ही वध कर डालता है ॥ (१२०)—जानते हो युधिष्ठिर तुम भीम के उस अभूतपूर्व–अश्रुतपूर्व–महापराक्रम को, जिसने अपनी सहजवीरता–शौर्य्य से युद्ध में वैसे ऐसे सुदुष्कर–घोरघोरतम–महाभयानक कर्म्म किए हैं, जिनका तुम तो संकल्प भी नहीं कर सकते। जिस समय यह पुरुषसिंह आवेश में आते हैं, रथ से उतर पड़ते हैं, अपना सुप्रसिद्ध 'गदा' शस्त्र उठा लेते हैं । एवं उसे प्रबल वेग से घुमाते हुए अश्वारोही वीरों को, रथारूढ़ महारथियों को, गजारूढ़ महावीरों को उनके अश्व–रथ–गजों के साथ चूर्णमुष्टिरूप में परिणत कर डालते हैं ॥ (१२१)—शतमन्युविक्रम (जो इन्द्रसम बल–विक्रम रखने वाले भीम) क्या विक्रम करते हैं समरभूमि में, सुन भी सकोगे युधिष्ठिर तुम उस विक्रम की विक्रमगाथा ! । अपने सुतीक्ष्ण सर्वश्रेष्ठ खड्ग से, एवं प्रचण्ड धनुष से, एवं शत्रुपक्ष के महारथियों का ही रथों को तोड़–फोड़ कर इत्र रथारूढ साहसिक शस्त्रों से शत्रुपक्ष के घोड़ों–हाथियों, एवं तदारूढ अश्वारोही–गजारोही–रथी–महारथियों को मानों क्षणमात्र में भस्मावशेष ही कर डालते हैं (जला डालते हैं) जिस प्रकार भस्मीभूत शरीर के अवयव उपलब्ध नहीं होते, तथैव भीम के द्वारा निहत शत्रुओं के शरीरों की, शरीरावयवों की उपलब्धि भी असम्भव बन जाती है। भीम इस प्रकार शत्रुशरीरों को चूर्णित कर देते हैं, जैसे अग्नि इसे भस्मरूप में परिणत कर देते हैं—'वहत्स्वरीन्' । और सुनो ! सहसा झपट मार कर भीम शत्रु को अपने दोनों पैरों के मध्य में लेकर पीस डालते हैं, कुचल डालते हैं । अपने दोनों हाथों से शत्रुओं के मस्तकों को रगड़कर भूमिसात् कर देते हैं ॥ (१२२)—ऐसे महा

करते हुए तुम्हारे उद्‌बोधन की प्रबल चेष्टा की थी। किन्तु 'बालादपि सुभाषितम्' पर कोई लक्ष्य न देते हुए तुमने एक न मानी। उस नीचजनसेवितयोग्य द्यूतकर्म्म के व्यामोहात्मक भ्रामन्त्रण का निरोध तुम से न होसका, जिसके परिणामस्वरूप भ्राज हम सब को इस दीन-हीन दशा का भ्रनुगामी बनना पड़ा ॥ (१३३)—युधिष्ठिर! तुम से कभी हमें सुख-शान्ति प्राप्त हुई हो, यह तो कल्पना ही निरर्थक है। हाँ, भ्रपने द्यूतकर्मव्यसन में सम्प्रवृत्त तुमने भ्रपने भ्रापको महादुर्व्यसनी-निकृष्टकर्मकर्त्ता-प्रमाणित करते हुए भ्रपने भ्रापको दुःखी सन्त्रस्त भ्रवश्य बना लिया है भ्रौर भ्राश्चर्य्य है भ्राज हमें इस बात पर कि, यह महादुर्व्यसनी भ्राज हमें कटु-परुषवाणी सुना रहा है ॥ (१३४)—युधिष्ठिर! एकमात्र तुम्हारे द्यूतात्मक पापकर्म्म-दुर्व्यसन के कारण ही हमें उस भ्रगणित शत्रुसेना का संहार करना पड़ा, जो क्षत्रीयवीर भ्रपने क्षत-विक्षत शरीरों से भूगर्भ में समाविष्ट हो गए हैं। तुम्हारे उस नृशंस द्यूतकर्म्म के ही दुष्परिणामस्वरूप युद्धसहयोगी भ्रन्य क्षत्रियवीरों के साथ साथ भ्रपने वंशज कौरवों का भी सर्वनाश हुभ्रा। निष्कर्षतः तुम्हारे पाप के कारण तुम तो नष्ट हुए सो हुए ही, हम, हमारे बन्धुबान्धव, एवं भ्रन्य राजागण भी विनष्ट हुए, सन्त्रस्त बने ॥ (१३५)—हमने तुम्हारी विजयकामना से उत्तरप्रान्तीय वीरों का संहार किया, पश्चिमप्रान्तीय स्वराट् नीच्यराजाभ्रों × का संहार किया, पूर्वदेशीय राजाभ्रों का सर्वनाश किया, एवं दाक्षिणात्य सैन्यबल को स्मृतिगर्भ में विलीन किया। इस प्रकार हमने लोकोत्तर साहसपूर्वक भ्रप्रतिम पुरुषार्थ का भ्रनुगमन किया। साथ ही हमारे तथा शत्रुपक्ष के महावीर योद्धाभ्रों ने युद्ध में भ्रन्यतम पराक्रम प्रदर्शित किया। सभी ने सब कुछ किया, किन्तु तुमने क्या किया? ॥ (१३६)—तुमने जो किया?, वह सर्वविदित है। तुम प्रसिद्ध द्यूतकर्मा (बड़े जुभ्रारी) हो, तुम्हारे भ्रनुग्रह से सम्पूर्ण भारत राष्ट्र के वैभव का सर्वनाश हुभ्रा, तुम्हारे संगदोष से हमें 'कायर' उपाधि से विभूषित होना पड़ा। बस करो युधिष्ठिर! भ्रब हम पर कटुवचन प्रहार का दुःसाहस तुम जैसे 'मन्दभाग्य' को कदापि भविष्य में नहीं करना चाहिए, नहीं करना चाहिए ॥

(१३७)—सञ्जय कहने लगे कि, हे धृतराष्ट्र! भ्रपने प्रतिज्ञापालन के भ्रावेश से कुछ समय के लिए स्थिरप्रज्ञ बन जाने वाले सव्यसाची भ्रर्जुन ने उत्तरूप से धर्मराज युधिष्ठिर के प्रति सर्वथा रूक्ष-कर्कश-उद्वेगकर-परुष वाक्प्रहार कर ही तो डाला। किन्तु तत्काल पुनः भ्रर्जुन में सहसा सहज भावुकता जागरूक हो पड़ी। परिणामस्वरूप भर्त्सना के भ्रनन्तर ही भ्रर्जुन इस प्रकार उद्विग्न-क्षुब्ध हो पड़े, जैसे कोई प्राज्ञ (समझदार) मानव कोई बहुत बड़ा पापकर्म्म करके सहसा क्षुब्ध-विमना-उद्विग्न बन जाया करता है ॥ (१३८)—सन्तप्त हो पड़े भ्रर्जुन इस प्रकार भ्रपने ज्येष्ठभ्राता युधिष्ठिर की इस प्रकार भर्त्सना करके। सुरराजपुत्र भ्रर्जुन बार बार महाश्वास लेने लगे। इनकी इस प्रकार की दुरवस्था-उद्वेग को

× तस्मादेतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये केचन नीच्यानां राजानः, ये भ्रपाच्यानां, स्वाराज्यैव तेऽभिषिच्यन्ते-'स्वराट्' इत्येतानभिषिक्तानाचक्षते।

—ऐतरेय ब्रा० ८।१४।

निष्ठुर बने हुए हो। (तुम्हें क्या विदित कि, पारुषीय क्या है ?, एवं ऐसे भीष्म से मुक्त व्यक्ति के लिए यह परुषवाक् किस प्रकार उद्वेग का कारण बन जाती है ?)। आज अपनी पारुष्यता के आधार पर तुमने मुझे उस प्रकार गर्हित कर डाला है, जैसे किसी निर्बल को सबल गर्हित बना दिया करता है॥ (१२८)—युधिष्ठिर ! बस रहने दो अपना पारुषीय। सब कुछ जानते हैं हम लोग कि, तुम्हारे पुरुषार्थ से हमें कैसे कैसे कष्ट उठाने पड़े हैं) क्या इसलिए-इस हितैषिता से उऋण होने के लिए-तुम इस प्रकार आज हमारी गर्हणा कर रहे हो कि, हमने, न केवल हमने हीं, अपितु हमारी स्त्रियों ने, पुत्रों ने, भ्राताओं ने सदा तुम्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा की, तुम्हारे हितसाधन में प्रवृत्त बने रहे ? । सचमुच तुम्हारी इस सेवाशुश्रूषा से आज तक हम लोगों ने सिवाय दुःखपरम्परा के कभी स्वप्न में भी सुख की प्रतिच्छाया-भी तो प्राप्त न की।

(१२९)—द्रौपदीतल्पस्थ (केवल नारी की शय्या के अनुगामी स्त्रैण) युधिष्ठिर ! बहुत हुआ। रहने दो। सावधान ! मेरा अपमान करने की भूल न करो। क्या इस अपमानरूप पुरस्कार की प्राप्ति के लिए ही हमने तुम्हारे हित के लिए (तुम्हें राज्यपदासीन बनाने के लिए) युद्ध में महारथियों का संहार किया है ?। सम्भवतः तुम्हें आज ऐसी शङ्का हो गई है-कि, कहीं हम तुम्हारे स्थान में राज्यपद न ग्रहण कर लें। सचमुच तुम महानिष्ठुर हो, पाषाणहृदय हो, महाशङ्काशील हो। तुमसे कभी भी किसी भी प्रकार के सुख की इच्छा करना व्यर्थ है॥ (१३०)—युधिष्ठिर ! केवल तुम्हारे हित के लिए सत्य प्रतिज्ञानिष्ठ कुरुकुलपितामह महात्मा भीष्म ने, उस सत्यनिष्ठ अतिमानव ने तुम्हें अपनी मृत्यु का आश्वासन देकर तुम्हें निर्भय तो बना दिया था। किन्तु क्या तुम भीष्म का पराभव सकते थे ? मुझ से सुरक्षित द्रुपदराज के पुत्र शिखण्डी को मध्यस्थ बना कर एकमात्र तुम्हारे हित के लिए यदि हम अपने अनन्य-श्रद्धेय महापितामह के पावन शरीर को शरवर्षण से बिद्ध न कर देते, तो क्या तुम स्वप्न में भी उस महा-पुरुष को शरशय्यानुगामी बना सकते थे ?॥ (१३१)—और आज तो हमें यह भी अनुभव होने लगा है कि, यदि तुम्हारे लिए अपने प्राणसमर्पण कर जयलाभ द्वारा तुम्हें राज्यासीन कर भी दिया, तो भी इसमें हम लोगों को भविष्य में कोई हित प्रतीत नहीं हो रहा। तुम्हारे उस भावी राज्यपद का हम अब इसलिए समर्थन नहीं कर सकते कि, तुम्हारी तो एकमात्र आसक्ति का प्रियविषय 'द्यूतकर्म्म' बना हुआ है। (किसे विदित है कि, पुनः अपनी इस द्यूतासक्ति को कार्य्यरूप में परिणत करते हुए तुम राज्य को पुनः हार जाओ और हमारा सब कुछ पुरुषार्थ व्यर्थ चला जाय)। युधिष्ठिर ! द्यूत जैसे महा निन्द्य-शास्त्रविरुद्ध-नीच मनुष्यों के द्वारा अनुष्ठेय (अनाप्यवहृत) महापातकात्मक जघन्य कर्म्म को अपनाते हुए तुम आज जो हम लोगों से अपने शत्रुओं से आत्मत्राण करने की चेष्टा कर रहे हो, यह किस मुख से ?, किस योग्यता धार पर ?॥ (१३२)—युधिष्ठिर ! तुम्हें स्मरण होगा कि, जिस समय धार्त्तराष्ट्रों के कूटनीतिपूर्ण 'द्यूत' जैसे निन्द्य कर्म्म के आमन्त्रण को स्वीकार करने के लिए तुम समुद्यत हो रहे थे, उस समय भीमादि तो शिष्टाचारवश मौन धारण किए हुए थे ? किन्तु सहजभावुक बालभावापन्न सर्वकनिष्ठ अनुज सहदेव ने आक्रोशपूर्वक द्यूतकर्म से सम्बन्ध रखने वाले दोषों का, एवं तत्सम्बन्धी अधर्म्म-विधर्म्मभावों का विश्लेषण

करते हुए तुम्हारे उद्बोधन की प्रबल चेष्टा की थी। किन्तु 'याजादपि सुभाषितम्' पर कोई लक्ष्य न देते हुए तुमने एक न मानी। उस नीचजनसेवितयोग्य द्यूतकर्म के व्यामोहात्मक आमन्त्रण का निरोध तुम से न होसका, जिसके परिणामस्वरूप आज हम सब को इस दीन–हीन दशा का अनुगामी बनना पड़ा ॥ (१३३)—युधिष्ठिर! तुम से कभी हमें सुख-शान्ति प्राप्त हुई हो, यह तो कल्पना ही निरर्थक है। हाँ, अपने द्यूतकर्मव्यसन में सम्प्रवृत्त तुमने अपने आपको महादुर्व्यसनी–निकृष्टकर्मकर्त्ता–प्रमाणित करते हुए अपने आपको दुःखी स्वयस्त अवश्य बना लिया है और आश्चर्य्य है आज हमें इस बात पर कि, यह महादुर्व्यसनी आज हमें कटु–परुषवाणी सुना रहा है ॥ (१३४)—युधिष्टिर! एकमात्र तुम्हारे द्यूतात्मक पापकर्म्म–दुर्व्यसन के कारण ही हमें उस अगणित शत्रुसेना का संहार करना पड़ा, जो क्षत्रीयवीर अपने क्षत–विक्षत शरीरों से भूगर्भ में समाविष्ट हो गए हैं। तुम्हारे उस नृशंस द्यूतकर्म्म के ही दुष्परिणामस्वरूप युद्धसहयोगी अन्य क्षत्रियवीरों के साथ साथ अपने वंशज कौरवों का भी सर्वनाश हुआ। निष्कर्षतः तुम्हारे पाप के कारण तुम तो नष्ट हुए सो हुए ही, हम, हमारे बन्धुबान्धव, एवं अन्य राजागण भी विनष्ट हुए, सब भस्म बने ॥ (१३५)—हमने तुम्हारी विजयकामना से उत्तरप्रान्तीय वीरों का संहार किया, पश्चिमप्रान्तीय स्वराट् नीचराजाओं × का संहार किया, पूर्वदेशीय राजाओं का सर्वनाश किया, एवं दाक्षिणात्य सैन्यबल को मृत्युगर्भ में विलीन किया। इस प्रकार हमने लोकोत्तर साहसपूर्वक अप्रतिम पुरुषार्थ का अनुगमन किया। साथ ही हमारे तथा शत्रुपक्ष के महावीर योद्धाओं ने युद्ध में अन्यतम पराक्रम प्रदर्शित किया। सभी ने सब कुछ किया, किन्तु तुमने क्या किया? ॥ (१३६)—तुमने जो किया?, वह सर्वविदित है। तुम प्रसिद्ध द्यूतकर्म्मा (पक्के जुआरी) हो, तुम्हारे अनुग्रह से सम्पूर्ण भारत राष्ट्र के वैभव का सर्वनाश हुआ, तुम्हारे सङ्गदोष से हमें 'कायर' उपाधि से विभूषित होना पड़ा। बस करो युधिष्टिर! अब हम पर क्रूरवचन प्रहार का दुःसाहस तुम जैसे 'मन्दभाग्य' को कदापि भविष्य में नहीं करना चाहिए, नहीं करना चाहिए ॥

(१३७)—सञ्जय कहने लगे कि, हे धृतराष्ट्र! अपने प्रतिज्ञापालन के आवेश से कुछ समय के लिए स्थिरप्रज्ञ बन जाने वाले सव्यसाची अर्जुन ने उग्ररूप से धर्मराज युधिष्टिर के प्रति सर्वथा रूक्ष–कर्कश–उद्वेगकर–परुष वाक्प्रहार कर ही तो डाला। किन्तु तत्काल पुनः अर्जुन में सहसा सहज भावुकता जागरूक हो पड़ी। परिणामस्वरूप भर्त्सना के अनन्तर ही अर्जुन इस प्रकार उद्विग्न–क्षुब्ध हो पड़े, जैसे कोई प्राज्ञ (समझदार) मानव कोई बहुत बड़ा पापकर्म्म करके सहसा क्षुब्ध–विमना–उद्विग्न बन जाया करता है ॥ (१३८)—सन्तप्त हो पड़े अर्जुन इस प्रकार अपने ज्येष्ठभ्राता युधिष्टिर की इस प्रकार भर्त्सना करके। सुरराजपुत्र अर्जुन बार बार महाश्वास लेने लगे। इनकी इस प्रकार की दुरवस्था–उद्वेग को

× तस्मादेतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये केचन नीच्यानां राजानः, ये अपाच्यानां, स्वाराज्यैव तेऽभिषिच्यन्ते–'स्वराट्' इत्येतानभिषिक्तानाचक्षते।

—ऐतरेय ब्रा० ८।१४।

सञ्चय धनाकर पुन: भगवान् कृष्ण को इनकी भावुकता का इस प्रकार उद्बोधनोपक्रम करना पड़ा कि— अर्जुन ! यह क्या होने लगा, पुन तुम यह क्या करने लगे। अपनी शपथ प्रतिज्ञापूर्ति करने के अनन्तर जहाँ तुम्हें सन्तुष्ट होना चाहिए था, वहाँ तुम आज पुन अपने शोकाश्रुधारा से आकाश को विक्षुब्ध कर रहे हो (आकाश–पृथिवी एक कर रहे हो) ॥ (१३९)—अहो, अर्जुन ! पुन कह डालो, जिससे तुम्हारे इस आश्चर्यप्रद शोक के निवारण के लिए पुनः हम कोई मार्ग निकालें। सञ्जय कहने लगे कि, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के द्वारा इस प्रकार सान्त्वना–वचन सुनकर दु:खसंविग्नमानस अर्जुन केशव से कहने लगे कि–(१४०)—भगवन् ! (इस समय मुझे कुछ भी प्रतीत नहीं हो रहा)। जिस इस शरीर ने अपनी प्रतिज्ञापालन के आवेश में आकर जिस प्रकार अपने ज्येष्ठबन्धु युधिष्ठिर का अपमान कर डाला, उस शरीर को मुझे अवश्य ही नष्ट कर देना है। सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार अर्जुन की तथाकथित स्त्रैण वाणी सुन कर धर्म्मभृतां वरिष्ठ भगवान् वासुदेव धनञ्जय से कहने लगे कि—

(१४१)—अर्जुन ! धर्म्मराज युधिष्ठिर को केवल अपनी प्रतिज्ञा के संरक्षण के लिए इस प्रकार 'त्वम्' सम्बोधनपूर्वक भर्त्सित कर क्यों इस प्रकार घोरघोरतम कश्मलभाव (बुद्धि–मनोमालिन्य) का अनुगमन कर रहे हो। हे किरीटिन् ! हे शत्रुविमर्दिन् ! (अरिघ्न !) यों जो तुम सहसा बिना कारण ही 'आत्महत्या' जैसे घोरघोरतम दुष्कर्म्म में प्रवृत्त होने जा रहे हो, क्या तुम्हारा यह घोरपथ शिष्ट–महापुरुषों के द्वारा अनुगमनीय है ?। कदापि नहीं ॥ (१४२)—कल्पना करो अर्जुन यदि तुम अपने ज्येष्ठभ्राता धर्म्मात्मा युधिष्ठिर का खड्ग से वध कर डालते, वास्तव में उन्हें मार ही डालते, तो उस दशा में तुम्हारी क्या अवस्था होती ?, उस समय की धर्म्मभीरुता तुम्हें किस ओर, कैसे प्रायश्चित्त की ओर आकर्षित करती ! (केवल भर्त्सनामात्र करने से तो प्रायश्चित्तस्वरूप तुम आत्महत्या कर रहे हो। सचमुच में ही यदि मार ही डालते, तो विदित नहीं कौनसे प्रायश्चित का तुम कैसे अनुष्ठान करते !)। तुम ही जान सकते हो अर्जुन इस प्रकार की धर्म्मभीरुता से सम्बन्धित प्रायश्चित्त के मर्म्म को ॥ (१४३)–अर्जुन ! (धर्म्मव्याख्या स्वरूपविश्लेषण करते हुए पूर्व में हमने तुम्हें बतलाया था कि) धर्म्म सुसूक्ष्म तत्त्व है। केवल शब्द मात्र के आधार पर, प्रत्यक्षानुगता भावुकतापूर्णा कल्पना के आधार पर यथेच्छ विधि–विधान बना डालना, यथेच्छ प्रायश्चित्तों की कल्पना कर बैठना क्या उचित होगा ?। जो आचार्य्य धर्म्म के सुसूक्ष्म विशेष रहस्य के ज्ञाता हैं, उनके द्वारा उक्त धर्म्मविषय ही सुनना चाहिए, तदनुसार ही प्रायश्चित्तादि की व्यवस्था करनी चाहिए। धर्म्म सुसूक्ष्म तत्त्व है। अतएव आज सामान्य जनों की दृष्टि में दुर्विद बना हुआ है। अज्ञजन इसे दुर्विद कहते हैं। अतएव वे अपनी स्थूलदृष्टि से धर्म्मनिर्णय करने में असमर्थ हैं। तुमने अपनी कल्पना से जिस प्रायश्चित का सहसा सकल्प कर डाला है, जानते हो उस सम्बन्ध में धर्म्म-रहस्यज्ञों के क्या उद्गार हैं ?। नहीं, तो सुनो !। अपने कश्मलभावापन्न (मलीमस, अतएव मोहाकुल–विज्ञानात्मरूप सौर) देवात्मा के (अविद्याबुद्धिरूप चरात्मा के) संकल्पमात्र से अपने भूतात्मा (देहाभिमानी जीवात्मा) का (हत्वा आत्मना आत्मन–विज्ञानात्मना भूतात्मानं देहिनं हत्वा) वध करने से तुम्हें

उस घोरनरकात्मिका असुर्य्यगति का अतिथि बनना पड़ेगा, जहाँ से आकल्पान्त पुनरावर्त्तन सम्भव नहीं है * । क्या यही है तुम्हारे प्रायश्चित्त का सुपरिणाम ! ॥

(१४४)—तुम्हें अपने ज्येष्ठबन्धु के अपमान से आत्मग्लानि का अनुभव हो रहा है । ठीक है । हम बतलाते हैं इसका वास्तविक शिष्टजनसम्मत प्रायश्चित्त । तुम सन्नद्ध बनकर अपने ज्येष्ठभ्राता के सम्मुख खड़े होजाओ और अपने ही मुख से अपने वास्तविक (किंवा—एषणात्मक कल्पित) गुणों का बड़े आवेश के साथ वर्णन कर डालो । इसी से तुम्हारा 'आत्महत्या' रूप प्रायश्चित्त सफल बन जायगा । जैसे छोटे से अपमान होने पर बड़ा जीवन्मृत मान लिया जाता है । तथैव बड़े के सम्मुख यदि छोटा अपना महत्त्वस्थापन करने लगता है, तो इससे यह छोटा जीवन्मृत मान लिया जाता है, यही निष्कर्ष है । सद्यः कहने लगे कि, भगवान् के द्वारा निर्दिष्ट इस प्रायश्चित्त के प्रति 'जैसी आज्ञा भगवन् !' इस प्रकार से अपनी प्रणत भावना व्यक्त करते हुए धनञ्जय ने अपना (अपने ही वध के लिए सधान किया हुआ) धनुष अवनत कर लिया ॥ (१४५)—एवं—धर्म्मधारण करने वालों में श्रेष्ठ धम्मराज युधिष्ठिर के प्रति—'सुनिए धर्म्मराज युधिष्ठिर ! अब आप मेरे वास्तविक गुणों का महद्वर्णन', इस प्रकार भूमिकापूर्वक शक्रसूनु (इन्द्रपुत्र) कहने लगे कि—हे नरदेव ! (आपको सम्भवतः यह विदित नहीं होगा कि)—

पिनाकपाणी भगवान् शङ्कर के अतिरिक्त मुझ जैसा अन्य दूसरा धनुर्द्धर समस्त भूमण्डल में ही क्या, त्रैलोक्य में नहीं है ॥ (१४६)—यदि भगवान् शङ्कर की मुझे आज्ञा प्राप्त हो जाय, तो यह महात्मा अर्जुन क्षणमात्र में शङ्करवत् सम्पूर्ण चराचर जगत् का सर्वनाश कर डाले । राजन् ! दिक्पतियों को उनकी दिशाओं के सहित परास्त कर इस अर्जुन ने ही तो उन सबको आपका वशवर्त्ती बनाया है ॥ (राजसूययज्ञ में सम्पूर्ण दिशाओं के नृपतियों को पराभूत कर उनके द्वारा आपके राजसूय यज्ञ को किसने सफल बनाया था !, इसी अर्जुन ने) ॥ (१४७)—अन्तिम कर्म्मात्मक दक्षिणाप्रदान के द्वारा सर्वात्मना सुसम्पन्न हो जाने वाला आपका यह त्रैलोक्यविश्रुत राजसूययज्ञ, देवसभाओं को भी अपने वैशिष्ट्य से लज्जित कर देने वाली आपकी यह दिव्यसभा (मयद्वारा विनिर्म्मित सभाभवन) एकमात्र मेरे ही ओज का प्रभाव था । सुदृढ़ प्रत्यञ्चासहित तना हुआ बाणयुक्त मेरा धनुष, मेरा ओज, इन सब का ही तो यह प्रभाव था कि, राजसूययज्ञ को सफल बना डालना, दिव्यसभा का निर्म्माण करा डालना, सब-कुछ मेरे हाथों में एक बिन्दुवत् समा रहे थे । (अर्थात् यह तो मेरे वामहस्त का क्रीडाकौशलमात्र था) ॥ (१४८)—रथारूढ़ सुदृढ़ पैरों के प्रनवद्य आघात ने, मेरी अप्रतिम रथध्वजा ने कैसे कैसे युद्धों में विजय प्राप्त की

---

* असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥
—ईशोपनिषत् ।

है, यह ममविम है। मैंने उदीच्य-प्रतीच्य-प्राच्य-दाक्षिणात्य-चारों दिशाओं के वीर योद्धाओं को अपने इस अप्रतिम पराक्रम का स्वाद चखाया है॥

(१४६)—अपने प्रचण्ड पराक्रम से लोकविश्रुत-प्रसिद्ध संशप्तकों के महावीर-रूप में से अब कुछ ही शेष रह गए हैं। कुरुक्षेत्र के समरप्राङ्गण में युद्ध के लिए समुपस्थित शत्रुदल की एकादश अक्षौहिणी सेना में से प्राय आधी सेना का तो मैंने ही संहार कर डाला है। देवसेना के साथ समता करने वाली इस भारतीय सेना का अर्द्धभाग आज मेरे द्वारा सदा के लिए धरातल पर निद्रानिमग्न बन गया है॥

(१५०)—इस महासमर में जो महारथी मन्त्रपूत देवविद्यात्मक अस्त्रों के स्वरूप से परिचित हैं, मैं उन्हें अपने देवविद्यात्मक उनसे भी कहीं प्रचण्ड पाशुपतादि महास्त्रों से भस्मसात् कर देता हूँ।

(इस प्रकार युधिष्ठिर को लक्ष्य बना कर प्रत्यक्षरूप से यशोगान करने के अनन्तर अब अर्जुन वासुदेवकृष्ण को लक्ष्य बनाकर परोक्ष रूप से युधिष्ठिर को अपना महिमा-वर्णन सुनाने के अभिप्राय से कहते हैं कि—)—" हे वासुदेव कृष्ण ! भीमाकार जयशील, अतएव 'जैत्र' नाम से प्रसिद्ध सुविशाल रथ में (आप जैसे त्रैलोक्याप्रतिम सारथिश्रेष्ठ के सारथित्व में) आरूढ़ होकर अब अपन शीघ्र से शीघ्र सूतपुत्र कर्ण का संहार करने के लिए समरभूमि में चल ही तो रहे हैं॥ (१५१)—हे कृष्ण ! धर्मराज युधिष्ठिर भले ही आज से ही अपने आपको राजा मान लें, क्योंकि समरभूमि में आज निश्चयेन अपने गाण्डीवधनुष से विनिर्गत सुतीक्ष्ण बाणों से मैं कर्ण का विनाश करने ही वाला हूँ"। सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार कृष्णव्याज से परोक्षरूपेण युधिष्ठिर को अपना महत्त्व सुनाकर पुन युधिष्ठिर को ही पूर्ववत् साक्षाद्रूपेण लक्ष्य बनाते हुए धर्मभृतांवरिष्ठ युधिष्ठिर से अर्जुन कहने लगे कि—

(१५२)—हे धर्मराज युधिष्ठिर ! आप यह निश्चय मानिए कि, प्रथम तो आज 'सूतमाता' (कर्णमाता) कुन्ती अपुत्रा बन जायगी। यदि कारणवश हम युद्धशय्या में सदा के लिए आरूढ़ होगए, तो 'अर्जुनमाता' कुन्ती अपुत्रा बन जायगी। कुन्ती दोनों में से किसी न किसी एक पुत्र के हनन से अपुत्रा अवश्य बना दी जायगी॥

(१५३)—सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार अपना दृढ़ निश्चय युधिष्ठिर के प्रति अभिव्यक्त कर, धर्मभृतांवरिष्ठ युधिष्ठिर को ही पुनः लक्ष्य बनाकर पार्थ अर्जुन ने अपने सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रों का परित्याग कर, धनुष को हटाकर, खड्ग और तूणीर एक ओर रखकर॥ (१५४)—बड़ी ही लज्जापूर्वक अवनतशिरस्क बनते हुए अञ्जलि बाँधकर (दोनों हाथ जोड़कर) कहने लगे कि—हे धर्मराज ! अब आप मुझ पर अनुग्रहदृष्टि कीजिए। मैंने आपके प्रति जो परुष कहने की धृष्टता कर डाली, उन्हें क्षमा करते हुए मुझ पर प्रसन्न बनें। मैंने इस समय जो कुछ भी आक्रोश अभिव्यक्त किया है, उस के मूल में मेरी कोई दुर्वासना न थी, जैसा कि कालान्तर में स्वयं आपको अनुभव हो जायगा। मैं आपको कृताञ्जलि बन कर नमन कर रहा हूँ आपके चरणों में॥ (१५५)—सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार अपने साञ्जलि-बन्ध प्रणतभाव से अपने शत्रुओं के आक्रोश को भी अपनी सहनशीलता के कारण सहने वाले सहनशील

युधिष्ठिरराज को प्रसन्न कर थोड़ा स्वस्थ–स्थिरप्रज्ञ बनते हुए वीर श्रेष्ठ अर्जुन पुनः धर्मराज को सम्बोधन करते हुए कहने लगे कि, हे युधिष्ठिर ! अब आप कर्णचिन्ता की ओर से सर्वथा निश्चिन्त बन जाइए। अब अधिक विलम्ब नहीं है। बहुत ही शीघ्र अब सब कुछ आपकी इच्छा के अनुरूप ही होने वाला है। मैं अब जा ही रहा हूँ उस कर्ण को लक्ष्य बना कर ॥ (१५६)—सर्वप्रथम तो प्रचण्ड–वेग से युद्धकर्म में रत भीम को (थोड़ा विश्राम लेने के लिए) युद्धकर्म से उन्मुक्त करता हूँ और पुनः आपको प्रसन्न करने के लिए सूतपुत्र कर्ण को मारने का उपक्रम करता हूँ। राजन् ! आप इस अर्जुन की यह सत्य प्रतिज्ञा ही समझिए। मैं जीवितदशा में–आत्मसाक्षी से यह प्रतिज्ञा कर रहा हूँ ॥

(१५७)—सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार कर्णविनाशार्थ समरभूमि में जाने के लिए कृतसंकल्प कृतप्रतिज्ञ, ऐसी वीरप्रतिज्ञा के आवेश से तेजोमय बनते हुए किरीटी अर्जुन धर्मराज युधिष्ठिर के दोनों चरणों का स्पर्श कर खड़े हो गए। (यह तो हुई अर्जुन की तुष्टि की गाथा। हे धृतराष्ट्र ! अब युधिष्ठिर की सामयिक गाथा सुनिए।) । धर्मराज पाण्डव इस प्रकार अपने अनुज फाल्गुन अर्जुन की उपर्युक्त परुष–वाणी सुन कर ॥ (१५८)—सहसा अपनी शय्या* से उठ खड़े हुए, एवं दुःखसंविग्नमानस बनते हुए अर्जुन से इस प्रकार कहने लगे कि—

हे पार्थ अर्जुन ! वास्तव में हमने यह कोई शुभ कर्म नहीं किया, जो कि तुम्हारे कथनानुसार सर्वथा निकृष्ट 'द्यूत' जैसे घोर व्यसन का अनुगमन कर डाला (जिस इस हमारे दुर्व्यसन से आज तुम सब की ऐसी दुरवस्था हो गई है) ॥ (१५९)—अतएव अर्जुन ! हम तुम्हें यह आदेश दे रहे हैं आज कि, तुम अपने खड्ग से इस पापात्मा पापपूर्ण द्यूतव्यसन में संलग्न सर्वथा हतबुद्धि–विमूढ़–महाआलसी–अकर्मण्य अत्यन्त डरपोक–अपने कुल के क्षय के निमित्तरूप–अधमपुरुष–मुझ युधिष्ठिर का मस्तक काट ही डालो ॥ (१६०)—अर्जुन ! मैं तुम से अनुरोध कर रहा हूँ कि, अपने से ज्येष्ठ पुरुष के अपमान करने में कुशल तुम्ह अर्जुन को अब इस मेरे शिरश्छेदरूप पुण्यकर्म में क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। इस निष्ठुर रूक्ष अपने ज्येष्ठभ्राता का अब अधिक समय पर्य्यन्त गतानुगतिक बने रहना उचित नहीं तुम जैसे बुद्धिमान् के लिए। (यदि तुम में खड्ग से मेरे मस्तक काटने का साहस नहीं है, तो यह पापात्मा तेरा ज्येष्ठभ्राता स्वयं सबकुछ परित्याग कर अरण्य में चला जाता है। मुझ जैसे पापात्मा के दुष्ट सङ्ग से विमुक्त होकर अब भविष्य के लिए तुम लोग सुखी बनो, पुण्य–सञ्चय करो, यही मेरी कामना है ॥ (१६१)—तुम तो स्वयं यह प्रकट कर ही चुके हो कि, तुम्हारा ज्येष्ठभ्राता भीमसेन मुझ से कहीं अधिक योग्य है, शूर है, पराक्रमी है। ऐसी स्थिति में मुझ जैसे क्लैव्य–कापुरुष–हीनवीर्य्य–भीरु–युधिष्ठिर का राज्यपद से क्या सम्बन्ध ? अर्जुन ! बस करो, क्षमा करो मुझे तुम। अब

*कर्णशराभिसन्तप्त युधिष्ठिर युद्धभूमि से पराङ्मुख बन कर अपने युद्ध के विश्रामस्थल में शय्या पर विश्राम कर रहे थे। इसी अवस्था में अर्जुन ने इनकी भर्त्सना की थी।

में क्रोधाविष्ट तुम्हारे इन क्रूर परुषवाक्प्रहारों को सहने के लिए अधिक शक्ति नहीं रखता ॥ (१६२)— अब मेरी एकमात्र यही इच्छा है कि, भीमसेन ही राज्यपद पर आसीन हों। हे वीर अर्जुन! सर्वथा अपमानित अब मेरे लिए अधिक समय पर्यन्त जीवित रहना सर्वथा व्यर्थ है।

सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार अर्जुन को लक्ष्य बना कर उक्त मन्तव्य प्रकट करते हुए धर्मराज युधिष्ठिर सहसा खड़े हो ही तो गए। शय्या छोड़ कर आवेशपूर्वक नीचे उतर आए ॥ (१६३)–(१६४)– एवं (सब कुछ शस्त्रास्त्रादि परिग्रहों का परित्याग कर वानप्रस्थी की भाँति) वनगमन के लिए उद्यत हो ही तो पड़े। (इस भयावह कायड को लक्ष्य बना कर तत्काल एकान्तनैष्ठिक अतिमानव भगवान्) वासुदेव कृष्ण ने बड़े ही प्रणतभाव से निम्नलिखित रूप से युधिष्ठिर का उद्बोधन आरम्भ किया—

वासुदेव कहने लगे कि, राजन्! गाण्डीवधनुर्धारी अर्जुन ने अपने गाण्डीवधनुष के सम्बन्ध में जो यह प्रतिज्ञा कर रक्खी है कि—"जो मुझे यह कह देगा कि, तू तेरा गाण्डीवधनुष दूसरे को दे दे, वह पुरुष मेरे लिए वध्य है", उस प्रतिज्ञा का स्वरूप आप जान ही चुके हैं। अपनी उस प्रतिज्ञा के आवेश को उपशान्त करने के लिए अर्जुन ने इस प्रकार आपकी भर्त्सना कर डाली है। एवं इस भर्त्सनारूप उपाय के माध्यम से अर्जुन ने अपनी भावुकतापूर्ण प्रतिज्ञामात्र पूरी की है ॥ (१६५)—सो भी राजन्! अर्जुन ने अपनी इच्छा से नहीं अपितु—"बड़े ज्येष्ठ पुरुषों का अपमान कर देना ही उनकी मृत्यु है" मेरे इस सुझाव के आधार पर ही (मच्छन्दात्) अर्जुन ने आपका अपमान कर डालने का साहस किया है। जिसमें वस्तुतः अर्जुन का कोई दोष नहीं है। यदि दोष है भी, तो मेरा ॥ (१६६)—इसलिए हे राजन्! हे महाबाहो युधिष्ठिर! आप मेरे, और पार्थ अर्जुन के दोनों के सत्यप्रतिज्ञासंरक्षणात्मक इस अपराध के लिए जो भी दण्ड–नियम करें, उसे अवनतशिरस्क बन कर हम दोनों सहन करने के लिए सन्नद्ध हैं ॥ (१६७)—हे महाराज! हम दोनों आज आप के शरण में समागत हैं। आप हमें इस अपराध के लिए क्षमा करें। हम सर्वथा प्रणतभाव से आप से यह क्षमा–भिक्षा मांग रहे हैं ॥ (१६८)— साथ ही आपको यह विश्वास दिला रहे हैं कि, कुरुक्षेत्र की समरभूमि अब अवश्य राधेय कर्ण के शोणित का पान कर तृप्त बनेगी। यह कृष्ण आज आप से यह सत्य प्रतिज्ञा कर रहा है कि, (जिस कर्ण के माध्यम से ऐसा विषम वातावरण बन गया है वह) कर्ण आज अवश्य ही मारा जायगा। (१६९)— आपकी जैसी भी इच्छा है, तदनुसार ही आप समझ लीजिए कि, अब कर्ण की जीवनलीला समाप्त हो गई है ॥

सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार भगवान् कृष्ण के सर्वथा विनयभावापन्न उक्त वचन सुन कर धर्मराज युधिष्ठिर (१७०)—सहसा सम्भ्रम में पड़ गए (कुण्ठित से बन गए) सहसा आगे बढ़े। एवं प्रसन्नभावापन्न वासुदेवकृष्ण को उठा लिया, इनके सम्मुख हाथ जोड़ कर प्रसन्नभाव से यह कहने लगे कि—

(१७१)—भगवन् ! आपने जैसा अभी जो कुछ कहने का अनुग्रह किया, वास्तव में यह सब कुछ मेरा अतिक्रम ही मान लें भगवन् । हे गोविन्द ! आपने आज इस युधिष्ठिर को सचमुच में अपना लिया है । हे माधव ! आज आपने इसे वास्तव में पापकर्म्म से बचा लिया है ॥ (१७२)—हे अच्युत ! आज आपने हम पाण्डवों का इस घोरकर्म्म से सन्त्राण कर लिया है । आपको अपना संरक्षक प्राप्त कर हम दोनों आज इस महा भयानक दुष्कर्म्मसागर से पार हो गए हैं ॥ (१७३)—सर्वथा अज्ञानविमोहित हम दोनों एकमात्र आपकी निष्ठाबुद्धिबललक्ष्मा नौका को प्राप्त कर दुःखशोक-परिपूर्ण इस पार्थिव अर्णवसमुद्र-दुःखसमुद्र से हमने सन्तरण कर लिया है ॥ (१७४)—न केवल हम दोनों ही, अपितु सम्पूर्ण सेना के साथ, अपने मन्त्रिगणों के साथ, किंवा सबके साथ हम इस दुःखार्णव में डूबते-डूबते एकमात्र आपके अनुग्रह से सुरक्षित बच निकले हैं । हे अच्युत भगवन् ! सचमुच आज पाण्डव आपको प्राप्त कर सनाथ हैं ।

(१७५)-(१७६)-(१७७)-(१७८)—सञ्जय कहने लगे कि, धर्म्मराज युधिष्ठिर के प्रीतिपूर्ण-विनय भावापन्न-उक्त उद्‌गार सुन कर (युधिष्ठिर की ओर से तो भगवान् निश्चिन्त हो गए, किन्तु अभी एक उद्देश्य शेष रह गया । उस उद्देश्य को लक्ष्य बना कर) धर्म्मात्मा धर्म्मसंरक्षक यदुनन्दन गोविन्द के लिए अर्जुन से और भी कुछ कहना अनिवार्य्य बन गया । (हे धृतराष्ट्र ! पूर्व में यह कहा जा चुका है कि, अपनी प्रतिज्ञा के संरक्षण के लिए वासुदेव कृष्ण की प्रेरणा से युधिष्ठिर के प्रति परुषवाणी का प्रयोग करने के अनन्तर पार्थ अर्जुन उसी प्रकार उद्विग्न-क्षुब्ध-खिन्नमना बन गए थे, जैसे कि पापकर्म्माचरण के अनन्तर सात्त्विक मानव विमना बन जाया करता है । (अर्जुन इसी पाप से तो आत्महत्या के लिए सन्नद्ध हो पड़े थे । इसी सङ्कट से उन्मुक्त करने के लिए तो कृष्ण ने अर्जुन को यह आदेश दिया था कि, 'तू अपने मुख से अपनी बड़ाई कर । यही तेरा प्रायश्चित्त है' । तदनुसार ही अर्जुन ने किया था । इसी अवसर में सहसा युधिष्ठिर रुष्ट हो गए । उन्हें प्रणतभाव द्वारा प्रसन्न किया गया । इस प्रकार इस प्रसङ्ग में इन दोनों की सहज भावुकता के कारण परस्पर विरुद्ध ऐसे प्रसङ्ग उपस्थित हो गए कि, दोनों तुष्ट भी हुए, तो रुष्ट भी हुए । सर्वात्मना अभी दोनों का हृदयसम्मिलन नहीं हो सका । इस शेष उद्‌देश्य की पूर्त्ति के लिए ही सर्वप्रथम) अर्जुन को लक्ष्य बना कर मानों इसकी बालसुलभ सहज भावुकता का उपहास ही करते हुए वासुदेव कहने लगे—'ततोऽब्रवीद् वासुदेवः प्रहसन्निव पाण्डवम्' (फल्गुनम्)॥

वासुदेव कहने लगे कि, हे अर्जुन ! यह तो सम्भव ही कैसे था कि, तू अपने उत्तानित खड्ग से धर्म्म में व्यवस्थित धर्म्मराज युधिष्ठिर को अपनी उपांशुप्रतिज्ञा के संरक्षण के लिए मार डालता । अतएव इस सम्बन्ध में खड्गवधप्रसङ्ग की उपेक्षा कर हमारे सुझाव के अनुसार 'त्वम्' इस अपमानात्मक सम्बोधन से तुमने युधिष्ठिर की गर्हणा करते हुए अपनी प्रतिज्ञा पूरी की । इस प्रतिज्ञापूर्त्ति के अनन्तर तुमने यह अनुभव किया कि, अपने ज्येष्ठबन्धु का अपमान कर इस अर्जुन ने बहुत बड़ा पाप कर डाला है । इसी काल्पनिक आवेश से पुनः तू कश्मलभावापन्न बनता हुआ किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर आत्महत्या के लिए सन्नद्ध हो पड़ा ॥

(१७६)—पार्थ अर्जुन ! धर्मराज युधिष्ठिर को यदि वास्तव में खड्ग से ही तू मार डालता, तो उस दशा में तू कौनसा प्रायश्चित करता ? । इसीलिए तो हमने कहा है कि, सामान्यप्रज्ञ सामान्य मानवों के लिए धर्म का सूक्ष्मरहस्य दुर्विज्ञेय ही बना रहता है ॥ (१८०)—यदि तू अपनी 'धर्मभीरुता' के आवेश से प्रतिज्ञापालन के लिए खड्ग से युधिष्ठिर का वध कर डालता, साथ ही प्रायश्चित्तरूप तू स्वयं भी यदि अपनी कल्पना से आत्महत्या कर बैठता, तो कल्पान्तपर्य्यन्त उस असुर्य्य नरकगति में तुझे रहना पड़ता, जहाँ से पुनरावर्त्तन सम्भव नहीं है ॥ (१८१)—अस्तु, तुमने भावुकतावश अब तक जो कुछ जैसा कुछ किया, वह इस लिए क्षम्य है कि, हमारी प्रेरणा के अनुसार उस महत्पातक से बचे रहने के उपायों को तुमने मान्यता प्रदान कर दी । अब हमारी ओर से इस प्रसङ्ग में एक प्रेरणा और शेष रह गई है । वह यही है कि, यद्यपि हमारे अनुरोध से युधिष्ठिर ने वनगमन का सङ्कल्प तो छोड़ दिया है । किन्तु वे अभी तुझ पर पूर्णरूपेण प्रसन्न नहीं हुए हैं । अब तेरा यही कर्म शेष रह जाता है कि, अपने प्रणतभाव से, विनयावनता वाणी से धर्मराज कुरुश्रेष्ठ उस युधिष्ठिर को प्रसन्न कर, यह मेरा अपना मन्तव्य शेष है—'प्रसादय कुरुश्रेष्ठ-मेतदत्र मतं मम' ॥ (१८२)—सावधान ! यह प्रसाद-कर्म्म तुझे आत्मप्रणतलक्षणा-प्रपत्तिलक्षणा भक्ति के माध्यम से अन्तःकरण से श्रद्धापूर्वक करना है । युधिष्ठिर को जब तू इस प्रकार भक्तिपूर्वक प्रसन्न कर लेगा, तो जानता है तदनन्तर आप क्या करेंगे ? । बस तत्काल आप बहुत शीघ्र सूतपुत्र कर्ण के वध के लिए यहाँ से रथ पर चढ़कर चल ही तो पड़ेंगे+ ॥ (१८३)—वहाँ चलकर क्या करेंगे ?, जानते हो तुम ? । नहीं, तो सुनो । युद्धभूमि में तुम अपने सुतीक्ष्ण बाणों से कर्ण का वध कर डालोगे । और इस प्रकार मानाढ्य धर्मराज युधिष्ठिर से तुम महदनुग्रह-महती प्रीति प्राप्त कर लोगे (युधिष्ठिर के अपमान का प्रायश्चित्त यह नहीं है कि, तुम आत्महत्या कर लो । जिस कर्ण के कारण ये सन्तप्त हुए हैं, अपमानित हुए हैं, जिस निमित्त को—कर्ण को—परोक्ष कारणता से तुमने निमित्त बनाते हुए युधिष्ठिर का अपमान कर डाला है, उस कर्ण का संहार ही इस अपमानरूप पाप का वास्तविक प्रायश्चित्त माना जायगा । यही तुम्हें आज करना है । किन्तु इससे पूर्व युधिष्ठिर को प्रसन्न कर उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर लेना है) ॥ (१८४)—हे महाबाहो अर्जुन ! यही मेरा इस अवसर के लिए सर्वथा उपयुक्त, एवं आवश्यक अभिमत है । ऐसा कर लेने पर ही, ऐसा करके ही तुम्हारी अभीष्टसिद्धि (कर्ण-संहार) सम्भव बन सकेगी ।

(१८५)—सञ्जय कहने लगे कि, हे महाराज धृतराष्ट्र ! (वासुदेव कृष्ण के द्वारा युधिष्ठिरप्रसाद प्राप्तिरूप प्राप्तकाल अनिवार्य्य कर्म्म की प्रेरणा प्राप्त कर) अर्जुन लज्जा से अवनतशिरस्क बनते हुए

+ " मेरे राजा ! तुम मानलो मेरा यह कहना । देखो तो, फिर अपन साथ साथ उत्सव में चलेंगे, खेल देखेंगे" इत्यादि उपलालनमात्र से ही तो भावुक के बालभाव की भावुकता सुरक्षित रहा करती है ।

धम्मराज के चरणों में अपने आपको प्रणतभाव से समर्पित कर—(१८६)—भरतश्रेष्ठ धम्मराज के प्रति 'आप मुझ पर प्रसन्न हों, क्षमा करें मेरा अपराध' यह बार बार अभिव्यक्त करते हुए कहने लगे कि—

हे राजन्! धम्मकाम इस भीरु (धम्मभीरु)' अनुज अर्जुन ने आपके प्रति जो कुछ परुष कहने की धृष्टता की है, इसके लिए आप इस धम्मभीरु को क्षमा करें ॥

(१८७)-(१८८)—सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार धर्म्मराज युधिष्ठिर ने अपने अनुज धनञ्जय को, इस शत्रुहन्ता कनिष्ठ भ्राता को अविरल अश्रुपात* करते हुए-अब अपने चरणों में पड़ा देखा तो, (सहज भावुक युधिष्ठिर ने सर्वात्मना विगलित होते हुए) अर्जुन को उठा लिया, वक्षस्थल से समन्वित कर लिया, एवं स्वयमपि युधिष्ठिर उच्चस्वर से रो पड़े ॥ (१८९)—चिर काल पर्यन्त दोनों भ्राता दोनों से संश्लिष्ट बने रहते हुए रुदन करते रहे। दोनों अपनी भूलभरापूर्ण भावुकता के लिए पश्चात्ताप अभिव्यक्त करते रहे। हे महाराज धृतराष्ट्र! इस प्रकार दोनों का आवेश मनोमालिन्य इस रुदन से उपशान्त हो गया, एवं अन्ततोगत्वा दोनों परस्पर प्रीतियुक्त बन गए ॥ (१९०)—(दोनों के इस प्राप्तकाल सहज आवेश के सुशान्त होने पर) धम्मराज युधिष्ठिर अर्जुन का समालिङ्गन कर बड़े ही वात्सल्यप्रेम से मस्तकाघ्राण कर निरतिशय वात्सल्यप्रेम से संयुक्त बनते हुए स्वयं अपनी और अर्जुन की पूर्वभुक्ता, तथा वर्त्तमान परस्परात्यन्तविरुद्धा पूर्वापरस्थितियों के संस्मरण-दर्शन से पुनः पुनः विस्मय करते हुए अपने अनुज महेष्वास अर्जुन से कहने लगे कि—

(१९१)-(१९२)-(१९३)-(१९४)—हे महाबाहो अर्जुन! (अब तुझे यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि) सम्पूर्ण सेना के देखते देखते कर्ण ने अपने सुतीक्ष्ण बाणों से तुम्हारे इस ज्येष्ठ भ्राता के कवच-ध्वजा-धनुष-शक्ति-अश्व-सदृशीर बाणसमूह-काट फैंके। हे महेष्वास! मैं युद्ध में अपने आपको सम्हालूँ-इससे तो पहिले ही उस दुरात्मा कर्ण ने मुझे सम्पूर्ण युद्धपरिग्रहों से शून्य बना कर मुझे सर्वात्मना क्षत-विक्षत कर डाला। इस प्रकार युद्ध में कर्ण के उस प्रचण्ड रणकौशल को भलीभाँति जान कर मैं अपने अन्तःकरण में निरतिशयरूपेण सन्तप्त हो गया हूँ। मुझे अपना जीवित रहना भी रुचिकर प्रतीत नहीं हो रहा। अर्जुन! तुम्हें मेरी इस बात पर विश्वास कर लेना चाहिए कि, यदि तू उस अप्रतिम वीर कर्ण को युद्ध में न मार डालेगा, तो मैं अपने प्राण विसर्जित कर दूँगा। कर्ण की विद्यमानता में मेरे जीवित बने रहने का अर्थ ही क्या रह जाता है ॥

---

* यह है भावुकों की भावुकता के हृदयसम्मिलन का अन्तिम परिणाम। यदि दुर्भाग्य से भावुकों का परस्पर समन्वय नहीं होता, तो दोनों का सर्वनाश हो जाता है, दोनों ही दोनों के सर्वनाश में प्रवृत्त हो जाते हैं। यदि सौभाग्य से किसी नैष्ठिक के माध्यम से दोनों समन्वित हो जाते हैं, तो दोनों ही विगलित होकर गला मिलाकर रोने लगते हैं, जैसे कि भावुक बालक, एवं भावुक स्त्रियाँ।

सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार युधिष्ठिर के द्वारा उद्बुद्ध उपलालित अर्जुन (कर्णवध की प्रतिज्ञा से धर्मराज को निश्चिन्त बनाते हुए) कहने लगे कि—(१९५–१९६)—हे राजन् ! आपकी शपथपुरस्सर एकमात्र आपके ही आशीर्वाद के बल पर आपका यह अनुज प्रतिज्ञा कर रहा है कि, "भीमसेन, तथा नकुल–सहदेव के सहयोग से युद्धभूमि में आज मैं उस कर्ण का निश्चयेन वध करूँगा, जिसने आपको यों सन्तप्त किया है। मैं मर भले ही जाऊँ, किन्तु उसे भूमिसात् अवश्य कर दूँगा", यह प्रतिज्ञा–सत्यग्रहण–अपने गाण्डीवधनुष का स्पर्श करता हुआ मैं आपके सम्मुख व्यक्त कर रहा हूँ।

(१९७)—सञ्जय कहने लगे कि, सत्यप्रतिज्ञा से युधिष्ठिरराज को इस प्रकार सन्तुष्ट कर वासुदेव की ओर अभिमुख बनते हुए अर्जुन कहने लगे कि, हे कृष्ण ! मैं आज युद्ध में अवश्य ही कर्ण का संहार करूँगा, इसमें आप कुछ भी सन्देह न करें * ॥ (१९८) किन्तु इस कर्म में सफलता प्राप्त होगी एकमात्र आपके बुद्धिबल से ही। भगवन् ! आपके लिए मैं मङ्गलकामना कर रहा हूँ। आप वैसा अनुग्रह कीजिए, जिसके बल पर मैं उस दुरात्मा का संहार कर सकूँ ॥ सञ्जय कहने लगे कि–अर्जुन के इस प्रकार अनुनय करने पर वासुदेव पुनः अर्जुन से यों कहने लगे कि–(१९९–२००)—हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! हम मानते हैं कि, तुम महाबली कर्ण के संहार में समर्थ हो। किन्तु हे महारथ ! 'तुम युद्ध में अपने प्रतिद्वन्द्वी कर्ण का संहार किस कौशल से करोगे ?' इस मीमांसा के उत्तरदायित्व से पूर्णरूपेण तुम्हें परिचित हो ही जाना चाहिए। (क्योंकि कर्णसंहार कर डालना कोई बालकर्म्म नहीं है) ॥

---

*क्षण क्षण में आवेश, क्षण क्षण में शान्ति, पूर्वक्षण में आवेश, उत्तरक्षण में शान्ति, तदुत्तरक्षण में पुनः आवेश, पुन प्रतिज्ञाघोषणा, शपथग्रहण, आदि सम्पूर्ण तात्कालिक भाव एकमात्र उस मानसिक अनुभूति के ही भावुकतापूर्ण दुष्परिणाम हैं, जिनका अन्त एकमात्र सर्वनाश को ही लक्ष्य बनाता है। अपनी केवल एक उपांशु प्रतिज्ञा, भावुक अर्जुन की केवल एक उपांशु प्रतिज्ञा के कारण ही तो आज सम्पूर्ण पाण्डव सर्वनाश के अतिथि बनने जा रहे थे। यह काण्ड जैसे–तैसे कृष्ण के निग्रहबल से अभी पूर्णरूपेण सुशान्त भी नहीं होने पाया था कि, दोनों भावुकों ने पुनः आवेश में आकर नवीन प्रतिज्ञाएँ कर डालीं। एक ने (युधिष्ठिर ने) यह प्रतिज्ञा कर डाली कि—(१९१)—"यदि तू आज युद्ध में कर्ण का संहार न करेगा, तो मैं अपने प्राण ही छोड़ दूँगा"। उधर भावाविष्ट अर्जुन पुनः यह प्रतिज्ञा कर बैठे कि–"मैं आपके चरण स्पर्श कर यह सत्य प्रतिज्ञा कर रहा हूँ कि, आज कर्ण का संहार किए बिना मैं युद्ध से ही परावर्त्तित नहीं होऊँगा"। भगवान् अनुभव कर रहे थे भावुकों की भावुकतापूर्ण इस भावुक प्रतिज्ञा के भावी परिणाम का। किन्तु यह अवसर नहीं था, इस सम्बन्ध में उद्बोधन कराने का। यहाँ तो भगवान् ने केवल—'कथं भवान् रणे कर्णं निहन्यात्' इत्यादि रूप से परोक्षरूप से अर्जुन का ध्यान इस भीषण प्रतिज्ञा के भावी भीषण दुष्परिणाम की ओर आकर्षितमात्र कर दिया है। कर्ण का वध स्वयं भगवान् भी एक महती समस्या मान रहे थे। और यह यथार्थ है कि, कर्ण के अमुक शरप्रहार के समय यदि भगवान् रथ को भूमि में निमज्जित न कर देते, तो तत्काल कर्णद्वारा प्रक्षिप्त शर अर्जुन का

सञ्जय कहने लगे कि, इस प्रकार (परोक्षरूप से अर्जुन का उद्बोधन कराने के अनन्तर) वासुदेव कृष्ण अर्जुन से कहने लगे कि, (२०१)—हे अर्जुन ! कर्णशरामिताप से सन्तप्त, कर्ण की ओर से पाण्डवविजय में सशङ्कित भयसन्त्रस्त युधिष्ठिर को तुम सान्त्वना प्रदान करो, एवं दुरात्मा कर्ण के संहार के लिए इस ज्येष्ठ महात्मा पुरुष का आशीर्वाद प्राप्त करो ॥ (२०२)—अर्जुन ! तुम्हें इस प्रकार-इस कौशल से-युधिष्ठिर को सान्त्वना प्रदान करना है कि,—"हे पाण्डुनन्दन धर्मराज ! जब मैंने और कृष्ण ने युद्धभूमि में यह सुना कि, आप दुरात्मा कर्ण के शरों से उत्पीड़ित होकर विश्राम करने चले गए हैं, तो हम दोनों को बड़ी चिन्ता हुई। तत्काल युद्ध को छोड़कर हमें सर्वप्रथम आपके समीप आपकी कुशलक्षेमजिज्ञासा के लिए आजाना पड़ा (नहीं तो, हम कर्ण का संहार करके ही आपके दर्शन करते) ॥ (२०३)—हे राजन् ! आप अपनी सहज विशाल दृष्टि से हम पर अनुग्रह करें। हमें अनुग्रहपूर्वक अपनावें। आप हमें जयलाभ का आशीर्वाद प्रदान करें" । (अर्जुन ने इसी प्रकार भीमातु (भयग्रस्त) युधिष्ठिर को सान्त्वना प्रदान की। इस सान्त्वना से निर्भय बनते हुए युधिष्ठिर गद्‌गद होकर अर्जुन से कहने लगे कि—)

(२०४)—अपने ज्येष्ठभ्राता के आक्रोश से भयग्रस्त बने हुए हे पार्थ अर्जुन ! आओ ! आओ !! मेरा समालिङ्गन करो पाण्डुपुत्र !!! मैंने तुम्हारी भर्त्सना नहीं की है। अपितु जिससे तुम में शौर्य्य का उदय हो, वैसी हितवाणी का ही प्रयोग किया है। तुम भी अपने आक्रोश को भूल जाओ, एवं मैं भी अपनी गर्हणा को विस्मृत कर देता हूँ ॥ (२०५)—मैं जानता हूँ अर्जुन तुम्हारे मनोभावों को,

— १०८ वें पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश —

शिरश्छेद कर डालता। एवमेव यदि कौशलपूर्वक भगवान् एकपुरुषघातिनी शक्ति से घटोत्कच का संहार न करवा डालते, तो कर्ण निश्चयेन अर्जुन की जीवन-लीला समाप्त कर देते। अर्जुन की अपेक्षा कर्ण का पराक्रम कैसा और क्या था ?, इसके ज्ञाता तो भगवान् ही थे। अतएव इस वर्त्तमान क्षोभात्मक वातावरण के सुशान्त होने के अनन्तर भगवान् को कर्ण, तथा कर्ण के त्रैलोक्याप्रतिम सारथी शल्य का स्वरूप-परिचय कराते हुए अर्जुन का उद्बोधन कराना पड़ा है, जैसाकि तत्प्रकरण के निम्नलिखित कतिपय उदाहरणों से प्रमाणित है —

अवश्य तु मया वाच्यं यत् पथ्यं तव पाण्डव !
मावमंस्था महाबाहो ! कर्णमाहवशोभिनम् ॥
त्वत्समं-त्वद्विशिष्टं वा कर्णं मन्ये महारथम् ॥
सर्वैरवध्यो राधेयो देवैरपि सवासवैः ॥
अशक्यः सरथो जेतुं सर्वैरपि युयुत्सुभिः ॥

इत्यादि

वास्तविक सौम्य को। हे धनञ्जय! क्रय पर विजय प्राप्त करो। मैंने आवेश में आकर तुम्हें जो कुछ कटु-वचन कह दिए, उनके प्रति रोष मत करो ॥

(२०६-२०७)—सञ्जय कहने लगे कि, (युधिष्ठिर के स्नेहालिङ्गन से वस्तुगत्या अपने आक्षेप को विस्मृत करते हुए) अर्जुन शिरसा प्रणत बन गए। दोनों हाथों से ज्येष्ठभ्राता के चरण पकड़ लिए। इसे इस प्रकार प्रणत देख कर युधिष्ठिर ने उठा लिया, अपने से समालिङ्गित कर लिया, मस्तकाघ्राण-पूर्वक पुन युधिष्ठिर कहने लगे कि—(२०८)—हे धनञ्जय! हे महाबाहो! तुमने मुझे आज सर्वात्मना सम्मानित कर दिया है। मेरा तुम्हें यही आशीर्वाद है कि, तुम युद्ध में यश प्राप्त करो, शाश्वत विजय प्राप्त करो ॥

(२०९)—(ज्येष्ठभ्राता के आशीर्वाद से अपन आपको कर्णवध के लिए सर्वसमर्थ अनुभव करते हुए) अर्जुन कहने लगे कि, हे धर्मराज! अपने बाहुबल से बलगर्वित बने हुए पापात्मा पापकर्मा राधेय कर्ण को उसके पुत्रादि सहित मैं आज निःशेष कर डालूँगा ॥ (२१०)—जिन सुतीक्ष्ण शरों से उस दुरात्मा ने दृढ़रूप से धनुष तान कर आपको पीड़ित किया है, उस कुकर्म का फल—दारुणफल—आज मेरे द्वारा युद्धभूमि में कर्ण अवश्य प्राप्त कर लेगा ॥ (२११)—हे महीपते! मैं तो आज इसी समय आपके कर्ण का सहायकत्वरूप से ही शपथ कर रहा हूँ। (आप समझ लीजिए-अर्जुन ने कर्णसंहार कर दिया ॥ (२१२)—आप यह विश्वास रक्खें कि, समाम में कर्ण का संहार किए बिना आज अर्जुन विनिवर्तित नहीं होगा, यह सत्यप्रतिज्ञा मैं आपके चरणों का स्पर्श करके कर रहा हूँ ॥

सञ्जय कहने लगे—(२१३)—कि, अर्जुन की इस प्रकार की सत्यप्रतिज्ञा सुनकर सुमना-स्वस्थ बनते हुए युधिष्ठिर किरीटी अर्जुन को लक्ष्य बनाकर बृहत्तर (महत्त्वपूर्ण) आशीर्वचन अभिव्यक्त करते हुए कहने लगे कि—मैं तुम्हारे अक्षय यश की कामना कर रहा हूँ, तुम्हारे जीवन की कामना कर रहा हूँ, तुम युद्ध में सदा जयलाभ करो, तुम्हारे शत्रु नष्ट हो जायँ ॥ (२१४)—मङ्गलगमन करो मेरे प्रिय अनुज अर्जुन, आकाश के देवता तुम्हारे लिए ऋद्धि-वृद्धि-समृद्धिप्रदाता बनें, मैं जैसी (कर्णवध) कामना कर रहा हूँ, तुम्हारे लिए वही कामना सफल हो। शीघ्र युद्ध के लिए प्रस्थान करो, पाण्डववंश की सर्वसमृद्धि के लिए समरभूमि में कर्ण का उसी प्रकार संहार करो, जैसे कि देववंश की समृद्धि के लिए तुम्हारे अशी इन्द्र ने वृत्रासुर का संहार किया था ॥

—श्लोकार्थसमन्वय उपरत—

वीर-करुणा-अद्भुत-हास्य-बीभत्स-भयानक-आदि साहित्योपवर्णित मनोनिरूपण, अतएव भावुकतापूर्ण रसों से समन्वित उक्त रोमहर्षक तृतीयोदाहरणात्मक महाभारतप्रसङ्ग में पाण्डुपुत्रों की भावुकता का जैसा स्वरूपविश्लेषण हुआ है वह सम्पूर्ण भावुक-मानवसमाज के उद्बोधन का मूलस्तम्भ माना जा सकता है। भावुकताप्रधान वर्त्तमान भारतीय हिन्दूमानव-जीवन के वैयक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक, एवं राष्ट्रिय, सभी तन्त्रों में तृतीयोदाहरणोपवर्णिता भावुकता सर्वात्मना प्रधान

मनी हुई है। स्वय एकाकी व्यक्ति इसी भावुकता के अनुग्रह से अहोरात्र में अनेक बार विविध रसों का अनुगमन किया करता है। कभी अपनी भावुकता से वह अपने आपको वीर मानने लगता है, कभी करुणा का अनुगामी बन जाता है, कभी आश्चर्य-विभोर हो जाता है, कभी अट्टाट्टहास में निमग्न बन जाता है, तो कभी *भयानक निष्ठुर-निर्दय बन जाता है। तत्त्वत उसमें कोई भी स्थिरभाव है ही नहीं।* अपनी मानसिक कल्पनामात्र से कल्पनासाम्राज्य म विचरण करता हुआ एक प्रमादी की भाँति-स्वप्नाभिभूत * स्वप्नद्रष्टा की भाँति स्वय ही अपनी कल्पना के बल पर अपने मनोराज्य में सम्भव-असम्भव-सब कुछ निर्म्मित करता रहता है, एवं उत्तर क्षण में ही स्वयं ही सब-कुछ विनष्ट करता रहता है। आद्यन्तरूप से आपादमस्तक अस्थिर-अशान्त-उद्विग्नमना व्यक्ति का क्षण-क्षण म परिवर्त्तित दृष्टिकोण इसे कदापि निश्चित स्थिर दृढ़ लक्ष्य पर आरूढ़ नहीं रहने देता। कभी धर्म्माभिनिवेश, तो कभी कामाभिनिवेश। कभी अर्थाभिनिवेश, तो कभी आत्मशान्तिलक्षण मोक्ष का अन्वेषणाभिनिवेश। कभी महादुःखी, तो कभी हर्षातिरेक में प्रमत्तोन्मत्त। कभी महा उदार, तो कभी कृपणश्रेष्ठ। कभी हास्यपरायण, तो कभी आक्रोशपरायण। इत्यादि इत्यादि रूपेण चये हुऽ्या'—चये रहा रूप से सदा अपने मनोभाव के परिवर्त्तनात्मक भावुकताचक्र से चक्रायित मानव का व्यक्तिस्वरूप वर्त्तमान युग में सर्वथा अभूतपूर्वानुशोचनीय ही बन रहा है।

ठीक यही स्थिति आज भारतीय मानव के पारिवारिक जीवन की है। व्यक्तियों के समूह का ही नाम तो 'परिवार' है। यह ठीक है कि, बालक, स्त्री, नववयस्क सद्स्य पुत्र, कन्या, आदि सहजभावुक अनेक व्यक्तियों का पारिवारिक सीमा में समावेश रहता है। अतएव सहजरूप से पारिवारिक सीमामण्डल में अनेक प्रकार के उच्चावचभावों का समन्वय प्राकृतिक है, मान्य है। किन्तु प्रश्न है उस पारिवारिक कुलज्येष्ठ पुरुष के सम्बन्ध में, जिस पर समस्त परिवार का उत्तरदायित्व अवलम्बित माना गया है भारतीय कौटुम्बिक व्यवस्थातन्त्र में। यदि नेता नैष्ठिक है, तब तो पारिवारिक भावुक व्यक्तियों का समसमन्वयपूर्वक सञ्चालन होता रहता है, पारिवारिक व्यवस्थातन्त्र सुसमन्वित बना रहता है। दुर्भाग्यवश यदि पारिवारिक कुलज्येष्ठ केवल अवस्था से ही पलितशिरस्क बनता हुआ अपने आपको सर्वज्येष्ठ-सर्वश्रेष्ठ

---

* न तत्र रथा', न रथयोगाः, न पन्थानो भवन्ति। अथ रथान्-रथयोगान्-पथः सृजते। न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्ति। अथानन्दान् मुद प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति। अथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते। स हि कर्त्ता। तदेते श्लोका भवन्ति—

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या सुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः॥

—बृहदारण्यकोपनिषत् ४।३।१०,११,।

मानने-मनवाने की यथायद् भ्रान्ति करता हुआ, अपने आश्रित पारिवारिक व्यक्तियों की परम्पराक्रम-विरुद्ध सहज भावुकता के समन्वय में असमर्थ बना रहता हुआ स्वयं भी पारिवारिक भावुक व्यक्तियों की गणना में समाविष्ट हो जाता है, जो तथाविध परिवार सर्वात्मना अव्यवस्थित-विशकलित-उच्छृंखल-असम्पादित बन जाता है। बाल-रुचीयता की भाँति स्वयं भी अपने अपने अयुक्तकर्म में कुशल, प्रतिष्ठा मद, केवल अपनी यथोऽनुगता श्रेष्ठता के मदराग से उन्मत्त, अपने आश्रितों की भावुकता का केवल दोषमीमांसक ऐसा कुनायक भावुक मानव जहाँ परिवार का सञ्चालक बन जाता है, वहाँ वैसे व्यक्तित्वात्मक का भावुभाव सहज बन जाता है, जिससे परिवार का सर्वनाश विनिश्चित है। ऐसे पलितशिरस्क भावुक नायक की सत्पत्नी-पुत्र-पौत्र-अनुचर-अनुजादि यथयावत् पारिवारिक भावुक व्यक्तियों के द्वारा उपेक्षा कर दी जाती है। न वह सुखी शान्त रहता, न सदाभित सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पारिवारिक अन्य व्यक्ति। यही है नैतिक नायक के निष्ठापूर्ण उत्तरदायित्व से वञ्चित केवल भावुकताप्रधान वर्तमानयुग के भारतीय हिन्दू-मानव के पारिवारिक जीवन के इतिहास की उद्वेगकरी रूपरेखा।

परिवारसमष्टि का ही तो नाम समाज है। जब परिवार ही निष्ठापक्ष से शून्य-वञ्चित है, तो तत् समष्टिरूप समाज-जाति में निष्ठा का उदय कैसे सम्भव बन सकता है? लोकैषणा-भावानुगत समाज-नेतृत्व की वासना का साम्राज्य, किन्तु निष्ठापूर्ण उत्तरदायित्व का आत्यन्तिक अभाव। अतएव अनेक भावुक नायकों का समाज पर आधिपत्य। अतएव च सामाजिकतन्त्र का स्वरूपोच्छेद। भारतीय पञ्चायती व्यवस्था उस नैगमिक 'पर्वत्' व्यवस्था से समनुस्थित थी, जो व्यवस्था समन्वयपूर्वक समाजव्यवस्था के उत्तरदायित्व का सञ्चालन कर सकती थी, एवं-पञ्चपरमेश्वररूप से जिस सामाजिक व्यवस्था के मूल में-'मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्' रूप सर्वभूतहितपतिलक्षण ईश्वरनिबन्धन 'धर्म' मूलाधार बना हुआ था। केवल लोकैषणाप्रमुख समाजसञ्चालक भावुक समाजनेताओं के अनुग्रह से धर्मनिष्ठाशून्या समाज-व्यवस्था अपने सामाजिक आदर्श से स्खलित होती हुई केवल वैयक्तिक स्वार्थसाधना का ही निमित्त बनी रह गई है, जिसकी प्रतिक्रिया ने हीं भारतीय नैगमिक सहज जीवन से एकान्ततः विरुद्ध-ईश्वरभाव बहिष्कृत सर्वस्वघातक उस 'समाजवाद' नामक कल्पित वाद को जन्म दे डाला है, जिसके मूल में प्रच्छन्नरूप से स्वार्थसाधनमूला व्यक्तिगता लोकैषणा ही पुष्पित-पल्लवित हो रही है, एवं यही वर्तमान भारतीय हिन्दूमानवसमाज की रूपरेखा का मार्मिक दृष्टिकोणस्वरूपविश्लेषण है।। ५

अनेक समाजों की समष्टि को ही तो राष्ट्रतन्त्र, किंवा राज्यतन्त्र माना गया है। भावुकतापूर्ण व्यक्तितन्त्र, तत्-समष्टिरूप भावुकत्वात्मक समाजतन्त्र, तत्समष्टिरूप तथाविध ही राष्ट्रतन्त्र। इस परम्परा से ही राष्ट्रतन्त्र की रूपरेखा, वर्तमान सत्तातन्त्र की यशोगाथा, एवं भारतीय मानव की सत्तातन्त्रगाथा सर्वात्मना विस्पष्टतमरूप से अभिव्यक्त बन रही है, जिसकी आलोचना-प्रत्यालोचना की योग्यता से हमारे जैसे नितान्त भावुक का साहस भी नहीं है। हाँ, इस जिज्ञासा का सम्यक्-समाधान सदा सर्वत्र सब अवस्थाओं में सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-सार्वभौम-सर्वशासनमय-गणतन्त्रात्मक-भारत के सत्तातन्त्र से सम्यग्रूपेण सभी प्राप्त कर सकते हैं, कर रहे हैं, करते रहेंगे यावच्चन्द्रदिवाकरौ।

तात्पर्य निवेदन का यही है कि, महाभारतयुगानुगत तृतीयोदाहरण वर्त्तमान भारत के भारतीय हिन्दूमानव की सहज भावुकता का सर्वात्मना समर्थक बन रहा है। पाण्डवपरिवार का समस्त उत्तर दायित्व जिस कुलज्येष्ठ–श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर से सम्बन्धित था, वे नितान्त भावुक थे। यदि पाण्डुपुत्र के पुण्य से इस पाण्डवपरिवार का नेतृत्व एकान्तनैष्ठिक भगवान् कृष्ण ग्रहण न करते, तो पुराणपुरुष भगवान् व्यास को अपने इतिहासग्रन्थ की सम्पूर्ण दिशा ही आमूलचूड परिवर्त्तित कर देनी पड़ती। एक भावुक (अर्जुन) का उद्‌बोधन कराया जाता है, तो दूसरा भावुक (युधिष्ठिर) उत्तेजित हो पड़ता है। वह भावुक उत्तेजित हो पड़ता है, जिस पर समस्त पाण्डवपरिवार का उत्तरदायित्व अवलम्बित है। छोटों की भूल क्षम्य है, किन्तु बड़ों की भूल कदापि इसलिए क्षम्य नहीं मानी जा सकती कि, "बड़ों की नादानी ही बच्चों की गैरनामी है" इस लोकसूत्रानुसार बड़ों की भूल से ही छोटे भूल किया करते हैं। छोटे की भूल का उत्तर बड़े का भूल करना नहीं है, अपितु छोटे को बड़ा मान लेना ही छोटे की भूल का सुधार करना है, एवं बड़े का अपना स्वरूपसंरक्षण करना है। दुर्भाग्यवश बड़े युधिष्ठिर, छोटे अर्जुन, दोनों भावुकता के आवेश में भूलपरम्परा के बन्धन में आत्मविस्मृत बन रहे थे। एवं कृष्ण अपने निष्ठाबल से पदे पदे इनका संरक्षण कर रहे थे। यदि अतिमानव साक्षात् पूर्णेश्वर यदुनन्दन प्रणतभाव के द्वारा भावुक युधिष्ठिर की उत्तेजना शान्त न कर देते तो, निश्चयेन युधिष्ठिर अरण्य में कहीं भी मर खप जाते। तदनुगामी अर्जुन भी निःशेष बन जाते। भीम युद्ध करते करते युद्ध में मर जाते, अथवा तो इतस्ततः भटकते रहते। नकुल–सहदेव को कौरवसेना इस असहायावस्था में जीवित छोड़ती ही कैसे। द्रौपदी का जीवन स्वतः ही समाप्त बन जाता। माता कुन्ती का निधन तो सहज बन ही जाता। इस प्रकार कैसा दुष्परिणाम घटित हो जाता इस विषमप्रसङ्ग में, यदि वासुदेव पाण्डुपुत्रों की इस भावुकता का उपशमन न करते तो ! तदित्थं महासन्देहात्मक यह तृतीयोदाहरण पाण्डवों की सहज भावुकता का सर्वात्मना समर्थक बनता हुआ प्रश्नकर्त्ता भावुक अर्जुन का अवश्य ही समाधान कर रहा है। और इस समाधान के साथ ही नितान्त भावुक अर्जुन की अस्थिरप्रज्ञा से पुनः यह प्रश्न कर ही सकता है कि,– अर्जुन ! इस उदाहरणस्वरूपविश्लेषण के अनन्तर भी क्या तुम अपने आपको नैष्ठिक मानने–मनवाने की भ्रान्ति कर सकते हो ?। कदापि नहीं।

—३—

(१८)—पाण्डवों की भावुकता का चतुर्थ–पंचम–षष्ठोदाहरण—

सुनते हैं, सदा सर्वदा इतस्ततः परिभ्रमणशील धर्मोद्‌बोधक नारदमुनि एक बार पाण्डुपुत्रों के राज्य में पधारे। आतिथ्य-स्वीकारानन्तर प्रासङ्गिक उद्‌बोधन कराते हुए नारद ने–**'तिलोत्तमार्थं संक्रुद्धावन्योऽन्य-मभिजघ्नतुः'** इत्यादि पुरातन ऐतिहासिक उदाहरण के माध्यम से—**"यथा वो नात्र भेदः स्यात्–सर्वेषां द्रौपदीकृते ! तथा कुरुत भद्रं वो मम चेत् प्रियमिच्छथ"** इत्यादि रूप से द्रौपदी के सम्बन्ध में परस्पर पाँचों भ्राताओं को सदा सौहार्द सुरक्षित रखने का, कभी कलह न करने का आदेश दिया। इसी

मानने-मनवाने की भयावह भ्रान्ति करता हुआ, अपने आश्रित पारिवारिक व्यक्तियों की परस्परसम्बन्धविरुद्ध सहज भावुकता के समन्वय में असमर्थ बना रहता हुआ स्वयं भी पारिवारिक भावुक व्यक्तियों की गणना में समाविष्ट हो जाता है, तो तथाविध परिवार सर्वात्मना अव्यवस्थित-विशृङ्खलित-उच्छृङ्खलधर्मप्यादित बन जाता है। बाल-स्त्रीवत् की भाँति स्वयं भी छोटे छोटे बाह्य पातकर्म में कुशल, अशिक्षित, केवल अपनी वयोऽनुगता ज्येष्ठता के मदगर्व से उन्मत्त, अपने आश्रितों की भावुकता का केवल दोषमीमांसक ऐसा कुनायक भावुक मानव जहाँ परिवार का सञ्चालक बन जाता है, वहाँ वैसे व्यक्तित्वात्मक का भावुभाव सहज बन जाता है, जिससे परिवार का सर्वनाश विनिश्चित है। ऐसे पलितशिरस्क भावुक नायक की सत्पत्नी-पुत्र-पौत्र-अनुचर-अनुजादि यथायावत् पारिवारिक भावुक व्यक्तियों के द्वारा उपेक्षा कर दी जाती है। न वह सुखी शान्त रहता, न तदाश्रित सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पारिवारिक अन्य व्यक्ति। यही है नैष्ठिक नायक के निष्ठापूर्ण उत्तरदायित्व से वञ्चित केवल भावुकताप्रधान वर्त्तमानयुग के भारतीय हिन्दू-मानव के पारिवारिक जीवन के इतिहास की उद्वेगकरी रूपरेखा।

परिवारसमष्टि का ही तो नाम समाज है। जब परिवार ही निष्ठाबल से शून्य-वञ्चित है, तो तत्समष्टिरूप समाज-जाति में निष्ठा का उदय कैसे सम्भव बन सकता है? लोकैषणा-मात्रानुगत समाजनेतृत्व की वासना का साम्राज्य, किन्तु निष्ठापूर्ण उत्तरदायित्व का आत्यन्तिक अभाव। अतएव अनेक भावुक नायकों का समाज पर आधिपत्य। अतएव च सामाजिकतन्त्र का स्वरूपोच्छेद। भारतीय पञ्चायती व्यवस्था उस नैगमिक 'पञ्चत्' व्यवस्था से समनुप्राणित थी, जो व्यवस्था समन्वयपूर्वक समाजव्यवस्था के उत्तरदायित्व का सञ्चालन कर सकती थी, एवं-पञ्चपरमेश्वररूप से जिस सामाजिक व्यवस्था के मूल में-'मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्' रूप सर्वभूतहितरतिलक्षणा ईश्वरनिबन्धन 'धर्म्म' मूलाधार बना हुआ था। केवल लोकैषणाकामुक समाजसञ्चालक भावुक समाजनेताओं के अनुग्रह से धर्म्मनिष्ठाशून्या समाजव्यवस्था अपने सामाजिक आदर्श से स्खलित होती हुई केवल वैय्यक्तिक स्वार्थसाधना का ही निमित्त बनी रह गई है, जिसकी प्रतिक्रिया ने ही भारतीय नैगमिक सहज जीवन से एकान्ततः विरुद्ध-ईश्वरभाव बहिष्कृत सर्वस्वघातक उस 'समाजवाद' नामक कल्पित वाद को जन्म दे डाला है, जिसके मूल में प्रच्छन्नरूप से स्वार्थसाधनमूला व्यक्तिगता लोकैषणा ही पुष्पित-पल्लवित हो रही है, एवं यही वर्त्तमान भारतीय हिन्दूमानवसमाज की रूपरेखा का भावुकिक द्विकोणस्वरूपविश्लेषण है।।

अनेक समाजों की समष्टि को ही तो राष्ट्रतन्त्र, किंवा सत्तातन्त्र माना गया है। भावुकतापूर्ण व्यक्तितन्त्र, तत्-समष्टिरूप भावुकतासमर्थक समाजतन्त्र, तत्समष्टिरूप तथाविध ही राष्ट्रतन्त्र। इस परम्परा से ही राष्ट्रतन्त्र की रूपरेखा, वर्त्तमान सत्तातन्त्र की यशोगाथा, एवं भारतीय मानव की सत्तातन्त्रगाथा सर्वात्मना विस्पष्टतमरूप से अभिव्यक्त बन रही है, जिसकी आलोचना-प्रत्यालोचना की योग्यता से हमारे जैसे नितान्त भावुक का सस्पर्श भी नहीं है। हाँ, इस जिज्ञासा का सम्यक्-समाधान सदा सर्वत्र सब अवस्थाओं में स्वतन्त्रस्वतन्त्र-सार्वभौम-सर्वसत्तासम्पन्न-गणतन्त्रात्मक-भारत के सत्तातन्त्र से सम्यग्रूपेण सभी प्राप्त कर सकते हैं, कर रहे हैं, करते रहेंगे यावच्चन्द्रदिवाकरौ!

सहसा शालाकक्ष में चले ही तो गए। शस्त्र उठाया, तस्कर का वध हुआ, ब्राह्मण को उसका गोधन प्राप्त हुआ। सर्वं सुखमम्।

किन्तु इस पुण्यकर्म के अनन्तर पश्चाद्वर्तित होते ही अर्जुन ने ज्येष्ठभ्राता से तत्प्रतिज्ञानुसार १२ वर्षपर्यन्त 'ब्रह्मचर्य्य' पूर्वक वननिवास–परिभ्रमण की आज्ञा माँग ही तो ली। सहसा युधिष्ठिर स्तब्ध होगए, और कहने लगे, अर्जुन! तुमने कोई अधर्म नहीं किया है। केवल पुण्यकर्म के लिए शस्त्र–मात्रग्रहण किए हैं, जिसका तत्प्रतिज्ञा से कोई सम्बन्ध नहीं है। लोकदृष्टि से भी–ज्येष्ठपुरुष ऐसी दशा में कनिष्ठ पुरुष के एकान्तनिवासगृह में जाता हुआ अवश्य ही अधर्मभाक् माना जासकता है। किन्तु कनिष्ठ यदि ज्येष्ठ के आयासगृह में चला जाय, तो इसमें उसका कोई अधर्माचरण नहीं है। बहुत समझाया धर्ममूर्तिवरिष्ठ धर्मराज ने। किन्तु भावुक अर्जुन– 'मेरी प्रतिज्ञा सत्य है, मैं धर्म्म को धोखा नहीं दे सकता' इस प्रकार अपना धर्माभिनिवेश अभिव्यक्त करते हुए अनिच्छन् युधिष्ठिर से आज्ञा प्राप्त कर वन में चले ही तो गए। यही पाण्डवों का पाँचवाँ भावुकतोदाहरण माना जासकता है।

इसी सम्बन्ध में अर्जुन की निष्ठा का आगे चल कर जिस प्रकार स्खलन होता है, वह भी एक प्रकार से भावुकता का ही उदाहरण बन रहा है। ब्रह्मचर्य्यव्रतपूर्वक यत्र-तत्र वनविचरण करते हुए सत्य प्रतिज्ञ अर्जुन के साथ नागराजकन्या अप्रतिम सुन्दरी 'उलूपी' से साम्मुख्य हो जाता है। साधारण भावुक प्राणी (अर्जुन) का एक असाधारण भावुक–जन्मजात भावुक–प्राणी (उलूपी) से समसाम्मुख्य हो सकता है। उलूपी ज्यों ज्यों पत्नीव्रत की ओर अर्जुन का ध्यान आकर्षित करती है, त्यों त्यों 'ब्रह्मचर्य्यानुगता' प्रतिज्ञा के माध्यम से अर्जुन अपनी निष्ठा पर सुदृढ़ रहने का प्रयत्न अभिव्यक्त करने लगते हैं। अन्ततोगत्वा भावुकश्रेष्ठा उलूपी की मतिदार्ढ्यता में सामान्य भावुक अर्जुन परास्त हो जाते हैं। युधिष्ठिर के आग्रह की 'न व्याजेन धर्ममाचरेत्' घोषणा से उपेक्षा कर वनगमन करने वाले अर्जुन उलूपी के "वने चरेद्–ब्रह्मचर्य्य—इति च 'समयः' कृतः। तदिदं द्रौपदीहेतारन्योऽन्यस्य प्रवासनम्" इस तर्काभासमात्र से प्रभावित अर्जुन ब्रह्मचर्य्यव्रत से उन्मुख हो जाते हैं। क्या यहाँ अर्जुन को 'न व्याजेन धर्ममाचरेत्' यह तथ्यमात्र स्मृत न हुआ! ब्रह्मचर्य्यात्मक सत्यप्रतिज्ञता को-'यह प्रतिज्ञा तो केवल द्रौपदी से सम्बन्धित है' उलूपी के इस तर्काभास से विस्मृत कर देने वाले दृढ़प्रतिज्ञ अर्जुन की भावुकता का क्या यह षष्ठ उदाहरण नहीं माना जासकता?। अवश्य माना जासकता है, माना जाना चाहिए, माना गया है स्वयं पुण्यपुरुष के शब्दों द्वारा।

उलूपी–कथा के समाप्त होने के अनन्तर उलूपी से वर प्राप्त कर* विविध तीर्थों में भ्रमण करते हुए अर्जुन मणिपूरेश्वर चित्रवाहन राजा के अतिथि बनते हैं, जिनकी 'चित्राङ्गदा' नामकी चारुदर्शना

---

* आगतस्तु पुनस्तत्र गङ्गाद्वार तया सह॥
परित्यज्य गता साध्वी उलूपी निजमन्दिरम् ॥१॥
दत्त्वा वरमजेयत्त्व जले सर्वत्र भारत!॥
साध्या जलचरा सर्वे भविष्यति न संशय ॥२॥

आदेश के आधार पर तत्काल इस दिशा में भावावेश में आकर ये भावुक पाण्डव परस्पर इस प्रतिज्ञा में आबद्ध हो गए थे कि,—"एक भ्राता के सान्निध्य में समुपस्थिता द्रौपदी के एकान्त निवास में यदि दूसरा भ्राता भ्रान्तिवश चला जायगा, तो उसे द्वादश (१२) वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रतपूर्वक वनवास का अनुगमन करना पड़ेगा*"। प्रतिज्ञा की अवधि को, तथा 'ब्रह्मचर्य' व्रत को लक्ष्य बनाइये। कल्पना कीजिए, यदि युधिष्ठिर–भीम–अर्जुन–, तीनों में से किसी एक से भी ऐसी भूल हो जाय, तो राज्यतन्त्रा-नुगत सत्तातन्त्र की व्यवस्था पर कैसा प्रभाव हो ?। प्रायश्चित्त के धर्मशास्त्रसम्मत और भी अन्यान्य विविध प्रकार थे। क्या उनके माध्यम से प्रतिज्ञा नहीं की जा सकती थी ? किन्तु इन भावुकों को उस अवसर पर यह समझाता कौन कि, श्रीमन् ! बारह वर्ष की अवधि के नियमन से सत्तातन्त्र में विप्लव उपस्थित हो जायगा। हाँ, भगवान् कृष्ण अवश्य ही इस प्रतिज्ञा की अवधि में संशोधन करवा सकते थे, अथवा तो अन्य प्रायश्चित्त-विधान के माध्यम से उनकी इस तात्कालिक भावुकता का समाधान कर सकते थे। किन्तु दुर्भाग्यवश उस समय कृष्ण द्वारिका विराज रहे थे। प्रतिज्ञा कर ही तो ली गई। ब्रह्मचर्य-धर्मसंरक्षण की दृष्टि से अवश्य ही प्रतिज्ञा अभिनन्दनीया मानी जायगी। किन्तु 'अवधि' की दृष्टि से तो प्रतिज्ञा को नितान्त भावुकतापूर्णा ही कहा जायगा और इस भावुकप्रतिज्ञा को ही पाण्डवों की भावुकता का चतुर्थ उदाहरण माना जायगा।

प्रतिज्ञा केवल 'प्रतिज्ञा' रूप से ही सुरक्षित न रही। अपितु भावुक अर्जुन के द्वारा एक ऐसे प्रसङ्ग को लक्ष्य बनाकर प्रतिज्ञा कार्यरूप में भी परिणत करदी गई, जिस प्रसङ्ग का आपद्धर्मरूप से शास्त्र-द्वारा समन्वय शक्य बन रहा था। एक दुष्ट तस्कर ने ग्रामवासी किसी ब्राह्मण की कुछ एक गाएँ छीन लीं। इस गोधन के अपहरण से ब्राह्मण क्रोधावेश से मूर्च्छित हो गए। मूर्च्छा से जाग्रत होने पर ब्राह्मण विलाप करता हुआ, साथ ही स्वतात्राण करने वाले पाण्डव क्षत्रियों के प्रति परुषवाक् का (आक्रोश-पूर्वक) प्रयोग करता हुआ राजभवन प्रस्थ आया। यह सम्पूर्ण स्थिति अर्जुन ने लक्ष्य बनाई। अर्जुन के शस्त्रास्त्र संयोगवश उस शालाकक्ष में रक्खे हुए थे, जहाँ युधिष्ठिर–द्रौपदी के साथ स्नेहालाप में तल्लीन थे। अर्जुन, भावुक अर्जुन समस्या की मीमांसा में तल्लीन बने रहे कुछ समय पर्यन्त। अनन्तर

---

* वैशम्पायन उवाच—एवमुक्ता महात्मानो नारदेन महर्षिणा ॥
'समयं चक्रिरे राजस्तेऽन्योऽन्यवशमागताः ॥
समक्षं तस्य देवर्षेर्नारदस्यामितौजस ॥१॥
"द्रौपद्या नः सहासीनानन्योऽन्यं योऽभिदर्शयेत् ॥
स नो द्वादशवर्षाणि ब्रह्मचारी वने वसेत्" ॥२॥
—महाभारत, आदिपर्व २१२ अ० २८, २९ श्लोक।

प्रतिज्ञा के आवेश से आलोमन्य आनसाग्रम्य क्रोधाविष्ट बने हुए अर्जुन की सर्वसंहारात्मिका रुद्रमूर्त्ति के स्वरूप का परिचय कर्णाकर्णि जब जयद्रथराज को विदित हुआ, तो वे 'त्राहि मां त्राहि मां' की आर्त्तवाणी का आश्रय लेते हुए आमूलचूड़ विकम्पित बनते हुए कौरवराज दुर्योधन, तथा सेनापति द्रोणाचार्य्य के प्रति स्वसंरक्षण के लिए प्रपन्न बन गए। कौरवप्रमुखोंने जयद्रथ को आश्वासन प्रदान किया। जयद्रथ को अर्जुन के प्रतिज्ञाघोर से बचाने के लिए उन्होंने दृढ़ व्यूह रचना करते हुए कोई प्रयत्न शेष नहीं छोड़ा। वासुदेव स्वयं यह जान रहे थे कि, "षड्यन्त्रकर्मों में निसर्गत सिद्धहस्त कुशल कौरवों का प्रयास इस दिशा में कभी निष्फल न जायगा। एवं सूर्य्यास्त से पूर्व ये जयद्रथ का अर्जुन से समसाम्मुख्य होने ही नहीं देंगे। एवं उस अवस्था में अवश्यम्भावी सूर्य्यास्त भावुक अर्जुन को महान् अनिष्ट की ओर प्रवृत्त कर देगा"। स्थिति का आमूलचूड़ आमन्थन कर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने योगमाया निबन्धना देवविद्यात्मिका (परोक्षप्रभावविद्या) के द्वारा कल्पित आवरण से अस्तसमय से पूर्व ही सूर्य्य को आवृत कर दिया —।

सर्वत्र असमय में ही तिमिराच्छन्न अन्धकार का साम्राज्य स्थापित हो गया। योद्धा लोग सायं सन्ध्याकाल मान कर शस्त्रास्त्रों का विसर्जन कर सायंकर्म्म में प्रवृत्त होने लगे। सायंसन्ध्या सर्वात्मना सुविकसित हो पड़ी। इस अनुरूप वातावरण के उपस्थित होने से जयद्रथ ने सन्तोष का निःश्वास ग्रहण किया। जयद्रथवधाशङ्का से निश्चिन्त बन हुए कौरवदल में हर्षातिरेक उत्पन्न हो गया। साथ ही प्रतिज्ञाबद्ध अर्जुन के निश्चित हुताशन-प्रवेश की कल्पना से कौरवोंने उत्सव आरम्भ कर दिया। स्वयं जयद्रथ निःशंक बनते हुए उस स्थान पर धृष्टतापूर्वक आ पहुँचे, जहाँ अर्जुन अपने आपको आहुत करने के लिए चिताप्रवेश का कार्य्यसम्पादन कर रहे थे, एवं कृष्ण भावुकतावश अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बनते हुए अपने स्नेही सखा को सान्त्वना प्रदान करते हुए मानो इनकी अनन्यनिष्ठा का उपहास ही कर रहे थे। सहसा योगमाया का आवरण निवृत्त हो जाता है, सूर्य्य व्यक्त हो जाते हैं। जयद्रथ भयसंत्रस्त बन जाता है। भगवान् के आदेश से कौशलपूर्वक अर्जुन सिन्धुराज का शिरश्छेद कर डालते हैं। और यों एकमात्र कृष्ण के निष्ठाबलानुग्रह से अर्जुन अपनी प्रतिज्ञा के संरक्षण में समर्थ बन जाते हैं।

आवेशपूर्वक,—प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर की गई प्रतिज्ञा वास्तव में धर्म्मनिबन्धना प्रतिज्ञा है ही नहीं। यह तो बाल-स्त्रीसुलभ आवेशात्म में बात बात में घटित-विघटित भावुकतापूर्ण वानूनपत्र (शपथ ग्रहण) है। ऐसी आविष्ट प्रतिज्ञा अतीत एवं भविष्यत् की परिस्थितियों के समतुलन से बहिष्कृत बनती

— ततोऽसृजत्तम कृष्णः सूर्य्यस्यावरणं प्रति ॥
योगी योगेन संयुक्तो योगिनामीश्वरो हरिः ॥१॥
सृष्टे तमसि कृष्णेन गतोऽस्तमिति भास्करः ॥
—म० द्रोणपर्व १४६ अ० ६७, ६८ श्लो०।

सुन्दरी कन्या से अर्जुन प्रभावित हो जाते हैं। उलूपी के सम्बन्ध में तो फिर भी अर्जुन को आरम्भ में अपने ब्रह्मचर्यव्रत का संस्मरण हो पड़ा था। किन्तु यहाँ तो स्वयं अर्जुन—'देहि मे क्षत्रियां राजन्! क्षत्रियाय महामते' इत्यादि रूप से प्रतिज्ञा का समात्मना विस्मरण कर स्वयं ही प्रार्थयिता बन जाते हैं। इन्हीं से 'बभ्रुवाहन' नामक पुत्र उत्पन्न होता है, जिसकी प्रतिद्वन्द्विता में अर्जुन युद्धानन्तर युधिष्ठिर के द्वारा विहित अश्वमेध यज्ञ के प्रसङ्ग में मूर्च्छित हो जाते हैं, एवं बभ्रुवाहन शान्त हो जाते हैं। चित्राङ्गदा के विलाप करने पर सहसा भूगर्भ से नागकन्या उलूपी विनिर्गत होती है, एवं 'सञ्जीवनमणि' तत्परता से इस सङ्कट का निवारण करती है। (देखिए, महाभारत आश्वमेधिकपर्व ७४ से ८१ अध्याय पर्यन्त)। इसी प्रसङ्ग को लक्ष्य में रख कर 'शान्तं पापम्' रूप से जो भाव अभिव्यक्त हुए हैं,* उन्हें हम भी 'आलप्यालम्' + रूप से उपेक्षणीय ही मान लेते हैं।

—४, ५, ६,—

(१६)—पाण्डवों की भावुकता का समन्वयोदाहरण—

एकादश महारथियों के सम्मिलित प्रयासात्मक क्रूर–जघन्य–क्षात्रधर्मविरुद्ध भीषण आक्रमण से आक्रान्त, द्रोणाचार्यद्वारा विरचित अमेय चक्रव्यूह के निबिड सीमापाश में आपन्न वीरपुङ्गव षोडशवर्ष वयस्क्रम बालयोद्धा बालसूर्य अर्जुनपुत्र सौभद्रेय अभिमन्यु निधनावस्था को प्राप्त होते हुए अपनी अमर यशोगाथा व्यासदेव के भूर्जपत्रों पर उनकी स्वर्णलेखिनी से गणपतिमाध्यम से समङ्कित करवा जाते हैं। इस अप्रत्याशित घटना से सभी पाण्डव, विशेषतः अर्जुन आकुल–व्याकुल–उद्विग्नमानस बन जाते हैं। चक्रव्यूह द्वार के संरक्षक जयद्रथ का मस्तक ही अर्जुन के इस प्रचण्डरोष का अनन्य लक्ष्य बन जाता है। शस्त्राभ्यासपरीक्षणानुगत वृषभशाला में स्थित चटकशिरोवत् तत्क्षण अपने भावुकतापूर्ण सहज आवेश से अर्जुन यह प्रतिज्ञा कर ही तो बैठते हैं कि,—"* यदि सूर्यास्त से पूर्व पूर्व इस पापात्मा का हम शिरश्छेद न कर डालेंगे; तो हम स्वयं अपने आपको हुताशन में आहुत कर देंगे"। प्रत्यक्ष–प्रभावमूला अर्जुन की इस सुदारुण प्रतिज्ञा का श्रवण कर अवश्य ही वासुदेव कृष्ण भविष्य के भयङ्कर परिणाम को लक्ष्य बनाते हुए अपने इस बालसखा की भावुकता से चिन्तित हो पड़े होंगे। अर्जुन को क्या विदित था कि, उनके इस प्रतिज्ञा–पालन की मीमांसा दुर्बुद्धि कुनैतिक कौरवों के द्वारा किस प्रकार एक भयावह जटिल समस्या बना दी जायगी।

\+ आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत् स दारानपाहरत् ॥
कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः ॥

* "यद्यस्मिन्नहते पापे सूर्योऽस्तमुपयास्यति ॥
इहैव सम्प्रवेष्टाहं ज्वलितं जातवेदसम् ॥

—म० द्रो० प० ७३ अ० ४७ श्लो०।

चातुर्वर्ण्य, संस्कारविशेषाच्च' इत्यादि वसिष्ठवचन से प्रमाणित है *। तत्तद्वर्णाश्रम के तत्तत् प्रातिस्विक वर्णाश्रमस्वरूपानुगत–वर्णाश्रमस्वरूपसंरक्षक विकासक–तत्तद् गुण–कर्म्मभावों के स्वरूपसंरक्षण–विकास के लिए वर्णाश्रमभेदानुपातभेदभिन्ना विभक्ता योग्यता के अनुपात से जो प्राकृतिक नियमोपनियम विधिविधान व्यवस्थित हुए, उन विधिविधानों की समष्टि ही 'वर्णाश्रमधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हुई। स्व स्व आश्रम–वर्णस्वरूपसंरक्षण–विकास की पारम्परिक अभिवृद्धि–समृद्धि के लिए इस धर्म्मव्यवस्था के अनुपालन में कठु नियन्त्रण अनिवार्य्य माने गए, जिनका–'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः, परधर्म्मो भयावहः'–'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात्'–'स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' इत्यादि स्मार्त्त उपनिषत् से (गीता से) समर्थन हुआ है।

जन्मजात, अतएव अभिजात+ क्षत्रियवर्णविभूषित, वर्णानुगत श्रौतस्मार्त्तसंस्कारसुसंस्कृत, अतएव च प्रकृत्या, तथा संस्कारेण, उभयथा कृत्स्न भावापन्न-विकसित क्षात्रभावपरिपूर्ण अर्जुन को क्या यह विदित न होगा कि, वे उस क्षत्रियवर्ण को समलङ्कृत कर रहे थे, जिस वर्ण का स्वधर्म्मात्मक एकमात्र मुख्य–लक्ष्य माना गया है "स्वकतपोवीर्य्यपराक्रमद्वारा अशान्तिप्रवर्त्तक–दुष्टबुद्धि–क्रूरनैष्ठिक आततायीवर्ग के द्वारा इनके सहज आसुरभाव के कारण होने वाले निरीह–अनपराध–निर्दोष–असमर्थ–मानवसमाज के क्षत–विक्षत भावों से इस समाज का त्राण करते हुए 'क्षतात् त्रायते' रूप से लोक में प्रसिद्ध उदग्र 'क्षत्रिय' शब्द को चरितार्थ करते रहना," फिर भले ही वह आततायी वर्ग निकटतम सम्बन्धी ही क्यों न हो। जबकि 'आततायी' की सहजपरिभाषा में सभी वर्गों का समावेश शास्त्रसिद्ध माना गया है यह कि—(गुरु हो, बच्चा हो, बुड्ढा हो, किंवा वेदान्तशास्त्र का पारगामी विद्वान् ही क्यों न हो, यदि वह आत-

---

* प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं, संस्कारविशेषाच्च। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥" इति निगमो भवति। गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत्, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यम्। न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्य्यो विज्ञायते॥ (वसिष्ठस्मृति ४।१,२,३,।)

व्यष्टिरक्षा–विकासमूला 'आश्रमव्यवस्था', समष्टिरक्षा–विकासमूला 'वर्णव्यवस्था,' दोनों का विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत अन्तरङ्गपरीक्षानुबन्धी 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामके चतुर्थ–खण्ड के 'भारतीय आश्रमव्यवस्थाविज्ञान', एवं 'भारतीय वर्णव्यवस्थाविज्ञान' नामक अवान्तर प्रकरणों में द्रष्टव्य है।

— – "मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव !"

—गीता० १६। ५।

हुई कभी सफल नहीं हुआ करती। अतएव प्रयत्नप्रमाणमूला आवेशपूर्णा एग्री प्रतिज्ञा का तत्त्वत और धार्मिक महत्त्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं कि, अर्जुन की यह प्रतिज्ञा धर्मसम्मता ही थी। तदपि अर्जुन से यह तो आशा रक्खी ही जा सकती थी कि, बुद्धियोगोपदेशभवय प्रसङ्ग में युद्ध से पूर्व योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने परोक्ष विभूतिलक्षण समस्मर्थ कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ विराट्स्वरूप के प्रदर्शन के द्वारा जो शाश्वत अभयदान किया था, उसकी निरापद छत्रच्छाया में वे सदा ही अपने आपको सुरक्षित मानते रहते। अर्जुन समझते होंगे कि, मैंने जयद्रथ का वध कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली। यह कैसी अहम्मन्यता थी अर्जुन की!। उसे क्या विदित था कि, यदि मायाद्वारा सूर्य्यास्त न होता, तो कौरवों के महाव्यूह से सुरक्षित सिन्धुराज की छाया का भी अर्जुन स्पर्श नहीं कर सकते थे। साथ ही भगवान् यदि जयद्रथ के पिता के द्वारा प्रदत्त इस अभिशाप के—'जो जयद्रथ का मस्तक काटेगा, स्वयं उसका मस्तक भी शतधा विभक्त होकर भूमिसात् हो जायगा' माध्यम से अर्जुन को कौशलपूर्वक जयद्रथशिरश्छेद का आदेश न देते, तो बिना हुताशनप्रवेश के भी क्या अर्जुन जीवित रह जाते! जिसके नामस्मरणमात्र से अतिमानव भीष्म विदुर उद्धवादि जैसे परम भागवत अपने को जीवन्मुक्त मानते थे, वह जिसका सारथी हो, और वह यों एक असहाय की भाँति पुनः पुनः अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बनता रहे, इससे अधिक अर्जुन की भावुकता, अस्थिरप्रज्ञता, परप्रत्ययनेयता और क्या होगी!। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!

(१०)—पाण्डवों की भावुकता का अष्टम उदाहरण—

आबाल-वृद्ध-वनिता, मूर्ख-अज्ञ-अल्पज्ञ-अर्द्धविदग्ध-विद्वान्, सभी प्रायः इस सहज धर्म्मनिष्ठा से सुपरिचित हैं कि, "व्यष्टि" रूपा 'व्यक्ति' के स्वरूपसंरक्षण-स्वरूपविकास-से समन्वित ज्ञानकर्म्मो-भयलक्षण पौरुष (पुरुषार्थ) की संसाधिका 'ब्रह्मचर्य्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास-'भेद से चतुर्द्धा विभक्त 'आश्रम-व्यवस्था' के साथ साथ विदितवेदितव्य अधिगतयाथातथ्य निगमाम्नायपरायण-संरक्षक भारतीय नैगमिक समाजशास्त्रियोंने 'समष्टि' रूप 'समाज' के स्वरूपसंरक्षण-स्वरूपविकास के लिए मानवीय प्राकृतिक गुण-धर्म्मयोग्यता के अनुपात से समाज के लिए अनिवार्य्यरूप से अपेक्षित 'ज्ञान-शौर्य्य-वित्त-भूतकर्म', इन चार आवश्यकताओं की सुव्यवस्थित-मर्य्यादित-छन्दोबद्ध-वंशानुगतिक-व्यवस्था की पूर्तिकामना से भारतीय सामाजिक मानववर्ग का 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र' इन चार भागों में वर्गीकरण करते हुए 'वर्णव्यवस्था' व्यवस्थित की है। दूसरे शब्दों में प्रकृतिसिद्ध ईश्वरीय चातुर्वर्ण्य को संस्कारविशेषद्वारा मर्य्यादित व्यवस्था का स्वरूप प्रदान किया है। इस प्रकार वर्णत्वेन जन्मसिद्ध चातुर्वर्ण्य के आधार पर संस्कारत्वेन कर्मसिद्धा वर्णव्यवस्था व्यवस्थित हुई थी, जैसा कि—'प्रकृतिविशिष्टं

चातुर्वर्ण्यं, संस्कारविशेषाच्च' इत्यादि वसिष्ठवचन से प्रमाणित है * । तत्तदाश्रम के तत्तत् प्राति-स्विक वर्णाश्रमस्वरूपानुगत-वर्णाश्रमस्वरूपसंरक्षक विकासक-तत्तद् गुण-कर्मभावों के स्वरूपसंरक्षण-विकास के लिए वर्णाश्रमभेदानुपातभेदभिन्ना विभक्ता योग्यता के अनुपात से जो प्राकृतिक नियमोपनियम-विधिविधान व्यवस्थित हुए, उन विधिविधानों की समष्टि ही 'वर्णाश्रमधर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हुई । स्व स्व आश्रम-वर्णस्वरूपसंरक्षण-विकास की पारस्परिक अभिवृद्धि-समृद्धि के लिए इस धर्मव्यवस्था के अनुपालन में कट्टु नियन्त्रण अनिवार्य्य माने गए, जिनका-'स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः, परधर्म्मो भयावहः' 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात्'-'स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' इत्यादि स्मार्त्ती उपनिषत् से (गीता मे) समर्थन हुआ है ।

जन्मजात, अतएव अभिजात- क्षत्रियवर्णविभूषित, वर्णानुगत श्रौतस्मार्तसंस्कारसुसंस्कृत, अतएव च प्रकृत्या, तथा संस्कारेण, उभयथा कृत्स्न भावापन्न-विकसित आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण अर्जुन को क्या यह विदित न होगा कि, वे उस क्षत्रियवर्ण को समलङ्कृत कर रहे थे, जिस वर्ण का स्वधर्म्मात्मक एकमात्र मुख्य-लक्ष्य माना गया है "स्वमहत्पौरुषवीर्यपराक्रमद्वारा अशान्तिप्रवर्त्तक-दुष्टबुद्धि-कुनैष्ठिक आततायीवर्ग के द्वारा इनके सहज आसुरभाव के कारण होने वाले निरीह-अनपराध-निर्दोष-असमर्थ-मानवसमाज के क्षत-विक्षत भावों से इस समाज का त्राण करते हुए 'क्षतात् त्रायते' रूप से लोक में प्रसिद्ध उदग्र 'क्षत्रिय' शब्द को चरितार्थ करते रहना," फिर भले ही यह आततायी वर्ग निकटतम सम्बन्धी ही क्यों न हो । जबकि 'आततायी' की सहजपरिभाषा में सभी वर्गों का समावेश शास्त्रसिद्ध माना गया है यह कि— (गुरु हो, बच्चा हो, बुड्ढा हो, किंवा वेदान्तशास्त्र का पारपारगामी विद्वान् ही क्यों न हो, यदि वह आत-

---

* प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं, संस्कारविशेषाच्च । "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥" इति निगमो भवति । गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यम् । न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्य-संस्कार्य्यो विज्ञायते ॥ (वसिष्ठस्मृति ४।१,२,३,)

व्यष्टिरक्षा-विकासमूला 'आश्रमव्यवस्था', समष्टिरक्षा-विकासमूला 'वर्णव्यवस्था,' दोनों का विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत अन्तरङ्गपरीक्षानुबन्धी 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामके चतुर्थ-खण्ड के 'भारतीय आश्रमव्यवस्थाविज्ञान', एवं 'भारतीय वर्णव्यवस्थाविज्ञान' नामक अवान्तर प्रकरणों में द्रष्टव्य है ।

— — " मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ! "

—गीता० १६ । ५ ।

तायी है, यदि उसके द्वारा सामाजिक जीवन अत्यन्त त्रस्त–विचलित होता है, तो क्षणमात्र भी विलम्ब-विचार किए बिना तत्काल ऐसे आततायी का वध ही कर डालना चाहिए) + ॥

सहस्रदीधिति भगवान् सूर्यनारायणवत् प्रकाशमान 'हन्यादेव अविचारयन्' आदेश से पूर्णत अभिज्ञ, क्षत्रियानुगत भूतात्मावबोधनिष्ठ ऐसे क्षत्रियश्रेष्ठ अर्जुन आततायी समूह के संहार के लिए शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर समराङ्गण में अवतीर्ण होते हैं। यहाँ इनके सम्मुख उपस्थित बन्धुजन सहसा इन्हें भावाविष्ट बना देते हैं। भावुकतापूर्ण मधुरस्नेह से इनकी सहज भावुकता उत्तेजित हो पड़ती है, आत्मनिष्ठा पराभूत हो जाती है, स्नेहभावानुगता भावुकता उद्दीप्त बन जाती है, जिसके प्रबल आक्रमण से विरोध में असमर्थ बन जाने वाले इस क्षत्रियश्रेष्ठ के मुख से अनार्यजुष्ट यह कातर–कायर–वाणी विनिसृत हो पड़ती है कि—'न योत्स्ये'। क्या यही था अर्जुन की धर्मनिष्ठा को, क्षत्रियवर्णोचिता स्वधर्मनिष्ठा को अभिव्यक्त करने का एकमात्र विशिष्टतम !, शास्त्रीय !! प्रकार !!!। अनर्थमनर्थम् ! अनर्थमनर्थम् !! महती विडम्बना किया भावुकता अर्जुनस्य नितान्तभावुकस्य !!!। कृतज्ञ हैं हम अर्जुन की इस सहज भावुकता के प्रति हृदय से, जिसे निमित्त बना कर एकान्तनैष्ठिक वासुदेव कृष्णद्वारा मानवसमाजोद्बोधन अभ्युदय-निःश्रेयस् की अन्यतम साधनरूपा 'बुद्धियोगनिष्ठा' का पुनः संस्करण हुआ, जो निष्ठा देवयुगारम्भ में सर्वप्रथम इसी अव्ययेश्वर के द्वारा विवस्वान् मनु के प्रति उपदिष्ट हुई थी। अलमतिपल्लवितेन।

(२१)—कौरवपाण्डवानुगता निष्ठा–भावुकता, एवं इतिहासोपरति—

कौन कह सकता है, किसने देखा सुना है कि, अपनी दृढ़प्रतिज्ञा–दृढ़निश्चय–दृढ़निष्ठा की घोषणा करने वाले अर्जुन के उद्बोधन के लिए नैष्ठिक कृष्ण द्वारा कितने असंख्य उदाहरण अर्जुन के सम्मुख उपस्थित हुए होंगे, एवं कौन जाने, अथवा तो कृष्ण ही जाने, उन अगणित उदाहरणों से उद्बुद्ध बने हुए अर्जुन की प्रज्ञा में वासुदेव का यह सिद्धान्त कब और कैसे तथा कबतक सुप्रतिष्ठित रहा होगा कि—"सर्वगुणसम्पन्न धर्मनिष्ठ, अतएव सुनिष्ठ भी पाण्डव प्रत्यक्षप्रभावमूलक 'भावुकता' रूप एक दोष से जहाँ आद्यन्त (सदा) के दुःखी बने हुए हैं, वहाँ सर्वदोषसम्पन्न–अधर्मनिष्ठ, अतएव कुनिष्ठ भी कौरव परिस्थितिप्रभावमूलक 'निष्ठा' रूप एक गुण से आद्यन्त के सुखी प्रतीत हो रहे हैं"।

प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता जहाँ 'अवसर' प्राप्त लाभ से वञ्चित करती हुई विफलतारूपा रुचि की जननी बन जाती है वहाँ परिस्थितिमूला निष्ठा 'अवसर' प्राप्त लाभ से समन्वय कराती हुई सफलतारूपा

+ गुरुं वा बालं वा वृद्धं वा—अपि वेदान्तपारगम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥
—वसिष्ठस्मृति ३।२०।

बुद्धि की जननी बनी रहती है, भावुकता जहाँ कालप्रतीक्षानुगामिनी बनती हुई लक्षीभूत उद्देश्य को पुरुषार्थ से असंस्पृष्ट रखती हुई लक्ष्य को यातयाम—गतरस—निष्फल प्रमाणित कर देती है, वहाँ निष्ठा प्राप्तकालानुगामिनी बनती हुई लक्षीभूत उद्देश्य को पुरुषार्थ से समन्वित करती हुई लक्ष्यपूर्ति का साधक प्रमाणित होती रहती है। भावुकता जहाँ केवल अनुभूतिपरायण मानवीय ऐन्द्रियक मन की चलितप्रज्ञा को उत्तेजित करती हुई मानव को किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनाए रहती है, वहाँ निष्ठा पूर्वापरवर्त्तमानस्थिति-परिस्थिति परायण मानवीय बुद्धि की स्थिरता को प्रोत्साहित करती हुई मानव को कर्त्तव्यकर्म पर आरूढ़ बनाए रखती है। भावुकता जहाँ मानव को बाह्यदृष्टिपरायण बनाती हुई इसे प्रावाहिक जगत् का गतानुगतिक—अन्धानुकरणकर्त्ता बनाए रहती है, वहाँ निष्ठा मानव को अन्तर्दृष्टिपरायण बनाती हुआ इसे स्थिर स्वार्थ संसाधक लक्ष्य पर आरूढ़ रखती है।

अर्जुन ! यही है भावुकतादोष से, तथा निष्ठागुण से सम्बन्ध रखने वाले भावुक पाण्डवों, तथा नैष्ठिक कौरवों का वास्तविक स्वरूप—विश्लेषण करने वाला यह असदाख्यान, जिसके माध्यम से तदुत्तरयुगभावी (महाभारतोत्तरभावी) मानव अपने भुक्त—प्रकान्त युगधर्म्म के माध्यम से (यदि यह चाहेगा, तो) स्व स्वरूपोद्बोधन के लिए तुम कौरव—पाण्डवों के निष्ठा—भावुकतारूप ऐतिहासिक तथ्य के परिणाम को लक्ष्य बनाता हुआ अपना कर्त्तव्यकर्म निर्धारित कर सकेगा, इसी भावी मङ्गलभाव की आशंसा के साथ यह ऐतिहासिक प्रसङ्ग उपरत हो रहा है। ओमित्येतत्।

(२२)—प्रत्यक्षोदाहरणमाध्यम से भावुक अर्जुन का उद्बोधन, एवं प्रक्रान्त असदाख्यानोपरति—

प्रत्यक्षप्रभावोत्पादिका सामाजिक सम—विषम परिस्थिति के प्रभाव से भावुक बने हुए पार्थ अर्जुन आरम्भ में अपनी अभिनिवेशमूला भावुकता के कारण यह स्वीकार कर लेने में कथमपि प्रवृत्त नहीं हुए कि, 'सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डव भावुक हैं, अतएव एकमात्र इसी दोष से ये दुःखी हैं'। उधर 'सर्वदोष सम्पन्न भी कौरव नैष्ठिक हैं, अतएव एकमात्र इसी गुण से वे सुखी हैं'। समस्या की निदानपूर्वक चिकित्सा करने वाले आध्यात्मिक भिषगाचार्य्य भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा अर्जुन की भावुकता पर प्रहार न करते हुए किसी भी युक्ति से परोक्षरूप से जब तक उद्बोधन का प्रयास करते रहे, तब तक अर्जुन का उद्बोधन सम्भव न बन सका। अन्ततोगत्वा उन्हें भावुक अर्जुन की सहज—प्रत्यक्षप्रभावपरिपूर्ण—भावुक—मनोवृत्ति को—तन्मूला प्रत्यक्षदृष्टि—(प्रत्यक्षोदाहरणरूपा प्रत्यक्षदृष्टि)—को माध्यम बनाते हुए सप्रमाण इस भावुक अर्जुन के सम्मुख वैसी उदाहरणपरम्परा उपस्थित करनी पड़ी, जिसके आगे विवशतावश अर्जुन को अवनतशिरस्क बन ही जाना पड़ा कि, "वास्तव में पाण्डव एकमात्र भावुकतादोष से ही दुःखी रहे हैं, एवं वास्तव में कौरव निष्ठागुण से ही ऐश्वर्योपभोग करने में समर्थ बन सके हैं"। इस अनुसमाधान के साथ साथ ही निम्नोपक्रम में प्रतिज्ञात भाव से अनुमानतः पञ्चसहस्रवर्ष पूर्व में घटित महाभारतयुगानुगत वह ऐतिहासिक 'असदाख्यान' सत्परिणाम की ओर भावुकों का ध्यान आकर्षित करता

हुआ उपरत हो रहा है, जिसे मूल मना कर ही हम–"भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता" को उपक्रान्त करने के लिए अपनी भावुकता की प्रेरणा से सङ्कल्पमना बन रहे हैं।

(२३)—निबन्धानुगता सामयिक उपयोगिता के सम्बन्ध में—

पञ्चसहस्र वर्ष से पूर्व के युग में घटित, कृष्णार्जुनप्रश्नोत्तरविमर्शात्मक, महाभारतयुगानुगत 'ऐतिहासिक असदाख्यान' के आधार पर सुसङ्कल्पप्रवर्तिका जिस निष्ठा–भावुकता के संक्षिप्त स्वरूप–विश्लेषण की अब तक चेष्टा हुई है, वह वर्त्तमान युग के सर्वथा पर्य्यस्तपनेय भावुक मानव के मन-परितोष के लिए इसलिए पर्य्याप्त नहीं मानी जासकती कि—

साम्राज्यलिप्सारिमका लोकैषणालिप्सा से आमूलचूड लिप्त प्रतीच्य देशों की भूतसमृद्धिलिप्सा प्रधाना संस्कृति–सभ्यता–शिक्षा–विज्ञापनपद्धति, एवं तदनुगत आचार–व्यवहार–जीवनकौशल–आदि आदि भावपरम्पराओं का अन्धानुकरण करने वाले वर्त्तमान युग के प्राच्य भारतराष्ट्र के मानव ने, विशेषतः भारतीय हिन्दू–मानव ने धर्मनीतिशून्य इस राजनैतिक सिद्धान्त को अक्षरशः चरितार्थ कर लिया है कि—**" विजेता राष्ट्रों की संस्कृति–सभ्यता–शिक्षा आदि ही विजित राष्ट्रों की संस्कृति–सभ्यता–शिक्षा आदि बनी रहती है"।**

यह मान्य है कि, नियतिचक्रानुगत 'भगीरथभागीरथीन्याया' नुग्रह से, किंवा भूतबल की कालान्त मोचिनी सहज पराभूति के व्यक्त हो जाने से आज भारतराष्ट्र उस सभ्यताघातक 'विजित' मण्डल की सीमा परिधि–से शरीरमात्र का भाव करता हुआ अपने आपको 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' घोषित करने के अतिमानात्मक गर्व से उन्नतशिरस्क प्रमाणित हो रहा है। किन्तु विजेताओं की, केवल नीतिनिष्ठ निष्ठाकलसमन्वित, अतएव नीतिकुशल प्रतीच्य राष्ट्रों की सर्वमूला जिस नीति ने, जिस बौद्धिक कौशल ने भारतराष्ट्र की आत्मबुद्धि मन शरीरसमन्विता जिस धर्म–नीतिनिष्ठाभावापन्ना तदनुगता सभ्यता–संस्कृति–शिक्षापद्धति–परम्परा को अपनी मायापहारिणी पद्धतियों से सर्वात्मना अभिभूत कर इस राष्ट्र को मनः-शरीरदासता के साथ साथ जिस निर्मम–जघन्य–पद्धति से आत्मबुद्धिदासता का अन्यतम सत्पात्र ! बना लिया है, वह दासता अन्त व्यामसम्बन्ध से इस प्रकार इस राष्ट्र का मूलधन प्रमाणित हो गई है, जो इस वर्त्तमान सर्वतन्त्र स्वतन्त्र युगमें भी सर्वात्मना 'स्वरक्षित' बनती हुई प्रतीच्यशासनकालानुगत 'सुरक्षित' भाव को भी लज्जित कर रही है। उनके शासनकाल में हमारी आत्मदासता जहाँ उनके द्वारा रक्षित होती हुई 'सुरक्षित' थी, वहाँ हमारे अपने 'गणतन्त्रात्मक–स्वतन्त्रस्वतन्त्रात्मक–सर्वसत्ता–प्रभुसत्तात्मक शासन' काल में वही दासता स्वयं हमारे ही अपने–स्व–भाव–से ही रक्षित बनती हुई अश्माकल्प (पाषाणशिला) रूप से 'स्वरक्षित' है, सर्वात्मना अपनी रक्षा से रक्षित है। इसी स्वरक्षितारिमका आत्मदासतामूला इस सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता की हम यह प्रामाणिक स्वरूपव्याख्या कर सकते हैं कि—

नाममात्र के लिए, उच्चघोषणामात्र के लिए सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता, किंवा उच्छृङ्खल–असम्यादित–देश–जाति–कुलधर्मविरोधी यथेच्छाचारविहारमात्र के लिए सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता, मूलतः सर्वात्मना परतन्त्रता,

शरीरमात्रनिर्वाह जैसे सामान्य कर्म्म के अनुबन्ध से भी चरो चण पदे-पदे स्थान-स्थाने परमुखावलोकनरूपा आत्महनन समतुलिता घोरघोरतमा परतन्त्रता, वही सभ्यता, वही संस्कृति, वही वेशभूषा, वही भाषाव्यामोहन, वही आचारविचारपरम्परा, सर्वात्मना यच्चयावत् क्षेत्रों में प्रतीच्यभावपरम्पराओं का ही, उनके आदर्शों का ही अन्यतमा भावुकता के आकर्षणानुग्रह से गतानुगतिक विधिपूर्वक अन्धानुकरण। सर्वथा परप्रत्ययनेयता- लक्षणा-आत्मबुद्धि-मन -शरीर-पारतन्त्र्यरूपा-आत्मदास्तानुगता-सर्वदासता - परतन्त्रावस्था - एवंविधा उत्पीड़ितावस्था के निग्रहानुग्रह से आत्यन्तिकरूप से उत्पीड़ित वर्त्तमान भारतीय हिन्दू-मानव के लिए पुरातन युगानुगता सर्वथा प्राच्यसंस्कृति के आधार पर उपकल्पित कृष्णार्जुन-प्रश्नोत्तरविमर्शात्मक असदाख्यान- मात्र के द्वारा शब्दमात्र से समुपस्थित समाधान से किसी भी जटिल समस्या का यथावत् समाधान प्राप्त कर उसे कर्त्तव्यनिष्ठा रूप से बुद्धिनिष्ठ बना लेना असम्भव नहीं, तो कठिनतम अवश्य ही है। अवश्य ही समस्या के वर्त्तमानयुगानुगत प्रत्यक्षप्रभावमूलक दृष्टिबिन्दु के माध्यम से हमें विशेष स्पष्टीकरणपूर्वक लौकिक मुक्त-प्रक्रान्त उदाहरणों के साथ, लोकसमादृतिया बैशात प्रतीच्य वणिक-विज्ञान-दर्शनसम्मत सिद्धान्ताभासों का आश्रय ग्रहण करते हुए समन्वयबुद्धिपूर्वक ही विषय का अनुगमन करना पड़ेगा। तभी वर्त्तमान युग के सुसंस्कृत !, शिक्षित ! मानव का अनुरञ्जन सम्भव बन सकेगा, जिस अनुरञ्जनात्मिका विषयपरम्परा का दिग्दर्शन संक्षिप्तजिज्ञासाविनय प्राक्कथनरूप से इस जिज्ञासासूत्र-माध्यम से उपक्रान्त हो रहा है कि—

"भारतीय हिन्दू-मानव, और उसकी भावुकता" नामक निबन्धनिर्म्माण का संकल्प क्यों हुआ !, क्या आवश्यकता अनुभूत की इस भावुक ने इस भारभूतनिबन्धनिर्म्माण की ! एवं इसका एवंविध नामकरण किस आधार पर हुआ !"।

जिज्ञासासूत्र-माध्यम का तात्पर्य स्पष्ट है। "क्यों !, क्या !, कैसे !" इत्यादि भावुकतापूर्ण प्रश्नपरम्परा का (भावुकतास्वरूपसंरक्षकमात्र) समाधान किए बिना आज का सुशिक्षित मानव केवल प्रमाणभक्ति के आधार पर कुछ भी तो सुनने सुनाने के लिए सन्नद्ध नहीं बना करता। आज के बहु कर्त्तव्यनिष्ठ ! बहुप्रवृत्त्युन्मुख बुद्धिमान् ! मानव के समीप 'व्यर्थ' समय का नितान्त अभाव है। प्रत्येक समस्या, प्रत्येक विषय, प्रत्येक कर्त्तव्य में प्रवेश करने से पहिले कार्य्यकालपक्षवादी आज का मानव * 'क्यों !' का समाधान प्राप्त कर लेना चाहता है, समाधानानन्तर भी वह प्रवृत्त भले ही न हो उस कर्त्तव्य में। हाँ, समाधान से उसकी तत्कर्म्मप्रवृत्ति सम्भव अवश्य मान ली जा सकती है। वही सहज 'क्यों !' प्रश्न प्रस्तुत निबन्ध में भी सहजरूप से उपस्थित होता हुआ समाधान-जिज्ञासा अभिव्यक्त कर रहा है।

---

* शब्दशास्त्रप्रमाणाधार पर कर्त्तव्यारूढ़ बन जाने वाले आस्थाश्रद्धायुक्त मानव का पक्ष शास्त्र में 'यथोद्देशपक्ष' कहलाया है, एवं तर्क-युक्ति-कारणता-परिज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यप्रवृत्ति की जिज्ञासामात्र को प्रमुखतया बनाए रखने वाले मानव का पक्ष 'कार्य्यकालपक्ष' कहलाया है।

—परिभाषेन्दुशेखर

सुनते हैं, प्राकृतिक–सूक्ष्म–प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में—'प्रकृतिं यान्ति भूतानि, निग्रहः किं करिष्यति' (गीता) इस सहज उत्तर के अतिरिक्त और कोई उत्तर नहीं हो सकता। यही उत्तर इस निबन्ध के सम्बन्ध में भी समन्वित माना जायगा, जिसका स्पष्टीकरण यों किया जा सकता है कि, अपने वयोचित वेदस्वाध्यायरूप दीक्षाकाल से ही दीक्षाक्रम स्वाध्याय के साथ साथ दीक्षित विषय का लिपिबद्ध करते रहने का सहज स्वभाव सदा से मग्नरत रहा है। पढ़ना, और लिखना, दोनों ही, किंवा दो ही हमारे नैसर्गिक नित्यकर्म रहे हैं, जिन नित्यविधियों के सम्बन्ध में—क्यों?, कैसे?' इत्यादि प्रश्नों का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध ही माना गया है। इसी अभ्यासवश, किंवा प्रकृतिमूलक नैसर्गिक प्रवृत्ति के वश शतपथादिभाष्यों के साथ साथ सामयिक प्रवाह के संरक्षण के लिए 'मानवाश्रम' नामक पाक्षिक पत्र भी अभ्यपरिचयरूप से प्रकाशित होता था, जिसमें अन्यान्य सामयिक विचारधाराओं के साथ इस सामयिक निबन्ध की रूपरेखा भी प्रकृत्या समाविष्ट हो पड़ी। आगे चल कर कतिपय सहयोगियों की प्रेरणा से वह रूपरेखात्मक निबन्ध अनुमानतः शतपृष्ठ कायरूप से स्वतन्त्ररूप से भी प्रकाशित कर दिया गया। पुनः सहयोगियों का इस सम्बन्ध में प्रबल आग्रह हुआ कि, "इस स्वल्पकाय निबन्ध से समस्या का यथात्मना समन्वय नहीं हो सका है। अतः विशद ग्रन्थरूप से इसे सम्पन्न किया जाय"। आग्रह मान लिया गया, एवं अपनी उसी नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण यह लघुकायनिबन्ध प्रस्तुत बृहत्कायरूप में निर्मित हो पड़ा। 'क्यों लिखा गया यह निबन्ध?' प्रश्न का यही नैसर्गिक समाधान है।

अब प्रश्न शेष रह जाता है इसके नामकरण के तथाविध स्वरूप से सम्बन्धित 'क्यों?' का, जिसके सम्बन्ध में भावुकतास्वरूपसंरक्षण की दृष्टि से कुछ विशेष वक्तव्य अनिवार्य बन रहा है। लोकदृष्टि से सम्बन्धित वर्त्तमान मानव की भावनापरम्पराओं समस्यापरम्पराओं के साथ, वर्त्तमान राजनीतिवाद–समाजवाद–आदि वादपरम्पराओं के साथ किसी भी काल में हमारा कोई भी विशेष सम्बन्ध नहीं रहा है। अतएव इन वादों के तात्त्विक? स्वरूपपरिचयबोध से हम सर्वथा पुष्करपलाशवन्निर्लेप ही रहे हैं। हाँ, यथाविध सत्—सुसत्–परम्पराओं की यथाकाल प्राप्त सुविधा से यदाकदा कर्णाकर्णिपरम्परया इन वादों के तात्कालिक स्वरूप श्रवणमात्र का सौभाग्य अवश्य प्राप्त होता रहा है। लेखनकर्म की एकमात्र अनन्य लक्ष्यभूमि रही है प्राच्यसंस्कृति, तथापि विशेषतः वैदिक संस्कृति। इस पावन संस्कृति की चिर कालिक उपासना के अनुग्रह से किसी आकस्मिक समय में आकस्मिकरूप से ही अपने भावुक मनोराज्य में सहसा इस प्रकार की भावुकतापूर्ण अनुभूति जागरूक हो पड़ी कि, जिस वैदिक संस्कृति-साहित्य का वाङ्मय कहकर इस प्रकार ज्ञान–विज्ञान परिपूर्ण हो, जो साहित्य सृष्टि के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम तत्त्वों का भी पूर्ण समन्वय करने की अद्भुत अभूतपूर्व अद्यावधि क्षमता रख रहा हो, जिसके वाङ्मय पावन कोड में धर्म्म, नीति, सभ्यता, आचार, ज्ञान, कर्म्म, उपासना संगीत, शिल्प, कला, वाणिज्य, पौरुष, आदि आदि विश्व की यच्चयावत् तातस्थ्य-विज्ञातस्थ्य-निधियाँ विद्यमान हों, ऐसी इस सर्व समृद्धा सर्वसमृद्धा परिपूर्णा ज्ञाननिधि के विद्यमान रहते हुए भी तदुपासक आस्तिक भारतीय हिन्दूमानव इस प्रकार सन्त्रस्त क्यों?।

अभ्युपगमवादाश्रय से थोड़ी देर के लिए हम संस्कृतवाङ्मयकोश में निगम, आगम, पुराण, स्मृति, दर्शन, निबन्ध, कल्प, शिक्षा, व्याकरण, निरुक्तादि मार्गों की गणना ही न करते हुए केवल 'गीताशास्त्र' को ही लक्ष्य बना कर स्थितिमीमांसा में प्रवृत्त होते हैं। गीताशास्त्र की मौलिकता पर जब हमारी दृष्टि जाती है, तो हमें सहसा आश्चर्यचकित-थकित-स्तब्ध हो जाना पड़ता है। और सहसा इस प्रकार के उत्तेजक उद्गारों का अनुगामी बन जाना पड़ता है हमें कि, "जिस राष्ट्र के कोश में ' गीता ' जैसा 'बुद्धियोगशास्त्र' सुगुप्त हो, जिसका एक एक सिद्धान्त ही मानव के कायाकल्प की पूर्ण क्षमता रखता हो, वह राष्ट्र , एवं उस राष्ट्र का गीताभक्त मानवसमाज आज इस प्रकार आर्त्त-दुःखी-त्रस्त-सन्त्रस्त क्यों ?"

सभी प्रकार के आध्यात्मिक साधन सुलभ, भौतिक साधनों की भी इस भारत-वसुन्धरा के पावन प्राङ्गण में प्रचुरमात्रा से समुपलब्धि, वसन्तादि ऋतुसमष्टिरूप सम्वत्सर-प्रजापति का भी इस कृष्णमृग देश-भारत पर पूर्ण अनुग्रह-सामयिक अनुग्रह, सभी कुछ तो यहाँ सहजरूप से विद्यमान है। वैय्यक्तिक उपासना-साधन के लिए उत्तुङ्ग शिरोदेशवलम्बिरुचि सत्त्वगुणसमतुलित स्वच्छ शुभ्र हिमगिरि की पावन कन्दरा उपत्यकाएं, सामूहिक उपासना को चरितार्थ करते रहने वाली दक्षिणोत्तरभारत की अभूतपूर्व शिल्प-कौशल की सगुणमूर्त्तिरूपा देवमन्दिरपरम्पराएँ, विविध शास्त्रोपशास्त्र-शिक्षण-स्वाध्यायानुगामिनी शत-शत-सहस्र सहस्र संस्कृतपाठशालाएँ, धर्म्मोपदेशनिष्णात ! सर्वसाधनसुसम्पन्न-(अपने लोकैश्वर्य्य से सचामर का भी उपहास करने वाले भूतैश्वर्य्य से सदा ओतप्रोत)-सन्त-महन्त-मठाधीश-पीठाधीश-सम्प्रदाचार्य्य आदि की धर्म्मोपदेष्टृपरम्पराएँ, ' उपह्वरे गिरीणां-संगमे च नदीनाम्' इत्यादि श्रौत आदेश को अक्षरशः चरितार्थ करते रहने वाली कुत्रचन भागीरथी-तटे, कुत्रचन यमुनातटे, कुत्रचन कावेरीतटे, कुत्रचन वृन्दावने, कुत्रचन अन्यत्रान्यत्र महदारम्भेण प्रतिष्ठिता-ऋषिकुल-गुरुकुल-बोधाश्रम-स्वर्गाश्रम-योगाश्रम-ब्रह्मचर्याश्रम-आदि विविध अभिधासमन्विता तत्त्वशिक्षणस्वाध्यायशालापरम्पराएँ, मानव के वर्त्तमान जन्म के ही नहीं, अपितु अनेक जन्मों के सञ्चित पापों को क्षणमात्र में निर्म्मूल बना देने वाली पावनतमा तीर्थ-क्षेत्रपरम्पराएँ, सभी कुछ तो सुलभतया समुपलब्ध है इस भारतराष्ट्र में। सुख-शान्तिप्रवर्त्तक-उत्साहक-अभिवर्द्धक-सम्पूर्ण साधन जिस राष्ट्र में सुलभतया समुपलब्ध हों, और तदपि वहाँ का आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण आस्तिक मानव तथाकथित रूप से सन्त्रस्त बना रहे !, कैसा आश्चर्य्य है !, कैसी विषम समस्या है !, एवं कैसा है यह भाग्यहीन भारतीय आस्तिक हिन्दू-मानव, जो सब कुछ विद्यमान रहते भी दीन-हीन-सा, हतप्रभ-सा, विगलित-शौर्य्य-सा, क्षुब्ध विक्षुब्ध-सा, असहाय-परसहायानुगत-सा, भ्रान्त-विभ्रान्त सा, अशुचि अशिष्ट-अभद्र अमङ्गल-मूर्त्ति-सा, अशिक्षित अपठित सा, सर्वसमृद्धि ऋद्धिशून्य-सा प्रमाणित होता हुआ आज अन्य देशीय नैष्ठिक मानवों के, एवं तदुच्छिष्टभोगी निष्ठाभावपरायण भारतीय मानवों के द्वारा तिरस्कृत उपेक्षित-भर्त्सित आलोच्य बनता हुआ इतस्ततः दन्द्रम्यमाण है, दन्द्रम्यमाण है।

कालदोष के प्रभाव से यदा-कदा ऐसा भी कुछ सुना जा रहा है कि, अमुकामुक विषम समस्यापरम्पराओं के निग्रहानुग्रह से न केवल भारतीय मानव ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व के मानव आज इसी प्रकार किसी न

किसी विषम समस्या से आक्रान्त बने रहते हुए सन्त्रस्त हैं। इस जनश्रुति का लोकसंग्रहरूपा समादर कर लेने मात्र के अतिरिक्त इसकी समस्या के प्रति इस नितान्त भावुक व्यक्ति का कोई कर्त्तव्य इसलिए शेष नहीं रह जाता कि, हम विश्वगर्भीभूत अन्य राष्ट्रों की दैशिक–कालिक–नैतिक–सांस्कृतिक–साहित्यिक–लोक-व्यावहारिक–यौदिक–सामाजिक–आदि आदि व्यवस्था–सुव्यवस्थाओं के स्वरूपज्ञानलव से भी सम्पन्न नहीं रह रहे। अपने सहजभावावेश से करुणामयान्तःकरण बने रहने वाले, पदे पदे 'विश्वबन्धुत्व' की उदात्त–आदर्श घोषणाओं से महिमामय अनन्ताकाश को विकम्पित करते रहने वाले अन्तर्राष्ट्रीय-ख्याति-पथानुगामी किसी भावाविष्ट सवश–अवशित्–वर्त्तमान मानव से ही तथाकथिता जनश्रुतिमूला समस्या का निदान कराना चाहिए। हमारा तो लक्ष्य है एकमात्र भारतराष्ट्र, एवं इस राष्ट्र का भारतीय मानव समाज, यद्यपि 'हिन्दू–मानव समाज', जो तथाकथितरूप से सर्वसाधन–परिग्रह-सुसम्पन्न बनता हुआ भी आततायीवर्ग से पदे पदे प्रताड़ित–ताड़ित–भर्त्सित–अपमानित होता हुआ सर्वथा अशान्त बनता जा रहा है, अथवा तो बन गया है। ऐसा क्यों?

तथाविध 'क्यों?' प्रश्न की परम्परा ने ही प्रस्तुत निबन्ध के तथाविध नामकरण के लिए प्रोत्साहित किया, एवं यही प्रोत्साहन इस निबन्धनिर्म्माणोत्तेजना का भावुकतास्वरूपबरक्षक कारण बना। सब कुछ साधन–परिग्रह विद्यमान रहते हुए भी मानव के आद्यन्तानुगत दुःखभाव का एकमात्र कारण मानव की मनोऽनुगता वह 'भावुकता' ही मानी जायगी, जिसका भावुकहृदय शृङ्गारकरुणारसमूर्त्ति भारतीय काव्य-साहित्यमर्म्मज्ञों ने मानव के महान् गुणरूप से उपवर्णन किया है। वस्तुत नैगमिक निष्ठाक्षेत्र की दृष्टि से 'भावुकता' के समान भयानक, सर्वगुण–योग्यता–स्वरूपसंहारक अन्य दोष और कोई है ही नहीं। शारीरिक जीवनयात्रा के निर्वाह से सम्बन्धित अशनवसनादि की चिन्तानिवृत्ति के लिए भारतीय समाजशास्त्रियों की ओर से जो निश्चिन्त–अनुकूल–साधन सुव्यवस्थित बने, उनकी उस अनुकूलता ने ही कालान्तर में भारतीय मानव को सहज–प्राकृतिक–जीवनाधारभूत–निष्ठाबलसंरक्षक–संघर्ष से बहिष्कृत कर इसे अकर्मण्य बना दिया। यों इसका गुण (शरीरयात्रानिश्चिन्ततात्मक अनुकूलभावात्मक गुण) ही सीमातीत बनता हुआ कालान्तर में महादोषरूप में परिणत होता हुआ सर्वगुणसम्पन्न–सर्वसाधनसम्पन्न भी भारतीय नैष्ठिक-मानव की भावुकता का जनक बनता हुआ सर्वविनाशक प्रमाणित हो गया।

एकमात्र इसी आधार पर हमें निबन्धोपक्रम में महाभारतयुगानुगत कृष्णार्जुनसंवादरूप प्रकरणविशेष का समावेश करना पड़ा। प्रत्यक्षप्रमाणमूला–परदर्शनानुगता–अतएव स्वदर्शनापेक्षिता भावुकता ने ही भारतीय हिन्दू मानव को नैगमिक निष्ठालक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा से महाभारतयुग से ही वञ्चित करते हुए इसे भावुक पाण्डवों की भाँति उत्पीड़ित बना रक्खा है। पाण्डवों का उद्बोधन तो शक्य बन गया था भगवान् मधुसूदन के निष्ठात्मकोपदेशानुग्रह से। किन्तु तदुत्तरवर्त्ती युगों में कोई वैसा नैष्ठिक महापुरुष अवतीर्ण न हुआ, जिसने वासुदेवोक्ता बुद्धियोगनिष्ठा का स्वरूप भावुक भारतीय मानव के सम्मुख रक्खा हो। इन पूर्वयुगों में जो भी शास्त्रनिर्म्माता–शास्त्रोपदेष्टा–शास्त्रस्वरूपव्याख्याता

भ्रसलीश हुए, उन सब ने न्यूनाधिक रूप से प्रत्यक्षपरोक्षरूपेश इस भावुक मानव की भावुकता से अनुचित लाभ उठाते हुए इसे उत्तरोत्तर सुषुप्ति में ही निमग्न किया, जिन नवमहात्मक इन नवधा विभक्त उपदेशकों की यशोगाथा का उपवर्णन आगे विस्तार से होने वाला है।

(२४)—मान्य सहयोगियों का उद्बोधन—

विगत कुछ एक वर्षों के प्रचारानुबन्धी अपने परिभ्रममाण क्या, दन्द्रम्यमाण—कालमें—'यथाकाष्ठ' न्याय से * सम्प्राप्त जिन भूतसमागम का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उस समागम—प्रसङ्ग में बहुकाल से मनो-राज्य में चर्वित संकल्पित—निष्ठानुगता समस्या के सम्बन्ध में भी पारस्परिक विचार—विनिमय—परामर्श स्वाभाविक ही था। कितने एक सहयोगी इस समस्या की ओर आकर्षित हुए, कितने एक अभिजात व्यवहारनिष्ठोंने इस विषय में अपनी कौशलपूर्णा—परम्परास्वाकुशला—स्वार्थैकसाधननिपुणा लोकबुद्धि से सम्बद्ध वाक्पटुता के परिचयप्रदान से अपने आपको गौरवान्वित अनुभूत किया। और अपने आपको सर्वात्मना बुद्धिनिष्ठ मान बैठने की भयावह भ्रान्ति में निमग्न कतिपय 'महा' मान्य सहयोगी मानों इस महती समस्यासमाधान के परमाधिकार्य ही बनते हुए उस ऐकान्तिक निष्ठापथ के निष्ठुर पथिक बन गए, जो ऐकान्तिक निष्ठापथ, भावुकताशून्य—अतएव क्रूर—रूक्ष—शुष्क—निष्ठुरभावापन्न असन्निष्ठापथ (उपनाम कुनिष्ठापथ) आरम्भ में असन्निष्ठ दुर्योधनप्रमुख कौरवों की भाँति लोकसफलताभास का जनक प्रमाणित होता हुआ भी वैसे असन्निष्ठ—भावुकताशून्य—अतएव आस्थाभद्राशून्य—अतएव कुत्सित जघन्य स्वार्थपरायण नीरस रूक्ष मानव के सर्वनाश का ही कारण प्रमाणित हो जाया करता है। दुर्भाग्यवश, किंवा (लोकैषणा से उद्बोधन कराने की अपेक्षा से) सौभाग्यवश ही अधिकांश में वैसे ही परीक्षण अबतक हमारे सम्मुख उपस्थित हुए हैं, जिनका स्वरूपपरिचय—स्वरूपोद्बोधन प्राप्त हुआ है कालान्तर में हमें सुप्रसिद्ध 'भस्मासुर न्याय'ानुग्रह से। आस्थाभद्रापरिपूर्णा भावुकतागर्भिता तत्समतुलिता—सुनिष्ठा (सन्निष्ठा) के आध्यात्मिक मर्म्मज्ञान—लव से भी वञ्चित, भद्रा—आस्थाशून्या—भावुकता—विरहिता, अतएव नितान्त रूक्षा कुनिष्ठा (असन्निष्ठा) को ही 'निष्ठा' का तात्त्विक स्वरूप मानने—मनवाने की महाभ्रान्ति में निमग्न, तथाविध उन व्यवहारनिष्ठ—लोकनैष्ठिकोंने निष्ठासूत्र का भ्रान्त अथ लगाते हुए परीक्षण के लिए सर्व-प्रथम इस भावुक को ही अपना लक्ष्य बनाने में अपने 'महा' महिम गौरव का संरक्षण अनुभूत किया। और इस दिशा में प्राप्त होने के अनन्तर हमें सहसा आर्षमहर्षि के उद्बोधनात्मक इस सूत्र का सास्मरण हो पड़ा कि—

> " विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ॥
> असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्य्यवती तथा स्याम् ॥"
>
> —यास्कनिरुक्त २।४।१।

---

* यथा काष्ठञ्च काष्ठञ्च समेयातां महोदधौ।
व्यपेत्य च समेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥
—महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्ष० १ अ०।१५ श्लो०।

तथाविध व्यवहारनिष्ठों की, प्रत्यक्ष में अपने आपको हमारे अन्यतम 'महा' सहयोगी घोषित करने वाले उन 'महा' मानवों की लोकसंग्रहानुगता परनिन्दा-परमालोचना प्रत्यालोचना-लक्षणा 'असूया' ने, इसी असूयावृत्ति से समुत्पन्न मानसिक सङ्कल्प, मायानिबन्धन कर्म, वाचिक वैखरीवाङ्मय शब्द, आत्मपराभव-मूलक इन तीन आत्मभावों से वक्ररूप में परिणत 'अनृत' भाव ने, अतएव निश्चितरूपेण समुत्पन्न बौद्धिक-मानसिक-ऐन्द्रियक शारीरिक स्खलनरूप 'असंयम' ने उन्हें इस 'निष्ठासूत्रस्वाध्याय' के द्वारा अध्यात्म-दिशा के सर्वथा विपरीत-उपविघातिका कुदिशा का ही अनुगामी बना डाला। आत्मश्रुत्यनुगता निष्ठा-विद्या (राजर्षिविद्यात्मिका बुद्धिविद्या) भी कतिपय असूयकाम-अनृत-असंयत-अनधिकारियों के मानस-पटल पर लक्षित होती हुई सर्वात्मना अवीप्सवती बन ही गई, जिस भावुकतापूर्ण गुरुतम अक्षम्य अपराध के लिए आप्तमहर्षियों से मुहुर्मुहुः क्षमा-याचना करते हुए भविष्य के लिए निष्पापविशालु-निष्ठापथानुगामी अपने मान्य पाठकों से हम इस सम्बन्ध में यह नम्र आवेदन कर देना अपना अनिवार्य कर्त्तव्य घोषित करने की धृष्टता कर रहे हैं कि—

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' लक्षणा इस निष्ठारूप दुर्गम पथ के पथिक बनने से पूर्व रहस्यपूर्ण भावुकता-निष्ठा शब्दों की तत्त्वात्मिका प्रत्यक्षपरोक्ष मार्म्मिक व्यञ्जनाओं को हृदयङ्गम बना कर ही सहयोगियों को अपने जीवन का लक्ष्य सुस्थिर करने का अनुग्रह करना चाहिए। पूर्वापर, तथा मध्य भावापन्न (भूत-भविष्यत् तथा वर्त्तमानभावापन्न) स्थिति-परिस्थितियों के सतर्कता-अवधानपूर्वक शुभाशुभपरिणाममीमांसविमर्शद्वारा ही भावुकता, तथा निष्ठा के समन्वय में प्रवृत्त होना चाहिए। अपनी कल्पनामात्र के समावेश से यत्किञ्चित् भी स्खलितप्रज्ञ बन जाने से इन दोनों रहस्यपूर्ण शब्दों की मार्म्मिक व्यञ्जना, इन दोनों का विरोधात्मक समन्वय निश्चयेन अनर्थपरम्परा का सर्जक बन जाया करता है। एवं उस दशा में हमारा मानवोद्बोधनानुगत यह माङ्गलिक प्रयास मानव के अपने ही प्रज्ञापराध से उसी प्रकार महा अमाङ्गलिक प्रमाणित हो जाता है, जैसे कि स्वस्तिभावसम्पादक समत्व-योगानुगत अशनपान हीन-अति-मिथ्या-अयोगात्मक विरुद्ध योगों से अस्वस्तिभाव-सम्पादक बन जाया करते हैं। अपने लोकपाण्डित्य के बुद्धिविनाशनात्मक पथानुसरण की अपेक्षा शास्त्रैकशरणतामूला आप्तोपदेशपरम्परा की अनन्य आस्थाभक्तिपूर्वक अनुगति ही इस दिशा में सफलता प्राप्त करने की एकमात्र अजिह्म-अकुटिला राजपद्धति है, निष्कण्टक राजपथ है। इस सामयिक आवेदन को लक्ष्य बना कर ही सहृदय पाठकों को प्रस्तुत निबन्ध की आलोचना-प्रत्यालोचना, किंवा अनुगमन-विरोध में प्रवृत्त होना चाहिए।

(२५)—श्रद्धेय विद्वानों का व्यामोहन—

पारम्परिक आम्नाय के विलुप्तप्राय हो जाने से केवल अङ्गशास्त्रभक्त-व्याकरण-न्याय-साहित्यनिष्ठ भारतीय विद्वान् भी इस दिशा में इस नैगमिक भावुकता-निष्ठा-मीमांसा की पारम्परिक उपयोगिता से आज पराङ्मुख बन गए हैं। उनकी दृष्टि में भी यह मीमांसा एक समस्या प्रमाणित हो सकती है, जैसे कि पूर्वघटित यात्राप्रसङ्गों में हीं इस स्थिति का भी साक्षात्कार हो चुका है।

घटना का स्थान-समय विस्मृत है, किन्तु घटना अद्यावधि स्मृतिपटल पर जागरूक बनी हुई है। किसी स्थान-अवसर-विशेष में विशेष प्रसङ्ग के माध्यम से समोपस्थित कतिपय सहयोगियों से इसी विषय का प्रसङ्ग प्रक्रान्त बन रहा था। वहीं हमारे राजपत्तनप्रान्त के एक वयोवृद्ध पूज्य अनुभवी सच्चरित्र विद्वान् भी समुपस्थित थे, जिनका वात्सल्य प्रेम हमें सहज रूप से ही सम्प्राप्त था, एवं जिनके प्रति हमारी श्रद्धा शाश्वतीम्य समाम्य अजस्ररूप से प्रवाहित है। कर्णाकर्णिपरम्परया ऐसा सुना गया कि, किसी समय उन्होंने अपने कुलयजमानों के (एवं हमारे सहयोगियों के) प्रति इत्यम्भूत उद्गार प्रकट करने का अनुग्रह किया कि,—"हमनें तो अद्यावधि किसी ग्रन्थ में निष्ठा-भावुकता की ऐसी व्याख्या देखी सुनी नहीं। विदित नहीं, ये बच्चे कैसे इस प्रधारणा के अनुगामी बन जाते हैं। निष्ठा और भावुकता, भावुकता और निष्ठा, रूप यह व्यामोहक जाल हमें तो व्यामोह में ही डाल रहा है—इत्यादि"। श्रद्धेय वयोवृद्ध पण्डितजी महाराज से तो इस श्रुतोपश्रुता आलोचना के सम्बन्ध में उनके सम्मान को सर्वात्मना सुरक्षित रखने की कामना से इससे अधिक और क्या निवेदन किया जा सकता है कि, यदि कभी साक्षाद्रूप से हम पर उनका अनुग्रह होता तो, हमें यही निवेदन करना पड़ता कि, भगवन्! भावुकता और निष्ठा ही क्या, वाङ्मयप्रपञ्चात्मक समस्त शब्दशास्त्र ही केवल बालकों का उपलालनमात्र ही तो है। वाचो विम्लापनं हि तत्। प्रसिद्ध ही है कि—

> उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।
> असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥
>
> —भर्तृहरिः (वाक्यपदी)

आलप्यालमिदम्। हाँ, सहयोगी सहृदय पाठकों से इस सम्बन्ध में यह सामयिक आवेदन कर देना अनिवार्यरूपेण आवश्यक होगा कि, बिना शब्दप्रमाण के केवल लौकिक-वाचिक-लेखाभासमूलक मान्यमात्र के आधार पर कभी किसी भी पारलौकिक-लौकिक मान्यता के प्रति अन्धःश्रद्धापूर्वक गतानुगतिकता के आवेश में आकर आस्था नहीं कर लेनी चाहिए। मानव की, विशेषतः विविध मतवाद समाकुलित वर्तमानयुग के स्खलित-चलितप्रज्ञ मानव की सहज भावुकता को समाकर्षित करने में सहज कुशल ग्राम के प्रवञ्चनापथनिपुण कौशलतत्त्ववेत्ताओं नें सम्पूर्ण क्षेत्रों में अनुरञ्जनात्मक-व्यामोहक उस

प्रकार के आविष्कारों का सम्मन कर लिया है, जिनके तात्कालिक सामयिक प्रभाव से प्रभावित होकर, दूसरे शब्दों में 'प्रत्यक्षस्थिति' से प्रभावित हो कर भावुक मानव स्वात्मना लक्ष्यच्युत बन जाया करता है।

"भारतीय हिन्दू मानव अपने विलुप्त विस्मृतप्राय नैगमिक निष्ठापथ पर आरूढ बने, मानव की सहज भावुकता पलायित हो, नैगमिक निष्ठा के द्वारा मानव अपने ऐहिक-आमुष्मिक अभ्युदय नि श्रेयस् का सफल भोक्ता प्रमाणित हो, एकमात्र इसी उद्बोधनोद्देश्य से असदाख्यानमाध्यम से प्रस्तुत सामयिक निबन्ध लिपिबद्ध हुआ है, जिसे अथ से इति-पर्य्यन्त लक्ष्य बना कर ही मानव निष्ठापथानुसरण में समर्थ बन सकता है।"

भावुकतास्वरूपसंग्राहक कृष्णार्जुन-प्रश्नोत्तरविमर्शात्मक जिस ऐतिहासिक असदाख्यान को आधार बना कर प्रस्तुत निबन्ध उपक्रान्त हो रहा है, उस असदाख्यान के समन्वय के लिए विविध दृष्टिकोणों को लक्ष्य बनाया गया। आख्यान-माध्यम से यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई कि, मानव, भारतीय मानव, तत्रापि आस्तिक हिन्दूमानव जहाँ अपनी भावुकता से वर्त्तमानयुग में आद्यन्त का दुःखी प्रमाणित हो रहा है, वहाँ सवर्णनिष्ठ एतद्देशीय इतर मानवसमाज (यवनादयः), एवं परदेशीय मानव स्वभा-भिमत निष्ठा के अनुग्रह से ऐहिक सुखसाधन-परिग्रह (मात्र) से समुत्कवत् प्रतीत हो रहे हैं। अर्जुन, किंवा पाण्डव जहाँ इसी प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता से लोकसुख से वञ्चित बन गए थे, वहाँ दुर्य्योधनप्रमुख कौरव परिस्थितिप्रभावमूला लोकनिष्ठा से सुसमृद्धवत् बन गए थे। इस आख्यानविजृम्भण के आधार पर ही अन्ततोगत्वा सर्वप्रथम हम अपनी प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता के आधार पर इस प्रश्न का सर्जन कर रहे हैं कि—

(२६)—निबन्ध के मीमांस्य विषयों की रूपरेखा—

"विश्वेश्वर के शरीररूप विश्व में निवास करने वाला, विश्वेश्वर की ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियों से परिपूर्ण भी बना रहता हुआ प्रज्ञाशील भी मानव दुःखी क्यों?'

उक्त सहज प्रश्न का निरूपित 'असदाख्यान' के माध्यम से स्वस्वरूप से यही समाधान हमारे सम्मुख उपस्थित होता है कि— 'सर्वशक्ति-सर्वसाधनपरिग्रहसम्पन्न भी विश्वमानव एकमात्र प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता से ही आद्यन्त का दुःखी बना रहता है"। इस प्रश्नोत्तरविमर्श के माध्यम से हमारे सम्मुख १-विश्व, २-भावुकता, ३-मानव, ४-दुःख, ये चार तन्त्र मुख्यरूप से उपस्थित हो जाते हैं। ये चारों ही शब्द सर्वथा सापेक्ष हैं। 'विश्व' शब्द के साथ विश्वकर्त्ता विश्वेश्वर का स्वरूप अपेक्षित बना हुआ है, 'भावुकता' शब्द के साथ 'निष्ठा' शब्द का स्वरूपार्थ अपेक्षित बना हुआ है। 'मानव' स्वयं माध्यपशु है, जैसा कि असदाख्यानमीमांसा के आरम्भ में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। माध्यपशुता ही मानव की 'सामाजिकता' है, इसी आधार पर मानव 'सामाजिकप्राणी' माना गया है। कुटुम्ब-जाति-समाज-राष्ट्र-आदि भेद से सामाजिक मानव के साथ अनेक अपेक्षाभाव न्यूनाधिकरूप से सम्बद्ध हैं। 'दुःख' शब्द भी अपने प्रतिद्वन्द्वी 'सुख' शब्द की नित्य अपेक्षा रख रहा है।

इस प्रकार विश्वादि चारों ही शब्द नित्य सापेक्ष बनते हुए अपने अपदिष्ट क्रमशः १-विश्वात्मा-२-निष्ठा-३-समाज-४-सुख इन चारों शब्दों की तात्त्विक मीमांसा की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

उक्त चार मुख्य मीमांसाओं के अतिरिक्त निबन्ध के मुख्य प्रतिपाद्य निष्ठा-भावुकता-द्वन्द्व का लौकिक-व्यावहारिक-समन्वय भी सर्वथा आपेक्षिक बन जाता है, जिसके आधार पर ही सर्वथा लोकसूत्रों, लौकिक व्यवहारों के माध्यम से मानव की मुक्त-प्रक्रान्त दैनिक जीवनधारा व्यवस्थित (निष्ठा से), किंवा अव्यवस्थित (भावुकता से) बनती रहती है। इदित्थं, निबन्ध के अन्यान्य प्रासङ्गिक गौण विषयों के साथ साथ निम्नलिखित पाँच तत्त्वमीमांसाएं मुख्य बन जातीं हैं, जिन्हें लक्ष्य बना कर ही हमें निबन्ध के भावशरीर का निम्माण करना है—

१—विश्वेश्वर समन्वित—विश्व की तात्त्विकस्वरूपमीमांसा
२—निष्ठासमन्वित——भावुकता की तात्त्विकस्वरूपमीमांसा
३—समाजसमन्वित——मानव की तात्त्विकस्वरूपमीमांसा
४—सुखसमन्वित———दुःख की तात्त्विकस्वरूपमीमांसा
५—लोकनिष्ठासमन्वित--लोकभावुकता की व्यावहारिक स्वरूपमीमांसा

किंवा—

१—विश्वस्वरूपमीमांसा (क्रमप्राप्त द्वितीयस्तम्भ)
२—भावुकतास्वरूपमीमांसा (तृतीयस्तम्भ)
३—मानवस्वरूपमीमांसा (चतुर्थस्तम्भ)
४ – दुःखस्वरूपमीमांसा (पञ्चमस्तम्भ)
५—लौकिकभावुकतास्वरूपमीमांसा (षष्ठस्तम्भ)

निष्कर्षतः—

१—असदाख्यानस्वरूपमीमांसा	(१-स्तम्भ)	प्रथमखण्ड १
२—विश्वेश्वरविश्वस्वरूपमीमांसा	(२-स्तम्भ)	
३—निष्ठाभावुकतास्वरूपमीमांसा	(३-स्तम्भ)	द्वितीयखण्ड २
४—समाज-मानवस्वरूपमीमांसा	(४-स्तम्भ)	
५—सुखदुःखस्वरूपमीमांसा	(५-स्तम्भ)	तृतीयखण्ड ३
६—लौकिकनिष्ठा-भावुकतास्वरूपमीमांसा	(६-स्तम्भ)	
*—संदर्भसंगति, और निबन्धोपराम	(७-स्तम्भ)	

सैषा खण्डत्रयात्मकस्य सामयिकनिबन्धस्यास्य स्वरूपदिशा, रूपरेखा वा

सप्तस्तम्भात्मक सामयिक उद्बोधनमाधापन्न प्रक्रान्त निबन्ध के सात स्तम्भों में से प्रथम-खण्डान्तगत १–असदाख्यानमीमांसा नामक प्रथम स्तम्भ उपरत हुआ। अब क्रमप्राप्त प्रथमखण्डान्तगत २–'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक द्वितीय स्तम्भ की तात्त्विकमीमांसा की ओर ही नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। नैगमिक रहस्यपूर्ण परिभाषाओं की विलुप्ति से अवश्य ही विश्वस्वरूप-मीमांसा आरम्भ में अमुक सीमापर्य्यन्त जटिलवत् प्रतीत हो सकती है। किन्तु निष्ठाबुद्धिसमन्विता अवधानता से क्रमबद्ध यदि विषय को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह हुआ, तो असंदिग्धरूपेण सभी मीमांस्य पारिभाषिक विषय सुसमन्वित हो जायँगे, इसी अभ्यर्थना के साथ प्रथमखण्डान्तगत यह प्रथम स्तम्भ उपरत हो रहा है।

उपरता चेय—

निबन्धोपक्रमाधारभूता–प्रथमखण्डान्तर्गता—

प्रथमस्तम्भात्मिका

'असदाख्यानस्वरूपमीमांसा'

— १ —

श्री
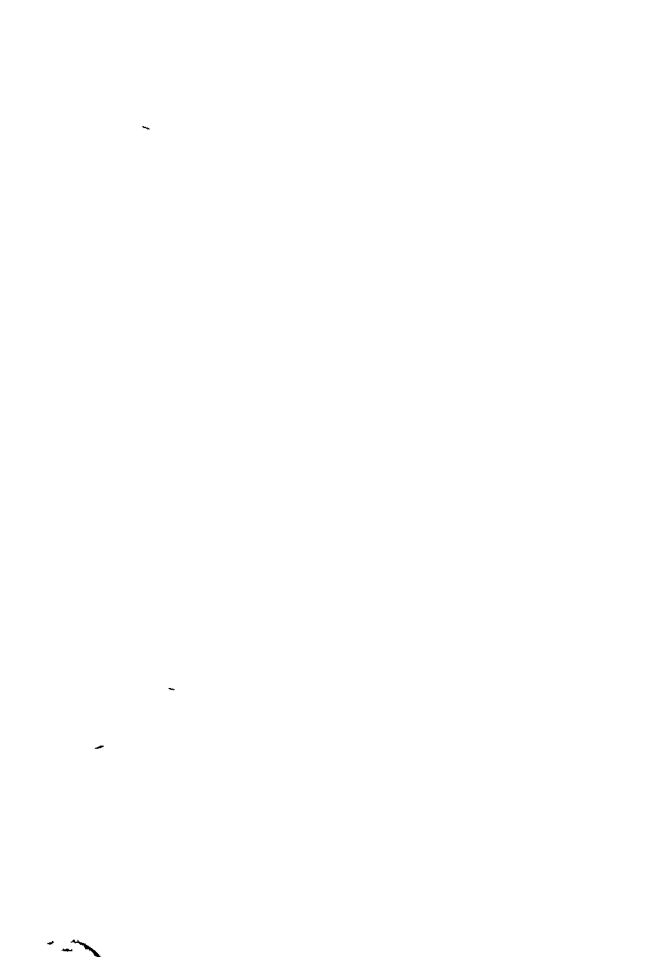
'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता'

निबन्धान्तर्गता—

'विश्वस्वरूपमीमांसा'

प्रथमखण्डान्तर्गता

(विश्व के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा)

नामक

द्वितीयस्तम्भ

उपरता चेय—

निबन्धोपक्रमाधारभूता-प्रथमखण्डान्तर्गता—

प्रथमस्तम्भात्मिका

असदाख्यानस्वरूपमीमांसा’

— १ —

(२)—असदाख्यानानुगत सिंहावलोकन, एवं विषयोपक्रम—

महाभारतयुगानुगत असदाख्यान के माध्यम से पूर्व के प्रथमस्तम्भ में यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि,—'पुरुषो वै प्रजापतनेदिष्टम्'—'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'—'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्' इत्यादि सिद्धान्तानुसार विश्वेश्वर की सम्पूर्ण शक्तियों के प्रथमांश का भोक्ता मानव-सहजरूप से परिपूर्ण-सर्वशक्तिसम्पन्न बना रहता हुआ भी एकमात्र उस भावुकता के निग्रहानुग्रह से ही उत्पीड़ित बना रहता है, जिस भावुकता का मानवीय मन की दुर्बलता से, एवं सहज निष्ठाबुद्धि की उपेक्षा से समय समय पर उदय होता रहता है। मानवीय मनकी इस दुर्बलता का कारण क्या?, साथ ही सहजनिष्ठाबुद्धि के अभिभव का कारण क्या?, क्यों परिपूर्ण भी मानव सहसा मनस्तन्त्रानुबन्धिनी भावुकता का अनुगामी बनता हुआ लक्ष्यच्युत बन जाता है?, इत्यादि प्रश्नों की स्वरूपमीमांसा के लिए यह अनिवार्य्यरूप से आवश्यक है कि, सत्व-रजस्तमोभावसमाकुलित-त्रिवृद्भावापन्न-षोडशान्त-शताक्षर-पञ्चकोशात्मक-पञ्चयोन्युपलक्षक-पञ्चप्राणोर्म्मिसमन्वित-पञ्चावर्त्त-पञ्चपर्व्वभेदभिन्न-मायामय उस पाञ्चभौतिक विश्व की तात्त्विकस्वरूपमीमांसा का समन्वय कर लिया जाय, जिसके आधार पर ही तथाकथित प्रश्नों का समसमन्वय सम्भव है। 'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' इत्यादि गौतमीय सिद्धान्तानुसार वस्तुस्वरूप के तात्त्विक बोध पर ही अभ्युदय-निःश्रेयस् सम्भव है। त्रिगुणात्मक विश्व के नैगमिक तात्त्विक स्वरूप के बोधमाध्यम से मानव की भावुकता के साथ साथ अन्यान्य कई एक सम-विषम समस्यायें क्योंकि समाहित बन जातीं हैं। अतएव 'असदाख्यानमीमांसा' नामक प्रथमस्तम्भ के अनन्तर ही 'विश्वस्वरूप मीमांसा' विश्वेश्वर के माङ्गलिक संस्मरण के साथ उपक्रान्त हो रही है। समस्या का सम्बन्ध उस मानव के साथ है, जिसका प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण-स्थान सप्तवितस्तिपरिमाणात्मक-सप्तभुवनात्मक-पाञ्चभौतिक-मायामय विश्व है। अतएव 'सम्पूर्ण साधन-परिग्रहों की विद्यमानता में भी विश्वगर्भीभूत मानव दुःखी क्यों?' प्रश्न के समाधान में प्रवृत्त होते हुए यह सर्वथा सामयिक है कि, दुःखकारणता की मीमांसा के पहिले मानव के प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण-लक्षण उस विश्व के तात्त्विक (वेदसम्मत) स्वरूप की संक्षिप्त स्वरूपदिशा पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दी जाय, जिससे अनेक समस्याओं का स्वतः एव समन्वय हो जाता है।

(३)—विश्व शब्द का निर्वचनार्थ—

प्रवेशनार्थक 'विश' धातु (तु॰ प॰ अ॰) से 'क्वन्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न विश्व शब्द के 'विशन्त्यत्र आत्मा, तद् विश्वम्' इत्यादि निर्वचनानुसार जिस पाञ्चभौतिक महिमलक्षण विवर्त्त में आत्म देवता प्रविष्ट रहते हैं, वही 'जहाँ आत्मा प्रविष्ट रहता है' इस भाव से 'विश्व' कहलाया है। यह है विश्वशब्द का सामान्य-सहजस्वरूपनिर्वचन, जिसे मूल बना कर ही हमें विश्व के तात्त्विक स्वरूप की

श्री

अथ सामयिकनिबन्धेऽस्मिन्–'विश्वस्य तात्त्विकस्वरूपमीमांसा'

(विश्व के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा)

द्वितीयस्तम्भ

२

---

(१)—मांगलिक संस्मरण—

१—किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥

२—तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥

३—पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्म्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥

४—य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

५—विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥

६—छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥

७—य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

८—तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः ॥

९—एष देवो विश्वकर्म्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ।

वैयक्तिक परिपूर्णता को ही लक्ष्य में रखकर श्रुति में–"सोऽस्य कृत्स्नोऽमुष्मिल्लोके आत्मा भवति" (शत०ब्रा० ३।८४।३७) इस प्रकार आत्मा के लिए 'कृत्स्न' शब्द व्यवहृत हुआ है। इसी प्रकार 'स कृत्स्न एव देवानां हविरभवत्' (शत० १।६।४।११) इस वचन के द्वारा भी एक हवि–पदार्थ की पूर्णता के लिए ही 'कृत्स्न' शब्द प्रयुक्त हो रहा है। अन्यत्र उभयविध (सामूहिक, एवं वैय्यक्तिक) परिपूर्णता को लक्ष्य बना कर श्रुति ने 'सर्वः—कृत्स्ना–मन्यमानोऽगायत्, तस्मादग्निर्गायत्रः' (शत० ६।१।१।१५।) इस रूप से दोनों भावों के लिए दोनों शब्दों का प्रयोग किया है।

वक्तव्य यही है कि, सर्व शब्द उस तत्त्व का संग्राहक बन रहा है, जिसमें व्यष्टि–समष्ट्यात्मक सम्पूर्ण भाव समाविष्ट हैं। षोडशकल प्रजापति (शत० १३।२।२।१३)–विश्वेदेव (गोपथ ब्रा० पू०५।१५)–आपोमय अथर्ववेद (गो॰पू० ५।१५)—दक्षिणा (५।१५)–एकविंशस्तोम (५।१५)–अनुष्टुप्छन्द (५।१५)–लोक और दिशा (शत० ६।५।२।२।१३)–अनिरुक्तभाव (शत० १।३।५।१०।)–अन्नाद्य (शत० १।६।१।१६) रूप और नाम–(शत० ११।२।३।६) इत्यादि तत्त्व समष्टि के संग्राहक बनते हुए 'सर्व' शब्द से ही निगमशास्त्र में व्यवहृत हुए हैं। समार्थक विश्व शब्द आत्मप्रवेशापेक्षया सापेक्ष शब्द है। अतएव 'विश्व' शब्द 'विश्व' और 'विश्वात्मा' दोनों का संग्राहक बना हुआ है। + विश्वात्मा त्रिसत्य है, विश्व एकसत्य * है। तीन, और एक, इन चार सत्याओं की (विश्वसंस्था एवं, त्रिकल विश्वात्मसंस्था की) समष्टि ही विश्व की तात्त्विक स्वरूपमीमांसा है। इसी आधार पर–'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' (कौ० ब्रा० २।१) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है, जिसे मूल बना कर ही हमें विश्व के तात्त्विक स्वरूप का समन्वय करना है।

(४)—आत्मबोध की नैगमिक परिभाषा—

'स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चित्' × इस दार्शनिक सूक्ति का यदि यह अर्थ है कि, "सापेक्ष भावापन्न 'आत्मा' शब्द की प्राकृतिक अपेक्षा को कृत्स्न बनाने वाला आत्मावरणरूप पाञ्चभौतिक विश्व

+—"त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुष पादोऽस्येहाभवत् पुन ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥"
—यजुःसंहिता ३१।४।

*—"अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं 'कृत्स्न' मेकांशेन स्थितो जगत् ॥"
—गीता १०।४२।

×—इतो न किञ्चित्, परतो न किञ्चित्, यतो यतो यामि ततो न किञ्चित् ।
विचार्य्यमाणे तु जगन्न किञ्चित्, स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चित् ॥
—प्राचीनसूक्तिः ।

मीमांसा में प्रवृत्त होना है। विश्वशब्द का निशति–भावात्मक यह निर्वचन * आगमानुगत है, जिसका निगम के साथ समन्वय माना जा सकता है। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तैत्तिरीयोपनिषत् २।६।) इत्यादि निगमवचन "अपने दर भाग से उसे उत्पन्न कर वह उसी में आधारम्भ से प्रविष्ट हो गया" इत्यादिरूप से आगमीय 'विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रम्' इस सिद्धान्त का उपोद्‌बलक बन रहा है।

उक्त निर्वचन के अतिरिक्त विश्व शब्द का दूसरा सात्त्विक अर्थ एक विशेष दृष्टिकोण से 'सर्व' भी है, जैसाकि—+विश्वानि देव०' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। इसी मन्त्रप्रामाण्य के आधार पर भाष्यभूति ने भी विश्वशब्द का–'यद्वै विश्वं, सर्वं तत्' (शत० ब्रा० ३।१।२।११) यह निर्वचन किया है। एकत्व जहाँ आत्मनिबन्धन है, वहाँ अनेकत्व विश्वनिबन्धन माना गया है। अमृतलक्षण आत्मा अखण्ड है, एकाकी है। मृत्युलक्षण चराचरात्मक विश्व खण्ड–खण्डात्मक बनता हुआ नानाभावापन्न है, जैसा कि–'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति' (बृहदारण्यकोपनिषत् ४।४।१९।) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। परस्परात्यन्तविरुद्ध मलनिबन्धन–दिग्देशकालसीमित–योगमायात्मिका विष्णु माया से अनुगृहीत–असंख्य–अनन्त पदार्थों की समष्टि ही, अनेक पदार्थों का समुच्चय ही तो विश्व है। अतएव विश्वशब्द का अर्थ 'सर्व' मान लिया गया है। इसी आधार पर विद्वानोंने 'सर्व' शब्द का पारिभाषिक अर्थ किया है—'अनेकेषामशेषत्वं सार्व्यम्'। इसी सर्वता का सूचक दूसरा शब्द है—'कृत्स्न'। एक ही वस्तु की परिपूर्णता के लिए 'कृत्स्न' शब्द व्यवहृत हुआ है। अतएव कृत्स्न शब्द का 'एकस्य–अशेषत्वं कार्त्स्न्यम्' यह पारिभाषिक अर्थ हुआ है ×।

तात्पर्य यही है कि, सामूहिक पूर्णता के लिए 'सर्व' शब्द (सब) प्रयुक्त हुआ है, एवं वैय्यक्तिक पूर्णता के लिए 'कृत्स्न' शब्द (पूरा) प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के लिए ११४४ शाखाओं में विभक्त वेद के समूह को (शाखासमूह को) 'सर्व' शब्द से व्यवहृत किया जायगा, जैसा कि–'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति' (कौषी०उप० ५।१५।) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। प्रत्येक शाखा की पूर्णता के लिए वैय्यक्तिकभावनिबन्धन 'कृत्स्न' शब्द व्यवहृत किया जायगा, जैसाकि—वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना' (मनुस्मृति, २।१६५।)) इत्यादि वचन से प्रमाणित है।

---

* विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं ब्रह्ममायया ॥
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्त्तिना ॥
—भागवत ३।१०।१२।

— विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद् भद्रं तन्न आसुव ॥(यजु.संहिता ३।२०) (विश्वानि–सर्वाणि दुरितानि परासुव)।

× लोकभाषा (हिन्दी) में 'सर्व' के लिए 'सब' शब्द, एवं कृत्स्न के लिए 'पूरा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अनेक पदार्थों, किंवा अनेक व्यक्तियों के समूह के लिए 'सब' बोला जाता है, एवं एक ही वस्तु की पूर्णता के लिए 'पूरा' शब्द व्यवहार में आता है।

केवल धृष्टता ही मानी जायगी । दुरधिगम्य सृष्टिमूल-प्रश्न के सम्बन्ध में हम निम्नलिखित समस्यापूर्ण श्रुतिवचनों की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं—

किंस्विद्वन क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्, यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥ १ ॥
ऋक्संहिता १० । ८१ । ४ ।

ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥ २ ॥
—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।६।७ कण्डिका

किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् ॥
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन् महिना विश्वचक्षाः ॥ ३ ॥
—ऋक्संहिता १ ।८१।४।

को अद्धा वेद, क इह प्रवोचत्, कुत आजाता, कुत इयं विसृष्टिः ॥
अर्वाग्देवा विसर्जनेऽनाथा को वेद यत आबभूव ॥ ४ ॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ॥
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ५ ॥
—ऋक्संहिता १० मण्डल नासदीयसूक्त (१२६)–६,७ मन्त्र, एवं तैत्तिरीयब्राह्मण—
२।८।६।५।६, कण्डिका

ऋक्संहिता, तथा तैत्तिरीयब्राह्मण के उक्त पाँच मन्त्रों में बड़ी ही रहस्यपूर्णा गभीरभाषा में विश्व के मूल की जिज्ञासा, एवं समाधान हुआ है। 'किं स्विद्वन क उ स वृक्ष आस०' इत्यादि प्रथम मन्त्र में व्यक्त जिज्ञासा का अक्षरार्थ यही है कि,–'वह ऐसा कौनसा (महा) वन (अरण्य-जङ्गल) था, उस महा अरण्य का वह ऐसा कौन सा महावृक्ष था, जिसे काट छाँट कर यह पृथिवी एवं द्यु रूप विश्व बना दिया गया !! हे मनीषी विद्वानो ! आप अपने मन से ही यह प्रश्न करें कि, जिसने इसप्रकार महावृक्ष से द्यावापृथिवीरूप विश्व के स्वरूप का निर्माण कर 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से जो इन द्यावापृथिव्य भुवनों को धारण करता हुआ इन का आधार बन कर वृक्षवत् स्थिर बना हुआ है, वह कौन है ? ॥ १ ॥

प्रश्नात्मिका जिज्ञासा हुई ऋक्संहिता में । एवं इसका उत्तर प्राप्त हुआ हमें तैत्तिरीयब्राह्मण के द्वारा । उत्तर कैसा रहस्यपूर्ण है !, उत्तर से हमारे जैसा साधारण व्यक्ति क्या समझ लेगा !, यह समस्या भी कम जटिल नहीं है । उत्तरमन्त्र के अक्षरार्थ को लक्ष्य बनाइए । "ब्रह्मरूप ही एक महावन

(ईश्वरापेक्षया), एवं पाञ्चभौतिक शरीर–(जीवापेक्षया)–रूप भूतभाग भी आत्मस्वरूपबोध-सीमा में अन्तर्भूत है" तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। यदि निगमविरुद्ध जगन्मिथ्यात्ववाद के काल्पनिक भ्रमनिवेश से आविष्ट वेदान्तनिष्ठ दार्शनिकों की दृष्टि में उक्त सूक्ति का यह तात्पर्य है कि, "पाञ्चभौतिक विश्व, शरीर, भोग, आदि सब कुछ मिथ्या है, असत् है, काल्पनिक है। इनका आत्यन्तिक रूप से परित्याग कर नित्यबुद्ध–शुद्ध–मुक्त–निष्कैवल्य-आत्मब्रह्म का बोध ही जीव का परमपुरुषार्थ है" तो हमें आपत्ति ही नहीं है, अपितु पूर्ण आक्षेप है। इसी + अनीश्वरवादमूला वेदान्तनिष्ठा ने भारतीय मानव के सहज–परिपूर्ण–विकास को आत्यन्तिकरूप से अभिभूत कर दिया है। इसी कल्पितवाद ने निगमानुगत प्राकृतिक सत्यात्मवादसमन्वित ऋतसत्यात्मवाद के वास्तविक स्वरूपबोध से आस्तिक भारतीय मानव को वञ्चित करते हुए धार्मिक–लौकिक–विधि–विधानों में पदे पदे संशयशील बना डाला है। इसी मिथ्याकल्पित ज्ञानदृष्टि के अनुग्रह से नैगमिक वह नित्यविज्ञानसिद्धान्त सर्वात्मना अभिभूत हो गया है, जिसके अभाव में भारतीय मानव ने केवल ज्ञानवाद की चर्व्वणा में ही अपने आपको चर्वित रखते हुए अपना ऐहिक अभ्युदय विसर्जित कर दिया है। इसी आर्यनिष्ठाविरुद्ध दृष्टिकोण ने भारतीय मानव को विश्वविभूति की ओर से उदासीनवदासीन बनाते हुए इसे सर्वात्मक जीवनीय रस से पृथक्-कर-इसे, केवल भावुक बना डाला है, जो भावुकता आज इसके आत्यन्तिक पराभव का कारण प्रमाणित हो रही है। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि, प्रस्तुत विश्वस्वरूपमीमांसा–परिच्छेद में सापेक्ष आत्मा के उस ज्ञानविज्ञानोभयनिष्ठ× तात्त्विक स्वरूप का भी दिग्दर्शन कराया जाय, जिसके बिना विश्वस्वरूपमीमांसा असर्व ही बनी रह जाती है। बड़े ही अवधानपूर्वक विश्वाधाररूप आत्मा की स्वरूपमीमांसा से समन्वित इस विश्वस्वरूपमीमांसा को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह करेंगे हम आत्मबोधपथानुगत मानवों से। क्योंकि जिस नैगमिक आम्नायानुमोदित आर्षदृष्टिकोण से यह मीमांसा मीमांसित होने वाली है, वह आर्षदृष्टिकोण मतवादपरम्परा के आक्रमण से आज विलुप्तप्राय बन चुका है।

(५)—पाञ्चभौतिक विश्व के 'मूल' की जिज्ञासा—

विश्व का मूल कौन !, प्रश्न नैगमिक महर्षियों के लिए भी जब एक-महती समस्या बन रहा है, तो अस्मदादि सामान्य जनों का इस सम्बन्ध में 'इदमित्थमेव' रूप से निर्णय व्यक्त करने का साहस

+—असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥
—गीता १६।८।

×—ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
—गीता ७।२।

"यह सृष्टि जिससे प्रादुर्भूत हुई है, सम्भवतः उसी ने इसे धारण कर रक्खा है। अथवा तो सम्भवतः उसने इसे धारण नहीं कर रक्खा है। (अपितु यह स्वयं अपने स्वरूप से अपने आप में ही धृत है), यदि कोई इसका जो भी मूलप्रभव अध्यक्ष–अधिष्ठाता है, जो कि–परमाकाश में प्रतिष्ठित माना जाता हुआ 'परमे व्योमन्' नाम से प्रसिद्ध है, हमें तो यह कहने में भी अणुमात्र भी संकोच नहीं होगा कि, वह स्वयं सृष्टिकर्ता भी अपनी सृष्टि के इस मूलरहस्य को, सृष्टि कैसे–कब–किससे–किस पर बनी? इस प्रश्न के निर्णयात्मक उत्तर को जानता है, अथवा नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता। ऐसा है यह दुरधिगम्य सृष्टिमूलविषयक जटिल प्रश्न" ॥५॥

(६)—मूलजिज्ञासासमाधान का मूलाधार—

क्या वास्तव में सृष्टिमूल ऐसा दुरधिगम्य है?, जिसके सम्बन्ध में महर्षि को ये अप्रत्याशित उद्गार प्रकट करने पड़े कि–"स्वयं सृष्टिकर्ता भी इस रहस्य को जानता है, अथवा नहीं, यह नहीं कहा जा सकता" सर्वप्रथम इसी दृष्टिकोण की मीमांसा कीजिए। ऋषि के इन उद्गारों का क्या अभिप्राय?, इस प्रश्न की मीमांसा में प्रवृत्त होने के साथ ही उन दो इच्छाविवर्तों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है, जो क्रमशः 'उत्थिताकांक्षा' एवं 'उत्थाप्याकांक्षा' नामों से प्रसिद्ध है। आत्माधारेण प्रतिष्ठिता विद्याबुद्धि सहकृता सत्त्वगुणान्विता स्थिरप्रज्ञा से संयुक्त मन की सहज–प्राकृतिक इच्छा ही 'उत्थिताकांक्षा' कहलाई है, जिसके लिए 'कामना'—'काम' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। आत्माधारवञ्चिता अविद्याबुद्धिसमन्विता रजस्तमोगुणान्विता अस्थिरप्रज्ञा से युक्त मन की कृत्रिम–वैकारिक इच्छा ही 'उत्थाप्याकांक्षा' है, जो 'लालसा—लिप्सा—एषणा–इच्छा–'इत्यादि नामों से यत्र तत्र प्रसिद्ध हुई है। 'अपने आप उठी हुई कामना' ही उत्थिताकांक्षा है। एवं 'वासना की प्रेरणा से उठाई हुई इच्छा' ही उत्थाप्याकांक्षा है।

कामनालक्षणा उत्थिताकांक्षा सहजसिद्धा है, नित्या है। इस कामना के सम्बन्ध में–'कब किस से', कहाँ?, कैसे?, इत्यादि प्रश्न सर्वात्मना असङ्गत हैं। क्योंकि यह कामना उस आत्मा से सम्बन्ध रखती है, जो प्रकृति के साथ समन्वित रहता हुआ भी तत्त्वतः प्रकृति से परे है, अतएव 'पर' (अव्यय) नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृति से 'पर' विद्यमान आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में तर्क–प्रश्नादि का प्रवेश निषिद्ध* है। प्राकृतिक विश्वसीमामें दोनों इच्छाएँ प्रक्रान्त बनी रहती हैं। इनमें परेच्छा (अव्ययात्मेच्छा) नित्या है, सहजसिद्धा है। अतएव वह अमीमांस्या है। सहजकामनालक्षणा इस ईश्वरेच्छा का विचार-विमर्श स्वयं इच्छारूपा ईश्वर को भी क्यों होने लगा। विमर्श होता है कृत्रिमता में, लोकनिबन्धना मान इच्छा में।

---

* अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥
प्राचीनसूक्तिः।

था, उसमें ब्रह्मरूप ही एक महावृक्ष था, जिसे काट-छाँट कर यह द्यावा-पृथिवीरूप महाविश्व निर्मित कर दिया गया। हे मनीषी विद्वानो! (हमने अपने मन में-अन्तर्जगत् में इस उत्तर की पर्याप्त मीमांसा करली है। उसी को मूल बना कर अपने) मन से ही आज हम यह स्पष्ट कर रहे हैं कि, ब्रह्म ने ही ब्रह्म से द्यावापृथिवीरूप ब्रह्म का निर्माण किया है, ब्रह्म ही इसका आधार बना हुआ है, वही मूलप्रतिष्ठा बन रहा है ॥ २ ॥

ऋक्संहिता का एक अन्य मन्त्र (तृतीय मन्त्र) विभिन्न दृष्टिकोण से ही विश्वमूलजिज्ञासामात्र का विश्लेषण करता हुआ कहता है कि,—"इस महाविश्व का अधिष्ठान (आलम्बनकारण, मूलाधार, जिस आधार पर विश्व का निर्माण हुआ) क्या था, कैसा था?। इस विश्व का आरम्भण (आरम्भक-उपादानकरण) क्या था, कैसा था?, एवं कैसे उस अधिष्ठान पर उस आरम्भण से किसने विश्व उत्पन्न कर दिया?, किंवा इस द्यौ और पृथिवी को उत्पन्न करते हुए जिस विश्वकर्मा (विश्वरचयिता-विश्वनिर्माणकर्त्ता) विश्वचक्षा (विश्वसाक्षी) ने अपनी महिमा से द्युलोक को अनन्ताकाशरूप से विस्तृत कर दिया, उस विश्वनिर्माता (निमित्तकारण) का क्या स्वरूप था?, कैसा स्वरूप था?" ॥ ३ ॥

समस्या का कोई विस्पष्ट समाधान न कर समस्या को अधिकाधिक जटिल बनाती हुई वही ऋक्संहिता आगे चाकर कहती है कि-"किसने विस्पष्टरूप से-'इदमित्थमेव, न न्यथा' (यह निश्चितरूप से ऐसा ही है, इससे इसी रूप से ऐसा ही बना है) रूप से (इस विश्वमूल-रहस्य का) परिज्ञान प्राप्त किया, वैसा भी) किसने अपने मुख से इस सृष्टिमूलरहस्य का विस्पष्ट स्वरूप वर्णन किया? (अर्थात् किसी ने नहीं किया)। कहाँ से किस अधिष्ठान पर किस आरम्भण से किसके द्वारा यह सृष्टि आविर्भूत हो पड़ी-आ गई?, यह कौन जान सका है? (अर्थात् कोई नहीं जान सका है)। (कदाचित् इस सम्बन्ध में यह कहो कि, इन्द्र-वरुण-चन्द्र-अग्नि-सोम-वायु-आदि प्राणदेवताओं से इस सृष्टि का निर्माण-विकास हुआ, सो भी इसलिए सर्वथा असङ्गत, अतएव अमान्य है कि) प्राणदेवता तो स्वयं अर्वाक्-(सृष्टि के बहुत पीछे-सृष्टि के-विश्व के-गर्भ में उत्पन्न होने वाले) हैं। भला वे कैसे सृष्टि के साथ (रचयिता, किंवा आधार) माने जा सकते हैं। तत्त्वतः हमें अन्ततोगत्वा इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, यह कौन जान सकता है कि, कहाँ से किससे किस उपादान से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है? (अर्थात् सृष्टिमूलविषयक प्रश्न सर्वथा असमाधेय बनते हुए अनतिप्रश्न ही प्रमाणित हो रहे हैं) ॥ ४ ॥

(जब सृष्टिमूलविषयक प्रश्नों का कोई निर्णयात्मक समाधान ही प्राप्त नहीं हो सकता, तो इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम तो तूष्णीं बन जाना ही श्रेयःपन्था है। यदि 'मुखमस्तीति वक्तव्यम्' न्याय से कुछ कहने के लिए कोई आतुर ही है, तो वह अधिक से अधिक इस सम्बन्ध में और भी अधिक संशय को दृढमूल बनाता हुआ यही असम्बद्ध-अनर्गल-वाणी बोल सकता है कि)—

महाविश्व विनिर्म्मित हुआ है" । निश्चित ही प्रश्न, और उसका निश्चित ही समाधान । किन्तु प्रश्न भी रहस्यपूर्ण, एवं समाधान भी रहस्यपूर्ण, जिस रहस्यात्मिका प्रश्नोत्तरपरम्परा का सम्बन्ध उस **'महाश्वत्थविज्ञान'** के साथ है, जिसके सम्बन्ध में उपनिषदों में यह घोषणा हुई है कि—

> ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन ।
> तदेव शुक्र, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते ॥
> तस्मिँल्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥
> —कठोपनिषत् ५।१।

"अपने मूल को ऊर्ध्वभाग * में अवस्थित रखने वाला यह महाश्वत्थ+ वृक्ष सनातन है । यही शुक्र है, यही ब्रह्म है, यही अमृत है । अमृत–ब्रह्म–शुक्रमूर्त्ति उसी सनातन अश्वत्थवृक्ष के आधार पर सम्पूर्ण लोक आश्रित हैं । कोई उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता" इस अभिप्राय से सम्बन्ध रखने वाली ब्रह्माश्वत्थविद्या ही वेद की वास्तविक विद्या है, जिसका सम्यक् बोध प्राप्त करने वाला ही स्मार्त्ती उपनिषत् में 'वेदवित्' कहलाया है × । यही वह महावृक्ष है, जिसकी सहस्रवल्शा (शाखा) मानीं गई हैं, एवं जिसकी एक एक वल्शा एक एक स्वतन्त्र विश्व है । सहस्र स्वतन्त्र वल्शेश्वररूप उपेश्वरों की समष्टिरूप मायी महेश्वररूप एक अश्वत्थ वृक्ष जिस महावन के एक प्रदेश में अवस्थित है, वही विश्वातीत–मायातीत–परात्परब्रह्म नामक वह महावन है, जिसमें महामायावच्छिन्न–सहस्रवल्शामूर्त्ति–असंख्य अश्वत्थवृक्ष समाविष्ट हैं । सर्वमिदमानन्त्यम्, सर्वमिदमानन्त्यम् ।

सर्वबलविशिष्ट रसैकघन मायातीत अद्वय–विश्वातीत 'परात्परपरमेश्वर' ही महावन है । तत्र प्रतिष्ठित असंख्य–अगणित 'मायी महेश्वर' ही महावृक्ष हैं । प्रत्येक मायी महेश्वर की सहस्र शाखाओं में से 'पंचपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा' नाम से प्रसिद्ध एक एक शाखा से अनुप्राणित स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–इन पाँच पाँच पुण्डीरों की समष्टिरूप एक एक उपेश्वर ही यह हमारा मीमांस्य

---

* वर्त्तुलाकार मण्डल में परिणाह (बहिर्मण्डल–घेरा–परिधि), विष्कम्भ (व्यास), एवं हृदय (केन्द्र) ये तीन छन्द प्रतिष्ठित रहते हैं । इनमें हृदय ही परिणाहरूपा परिधि की अपेक्षा 'ऊर्ध्व' माना गया है । 'ऊर्ध्वमूल' का अर्थ है 'केन्द्रमूल' । 'प्रजापतिश्चरति गर्भे–तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' से भी हृदय ही ऊर्ध्वमूल प्रमाणित है ।

+—कर्म्माश्वत्थ का योगमायावच्छिन्न प्राणिशरीरों के कर्म्मभोग से सम्बन्ध है, एवं ब्रह्माश्वत्थ का महामायावच्छिन्न पाञ्चभौतिक विश्वरूप विश्वेश्वर के उत्पत्तिस्थितिलयात्मक शरीर से सम्बन्ध है ।

×—ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ (गीता० १५।१।)

महामायावच्छिन्न मायी अव्ययेश्वर के केन्द्रीय रसघनात्मक हृत्‌ 'श्वोवसीयस्' नामक आत्ममन की कामना–सहजेच्छा–से बलपरम्परा रसाधाररूपेण नैसर्गिकभाव से ग्रन्थिबन्धन–ग्रन्थिविमोक–लक्षणा सिसृक्षा (सृष्टि–इच्छा)–मुमुक्षा (मुक्ति–इच्छा) के द्वारा व्यक्त–अव्यक्तरूप में परिणत होती रहती है, जिस इस सहज व्यक्ताव्यक्त–पुन व्यक्त–पुन अव्यक्तादिपरम्परा में सम्वत्सरानुगत दिग्देशकालचक्रत्रयी का कोई नियमन नहीं है। सहज स्वभाव है यह बलपरम्परा का, जिस परम्परा की मूलभूता सिसृक्षा मुमुक्षा से अनुप्राणित सग और लयपरम्परा के सम्बन्ध में कब ?, कैसे ?, कब तक ?, किससे ?, इत्यादि प्रश्न उपस्थित ही नहीं हो सकते। सहजेच्छानुसार हमें बुभुक्षा लगती है, सहजभाव से प्रात भोजन कर लेते हैं। इसी सहजेच्छा से सायङ्काल का भोजनकर्म्म सम्पन्न बन जाता है। विश्रामेच्छा से शयन में प्रवृत्त हो जाते हैं। इत्यादिरूप से हमारे सहजेच्छानिबन्धन सभी सहजकर्म्म सहजरूप से 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' रूप से प्रक्रान्त बने रहते हैं। इन सहज कर्म्मों के सम्बन्ध में कभी कब इच्छा हुई ?, किसने इच्छा की, इत्यादि प्रश्न उपस्थित नहीं होते। होता है सब कुछ इच्छापूर्वक (उदितवाकाङ्क्षारूपा कामनापूर्वक) ही, सर्वथा व्यवस्थित–मर्य्यादितरूप से ही। किन्तु इच्छा करने वाले स्वय हम भी इस इच्छा के सहज कामना के–सम्बन्ध में कभी उक्त प्रश्न–जिज्ञासा–समाधानादि के अनुगामी बनते हैं, ऐसा कभी अनुभव नहीं होता। अतएव हम अपनी इस सहेच्छा के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि,—"जो हम इस इच्छा के अध्यक्ष–मूलप्रवर्त्तक हैं, वे हम भी इस इच्छानुगत इन सर्गप्रश्नपरम्पराओं को जानते, अथवा नहीं जानते, यह कौन कह सकता है"। इसप्रकार इस कामनालक्षणा सहज इच्छा के 'याथातथ्येनार्थान् व्यदधात्–शाश्वतीभ्य समाभ्य' (ईशोपनिषत्) इत्यादिरूप से शाश्वत सहजभाव को व्यक्त करने मात्र के अभिप्राय से ही ऋषि ने 'योऽस्याध्यक्ष परमेव्योमन्–सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद'' ये उद्‌गार प्रगट किए हैं। जिनका कदापि यह तात्पर्य नहीं है कि, 'स्वयं विश्वकर्त्ता विश्वेश्वर भी जानते हैं, अथवा नहीं, इसमें सन्देह है'। क्योंकि अन्य श्रुतियों के द्वारा सहस्रधा इस सहज कामना का विस्तार से विश्लेषण हुआ है। कामनारूपा सहजेच्छा ही अपने सहजभाव के कारण 'निष्कामभाव' कहलाया है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि, "निष्कामकर्म्म किया नहीं जाता, अपितु निष्कामकर्म्म तो होता है"। यही गीताप्रतिपादित बुद्धियोगरहस्यार्थ है। ऐसी कामनालक्षणा इच्छा आसक्तिपाशबन्धन से असंस्पृष्टा रहती हुई सर्वथा अबन्धना है, जबकि इच्छालक्षणा एषणा आसक्तिपाशबन्धनप्रवर्त्तिका बनती हुई सबन्धना घोषित हुई है। इन दोनों सहज–कृत्रिम–कामना–इच्छा-तत्त्वों के स्वरूपभेद को लक्ष्य बना कर ही हमें मन्त्रोक्त सृष्टिमूल की मीमांसा में प्रवृत्त होना चाहिए।

(७)—सृष्टिमूलानुगता पञ्चमन्त्रस्वरूपदिशा का सङ्क्षिप्त स्वरूपपरिचय—

(१–२)—"किस महावन के किस महावृक्ष को काट–छाँट कर द्यावापृथिवीरूप महाविश्व बना दिया गया" ?, यह प्रश्न हुआ है ऋक्संहिता में, जिसका उत्तर इस रूप से उपलब्ध हुआ है हमें तैत्तिरीयब्राह्मण में कि—"ब्रह्मरूप महावन के ब्रह्मरूप महावृक्ष को काट–छाँट कर ही द्यावापृथिवीरूप

महाविश्व विनिर्म्मित हुआ है"। निश्चित ही प्रश्न, और उसका निश्चित ही समाधान। किन्तु प्रश्न भी रहस्यपूर्ण, एवं समाधान भी रहस्यपूर्ण, जिस रहस्यात्मिका प्रश्नोत्तरपरम्परा का सम्बन्ध उस 'ब्रह्माश्वत्थविज्ञान' के साथ है, जिसके सम्बन्ध में उपनिषदों में यह घोषणा हुई है कि—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन ।
तदेव शुक्र, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥
—कठोपनिषत् ५।१।

"अपने मूल को ऊर्ध्वभाग * में अवस्थित रखने वाला यह ब्रह्माश्वत्थ+ वृक्ष सनातन है। यही शुक्र है, यही ब्रह्म है, वही अमृत है। अमृत–ब्रह्म–शुक्रमूर्त्ति उसी सनातन अश्वत्थवृक्ष के आधार पर सम्पूर्ण लोक आश्रित हैं। कोई उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता" इस अक्षरार्थ से सम्बन्ध रखने वाली ब्रह्माश्वत्थविद्या ही वेद की वास्तविक विद्या है, जिसका सम्यक् बोध प्राप्त करने वाला ही स्मार्त्त उपनिषत् में 'वेदवित्' कहलाया है ×। यही वह महावृक्ष है, जिसकी सहस्रवल्शा (शाखा) मानीं गई हैं, एवं जिसकी एक एक वल्शा एक एक स्वतन्त्र विश्व है। सहस्र स्वतन्त्र वल्शेश्वररूप उपेश्वरों की समष्टिरूप मायी महेश्वररूप एक अश्वत्थ वृक्ष जिस महावन के एक प्रदेश में अवस्थित है, वही विश्वातीत–मायातीत–परात्परब्रह्म नामक वह महावन है, जिसमें महामायावच्छिन्न–सहस्रवल्शामूर्त्ति–असंख्य अश्वत्थवृक्ष समाविष्ट हैं। सर्वमिदमानन्त्यम्, सर्वमिदमानन्त्यम्।

सर्वबलविशिष्ट रसैकघन मायातीत अद्वय–विश्वातीत 'परात्परपरमेश्वर' ही महावन है। तत्र प्रतिष्ठित असंख्य–अगणित 'मायी महेश्वर' ही महावृक्ष हैं। प्रत्येक मायी महेश्वर की सहस्र शाखाओं में से 'पंचपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा' नाम से प्रसिद्ध एक एक शाखा से अनुप्राणित स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–इन पाँच पाँच पुण्डीरों की समष्टिरूप एक एक उपेश्वर ही वह हमारा मीमांस्य

---

* वर्त्तुलाकार मण्डल में परिणाह (बहिर्म्मण्डल–घेरा–परिधि), विष्कम्भ (व्यास), एवं हृदय (केन्द्र) ये तीन छन्द प्रतिष्ठित रहते हैं। इनमें हृदय ही परिणाहरूपा परिधि की अपेक्षा 'ऊर्ध्व' माना गया है। 'ऊर्ध्वमूल' का अर्थ है 'केन्द्रमूल'। 'प्रजापतिश्चरति गर्भे–तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' से भी हृदय ही ऊर्ध्वमूल प्रमाणित है।

+—कर्म्माश्वत्थ का योगमायावच्छिन्न प्राणिशरीरों के कर्म्मभोग से सम्बन्ध है, एवं ब्रह्माश्वत्थ का महामायावच्छिन्न पाञ्चभौतिक विश्वरूप विश्वेश्वर के सप्तवितस्तिकायात्मक शरीर से सम्बन्ध है।

×—ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ (गीता० १५।१।)

महामायाशवच्छिन मायी अव्ययेश्वर के केन्द्रीय रसघनात्मक हृदय 'श्वोवसीयस्' नामक आत्ममन की कामना–सहजेच्छा–से बलपरम्परा रसाधाररूपेण नैसर्गिकभाव से ग्रन्थिबन्धन–ग्रन्थिविमोक–लक्षणा सिसृक्षा (सृष्टि–इच्छा)–मुमुक्षा (मुक्ति–इच्छा) के द्वारा व्यक्त–अव्यक्तरूप में परिणत होती रहती है, जिस इस सहज व्यक्ताव्यक्त–पुन व्यक्त–पुन अव्यक्तादिपरम्परा में सम्वत्सरानुगत दिग्देशकालचक्रमयी का कोई नियमन नहीं है । सहज स्वभाव है यह बलपरम्परा का, जिस परम्परा की मूलभूता सिसृक्षा मुमुक्षा से अनुप्राणित सग और लयपरम्परा के सम्बन्ध में कब ?, कैसे ?, कब तक ?, किससे ?, इत्यादि प्रश्न उपस्थित ही नहीं हो सकते । सहजेच्छानुसार हमें बुभुक्षा लगती है, सहजभाव से प्रातः भोजन कर लेते हैं । इसी सहजेच्छा से सायङ्काल का भोजनकर्म्म सम्पन्न बन जाता है । विश्रामेच्छा से शयन में प्रवृत्त हो जाते हैं । इत्यादिरूप से हमारे सहजेच्छानिबन्धन सभी सहजकर्म्म सहजरूप से 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' रूप से प्रक्रान्त बने रहते हैं । इन सहज कर्म्मों के सम्बन्ध में कभी कब इच्छा हुई ?, किसने इच्छा की, इत्यादि प्रश्न उपस्थित नहीं होते । होता है सब कुछ इच्छापूर्वक (उपस्थिताकांक्षारूपा कामनापूर्वक) ही, सर्वथा व्यवस्थित–मर्य्यादितरूप से ही । किन्तु इच्छा करने वाले स्वय हम भी इस इच्छा के सहज कामना के–सन्बन्ध में कभी उक्त प्रश्न–जिज्ञासा–समाधानादि के अनुगामी बनते हैं, ऐसा कभी अनुभव नहीं होता । अतएव हम अपनी इस सहेच्छा के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि,—"जो हम इस इच्छा के अध्यक्ष–मूलप्रवर्त्तक हैं, वे हम भी इस इच्छानुगत इन सर्गप्रश्नपरम्पराओं को जानते, अथवा नहीं जानते, यह कौन कह सकता है" । इसप्रकार इस कामनालक्षणा सहज इच्छा के 'याथातथ्येनार्थान् व्यदधात्-शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' (ईशोपनिषद्) इत्यादिरूप से शाश्वत सहजभाव को व्यक्त करने मात्र के अभिप्राय से ही ऋषि ने 'योऽस्याध्यक्ष परमेव्योमन्–सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद" ये उद्गार प्रगट किए हैं । जिनका कदापि यह तात्पर्य नहीं है कि, 'स्वयं विश्वकर्त्ता विश्वेश्वर भी जानते हैं, अथवा नहीं, इसमें सन्देह है' । क्योंकि अन्य श्रुतियों के द्वारा सर्वथा सहजधा इस सहज कामना का विस्तार से विश्लेषण हुआ है । कामनारूपा सहजेच्छा ही अपने सहजभाव के कारण 'निष्कामभाव' कहलाया है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि, 'निष्कामकर्म्म किया नहीं जाता, अपितु निष्कामकर्म्म तो होता है" । यही गीताप्रतिपादित बुद्धियोगरहस्यार्थ है । ऐसी कामनालक्षणा इच्छा आसक्तिपाशबन्धन से असंस्पृष्टा रहती हुई सर्वथा अबन्धना है, जबकि इच्छालक्षणा एषणा आसक्तिपाशबन्धनप्रवर्त्तिका बनती हुई सबन्धना घोषित हुई है । इन दोनों सहज–कृत्रिम–कामना–इच्छा-सम्बों के स्वरूपभेद को लक्ष्य बना कर ही हमें मन्त्रोक्त सृष्टिमूल की मीमांसा में प्रवृत्त होना चाहिए ।

(७)—सृष्टिमूलानुगता पञ्चमन्त्रस्वरूपदिशा का सङ्क्षिप्त स्वरूपपरिचय—

(१–२)—"किस महावन के किस महावृक्ष को काट–छाँट कर द्यावापृथिवीरूप महाविश्व बना दिया गया" ?, यह प्रश्न हुआ है ऋक्संहिता में, जिसका उत्तर इस रूप से उपलब्ध हुआ है हमें तैत्तिरीयब्राह्मण में कि—"ब्रह्मरूप महावन के ब्रह्मरूप महावृक्ष को काट–छाँट कर ही द्यावापृथिवीरूप

'आलम्बन'* कहेंगे, जिसके लिए ऋक्संहितामें—" किंस्विदासीदधिष्ठानम् ? " इत्यादि रूप से 'अधिष्ठान' शब्द प्रयुक्त हुआ है। तटस्थ आधार, एवं सहयोगी आधार, रूपसे हम आधार, किंवा आलम्बनरूप अधिष्ठान को दो भागों में विभक्त मान सकते हैं। पार्थिव धरातल घट का तटस्थ–पारम्परिक आधार है। एवं अवयवदृष्ट्या सर्वथा विकम्पित–परिभ्रममाण, किन्तु अवयवी–दृष्टया सर्वथा अविकम्पित, अतएव × अनेजदेजत् अलातचक्र घट का सहयोगी–साक्षात्–आधार है। तटस्थभावात्मक आधार की तटस्थता के कारण, एवं अन्ततोगत्वा 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं–मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छां०उप०६।१।१) के अनुसार मृण्मय घट का विलयनस्थान बनने के कारण (जिस विलयन को वस्तु का बन्धनविमोक–मुक्ति–कहा जाता है) 'मुक्तिसाक्षी आधार' कहा जायगा। एवं सहयोगात्मक साक्षात् आधारभाव के कारण अलातचक्र को 'सृष्टिसाक्षी आधार' माना जायगा। विश्वाधार–गगनसदृश उस उभयविध आधार का नामकरण हुआ है महर्षियों की भाषा में आनन्दविज्ञानघन मन.प्राणवाग्रूप–पञ्चकोशात्मक–अव्ययपुरुष, जो गीता में 'परपुरुष' नाम से उपवर्णित हुआ है। आनन्दविज्ञानमनोघन अव्ययात्मा पार्थिव तटस्थ धरातल से समतुलित मुक्तिसाक्षी तटस्थ आधार है, एवं मन.प्राणवाग्रूप अव्ययात्मा अलातचक्र से समतुलित सहयोगी धरातल है। मनका विकम्पित रूप ज्ञानसहकृता 'कामशक्ति' (काम–कामना), प्राण का विकम्पित रूप 'क्रियाशक्ति' (तप), एवं वाक्का विकम्पित रूप 'अर्थशक्ति' (श्रम), तीनों की समष्टि अवयवस्थानीया है, एजद्भावापन्ना है। इसका उक्थ–ब्रह्म–साम (प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण) रूप मूल आत्मा मनःप्राणवाक् की समष्टिरूप अवयवी है, जो सर्वथा स्थिर रहता हुआ अनेजत् है। इस मन.प्राणवाग्रूप आत्म (सृष्टिसाक्षी आत्म) लक्षण अनेजद्भावरूप अवयवी से अभिन्न काम–तप–श्रमरूप एजद्भावापन्न अवयवत्रयी ही अनेजदेजद्रूप सृष्टिसाक्षी धरातल है, जैसा कि–निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है—

---

* एतदालम्बनं श्रेष्ठ, एतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
(परम्–अव्ययात्मकम्–'पर' अव्यय, तद्रूपमालम्बनमेव परमालम्बनम्)
कठोपनिषत् १।२।१७।

× अवयवगति, अवयवीगति, उभयगति, भेद से लोकगतियाँ त्रिधा विभक्त हैं। सम्वत्सरचक्रगति–रथचक्रगत्यादि उभयगति के उदाहरण हैं। इनमें अवयव–अवयवी दोनों गतिशील हैं। रथारूढ अश्वारूढ–वाष्पशकटारूढ हमारी गति केवल अवयवगति के उदाहरण हैं। हमारे अवयव स्थिर हैं, किन्तु समष्टिरूप से हम पूर्वदेशपरित्यागानुगत–उत्तरदेशसंयोगरूपा गति के फलभोक्ता बन रहे हैं। अलातचक्रगति केवल अवयवगति है। अवयव चल रहे हैं। समष्टिरूप चक्र कीलक पर सर्वथा स्थिर है। अतएव इसे अवयवदृष्ट्या एजत् (कम्पनशील), समुदायदृष्ट्या अनेजत् (अविकम्पित) कहा जा सकता है।

विश्व है, जिसके मूलान्वेषण में प्रवृत्त होने का हम दुःसाहस ही क्या, असम्भव साहस करने की धृष्टता कर रहे हैं। परात्परस्प विश्वातीत ब्रह्म 'किंस्विद्वनम्?' का उत्तर है। सहस्रवल्शात्मक अश्वत्थब्रह्म 'क उ स वृक्ष आस?' का समाधान है। एवं एकवल्शात्मक विश्व 'यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु' की स्वरूपव्याख्या है, एवं यही विश्वमूलविषयक पाँचों मन्त्रों में से प्रथम–द्वितीय–मन्त्रों की सत्यपूर्णा रहस्यदिशा की रूपरेखा है।

(३)—तृतीय मन्त्र की स्वरूपदिशा स्पष्ट है। प्रत्येक नवीन निर्म्माण में, नवीन कार्य्य में आधार, निमित्त, उपादान, विविधचेष्टा, आदि अनेक कारणों की अपेक्षा मानी गई है। कार्य्य के प्रति एक कारण की कारणता नहीं है। अपितु 'कारणसमुदायस्य कार्य्यं प्रति कारणत्वम्' के अनुसार प्रत्येक कार्य्य के स्वरूपसम्पादन के लिए अनेक कारण अपेक्षित बना करते हैं। उदाहरण के लिए लोकप्रजापति (कुम्भकार–घटादिनिर्म्माता कुम्हार) के घटकार्य्य को ही लक्ष्य बनाइए। जिस पार्थिव धरातल पर लौहकीलानुगत अलातचक्र (कुम्हार का चाक) प्रतिष्ठित रहता हुआ द्रुतवेग से परिभ्रमण करता रहता है, उस लौह कीलक का आधार पार्थिव धरातल भी घटकार्य्य का कारण बना हुआ है। स्वयं अलातचक्र भी कारण है। प्रजापति की कारणता तो स्पष्ट है ही। चक्रविवर में समाविष्ट दण्ड भी कारण है। चीवर (वस्त्र की लीर), सूत्र (जिससे चक्रस्थित मृण्मय घटादिपात्र पृथक् कर भूमि पर रख दिए जाते हैं) भी कारण है। जिस मिट्टी से घट बनता है, उसकी कारणता तो प्रत्यक्षत्म है ही। मिट्टी को पिण्डमान बनाने वाले पानी की भी कारणता स्पष्ट है। मिट्टी को अन्य स्थान से वहन कर लाने वाला रासभराज (गर्दभ) भी कारणता से पृथक् नहीं किया जा सकता। जिस वायु–आतप (धूप) से घड़े शुष्क बनते हैं, उन वायु–आतपभावों को भी कारणसीमा में ही अन्तर्भूत माना जायगा। जिस अलाव (हाव) में प्रचण्डाग्नि से घटकपालाध्वंसपूर्वक घटकपालों को परिपक्व कर घट का अन्तिम कार्य्य सम्पादन किया जाता है, उस अलाव–ताप को भी कारण माना ही जायगा। इस प्रकार अनेक कारणों के एकत्र समन्वित होने पर ही 'घट' रूप एक कार्य्य का स्वरूप सम्पन्न होता है। तृतीय *मन्त्र ने 'विश्व' कार्य्यरूप इस एक कार्य्य से सम्बन्ध रखने वाले* अनेक कारणों में से कुछ एक मुख्य कारणों की ही जिज्ञासा अभिव्यक्त की है, जिसका लोकप्रजापति की उक्त कारणता के माध्यम से निम्न लिखित रूप से समन्वय किया जा सकता है।

घट के निर्म्माणकार्य्य में एकान्ततः स्थिरभावापन्न पार्थिव धरातल, एवं अवयवदृष्ट्या अस्थिर, अवयवी की दृष्टि से स्थिर (अतएव स्थिर–अस्थिर–अचल–चल–अविकम्पित–विकम्पित–) अनेजदेजत् अलातचक्र धरातल, ये दो आधार हैं घटकार्य्य के। इन दोनों आधारों को हम उपनिषत् के शब्दों में

शक्ति का उदय ही सम्भव नहीं है। अक्षर को, किंवा अक्षर की अव्ययात्मानुषंगिनी मनःप्राणवाङ्मयी ज्ञानक्रियार्थशक्तित्रयी को मूल धनाकर ही स्वरूप से जड़ भी बना हुआ क्षर उसी प्रकार विश्वका उत्पादकरूप उपादानकारण बन जाता है, जैसे कि कुम्भकार की शक्तित्रयी से युक्त बन कर अलातचक्ररूप मृत् पिण्ड घटोत्पादनरूप उपादानकारण बनन में समर्थ होजाता है। अतएव कथासीत्! प्रश्न के समाधान में हमें अक्षरविशिष्ट क्षर की क्रियाशीलता को ही समुपस्थित करना पड़ेगा, जिसके द्वारा उपादानकारण के साथ साथ निमित्तकारणजिज्ञासा का भी समाधान स्वतः एव समन्वित होजाता है। क्रियाशीलता वस्तुतः अक्षर की ही है। अतएव उपनिषदोंने अक्षर को ही निमित्तकारण घोषित किया है। देखिए!

> यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ॥
> यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥१॥
>
> —मुण्डकोपनिषत् १।७।
>
> यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
> तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥२॥
>
> —मुण्डकोपनिषत् ।१।

अधिष्ठान, निमित्त, और आरम्भण, ये तीन मुख्य कारण माने गए हैं कार्य्य की सर्वतः-भूरूपता-सम्पादन के लिए। शेष कारण गौण हैं, जो इस मुख्य कारणत्रयी के एकत्र समन्वित हो जाने से स्वतः समन्वित हो जाते हैं। अतः श्रुति ने विश्वमूलजिज्ञासा से इन तीन मुख्य कारणों का ही दिग्दर्शन कराया है। इन तीनों कारणों का पूर्वप्रतिपादिता दोनों मन्त्रश्रुतियों के केवल 'ब्रह्म स भूत आस' इस पद से सम्बन्ध है। 'ब्रह्म परमम्' रूप मायातीत, अतएव सर्वातीत अतद्व्यावृत्त परात्पर इस त्रिविध कारणतावाद से सर्वथा असंस्पृष्ट ही है। इस परात्पररूप महावन के मायोपाधिक महावृक्ष (ब्रह्माश्वत्थ) का अमृतलक्षण अव्ययात्मा ही अधिष्ठान है, ब्रह्मलक्षण अक्षरात्मा (परप्रकृति) ही निमित्त है, एवं शुक्रलक्षण क्षरात्मा (अपराप्रकृति) ही उपादान है। इन तीनों की समष्टिरूप एकात्मरूप 'सर्व-सदेकमयमात्मा लक्षण मायी महेश्वर ही वह विश्वकर्म्मा है, जिसके अन्तिम पर्वरूप शुक्रात्मक क्षरपर्व से ही अव्यक्त स्वयम्भू के द्वारा वितानरूप महिमा के माध्यम से त्रैलोक्य त्रिलोकीरूप उस महाविश्व का वितान हुआ है, जिसके भूः-भुवः-स्वः-महस्-जनत्-तपः सत्यम् ये सात पर्व प्रसिद्ध हैं। इसी सप्त-पर्व से सप्तवितस्तिकाय बने हुए सर्वद्रष्टा, सर्वकर्म्मा (आरम्भण-निमित्त-अधिष्ठानरूपा कारणत्रयी से सर्वकर्म्मा) विश्वकर्म्मा प्रजापति इस रूप ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित होते हुए अपनी 'पूर्णपुरुष' अभिधा को अन्वर्थ बना रहे हैं। यही तृतीय मन्त्र की संक्षिप्त स्वरूपदिशा की रूपरेखा है, जिसका महर्षि श्वेता-श्वतर के शब्दों में निम्नलिखितरूप से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है—

> किं कारणं ब्रह्म कुतस्म जाता जीवाम केन क्वच सम्प्रतिष्ठाः ॥
> अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥

(१)—अयं वा इदं नाम-रूपं-कर्म्म । तेषां नाम्नां 'वाक्' इत्येतदेषामुक्थम् । अतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति । एतदेषां साम । एतद्धि सर्वैर्नामभिः समम् । एतदेषां ब्रह्म । एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥ अथः रूपाणां चक्षु (प्रज्ञानेन्द्रात्मक मनः) इत्येतदेषां-उक्थ-साम-ब्रह्म ॥ अथ कर्म्मणां—आत्मा (प्राणमय) इत्येतदेषामुक्थ ब्रह्म साम ॥ तदेतत् त्रय सत्—एकमयमात्मा । आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम् । तदेतदमृत सत्येन (नामरूपकर्म्मात्मकसत्यभावापन्नविश्वेन) छन्नम् । प्राणो वा (मन प्राणवाङ्मयो वा आत्मा) अमृतम् । नामरूपे (कर्म्म च) सत्यम् । ताभ्यामय प्राणश्छन्न ॥

—शत० ब्रा० १४।४।४।१ से ४ पर्य्यन्त

(२)—सवा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमय । सोऽकामयत (मनसा), स तपोऽतप्यत—(प्राणेन) सोऽश्राम्यत् (वाचा) । (शत० ब्रा० १४।४।३।१०)

आनन्दविज्ञानमनोरूप यही मुक्तिसाक्षी अव्ययात्मा तटस्थ धरातल, एवं मन प्राणवाग्रूप यही सृष्टिसाक्षी अव्ययात्मा सहयोगी धरातल, दोनों क्रमशः धर्मसर्गवत् सर्वथा स्थिर पार्थिव धरातल, एवं अनेकदेवद्भावापन्न अज्ञातत्वकधरातल से समतुलित । और यही 'इस विश्व का अधिष्ठान (आलम्बनकारण) कौन?' इस प्रश्न का संक्षिप्त समाधान ।

अब क्रमप्राप्त दूसरा प्रश्न उपस्थित हुआ—'आरम्भणं कतमत्स्वित्, कथासीत् ?' यह । घट कार्य्य में जो स्थान उपादानकारणभूता मृत्तिका (मिट्टी) का है, वह स्थान यहाँ विश्वकार्य्य में किसका है ?, विश्व का उपादानकारण कौन है, और वह कैसा है ?, यही इस प्रश्न का अक्षरार्थसमन्वय । अधिष्ठानरूप अव्ययात्मा के सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाग्रूप अनेकदेवत्—धरातल पर प्रतिष्ठित इस साक्षी पुरुष के पराप्रकृतिरूप अक्षर के मन प्राणवागनुगत पूर्वोक्त काम-तपः श्रमात्मक * 'ज्ञान-(ज्ञानशक्ति)-बल-(अर्थशक्ति)-क्रिया (क्रियाशक्ति) ' भावों से अपराप्रकृतिरूप क्षर के द्वारा ही वैज्ञानिक पञ्चजन-पुरञ्जन-रूप से पुरात्मक विश्व का स्वरूपनिर्माण हुआ है । कौन ?, का समाधान है—अपराप्रकृतिरूप 'क्षर' । यही 'कतमत्स्वित् ?' का समाधान है । 'कथासीत् ?' (वह उपादान कारण कैसा है ?) इस प्रश्न के गर्भ में लोकप्रजापति (कुम्भकार) अनुबन्धिनी निमित्तकारणजिज्ञासा अन्तर्निगूढ है । परा प्रकृतिरूप अक्षर से नित्य सम्बद्ध होकर ही अपराप्रकृतिरूप क्षर कतमत्स्वित् ? प्रश्न का समाधान करता है । बिना अक्षर के क्षर की उपादानता में कार्य्यानुगता कामतप श्रममूला ज्ञानबलक्रियात्मिका कर्तृत्व

---

* न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल क्रिया च ॥
श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१२।

स्वरूपनिर्म्माण हुआ है *। स्वायम्भुव सूत्रलक्षण, उपनिषदों में 'सूत्रात्मा' नाम से प्रसिद्ध (शत० ब्रा० १४।६।७।२।) सूत्रवायु से ही सातों भुवनों के सातों प्रथग्यभागों का परस्पर-'प्रहितां संयोग-प्रयुता संयोगाः,' रूप परस्पर आदानप्रदान हुआ करता है। पार्थिव कपाल में उपलिप्त क्षाररसात्मक घन आग्नेयप्राण ही पार्थिव भूतों का आधार बना रहता है, जिसे-'अथ यद्रसदिव-स रासभोऽभवत्' (शत० ब्रा० ६।१।१।२) इत्यादि रूप से 'रासभप्राण' कहा है, जिस प्राण के प्राधान्य से तदादन्याय से गदर्भ पशु भी 'रासभ' कहलाया है, जो पार्थिव आग्नेय मृण्मयभूत का आधार बना करता है। स्वायम्भुव अन्तर्य्यामी का नियतिदण्ड ही यह दण्ड है, जिसकी प्रेरणा से अलातचक्रात्मक सौर पार्थिव चान्द्रसम्वत्सर-चक्रत्रयी परिभ्रममाण है। इस प्रकार लौकिक प्रजापति कुम्भकार के घट निर्म्माणकर्म्म में जो जो गौण मुख्य कारण समाविष्ट हैं, उन सबका अलौकिक प्रजापति त्रिभुवनविधाता के कारक समुदाय के साथ भी समतुलन हो रहा है। सम्भवतः इसी आधार पर 'घटानां निर्म्मातुस्त्रिभुवन विधातुश्च कलहः' इत्यादि सूक्ति का आविर्भाव हुआ है। लोकमान्यतामें प्रजासर्गाधारभूत दाम्पत्य भावस्वरूपसम्पादक परिणय (विवाह) कर्म्म में सम्भवतः इसी आधार पर प्रजापतिचक्र का (कुम्हार के चाक का) का पूजन विहित हुआ है। तालिका से दोनों के कारणों का सम-समन्वय समतुलित हो रहा है। देखिए !

अलौकिक		लौकिक		
१—अव्ययात्मा	—	—पार्थिवधरातलानुगृहीत अलातचक्र	— (अधिष्ठानकारण)	मुख्यकारणानि
२—अक्षरात्मा	—	—कुम्भकार	— (निमित्तकारण)	
३—क्षरात्मा	—	—मृण्मयपिण्ड	— (उपादानकारण)	
४—स्वायम्भुवसूत्रात्मा	—	—कच्चा सूत		गौणकारणानि
५—स्वायम्भुवनियतिदण्ड		—काष्ठदण्ड		
६—पार्थिवकपालरस	—	—रासभ		
७—पारमेष्ठ्यआप	—	—पानी		
८—सत्याग्नि	—	—हाथ का अग्नि		
९—सौराग्नि	—	—सौरताप (आतप)		
अलौकिकप्रजापतिः	—	—लोकप्रजापतिः		
विश्वकर्त्ता	—	—घटनिर्म्माता		

* अप्सु त मुख भद्र ते लोका अप्सु प्रतिष्ठिताः ।
आपोमया सर्वरसा सर्वमापोमय जगत् ॥
—महाभारत

उद्गीथमेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरञ्च ॥
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥२॥
संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ॥
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥३॥
ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम् ॥
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं—ईशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥४॥
यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ॥
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥५॥
स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी यः सर्वविद्य ॥
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः * ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत्

उक्त तीन मुख्य कारणों से—जो लोकप्रजापति कुम्भकार के घटनिर्म्माणकर्म्म के पार्थिवचक्रावलम्बानुगृहीत प्रशान्तचक्रधरातल (अधिष्ठान), स्वयं कुम्भकार (निमित्त), एवं प्रशान्तचक्र मध्य में पिण्डरूपेण अवस्थित आर्द्र मृत्पिण्ड (आरम्भण), इन तीन लौकिक कारणों से समतुलित हैं, विश्वकर्म्मा बने हुए अमृत-ब्रह्म—शुक्रात्मक अव्यय—अक्षर—क्षरस्वरूप त्रिपुरुषपुरुषात्मक षोडशीप्रजापति ही विश्व के सर्वस्व बन रहे हैं, जैसा कि निम्नलिखित अन्य वचनों से भी प्रमाणित है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ॥
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥१।
या ते धामानि परमाणि यावमा यामध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा ॥
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधा वः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥

—ऋक्संहिता १०।८१।३,५।

'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम्' (गोपथब्राह्मण) के अनुसार भृग्वङ्गिरोलक्षण आपोमय ऋततत्त्व ही शुक्रात्मक यह अप्तत्त्व (पानी) है, जिसकी—'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' (ईशोपनिषत्) रूप से 'मातरिश्वा' नामक पिण्डस्वरूपसम्पादक आदि—पञ्च—श्वेत—ब्रह्म—एमूष—नामक पञ्चविध स्वायम्भुव—पारमेष्ठ्य—सौर—चान्द्र—पार्थिव इन पञ्चवराहवायुओं के द्वारा ऋग्यजुःसामलक्षण वेदरूप सत्याग्नि में (ब्रह्माग्नि में) आहुति होती रहती है, एवं जिस आहुति से ही सप्त आपोमय भुवनों का

---

* स एव मोक्षहेतुः—अमृतरूपाव्ययात्मदृष्ट्या—अधिष्ठानकारणदृष्ट्या वा । स्थितिहेतुः—अक्षररूपाक्षरात्मदृष्ट्या—निमित्तकारणदृष्ट्या वा । बन्धहेतुः—शुक्ररूपक्षरात्मदृष्ट्या—आरम्भणकारणदृष्ट्या वा ।

बुद्धिवादी मानव "इसका यह उक्थ (मूलकारण) है, इसका अमुक मौलिक रहस्य है, इसे हमने यों जान लिया है, त्यों जान लिया है" इस प्रकार काल्पनिक रूप से अपने कारणताज्ञान की निरर्थक घोषणा किया करते हैं। चले हैं हम विश्वमूल का वर्णन करने, एवं विदित नहीं है हमें स्वयं अपना यह सीमित योगमायानिबन्धन स्वरूप ही *। कैसी प्रतारणा कर रहे हैं हम अपने बुद्धिवाद के अतिमान में पड़ कर अपने आपकी ही। मूलकारणरूप परात्पर के किसी एक अत्यंशतम भाग में महामायावच्छिन्न मायी अश्वत्थेश्वर प्रतिष्ठित, जिसकी एक सहस्र शाखा। प्रत्येक शाखा में स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–पृथिवी– ये पाँच पुण्डीर। पांचों में पाँचवें पार्थिव पुण्डीर के अमुक अंश के अमुक स्थान में मानव की अमुक सीमिततमा स्वरूपसत्ता। और ऐसा यह सीमिततम मानव उस मूलकारण के अद्धा परिज्ञान का अतिमान करे, इससे अधिक इसका और क्या विमोहन होगा ?। मानव के इसी आत्मातिमानलक्षण आत्मविमोहन का उच्छेद कराती हुई श्रुति कहती है—'को अद्धा वेद ?'।

मान लेते हैं अतीतानागतज्ञ अतिमानव महर्षियोंने उस मूल कारण का स्वरूप 'अद्धा' जान लिया है। किन्तु क्या उन्होंने जिस रूप से अपने अन्तर्जगत्में उसे जाना है, उसी रूपसे वाणी के द्वारा उसका वर्णन भी होसकता है ?, असम्भव। इसलिए असम्भव कि, वैखरी वाणी उस असीम का उपवर्णन कर ही नहीं सकती। यह तो स्वानुभवैकगम्य तत्त्व है। इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए ऋषि मानव का यह उद्बोधन करा रहे हैं कि, तुम उसे भी जान सकते हो, जबकि एकान्तनिष्ठ बन कर तुम सदा तत्त्वानुशीलनपरायण बने रहो। यदि लोकैषणात्मिका बुभुक्षा के पाश में आबद्ध होगए, तो कभी उसे न जान सकोगे। 'क इह प्रवोचत्' से यही परोक्ष उद्बोधनसूत्र व्यवस्थित हुआ है। कहाँ से, किस उपादानकारण से यह विश्वसृष्टि आई है ? (कुत आजाता ?), एवं कहां से–किस निमित्त कारण से यह सृष्टि हुई है ? (कुत इयं विसृष्टिः ?), इत्यादि उपादान–निमित्तकारणरूप सभी प्रश्न दुरधिगम्य हैं, जो उन मायादेवताओं के लिए भी अज्ञात हैं, जो सृष्टिक्रम के गर्भ में उत्पन्न होने से अर्वाचीन हैं। इस प्रकार यह विश्व किसके आधार पर किस निमित्त से किस उपादान से कैसे समुत्पन्न हो गया ?, इत्यादि सभी प्रश्नपरम्पराएँ अज्ञातवत् ही प्रमाणित हो रहीं हैं। स्वयं प्रजापति तो जानते होंगे इस अपने सृष्टि कारण रहस्य को ?, श्रुति उत्तर देती है—'सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद'। इस वाक्य का क्या मौलिक अभिप्राय है, यह पूर्व में स्पष्ट किया ही जा चुका है—(देखिए पृष्ठसंख्या १३७।)। यही सृष्टिमूल– विषय की पञ्चमन्त्रसमष्टि की स्वरूपदिशा का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है, जिसे आधार बना कर ही हमें *विश्वस्वरूपमीमांसा में प्रवृत्त होना है।*

---

* न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि ॥
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥
—ऋक्संहिता १।१६४।३७ (अस्यवामीयसूक्त)

(४-५)—यह ठीक है कि, मानवीय बुद्धि विश्वमूल के अन्वेषण में प्रवृत्त होती हुई अमुक अंशों में कारणतान्वेषणा में शास्त्रनिष्ठा के माध्यम से आंशिक सफलता प्राप्त कर लेती है। किन्तु यह निश्चित है कि, इस बुद्धिविशेष मूलकारणतावाद का वैखरीवाणी से विस्पष्टरूप से (अथवा) स्वरूपविश्लेषण कर देना कठिन है। यह तो केवल अपनी प्रज्ञा की अनुभूति का ही विषय है। जाना जा सकता है, सो भी स्वरूपबुद्ध्या ही। इसीलिए तो प्रथम-द्वितीयमन्त्रों में— 'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु'- 'मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो' (मन से ही पूछो, मन से ही बतला रहा हूँ) यह घोषणा हुई है।

'इदमित्थमेव नान्यथा' इस निर्णयबुद्धिरूप से उस विश्वमूल का सम्यक् परिज्ञान सम्भव बन भी कैसे सकता है, जबकि उसका वास्तविक मूल प्रतिष्ठित है मायातीत अत्यनपिनद्ध उस परात्पर में, जिसे + वाङ्मनसपथातीत माना जारहा है। हमारी (मानव) सत्ता का विश्वगर्भ में क्या स्वरूप है, क्या महत्त्व है ?, यह भी हम अपने अन्तर्जगत् में अनुभव कर रहे हैं। एक स्थान पर श्रुति ने हमारी इस उक्थशास्त्वृत्ति (कारणोद्घोष) का उपहास ही करते हुए हमारा (मानवीय बुद्धि का) इस प्रकार उद्बोधन कराया है कि—

* न त विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ॥
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
—ऋक्संहिता १०।८२।७।

"जिस विश्वकर्मा प्रजापति ने इन सम्पूर्ण भूत-भौतिक-विश्वप्रपञ्चों को उत्पन्न किया है, उसका वास्तविक स्वरूप तुम नहीं जानते, नहीं जान सकते। (जिसे तुम अपना जाना हुआ कहते हो, वह तो तुम्हारे इस परिज्ञान से कहीं विलक्षण तत्त्व है। अतएव) तुमने तो और ही कुछ जान रक्खा है। उसी के आधार पर तुमने अपने मन में यह मान लिया है कि, हमने सब कुछ जान लिया है, पहिचान लिया है। जिस प्रकार एक व्यक्ति नीहार (कोहरा) से आक्रमन्तात् आच्छन्न-अभिभूत बना रहता हुआ आत्मविस्मृत होकर हक्का-बक्का भौंचक्का बन जाता है, ठीक ऐसी ही स्थिति से अभिभूत बने हुए हम

+ — सविदन्ति न य वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥
—तै० उपनिषत् १।४।१।

* किमीहः किंकाय स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम् ।
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ॥
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः ।
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥
—पुष्पदन्त

एवं उस अवस्था में परस्पर विरुद्ध प्रतीयमान सनातन सिद्धान्तों के कारण उत्पन्न संशयपरम्परा का भी सर्वात्मना मूलोच्छेद हो जाता है। एवं तदवस्था में विश्वमूलविषयिणी जटिल प्रश्नपरम्परा सर्वथा सहज रूप से समाहिता बन जाती है। कहीं आत्मा को निर्लेप बतलाया जा रहा है, तो कहीं उसे विश्वाधार माना जा रहा है। कभी आत्मा को अनाद्यनन्त घोषित किया जा रहा है, तो कभी आत्मा को जन्ममृत्यु-प्रवाह से आक्रान्त बतलाया जा रहा है। कहीं आत्मा निष्काम-विश्वातीत-अखण्ड-अद्वय-निरञ्जन-निर्गुण-रूप से उपवर्णित है, तो अन्यत्र आत्मा को सकाम-विश्वेश्वर-सगुणरूप से निरूपित किया जा रहा है। यदि आत्मा व्यापक है, तो उसमें कामना कैसी ?। कामना नहीं तो विश्वसर्ग कैसे ? और क्यों, किससे ?। यदि आत्मा ही विश्वसर्ग का मूल है, तो इस कामभाव के कारण वह व्यापक नहीं। क्योंकि-अप्राप्तवस्तु की प्राप्ति के लिए ही इच्छा हुआ करती है। 'सोऽकामयत' इत्यादि रूप से इच्छा ही यह प्रमाणित कर रही है कि, आत्मा व्यापक नहीं है। यदि आत्मा इस प्रकार व्यापक नहीं है, तो फिर- 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि अद्वैतप्रतिपादक अन्य निगमवचनों का समन्वय कैसे ?, किस आधार पर ? इत्यादि इत्यादि शत-सहस्र-प्रश्नपरम्पराओं के आविर्भाव-तिरोभाव का एकमात्र मुख्य कारण आत्मस्वरूप के बोध का अभाव, एवं आत्ममहिमारूप विभूतिस्वरूप का न जानना ही है। सर्वथा विभक्त-सर्वात्मना सुव्यवस्थित बलसम्बन्ध-तारतम्यानुबन्धी आत्मस्वरूपपरिज्ञान के अनन्तर (जिस परिज्ञान का आधार वह 'अक्षर' है, जो अव्यय तथा क्षर के मध्य में प्रतिष्ठित रहने के कारण 'सेतु' नाम से प्रसिद्ध है, 'पर' नामक अव्ययपुरुष से अवरस्थान में प्रतिष्ठित रहने से 'अवर', तथा अवर', नामक क्षरपुरुष से परस्थान में प्रतिष्ठित रहने से 'पर', तदित्थं 'परावर' नाम से प्रसिद्ध है। इस 'परावर' नामक अक्षर के परिज्ञान के अनन्तर) यच्च यावत् संशय-परम्पराओं का आमूलचूड निराकरण होजाता है, जैसाकि उपनिषच्छ्रुति कहती है—

> भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
> क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥
>
> —मुण्डकोपनिषत् २।२।८।

(ε)—षोडशीपुरुष की त्रिविधा सृष्टि—

भौती उपनिषदों का सुविशद निरूपण करने वाली स्मार्त्ती उपनिषत् ने (श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषत् ने) इसी विभक्त-व्यवस्थित दृष्टिकोण के माध्यम से त्रिपुरुषस्वरूपविश्लेषणपूर्वक ही निगमागम सिद्धान्तों का बड़े ही कौशल से समसमन्वय किया है, जिस अभूतपूर्व कौशल से गीताशास्त्र परतःप्रमाण बनता हुआ भी लोकमान्यता में स्वतःप्रमाण प्रमाणित हो रहा है। पुरुषत्रयी की विस्पष्ट शब्दों में घोषणा करती हुई गीतोपनिषत् कहती है—

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ॥
> क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१॥

(८)—विश्वसर्गनिबन्धन संशयों की आपातरमणीयता—

पूर्वप्रदर्शिता पञ्चमन्त्राध्यायानुगता विश्वमूलमीमांसा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, इस पाञ्चभौतिक महाविश्व का मूल, किंवा मूलाधार विश्वकर्मा–विश्वेश्वर–सर्वकर्मा–षोडशीप्रजापति–'त्रिपुरुषपुरुषात्मक' है। एवं इस पूर्ण पुरुष के तीनों मूलपर्व (कारणपर्व) क्रमशः 'अव्यय–अक्षर आत्मक्षर' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, जिनके स्वरूपोपबृंहण में ही समस्त वाङ्मयप्रपञ्च (सम्पूर्ण निगमागम-शास्त्र) उपक्रान्त है। 'आनन्द–विज्ञानघना–मनोमयी–प्राणगर्भिता वाक्' पञ्चकोशात्मिका वह वाग्देवी है, जिससे अव्ययपुरुष 'कृतकाय' बने हुए हैं। यही पञ्चकोशात्मक अव्ययात्मा विश्वसर्ग के अधिष्ठान (आधार–आलम्बन) बन रहे हैं, जो श्रुति के—'किंस्विदासीदधिष्ठानम् ?' की समाधानभूमि हैं। 'ब्रह्मा–विष्णुघन–इन्द्रमय–सोमगर्भित–अग्नि'-मूर्ति–पञ्चामृतमूर्ति–पञ्चकल–अक्षरपुरुष ही (जिसे अव्ययपुरुष की 'पराप्रकृति' माना गया है) विश्वसर्ग के निमित्त कारण बन रहे हैं, जिस अक्षरानुगता निमित्तकारणता का 'तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते' इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से समर्थन हुआ है, एवं संहिताश्रुति ने जिस प्रश्न का 'कथासीत् ?' रूप से जिसकी ओर संकेत किया है। 'प्राण–आपोघन–वाङ्मय–अन्नगर्भित–अन्नादमूर्ति– पञ्चमृत्युमूर्ति–पञ्च-कल क्षरपुरुष ही (जिसे अव्ययपुरुष की—'अपराप्रकृति' माना गया है) विश्वसर्ग के आरम्भण (उपादान) कारण बन रहे हैं, जो मूलश्रुति के—'आरम्भणं किमासीत् ?' प्रश्न की तात्त्विक समाधानभूमि हैं। सर्वसृष्टिसञ्चालक– परात्परसमन्वित, पञ्चकलाव्यय–पञ्चकलाक्षर-पञ्चकलक्षरसमष्टिरूप, अतएव 'षोडशीप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध *, सर्वसृष्टि–आधारनिमित्त-उपादानरूप, त्रिपुरुषपुरुषात्मक इस पूर्णेश्वर विश्वेश्वर विश्वकर्मा–प्रजापति को क्षरदृष्टि से विश्व का 'उपादान' कह सकते हैं, अक्षरदृष्टि से विश्व का 'कर्त्ता' (निमित्त) कह सकते हैं, एवं अव्यय दृष्टि से 'मूलाधार' (विश्वाधार) कह सकते हैं। क्षरोपादानरूप से वही 'विश्व' है, अक्षरकर्तृस्वरूप से वही 'विश्वात्मा' है, एवं अव्ययाधिष्ठानरूप से वही 'विश्वातीत' है। इस पारिभाषिक दृष्टिकोण के समन्वय के अनन्तर परस्परविरुद्ध प्रतीत श्रौत–स्मार्त सिद्धान्तों का सर्वात्मना सुसमन्वय हो जाता है।

---

* यस्मादन्यो न परो अस्ति जातो य आविवेश भुवनानि विश्वा ।।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ।।१।।
तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ।।२।।
पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ।। ३ ।।
— श्वेताश्वतरोपनिषत् १।४,५।

है गीताशास्त्र ने कि,–'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्-अर्द्धममृतम्' (शत०ब्रा० १०।१।३।२) इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार एक ही प्रकृति का अमृतप्रधान–अविपरिणामी भाग तो 'न क्षीयते' निर्वचन से 'अक्षर' कहलाया है, एवं इसी का मृत्युप्रधान–(अविकृतपरिणामात्मक) परिणामी भाग 'क्षीयते–क्षरति' इत्यादि निर्वचनों से 'क्षर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। अतएव अमृतरूप अक्षर, मर्त्य लक्षण क्षर, दोनों परा–अपरा प्रकृतियों (प्रकृति–विकृतियों) का 'प्रकृति', इस एक नाम से ही संग्रह कर लिया गया है, जैसा कि निम्नलिखित गीतावचन से प्रमाणित है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
"विकारांश्च–गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥

—गीता १३।१९।

अयमत्र संग्रह'—

(१)–अधिष्ठानकारणम्–अव्ययपुरुष —पुरुष ——अमृतात्मा—अतो भावसृष्टिः–(असृष्टिरूपा सृष्टिः)
(२)–निमित्तकारणम्—अक्षरपुरुष —परप्रकृति —ब्रह्मात्मा—अतो गुणसृष्टिः–(उभयसमन्विता सृष्टिः)
(३)–उपादानकारणम्- क्षरपुरुषः ——अपराप्रकृति -शुक्रात्मा——अतो विकारसृष्टिः-(सृष्टिरूपा सृष्टिः)

(१०)–सृष्टिमात्रानुगता सम्बन्धत्रयी का स्वरूपपरिचय—

अव्ययपुरुषानुगता भावसृष्टि, एवं अक्षरप्रकृत्यनुगता गुणसृष्टि, दोनों ही संसृष्टिलक्षणा सृष्टिस्वरूप-व्याख्या से असंस्पृष्ट रहती हुई अमीमांस्या ही मानी जायगी। अतएव 'विश्वस्वरूपमीमांसात्मक' प्रस्तुत परिच्छेद में क्षरविकृत्यनुगता विकारसृष्टि की ही प्रधानरूप से मीमांसा की जायगी, जिसकी स्वरूप-व्याख्या करते हुए सर्वप्रथम 'सृष्टि' शब्द को ही मीमांस्य बनाना पड़ेगा।

न्यूनतम दो, अथवा तो अनेक विरुद्ध पदार्थों का सम्बन्ध ही 'सृष्टि' का आधार माना गया है। दिग्देशकालानवच्छिन्न अनाद्यनन्त रसाधार पर प्रतिष्ठित दिग्देशकालावच्छिन्न सादिसान्त बलों का यह पारस्परिक सम्बन्ध औपनिषद विज्ञान के अनुसार विभूति–संशर–अग्निबन्धन–उपूढ–ओतप्रोत–वसुधानकोश–आवाप–आयतन–अधिष्ठान–उदार–प्रसङ्ग–आदि आदि भेदों से अनेक प्रकार का माना गया है। इन बलसम्बन्धों का सम्यक्–परिज्ञान ही सृष्टिस्वरूपविज्ञान है। उदाहरण के लिए प्रकृत में केवल दो तीन सम्बन्धों की ओर ही हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे। अन्तर्य्याम, बहिर्य्याम, उपयाम इन तीन नैगमिक सम्बन्धों का ब्राह्मणग्रन्थ में प्रतिपादित चत्वारिंशत् (४०) ग्रहात्मक सुप्रसिद्ध 'ग्रहयाग' में विस्तार से विश्लेषण हुआ है (देखिए–शतपथब्राह्मण–चतुर्थकाण्ड–ग्रहयागात्मककाण्ड)।

नितान्त भावुकतापूर्ण अतएव सर्वथा अवैज्ञानिक–'सांसिद्धिकं द्रवत्वं जलं' (नव्यन्याय ग्रन्थ) (जलका द्रवत्व प्राकृतिक है–नित्य है) इत्यादि बालसिद्धान्त का आमूलचूड (उन्मूलन) करने वाले 'अपां संघातो, विलयनञ्च–तेजःसंयोगात्' (वैशेषिक द० ५।२।८) इस सूत्रसिद्धान्त के अनुसार पानी का संघात (हिमरूप घनीभाव), एवं विलयन (द्रुतभाव), दोनों तेज संयोग पर ही अवलम्बित

उत्तम' पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृत' ॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥२॥

—गीता १५।१६,१७,।

उक्त पुरुषत्रयी के आधार पर समष्टिरूप विश्वकर्म्म (सृष्टिकर्म्म) के साथ साथ इन तीनों पुरुषों से (किंवा अव्ययपुरुष, तथा अक्षर–क्षररूपा परा–अपराप्रकृतियों से) क्रमशः तीन स्वतन्त्र सृष्टिधाराओं का विनिगमन' शास्त्रतीम्यः समाम्यः प्रक्रान्त है। अधिष्ठानकारणात्मक अव्ययपुरुष के आनन्दविज्ञान–प्राणवाक्–भावों से सीमित हृदयस्थ 'श्वोवसीयस्' नामक मन की सहज कामना से * जिस सहज स्वतन्त्र असङ्ग सृष्टिधारा का प्रवाह प्रक्रान्त है, वही 'भावसृष्टि' कहलाई है। यही अव्ययमूला असङ्ग भावसृष्टि यत्रतत्र निगमागमग्रन्थों में—'ज्ञानसृष्टि–मानसीसृष्टि–आत्मसृष्टि–ऋषिसृष्टि प्राणसृष्टि–मनुसृष्टि–आदि विविध नामों से (अपेक्षाभेद से) उपवर्णित हुई है। गीताशास्त्र ने अस्म च्छब्दवाच्य अव्यय की इस सृष्टि का निम्नलिखित रूप से विश्लेषण किया है—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमा प्रजाः ॥

—गीता १०।६।

अव्ययात्मानुगता यह भावसृष्टि अपने असङ्गभाव के कारण सर्वथा 'यथाभिच्छक्ता' (स्थानानव रोधिनी–जगह न रोकने वाली सुसूक्ष्मा) है, मानससङ्कल्पप्रधाना–सङ्कल्परूपमात्रा है। निमित्तकारणरूप अक्षरात्मा (प्रकृतात्मा) से स्वतन्त्ररूप से समन्वित सृष्टि 'गुणसृष्टि' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसके— "क्रियासृष्टि–प्राणमयीसृष्टि–देवसृष्टि–प्राकृतिकसृष्टि–तन्मात्रसृष्टि–आदि विविध भेद यत्रतत्र उप वर्णित हैं। दार्शनिक दृष्टिनिबन्धन गुण–अणु–रेणु नामकी सूक्ष्ममूलसृष्टित्रयी का भी इस गुणसृष्टि में ही अन्तर्भाव है, जिसका विशदरूप से प्रकृतिकारणमात्रवादी प्राधानिकदर्शन ('सांख्यदर्शन' नाम से प्रसिद्ध 'कणाददर्शन') में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। उपादानकारणात्मक क्षरात्मा (विकृतात्मा) से स्वतन्त्ररूप से समन्वित सृष्टि 'विकारसृष्टि' कहलाई है, जिसे—"अर्थसृष्टि–वाङ्मयीसृष्टि–भूतसृष्टि–पशुसृष्टि–प्रत्ययसृष्टि–उद्भिज्जसृष्टि–वैकारिकीसृष्टि–मैथुनीसृष्टि' इत्यादि विविध नामों से समन्वित किया गया है। पराप्रकृतिलक्षण अक्षरात्मा (प्रकृति) से सम्बद्धा गुणसृष्टि, एवं अपराप्रकृतिलक्षण क्षरात्मा (विकृति) से सम्बद्धा विकारसृष्टि, दोनों का समष्टिरूप से इसलिए संग्रह कर लिया

---

* कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

ऋक्संहिता १०।१२९।४। (नासदीयसूक्त)
(वयम्–भृगव–सौम्यप्राणा–मनीषा)

है गीताशास्त्र ने कि,–'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्-अर्द्धममृतम्' (शत०ब्रा० १०।१।३।२) इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार एक ही प्रकृति का अमृतप्रधान–अविपरिणामी भाग तो 'न क्षीयते' निर्वचन से 'अक्षर' कहलाया है, एवं इसी का मृत्युप्रधान–(अविकृतपरिणामात्मक) परिणामी भाग 'क्षीयते–क्षरति' इत्यादि निर्वचनों से 'क्षर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। अतएव अमृतरूप अक्षर, मर्त्य लक्षण क्षर, दोनों परा–अपरा प्रकृतियों (प्रकृति–विकृतियों) का 'प्रकृति', इस एक नाम से ही संग्रह कर लिया गया है, जैसा कि निम्नलिखित गीतावचन से प्रमाणित है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
"विकारांश्च–गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥
—गीता १३।१६।

अयमत्र संग्रहः—

(१)–अधिष्ठानकारणम्–अव्ययपुरुषः —पुरुषः ———अमृतात्मा—ततो मायासृष्टिः –(असृष्टिरूपा सृष्टिः)
(२)–निमित्तकारणम्—अक्षरपुरुषः —पराप्रकृतिः —ब्रह्मात्मा——ततो गुणसृष्टिः–(उभयसमन्विता सृष्टिः)
(३)–उपादानकारणम्– क्षरपुरुषः ——अपराप्रकृतिः -शुक्रात्मा——ततो विकारसृष्टिः–(सृष्टिरूपा सृष्टिः)

(१०) –सृष्टिमायानुगता सम्बन्धत्रयी का स्वरूपपरिचय—

अव्ययपुरुषानुगता मायासृष्टि, एवं अक्षरप्रकृत्यनुगता गुणसृष्टि, दोनों हीं संश्लिष्टलक्षणा सृष्टिस्वरूप व्याख्या से असंस्पृष्ट रहतीं हुई अमीमांस्या ही मानी जायगी। अतएव 'विश्वस्वरूपमीमांसात्मक' प्रस्तुत परिच्छेद में क्षरविकृत्यनुगता विकारसृष्टि की ही प्रधानरूप से *मीमांसा की जायगी,* जिसकी स्वरूप-व्याख्या करते हुए सर्वप्रथम 'सृष्टि' शब्द को ही मीमांस्य बनाना पड़ेगा।

न्यूनतम दो, अथवा तो अनेक विरुद्ध पदार्थों का सम्बन्ध ही 'सृष्टि' का आधार माना गया है। दिग्देशकालानवच्छिन्न अनाद्यनन्त रसाधार पर प्रतिष्ठित दिग्देशकालावच्छिन्न सादिसान्त बलों का यह पारस्परिक सम्बन्ध औपनिषद विज्ञान के अनुसार विभूति–संगर–ग्रन्थिबन्धन–उदूढ–ओतप्रोत–यमु धामकाश–आवाप–आयतन–अधिष्ठान–उदार–प्रसङ्ग–आदि आदि भेदों से अनेक प्रकार का माना गया है। इन बलसम्बन्धों का सम्यक्–परिज्ञान ही सृष्टिस्वरूपविज्ञान है। उदाहरण के लिए प्रकृत में केवल दो तीन सम्बन्धों की ओर ही हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे। अन्तर्याम, बहिर्याम, उपयाम इन तीन नैगमिक सम्बन्धों का ब्राह्मणग्रन्थ में प्रतिपादित चत्वारिंशत् (४०) ग्रहात्मक सुप्रसिद्ध 'ग्रहयाग' में विस्तार से विश्लेषण हुआ है (देखिए–शतपथब्राह्मण–चतुर्थकाण्ड–ग्रहयागात्मककाण्ड)।

नितान्त भावुकतापूर्ण, अतएव सर्वथा अवैज्ञानिक–'सांसिद्धिकं द्रवत्वं जले' (न्यायग्रन्थ) (जलका द्रवत्व प्राकृतिक है–नित्य है) इत्यादि बालसिद्धान्त का आमूलचूड (उन्मूलन) करने वाले 'अपां संघातो, विलयनञ्च–तेजःसंयोगात्' (वैशेषिक द० ५।२।८) इस सूत्रसिद्धान्त के अनुसार पानी का संघात (हिमरूप घनीभाव), एवं विलयन (द्रुतभाव), दोनों तेज संयोग पर ही अवलम्बित

उत्तम पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत ॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥२॥

—गीता १५।१६,१७,।

उक्त पुरुषत्रयी के आधार पर समष्टिरूप विश्वकर्म्म (सृष्टिकर्म) के साथ साथ इन तीनों पुरुषों से (किंवा अव्ययपुरुष, तथा अक्षर–क्षररूपा परा–अपराप्रकृतियों से) क्रमशः तीन स्वतन्त्र सृष्टिधाराओं का विनिगमन शाश्वतीभ्यः समाभ्य प्रक्रान्त है। अधिष्ठानकारणात्मक अव्ययपुरुष के आनन्दविज्ञान–प्राणवाक्–भावों से सीमित हृदयस्थ 'श्वोवसीयस्' नामक मन की सहज कामना से * जिस सहज स्वतन्त्र असङ्ग सृष्टिधारा का प्रवाह प्रक्रान्त है, वही 'भावसृष्टि' कहलाई है। यही अव्यय-मूला असङ्ग भावसृष्टि यत्रतत्र निगमागमग्रन्थों में—'ज्ञानसृष्टि–मानसीसृष्टि–आत्मसृष्टि–ऋषिसृष्टि–प्राणसृष्टि–मनुसृष्टि–आदि विविध नामों से (अपेक्षाभेद से) उपवर्णित हुई है। गीताशास्त्र ने अथ शब्दवाच्य अव्यय की इस सृष्टि का निम्नलिखित रूप से विश्लेषण किया है—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

—गीता १०।६।

अव्ययात्मानुगता यह भावसृष्टि अपने असङ्गभाव के कारण सर्वथा 'अबाधमव्यक्ता' (स्थानानव रोधिनी–जगह न रोकने वाली सूक्ष्मा) है, मानससंकल्पप्रधाना–संकल्परूपमात्रा है। निमित्तकारणरूप अक्षरात्मा (प्राकृतात्मा) से स्वतन्त्ररूप से समन्वित सृष्टि 'गुणसृष्टि' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसके–"क्रियासृष्टि–मायामयीसृष्टि–देवसृष्टि–प्राकृतिकसृष्टि–तन्मात्रसृष्टि–आदि विविध भेद यत्रतत्र उपवर्णित हैं। दार्शनिक दृष्टिनिबन्धन गुण–अणु–रेणु नामकी सूक्ष्मभूतसृष्टित्रयी का भी इस गुणसृष्टि में ही अन्तर्भाव है, जिसका विशदरूप से प्रकृतिकारणतामात्रवादी प्राधानिकदर्शन ('सांख्यदर्शन' नाम से प्रसिद्ध 'कणाददर्शन') में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। उपादानकारणात्मक क्षरात्मा (विकृतात्मा) से स्वतन्त्ररूप से समन्वित सृष्टि 'विकारसृष्टि' कहलाई है, जिसे—"अन्नसृष्टि–वाङ्मयीसृष्टि–भूतसृष्टि–पशुसृष्टि–मर्त्यसृष्टि–उद्भिज्जसृष्टि–वैकारिकीसृष्टि–मैथुनीसृष्टि" इत्यादि विविध नामों से समन्वित किया गया है। पराप्रकृतिलक्षण अक्षरात्मा (प्रकृति) से सम्पन्ना गुणसृष्टि, एवं अपराप्रकृतिलक्षण क्षरात्मा (विकृति) से सम्पन्ना विकारसृष्टि, दोनों का समष्टिरूप से इंसलिए संग्रह कर लिया

---

* कामस्तदग्रे समवर्त्ताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
ऋक्संहिता १०।१२९।४। (नासदीयसूक्त)
(वयम्-भृगवा-सौम्यप्राणा-मनीषा)

मघवन् ! मादयस्व (यजु सं० ७।५।) रूप से श्रुति इन्द्रादि प्राणदेवताओं के अन्तर्याम सम्बन्ध की ही कामना अभिव्यक्त कर रहे हैं, जो सम्बन्ध आगन्तुक को आगमनाधार का आत्मा बना देता है । सभी प्राणदेवता, सभी ईश्वरीय-विभूतियाँ सौरसम्वत्सरमण्डल में सर्वत्र व्याप्त रहतीं हुई सब चराचर प्राणियों के साथ सम्बन्धित हैं । किन्तु बहिर्याम, किंवा उपयाम, अथवा तो यातयाम सम्बन्ध से । अतएव इन असम्बन्धात्मक सम्बन्धों से प्राणियों में कोई अतिशय उत्पन्न नहीं होता । प्राणतत्त्वरहस्यानभिज्ञ अभिनिविष्ट मन्दबुद्धि भागरथीसलिल में अधिष्ठित, अभिमानीरूप से आत्मरूप से प्रतिष्ठित भगवती गङ्गामाता के पावनसंस्मरण से भी वञ्चित रहते हुए आस्तिक श्रद्धालु प्रजा के सम्मुख इस सम्बन्ध में यह तर्काभास उपस्थित करते हुए यत्किञ्चित् भी तो लज्जा से अवनतशिरस्क नहीं बन जाते कि,—"यदि गांगेय तोय में इस प्रकार मृत्युबन्धनविमोक की शक्ति है, तो उसमें रहने वाले मत्स्य-मकर-तिमिङ्गिलादि जलजन्तुओं की मुक्ति क्यों नहीं होती ?" । इस जघन्य तर्काभास का उत्तर स्पष्ट है । मृत्यु संसारसागर में मत्स्य-मकरादिवत् इतस्ततः सन्तरण करने वाले उन अभिनिविष्ट पापात्माओं पर उस ब्रह्मद्रवी का अनुग्रह सम्भव ही कैसे है, जबकि इन पापात्माओं की आसुरवृत्ति से संयुक्त इनके पापपूर्ण मानसक्षेत्र के साथ इस देवता का अन्तर्याम सम्बन्ध स्वप्न में भी सम्भावित नहीं है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इत्यादि श्रद्धासिद्धान्तानुसार सात्त्विक श्रद्धाशून्य इन पापात्माओं के अन्तर्जगत् के साथ कैसे दिव्यतत्त्वों का अन्तर्याम सम्बन्ध सम्भव हो सकता है ? । एवं तदभाव में कैसे उस ब्रह्मानन्द का स्वप्न में भी अनुभव कर सकते हैं ? उन अश्रद्धालुओं आसुरबुद्धिपरायणों के लिए तो ऐहिक-आमुष्मिक कुछ भी तो दिव्यप्राणातिशय अनुग्राहक नहीं बना करता । अन्तर्याम सम्बन्ध ही क्या, वे तो बहिर्याम, एवं उपयाम के भी पात्र नहीं है । सर्वथा यातयामात्मक उन अभिनिविष्टों के लिए तो सब कुछ यातयाम ही प्रमाणित हो रहा है । अलमप्यालम् , कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः ।

(१२) —प्रजोत्पादक यागसम्बन्ध—

उक्त सम्बन्धत्रयी में से 'अन्तर्याम' सम्बन्ध ही ससृष्टिमूला सृष्टि का आधार बना करता है, यही यज्ञव्याप्ति है । विभिन्न जातीय दो, अथवा तो अनेक पदार्थों का पारस्परिक अन्तर्याम सम्बन्ध ही लोकभाषा में 'रासायनिक मिश्रण' कहलाया है । यही यज्ञभाषा में 'याग' सम्बन्ध कहलाया है । 'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा०' इत्यादि सिद्धान्तानुसार यज्ञात्मक यही यागसम्बन्ध विश्व, एवं विश्वप्रजा का जनक बना हुआ है । सोरा और कोयला, दोनों का यागात्मक मिश्रण जिस प्रकार विस्फोटक द्रव्य (बारूद) का जनक बनता है, अग्नि —(ऑक्सिजन Oxygen), और पवमान (हाइड्रोजन Hydrogen), दोनों का रासायनिकमिश्रण जैसे पेय जल का उत्पादक बनता है, एवमेव ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूपा हृदयशक्ति के आधार पर प्रतिष्ठित प्राणाग्नि, एवं प्राणसोम का यागात्मक, किंवा प्राण-रयिरूप यागसम्बन्ध विश्व तथा विश्व प्रजा का उत्पादक बना करता है । इसी आधार पर—'अग्नीषोमात्मकं जगत्' सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है ।

है। 'ध्रुव' नाम से प्रसिद्ध घनाग्नि के प्रवेश से यही पानी सहित बनता हुआ घनभाव (हिमभाव-बर) में परिणत हो जाता है, एवं 'धर्म' नामक तरलाग्नि के प्रवेश से यही पानी रसभावमय बनता हुआ तरलभाव (पेयभाव) रूप में परिणत हो जाता है, जो इस सरित्–इरा के सम्बन्ध में (द्रवीभूत रससम्बन्ध से) निगम में 'सलिल' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'सरित्' का ही रूपान्तर 'सलिल' है। इस सलिल, और तेजोमय अग्नि को लक्ष्य बना कर ही सम्बन्धत्रयी का अन्वेषण कीजिए।

पानी बह रहा है। यह बहाव तरलाग्निसमावेश का ही परिणाम है। अग्नि ने अपने तापधर्म रूप स्वधर्म को (स्वरूपधर्म को, स्वप्रकृति को) आत्मसमर्पणरूप जल के प्रति अर्पित कर दिया है। वह अग्निधर्म आज जलधर्म बन गया है। परधर्म (पानी का धर्म) किस प्रकार स्वधर्म (अग्निधर्म) का स्वरूपोच्छेदक बन जाता है ?, यह प्रश्न भी इसी उदाहरण से समाहित बन रहा है। इस जलाग्निसम्बन्ध को ही हम 'अन्तर्य्याम' सम्बन्ध कहेंगे। जलको किसी पात्र में भर कर अग्निसमिन्धन द्वारा उष्ण (गरम) कीजिए। जल उष्ण हो ही जायगा इस समिन्धनकर्म्म से। इस जलाग्नि का सम्बन्ध 'बहिर्य्याम' सम्बन्ध कहलाएगा। इस उष्णतारूप जलधर्म्म को जल का आगन्तुक धर्मलक्षण परधर्म कहा जायगा, जो अत्यन्तानलसयोग पर पानी को वाष्परूप में परिणत कर कालान्तर में पानी का स्वरूप ही उच्छिन्न कर सकता है। इसीलिए तो आगन्तुक धर्म्मात्मक इस धर्म[illegible] प्रकृतिविरुद्ध धर्म्म को 'भयावह' माना गया है। सामुद्रजल में वडवानल प्रज्वलि[illegible] सम्बन्ध 'उपयाम' सम्बन्ध माना जायगा। किसी भी पात्र में अवस्थित अङ्गार[illegible] पात्र के साथ जो सम्बन्ध है, वही 'उपयाम' सम्बन्ध है। इस प्रकार द्रव पानी–उष्ण पानी–वा[illegible] पानी–रूप से जलाग्निसम्बन्ध तीन भावों में परिणत हो रहा है। हमने भोजन किया, उसे [illegible]न ने आत्मसात् कर लिया, यही भोजन का हमारे साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध है। भोजन किया, कि[illegible] शारीरिक मन्दाग्नि आदि-संग्रहणी आदि–विकारों के कारण भोजन आत्मसात् न बन सका, रसनिर्म्माण न होसका। भोजन का यही हमारे साथ बहिर्य्याम सम्बन्ध है। भोजनद्रव्य ग्रासादिरूप से हाथ में उठा लिया। यही भोजन के साथ हमारा उपयाम सम्बन्ध है। भोजन किया, किन्तु किसी शारीरिक पित्तादि विकार से, अथवा तो भोजनद्रव्य-निक्षिप्त मक्षिकादि के कारण भोजनद्रव्य अविलम्ब ही वान्तिरूप से विनिर्गत हो गया, ऐसे निरर्थक भोजनद्रव्य के साथ हमारा कौनसा सम्बन्ध माना जाय ?, प्रश्न का उत्तर है एक चौथा 'यातयाम' नाम का असम्बन्धात्मक सम्बन्ध, जिस के लिए— 'यातयामं गतरसं पूति पर्य्युषितं च यत्' (गीता १७।१०) कहा गया है।

(११) —प्राणनिबन्धन अन्तर्य्याम सम्बन्ध का महत्त्व—

भौतिक-वैकारिक विश्व का अध्यात्मा के साथ उपयाम सम्बन्ध है, अक्षरात्मा के साथ बहिर्य्याम सम्बन्ध है, एवं उपादानकारणरूप अव्ययात्मा के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध है, और यही अन्तर्य्याम सम्बन्ध वेदशिलपणा वह सम्बन्ध है, जो वेदशास्त्र में 'याग' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'अन्तर्यामी'

मघवन् । मादयस्व (यजु स० ७।५।) रूप से श्रुति इन्द्रादि प्राणदेवताओं के अन्तर्याम सम्बन्ध की ही कामना अभिव्यक्त कर रहे हैं, जो सम्बन्ध आगन्तुक को आगमनाधार का आत्मा बना देता है। सभी प्राणदेवता, सभी ईश्वरीय-विभूतियाँ सौरसम्वत्सरमण्डल में सर्वत्र व्याप्त रहतीं हुई सब चराचर प्राणियों के साथ सम्बन्धित हैं। किन्तु बहिर्याम, किंवा उपयाम, अथवा तो यातयाम सम्बन्ध से। अतएव इन असम्बन्धात्मक सम्बन्धों से प्राणियों में कोई अतिशय उत्पन्न नहीं होता। प्राणतत्त्वरहस्यानभिज्ञ अभिनिविष्ट मन्दबुद्धि भागरथीसलिल में अधिष्ठित, अभिमानीरूप से आत्मरूप से प्रतिष्ठित भगवती गङ्गामाता के पावनसंस्मरण से भी वञ्चित रहते हुए आस्तिक श्रद्धालु प्रजा के सम्मुख इस सम्बन्ध में यह तर्काभास उपस्थित करते हुए यत्किञ्चित् भी तो लज्जा से अवनतशिरस्क नहीं बन जाते कि,—"यदि गांगय तोय में इस प्रकार मृत्युबन्धनविमोक की शक्ति है, तो उसमें रहने वाले मत्स्य-मकर-तिमिङ्गिलादि जलजन्तुओं की मुक्ति क्यों नहीं होती ?"। इस जघन्य तर्काभास का उत्तर स्पष्ट है। मृत्युसंसारसागर में मत्स्य-मकरादिवत् इतस्ततः सन्तरण करने वाले उन अभिनिविष्ट पापात्माओं पर उस ब्रह्मद्रवी का अनुग्रह सम्भव ही कैसे है, जबकि इन पापात्माओं की आसुरवृत्ति से संयुक्त इनके पापपूर्ण मानसक्षेत्र के साथ इस देवता का अन्तर्याम सम्बन्ध स्वप्न में भी सम्भावित नहीं है। 'श्रद्धामयोऽय पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव स' इत्यादि श्रद्धासिद्धान्तानुसार सात्त्विक श्रद्धाशून्य इन पापात्माओं के अन्तर्जगत् के साथ कैसे दिव्य तत्त्वों का अन्तर्याम सम्बन्ध सम्भव हो सकता है ?। एवं तदभावे वे कैसे उस ब्रह्मानन्द का स्वप्न में भी अनुभव कर सकते हैं ? उन अश्रद्धालुओं-आसुरबुद्धिपरायणों के लिए तो ऐहिक-आमुष्मिक कुछ भी तो दिव्यप्राणातिशय अनुग्राहक नहीं बना करता। अन्तर्याम सम्बन्ध ही क्या, वे तो बहिर्याम, एवं उपयाम के भी पात्र नहीं है। सर्वथा यातयामात्मक उन अभिनिविष्टों के लिए तो सब कुछ यातयाम ही प्रमाणित हो रहा है। अलजल्पाजल्पम्, कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः।

(१२) —प्रजोत्पादक यागसम्बन्ध—

उक्त सम्बन्धत्रयी में से 'अन्तर्याम' सम्बन्ध ही सर्गाभिमूला सृष्टि का आधार बना करता है, यही यज्ञभ्याश है। विभिन्न जातीय दो, अथवा तो अनेक पदार्थों का पारस्परिक अन्तर्याम सम्बन्ध ही लोकभाषा में 'रासायनिक मिश्रण' कहलाया है। यही यज्ञभाषा में 'याग' सम्बन्ध कहलाया है। 'सह यज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा०' इत्यादि सिद्धान्तानुसार यज्ञात्मक यही यागसम्बन्ध विश्व, एवं विश्वप्रजा का जनक बना हुआ है। सोरा और कोयला, दोनों का यागात्मक मिश्रण जिस प्रकार विस्फोटक द्रव्य (बारूद) का जनक बनता है, अम्भः—(ऑक्सिजन Oxygen), और पवमान (हाइड्रोजन Hydrogen), दोनों का रासायनिकमिश्रण जैसे पेय जल का उत्पादक बनता है, एवमेव ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूपा हृदयशक्ति के आधार पर प्रतिष्ठित प्राणाग्नि, एवं प्राणसोम का वृषायोषात्मक, किंवा प्राण-रयिरूप यागसम्बन्ध विश्व तथा विश्व प्रजा का उत्पादक बना करता है। इसी आधार पर-'अग्नीषोमात्मकं जगत्' सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है।

है। 'भृगु' नाम से प्रसिद्ध घनाग्नि के प्रवेश से वही पानी सहित बनता हुआ घनभाव (हिमभावक) में परिणत हो जाता है, एवं 'घर्म' नामक तरलाग्नि के प्रवेश से वही पानी रसभावयुक्त बनता हुआ तरलभाव (पेयभाव) रूप में परिणत हो जाता है, जो इस सरित्-द्रव के सम्बन्ध में (द्रवीभूत रससम्बन्ध से) निगम में 'सलिल' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'सरित्' का ही रूपान्तर 'सलिल' है। इस सलिल, और तेजोमय अग्नि को लक्ष्य बना कर ही सम्बन्धत्रयी का अन्वेषण कीजिए।

पानी बह रहा है। यह बहाव तरलाग्निसमावेश का ही परिणाम है। अग्नि ने अपने तापधर्म-रूप स्वधर्म्म को (स्वरूपधर्म्म को, स्वप्रकृति को) आत्मसमर्पणरूप बल के प्रति अर्पित कर दिया है। यह अग्निधर्म्म आज जलधर्म्म बन गया है। परधर्म्म (पानी का धर्म्म) किस प्रकार स्वधर्म्म (अग्निधर्म) का स्वरूपोत्क्रामक बन जाता है?, यह प्रश्न भी इसी उदाहरण से समाहित बन रहा है। इस जलाग्निसम्बन्ध को ही हम 'अन्तर्य्याम' सम्बन्ध कहेंगे। जलको किसी पात्र में भर कर अग्निसमिन्धन द्वारा उष्ण (गरम) कीजिए। जल उष्ण हो ही जायगा इस समिन्धनकर्म्म से। इस जलाग्नि का सम्बन्ध 'बहिर्य्याम' सम्बन्ध कहलाएगा। इस उष्णतारूप जलधर्म्म को जल का आगन्तुक धर्म्मलक्षण परधर्म्म कहा जायगा, जो अत्यन्तानलसंयोग पर पानी को वाष्परूप में परिणत कर कालान्तर में पानी का स्वरूप ही उच्छिन्न कर सकता है। इसीलिए तो आगन्तुक धर्म्मात्मक इस धर्म्म [illegible] प्रकृतिविरुद्ध धर्म्म को 'भयावह' माना गया है। सामुद्रजल में वडवानल प्रज्वलि[illegible] सम्बन्ध 'उपयाम' सम्बन्ध माना जायगा। किसी भी पात्र में अवस्थित अङ्गार[illegible] पात्र के साथ जो सम्बन्ध है, वही 'उपयाम' सम्बन्ध है। इस प्रकार इस पानी-उष्ण पानी-[illegible]क पानी-रूप से जलाग्नि-सम्बन्ध तीन भावों में परिणत हो रहा है। हमने भोजन किया, उसे [illegible]ग्नि ने आत्मसात् कर लिया, यही भोजन का हमारे साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध है। भोजन किया, कि[illegible] शारीरिक मन्दाग्नि आदि-संग्रहणी आदि-विकारों के कारण भोजन आत्मसात् न बन सका, रसनिर्म्माण न होसका। भोजन का यही हमारे साथ बहिर्य्याम सम्बन्ध है। भोजनद्रव्य ग्रासादिरूप से हाथ में उठा लिया। वही भोजन के साथ हमारा उपयाम सम्बन्ध है। भोजन किया, किन्तु किसी शारीरिक पित्तादि विकार से, अथवा तो भोजनद्रव्य-निक्षिप्त मक्षिकादि के कारण भोजनद्रव्य अविलम्ब ही वान्तिरूप से विनिर्गत हो गया, ऐसे निरर्थक भोजनद्रव्य के साथ हमारा कौनसा सम्बन्ध माना जाय?, प्रश्न का उत्तर है एक चौथा 'यातयाम' नाम का असम्बन्धात्मक सम्बन्ध जिस के लिए—'यातयामं गतरसं पूति पर्य्युषितं च यत्' (गीता १७।१०) कहा गया है।

(११) —प्राणनिबन्धन अन्तर्य्याम सम्बन्ध का महत्त्व—

भौतिक-वैकारिक विश्व का अध्यात्मा के साथ उपयाम सम्बन्ध है, अक्षरात्मा के साथ बहिर्य्याम सम्बन्ध है, एवं उपादानकारणरूप क्षरात्मा के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध है, और यही अन्तर्य्याम सम्बन्ध सर्वविलक्षण यह सम्बन्ध है, जो मन्त्रशास्त्र में 'ग्राम' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'अन्तर्यामे'

मान लिया गया है। ऐतिहासिक घटना-परम्पराओं से सम्बन्धित मानवस्वरूपव्याख्या की विशद मीमांसा तो उत्तरखण्ड से ही सम्बन्धित मानी जायगी।

(१५)—मानवस्वरूपानुगता रूपरेखा का उपक्रम—

(मानवस्वरूपरूपरेखात्मिका-मूलभूमिकालक्षणा-मानवस्वरूपमीमांसा)

नैमिषारण्य के शान्त-पावन-सस्यश्यामल-दिव्यपल्लवच्छायासमाक्रान्त-गिरीणामुपह्वर-नदीनां-संगमसुशोभित दिव्य क्षेत्र में नैगमिक तत्त्वज्ञानविमर्श के लिए समवेत ऋषिसंसत् के प्रज्ञाक्षेत्र में किसी अज्ञातप्रेरणा से सहसा एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न समुपस्थित हो गया कि—

" इस त्रैलोक्य-त्रिलोकीरूप विश्व में सर्वश्रेष्ठ कौन ? "

तब समवेत महामहर्षियों में से अध्यात्मज्ञाननिष्ठ विश्वेश्वरस्वरूपवेत्ता तत्त्ववित् तप पूत किसी महर्षि की ओर से संसत् के सम्मुख उक्त प्रश्न का यह समाधान समुपस्थित हुआ कि—" **सर्वज्ञत्वविशिष्ट-रसैकघन, 'शाश्वतब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध, मायातीत, निरञ्जन, निर्विकार, निर्गुण, अव्यय, दिग्-देशकालानवच्छिन्न, सच्चिदानन्दलक्षण, सर्वधर्म्मोपपन्न, सर्वेश्वर परमेश्वर ही त्रैलोक्यरूप विश्व में सर्वश्रेष्ठ है- ।** "

संसत् में समवेत तत्त्वज्ञ सदस्योंने श्रुत-उपश्रुत तथोत्तर के माध्यम से परस्पर दृष्टिनिक्षेप करते हुए मानो अपने ये ही मनोभाव अभिव्यक्त किए कि, वे इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हैं। ' **यानो देवेभ्य आचष्टे, यथा पुरुष ! ते मन** ' सिद्धान्तानुसार केवल बाह्य शारीरिक वातावरण के आधार पर, चेष्टाओं के आधार पर आभ्यन्तर मनोभावों के परिज्ञान में कुशल उत्तरप्रदाता महर्षि ने तत्काल ऋषि सदस्यों के असन्तोष को लक्ष्य बना लिया। एवं तत्क्षण ही उनकी ओर से यह दूसरा उत्तर ऋषिसंसत् के सम्मुख उपस्थित हो गया कि—"**सर्वेश्वर परात्परब्रह्म की विभूतिलक्षणा महिमा से महीयमान ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिमय द्युलोकाधिष्ठाता सर्वज्ञमूर्त्ति इन्द्र, अन्तरिक्षलोकाधिष्ठाता हिरण्य-गर्भमूर्त्ति वायु एवं पार्थिवलोकाधिष्ठाता विराट्-मूर्त्ति अग्नि ही त्रैलोक्य में सर्वश्रेष्ठ माने जायेंगे×** "।

- —यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।६।

×—तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान्-यदग्नि, र्वायु, रिन्द्रः। ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुः। ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मे ति।

—केनोपनिषत् ४।२,३,।

(१३) —मैथुनीसृष्टि की मौलिक परिभाषा—

क्षरपुरुषानुगता विकारसृष्टि अग्नि–सोमरूप पुम्भाव–स्त्रीभाव के दाम्पत्यभावात्मक याग सम्बन्ध के कारण ही–'मैथुनीसृष्टि' कहलाई है। भौतिक-शरीरद्वय का मिथुनभाव यहाँ अभिप्रेत नहीं है। नाहीं भौतिक सौम्यशुक्र–आग्नेय शोणित का मिथुनभाव ही सृष्टि का उत्पादक है। अपितु सृष्टि का आधार बनता है प्रकृति में अग्नि–सोमगर्भित प्राणात्मक वृषा–योषा तत्त्व, जो प्राणोपनिषत् (तलवकारोपनिषत्) नामक प्रश्नोपनिषत् में 'रयि–प्राण' युग्म नाम से प्रसिद्ध हुआ है। बिना भी भूतमिथुन के जहाँ यह प्राणमिथुन हो जाता है, तत्काल अपूर्वसृष्टि का उदय हो जाता है। एवं बिना प्राणमिथुन के शत-सहस्र बार का भी ऐकान्तिक भूतमिथुनभाव सम्प्रत्पादन में असमर्थ बना रहता है। दाम्पत्यरूप मिथुनभाव का ही नाम है, एवं ऐसा मिथुनभाव ही मैथुनीसृष्टि का मूलप्रभव बना करता है।

मैथुनीसृष्टि का तात्पर्य्य है—'संसृष्टि'। संसृष्टि का तात्पर्य्य है अन्तर्याम सम्बन्ध से समुत्पन्न दो, अथवा अनेक विजातीय अन्न–अन्नादात्मक भावों का पारस्परिक उपमर्दनपूर्वक 'अपूर्वभावोदय'। जैसा कि कहा गया है, संसृष्टिलक्षणा सृष्टि के वे दोनों आधार तत्त्व 'योषा–वृषा' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, जिनका विभिन्न सृष्टिभावों के स्वरूपानुपात से 'अग्नि–सुब्रह्मण्य'–'अंगिरा–भृगु'–'तेज–स्नेह'–'अग्नी–षोम'–'प्राण–रयि'–'गति–स्थिति'–'पुम्भाव–स्त्रीभाव'–शोणित–शुक्र" आदि अनेक दृष्टिकोणों से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अव्ययाक्षरगर्भित– क्षरपुरुषात्मक, अतएव त्रिपुरुषात्मक पूर्णेश्वर के क्षरात्मक उपादानभाग से सम्बन्धित संसृष्टिरूपा सृष्टि ही प्रजासृष्टि की मूलारम्भणा बनी हुई है। विरुद्ध तत्त्वों के अन्न–अन्नादात्मक याज्ञिक सम्बन्ध से समुत्पन्ना वैकारिकी याज्ञिकी संसृष्टि ही प्रजासृष्टि की मूलप्रभवा है–यही तात्पर्य्य है।

(१४) —मानवस्वरूपमीमांसा के सम्बन्ध में—

विश्व का मूल यदि दुरधिगम्य है, तो विश्वका, एवं तद्गर्भीभूता चराचरप्रजा का स्वरूप भी कम समस्यापूर्ण नहीं है। न तो विश्वमूल ही हमारा प्रधान लक्ष्य है, एवं न विश्व, तथा तत्–चराचरप्रजा ही प्रधान लक्ष्य। प्रधानलक्ष्य है भारतीय हिन्दू मानव की भावुकता। अतः विश्वसर्ग के सम्बन्ध में अधिक से अधिक विश्वप्रजा में से केवल 'मानव प्रजा' ही निबन्ध का मुख्य लक्ष्य है। इस मानव प्रजा के स्वरूप समन्वय के लिए ही हमें यहाँ विश्वस्वरूप की मीमांसा का अनुगमन करना पड़ रहा है। मानव की स्वरूपमीमांसा को हम—'मनुःस्वरूपमीमांसा' एवं 'मानवस्वरूपमीमांसा' इन दो भागों में विभक्त मानेंगे। एवं इसी दृष्टि से मानवस्वरूप के समन्वय का प्रयास करेंगे। मनुःस्वरूपमीमांसा–लक्षणा मानवस्वरूपमीमांसा मानवस्वरूपमीमांसा की रूपरेखा, किंवा मूलभूमिका मानी जायगी। एवं मानवस्वरूप-मीमांसात्मिका मानवस्वरूपमीमांसा इस मीमांसा की मूलभूमिका कही जायगी, जिसका उत्तर खण्ड में निरूपण होगा। मानवस्वरूपरेखा के समन्वय के बिना क्योंकि विश्वस्वरूपमीमांसा अपूर्ण रह जाती है। अत-एव विश्वस्वरूपमीमांसा की स्वरूपसम्पत्ति के लिए यहाँ मानवस्वरूपरेखा का समावेश करना आवश्यक

मान लिया गया है। ऐतिहासिक घटना–परम्पराओं से सम्बन्धित मानवस्वरूपव्याख्या की विशद मीमांसा तो उत्तरखण्ड से ही सम्बन्धित मानी जायगी।

(१५)—मानवस्वरूपानुगता रूपरेखा का उपक्रम—

(मानवस्वरूपरूपरेखात्मिका-मूलभूमिकालक्षणा-मानवस्वरूपमीमांसा)

नैमिषारण्य के शान्त–पावन–सस्यश्यामल–दिव्यपल्लवच्छायासमाक्रान्त–गिरीणामुपह्वर–नदीनां–संगमसुशोभित दिव्य क्षेत्र में नैगमिक तत्त्वज्ञानविमर्श के लिए समवेत ऋषिसंसत् के प्रज्ञाक्षेत्र में किसी अज्ञातप्रेरणा से सहसा एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न समुपस्थित हो गया कि—

" इस त्रैलोक्य–त्रिलोकीरूप विश्व में सर्वश्रेष्ठ कौन ? "

तत्र समवेत महामहर्षियों में से अध्यात्मज्ञाननिष्ठ विश्वेश्वरस्वरूपवेत्ता तत्त्ववित् एक पूत किसी महर्षि की ओर से संसत् के सम्मुख उक्त प्रश्न का यह समाधान समुपस्थित हुआ कि—" **सर्वव्रजविशिष्ट–रसैकघन, 'शाश्वतब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध, मायातीत, निरञ्जन, निर्विकार, निर्गुण, अव्यय, दिग्–देशकालानवच्छिन्न, सच्चिदानन्दलक्षण, सर्वधर्मोपपन्न, सर्वेश्वर परमेश्वर ही त्रैलोक्यरूप विश्व में सर्वश्रेष्ठ हैं– ।**"

संसत् में समवेत तत्त्वज्ञ सदस्योंने श्रुत–उपश्रुत तर्कोत्तर के माध्यम से परस्पर दृष्टिनिक्षेप करते हुए मानो अपने ये ही मनोभाव अभिव्यक्त किए कि, वे इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हैं। '**यातो देवेभ्य आचष्टे, यथा पुरुष ! ते मनः**' सिद्धान्तानुसार केवल बाह्य शारीरिक वातावरण के आधार पर, चेष्टाओं के आधार पर आभ्यन्तर मनोभावों के परिज्ञान में कुशल उत्तरप्रदाता महर्षि ने तत्काल ऋषि सदस्यों के असन्तोष को लक्ष्य बना लिया। एवं तत्क्षण ही उनकी ओर से यह दूसरा उत्तर ऋषिसंसत् के सम्मुख उपस्थित हो गया कि—"**सर्वेश्वर परात्परब्रह्म की विभूतिलक्षणा महिमा से महीयमान ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तिमय द्युलोकाधिष्ठाता सर्वज्ञमूर्त्ति इन्द्र, अन्तरिक्षलोकाधिष्ठाता हिरण्य–गर्भमूर्त्ति वायु एवं पार्थिवलोकाधिष्ठाता विराड्–मूर्त्ति अग्नि ही त्रैलोक्य में सर्वश्रेष्ठ माने जायँगे×**"।

– —यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।९।

×—तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान्–यदग्नि, र्वायु, रिन्द्र। ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुः। ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति।

—केनोपनिषत् ४।२,३,।

(१३) —मैथुनीसृष्टि की मौलिक परिभाषा—

चरपुरुषानुगता विकारसृष्टि अग्नि–सोमरूप पुम्भाव–स्त्रीभाव के दाम्पत्यभावात्मक याग सम्बन्ध के कारण ही–'मैथुनीसृष्टि' कहलाई है। भौतिक–शरीरद्वय का मिथुनभाव यहाँ अभिप्रेत नहीं है। नाहीं भौतिक सौम्यशुक्र–आग्नेय शोणित का मिथुनभाव ही सृष्टि का उत्पादक है। अपितु सृष्टि का आधार बनता है प्रकृति में अग्नि–सोमगर्भित प्राणात्मक वृषा–योषा तत्त्व, जो प्राणोपनिषत् (सलखकारोपनिषत्) नामक प्रश्नोपनिषत् में 'रयि–प्राण' युग्म नाम से प्रसिद्ध हुआ है। बिना भी भूतमिथुन के जहाँ यह प्राणमिथुन हो जाता है, तत्काल अपूर्वसृष्टि का उदय हो जाता है। एवं बिना प्राणमिथुन के शत-सहस्र बार का भी ऐकान्तिक भूतमिथुनभाव सृष्ट्युत्पादन में असमर्थ बना रहता है। दाम्पत्यरूप मिथुनभाव का ही नाम है, एवं ऐसा मिथुनभाव ही मैथुनीसृष्टि का मूलप्रभव बना करता है।

मैथुनीसृष्टि का तात्पर्य है—'संसृष्टि'। संसृष्टि का तात्पर्य है अन्तर्याम सम्बन्ध से समुत्पन्न दो, अथवा अनेक विजातीय अन्न–अन्नादात्मक भावों का पारस्परिक उपमर्दनपूर्वक 'अपूर्वभावोदय'। जैसा कि कहा गया है, संसृष्टिलक्षणा सृष्टि के वे दोनों आधार तत्त्व 'योषा–वृषा' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, जिनका विभिन्न सृष्टिभावों के स्वरूपानुपात से 'ब्रह्म–सुब्रह्म'–'अंगिरा–भृगु'–'तेज–स्नेह'–'अग्नी–सोम'–'प्राण–रयि'–'गति–स्थिति'–'पुम्भाव–स्त्रीभाव'–शोणित–शुक्र'' आदि अनेक दृष्टिकोणों से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अव्ययाक्षरगर्भित- क्षरपुरुषात्मक, अतएव त्रिपुरुषात्मक पूर्णेश्वर के क्षरात्मक उपादानभाग से सम्भूत संसृष्टिरूपा सृष्टि ही प्रजासृष्टि की मूलारम्भणा बनी हुई है। विरुद्ध तत्त्वों के अन्न-अन्नादात्मक याज्ञिक सम्बन्ध से समुत्पन्ना वैकारिकी याज्ञिकी संसृष्टि ही प्रजासृष्टि की मूलप्रभवा है—यही तात्पर्य है।

(१४) —मानवस्वरूपमीमांसा के सम्बन्ध में—

विश्व का मूल यदि दुरधिगम्य है, तो विश्वका, एवं तद्गर्भीभूता चराचरप्रजा का स्वरूप भी कम समस्यापूर्ण नहीं है। न तो विश्वमूल ही हमारा प्रधान लक्ष्य है, एवं न विश्व, तथा तत्–चराचरप्रजा ही प्रधान लक्ष्य। प्रधानलक्ष्य है भारतीय हिन्दू मानव की भावुकता। अतः विश्वसर्ग के सम्बन्ध में अधिक से अधिक विश्वप्रजा में से केवल 'मानव प्रजा' ही निबन्ध का मुख्य लक्ष्य है। इस मानव प्रजा के स्वरूप समन्वय के लिए ही हमें यहाँ विश्वस्वरूप की मीमांसा का अनुगमन करना पड़ रहा है। मानव की स्वरूपमीमांसा को हम—'मनुःस्वरूपमीमांसा एवं 'मानवस्वरूपमीमांसा' इन दो भागों में विभक्त मानेंगे। एवं इसी दृष्टि से मानवस्वरूप के समन्वय का प्रयास करेंगे। मनुःस्वरूपमीमांसा–लक्षणा मानवस्वरूपमीमांसा मानवस्वरूपमीमांसा की रूपरेखा, किंवा मूलभूमिका मानी जायगी। एवं मानवस्वरूप मीमांसात्मिका मानवस्वरूपमीमांसा इस मीमांसा की मूलभूमिका कही जायगी, जिसका उत्तर भाग में निरूपण होगा। मानवस्वरूपरेखा के समन्वय के बिना क्योंकि विश्वस्वरूपमीमांसा अपूर्ण रह जाती है। अतएव विश्वस्वरूपमीमांसा की सन्तुलनप्रवृत्ति के लिए यहाँ मानवरूपरेखा का समावेश करना आवश्यक

अधिकारी-पात्र-जिज्ञासु उपलब्ध हो गए थे। अतएव अन्ततोगत्त्वा पुराणपुरुष भगवान् व्यास के पावन मुखपङ्कज से यह ऐहिक-आमुष्मिक- श्री विनिगत हो ही पड़ी कि—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि "न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्"

—महाभारत

पुराणपुरुष ने कहा—हम आज आप लोगों के सम्मुख उस सुगुप्त ब्रह्म (तत्त्व) का स्वरूप विश्लेषण समुपस्थित कर रहे हैं, जिसे सुन कर आप सहसा आश्चर्यविभोर हो जायँगे। यह सर्वथा विश्वसनीय है कि, "पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" (शत०ब्रा० ४।५।१।१)—"अहं मनुरभवम्"—(ऋक्- सं० ४।२६।१) "अहं सूर्य इवाजनि" (ऋक् सं० ८।६।१०)—"योऽहं—सोऽसौ, योऽसौ—सोऽहम्" (नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत् ६)—"पूर्णमदः पूर्णमिदम्" (ईशोपनिषत् १) इत्यादि नैगमिक सिद्धान्तों के अनुसार विश्वाधिष्ठाता सर्वभूतान्तरात्मा प्रजापति के सर्वज्ञ—हिरण्यगर्भ—विराट्—भावों से सर्वात्मना समतुलित प्राज्ञ—तैजस—वैश्वानरमूर्त्ति, अतएव सर्वमूर्त्ति पूर्णता—सम्पन्न 'पुरुष' ही अपने हृदयस्थ 'मनु' तत्त्व के सम्बन्ध से * 'मानव' अभिधा से विभूषित बनता हुआ त्रैलोक्य में सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित हो रहा है"। मानव से अतिरिक्त और कोई वैसा श्रेष्ठ नहीं है, जिस श्रेष्ठतर मानव ने अपने प्रज्ञाबल से श्रेष्ठतम देवता—पितर—असुरादि का भी अपनी ज्ञानसीमा में अन्तर्भुक्त बनाते हुए 'अग्रवियया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्या" (शत० ब्रा० १४।४।२।२०) इस उदात्त घोषणा का अप्रतिम स्वत्वाधिकार प्राप्त कर लिया है।

सर्वश्रेष्ठ मानव, वास्तव में सर्वापेक्षया श्रेष्ठ—श्रेष्ठतर—श्रेष्ठतम मानव अपने प्रकृतिसिद्ध सहज गुण—धर्म्म (मानवधर्म्म) के प्रभाव से अपने पुराकाल में कैसा था?, क्या था?, और कौन था?, एवं आज वर्त्तमान में वही श्रेष्ठतम मानव अपने सहज गुण—धर्म्म—परित्याग से कैसा—क्या—और कौन बन गया?, यह एक महती समस्या आज हमारे सम्मुख उपस्थित है। "अतीत के श्रेष्ठतम भी परिपूर्ण भी मानव की वर्त्तमान में ऐसी निकृष्टतम दशा—दुर्दशा कैसे, और क्यों होगई" इसी महती समस्या के मौलिक—भावमयिक—उद्बोधनात्मक समाधान की जिज्ञासा अभिव्यक्त करता हुआ यह भावुक मानव राष्ट्र की विद्वत् संसत् के सम्मुख, इसके विचारशील मनीषी सदस्यों के सम्मुख प्रणतभाव से यह निवेदन कर रहा है कि, वे अनुग्रह कर अपनी लोकानुगता मतवादाभिनिविष्टा शास्त्राभासनिष्ठा का यदि कथञ्चित् परित्याग करते हुए विलुप्तप्राय उस नैगमिक राद्धान्त के आधार पर वैसा समाधान राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित करने का निःसीम अनुग्रह करें, जिससे द्रुतवेग से अपनी मौलिकता विस्मृत करता हुआ आज का भारतराष्ट्र उद्बोधन प्राप्त कर सके, एवं तद्द्वारा अपनी शाश्वत—सनातननिष्ठा के माध्यम से पुनः एक बार अपनी इस उदात्त घोषणा से असुरभावों को विकम्पित कर दे कि—"न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्"।

---

* य एव मनुष्याणां मनुष्यत्वं वेद, मनस्येव भवति। नैनं मनुर्जहाति।

—तैत्तिरीय ब्रा० ३।३।८।३।

पुन: वही तटस्थता, उदासीनवदासीनता, पारस्परिक मूकदृष्टि–निक्षेप। तत्ववेत्ता महर्षि की ओर से इसी परम्परा से पौनःपुनिक असन्तोषपरम्परा के अनुपात से निम्नलिखित समाधानपरम्परा समुपस्थित हुई कि—

"अग्नि र्वासितवेदमूर्त्ति–गायत्रीमात्रिकवेद के स्रष्टा सृष्ट्युत्पादक भगवान् ब्रह्मा सर्वश्रेष्ठ हैं"(१)। "सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति वामन–सत्यनारायण–गोलकलोकाधिष्ठाता सृष्टिपालक भगवान् विष्णु सर्वश्रेष्ठ हैं"(२)। "सर्वोमादमूर्त्ति–भूतपति–पशुपति–वृद्धभावोऽवस्थित दक्षिणामूर्त्ति सर्वसंहारक–सर्वसंरक्षक भगवान् रुद्र सर्वश्रेष्ठ हैं"(३)। "सृष्टिरहस्यवित्, अतएव सर्ववित् प्राणविद्यावित् महामहर्षि सर्वश्रेष्ठ हैं"(४)। "प्राणविद्या के आधार पर यज्ञविद्या का वितान कर इसके द्वारा मानवसमाज के त्रिविध तापों का उन्मूलन करने वाले विश्वमानवसमाज के शान्तिसन्देशवाहक भारतीय वेदवित् ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं (५)'।

उक्त पारस्परिक उत्तरों के साथ साथ ही महर्षि यह अनुभव करते गए कि, संसत् का कोई भी सदस्य इन पारस्परिक उत्तरों से सन्तुष्ट नहीं है। यही हुआ भी। सम्पूर्ण उत्तरों को अपने अन्तर्जगत् में केवल उत्तराभास ही अनुभव करने वाले संसत् के किसी भी तो सदस्य के मुख से तुष्ट्यात्मक 'ओमित्येतत्' इस प्रणव का उच्चारण न हुआ। पुराणपुरुष संसत् के इस मूकभाव से सहसा शान्तानन्दविभोर हो पड़े इसलिए कि, आज की इस ऋषिसंसत् में उन्हें वास्तविक सत्यपरीक्षक–तत्वविमर्शक योग्य

---

(१)—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।१।

(२)—तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्" (ऋक्संहिता १।२२।२०)।

(३)—यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥
—श्वेता० ३।४।

(४)—विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ॥
—ऋक्सं० १०।६२।५।

(५)—"कर्तृषु ब्रह्मवेदिनो ब्राह्मणाः श्रेष्ठाः" (मनु)
मदतस्त्वानुशीलनपरायणा एव ब्रह्मवादिनः।

मानव-जीवन की विमल धारा यदवधिपर्य्यन्त प्रकृतिसिद्ध सहज जीवन की अनुगामिनी बनी रही, तदवधिपर्य्यन्त मानव का पूर्णस्वरूप स्वस्वरूप से सुरक्षित-अभिवृद्ध-सुविकसित बना रहा। प्रज्ञापराध जनिता बुद्धिमानी का, कृत्रिम ज्ञान का, केवल मनोऽनुगता अनुभूति से युक्त काल्पनिक ज्ञानाभास का व्यामोहन ज्यों-ज्यों इस प्राकृतिक मानव को अपने वारुणपाश में उत्तरोत्तर अधिकाधिक आबद्ध करता गया, त्यों-त्यों इसकी सहज-प्राकृतिक-सत्त्वमायापन्ना-विमल शक्तियाँ अभिभूत होतीं हुईं अन्तर्मुख बनतीं गईं। इस कृत्रिम ज्ञानपरम्परा के अभिशाप से कालान्तर में इसने अपने सहज पूर्णस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर लिया। और यों अतीत युग का परिपूर्ण भी मानव अपने ही प्रज्ञादोष से वर्त्तमानयुग में स्वात्मस्वरूप को एकान्ततः विस्मृत कर 'शून्य शून्य' भाव में परिणत होता हुआ नास्तिसार शून्यवादी क्षणिकविज्ञान वादी बुद्ध के उस पथ का भ्रान्त पथिक बन गया, जिस इस निकृष्टतम भ्रान्त पथ का श्रेय प्रमुख अंशों में स्वार्थी उद्बोधक मानववर्ग के द्वारा उद्भावित उन मतवादपरम्पराओं को भी समर्पित किया जा सकता है, जिस नत्रप्रहात्मक नववर्ग का उद्वेगकर इतिवृत्त उत्तरखण्डानुगता मानवस्वरूपमीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है।

(१७)—सनातननिष्ठा की विस्मृति के दुष्परिणाम—

प्राकृतिक तत्त्वज्ञान के आधार पर सुप्रतिष्ठित शाश्वत 'सनातनधर्म्म' के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषण करने वाला आर्षसाहित्य (वैदिकसाहित्य), एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राकृतिक मानवधर्म्म जब तक मानव का पथप्रदर्शक बना रहा, तब तक मानव की विद्याबुद्धिलक्षणा आत्मबोधानुगता सहज-निष्ठा (सन्निष्ठा) अक्षुण्ण बनी रही। एवं जब तक इस सहजनिष्ठा के बल पर मानव के ऐहिक-आमुष्मिक सर्वविध कर्म्मकलाप-विधि-विधान-कर्त्तव्यकर्म्म सहजगति से सुव्यवस्थित-सम्पादित बने रहते हुए मानव को श्व श्व अभ्युदय-निःश्रेयस् की ओर आकर्षित करते हुए इसे कृतकृत्य बनाते रहे। कालान्तर में तमोगुणानुग्रह से, सामाजिकस्थितिविच्युति से जब आसुरभावमतिनिष्ठ असन्निष्ठ स्वार्थैकनिष्ठ दानव समतुलित मानवाधमों की ओर से मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्तपथ का आविर्भाव हो चला, तो सहज मानव लोकैषणामूला इस लोकश्रद्धा के व्यामोहन से आत्मत्राण करने में असमर्थ बनता हुआ अन्ततोगत्वा अन्तर्गर्भिता भावुकता के समुत्तेजन से सहसा यों लक्ष्यभ्रष्ट बन गया।

धर्म्ममूलक साहित्य (वेद) कर दिया इसने सर्वात्मना विस्मृत, एवं अनुगमन कर लिया इसने मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्त लौकिक साहित्य (सम्प्रदायवादसमर्थक सामयिक साहित्य)। आत्म-बुद्धिमूला सन्निष्ठा कर दी इसने आत्यन्तिकरूप से विस्मृत, एवं मनःशरीरमूला असद्भावुकता को बना लिया इसने अनन्य उपास्या। अपना सर्वस्व विस्मृत करते हुए इस भावुक भारतीय मानव ने परसम्पत्ति के चाकचिक्य-प्रदर्शनमात्र से अपने आपको तुच्छ-तुच्छ मानने की महती भ्रान्ति कर डाली। सर्वतन्त्र स्वतन्त्रतामूलक स्वावलम्ब-स्वसम्पत्ति-स्वात्मानुग्रह-स्वविद्याबुद्धिज्ञान-आदि आदि 'स्व'-भावों का एकान्ततः परित्याग कर बन गया यह इस प्रकार सर्वात्मना परावलम्बी-परसम्पत्तिलिप्सु- परानुग्रहाकांक्षी-परविद्या-

इस भावुक मन की एसी आत्मधारणा जागरूक है प्रस्तुत सामयिक—निबन्ध के सम्बन्ध में कि, इसके माध्यम से वर्तमान भारतीय भावुक मानव अपने वास्तविक उस प्राकृतिक सहज—परिपूर्ण—आत्मस्वरूपबोध की ओर आकर्षित हो सकेगा, जिस स्वरूपबोध के बिना अन्तर्जगत् में विद्यमान रहतीं हुईं भी दिव्यशक्तियाँ अनुपयुक्त ही प्रमाणित होती रहती हैं।

"उत्तिष्ठत ! जाग्रत !! प्राप्य वरान्निबोधत !!!"

पुराणपुरुष के उक्त महामाङ्गलिक आदेश की माङ्गलिक प्रेरणा से प्रेरित होकर निगमनिष्ठा को अपना आराध्य बना लेने वाले आस्थाश्रद्धाशील भारतीय भावुक मानव को आर्षनिष्ठा की निकषा के आधार पर ही इसकी विस्मृत आर्षनिष्ठा की ओर इसे आकर्षित करेगी, निश्चयेन करेगी, इति मृषा नीतिर्ममेतिर्मम।

(१६)—आत्मबोधविस्मृति के दुष्परिणाम—

"स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चित्" इस दार्शनिक सूक्ति के अनुसार अपने आपको पहिचान लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। अपने स्वरूपबोध के बिना मानव प्रकृत्या परिपूर्ण रहता हुआ भी 'अस्मिता' नाम की अविद्याबुद्धि के अनुग्रह से अपने आपको अपूर्ण—अल्पज्ञ—अल्पशक्ति—असमर्थ—अयोग्य—हीनबलवीर्य्यपराक्रम—दीन—दरिद्री अनुभव किया करता है। ऐतिहासिक तथ्य इस दिशा में निम्नलिखित रूप से प्रमाण बन रहा है। श्रूयताम्।

आर्यधर्म्मसंरक्षक (मानवधर्म्मसंरक्षक) मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के अनन्योपासक श्री मारुति (हनूमान्) वानरयूथ के साथ दक्षिण समुद्र के तट पर एक ओर इसलिए नितान्त उदासीनभाव से आसीन हैं कि, वे समुद्रलंघन जैसे दुष्कर—दुःसाध्य कर्म्म में अपने आपको सर्वथा असमर्थ अनुभूत कर रहे हैं। जगन्माता सीतादेवी की अन्वेषणचिन्ता में निमग्न सर्वोपरिगत वानरश्रेष्ठों के द्वारा उल्लङ्घन की परिमाण—योग्यता के सम्बन्ध में स्व—स्व—बलपौरुष की इयत्ता का प्रसङ्ग प्रक्रान्त है। सहसा यूथाधिप का ध्यान श्रीमारुति की ओर आकर्षित होता है। स्वरूपबोध के अभाव से तटस्थ बने हुए मारुति यूथाधिपति के प्रति इस कार्य्य—साधन के प्रति जब अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं, तो यूथाधिप की ओर से 'सुनो मारुति ! तुम कौन हो' इस उद्बोधनसूत्रोपक्रम से मारुति का आभ्यन्तर निःसीम—बल—वीर्य्य—पराक्रम (शारीरिकबलात्मक बल, मानसबलात्मक वीर्य्य, एवं बुद्धिबलात्मक पराक्रम) रूप स्वरूपोद्बोधन आरम्भ हो जाता है। इस आत्मस्वरूप—निरूपण—श्रवण के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही मारुति प्रचण्ड घनगर्जनसमतुलित हुङ्कार—गर्जन—तर्जन—पूर्वक उस दुःसाध्य कर्म्मसाधन में मारुति प्रवृत्त हो ही तो जाते हैं, जो कर्म्म स्वरूपबोध के इस आंशिक उपक्रमण से पूर्व मारुति की दृष्टि में नितान्त असम्भव प्रमाणित हो रहा था।

ठीक यही स्थिति—परिस्थिति आज के भावुक मानव के, स्वरूपबोध के आंशिक स्वरूपबोध से भी वञ्चित विमूढ़ मानव के सम्बन्ध में यथात्मना अन्वर्थ प्रमाणित हो रही है, जिस इस अनार्ष, भावुकता पूर्ण—दास्य—वर्णसंकर—पुरुषार्थविहीन स्थिति को हम [illegible] भी एक दुःखपूर्ण उदाहरण दर्शित है।

मानव-जीवन की विमल धारा यदवधिपर्यन्त प्रकृतिसिद्ध सहज जीवन की अनुगामिनी बनी रही, तदवधिपर्यन्त मानव का पूर्णस्वरूप स्वस्वरूप से सुरक्षित-अभिवृद्ध-सुविकसित बना रहा। प्रज्ञापराध जनिता बुद्धिमानी का, कृत्रिम ज्ञान का, केवल मनोऽनुगता अनुभूति से युक्त काल्पनिक ज्ञानाभास का व्यामोहन ज्यों-ज्यों इस प्राकृतिक मानव को अपने बारुणपाश में उत्तरोत्तर अधिकाधिक आबद्ध करता गया, त्यों-त्यों इसकी सहज-प्राकृतिक-सत्यभावापन्ना-विमल शक्तियाँ अभिभूत होतीं हुई अन्तर्मुख बनतीं गईं। इस कृत्रिम ज्ञानपरम्परा के अभिशाप से कालान्तर में इसने अपने सहज पूर्णस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर लिया। और यों अतीत युग का परिपूर्ण भी मानव अपने ही प्रज्ञादोष से वर्त्तमानयुग में स्वात्मस्वरूप को एकान्ततः विस्मृत कर 'शून्य शून्य' मात्र में परिणत होता हुआ नास्तिसार शून्यवादी क्षणिकविज्ञान वादी बुद्ध के उस पथ का भ्रान्त पथिक बन गया, जिस इस निकृष्टतम भ्रान्त पथ का श्रेय अमुक अंशों में स्वार्थी उद्बोधक मानववर्ग के द्वारा उद्भावित उन मतवादपरम्पराओं को भी समर्पित किया जा सकता है, जिस नम्रप्रहात्मक नववर्ग का उद्वेगकर इतिवृत्त उत्तरखण्डानुगता मानवस्वरूपमीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है।

(१७)—सनातननिष्ठा की विस्मृति के दुष्परिणाम—

प्राकृतिक तत्त्वज्ञान के आधार पर सुप्रतिष्ठित शाश्वत 'सनातनधर्म्म' के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषण करने वाला आर्षसाहित्य (वैदिकसाहित्य), एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राकृतिक मानवधर्म्म जब तक मानव का पथप्रदर्शक बना रहा, तब तक मानव की विद्याबुद्धिलक्षणा आत्मबोधानुगता सहज-निष्ठा (सन्निष्ठा) अक्षुण्ण बनी रही। एवं तब तक इस सहजनिष्ठा के बल पर मानव के ऐहिक-आमुष्मिक सर्वविध कर्म्मकलाप-विधि-विधान-कर्त्तव्यकर्म्म सहजगति से सुव्यवस्थित-मर्य्यादित बने रहते हुए मानव को श्व श्व अभ्युदय-निःश्रेयस् की ओर आकर्षित करते हुए इसे कृतकृत्य बनाते रहे। कालान्तर में तमोगुणानुग्रह से, सामाजिकस्थितिविच्युति से जब आसुरभावमतिनिष्ठ असन्निष्ठ स्वार्थैकनिष्ठ दानव समतुलित मानवाधमों की ओर से मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्तपथ का आविर्भाव हो पड़ा, तो सहज मानव लोकैषणामूला इस लोकसंज्ञा के व्यामोहन से आत्मत्राण करने में असमर्थ बनता हुआ अन्ततोगत्वा अन्तर्गर्भिता भावुकता के समुत्तेजन से सहसा यों लक्ष्यभ्रष्ट बन गया।

धर्म्ममूलक साहित्य (वेद) कर दिया इसने सर्वात्मना विस्मृत, एवं अनुगमन कर लिया इसने मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्त लौकिक साहित्य (सम्प्रदायवादसमर्थक सामयिक साहित्य)। आत्म-बुद्धिमूला सन्निष्ठा कर दी इसने आत्यन्तिकरूप से विस्मृत, एवं मन शरीरमूला असद्भावुकता को बना लिया इसने अनन्य उपास्या। अपना सर्वस्व विस्मृत करते हुए इस भावुक भारतीय मानव ने परसम्पत्ति के चाकचिक्य-प्रदर्शनमात्र से अपने आपको तुष्ट-तृप्त मानने की महती भ्रान्ति कर डाली। सर्वतन्त्र स्वतन्त्रतामूलक स्वावलम्ब-स्वसम्पत्ति-स्वात्मानुग्रह-स्वविद्याबुद्धिज्ञान-आदि आदि 'स्व'-भावों का एकान्ततः परित्याग कर बन गया यह इस प्रकार सर्वात्मना परावलम्बी-परसम्पत्तिलिप्सु- परानुग्रहाकांक्षी-परविद्या-

इस भावुक मन की एसी आत्मधारणा जागरूक है प्रस्तुत सामयिक–निबन्ध के सम्बन्ध में कि, इसके माध्यम से वर्तमान भारतीय भावुक मानव अपने वास्तविक उस प्राकृतिक सहज–परिपूर्ण–आत्मस्वरूपबोध की ओर आकर्षित हो सकेगा, जिस स्वरूपबोध के बिना अन्तर्जगत् में विद्यमान रहतीं हुई भी दिव्यशक्तियाँ अनुपयुक्त ही प्रमाणित होतीं रहतीं हैं।

"उत्तिष्ठत ! जाग्रत !! प्राप्य वरान्निबोधत !!!"

पूज्यपुरुष के उक्त महामाङ्गलिक आदेश की माङ्गलिक प्रेरणा से प्रेरित होकर निगमनिष्ठा को अपना आराध्य बना लेने वाले आस्थाश्रद्धाशील भारतीय भावुक मानव का आर्षनिष्ठा की निकषा के आधार पर ही इसकी विस्मृत आर्षनिष्ठा की ओर इसे आकर्षित करेगी, निश्चयेन करेगी, इति ध्रुवा नीतिर्म्मतिर्म्मम।

(१६)—आत्मबोधविस्मृति के दुष्परिणाम—

"स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चित्" इस दार्शनिक सूक्ति के अनुसार अपने आपको पहिचान लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। अपने स्वरूपबोध के बिना मानव प्रकृत्या परिपूर्ण रहता हुआ भी 'अस्मिता' नाम की अविद्याबुद्धि के अनुग्रह से अपने आपको अपूर्ण–अल्पज्ञ–अल्पशक्ति–असमर्थ–अयोग्य–हीनबलवीर्य्यपराक्रम–दीन–दरिद्री अनुभव किया करता है। ऐतिहासिक तथ्य इस दिशा में निम्नलिखित रूप से प्रमाण बन रहा है। श्रूयताम्।

आर्षधर्म्मसंरक्षक (मानवधर्म्मसंरक्षक) मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के अनन्योपासक श्री मारुति (हनुमान्) वानरयूथ के साथ दक्षिण समुद्र के तट पर एक ओर इसलिए नितान्त उदासीनभाव से आसीन हैं कि, वे समुद्रलंघन जैसे दुष्कर–दुःसाध्य कर्म्म में अपने आपको सर्वथा असमर्थ अनुभूत कर रहे हैं। जगन्माता सीतादेवी की अन्वेषणचिन्ता में निमग्न यशोपरिषद् वानरश्रेष्ठों के द्वारा उल्लङ्घन की परिमाण–योग्यता के सम्बन्ध में स्व–स्व–बलपौरुष की इयत्ता का प्रसङ्ग प्रक्रान्त है। सहसा यूथाधिप का ध्यान श्रीमारुति की ओर आकर्षित होता है। स्वरूपबोध के अभाव से तटस्थ बने हुए मारुति यूथाधिपति के प्रति इस कार्य्य–साधन के प्रति जब अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं तो यूथाधिप की ओर से 'सुनो मारुति ! तुम कौन हो' इस उद्बोधनसूत्रोपक्रम से मारुति का आभ्यन्तर निःसीम–बल–वीर्य्य–पराक्रम (शारीरिकबलात्मक बल मनोबलात्मक वीर्य्य, एवं बुद्धिबलात्मक पराक्रम) रूप स्वरूपोपस्थान आरम्भ हो जाता है। इस आत्मस्वरूप–विश्लेषण–श्रवण के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही मारुति प्रचण्ड घनगर्जनसमद्धित हुङ्कार–गर्जन–तर्जन–पूर्वक उस दुःसाध्य कर्म्मसाधन में झटिति प्रवृत्त हो ही तो जाते हैं जो कर्म्म स्वरूपबोध के इस आंशिक उपस्थान से पूर्व मारुति की दृष्टि में नितान्त असम्भव प्रमाणित हो रहा था।

ठीक यही स्थिति–परिस्थिति आज के भावुक मानव के, स्वरूपबोध के आंशिक स्वरूपबोध से भी वञ्चित विमूढ मानव के सम्बन्ध में सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित हो रही है, जिस इस अनार्य, भावुकता–पूर्ण–असत्य–अकीर्तिकर–पुरुषार्थविहीन दशा, किंवा दुर्दशा का भी एक दुःखपूर्ण उद्वेगकर इतिहास है।

मानव-जीवन की विमल धारा यदवधिपर्य्यन्त प्रकृतिसिद्ध सहज जीवन की अनुगामिनी बनी रही, तदवधिपर्य्यन्त मानव का पूर्णस्वरूप स्वस्वरूप में सुरक्षित-अभिवृद्ध-सुविकसित बना रहा। प्रज्ञापराध जनिता बुद्धिमानी का, कृत्रिम ज्ञान का, केवल मनोऽनुगता अनुभूति से युक्त काल्पनिक ज्ञानाभास का व्यामोहन ज्यों-ज्यों इस प्राकृतिक मानव को अपने वारुणपाश में उत्तरोत्तर अधिकाधिक आबद्ध करता गया, त्यों-त्यों इसकी सहज-प्राकृतिक-सत्यभावापन्ना-विमल शक्तियाँ अभिभूत होतीं हुई अन्तर्मुख बनतीं गई। इस कृत्रिम ज्ञानपरम्परा के अभिशाप से कालान्तर में इसने अपने सहज पूर्णस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर लिया। और यों अतीत युग का परिपूर्ण भी मानव अपने ही प्रज्ञादोष से वर्त्तमानयुग में स्वात्मस्वरूप को एकान्तत विस्मृत कर 'शून्य शून्य' भाव में परिणत होता हुआ नास्तिसार शून्यवादी क्षणिकविज्ञान वादी बुद्ध के उस पथ का भ्रान्त पथिक बन गया, जिस इस निकृष्टतम भ्रान्त पथ का श्रेय प्रमुक अंशों में स्वार्थी उद्बोधक मानववर्ग के द्वारा उद्भावित उन मतवादपरम्पराओं को भी समर्पित किया जा सकता है, जिस मतग्रहात्मक मतवर्ग का उद्गमकर इतिहास उत्तरखण्डानुगता मानवस्वरूपमीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है।

(१७)—सनातननिष्ठा की विस्मृति के दुष्परिणाम—

प्राकृतिक तत्त्वज्ञान के आधार पर सुप्रतिष्ठित शाश्वत 'सनातनधर्म्म' के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषण करने वाला आर्षसाहित्य (वैदिकसाहित्य), एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राकृतिक मानवधर्म्म जब तक मानव का पथप्रदर्शक बना रहा, तब तक मानव की विद्याबुद्धिलक्षणा आत्मयोगानुगता सहज-निष्ठा (सन्निष्ठा) अक्षुण्ण बनी रही। एवं तब तक इस सहजनिष्ठा के बल पर मानव के ऐहिक-आमुष्मिक सर्वविध कर्म्मकलाप-विधि-विधान-कर्त्तव्यकर्म्म सहजगति से सुव्यवस्थित-मर्य्यादित बने रहते हुए मानव को इव इव अभ्युदय-निःश्रेयस् की ओर आकर्षित करते हुए इसे कृतकृत्य बनाते रहे। कालान्तर में तमोगुणानुग्रह से, सामाजिकस्थितिविच्युति से जब आसुरभावमतिनिष्ठ असन्निष्ठ स्वार्थैकनिष्ठ दानव समतुलित मानवाधमों की ओर से मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्तपथ का आविर्भाव हो पड़ा, तो सहज मानव लोकैषणामूला इस लोकश्रद्धा के व्यामोहन से आत्मरक्षा करने में असमर्थ बनता हुआ अन्ततोगत्वा अन्तर्गर्भिता भावुकता के समुत्तेजन से सहसा यों लक्ष्यभ्रष्ट बन गया।

धर्म्ममूलक साहित्य (वेद) कर दिया इसने सर्वात्मना विस्मृत, एवं अनुगमन कर लिया इसने मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्त लौकिक साहित्य (सम्प्रदायवादसमर्थक सामयिक साहित्य)। आत्म बुद्धिमूला सन्निष्ठा कर दी इसने आत्यन्तिकरूप से विस्मृत, एवं मनःशरीरमूला असद्भावुकता को बना लिया इसने अनन्य उपास्या। अपना सर्वस्व विस्मृत करते हुए इस भावुक भारतीय मानव ने परसम्पत्ति के चाकचिक्य-प्रदर्शनमात्र से अपने आपको तुष्ट-तृप्त मानने की महती भ्रान्ति कर डाली। सर्वतन्त्र स्वतन्त्रतामूलक स्वावलम्ब-स्वसम्पत्ति-स्वात्मानुग्रह-स्वविद्याबुद्धिज्ञान-आदि आदि 'स्व' भावों का एकान्ततः परित्याग कर बन गया यह इस प्रकार सर्वात्मना परावलम्बी-परसम्पत्तिलिप्सु- परानुग्रहाकांक्षी-परविद्या-

इस भावुक जन की ऐसी आत्मधारणा जागरूक है प्रस्तुत सामयिक–निबन्ध के सम्बन्ध में कि, इसके माध्यम से वर्त्तमान भारतीय भावुक मानव अपने वास्तविक उस प्राकृतिक सहज–परिपूर्ण–आत्मस्वरूपबोध की ओर आकर्षित हो सकेगा, जिस स्वरूपबोध के बिना अन्तर्जगत् में विद्यमान रहतीं हुई भी दिव्यशक्तियाँ अनुपयुक्त ही प्रमाणित होती रहतीं हैं।

"उत्तिष्ठत ! जाग्रत !! प्राप्य वरान्निबोधत !!!"

पूर्णपुरुष के उक्त महामाङ्गलिक आदेश की माङ्गलिक प्रेरणा से प्रेरित होकर निगमनिष्ठा को अपना आराध्य बना लेने वाले आरण्यश्रद्धाशील भारतीय भावुक मानव का आर्षनिष्ठा की निष्ठा के आधार पर ही इसकी विस्मृत आर्षनिष्ठा की ओर इसे आकर्षित करेगी, निश्चयेन करेगी, इति ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।

(१६)—आत्मबोधविस्मृति के दुष्परिणाम—

"स्वात्मावबोधादपरं न किञ्चित्" इस दार्शनिक सूक्ति के अनुसार अपने आपको पहिचान लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। अपने स्वरूपबोध के बिना मानव प्रकृत्या परिपूर्ण रहता हुआ भी 'अस्मिता' नाम की अविद्याबुद्धि के अनुग्रह से अपने आपको अपूर्ण–अल्पज्ञ–अल्पशक्ति–असमर्थ–अयोग्य–हीनबलवीर्य्यपराक्रम–दीन–दरिद्री अनुभव किया करता है। ऐतिहासिक तथ्य इस दिशा में निम्नलिखित रूप से प्रमाण बन रहा है। श्रूयताम्!

आर्षधर्म्मसंरक्षक (मानवधर्म्मसंरक्षक) मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के अनन्योपासक श्री मारुति (हनुमान) वानरयूथ के साथ दक्षिण समुद्र के तट पर एक ओर इसलिए नितान्त उदासीनभाव से आसीन हैं कि, वे समुद्रलंघन जैसे दुष्कर–दुःसाध्य कर्म्म में अपने आपको सर्वथा असमर्थ अनुभूत कर रहे हैं। जगन्माता सीतादेवी की अन्वेषणलिप्सा में निमग्न तत्रोपस्थित वानरश्रेष्ठों के द्वारा उल्लङ्घन की परिमाण–योग्यता के सम्बन्ध में स्व–स्व–बलपौरुष की इयत्ता का प्रसङ्ग प्रक्रान्त है। सहसा यूथाधिप का ध्यान श्रीमारुति की ओर आकर्षित होता है। स्वरूपबोध के अभाव से तटस्थ बने हुए मारुति यूथाधिपति के प्रति इस कार्य्य–साधन के प्रति जब अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं, तो यूथाधिप की ओर से 'सुनो मारुति! तुम कौन हो' इस उद्बोधनसूत्रोपक्रम से मारुति का आभ्यन्तर निःसीम–बल–वीर्य्य–पराक्रम (शारीरिकबलात्मक बल, मनोबलात्मक वीर्य्य, एवं बुद्धिबलात्मक पराक्रम) रूप स्वरूपोपबर्णन आरम्भ हो जाता है। इस आत्मस्वरूप–विश्लेषण–श्रवण के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही मारुति प्रचण्ड घनगर्जनसमन्वित हुङ्कार–गर्जन–तर्जन–पूर्वक उस दुःसाध्य कर्म्मसाधन में झटिति प्रवृत्त हो ही तो जाते हैं, जो कर्म्म स्वरूपबोध के इस आंशिक उपवर्णन से पूर्व मारुति की दृष्टि में नितान्त असम्भव प्रमाणित हो रहा था।

ठीक यही स्थिति–परिस्थिति आज के भावुक मानव के, स्वरूपबोध के आंशिक स्वरूपबोध से भी वञ्चित विमूढ मानव के सम्बन्ध में सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित हो रही है, जिस इस अनार्ष भावुकता पूर्ण–असत्य–अकीर्तिकर–पुरुषार्थविहीन दशा किंवा दुर्दशा का भी एक दुःखपूर्ण उद्वेगकर इतिहास है।

मानव-जीवन की विमल धारा यदवधिपर्य्यन्त प्रकृतिसिद्ध सहज जीवन की अनुगामिनी बनी रही, तदवधिपर्य्यन्त मानव का पूर्णस्वरूप स्वस्वरूप से सुरक्षित-अभिवृद्ध-सुविकसित बना रहा। प्रज्ञापराध जनिता बुद्धिमानी का, कृत्रिम ज्ञान का, केवल मनोऽनुगता अनुभूति से युक्त काल्पनिक ज्ञानाभास का व्यामोहन ज्यों-ज्यों इस प्राकृतिक मानव को अपने वारुणपाश में उत्तरोत्तर अधिकाधिक आबद्ध करता गया, त्यों-त्यों इसकी सहज-प्राकृतिक-सत्त्वभावापन्ना-विमल शक्तियाँ अभिभूत होतीं हुईं अन्तर्मुख बनतीं गईं। इस कृत्रिम ज्ञानपरम्परा के अभिशाप से कालान्तर में इसने अपने सहज पूर्णस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर लिया। और यों अतीत युग का परिपूर्ण भी मानव अपने ही प्रज्ञादोष से वर्त्तमानयुग में स्वात्मस्वरूप को एकान्ततः विस्मृत कर 'शून्य शून्य' भाव में परिणत होता हुआ नास्तिसार शून्यवादी क्षणिकविज्ञान वादी बुद्ध के उस पथ का भ्रान्त पथिक बन गया, जिस इस निकृष्टतम भ्रान्त पथ का श्रेय अमुक अंशों में स्वार्थी उद्बोधक मानववर्ग के द्वारा उद्भावित उन मतवादपरम्पराओं को भी समर्पित किया जा सकता है, जिस नवग्रहात्मक नववर्ग का उद्धरण इतिहास उत्तरखण्डानुगता मानवस्वरूपमीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है।

(१७)—सनातननिष्ठा की विस्मृति के दुष्परिणाम—

प्राकृतिक तत्त्वज्ञान के आधार पर सुप्रतिष्ठित शाश्वत 'सनातनधर्म्म' के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषण करने वाला आर्षसाहित्य (वैदिकसाहित्य), एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राकृतिक मानवधर्म्म जब तक मानव का पथप्रदर्शक बना रहा, तब तक मानव की विद्याबुद्धिलक्षणा आत्मबोधानुगता सहज निष्ठा (सन्निष्ठा) अक्षुण्ण बनी रही। एवं तब तक इस सहजनिष्ठा के बल पर मानव के ऐहिक-आमुष्मिक सर्वविध कर्म्मकलाप विधि-विधान-कर्त्तव्यकर्म्म-सहजगति से सुव्यवस्थित-मर्य्यादित बने रहते हुए मानव को श्व श्व अभ्युदय-निःश्रेयस् की ओर आकर्षित करते हुए इसे कृतकृत्य बनाते रहे। कालान्तर में तमोगुणानुग्रह से, सामाजिकस्थितिविच्युति से जब आसुरभावमतिनिष्ठ असन्निष्ठ स्वार्थैकनिष्ठ दानव सम्मुखित मानवधर्मों की ओर से मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्तपथ का आविर्भाव हो पड़ा, तो सहज मानव लोकैषणामूला इस लोकश्रद्धा के व्यामोहन से आत्मत्राण करने में असमर्थ बनता हुआ अन्ततोगत्वा अन्तर्गर्भिता भावुकता के समुत्तेजन से सहसा यों लक्ष्यभ्रष्ट बन गया।

धर्म्ममूलक साहित्य (वेद) कर दिया इसने सर्वात्मना विस्मृत, एवं अनुगमन कर लिया इसने मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्त लौकिक साहित्य (सम्प्रदायवादसमर्थक सामयिक साहित्य)। आत्म-बुद्धिमूला सन्निष्ठा कर दी इसने आत्यन्तिकरूप से विस्मृत, एवं मनःशरीरमूला असद्भावुकता को बना लिया इसने अनन्य उपास्या। अपना सर्वस्व विस्मृत करते हुए इस भावुक भारतीय मानव ने परसम्पत्ति के वाक्चिक्य-प्रदर्शनमात्र से अपने आपको तुष्ट-तृप्त मानने की महती भ्रान्ति कर डाली। सर्वतन्त्र स्वतन्त्रतामूलक स्वावलम्ब-स्वसम्पत्ति-स्वात्मानुग्रह-स्वविद्याबुद्धिज्ञान-आदि आदि 'स्व'-भावों का एकान्ततः परित्याग कर बन गया यह इस प्रकार सर्वात्मना परावलम्बी-परसम्पत्तिलिप्सु- परानुग्रहाकांक्षी-परविद्या-

इस भावुक जन की ऐसी आत्मधारणा जागरूक है प्रस्तुत सामयिक-निबन्ध के सम्बन्ध में कि, इसके माध्यम से वर्तमान भारतीय भावुक मानव अपने वास्तविक उस प्राकृतिक सहज-परिपूर्ण-आत्मस्वरूपबोध की ओर आकर्षित हो सकेगा, जिस स्वरूपबोध के बिना अन्तर्जगत् में विद्यमान रहतीं हुई भी दिव्यशक्तियाँ अनुपयुक्त ही प्रमाणित होतीं रहतीं हैं।

"उत्तिष्ठत ! जाग्रत !! प्राप्य वराभिबोधत !!!"

पूण्यपुरुष के उक्त महामाङ्गलिक आदेश की माङ्गलिक प्रेरणा से प्रेरित होकर निगमनिष्ठा को अपना आराध्य बना लेने वाले आस्थाश्रद्धाशील भारतीय भावुक मानव को आगमनिष्ठा की निकषा के आधार पर ही इसकी विस्मृत आगमनिष्ठा की ओर इसे आकर्षित करेगी, निश्चयेन करेगी, इति भुषा नीतिर्मतिर्मम।

(१६)—आत्मबोधविस्मृति के दुष्परिणाम—

"स्वात्मावबोधादपर न किञ्चित्" इस दार्शनिक सूक्ति के अनुसार अपने आपको पहिचान लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। अपने स्वरूपबोध के बिना मानव प्रकृत्या परिपूर्ण रहता हुआ भी 'अस्मिता' नाम की अविद्याबुद्धि के अनुग्रह से अपने आपको अपूर्ण-अल्पज्ञ-अल्पशक्ति-असमर्थ-अयोग्य-हीनबलवीर्य्यपराक्रम-दीन-दरिद्री अनुभव किया करता है। ऐतिहासिक तथ्य इस दिशा में निम्नलिखित रूप से प्रमाण बन रहा है। श्रूयताम्।

मानवधर्म्मसंरक्षक (मानवधर्म्मसंरक्षक) मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के अनन्योपासक श्री मारुति (हनुमान्) वानरयूथ के साथ दक्षिण समुद्र के तट पर एक ओर इसलिए नितान्त उदासीनभाव से आसीन हैं कि, वे समुद्रलंघन जैसे दुष्कर-दुःसाध्य कर्म्म में अपने आपको सर्वथा असमर्थ अनुभव कर रहे हैं। जगन्माता सीतादेवी की अन्वेषणजिज्ञासा में निमग्न तत्रोपस्थित वानरश्रेष्ठों के द्वारा उल्लङ्घन की परिमाण-योग्यता के सम्बन्ध में स्व-स्व-बलपौरुष की इयत्ता का प्रसङ्ग प्रक्रान्त है। सहसा यूथाधिप का ध्यान श्रीमारुति की ओर आकर्षित होता है। स्वरूपबोध के अभाव से तटस्थ बने हुए मारुति यूथाधिपति के प्रति इस कार्य्य-साधन के प्रति जब अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं, तो यूथाधिप की ओर से सुनो मारुति ! तुम कौन हो' इस उद्बोधनसूत्रोपक्रम से मारुति का आभ्यन्तर निःसीम-बल-वीर्य्य-पराक्रम (शारीरिकबलात्मक बल, मनोबलात्मक वीर्य्य, एवं बुद्धिबलात्मक पराक्रम) रूप स्वरूपोपबोधान आरम्भ हो जाता है। इस आत्मस्वरूप-विश्लेषण-श्रवण के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही मारुति प्रचण्ड घनगर्जनसमतुलित हुङ्कार-गर्जन-तर्जन-पूर्वक उस दुःसाध्य कर्म्मसाधन में झटिति प्रवृत्त हो ही तो जाते हैं, जो कर्म्म स्वरूपबोध के इस आंशिक उपबोधन से पूर्व मारुति की दृष्टि में नितान्त असम्भव प्रमाणित हो रहा था।

ठीक यही स्थिति-परिस्थिति आज के भावुक मानव के, स्वरूपबोध के आंशिक स्वरूपबोध से भी वञ्चित विमूढ़ मानव के सम्बन्ध में सर्वात्मना अन्वय प्रमाणित हो रही है, जिस इस अनार्ष, भावुकता पूर्ण-अव्यय-अभीप्सितकर-पुरुषार्थविहीन दशा, किंवा दुर्दशा का भी एक दुःखपूर्ण उद्वेगकर इतिहास है।

मानव-जीवन की विमल धारा यदवधिपर्य्यन्त प्रकृतिसिद्ध सहज-जीवन की अनुगामिनी बनी रही, तदवधिपर्य्यन्त मानव का पूर्णस्वरूप स्वस्वरूप से सुरक्षित-अभिवृद्ध-सुविकसित बना रहा। प्रज्ञापराध जनिता बुद्धिमानी का, कृत्रिम ज्ञान का, केवल मनोऽनुगता अनुभूति से युक्त काल्पनिक ज्ञानाभास का व्यामोहन ज्यों-ज्यों इस प्राकृतिक मानव को अपने बाग्जाल में उत्तरोत्तर अधिकाधिक आबद्ध करता गया, त्यों-त्यों इसकी सहज-प्राकृतिक-सत्त्वभावापन्ना-विमल शक्तियाँ अभिभूत होती हुई अन्तर्मुख बनती गई। इस कृत्रिम ज्ञानपरम्परा के अभिशाप से कालान्तर में इसने अपने सहज पूर्णस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर लिया। और यों अतीत युग का परिपूर्ण भी मानव अपने ही प्रज्ञादोष से वर्त्तमानयुग में स्वात्मस्वरूप को एकान्ततः विस्मृत कर 'शून्य शून्य' भाव में परिणत होता हुआ नास्तिसार शून्यवादी क्षणिकविज्ञान वादी बुद्ध के उस पथ का भ्रान्त पथिक बन गया, जिस इस निकृष्टतम भ्रान्त पथ का श्रेय अमुक अंशों में स्वार्थी उद्बोधक मानववर्ग के द्वारा उद्भावित उन मतवादपरम्पराओं को भी समर्पित किया जा सकता है, जिस नवग्रहात्मक नववर्ग का उदगकर इतिवृत्त उत्तरखण्डानुगता मानवस्वरूपमीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है।

(१७)—सनातननिष्ठा की विस्मृति के दुष्परिणाम—

प्राकृतिक सत्त्वज्ञान के आधार पर सुप्रतिष्ठित शाश्वत 'सनातनधर्म्म' के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषण करने वाला आर्षसाहित्य (वैदिकसाहित्य), एवं सदाचारेण प्रतिष्ठित प्राकृतिक मानवधर्म्म जब तक मानव का पथप्रदर्शक बना रहा, तब तक मानव की विद्याबुद्धिलक्षणा आत्मबोधानुगता सहज निष्ठा (सन्निष्ठा) अक्षुण्ण बनी रही। एवं तब तक इस सहजनिष्ठा के बल पर मानव के ऐहिक-आमुष्मिक सर्वविध कर्म्मकलाप-विधि-विधान-कर्त्तव्यकर्म्म सहजगति से सुव्यवस्थित-मर्य्यादित बने रहते हुए मानव को श्व श्वः अभ्युदय-निःश्रेयस् की ओर आकर्षित करते हुए इसे कृतकृत्य बनाते रहे। कालान्तर में तमोगुणानुग्रह से, सामाजिकस्थितिविच्युति से जब आसुरभावमतिनिष्ठ असन्निष्ठ स्वार्थैकनिष्ठ दानव सम्मुलित मानवधर्म्मों की ओर से मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्तपथ का आविर्भाव हो पड़ा, तो सहज मानव लोकैषणामूला इस लोकश्रद्धा के व्यामोहन से आत्मत्राण करने में असमर्थ बनता हुआ अन्ततोगत्वा अन्तर्गर्भिता भावुकता के समुत्तेजन से सहसा यों लक्ष्यभ्रष्ट बन गया।

धर्म्ममूलक साहित्य (वेद) कर दिया इसने सर्वात्मना विस्मृत, एवं अनुगमन कर लिया इसने मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्त लौकिक साहित्य (सम्प्रदायवादसमर्थक सामयिक साहित्य)। आत्म-बुद्धिमूला सन्निष्ठा कर दी इसने आत्यन्तिकरूप से विस्मृत, एवं मन शरीरमूला असद्भावुकता को बना लिया इसने अनन्य उपास्या। अपना सर्वस्व विस्मृत करते हुए इस भावुक भारतीय मानव ने परसम्पत्ति के बाक्चिक्य-प्रदर्शनमात्र से अपने आपको तुष्ट-तृप्त मानने की महती भ्रान्ति कर डाली। सर्वतन्त्र स्वतन्त्रतामूलक स्वावलम्ब-स्वसम्पत्ति-स्वात्मानुग्रह-स्वविद्याबुद्धिज्ञान-आदि आदि 'स्व'-भावों का एकान्ततः परित्याग कर बन गया यह इस प्रकार सर्वात्मना परावलम्बी-परसम्पत्तिलिप्सु-परानुग्रहाकांक्षी-परविद्या-

इस भावुक जन की ऐसी आत्मधारणा जागरूक है प्रस्तुत सामयिक–निबन्ध के सम्बन्ध में कि, इसके माध्यम से वर्त्तमान भारतीय भावुक मानव अपने वास्तविक उस प्राकृतिक सहज–परिपूर्ण–आत्मस्वरूपबोध की ओर आकर्षित हो सकेगा, जिस स्वरूपबोध के बिना अन्तर्जगत् में विद्यमान रहतीं हुई भी दिव्यशक्तियाँ अनुपयुक्त ही प्रमाणित होतीं रहतीं हैं।

"उत्तिष्ठत ! जाग्रत !! प्राप्य वराभिबोधत !!!"

पूज्यपुरुष के उक्त महामाङ्गलिक आदेश की माङ्गलिक प्रेरणा से प्रेरित होकर निगमनिष्ठा को अपना आराध्य बना लेने वाले आस्थाश्रद्धाशील भारतीय भावुक मानव को आगमनिष्ठा की निकषा के आधार पर ही इसकी विस्मृत आर्षनिष्ठा की ओर इसे आकर्षित करेगी, निश्चयेन करेगी, इति मुधा नीतिर्म्मतिर्मम।

(१६)—आत्मबोधविस्मृति के दुष्परिणाम—

"स्वात्मावबोधात्पर न किञ्चित्" इस दार्शनिक सूक्ति के अनुसार अपने आपको पहिचान लेना ही मानव का परमपुरुषार्थ है। अपने स्वरूपबोध के बिना मानव प्रकृत्या परिपूर्ण रहता हुआ भी 'अस्मिता' नाम की अविद्याबुद्धि के अनुग्रह से अपने आपको अपूर्ण–अल्पज्ञ–अल्पशक्ति–असमर्थ–अयोग्य–हीनबलवीर्य्यपराक्रम–दीन–दरिद्री अनुभव किया करता है। ऐतिहासिक तथ्य इस दिशा में निम्नलिखित रूप से प्रमाण बन रहा है। श्रूयताम्!

आर्षधर्म्मसंरक्षक (मानवधर्म्मसंरक्षक) मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के अनन्योपासक श्री मारुति (हनूमान्) वानरयूथ के साथ दक्षिण समुद्र के तट पर एक ओर इसलिए नितान्त उदासीनभाव से आसीन हैं कि, वे समुद्रलङ्घन जैसे दुष्कर–दुःसाध्य कर्म्म में अपने आपको सर्वथा असमर्थ अनुभूत कर रहे हैं। जगन्माता सीतादेवी की अन्वेषणचिन्ता में निमग्न तत्रोपस्थित वानरश्रेष्ठों के द्वारा उल्लङ्घन की परिमाण–योग्यता के सम्बन्ध में स्व–स्व–बलपौरुष की इयत्ता का प्रसङ्ग प्रक्रान्त है। सहसा यूथाधिप का ध्यान भीमारुति की ओर आकर्षित होता है। स्वरूपबोध के अभाव से तटस्थ बने हुए मारुति यूथाधिपति के प्रति इस कार्य्य–साधन के प्रति जब अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं तो यूथाधिप की ओर से 'सुनो मारुति ! तुम कौन हो' इस उद्बोधनसूत्रोपक्रम से मारुति का आभ्यन्तर निःसीम–बल–वीर्य्य–पराक्रम (*शारीरिकबलात्मक बल मनोबलात्मक वीर्य्य, एवं बुद्धिबलात्मक पराक्रम*) रूप स्वरूपोपवर्णन आरम्भ हो जाता है। इस आत्मस्वरूप–विश्लेषण–श्रवण के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही मारुति प्रचण्ड घनगर्ज्जनसमतुलित हुङ्कार–गर्ज्जन–तर्ज्जन–पूर्वक उस दुःसाध्य कर्म्मसाधन में झटिति प्रवृत्त हो ही तो जाते हैं जो कर्म्म स्वरूपबोध के इस आंशिक उपवर्णन से पूर्व मारुति की दृष्टि में नितान्त असम्भव प्रमाणित हो रहा था।

ठीक यही स्थिति–परिस्थिति आज के भावुक मानव के, स्वरूपबोध के आंशिक स्वरूपबोध से भी वञ्चित विमूढ़ मानव के सम्बन्ध में सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित हो रही है, जिस इस अनार्य, भावुकता पूर्ण–अस्वर्ग्य–अकीर्तिकर–पुरुषार्थविहीन दशा, किंवा दुर्दशा का भी एक दुःखपूर्ण उद्वेगकर इतिहास है।

मानव-जीवन की विमल धारा यदवधिपर्य्यन्त प्रकृतिसिद्ध सहज जीवन की अनुगामिनी बनी रही, तदवधिपर्य्यन्त मानव का पूर्णस्वरूप स्वस्वरूप से सुरक्षित-अभिवृद्ध-सुविकसित बना रहा। प्रज्ञापराध अनिता बुद्धिमानी का, कृत्रिम ज्ञान का, केवल मनोऽनुगता अनुभूति से युक्त काल्पनिक ज्ञानाभास का व्यामोहन ज्यों-ज्यों इस प्राकृतिक मानव को अपने वारुणपाश में उत्तरोत्तर अधिकाधिक आबद्ध करता गया, त्यों-त्यों इसकी सहज-प्राकृतिक-सत्यभावापन्ना-विमल शक्तियाँ अभिभूत होतीं हुई अन्तर्मुख बनतीं गईं। इस कृत्रिम ज्ञानपरम्परा के अभिशाप से कालान्तर में इसने अपने सहज पूर्णस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर लिया। और यों अतीत युग का परिपूर्ण भी मानव अपने ही प्रज्ञादोष से वर्त्तमानयुग में स्वात्मस्वरूप को एकान्तत: विस्मृत कर 'शून्य शून्य' भाव में परिणत होता हुआ नास्तिसार शून्यवादी क्षणिकविज्ञान वादी बुद्ध के उस पथ का भ्रान्त पथिक बन गया, जिस इस निकृष्टतम भ्रान्ति पथ का श्रेय अमुक अंशों में स्वार्थी उद्बोधक मानववर्ग के द्वारा उद्भावित उन मतवादपरम्पराओं को भी समर्पित किया जा सकता है, जिस नवमहात्मक नयवर्ग का उद्गकर इतिहृत्त उत्तरस्तबकानुगता मानवस्वरूपमीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है।

(१७)—सनातननिष्ठा की विस्मृति के दुष्परिणाम—

प्राकृतिक तत्त्वज्ञान के आधार पर सुप्रतिष्ठित शाश्वत 'सनातनधर्म्म' के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषण करने वाला आर्षसाहित्य (वैदिकसाहित्य), एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित प्राकृतिक मानवधर्म्म जब तक मानव का पथप्रदर्शक बना रहा, तब तक मानव की विद्याबुद्धिलक्षणा आत्मबोधानुगता सहज-निष्ठा (सन्निष्ठा) अक्षुण्ण बनी रही। एवं तब तक इस सहजनिष्ठा के बल पर मानव के ऐहिक-आमुष्मिक सर्वविध कर्म्मकलाप-विधि-विधान-कर्त्तव्यकर्म्म-सहजगति से सुव्यवस्थित-मर्य्यादित बने रहते हुए मानव को श्व श्वः अभ्युदय-निःश्रेयस् की ओर आकर्षित करते हुए इसे कृतकृत्य बनाते रहे। कालान्तर में तमोगुणानुग्रह से, सामाजिकस्थितिविच्युति से जब आसुरभावमतिनिष्ठ असन्निष्ठ स्वार्थैकनिष्ठ दानव समतुलित मानवधर्मों की ओर से मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्तपथ का आविर्भाव हो पड़ा, तो सहज मानव लोकैषणामूला इस लोकश्रद्धा के व्यामोहन से आत्मत्राण करने में असमर्थ बनता हुआ अन्ततोगत्वा अन्तर्गर्भिता भावुकता के समुत्तेजन से सहसा यों लक्ष्यभ्रष्ट बन गया।

धर्ममूलक साहित्य (वेद) कर दिया इसने सर्वात्मना विस्मृत, एवं अनुगमन कर लिया इसने मतवादमूलक भावुकतापूर्ण भ्रान्त लौकिक साहित्य (सम्प्रदायवादसमर्थक सामयिक साहित्य)। आत्म-बुद्धिमूला सन्निष्ठा कर दी इसने आत्यन्तिकरूप से विस्मृत, एवं मनःशरीरमूला असद्भावुकता को बना लिया इसने अनन्य उपास्या। अपना सर्वस्व विस्मृत करते हुए इस भावुक भारतीय मानव ने परसम्पत्ति के चाकचिक्य-प्रदर्शनमात्र से अपने आपको तुष्ट-तृप्त मानने की महती भ्रान्ति कर डाली। सर्वतन्त्र स्वतन्त्रतामूलक स्वावलम्ब-स्वसम्पत्ति-स्वात्मानुग्रह-स्वविद्याबुद्धिज्ञान-आदि आदि 'स्व'-भावों का एकान्ततः परित्याग कर बन गया यह इस प्रकार सर्वात्मना परावलम्बी-परसम्पत्तिलिप्सु- परानुग्रहाकांक्षी-परविद्या-

शिश्नोदरपरायणभोगी सर्वात्मना परतन्त्र । इसी झञ्झावात-युग की प्रभ्रान्ति के महाभयकाल में महाविकराल-महाकाल से समुद्भासित उन परदेशीय सम्मान्य अतिथियोंनें इस भारतीय मानव की तथाविधा नितान्त भावुकस्थिति को लक्ष्य बनाते हुए-"दूसरों की दुर्बलता से लाभ उठाना ही मानव का महान् गुण है" इस लोकसूक्ति का प्रहार कर ही तो डाला इसके मर्म-भावुक-स्थलों पर । सुअवसर अनुरूप अनुकूल परिस्थिति से लाभ उठाने की कला में पूर्ण कुशल इन आगन्तुक अतिथिनैष्ठिकोंनें इस भावुक मानव की भावुकता के साथ जो जो जैसे जैसे क्रीडाकौशल किए!, वे आज सर्वविदित हैं, सर्वानुभूत हैं । विवेकभ्रष्ट, स्वलक्ष्यच्युत, परप्रत्ययनेय, आत्मबुद्धिविमूढ़ भावुक मानव की स्थिति का यही तो परिणाम, किंवा दुष्परिणाम सुनिश्चित था, जिसका कुफल अद्यावधि इसे विवश बन कर भोगना पड़ रहा है । यही है दासानुदासधर्मा वर्त्तमान भारतीय मानव के पतन के दुःखपूर्ण-उद्वेगकर इतिवृत्त का संस्मरण, जिसे माध्यम मान कर ही हमें 'मानवरूपरेखा' में प्रवृत्त होना है ।

(२८)—मानव की सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता—

कर्णाकर्णिपरम्परया सुना जा रहा है कि, अमुकामुक मानवश्रेष्ठों की मानवीय सदुपायपरम्परा से अमुक मानवराष्ट्र (भारतवर्ष) परदासता से एकान्ततः विनिर्गत होता हुआ आज सर्वतन्त्रस्वतन्त्र बन कर प्रभुसत्तासम्पन्न-सार्वभौम-गणतन्त्र-पद पर समासीन हो गया है, जिसकी लोक अभिधा मानी जारही है वर्त्तमान में 'प्रजातन्त्रराज्य' । "स्वराष्ट्रानुगता विविध मतवादपरम्परा * के साथ साथ परराष्ट्रानुग्रह से आगत समागत विविध मतवादपरम्पराओं+ने आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य-आपाद-मस्तक-आमूलचूड़ सुविभूषित भारतीय मानवसमाज आज सर्वतन्त्रस्वतन्त्र बन कर स्वच्छन्दतापूर्वक सुखशान्ति से विचरण कर रहा है" नितान्त भावुकतापूर्णा इस न्यायपरिपूर्णा कल्पित उच्च घोषणा की प्रतारणा से यहाँ का मानव आज किस प्रकार स्वात्मावबोध के स्थान में स्वात्मावबोधपथ से पराङ्मुख बन रहा है !, किंवा बनाया जा रहा है !, यह सामयिक प्रश्न भी मीमांस्य ही माना जायगा, जिसका समाधान उत्तरखण्डान्तर्गत परिच्छेदों में ही यथासम्भव समाहित बन सकेगा । प्रकृत में तो हमें केवल मानव की उस प्राकृतिक स्वरूपरेखा की ही ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है, जिस प्राकृतिक स्वरूपबोध के विलुप्तप्राय हो जाने से वर्त्तमान युग के भारतीय भावुक मानव ने अपना सब कुछ विस्मृत करते हुए, 'मूढ़ परप्रत्ययनेयबुद्धि' सिद्धान्त को अक्षरशः अन्वर्थ बनाते हुए अपने आपको सर्वात्मना लक्ष्यभ्रष्ट ही बना लिया है ।

---

*—श्रीरामानुज, रामानन्द, वल्लभ, निम्बार्क, माध्व, चैतन्य, कबीर, नानक, दयाल, सुन्दरदास, दादू, रैदास, आदि आदि सन्तों की भावना से संयुक्त अगणित भाष्य मतवादपरम्परा ।

+—फासिज्मवाद-कम्यूनिज्मवाद-सोशलिज्मवाद-केपिटिलिज्मवाद-गणतन्त्रवाद-आदि आदि-असंख्य प्रतीच्यमतवादपरम्परा ।

(१६)—'मानव' शब्द का प्रावाहिक निर्वचन—

अमुक आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति (आकार–स्वभाव–एवं आत्मप्रत्ययानुभूतिलक्षण–अहंभाव) से युक्त अमुक पाञ्चभौतिकपिण्ड (रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्र–त्वक्–रोम–केश–नखादि युक्त शरीरपिण्ड) 'मानव' अभिधा से क्यों ?, और कब से सम्बोधित होने लगा ?, यह प्रश्न मानव की रूपरेखा में प्राथमिक प्रमाणित हो रहा है। अतएव सर्वप्रथम इस भावुकतापूर्ण सहजप्रश्न के भावुकतास्वरूपसंग्राहक, किंवा लोकसंग्राहक सामयिक समाधान की ओर ही भावुकतापथानुगामी मानवों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

शब्दशास्त्र–(व्याकरणशास्त्र)–वेत्ता धातु–प्रकृति–प्रत्यय–आदि व्यञ्जनाओं के ज्ञाता विद्वान् कहते हैं,–'मनोरपत्यं मानवः' के अनुसार 'मनु' की सन्तति ही 'मानव' है। यही 'मानव' अभिधा का मौलिक कारण है। तात्पर्य्य स्पष्ट है। मानवजाति के मूलपुरुष क्योंकि–'मनु' नामक व्यक्तिविशेष थे। तद्वंशज होने से ही अमुक भौतिक पिण्डशरीरी अमुक आकृतिप्रकृत्यहङ्कृतिरूप प्राणिसमाज 'मानव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस प्रकार–'मनोरपत्यं–मनोर्गोत्रापत्यं वा' इत्यादि निर्वचन के अनुसार सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक 'मनु' नामक व्यक्तिविशेष की वंशपरम्परा से अनुप्राणित, अतएव 'मानव' अभिधा से व्यवहृत इस भद्रतमा मानवजाति के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ (महाभारत) ने भी इसी शाब्दिक, किंवा प्रावाहिक भावुकतापूर्ण निर्वचन का ही समर्थन किया है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

> धर्म्मात्मा स मनुर्धीमान् यत्र वंशः प्रतिष्ठितः ॥
> मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत् ॥ १ ॥
> ब्रह्म–क्षत्रादयस्तस्मात्–"मनोर्जातास्तु मानवाः" ॥
> ततोऽभवन् महाराज ! ब्रह्मक्षत्रेण सङ्गतम् ॥ २ ॥
>
> —महाभारत

आदि मनु स्वयम्भू, तत्पुत्र विवस्वान्मनु, तत्पुत्र वैवस्वत मनु, तत्पुत्र अयोध्याराज्यसंस्थापक इक्ष्वाकु मनु, इत्यादि वंशपरम्परारूप से सुप्रसिद्ध विविध मनुओं में से कौन से मनु–'मानववंश' के मूल प्रवर्त्तक थे ?, किस सृष्टिक्रम के आधार पर किस मनु को कैसे मानव का मूलपुरुष माना गया ?, असुर–गन्धर्व–यक्ष–राक्षस पिशाच–आदि आदि जिन विभिन्न योनियों को, किंवा प्राणिजातियों को भी 'मानव जाति' के समान ही 'मनुवंशजाः' घोषित करने वाला भारतीय इतिहास किन किन विभिन्न दृष्टिकोणों के माध्यम से किस किस मनु को किस किस प्राणिजाति का मूलपुरुष मान रहा है ?, इत्यादि सम्पूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों का निर्विरोध समन्वय उस वैज्ञानिक तत्त्ववाद पर ही अवलम्बित है, मतवादद्वारा जिसके अभिभूत विलुप्तप्राय हो जाने से इस प्रकार के सभी प्रश्न वर्त्तमानयुग के भावुक भारतीय मानव के लिए पदे पदे सन्देहजनक प्रमाणित हो रहे हैं। अवश्य ही इस संदिग्ध जाल से आत्मत्राण करने के लिए हमें अनन्य

निष्ठा से पारम्परिक निगमागमाम्नाय के आधार पर उस ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण सत्यज्ञान का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा, जिसके समाश्रयाधार पर ही औपनिषद महर्षि का "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" (कठोपनिषत्) यह सिद्धान्त अन्वर्थ बना करता है। प्रक्रान्त 'मानवसम्प्रदायपरम्परा' में उपवर्णित वह आर्ष दृष्टिकोण अवश्य ही हमें सभी स्थलों के समसमन्वय की प्रेरणा प्रदान करेगा। अभी तो हमें श्रद्धाशील बन कर 'यदस्माकं शास्त्रं आह, तदस्माकं प्रमाणम्' को ही आधार मानते हुए इस तथ्य पर ही विश्राम कर लेना है कि,—

अवबोधनात्मक–ज्ञानात्मक–'मनु' धातु से ('मनु' अवबोधने, सनादि धातु से) अपत्यार्थ में 'अण्' प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न 'मानव' शब्द का भावुकवात्स्यरूपसंग्राहक प्रचलित–प्रावाहिक (गता नुगतिक) अर्थ है—'मनु की सन्तान'। प्रकृति–प्रत्यय–धातु–क्रिया–लकारार्थ–लिङ्ग–प्रक्रिया–आदि आदि भावुकतापूर्णा प्रचलित निर्वचनशैली के आधार पर 'मानव' का यही संक्षिप्त शब्दार्थ हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है। किन्तु ! !

(२०)—शब्दानुगता इतिहासमर्य्यादा—

किन्तु समस्या है तत्त्ववादमूला शब्दरहस्यात्मिका उस वैज्ञानिकी पद्धति के सम्बन्ध में, जिसकी निर्वचनप्रणाली का मूल आधार है—'न सन्ति यदृच्छाशब्दाः'। न केवल सम्पूर्ण ग्रन्थ का ही, अपितु ग्रन्थान्तर्गत गद्य–पद्य–विभागों का, तदन्तर्गत वाक्य–श्लोकों का, वाक्य–श्लोकावयवरूप पद–शब्दों का, पदशब्दावयवरूप स्वर–वर्णभावों का, सबका अपना अपना एक स्वतन्त्र इतिहास प्रातिस्विकरूप से सुरक्षित रहा करता है। उस इतिहास के आधार पर ही शब्दब्रह्म के वाङ्मयकाय (शरीर) का स्वरूपनिर्माण हुआ करता है। इस नित्यसिद्ध, अतएव प्राकृतिक शब्देतिहास के अनुग्रह से वाङ्मयप्रपञ्च का प्रत्येक सन्दर्भ (प्रकरण), प्रत्येक वाक्य–श्लोक, प्रत्येक पद–शब्द, प्रत्येक स्वर–वर्ण अवश्य ही अपना अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व सुरक्षित किए हुए है। बाह्य–लोकदृष्टि से सर्वथा निरर्थक भी प्रतीयमान शास्त्रीय डित्थ-कपित्थ–आदि यदृच्छाशब्द एवं–ग्याटपू लटपटद्–आदि लौकिक यदृच्छाशब्द भी अपना सुगुप्त भावार्थ सुरक्षित रख रहे हैं। अ–आ–इ–ई–आदि स्वरात्मक वर्ण, एवं क–च–ट–त–पादि व्यञ्जनात्मक वर्ण भी अर्थगरिमा से समन्वित हैं *। इसी आधार पर आगमशास्त्र की एकाक्षरबीजमन्त्रव्यवस्था व्यवस्थित

---

*—शृणु तत्त्वमकारस्य अतिगोप्यं वरानने ! शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पञ्चकोणमयः सदा ॥
आकारं परमाश्चर्य्यं शङ्खज्योतिर्म्मयं प्रिये ! ॥ इकारं परमानन्दसुगन्धकुसुमच्छविम् ॥
ईकारं परमेशानि ! स्वयं परमकुण्डली ॥ उकारं परमेशानि ! अधः कुण्डलिनी स्वयम् ॥
'कः' क्रोधीशो महाकालो कामदेवप्रकाशकः ॥ 'खः' पुष्करो हली वाली चात्मशक्तिः सुदर्शनः ॥
—कामधेनुतन्त्रे

हुई है। सर्वात्मना मननीय उस निश्चित शब्देतिहासात्मक ग्रन्थ के आधार पर ही शब्दब्रह्म प्रादुर्भूत हुआ है। जब तक उस सात्त्विक इतिहास को दृढ़प्रतिष्ठ नहीं बना लिया जाता, तब तक केवल प्रकृति-प्रत्यय-धातु-क्रिया-लिङ्गादिमात्र के बल पर (व्याकरणमात्र के निर्वचनाधार पर) कदापि शब्दब्रह्म के तत्त्वार्थबोध का अनुगमन सम्भव नहीं बन सकता। बाह्यदृष्ट्या सर्वथा अशुद्ध-निरर्थक-निष्प्रयोजन-से प्रतीयमान यथयाथत् भाषाओं से कृतरूप सुप्रसिद्ध 'शाबरमन्त्र' इसी सिद्धान्त के आधार पर तत्त्वात परिपूर्ण प्रमाणित हो रहे हैं *। प्रत्येक शब्द के प्रत्येक स्वर (अक्षर)-वर्ण (व्यञ्जन) भी अपनी तत्त्वपूर्णा अर्थगरिमा से मननीय हैं। एवं इसी आधार पर इस मननीयता के कारण ही प्रत्येक अक्षर वर्ण भी मननात् 'मन्त्र' है। इसी आधार पर भारतीय आगमशास्त्र का—'अमन्त्रमक्षरं नास्ति' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है।

कृत्रिम-काल्पनिक-बुद्धिवादी, किंवा बुद्ध्यतिमानी भावुक मानवों की स्थूल भूतदृष्टि से सर्वथा परोक्ष, किन्तु सहज प्रज्ञ शील सन्निष्ठ मानवों की विद्याबुद्धिदृष्टि के लिए सर्वथा प्रत्यक्ष तथाकथित इतिहासानुगत शब्दब्रह्म-रहस्यार्थ अवश्य ही पुरायुगे अन्यान्य-पारम्परिक-आम्नाय-भारतीय निगमागम-विद्याओं की भाँति पारम्परिकरूप से शिक्षापद्धति में सहजरूप से समाविष्ट रहा होगा। किन्तु ऋक्-गाथा-कुम्भ्या-नाराशंसी-वाकोवाक्य-आदि आदि शिक्षानुगता अन्यान्य दिव्यप्रणालियों की विस्मृति के साथ-साथ शब्दब्रह्मानुसम्भवा तत्त्वमूला परम्परानुप्राणिता निर्वचनप्रणाली भी दुर्भाग्यवश, किंवा हमारी पर प्रत्ययनेयानुगता भावुकता से आज सर्वात्मना विस्मृत-विलुप्तप्राय बन चुकी है। शब्दार्थमर्य्यादा की यह तत्त्वपूर्णा निकषा हमने अपने ही प्रज्ञादोष से परा पराहता बना दी है। 'मक्षिकास्थाने मक्षिकापात' इस लोकन्यायमात्र से सन्तुष्ट बनते हुए हम शब्दगरिमा का महत्त्व 'इतिश्री' से समन्वित मान बैठते हैं। अधिक हुआ, तो तत्त्वज्ञानानुगति से एकान्ततः विरुद्ध पर्य्यायपरम्परा का आश्रय ग्रहण करते हुए हम तुष्टि-तृप्ति के अनुगामी बन जाते हैं। इसी काल्पनिक अनर्थात्मक अर्थसाङ्कर्य्य का यह दुष्परिणाम है कि, वर्त्तमान युग का मानव अन्य विशिष्ट योग्यता-विकास की तो कथा ही विदूर, केवल भाषाव्यवहार कौशल से भी पराङ्मुख बन गया है। "किस अवसर पर किस के सम्मुख कौनसा शब्द किस भाव से व्यवहार में लाना चाहिए" इस प्राकृतिक शब्दव्यवहारमर्य्यादा-स्वरूपज्ञानलव से भी वञ्चित भावुक मानव ने 'धा तेषात्मा' सिद्धान्त पर प्रहार करते हुए अपना लिखा-पढ़ा-सीखा-सिखाया-सब कुछ धूलिसात् कर दिया है +। "मुखमस्तीति वक्तव्यं, दशहस्ता हरीतकी" आभाणक को चरितार्थ करने वाला भाषाव्यवहार-तत्त्व-ज्ञानवञ्चित आज का मानव अपनी असफलता-परम्पराओं के अन्यान्य कारणों में से

---

*—काली कलकत्ते वाली, तेरा वचन जाय नहिं खाली। एक फूल हँसे, एक फूल रसे। फुरो मन्त्र। ईश्वरोवाच। हुँफट्-अस्त्राय फट् इत्यादि।

+—"बोलबो न सीख्यो सब सीख्यो गयो धूल में"। (लोकसूक्ति)

इस 'भाषाव्यवहारमर्य्यादास्खलन'-रूप महाकारण का भी आज प्रधानरूप से सम्मान्य प्रतिनिधि बन चुका है। कर्त्तव्यनिष्ठा (आचरणनिष्ठा) के साथ-साथ मानव की वाङ्मयी शब्दव्यवहारनिष्ठा (भाषा) का आत्यन्तिक स्खलन ही मानव की यात्रान्तर-पतनपरम्परा का प्रत्यक्ष प्रमाण बन रहा है।

कहाँ-कब-कैसे-क्या करना चाहिए, एवं कहाँ-कब-कैसे-क्या बोलना चाहिए ?, ये दोनों नसर्गिक व्यवस्थित धाराएँ आज सर्वात्मना दूषित-असम्यादित-उच्छृङ्खल-अमाननीय भावों की अनुगामिनी बन गई हैं। 'वाणी' विकारानुग्रह से 'वाणी' के द्वारा कृतस्वरूपा 'लिपि' के सम्बन्ध में तो आज कुछ कहना ही व्यर्थ है। वर्त्तमान युग की-महामहनीया ! उस भट्टतमा ! लिपि के सम्बन्ध में क्या कहें, जिससे कहें कि-'श्री'-'ओम्'-'राम' आदि देवभावों की उपेक्षा करने वाली, लिपिपरम्परासिद्ध (समाम्नायव्याकरणाम्नायानुप्राणित) प्राकृतिक वर्णाक्षरकारों की सर्वथा उपेक्षा कर देने वाली, (आई-गई-इत्यादि के स्थान में अाओ-गओ-इत्यादि रूप से अप्राचार का अनुगमन करने वाली) यह श्रीविहीना मस्तकश्रीशून्या कल्पिताक्षरसमन्विता नग्नस्वरूपा आज की लिपि मानों मानव की नास्तिकभावना-सर्वशून्य भावना का ही ताण्डवनृत्य कर रही है। आस्तां तावत्। युगधर्म्मानुगता भावुकता के अनुग्रह से सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता के इस दुर्दान्त युग में अभिनिवेशाविष्ट परसंस्कृति-परभाषा-परसभ्यता-परभाषा-परलिपि के व्यामोहन से आकर्षित होकर आज का मानव किस क्षेत्र में कैसा क्या बन गया है ?, अथवा तो बनता जा रहा है, उन सब अघटित-घटनाओं को मयम्य मानते हुए लक्षीभूत 'मानव' शब्द के उस तात्त्विक निर्वचनात्मक इतिहास की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिस इतिहास के क्रोड में मानवरूपरेखा का इतिहास अन्तर्निगूढ़ है।

(२१)—मानवबोधानुगत श्रुतिप्रवचन—

'मानव' शब्द के तात्त्विक निर्वचन में प्रवृत्त होने से पूर्व हम यहाँ कुछ एक ऐसे श्रौत-स्मार्त-वचन उद्धृत कर रहे हैं, जिनके माध्यम से मानव इस अनुभूति में प्रवृत्त हो सकेगा कि, मानव ने मानव को जो इस प्रकार सहज सुबोधगम्य मान रक्खा है, यद्वद्वा प्राकृतिक प्राणियों की भाँति-'बायस मूषक' परम्परा से आक्रान्त एक सामान्य प्राणी मान रक्खा है, मानव की स्वरूपस्थिति ठीक इसके विपरीत है। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए निम्नलिखित आर्षवचनों को, एवं तदाधारेण मुकुलितनयन बन कर मीमांसा कीजिए अपने अन्तर्जगत् में मानव के उस गुहानिहित परोक्ष गरिमामय तात्त्विक स्वरूप की—

(१)—न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥

—ऋक्संहिता १।१६४।३७

(२)—अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।
यो मा ददाति स इ देवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

—सामसंहिता पू० ६।९

(३)—अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ ।
अहं सूर्य्य इवाजनि ॥

—ऋक्संहिता ८।६।१०

(४)—स (प्रजापतिः) पितॄन्त्सृष्ट्वा मनस्यैत् । तदनु मनुष्यानसृजत ।
तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वम् । य एवं मनुष्याणां मनुष्यत्वं वेद—
मनस्येव भवति । नैनं मनुर्जहाति ॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण २।३।८।२।

(५)—यद्वै तत् पुरुषे शरीरं—इदं वाव तत्—यदिदमस्मिन्नन्तः शरीरे हृदयम् ।
अस्मिन् हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिताः । यद्वै तद्—'ब्रह्म' इति—इदं वाव तद्—
योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशः । यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः—अयं वाव
स—योऽयमन्तः पुरुष आकाशः । यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः —अयं
वाव सः—योऽन्तर्हृदय आकाशः । तदेतत् पूर्णम् । अप्रवर्ति । पूर्णा—अप्रवर्तिनीं
श्रियं लभते, य एवं वेद ॥

—छान्दोग्योपनिषत् ३।१२।

(१)—मैं—मानव—जो भी—जैसा भी कुछ वास्तव में हूँ, यह मैं तत्त्वतः नहीं जानता। (अपने वास्तविक तात्त्विक स्वरूपबोध से सर्वथा अपरिचित रहता हुआ भी केवल अतिमानाकर्षण से) मैं 'निण्य' रूप से (सर्वथा सावधान—सन्नद्धीभूत रूप से) इतस्ततः विचरण कर रहा हूँ (तात्पर्य्य, अपने अन्तर्जगत् में अपने मन ही मन में अपने आपको सर्वात्मना—सावधान—सन्नद्धीभूत—योग्य—कुशल—मेधावी—मनीषी—मननशील—बुद्धिमान् मानता हुआ—समझता हुआ अपने मनमाने ढंग से—इतस्ततः स्वका पथप्रदर्शन करता हुआ विचर रहा हूँ। इस प्रकार मुझे अपने स्वरूप का बोध तो है नहीं, और मान रहा हूँ मैं अपने आपको पूर्ण कुशल, पूर्ण योग्य, मन्त्रपूर्वार्द्ध का यही निष्कर्षार्थ है)। (सौभाग्य से) जब मुझ मानव में 'ऋत' (परमेष्ठी) तत्त्व की प्रथमजा (पहिले उत्पन्न होने वाली—ऋततत्त्व से सर्वप्रथम आविर्भूता) सहजप्रज्ञा (सहजज्ञानात्मक प्राकृतिक सहज आत्मबोध) का उदय हो जाता है, तो इस ज्ञानोदय के अव्यवहितोत्तरकाल में ही (आदित्)—मैं मानव—उस ऋतस्य प्रथमजा—सत्यरूपा—आत्मबोधपरिपूर्णा 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' (सत्यनिष्ठासमाहिणी प्रज्ञा) देवी—(पारमेष्ठिनी आम्भृणीदेवी से अविनाभूता सरस्वती

वागुदेवी) के भागधेय का भोक्ता बनने का अधिकारी बनता हूँ (बन जाता हूँ)। (तात्पर्य, स्वरूप-बोधानन्तर ही मानव अपने परिपूर्ण स्वरूप का अनुगामी बनने में समर्थ होता है। यही मन्त्रोत्तराद्ध का भावार्थ है) ॥

(२)—मैं-मानव-'ऋत' (पारमेष्ठ्य ऋतरूप-चिद्‌ब्रह्मयोनिलक्षण आकृति-प्रकृति-अहंकृतिरूप त्राता-सत्त्वरजस्तमोगुणान्वित महानात्मा) से सर्वप्रथम (चेतनसृष्टि में) उत्पन्न होने के कारण ('ऋतस्य-प्रथमजा'(ऋत पारमेष्ठ्य महान् से सर्वप्रथम उत्पन्न) नाम से प्रसिद्ध हो रहा हूँ। (और) देवसर्ग से (भी) पूर्व (पहिले) अमृत (सोम) तत्त्वात्मक ऋत (पारमेष्ठ्य महान्) के 'नमन' (आगमन) से मेरा स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। क्रमिक सृष्टिधाराक्रम में मेरा (मानवसृष्टि का) स्थान-(ऋतपरमेष्ठी के भृगुगर्भित अङ्गिरातत्त्व के चितिभाग से समुत्पन्न सूर्य्य, एवं सत्प्राणरूप) देवसर्ग से भी पूर्व है। जो सर्व्व प्रजापति (परमेष्ठी प्रजापति) मुझे मेरे शरीर की रक्षा के लिए सौरचान्द्रमयअन्नद्वारा सप्तविध अन्नसम्पत्ति प्रदान करता है, वही देवाधिदेव (सौरदेवों का भी अधिपति) प्रजापति सौर बृहतीसहस्रमित (३६००० छत्तीस हजार आयुःसूत्रमित) जीवन सूत्रों के मुक्त हो जाने पर (शतायुर्भोगानन्तर) मुझे अपने आप में आत्मसात् करता हुआ मुझे अपना अन्न बना लेता है। मैं उसका अन्न हूँ, भोग्य हूँ समष्टि-व्यष्टिरूप से उभयथा। अन्नात्मक बने हुए मुझे निरन्तर आत्मसात् करते रहने वाले उस सर्व्व प्रजापति को मैं भी आत्मसात् करता रहता हूँ। उसकी प्रवर्ग्यशक्तियों को आत्मसात् कर मैं स्वस्वरूप से सुरक्षित हूँ, तो उसमें मेरी शक्तियाँ प्रवर्ग्यरूप से समाविष्ट होतीं रहतीं हैं। दोनों का परस्पर अन्नान्नाद-भोग्यभोक्तृ-प्रदानादान-सम्बन्ध सहजरूप से-धारावाहिक रूप से प्रक्रान्त है ॥

(३)—(ऋत) प्रजापति की भृगुप्राणानुगता स्नेहगुणान्विता, अतएव सङ्गमनशीला, अतएव 'मेधा' नाम से प्रसिद्ध आशुमहद्‌ग्राहात्मिका मानसवृत्ति का अपने विद्याबुद्धिक्षेत्र में सम्पूर्ण प्राणियों में से केवल मैंने ही ग्रहण किया है (मानसमेधागुणान्विता विद्याबुद्धि का विकास प्राणिसृष्टि में केवल मानव में ही हुआ है, यही तात्पर्य्य है)। इसी मेधामयी बुद्धि के अनुग्रह से मैं (मानव) सूर्य्य की भाँति विश्व में प्रादुर्भूत हुआ हूँ * (जो स्थान महाब्रह्माण्ड में ब्रह्माण्डकेन्द्रस्थ अमृतमृत्युमय, अतएव पूर्ण-भावापन्न सूर्य्य का है, प्राणिजगत् में वही स्थान मानव का है, यही निष्कर्ष है) ॥

(४)—उस (सौम्यप्राणप्रधान, अतएव-'पितर सोम्यास' के अनुसार पितृप्राणप्रधान महन्मूर्ति परमेष्ठी) प्रजापति ने पितरों को उत्पन्न कर उन्हें अपने (मनुर्लक्षण) मन की ओर आकर्षित किया (जिस इस प्राकृतिक स्थिति के आधार पर ही-'मन इव हि पितर', (शत० १४।४।३।१३ यह निगम प्रतिष्ठित हुआ), मनोबल-मानसशक्ति-को लक्ष्य बनाया। इस लक्षीभूत मनुम्मय मानसबल-हृदयबल-के द्वारा ही प्रजापति ने मनुष्यों को उत्पन्न किया। मानवप्रजा क्योंकि प्रजापति के मनोबल से,

*—"योऽसावादित्ये पुरुष —सोऽहम्। सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"।

मानस हृदयबल से उत्पन्न हुई, अतएव यह मनोबल—(हृदयावच्छिन्न अन्तर्य्यामात्मक ध्यान प्राणात्मक सत्यनिष्ठात्मक अनुभावापन्न बल) ही मनुष्यों का मनुष्यत्त्व (मानवता—मानवधर्म्म) कहलाया, यही इसका स्वरूपधर्म्म माना गया। जो मनुष्य सष्टिधाराक्रम के इस पारमेष्ठ्य प्राजापत्य रहस्य को सम्यक् प्रकारेण जान लेता है, इसे सम्यगुरूपेण अन्तर्य्याम सम्बन्ध से अपने मानसक्षेत्र में अनुभूत कर लेता है, वह मनुष्य अपने सवक प्रजापति के उस महन्मन में ही समाविष्ट हो जाता है, ईश्वरीय मनोबल से समन्वित हो जाता है। ऐसे मनस्वी—परिपूर्ण—प्रजापतिसमतुलित—महामानव का मनु (प्राजापत्य हृदय बल) कभी परित्याग नहीं करते। कभी ऐसा मानवश्रेष्ठ अपनी प्राकृतिक ईश्वरशासित नैगमिक कर्त्तव्य निष्ठा से पराङ्मुख नहीं बनता ॥

(५)—जो कि इस पुरुषसंस्था (अध्यात्मसंस्था) में पाञ्चभौतिक शरीराकाश (भूताकाश) है, वह वही आकाश है, जो कि इस अध्यात्मसंस्था में 'हृदयाकाश' है, जिसमें कि आत्मदेव प्रतिष्ठित हैं। (शरीरप्रतिष्ठारूप भूताकाश, एवं आत्मप्रतिष्ठारूप हृदयाकाश, दोनों समतुलित हैं, अतएव महिमारूप से दोनों अभिन्न हैं, यही तात्पर्य्य है)। भूताकाश से अभिन्न इस हृदयाकाश में ही द्वासप्ततिसहस्र (७२००० बहत्तर हजार) सुसूक्ष्म नाड़ियों के द्वारा सम्पूर्ण आध्यात्मिक प्राण अर्करूप से (रश्मिरूप से) प्रतिष्ठित हैं। जो कि लोक एवं वेद में 'ब्रह्म'—'परब्रह्म' 'ईश्वर'—'प्रजापति' आदि विविध नाम—रूपों से प्रसिद्ध हो रहा है, वह ब्रह्म यह महतोमहीयान् विशाल आकाश (परमाकाश) ही तो है, जो इस पुरुष (अध्यात्मसंस्था) में बहिर्गत अनन्त अपरिमित रूप से प्रतीत हो रहा है। 'ख' ब्रह्म ही तो ब्रह्म का साक्षात् स्वरूपदर्शन है। जो कि—पुरुष (अध्यात्मसंस्था) से बाहिर भी ओर सर्वत्र व्याप्त ब्रह्मात्मक यह परमाकाशलक्षण 'नभस्वान्' नामक ब्रह्मात्मक भाषाकाश (खं ब्रह्म) है, यही तो वह है, जो कि (पुरुष में) हृदयात्मक आभ्यन्तर (आध्यात्मिक) आकाश है। (परमाकाशरूप आधिदैविक ईश्वरीय ब्रह्माकाश, एवं हृदयाकाशरूप आध्यात्मिक मानवीय पुरुषाकाश, दोनों अभिन्न हैं, यही तात्पर्य्य है)। इस प्रकार इस अभिन्नता के कारण ही मानव उस परब्रह्म की व्यापक ब्रह्मविभूतियों से सर्वात्मना समतुलित बनता हुआ परिपूर्ण है, अनुच्छित्तिधर्म्मा है, शाश्वत है, सनातन है। जो मानव आकाशात्मक ब्रह्म के इस स्वस्वरूपानुगत स्वात्मबोध से वास्तविकरूप से सुपरिचित—समन्वित—संयुक्त हो जाता है, दूसरे शब्दों में आत्मनिष्ठापूर्वक इस आकाशाभेद को अन्तर्य्याम सम्बन्ध से अपनी अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित कर लेता है, वह ब्रह्मवत् शाश्वत—परिपूर्ण—भूमात्मक वैभव का अन्यतम भोक्ता बन जाता है।

संहिता, ब्राह्मण, उपनिषदों के पूर्वोद्धृत पाँच वचनों के तथाकथित अक्षरार्थमात्र के आधार पर ही यद्यपि 'मानव' के स्वात्मबोधस्वरूप 'बोध' का (मानव के वास्तविक परिपूर्ण स्वरूप का) स्पष्टीकरण हो जाता है। तथापि श्रुतिवाणी के, इस गहन—गम्भीरार्थ—गर्भिता आर्षवाणी के अक्षरार्थ समन्वयमात्र से हम इसके अन्तस्तलस्पर्श से वञ्चित ही रह जाते हैं। अतएव उक्त आर्षवचनों के सम्बन्ध में इन वचनों को मूल बनाते हुए संक्षेप से कुछ और भी निवेदन कर देना अनिवार्य्य मान रहे हैं। वचनक्रमानुसार ही आर्षवचनों के तात्त्विक समन्वय को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए, एवं सदाधारेण मानव के वास्तविक स्वरूप से अपने आपको कृतकृत्य कीजिए।

(२२)—श्रुतिवचनों का तात्त्विक समन्वय—

(१)—मानव, हाँ—पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर से सयुक्त, वाक्-प्राण-चक्षु:-श्रोत्र-मन, इन पञ्चविध इन्द्रियों से नित्य समन्वित *, 'सर्वेन्द्रिय', अतएव 'अतीन्द्रिय', अतएव च 'अनिन्द्रिय' नाम से प्रसिद्ध इन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञानमय मन, बुद्धि, महान्, अव्यक्त, इन खण्डाखण्डलक्षण प्राकृतात्माओं (प्रज्ञानात्मा-विज्ञानात्मा-महानात्मा-अव्यक्तात्मा-की समष्टि) से नित्य समाश्लिष्ट, अर्थशक्तिमय पार्थिव वैश्वानर, क्रियाशक्तिमय आन्तरिक्ष्य तैजस, एवं ज्ञानशक्तिमय द्युलोकानुगत प्राज्ञ, इन तीनों स्तोम्य (त्रिवृत्-६-, पञ्चदश-१५-, एकविंश-२१-स्तोमरूप स्तोम्यलोकत्रयी) भावों से स्वरूप भूतात्मा (जीवात्मा-देहाभिमानी-सप्तदशशरीरयुक्त भोक्तात्मा नामक देही कर्मात्मा) के सहभाव से ओतप्रोत, 'अव्यय' नामक पुरुषब्रह्म (अमृतब्रह्म-विश्वेश्वर) से अनुगृहीत, इन सम्पूर्ण तत्त्वभावों-भूतभावों-भाव भावों से परिपूर्ण बना हुआ भी मानव अपने शरीरानुरूपी के सम्बन्ध से आरम्भ कर मृत्युपर्यन्त योगमायाप्रभावेण अपने आपको सर्वज्ञ-(सर्वज्ञानमय)-सर्ववित्-(सत्तामय)-सर्वशक्ति (सर्वक्रियामय) के अतिमान से सयुक्त मानने की भयावह भ्रान्ति करता हुआ लक्ष्यहीन बन कर इतस्ततः दन्द्रम्यमाण है। योगमायानिबन्धन मोह के निग्रहानुग्रह से विश्वमाया का यह सर्वश्रेष्ठ भी मानवप्राणी अपने आत्मस्वरूप-बोध से वञ्चित हो रहा है, और यही 'न विजानामि यदि वा इदमस्मि' मूला (अज्ञानमूला) दुःख प्रवृत्ति का मूलकारण है।

मत्र्य भी कैसा भयानक !, कैसा प्रतारक !, सर्वथा अनतिप्रश्नात्मक। सत्-असत्-विवेक का कुछ भी बोध तो है नहीं। किन्तु मान और मस्तान रहा है यह अपने आपको अपने मन ही मन में, तथा स्वसदृश अतिमानी मानववर्ग में पूर्ण योग्य, सर्वात्मना कुशल, निस्सीम बुद्धिमान्, सब विषयों का तत्त्व परिज्ञाता बड़ा ही वशीभूत-सावधान। "मैं ऐसा कर सकता हूँ, मैंने ऐसा कर दिया, मेरा ही यह अदम्य साहस था कि जो ऐसा हो गया, मैंने यों दान दे डाला, मैंने बड़े बड़े व्यवसाय क्षेत्र स्थापित कर दिए मैंने उसे सत्वर से इत्थम बना डाला, मेरा तर्क-मेरी भाषणशक्ति-मेरी लेखनशक्ति-मेरी वाचनशक्ति-मेरा प्रभूत वैभव, मेरा श्रेष्ठ कुल, मेरा यशोनाम" इस प्रकार क्षणे क्षणे पदे-पदे स्थाने स्थाने भ्रान्ता-मदमत्तता-गर्विष्ठता-दम्भ-मान-मदान्विता की चर्वणा-घोषणा में आपादमस्तक ओतप्रोत आत्म-स्वरूपविस्मृत यह भ्रान्त-दिग्भ्रान्त-दिङ्विमूढ मोहवश लक्ष्यविहीन-किंकर्त्तव्यविमूढ बना रहता हुआ अपने सर्वश्रेष्ठ मानव जीवन को जिस प्रकार सर्वथा निरर्थक-अकर्मस्वरूप से व्यतीत करता हुआ भी

---

* वर्त्तमान भारतीय दर्शनशास्त्र जहाँ ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ १ इन्द्रियमन, इस प्रकार एकादश-११-इन्द्रियाँ मानता है, वहाँ वैदिकविज्ञानकाण्ड में "वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मनांसि" रूप से पञ्चेन्द्रियवाद ही स्वीकृत हुआ है। दार्शनिक ग्यारहों इन्द्रियों का लक्षणानुपात से वैदिक पञ्चेन्द्रियवर्ग में ही यथायथारूपेण अन्तर्भाव हो जाता है, जैसा कि 'ईश' भाष्यादि अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है।

भ्रान्तिवश मानता रहता है अपने आपको नित्य-शुद्ध-भास्वरूप से, तथा आभ्यन्तररूप से, उभयथा। श्रुति के—'नित्य सम्भ्रद्धो मनसा चरामि' का यही भावार्थ है, जिसके द्वारा मानव की इस आसुर भावनिबन्धना मोहदशा का ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है—उद्बोधनात्मक परोक्ष सकेत के माध्यम से।*

"नित्य सम्भ्रद्धो मनसा चरामि" यह तो है मानव की मोहात्मिका दशा, किंवा दुर्दशा। "हम ऐसे-हम वैसे, हम शिक्षित, हम लेखक, हम कवि, हम संगीतज्ञ, हम विद्वान्, हम धनिक, हम बड़े आदमी, हम बड़े आदमियों के मित्र" इत्यादिलक्षणा कल्पिततथ्यपरिपूर्णा, अतएव शून्या अहम्मन्यता ने ही मानव को स्वरूपबोधपथ से वञ्चित कर रक्खा है। ऐसे महामोहाधकाराभिनिविष्ट, कल्पना द्वारा अपने आपको सर्वेसर्वा मान बैठने की भयानक भ्रान्ति में निमग्न लक्ष्यहीन मानवों का परोक्षरूपेण उद्बोधन कराने का एक ही तात्त्विक सूत्र श्रुति की ओर से समुपस्थित हो रहा है—'न विजानामि०' इत्यादि। यदि तथागुणलक्षण मोहासक्त मानव भी किसी शुभ अनुरूप ब्राह्ममुहूर्तादिलक्षण पावन मुहूर्त्त में, स्वस्थ-शान्त-निरुपद्रव-एकान्त वातावरण में समासीन होकर क्षणमात्र के लिए भी स्वयं अपने आप से ही यह मूक प्रश्न करने का अनुग्रह कर लेगा अपनी मानवता से कि,—"अरे! यह रात दिन "मैं ऐसा करता हूँ, वैसा करता हूँ'—ऐसा हूँ—वैसा हूँ—इस प्रकार यह ही साहस—सावधानी—अतिमानपूर्वक जो अपनी जीवनयात्रा-लोकव्यवहारयात्रा में प्रवृत्त रहता हूँ, यह "मैं"-वास्तव में है क्या?"—तो निश्चयेन अवश्य ही इस मूक प्रश्न के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही इसके अन्तर्जगत् में एक महती समस्या जागरूक बन जायगी। और ज्यों-ज्यों यह अधिकाधिक उत्तरोत्तर इस मूकप्रश्नात्मिका महती समस्या को लक्ष्य बनाता जायगा, त्यों-त्यों इस का कृत्रिम दम्भ शनैः शनैः स्वयमेव विगलित होता जायगा। "मैं कौन हूँ" कहाँ से आया हूँ-कहाँ चला जाऊँगा"—इस प्रकार की मूकप्रश्नपरम्परा सहसा इसे आरम्भ में तो कुण्ठित हतप्रभ-सा बना देगी। अतएव नहीं प्राप्त कर सकेगा यह तत्काल ही इस प्रश्नपरम्परा का निर्णयात्मक समाधान। किन्तु कालान्तर में इसी मूक प्रश्न की अभ्यासपरम्परा अन्ततोगत्वा इसे उस अचिन्त्यभाव की ओर उन्मुख करती हुई इसके मुख से सहसा इन उद्गारों को ही सिनि सृत कर देगी कि—'न विजानामि, यदि वदमस्मि"। अरे रे! मैं स्वयं अपने आप तक को तो जानता नहीं, और फिर भी—"नित्य सम्भ्रद्धो मनसा चरामि"। यह मेरी अपने आपकी कैसी आत्मप्रतारणा है!, अपने आपको कैसा धोखा देना, किंवा छलना है!, अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!! महती विडम्बना!!!। अवश्य ही इस प्रकार की अपनी काल्पनिक विकृतावृत्ति का मर्मज्ञ बनता हुआ यह आरुरुक्षु मानव कालान्तर में—"तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगत" की अनुभूति के माध्यम से एकान्तचिन्तनानुगत इस उत्तरगर्भित प्रश्नसूत्रानुग्रह से स्वरूपबोध की ओर प्रवृत्त हो जायगा, निश्चयेन हो जायगा।

---

* गीताविज्ञानभाष्य में विस्तार से, तथा अन्य निबन्धों में संक्षेप से मानव की दम्भ-मान-मदान्विता इस अतिमानैषणा का निरूपण हुआ है। देखिए भाद्रविज्ञानम'-यान्तर्गत 'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय खण्ड का 'आसुरमानवस्वरूपोपवर्णन' नामक अवान्तर प्रकरण-(पृ० सं० १६० से १६७ पर्य्यन्त)।

आज मानव इस प्रकार आत्मबोध से वञ्चित क्यों है ?, प्रश्न का समाधान भी पूर्वसन्दर्भ से गतार्थ बन रहा है। आज के मानव का सब से बड़ा दोष यह भी माना जायगा कि, 'वह आज अपने आपको सम्पूर्ण क्षेत्रों में अपनी चञ्चुप्रवेशात्मिका ज्ञानलवदुर्विदग्धता के दम्भ से सर्वात्मना निःसीमरूप से निपुण-समर्थ-योग्य-कुशल-दक्ष मान रहा है। 'सर्वे सर्वेषु क्षेत्रेषु कुशलाः'—भ्रान्ति ही मानव के सर्वनाश का कारण बन रही है, जिससे न केवल मानव ही, अपितु तत्समष्टिरूप राष्ट्र ही आज मोहगर्त में निमग्न हो गया है *। ज्ञानलवदुर्विदग्धतामूलिका यत्किञ्चित्ता के सारोप-प्रदर्शनख्यापन को ही आज मानव ने अपना अनन्य कौशल (चातुरी) मान लिया है, जिसका निदर्शन दुर्भाग्यवश हमारी जन्मभूमि का मानव (जयपुरीय मानव) प्रमाणित हो रहा है +। वेच रहे हैं शुण्ठि-मरीचिका-पिप्पल (सौंठ-मिर्च-पीपल), और बखान कर रहे हैं वेदान्तनिष्ठा का। कर रहे हैं अस्तव्यस्तरूप से-शुद्धाशुद्ध प्रकारभाव से पर 'वणिकों के यहाँ पूजन-पाठ, दम्भ कर रहे हैं 'महामहर्षि' पद का। अहोरात्र व्यस्त-सन्त्रस्त हैं अपनी जघन्य अर्थलिप्सा में, पथप्रदर्शक बन रहे हैं ज्ञान-विद्या-शिक्षादान के। मानों सभी क्षेत्रों की विदितवेदितव्यता प्राप्त कर ली हो इन सर्वकामुक सर्वसंवादियोंने। यह धनात्प्रयुक्त पाण्डित्य का विमोहन, यह अकिञ्चित्कर सर्वज्ञता का दम्भ, सर्वोपरि यह अस्वस्थ-दम्भ-मान-मदासक्त शुष्क-उद्वेगकर-मिथ्या प्रदर्शन मानव की आभ्यन्तर-ऐश्वर्यप्रपञ्च-सहज-सात्त्विक-विमल विभूतियों-शक्तियों को किस प्रकार द्रुतवेग से अभिभूत-मूर्च्छित करता जा रहा है ?, यदि यह मानव अंशतः भी इस दुःखेदकलङ्कमय इतिहास का परिज्ञान प्राप्त कर लेता, तो इसका माङ्गलिक अभ्युदयपक्ष उपक्रान्त-प्रक्रान्त बन जाता। इसी माङ्गलिक सूत्र की ओर परोक्षरूप से संकेत करते हुए श्रुति ने कहा है—'न विजानामि०'।

इसी सम्बन्ध में एक अन्य उपनिषच्छ्रुति भी विशेष महत्त्व रख रही है। औपनिषद महर्षि ने तो विस्पष्ट भाषा में ही इस सूत्र का स्पष्टीकरण मानव के सम्मुख-आत्मबोधजिज्ञासु मानव के सम्मुख-यों समुपस्थित कर देने का निःसीम अनुग्रह कर दिया है कि—"पाण्डित्यं निर्विद्य, बाल्येन तिष्ठासेत्"

---

* सर्वे यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः ।
सर्वे सर्वस्वमिच्छन्ति सर्वं तत्र विनश्यति ॥

+ शेखावाटीप्रान्तीय एक चारण ने प्रान्तीय भाषा में जयपुराभिजनों की इस कल्पित यशःख्यापनता का जो चित्रण चित्रित किया है, वह भाषास्खलनदोष से असङ्गत बनता हुआ भी भावदृष्ट्या इस रूप से समाविष्ट होना जा सकता है—

"चणा चाब कहे—म्हे चाँवल खाया। नहीं छान पर फूँस—कहे डोली सें आया॥
ऊँची देख दुकान—कहे या चुणाई मैंने, काम काज क माँय—बैठणा की फुरसत कोनैं॥
इतनी बात बणायक, फेर गली में जा बसे। 'प्रेमसुख' भोजक कहे इस्या लोग जेपर बसे॥

(बृहदारण्यकोपनिषत् ३।५।१)। "कल्पित पाण्डित्य के अतिमान का आत्यन्तिक परित्याग कर सर्वथा बालमात्र से ही मानव को स्वस्वरूपबोधपथ पर आरूढ़ होना चाहिए"। पाण्डित्याभिमानपरित्याग से, तथा बालभावानुगति से होगा क्या!, क्या फलसिद्धि होगी!, इस जिज्ञासा का समाधान संहिताश्रुति का उत्तरार्द्ध कर रहा है।

'ऋत का प्रथमजा तत्त्व' मानव पर जब अनुग्रह करता है, तो मानव का स्वतएव उद्बोधन आरम्भ हो जाता है। अनृत–जिह्मता–माया–दम्भ–मोह–मद–मान–मात्सर्य्य–असूया–लोभ–क्रोध–आदि मलीमस–पाप्मभावों का जब विषयानुरागिणी इन्द्रियों के द्वारा प्रज्ञानात्मक मानसक्षेत्र में अन्तर्याम सम्बन्ध से समावेश हो जाता है, तो इन आसुरभावों के कारण सौम्य (चान्द्र) मन का सहज ऋतभावात्मक अजिह्म–अकुटिल–सत्त्वगुण तो हो जाता है अभिभूत–मूर्च्छित, एवं आसुरमायात्मिका वारुणी जिह्मता–कुटिलता से संयुक्त रजोमिश्रित तमोगुण हो जाता है उद्रिक्त–उद्बुद्ध। सुशान्त मानसप्रज्ञा विकम्पित–विचलित हो पड़ती है। प्रज्ञाप्राणात्मक–स्नेहगुणक–इस ऋतसोममय मन के विकम्पित होजाने से तत्र प्रतिष्ठिता बुद्धि कम्पित–चलित बन जाती है। मनो–बुद्धियुग्म का यह कम्पन–विचलन ही 'मतिविभ्रम' है, जिसका मुख्य पुरुषार्थ है सत् में असत् की प्रतीति करा देना, एवं असत् में सत् का व्यामोहन करा देना। इसी व्यामोहन के कारण बुद्धि के उस व्यवसायात्मक–निश्चयात्मक–ऋजु सत्यपथ से मानव स्खलित हो जाता है, जो व्यवसायात्मिका बुद्धि मानव को मानस–ऋतानुगामी बनाती हुई इसे अभ्युदय–निःश्रेयस् की ओर अग्रगामी किए रहती है।

सहज–अजिह्म–अकुटिल–मानसप्रज्ञा सुशान्त स्थिर अविकम्पित बनी रहती है। इस सुशान्त प्रज्ञा के स्थिर धरातल पर प्रतिबिम्बित सूर्य्यात्मिका विद्याबुद्धि भी निश्चलरूप से पूर्ण विकास–प्रभारूपेण उद्रिक्त बनी रहती है। यही शुक्रब्रह्मलक्षणा–'शुक्रब्रह्मण्या' नाम से प्रसिद्धा पारमेष्ठिनी आम्भृणी वाग्देवी का यह ऋतम्भराप्रज्ञात्मक अमृत (सौम्य) भाग है, जिसे इस प्रकार प्रज्ञा–बुद्धि के व्यवसायात्मक सत्त्वगुणानुग्रह से सहजबुद्धिसमन्वित मानवश्रेष्ठ अन्तर्य्याम सम्बन्ध से अपना भोग बनाता हुआ स्वस्वरूपबोधानुगति में समर्थ हो जाता है। 'यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्य–आदिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः' यह मन्त्रोत्तरभाग इस आत्मबोधस्वरूपोपयिक ऋतलक्षण अमृतफलभोग की ओर ही मानव का ध्यान आकर्षित कर रहा है, जिसके वास्तविक स्वरूप–विश्लेषण के लिए ही 'मानव' शब्द के तात्त्विक स्वरूपनिर्वचनात्मक तात्त्विक शब्देतिहास का समग्र भाव अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक मान लिया गया है। 'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य०'—'अहमिद्धि पितुष्परि'–'स पितृन्त्सुप्र्युदस्थां'–'यद्वैतत् पुरुषे शरीरम्०' इत्यादि चारों श्रुतियों का क्रमशः आगे यथाक्रम स्वरूपविश्लेषण होता रहेगा। अभी 'मानव' शब्द के तात्त्विक निर्वचन को ही लक्ष्य बनाया जा रहा है, जिस निर्वचन के माध्यम से ही उक्त श्रुतिचतुष्टयी का तात्त्विक समन्वय गतार्थ बन सकता है

(२३)—मनु की ऐतिहासिक परम्परा—

जैसा कि समहर्ष परिच्छेद में स्पष्ट किया जा चुका है, 'मानव' शब्द भावुकतापूर्ण प्रामाणिक निर्वचन के अनुसार 'मनुवंशजत्व' का सूचक बन रहा है, इस दृष्टिकोण की प्रामाणिकता का हमें प्रति-

शासिक सन्दर्भसङ्गति के लिए सपात्मना समर्थन ही करना पड़ेगा। तथाकथित पौराणिक ऐतिहासिक तथ्य की प्रामाणिकता भी इसी आधार पर निर्विवादरूप से अनुगत ही मानी जायगी कि, पौराणिक त्रयविध आख्यानों में से एक आख्यान-प्रकार ऐसा भी है, जिसका समन्वय अध्यात्म-अधिदैवत-अधिभूत- तीनों विश्वविवर्तों से सम्बद्ध है। तथाविध व्यापक आख्यानों का पार्थिव प्राणिलक्षण आध्यात्मिकजगत् से भी सम्बन्ध रहता है, पार्थिव भौतिकजगत्-भौतिक जड़पदार्थों के साथ भी सम्बन्ध रहता है, एवं सौर दैविक पदार्थों के साथ भी सम्बन्ध रहता है। इन तीनों दृष्टिकोणों में से आध्यात्मिक क्षेत्र व्यष्टि-समष्टिरूप से उभयथा आख्यान से समन्वित माना गया है। व्यष्ट्यात्मक आध्यात्मिक क्षेत्र विशुद्ध आध्यात्मिक है, जिसका मानवेतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है। समष्ट्यात्मक आध्यात्मिक क्षेत्र विशुद्ध ऐतिहासिक है। इस प्रकार मानव के मूलपुरुष स्थानीय 'मनु' की इस दृष्टिकोण से यथावत् प्रवृत्ति प्रमाणित हो जाती है। इतिहासप्रसिद्ध मनु (राजर्षि मनु) मानवसमाज की ऐहिक आमुष्मिक-नैतिक-लौकिक-धार्मिक-सामाजिक-राष्ट्रिय-आदि सम्पूर्ण व्यवस्थाओं के प्रवर्त्तक-व्यवस्थापक बनते हुए मानव-समाज के 'मूलपुरुष' कहलाए। एवं इस दृष्टिकोण से ही 'मनोरपत्यं मानवः' निर्वचन से मानवसमाज को मनुवंशज मान लिया गया, उसी प्रकार—जैसे कि एकेश्वर सत्तावादी भारतराष्ट्र में राष्ट्रपति शास्ता क्षत्रियराजा पिता मान लिया गया है, एवं तदनुशासित समाज '*प्रजा' शब्द से संयुक्त मान लिया गया है। इस मान्यता का एकमात्र आधार ऐतिहासिकी पारम्परिकी राजसत्ता ही मानी जायगी, जिस इस ऐतिहासिकी मान्यता का स्वयं निगमशास्त्र ने भी निम्नलिखित रूप से समर्थन किया है—

"मनुर्वैवस्वतो राजा-इत्याह। तस्य मनुष्या विशः (प्रजाः)। तऽइमऽआसतऽइत्य श्रोत्रिया गृहमेधिन उपसमेता भवन्ति। तानुपदिशति"।

—शतपथब्राह्मण १३।४।३।३।

स्वयम्भू मनु के पौत्र, विवस्वान्मनु के पुत्र, अतएव "वैवस्वत' नाम से प्रसिद्ध अयोध्याधिपति सूर्यवंशी क्षत्रिय महाराज मनु ने × देवसर्गभूमि को ही अपना लक्ष्य मानते हुए मानवप्रजा (भारतीय प्रजा)

---

* प्रजा स्यात् सन्ततौ जने।

× प्राकृतिक 'विराट्' सोमोमय ब्रह्मतत्त्व सौरतेज-चान्द्रतेज-आग्नेयतेज, रूप से तीन भागों में विभक्त है। इस प्राकृतिक स्थिति के आधार पर भारतीय क्षत्रियवर्ग सूर्य-चन्द्र-अग्नि भेद से तीन ही मुख्य वर्गों में विभक्त रहा है। विवस्वान् से आरम्भ कर महाराज सुमित्र पर्य्यन्त अनुमानतः १२८ वंश-वितान भावों में अपने ओजस्वी प्रताप से भारतीय चक्रवर्त्ती पद का उपभोग करने वाले क्षत्रिय राजा सूर्यवंशी हैं। कुरुवंश चन्द्रवंश था। पर्म-पमार-परिहार-सोलंकी-चौहान आदि अग्निवंशी माने गए हैं। विवस्वान् रहे सदा देवलग में ही। ये कभी भारतवर्ष नहीं आए। इनके इक्ष्वाकुप्रमुख आठ पुत्र हुए। इला नाम की एक कन्या हुई। इक्ष्वाकु ही प्रथम अयोध्यानरेश घोषित हुए।

की सम्पूर्ण व्यवस्था व्यवस्थित की। अतएव भारतीय प्रजा इन वैवस्वत मनु की 'विट्' (प्रजा) कहलाई। कौनसा मानवसमाज मनोरपत्यरूपा मानवप्रजा कहलाया ?। क्या तत्पूत—ज्ञाननिष्ठ—ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मणा समाज मानवप्रजा कहलाई ?। नेति होवाच। नहीं। अपितु जो भौततत्त्व ज्ञानानुशीलन से बहिष्कृत थे, अतएव जो उस युग में सद्गृहमेधी (गृहस्थी) क्षत्रिय कहलाते थे, वे वैश्यादि मानव ही, एवं तदतिरिक्त यथाजात सामान्य वर्ण—शूद्र—अवर्णशूद्रादि मानव ही मनु की प्रजासीमा में अन्तर्भुक्त माने जाते थे। मनु का शासनदण्ड एवंविधा ब्राह्मणेतरप्रजा से ही सम्बन्धित था। ब्रह्मनिष्ठ—श्रोत्रिय—ब्राह्मण तो राजाओं का भी पौरोहित्यरूप से अनुशासन ही करते थे। ब्राह्मणों का एकमात्र बल था 'यज्ञ', जिसका मूलाधार माना गया है चान्द्रसोम। अतएव ब्राह्मण किसी क्षत्रिय राजा को अपना शास्ता न मानते हुए यज्ञप्रतिष्ठारूप सोम को ही अपना अनुशासक मानते थे, जैसा कि उनकी इस घोषणा से स्पष्ट है—"सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना राजा"

(२४)—सर्वव्यापक मनुतत्त्वोपक्रम—

तथाकथित ऐतिहासिक क्षेत्र के अतिरिक्त व्यष्टयात्मक—आध्यात्मिक—क्षेत्र की दृष्टि से तो मानव ही क्या, सम्पूर्ण प्राणिमात्र ही तत्त्वात्मक 'मनु' के वंशज माने और कहे जायँगे। प्रत्येक वस्तुतत्त्व के केन्द्र में—वह चेतन हो, अथवा तो जड़, सबके गर्भ में—प्रवस्थित तत्त्वविशेष ही तत्त्वात्मक 'मनु' है। अतएव प्राणिवत् प्रत्येक भौतिक जड़ पदार्थ की भी मूलप्रतिष्ठा तत्त्वात्मक 'मनु' ही प्रमाणित हो रहा है। एवमेव सौरमण्डलानुगत ब्रह्माण्डावत् आधिदैविक पदार्थों की स्वरूपसत्ता भी मनुतत्त्वाधार पर ही अवलम्बित है, तदित्थं 'मनु' ऐतिहासिक पुरुषरूप से, तथा तत्त्वरूप से अध्यात्म—अधिभूत—अधिदैवत, सर्वस्व के मूलविज्ञान मूलप्रवर्त्तक बने हुए हैं। ऐतिहासिक तथ्य सर्वविदित है। तत्त्वात्मक तथ्य ज्ञानविज्ञानात्मिका नैगमिक परिभाषाओं के विलुप्तप्राय हो जाने से विस्मृत बन चुका है। उसी तथ्यात्मक मनु के तात्त्विक रूप की संक्षिप्त दिशा के माध्यम से ही हमें 'मानव' की मौलिक रूपरेखा के अन्वेषणकर्म में प्रवृत्त होना है।

लक्षीभूत 'मानव' शब्द के स्वरूप—निर्वचन से पूर्व हमें तत्प्रतिष्ठानलक्षण 'मनु' तत्त्व को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा, एवं मानवधर्मशास्त्रव्याख्याता ऐतिहासिक मानवश्रेष्ठ भगवान् मनु से ही हमें यह जिज्ञासा अभिव्यक्त करनी पड़ेगी कि भगवन्! जिस मानव की सुव्यवस्था—मर्यादा के लिए आपने 'मानवधर्मशास्त्र' (मनुस्मृति) के आविर्भाव का निःसीम अनुग्रह किया, उस मानव के मूलभूत—मूलप्रतिष्ठानरूप तत्त्वात्मक 'मनु' का क्या तात्त्विक स्वरूप है ?, इस प्रश्न के समाधान का उत्तरदायित्व भी एकमात्र आपके अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। कारुणिक भगवान् मनु की ओर से अविलम्ब इस जिज्ञासा के समाधान के लिए यह समाधान हमें प्राप्त होगा कि—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ॥
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् ॥१॥

एतमेके वदन्त्यग्निं-मनुमन्ये प्रजापतिम् ॥
इन्द्रमेके-परे प्राण-मपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥२॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्त्तिभि ॥
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥३॥
एवं य सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ॥
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति पर पदम् ॥४॥

—मनुस्मृति १२ अ०।१२२,१२३,१२४,१२५ श्लोका।

"सम्पूर्ण चर-अचरप्रपञ्च पर अनुशासन करने वाले, सुसूक्ष्म से भी सुसूक्ष्म, विशुद्ध-सुवर्णकान्ति-सदृश कान्तियुक्त, स्वप्नबुद्धिमात्र से जानने योग्य उस तत्त्वविशेष को (तत्त्वत) 'परपुरुष' ही समझना चाहिए। (१)। कितने एक विद्वान् यथालक्षण इस तत्त्वविशेष को 'अग्नि' नाम से व्यवहृत कर रहे हैं। तो दूसरे इस मनु को 'प्रजापति' अभिधा से सम्बोधित कर रहे हैं। कोई इसे 'इन्द्र' कह रहे हैं, तो दूसरे इस मनु को 'प्राण' रूप से ही उपवर्णित कर रहे हैं। कितने एक पूर्णतत्त्वज्ञों की दृष्टि में यही मनु 'शाश्वतब्रह्म' नाम से उद्घोषित कर रहे हैं। इस प्रकार 'परपुरुष'-'अग्नि'-'प्रजापति'-'इन्द्र'-'प्राण'-'शाश्वतब्रह्म' इत्यादिरूप से विविध अभिधाओं से प्रसिद्ध यही 'मनु' गुणभूत-अणुभूत-रेणुभूत-भूत-भूत-भौतिकभूत, इन पञ्चधा विभक्त सम्पूर्ण भूतप्रपञ्चों को अपनी पाँच ही मूर्त्तियों से (परपुरुषमूर्त्ति-अग्निमूर्त्ति-प्रजापतिमूर्त्ति-इन्द्रमूर्त्ति-प्राणमूर्त्ति-इन मूर्त्तियों से-) भूत-व्यक्त स्वरूपों से चारों ओर से, किंवा सब ओर से-आसमन्तात्-अभिव्याप्त कर जन्मवृद्धि-क्षयादि (जायते-अस्ति-विपरिणमते-वर्द्धते-अपक्षीयते-नश्यति-इन सुप्रसिद्ध षड्भावविकारों) के द्वारा इस संसार को '*धाता यथापूर्वमकल्पयत्*'-'*व्यदधात्-शाश्वतीभ्य समाभ्य*' इत्याद्यनुसार सनातनरूप से चक्रवत् परिभ्रममाण बना रहे हैं। (३)। पञ्चमूर्त्तिलक्षण यथाप्रतिपादित मनु के इस शाश्वतब्रह्मरूप सनातनस्वरूप के-इस सर्वव्यापक आत्मा के सर्वव्यापक स्वरूप के जो मानव दर्शन कर लेता है, आत्मबोध प्राप्त कर लेता है, इस समदर्शनलक्षण आत्मबोध द्वारा अपने देही कर्मात्मा से उस देहातीत का स्वरूपबोध प्राप्त कर लेता है, वह आत्मतत्त्ववित् मानवश्रेष्ठ समब्रह्म से समतुलित बनता हुआ इस समत्वयोग के प्रभाव से शाश्वत ब्रह्मपद प्राप्त कर लेता है। (४)।" मनुतत्त्वस्वरूपविश्लेषिका उक्त श्लोकचतुष्टयी का यही अक्षरार्थ है। अब संक्षेप से मनुप्रेमी मानवों का ध्यान श्लोकचतुष्टयी के तात्त्विक-पारिभाषिक उस परोक्ष अर्थ की ओर भी ध्यान आकर्षित कर दिया जाता है, जो आज नैगमिक परिभाषाज्ञान से वञ्चित व्याख्याकारों के प्रज्ञादोष से प्राय सर्वथा विपरीत पथानुगामी बन चुका है।

(२५)—महात्मा, दुरात्मा की मौलिक परिभाषा—

मानव, सर्वात्मना परिपूर्ण भी मानव अपने ज्ञानशक्तिघन मनोमय, क्रियाशक्तिघन प्राणमय, एवं अर्थशक्तिघन वाङ्मय केन्द्रस्थ भूतात्मा (कर्मात्मा) को, अपने इस भूतात्मा के मनःप्राणवाङ्मयरूप तीनों

भूतात्मपर्वों को प्रज्ञापराधवश कुटिल–विषम–वक्र बनाता हुआ, दूसरे शब्दों में वाणी का प्रयोग कुछ और, कर्म विभिन्न ही प्रकार का, एवं मानस सङ्कल्प कुछ विभिन्न ही। इसप्रकार सङ्कल्प–कर्म–वाणी–तीनों धाराओं को अज्ञानमूला अविद्या–अनैश्वर्य्यमूला अस्मिता, रागद्वेषमूला आसक्ति, अधर्म्ममूलक अभिनिवेश–लक्षणा अविद्याबुद्धिचतुष्टयी के समावेश से सर्वथा विपरीत–विषम–दिगनुगामी बनाता हुआ अपने परिपूर्ण भी 'महानात्मा' के स्वरूप से सर्वात्मना 'दुरात्मा' (कुटिलात्मा–वक्रात्मा–विषमात्मा–असमात्मा) बनता हुआ मानव आज दानवकोटि की सीमा का भी उल्लङ्घन कर गया है। मानव का यह निःसीम आत्यन्तिक आत्मपतन किस दिशा–विदिशा का अनुगामी बन गया है ?, प्रश्न भी आज तो अनतिप्रश्न कोटि में समाविष्ट हो चला है।

अपनी बाल्यावस्था में एसी घटनाओं की समुपस्थिति का सौभाग्य प्राप्त हुआ है हम कि, पारम्परिक लोकव्यवहार में मानव हरितवृक्ष-छाया में खड़ा होकर सानृतपुत्रग्रहण (शपथग्रहण) में भी पूर्ण साहस अभिव्यक्त किया करता था। आज से कुछ एक वर्षों का ही पूर्वमानव अपनी वाणी, तथा पाणि (लेख) की नैतिकता, धर्म्मशीलता का पूर्ण समर्थक था। किन्तु इन परिगणित २०–३० वर्षों में ही मानव का वह नैतिकबल, वह धर्म्मनिष्ठा, यह आस्था सहसा कैसे एवं क्यों अभिभूत हो गई ?, प्रश्न आज हमें आश्चर्य में डाल रहा है। 'या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां सा चातुरी चातुरी'* का निर्म्मम हनन कर देने वाला आज का दुरात्मा मानव सर्वात्मना–"मनस्यन्यत्–वचस्यन्यत्–कर्म्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्" (मन में कुछ और, मुख में कुछ और, करते हैं कुछ और ही, किंवा कल्पना कुछ और है, कह कुछ और ही रहे हैं, करते सर्वथा कल्पना–कहने से विपरीत ही। तभी तो मन-प्राणवाङ्मय आत्मा को कुटिल बनाते हुए ऐसे मानव–'दुरात्मा'–कुटिलात्मा' कहलाए हैं) इस आभाणकको अक्षरशः चरितार्थ कर रहे हैं। "मनस्येकं वचस्येकं कर्म्मण्येकं महात्मनाम्" लक्षण नैतिक आदर्श इस मानव ने सर्वात्मना विस्मृत कर दिया है। और एसा दानवोपम मानव लोकैषणामूला अर्थलिप्सापरिपूर्णा, किंवा वित्त–पुत्र–लोकलिप्सासमन्विता अपनी चातुरी के बल पर अभ्युदय–निःश्रेयसमूला शान्ति के, स्वस्त्ययन के सुखस्वप्न देख रहा है, इससे अधिक इसकी अपनी ही ओर से आत्मवञ्चना और क्या होगी ?। यदि अमृतपुत्र–परिपूर्ण–श्वस्तस्य प्रथमजा मानव को वास्तव में अभ्युदय–निःश्रेयस् का अनुगामी बनना है, तो इसका एकमात्र उपाय है—

---

* या रात्रिः शशिशोभना गतघना सा यामिनी यामिनी।
या सौन्दर्य्यगुणान्विता पतिरता सा कामिनी कामिनी॥
या गोविन्दरसप्रमोदमधुरा सा माधुरी माधुरी।
या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां सा चातुरी चातुरी॥
—कविसूक्ति

"स्वात्मावबोधपूर्वक-अनुभावानुगतिपूर्वक प्राकृतिक धर्म्मपथ का निर्व्याज-निरलसरूप से निष्ठामाध्यम से ऐकान्तिक अनुगमन । नान्य पन्था विद्यते-अयनाय —" ।

(२६)—यत्तदग्रे विषमिव, किन्तु परिणामेऽमृतोपमम्—

मानव के गरिमामहिमामय परिपूर्ण आत्मस्वरूपबोध के विश्लेषक कतिपय (५) औतवचन (आर्षवचन) मानवधर्मप्रेमी पाठकों के सम्मुख इस आशाप्रतीक्षा से उपस्थित हुए हैं कि, इनके माध्यम से अपने स्वरूपबोध से विस्मृत-पराङ्मुख बना हुआ मानव उद्बोधन प्राप्त करे, तद्द्वारा अपनी महद्भ्रान्ति का मुकुलित-नयन बन कर अपने अन्तर्जगत् में ही अन्वेषण करे, एवं प्राणपण से तन्निराकरण के लिए सन्नद्ध बने। अब प्रतिज्ञात तत्त्वार्थ की ओर-मानवशब्द-निर्वचन की ओर-ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

"अहम्'- 'मन'- 'मनु'-'मनुष्याणाम्'- इत्यादि शब्दों का मूलाधारभूत 'मनु' तत्त्व ही मानवरूपरेखा की मूलव्याख्या है, एवं यही मानव का वास्तविक स्वरूप है, जिसके पाञ्चभौतिक महाविश्व में "परपुरुष-अग्नि-प्रजापति-इन्द्र-प्राण-" ये पाँच मुख्य विवर्त्त माने गए हैं, जिनके परिज्ञान से शाश्वत ब्रह्मपद प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वोद्धृत पाँच आर्ष वचनों के तत्त्वार्थ का समसमन्वय ही एकमात्र 'मनु' शब्द की मानवधर्मशास्त्रोक्ता-मनुश्लोकचतुष्टयी से प्रतिपादिता-नैष्ठिकी तात्त्विकस्वरूपव्याख्या सर्वात्मना समन्वित बन जाती है।

इस में कोई सन्देह नहीं कि, शताब्दियों से विलुप्तप्राय वैदिक-तत्त्ववादानुगता परिभाषाओं के वास्तविक-पारिभाषिक-स्वरूपबोध से अधिकांश में असंस्पृष्ट जगत के मानव के लिए प्रस्तुत 'मानवरूपरेखा' आरम्भ में 'इन्द्रशब्दस्य टीका-बिडौजा' न्याय से जटिलतमा दुर्बोध्या ही प्रमाणित होगी। किन्तु-'यत्तदग्रे विषमिव, परिणामेऽमृतोपमम्' * इस आर्षसिद्धान्त के अनुसार आरम्भ में कठिनवत् प्रतीत होती

— तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय । (यजुःसंहिता ३१।१८)
यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।२०

* यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥
—गीता १८।३७।

हुई भी-यह स्वरूपव्याख्या मानवकी विविध समस्याओं का सहजभाव से समाधान करती हुई निश्चयेन परिणाम में आत्मबुद्धिप्रसादलक्षणा अमृतनिष्पत्ति-अमृतानुभूति को ही प्रमाणित करेगी। अतएव आग्रह पूर्वक इस सम्बन्ध में हम अपने आस्थाश्रद्धापरिपूर्ण मानवश्रेष्ठों से यह नम्र आवेदन करेंगे, कि, वे साहित्य की विषयगम्भीरतानुगता जटिलता की ओर से अनुकूलतापरायण मन को नियन्त्रित करते हुए बुद्धिपूर्वक ही इस रूपरेखा को लक्ष्य बनाने का नैतिक प्रयत्न प्रक्रान्त रक्खेंगे।

मानवस्वरूप का ही क्या, अपितु सम्पूर्ण चर-अचर-सृष्टि का मूलाधार 'मनु' तत्त्व यद्यपि मनु के शब्दों में अग्नि-प्रजापति-इन्द्र-प्राण-परपुरुष-शाश्वतब्रह्म-इत्यादि विविध नामों से उपवर्णित हुआ है। अवश्य ही मानवाधारभूत मनु के तत्त्वार्थ-बोध के लिए मनु स्वरूपसंग्राहक इन अग्नि-प्रजापत्यादि सभी तात्त्विक अभिधाओं का तात्त्विक इतिहास जान लेना अनिवार्य्य माना जायगा, जिस परिज्ञानमात्र के लिए किसी वैसी सामान्य परिभाषा का अनुगमन आवश्यक होगा, जिसके आधार पर इन विभिन्नार्थों के प्रतिपादक अग्न्यादि विभिन्न शब्दों का अविभिन्नरूप से समसमन्वय सम्भव बन सके। जरजानुगता केवल विकारसृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली उस सामान्य-परिभाषा से पूर्व क्योंकि कतिपय विशेष परिभाषाओं का परिज्ञान भी सामयिक था। अतएव इस 'मानवरूपरेखा' से पूर्व हमें उन विशेष परिभाषाओं का संक्षिप्त समन्वय कराना पड़ा (देखिए पृ० सं० १३७ वें पृष्ठ से १६० वें पृष्ठपर्य्यन्त)।

(२७)—काममयी मन्त्रदृष्टि—

*'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' इत्यादिमूलक प्रजोत्पादक (सन्तुष्टिलक्षण-सृष्टिप्रवर्त्तक) यज्ञ के आधार पर जिस योषावृषात्मिका मैथुनीसृष्टि का दिग्दर्शन पूर्व की विशेष परिभाषाओं का उपसंहार करते

—यथार्थ में स्थिति तो यह है कि, मानवीय मन अपने प्रभव चान्द्रतत्त्व से सम्बन्धित गन्धर्वाप्सरा भावों के सहज प्रभाव से स्वभाव से सदा उन्मुख ही बनता रहता है। काल्पनिक मनोभावों को, तदनुगता भावुकता को समुत्तेजित-प्रोत्साहित करने वाले सहजबोधगम्य-श्रवणप्रिय रसनाप्रिय अनुकूल सङ्गीत नृत्य वादन-वाङ्मुखमात्र उपन्यास-नाटक-कथा कविता-साहित्यादि ही मनस्तत्त्वके अनुरूप प्रमाणित होते रहते हैं। आत्मबुद्ध्यनुगत सौरदिव्यभावों-वेदशास्त्र-स्वाध्याय-ईश्वरोपासन-धर्म्मानुगमन-तत्त्वपूर्ण शास्त्रवाचन-आदि स्वर्यात्मक-सभी भावों से अनुकूलताप्रेमी मन की अनुकूलता पर क्योंकि प्रहार होता है। अतएव आत्म बुद्ध्यनुगत सभी क्षेत्र इसके लिये आरम्भ में विषवत्-जटिलवत् अरुचिकरवत् ही बने रहते हैं। यदि मानव निष्ठापूर्वक इस आरम्भदशा में संयम-नियमद्वारा इन आत्मबुद्ध्यनुगत भावों में अभ्यास करता रहता है, तो निश्चयेन कालान्तर में यह आत्मबुद्धिक्षेत्रप्रसादभावापन्न बन जाता है। एवं उस दिशा में आरम्भ का व्यग्र मन भी शान्ति-तृप्ति का अनुभव करने लगता है।

* सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
—गीता ३।१०।

हुए बतलाया गया था (पृ० सं० १६०), उस सृष्टि के सम्बन्ध में एक यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि,–"जबकि सृष्टि का मूल अव्ययाक्षरगर्भित एक ही क्षरात्मा है, तो उस स्थिति में सृष्टि में, किंवा सृष्ट पदार्थों में परस्पर वैभिन्य क्यों ?, विभिन्नता क्यों ? । इस विभिन्नता का एकमात्र मूलकारण है सृष्ट्युत्पादनभूत सजातीय–विजातीय–भावापन्न उन बलभावों का पारस्परिक सम्बन्धविभेद, जिन बलों के माया–जाया–धारा–आप –ग्रन्थ–सूत्र–नियति–हृदय–आदि आदि १६ मुख्य जातिभेद, एवं अगणित असंख्य उपजातिभेद यत्रतत्र उपवर्णित हैं । इन सम्पूर्ण सविशेष-भेदक बलों के रहते हुए भी एक वैसा सामान्य भी सृष्टि–अनुबन्ध है, जिसके माध्यम से विभक्त भी सृष्टिपदार्थों को समानधर्मा माना, और कहा जा सकता है । न केवल मनुनिबन्धन सामान्य अभिव्यक्त स्वरूपों का ही, अपितु मनुनिबन्धन विशेष-विभक्त ऋषि-प्रजापति इन्द्रादिस्वरूपों का भी इस प्रतिपाद्य सामान्य परिभाषासूत्र से निर्विशेष समन्वय हो जाता है ।

आप्तकाम–आत्मकाम–सर्वजगद्व्यापक–सर्वव्यापक–अखण्ड–अद्वय–निर्विकार–निर्गुण–परमेश्वर में सृष्टि जैसे सीमित–सखण्ड–द्वैतभावापन्न–सविकार -सगुण–भाव की कामनारूपा सृष्टिकामना का उदय सम्भव ही कैसे हुआ ?, जबकि वहाँ कुछ भी अप्राप्त नहीं है, प्रश्न एक स्वतन्त्र प्रश्न है, जिसका ईशविज्ञान भाष्यादि में विस्तार से समाधान हुआ है। अभी हमें इस सिद्धान्त के माध्यम से ही मनु सम्बन्धिनी इस सामान्य परिभाषा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, त्रिपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति कलाविर्भावतिरोभावलक्षणा सहज कामना के आकर्षण से 'सोऽकामयत' इत्यादि रूप से अपने अव्ययभाग से सृष्टिकामना अभिव्यक्त करते हैं, उस अव्ययभाग से–जिसे कुम्भकारानुगत अव्ययसर्गप्रक्रिया के सम्बन्ध में पूर्व में हमने मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी धरातल बतलाया है (देखिए पृ० सं० १५१) । 'स तपोऽतप्यत' रूप से अपने प्राणमय अक्षरभाग से आभ्यन्तरव्यापाररूपा क्रिया (यत्न–चेष्टा–कृति) का अनुगमन करते हैं । एवं–'सोऽश्राम्यत्' रूप से अपने वाङ्मय क्षरभाग से बाह्यव्यापाररूप कर्म्म का अनुगमन करते हैं । इस प्रकार अव्यय–अक्षर–क्षरानुगत मन प्राण-वाङ्मय-काम-तप -श्रम के समसमन्वय से प्रजापति पूर्णेश्वर यज्ञात्मिका सम्श्लिष्टलक्षणा प्रजासृष्टि में समर्थ बना करते हैं, जिस प्रजासृष्टि का मूलाधार–सामान्य आधार–बना करता है—"काम" । इसी कामभाव का स्वरूप–विश्लेषण करती हुई निम्नलिखित श्रुति हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है—

> कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
> सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
>
> —ऋक्सं० १०।१२९।४

(२८)—सदसत् का विलक्षण सम्बन्ध—

त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप, पञ्चपुण्डीरप्रजापरपञ्चक्षरानुगत–सहस्रपुण्डीरात्मक–अश्वत्थब्रह्ममूर्ति–सर्वजगद्व्यापक–पूर्णपुरुष के द्वारा होने वाले सृष्टिकर्म्म में प्रधान एवं प्रथम सामान्य अनुबन्ध कौनसा है ?, ऋक्

श्रुति इसी प्रश्न का समाधान कर रही है, जिस रहस्यार्थ की संक्षिप्त स्वरूपदिशा यही है कि, हमारे इस प्रत्यक्षदृष्ट वर्त्तमानकालिक सर्गसत्ताकाल में गगन–पवन–तेज–तारापुञ्ज–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–ओषधि–वनस्पति–लता–गुल्म–कृमि–कीट–पक्षी–पशु – मानव – देवदेवता–असुर–गन्धर्व–पितर–राक्षस–यक्ष–पिशाच–किन्नर–गुह्यक–धातु–उपधातु–रस–उपरस–विष–उपविष–नद–नदी–सर–सरोवर–सागर–अम्भोधि–पर्वत–आदि आदि रूप से प्रत्यक्ष में दृष्ट श्रुत उपवर्णित-सर्वविध चर अचर प्रपञ्च अग्रे न था, तो क्या था ?, यह एक सामान्य प्रश्न है, जिसका रहस्यात्मक समाधान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—'असद्वा इदमग्र आसीत्'। यह सब कुछ वर्त्तमान चर-अचरप्रपञ्च इस वर्त्तमानदशा से पूर्व (इदमग्रे) 'असत्' था। "किंतदसदासीत्" ?, उस सृष्टिमूलभूत असत् का क्या स्वरूप था ?, इस द्वितीय प्रश्न का ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक प्रकार से समन्वय हुआ है, जिन अनेक प्रकारों में से 'सत्-सदासीत, कथमसत सज्जायेत' इस एक समाधान की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

लोकभाषा में 'असत्' शब्द का अर्थ 'अभाव' भी हुआ करता है। विश्वसर्ग से पूर्व का तत्त्वविशेष 'असत्' रूप अभावरूप था। भला कहीं अभावात्मक असत् भी भावात्मक सत्तासिद्ध का मूलप्रभव बना है !। अवश्य ही वह विश्वमूलभूत विश्वातीत असत्-तत्त्व सद्रूप था, जिसका अन्य श्रुतियों के द्वारा 'आभू-अभ्व' रूप से उपवर्णन हुआ है। सर्वथा–निरञ्जन–शान्त–दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न–व्यापक–आसमन्ताद्भवति–लक्षण–निर्गुण 'आभू' तत्त्व ही विज्ञानभाषा में 'रस' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। एवं सर्वथा साञ्जन–अशान्त–दिग्देशकाल से अवच्छिन्न–परिच्छिन्न–'अभूत्वा भाति–अभवन् भाति–अभवन् भवति लक्षण सगुण 'अभ्व' तत्त्व ही विज्ञानकाण्ड में 'बल' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। 'सद्' भावात्मक रस, तथा असद्भावात्मक बल, दोनों अविनाभूत हैं, 'तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः'–'अन्तर मृत्योरमृतं,–मृत्यावमृतमाहितम्' इत्यादि रूप से अन्तर्यन्तरीभावात्मक ओतप्रोतसम्बन्ध से एक ही बिन्दु में दोनों निर्विशेष समन्वित हैं। अमृत–मृत्युनिबन्धन–सदसन्मूर्त्ति–आभू–अभ्व–लक्षण–सर्वबलविशिष्टरसैकघन वही-विश्वातीत तत्त्व 'असदेवेदमग्र आसीत्' का समाधान बना, जिसके सद्रस, तथा असद्बल के बन्धु (बन्धन–सम्बन्ध) से–ग्रन्थिबन्धनतारतम्य से 'सतो बन्धुमसति निरविन्दन्' रूप कामनामय बीज के द्वारा वर्त्तमान चराचरभावात्मक विश्व का उदय हुआ। विशुद्ध 'सहचरसम्बन्ध' से रससमुद्र में असङ्गरूप से प्रतिष्ठित बलतत्त्व तदवधिपर्य्यन्त सृष्टिकर्म्म में असमर्थ रहा, यदवधिपर्य्यन्त मायाबलोदय के द्वारा उस व्यापक रसब्रह्म का अमुक प्रदेश सीमित बन कर सीमाभावानुगत हृदयबलावच्छिन्न कामनामय नहीं बन गया। कामभाव विरहित, सर्वबलविशिष्टरसैकघन, विश्वातीत वही तत्त्व विज्ञानभाषा में 'परात्पर'–'परमेश्वर'–'शाश्वतब्रह्म'–'अक्षरब्रह्म'–'अद्वयब्रह्म' आदि विविध नामों से उपवर्णित हुआ, जिसे शब्दशास्त्र के आचार्य्योंने यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही निरूढ शब्द से अवद्रव्यावृत्त रहने के कारण वाङ्मनसपथातीत, अतएव सर्वथा अविशेय ही घोषित किया है, जिसके सम्बन्ध में निम्नलिखित घोषणा प्रसिद्ध है—

हुए कराया गया था (पृ० सं० १६०), उस सृष्टि के सम्बन्ध में एक यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि,–"जबकि सृष्टि का मूल अन्ययाक्षरगर्भित एक ही चयात्मा है, तो उस स्थिति में सृष्टि में, किंवा सृष्ट पदार्थों में परस्पर वैभिन्य क्यों ?, विभिन्नता क्यों ?। इस विभिन्नता का एकमात्र मूलकारण है स्वच्युत्पादनभूत सजातीय–विजातीय–मायापन्न उन बलभावों का पारस्परिक सम्बन्धविभेद, जिन बलों के माया–काया–धारा–आप–अम्म–सूत्र–नियति–हृदय–आदि आदि १६ मुख्य जातिभेद, एवं असंख्य उपजातिभेद यत्रतत्र उपवर्णित हैं। इन सम्पूर्ण सविशेष–भेदक बलों के रहते हुए भी एक ऐसा सामान्य भी सृष्टि–अनुबन्ध है, जिसके माध्यम से विभक्त भी सृष्टिपदार्थों को समानधर्मा माना, और कहा जा सकता है। न केवल मनुनिबन्धन सामान्य अभिव्यक्त स्वरूपों का ही, अपितु मनुनिबन्धन विशेष विभक्त अग्नि-प्रजापति इन्द्रादिस्वरूपों का भी इस प्रतिपाद्य सामान्य परिभाषासूत्र से निर्विशेष समन्वय हो जाता है।

आप्तकाम–आत्मकाम–सर्वजगद्व्यापक–सर्वव्यापक–अखण्ड–अद्वय–निर्विकार–निर्गुण–परमेश्वर में सृष्टि कैसे सीमित–सखण्ड–द्वैतभावापन्न–सविकार–सगुण–भाव की कामनारूपा सृष्टिकामना का उदय सम्भव ही कैसे हुआ ?, जबकि यहाँ कुछ भी अप्राप्त नहीं है, प्रश्न एक स्वतन्त्र प्रश्न है, जिसका ईशविज्ञान भाष्यादि में विस्तार से समाधान हुआ है। अभी हमें इस सिद्धान्त के माध्यम से ही मनुः सम्बन्धिनी इस सामान्य परिभाषा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, त्रिपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति बलाविर्भावतिरोभावलक्षणा सहज कामना के आकर्षण से 'सोऽकामयत' इत्यादि रूप से अपने अव्ययभाग से सृष्टिकामना अभिव्यक्त करते हैं, उस अव्ययभाग से–जिसे कुम्भकारानुगत चत्वर्गप्रक्रिया के सम्बन्ध में पूर्व में हमने मनःप्राणवाग्रूप सृष्टिसाक्षी धरातल बतलाया है (देखिए पृ० सं० १५१)। 'स तपोऽतप्यत' रूप से अपने प्राणमय अक्षरभाग से आभ्यन्तरव्यापाररूपा क्रिया (यत्न–चेष्टा–कृति) का अनुगमन करते हैं। एवं–'सोऽश्राम्यत्' रूप से अपने वाङ्मय क्षरभाग से बाह्यव्यापाररूप कर्म्म का अनुगमन करते हैं। इस प्रकार अव्यय–अक्षर–क्षरानुगत मनः प्राण-वाङ्मय-काम-तप-श्रम के समसमन्वय से प्रजापति पूर्णेश्वर यज्ञात्मिका स्वखिलक्षणा प्रजासृष्टि में समर्थ बना करते हैं, जिस प्रजासृष्टि का मूलाधार–सामान्य आधार–बना करता है—"काम"। इसी कामभाव का स्वरूप–विश्लेषण करती हुई निम्नलिखित श्रुति हमारे सम्मुख उपस्थित हो रही है—

> कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
> सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
>
> —ऋक्सं० १०।१२९।४।

(२८)—सदसत् का विलक्षण सम्बन्ध—

त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप, पञ्चपुण्डीरात्मकापरपञ्चयामुगत–सहस्रपुण्डीरात्मक–अश्वत्थाश्वमूर्त्ति–सर्वजगद् व्यापक–पूर्णपुरुष के द्वारा होने वाले सृष्टिकर्म्म में प्रधान एवं प्रथम सामान्य अनुबन्ध कौनसा है ?, ऋक्

श्रुति इसी प्रश्न का समाधान कर रही है, जिस रहस्यार्थ की संक्षिप्त स्वरूपदिशा यही है कि, हमारे इस प्रत्यक्षदृष्ट वर्त्तमानकालिक सर्गसत्ताकाल में गगन-पवन-तेज-तारापुञ्ज-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-ओषधि-वनस्पति-लता-गुल्म-कृमि-कीट-पक्षी-पशु - मानव - देवदेवता-असुर-गन्धर्व-पितर-राक्षस-यक्ष-पिशाच-किन्नर-गुह्यक-धातु-उपधातु-रस-उपरस-विष-उपविष-नद-नदी-सर-सरोवर-सागर-अम्भोधि-पर्वत-आदि आदि रूप से प्रत्यक्ष में दृष्ट श्रुत उपवर्णित-सर्वविध चर अचर प्रपञ्च जब न था, तो क्या था?, यह एक सामान्य प्रश्न है, जिसका रहस्यात्मक समाधान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है—'असद्वा इदमग्र आसीत्'। यह सब कुछ वर्त्तमान चर-अचरप्रपञ्च इस वर्त्तमानदशा से पूर्व (इदमग्रे) 'असत्' था। "किंसदसदासीत्" ?, उस सृष्टिमूलभूत असत् का क्या स्वरूप था?, इस द्वितीय प्रश्न का ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक प्रकार से समन्वय हुआ है, जिन अनेक प्रकारों में से 'सत्-सदासीत, कथमसत सज्जायेत' इस एक समाधान की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

लोकभाषा में 'असत्' शब्द का अर्थ 'अभाव' भी हुआ करता है। विश्वसर्ग से पूर्व का तत्त्वविशेष 'असत्' रूप अभावरूप था। भला कहीं अभावात्मक असत् भी भावात्मक सत्तासिद्ध का मूलप्रभव बना है?। अवश्य ही यह विश्वमूलभूत-विश्वातीत असत्-तत्त्व सद्रूप था, जिसका अन्य श्रुतियों के द्वारा 'आभू-अभ्व' रूप से उपवर्णन हुआ है। सर्वथा-निरञ्जन-शान्त-दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न-व्यापक-आत्मन्वाद्भवति-सगुण-निर्गुण 'आभू' तत्त्व ही विज्ञानभाषा में 'रस' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। एवं सर्वथा साञ्जन-अशान्त-दिग्देशकाल से अवच्छिन्न-परिच्छिन्न-'अभूत्वा भाति-अभवन् भाति-अभवन् भवति' लक्षण सगुण 'अभ्व' तत्त्व ही विज्ञानकाण्ड में 'बल' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। 'सद्' भावात्मक रस, तथा असद्भावात्मक बल, दोनों अविनाभूत हैं, 'तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः'-अन्तरं मृत्योरमृतं,-मृत्यावमृतमाहितम्' इत्यादि रूप से अन्तरान्तरीभावात्मक ओतप्रोतसम्बन्ध से एक ही बिन्दु में दोनों निर्विशेष समन्वित हैं। अमृत-मृत्युनिबन्धन-सदसन्मूर्त्ति-आभू-अभ्व-लक्षण-सर्वबलविशिष्टरसैकघन वही विश्वातीत तत्त्व 'असद्वेदमग्र आसीत्' का समाधान बना, जिसके सद्रस, तथा असद्बल के बन्धु (बन्धन-सम्बन्ध) से-ग्रन्थिबन्धनतारतम्य से 'सतो बन्धुमसति निरविन्दन्' रूप कामनामय बीज के द्वारा वर्त्तमान चराचरभावात्मक विश्व का उदय हुआ। विशुद्ध 'सहचरसम्बन्ध' से रससमुद्र में असङ्गरूप से प्रतिष्ठित बलतत्त्व तदवधिपर्य्यन्त सृष्टिकर्म में असमर्थ रहा, यदवधिपर्य्यन्त मायाबलोदय के द्वारा उस व्यापक रसब्रह्म का अमुक प्रदेश सीमित बन कर सीमाभावानुगत हृदयबलावच्छिन्न कामनामय नहीं बन गया। कामभाव विरहित, सर्वबलविशिष्टरसैकघन, विश्वातीत वही तत्त्व विज्ञानभाषा में 'परात्पर'-'परमेश्वर'-'शाश्वतब्रह्म'-'असत्यब्रह्म'-'अद्वयब्रह्म' आदि विविध नामों से उपवर्णित हुआ, जिसे शब्दशास्त्र के आचार्य्योंने यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही निरूढ़ शब्द से अतद्व्यावृत्त रहने के कारण वाङ्मनसपथातीत, अतएव सर्वथा अविज्ञेय ही घोषित किया है, जिसके सम्बन्ध में निम्नलिखित घोषणा प्रसिद्ध है—

स विदन्ति न य वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

(२९) चतुर्विध मनस्तन्त्रनिरूपण, और कामभाव—

पूर्वोद्धृत ऋक्श्रुति के रहस्यार्थसमन्वय से पूर्व दो शब्दों में स्मृतिमीजभूत 'काम', किंवा 'कामना' शब्द के इतिहास की रूपरेखा पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक होगा। लोकव्यवहार में 'कामना'–'इच्छा' परस्पर पर्य्याय माने जा रहे हैं, अभिन्नार्थक माने जा रहे हैं, एवं यह कामना, किंवा इच्छा मन का व्यापार कहा जा रहा है। वर्त्तमानयुग के वेदान्तनिष्ठ महामानव गीताशास्त्र के माध्यम से सर्वबन्धन विनिर्मुक्ति के लिए 'कामना' का परित्याग अनिवार्य्य मानते हुए पदे-पदे गीता के 'निष्काम कर्मयोग' की उद्घोषणा करते हुए नहीं अघा रहे। इस काल्पनिक घोषणा में कितना तथ्य है !, प्रश्न की मीमांसा तो आगे सम्भव बन सकेगी। अभी तो हमें 'कामना' के स्वरूप की ही मीमांसा करनी है, जो कि मन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

भारतीय आर्ष-मनोविज्ञान के अनुसार मनस्तन्त्र चार भागों में विभक्त माना गया है। दूसरे शब्दों में भारतीय मनोविज्ञान के आचार्य्यों ने परस्पर सर्वथा विभिन्न स्वरूप-गुण-धर्मात्मक चार प्रकार के मनोभावों की सत्ता स्वीकार की है, जो क्रमशः "श्वोवसीयस् मन, सत्त्वमन, सर्वेन्द्रियमन, इन्द्रियमन" इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। अध्यात्मसंस्था के माध्यम से इन चारों मनस्तन्त्रों का समन्वय निम्न लिखित रूप से सम्भव माना जा सकता है।

(१) 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति' सिद्धान्तानुसार प्रत्येक प्राणी के शरीराकाश से वेष्टित हृदयाकाशानुगत दहराकाश (दभ्राकाश-दहरपुण्डरीक-नामक हृत्कमल) में 'अन्तर्य्यामी' नामक ईश्वर का निवास सनातन मान्यता से अनुप्राणित है। यह केन्द्रस्थ ईश्वरप्रजापति 'मनोमय' 'भा' रूप है, 'सत्यात्मा' है, 'आकाशात्मा' है। यही वह प्रथम मुख्य ईश्वरीय मन है, जो अपने उत्तरोत्तरोपयिक श्व-श्वः-भावात्मक समृद्धि-विकास के कारण 'श्वोवसीयस्' नाम से व्यवहृत हुआ है, जो तैत्तिरीय श्रुति में 'तद्वेत्-श्वोवस्यसं मह' (तै॰ आ॰२।२।६।१) रूप से 'श्वोवस्यस्' नाम से भी प्रसिद्ध हुआ है। यही वह 'मन' है, जो 'मनु' रूप से सर्वसर्गाधिष्ठाता बनता हुआ 'शाश्वतब्रह्म' उपाधि से समलंकृत हुआ है, जैसा कि आगे चल कर स्पष्ट होने वाला है। निम्नलिखित उपनिषत्-श्रुति इसी भावरूप ब्रह्ममन का दिग्दर्शन करा रही है—

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यः-तस्मिन्नन्तर्हृदये-यथा व्रीहिर्वा यवो वा ।
स एष सर्वस्येशानः, सर्वस्याधिपतिः, सर्वमिदं प्रशास्ति-यदिदं किञ्च ॥

—बृहदारण्यकोपनिषत् ६।१।

(२) परपुरुषात्मक ईश्वराव्यय के श्वोवसीयसमन को ही 'चिदात्मा' 'चिद्ब्रह्म' माना गया है दार्शनिकभाषा में। यह चिद्ब्रह्मलक्षण चिदात्मा, किंवा चिदात्मरूप श्वोवसीयसमन सगप्रपञ्चानुगत बनता हुआ जिस योनि को मूलाधार बनाता है, वही पारमेष्ट्य-सोममूर्त्ति महानात्मा है, जिसका—'मम योनि र्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' इत्यादि रूप से उपवर्णन हुआ है। अदितिप्राणावच्छिन्न यह सौम्य महान् ही दूसरा 'सत्त्व मन' है, जो मानवीय कर्म्मात्मा की सत्त्वविभूति का अनुग्राहक माना गया है, एवं जो सत्त्वमन अर्हंभावात्मक जीवन का मूलाधार बना हुआ है। अज्ञातदशा में भी जो आध्यात्मिक कर्म्म परोक्षरूप से प्रक्रान्त रहते हैं, उनका मूल यही सत्त्वमनोमय महानात्मा बना करता है। निम्नलिखित श्रुति इसी का स्वरूप-विश्लेषण कर रही है—

> महान् प्रभुर्वै पुरुष सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तक।
> सुनिर्म्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्यय ॥
>
> —श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।१२।

(३) 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ' इत्यादि मन्त्रश्रुति के अनुसार केन्द्रस्थ-मनोमय-ईश्वर नामक 'साक्षी सुपर्ण' से 'जीवात्मा' नामक 'मोक्तासुपर्ण' सख्यभाव से नित्य संयुक्त रहता है। अनुग्राहक ईश्वर की दिव्य-सत्य-शक्तियों के अजस्र सहयोग से समन्वित रहता हुआ ही अनुग्राह्य जीव स्वस्वरूप विकास-संरक्षण में समर्थ बना करता है। ईश्वरसंयुक्त जीवात्मा एक ऐसा यात्री है, जिसे ज्ञानजनित भावना-कर्म्मजनित वासनासंस्कारपुञ्जों के स्वरूपानुपात से संसारयात्रा का उच्चावचरूप से अनुगमन करना पड़ता है। इस संसारयात्रा को निर्विघ्न समाप्त करने के लिए मोक्तात्मलक्षण-जीवात्मा को अमुकामुक देव-भूत-परिग्रहसाधन-सम्भारों की अपेक्षा रहती है। यात्रासंसाधक ये परिग्रह ही शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियवर्ग-बाह्यभूतपरिग्रह (विषय), आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। जिस पाञ्चभौतिक विश्व के गर्भ में मातापिता के योषावृषामय शुक्रशोणितात्मक-अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक-दाम्पत्यभाव से जीवात्मा औपपातिक रूप से-भौतिकस्वरूप से-भूपृष्ठ पर अभिव्यक्त होता है, उस विश्व के अमुकामुक पर्वों से ही इसे यात्रासंसाधक तथाकथित परिग्रह उपलब्ध हुए हैं, कर्म्मानुसार होते रहते हैं। भूपिण्डानुगत ओषधि-वनस्पति के द्वारा इसे 'पुष्टशरीरपरिग्रह' प्राप्त होता है। सुषुम्णानाड़ी के द्वारा सौरतत्त्वात्मक 'बुद्धि परिग्रह' प्राप्त होता है। रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रओजभावों की क्रमिक-चिति के द्वारा चान्द्रमण्डल से मुक्तान्न माध्यम से 'मन परिग्रह' प्राप्त होता है। त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश नामक ६-१५-२१-२७-३३-इन पाँच पार्थिव स्तोमलोकों के गयसोनपात् (अधिष्ठाता-अधिष्ठाता) अग्नि-वायु-आदित्य-भास्वरसोम-दिक्सोम-इन पाच पार्थिव प्राणदेवों के प्रवर्ग्यभागों से इसे 'पञ्चे न्द्रियपरिग्रह' प्राप्त होता है। और और भी तत्तद्विशेष प्राकृतिक-विश्वपर्वों से इसे असंख्य-परिग्रह प्राप्त होते हैं, जिनका स्वरूपविश्लेषण स्वतन्त्रनिबन्धसापेक्ष है। चन्द्रमा के सोमतत्त्व से (भास्वर सोम से) पञ्चाग्निक्रमद्वारा वृष्टिमाध्यम से समुत्पन्न ओषधि (अन्न) ही जीवात्मा के 'सर्वेन्द्रिय' नामक

'मनस्तत्त्व' की स्वरूपसंग्राहिका बनती है। यह ध्यान रहे कि–पार्थिव सौम्यमिश्रोषधि के मियावस्तोम में प्रविष्ठित पार्थिव अभिप्रायसमन्वित परोक्ष भास्वर सोम जहाँ 'इन्द्रियमन' का स्वरूपारम्भक बनता है, वहाँ सर्वेन्द्रियमन का चान्द्र भास्वरसोम से ओषधिद्वारा (मुक्तान्नद्वारा) स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। यही इन दोनों मनोभावों की स्वरूपदिशा है।

सर्वेन्द्रियमन उपनिषदों में 'प्रज्ञानमन'–'प्रज्ञानमन'–'अनिन्द्रियमन'–'अतीन्द्रियमन' इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। 'नियतविषयत्त्वमिन्द्रियत्त्वम्' ही इन्द्रिय का सामान्य लक्षण माना गया है। जिसका ग्राह्य विषय सर्वथा नियत–सीमित–रहता है, उसे ही 'इन्द्रिय' कहा जाता है। वाक्–प्राण–चक्षु श्रोत्र एवं संकल्पविकल्पात्मक मन, इन पाँचों के विषय सर्वथा नियत–सीमित रहते हैं। अतएव इन्हें 'इन्द्रिय' कहना अन्वर्थ बन जाता है। हम देखते हैं—अनुभव करते हैं कि, प्रत्येक व्यापार में 'मन' नामक तत्त्व के सहयोग की भी अनिवार्य्य आवश्यकता रहा करती है। बिना मनःसहयोग के कोई भी इन्द्रिय कभी भी स्वव्यापारसञ्चालन में समर्थ नहीं बन सकती। आप किसी वक्ता से कुछ सुन रहे हैं। इस श्रवणकर्म्म में श्रोत्रेन्द्रिय के साथ जब तक आपका मन संयुक्त रहेगा, तभी तक आप वक्ता के वक्तव्य का मर्म समझते रहेंगे। यदि सहसा आपका मन अन्य किसी चक्षु–घ्राणादि इन्द्रिय का अनुगामी बन जायगा तो, इस अन्यमनस्कता के कारण आप सुनते हुए भी कुछ न सुन सकेंगे, एवं कुछ न समझ सकेंगे। आप स्वयं ही कालान्तर में यह बोल पड़ेंगे कि–"कृपा कर अमुक विषय का पुनरावर्त्तन कर दीजिए। मैं उस समय ठीक ठीक समझ न सका, सुन न सका। कारण, सहसा मेरा मन दूसरी ओर चला गया था"। "न प्रज्ञापेतं श्रोत्रं शब्दं कञ्चन प्रज्ञापयेत्–अन्यत्र मे मनोऽभूत्" (कौषी० उप० ३।८।७)) इत्यादि श्रुति, एवं तन्मूलक प्रत्यक्षानुभव यह प्रमाणित कर रहे हैं कि, बिना मन को अवलम्ब बनाए कोई भी इन्द्रिय स्वविषय-ग्रहण में समर्थ नहीं बन सकती। सम्पूर्ण इन्द्रियों का आधार बना रहने वाला, अतएव च 'नियतविषय- ग्रहणत्त्व' लक्षण इन्द्रियलक्षण की मर्य्यादा से बहिर्भूत एवंविध भास्वर सोममय–अन्नमय चान्द्रमन ही जहाँ इन्द्रियभाव के पार्थक्य से 'अनिन्द्रियमन' कहलाया है, वहाँ यही सम्पूर्ण इन्द्रियों के अवलम्ब-आधार बने रहने के कारण 'सर्वेन्द्रियमन' नाम से भी प्रसिद्ध हुआ है। जीवात्मानुगत इन्द्रियवर्ग-सञ्चालक–यही सौम्य अन्नमय मन 'प्रज्ञानमन' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका निम्नलिखित मन्त्र से स्वरूपविश्लेषण हुआ है—

> यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
> यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥
>
> —यजुःसंहिता मनःसूक्त ३४।३।

(४) मियावस्सौम्य–भास्वरसोम से निष्पन्न चौथा इन्द्रियमन अपने संकल्पविकल्पात्मक 'ग्रहण–परित्याग' रूप नियत विषय से समन्वित रहता हुआ 'इन्द्रियलक्षणानुधर्म्मी बनता हुआ अपने 'इन्द्रियमन'

नाम को चरितार्थ कर रहा है। 'इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि" (अथर्वसंहिता १६।६।५।) ही इस इन्द्रियमन का मूलाधार है। अनुकूल विषय का ग्रहण, एवं प्रतिकूल विषय का परित्याग, इन्द्रियमन के ग्रहणात्मक सङ्कल्प–परित्यागात्मक विकल्प, ये दो ही मुख्य कर्म्म हैं। तदित्थं मानवीय अध्यात्मसंस्था में ईश्वरानुगत सर्वाधिष्ठाता–श्वोवसीयस्मन, चिदनुगत सत्त्वमन, जीवानुगत सर्वेन्द्रियमन, भूतानुगत इन्द्रियमन, इन चार स्वतन्त्र मनस्तन्त्रों की सत्ता सिद्ध हो जाती है, जिन इन चारों मनस्तन्त्रों में से मानवसंस्थाधारभूत 'मनु' तत्त्व का आधार बनता है ईश्वराव्ययात्मानुगत 'श्वोवसी यस्' नामक सर्वाधार–निराधार यह मन, जिसके स्वरूपविश्लेषण के प्रसङ्ग से ही यहाँ प्रासङ्गिकी मनस्तन्त्रस्वरूपचतुष्टयी का दिग्दर्शन कराना पड़ा है।

प्रकृतमनुसरामः। तथोपवर्णित स्वतन्त्र मनोविवर्त्तों के स्वतन्त्र ही कर्म हैं, जिनका संक्षेप से इस प्रकार समन्वय किया जा सकता है कि, ईश्वरीय श्वोवसीयस् मन का प्रधान कर्म्म (व्यापार) है 'काम', किंवा 'कामना'। चिदनुगत सत्त्वमन का प्रधान व्यापार है 'अहंभावस्वरूपसंरक्षण', एवं परोक्ष आध्यात्मिक सुसूक्ष्म कर्म्मसञ्चालन'। जीवानुगत सर्वेन्द्रियमन का प्रधान व्यापार है ऐन्द्रियक विषय समष्ट्यनुगत 'इच्छा' किंवा 'अशनाया' (बुभुक्षा–भूख)। एवं भूतानुगत इन्द्रिय मन का प्रधान व्यापार है 'संकल्प–विकल्प', किंवा 'ग्रहणपरित्यागात्मिका चिकित्सा'।

(३०) शब्दब्रह्म और परब्रह्म का समतुलन—

'शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' * इस पावन घोषणा से सम्बन्धित पारमेष्ठिनी सरस्वती वाक् से कृतरूप शब्दब्रह्म, एवं पारमेष्ठिनी आम्भृणीवाक् से कृतरूप परब्रह्म, दोनों का समसमन्वय भारतीय निगमागमशास्त्र का वह अलौकिक–अद्भुत–आश्चर्य्यमय दृष्टिबिन्दु है, जिसे लक्ष्यभूमि बना लेने से सम्पूर्ण नैगमिक–आगमिक तत्त्वार्थ सर्वात्मना, सुसमन्वित हो जाते हैं। 'काम' शब्दात्मक शब्दब्रह्म के इसी तात्त्विक समन्वय के स्पष्टीकरण के प्रसङ्ग में शब्दब्रह्म से समतुलित परब्रह्म का एक प्रासङ्गिक तात्त्विक उदाहरण प्रकृत में प्रसङ्गविधया इसलिए उपस्थित कर दिया जाता है कि, इसके द्वारा 'काम' शब्द के तात्त्विक इतिहास का, इसकी भावार्थगरिमा का सर्वात्मना समसमन्वय हो जाता है।

'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तस्योपनिषत्–ओम् इति' इत्यादि रूप से आर्षमानवों ने ईश्वरप्रजापति-ब्रह्मात्मक परब्रह्म का प्राहक–वाचक शब्द माना है—'प्रणवोङ्कार'+। क्या समानता है परब्रह्मात्मक ईश्वर प्रजापति के साथ इस प्रणवोङ्कारात्मक शब्दब्रह्म की, जिसके आधार पर प्रणव को ईश्वर का वाचक–सम्प्राहक

---

* द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

+ उद्गीथोङ्कार–प्रणवोङ्कार–हिङ्कारोङ्कार–निधनोङ्कार–सामोङ्कार–प्रस्तावोङ्कार– आदि भेद से ओङ्कार के अनेक विवर्त्तवाद निगमशास्त्र में उपवर्णित हुए हैं, जिनमें से सर्वमूलाधारभूत ओङ्कार ही 'प्रणवोङ्कार' नाम से व्यवहृत हुआ है।

माना गया ? प्रश्न है, किंतु इस प्रश्न का सम्बन्ध निगम—शास्त्र की सुप्रसिद्ध उस '+अनुगम' परिभाषा है, जिसके द्वारा प्रणवोङ्कार का अनेक दृष्टियों से समन्वयसम्भव है। उन असंख्य प्रणवसम्बन्ध प्रकारों में से केवल एक प्रकार की ओर ही यहाँ पाठकों का ध्यान आकर्षित कराया जा रहा है। पञ्चात्मक ईश्वरीय विवर्त्त के अमृतलक्षण अव्ययात्मा—ब्रह्मलक्षण अक्षरात्मा—शुक्रलक्षण क्षरात्मा (देखिए पृ० सं० ११६), इन तीन विवर्त्तों का आरम्भ में दिग्दर्शन कराते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, पञ्चप्रेयात्मक अव्ययात्मा सृष्टि का अधिष्ठान (आलम्बन कारण) है, पञ्चदेवमूर्त्ति अक्षरात्मा सृष्टि का निमित्तकारण है। एवं पञ्चतन्मात्रमूर्त्ति क्षरात्मा विश्व का आरम्भण (उपादानकारण) है। ईश्वर प्रजापति के ये तीनों ही आत्मविवर्त्त 'महामाया' नामक सीमाभावप्रवर्त्तक महाबल से सीमित बनते हुए "तिस्रो मात्रा मृत्युमत्य प्रयुक्ता" (प्रश्नोपनिषत् ५।६।) रूप से—'संयोगा विप्रयोगान्ता', पतनान्ता' समुच्छ्रया' (महाभारत) इस सिद्धान्त के अनुसार मरणधर्म्माक्रान्त हैं, विनश्वरधर्म्मा हैं। इन तीनों मृत्युमात्राओं का आधारभूत अमात्रिक—असङ्ग—विश्वातीत—मायातीत—परात्परात्मा—परमेश्वर—अद्वयरूप से विराजमान है, जिसे राजर्षि मनु ने 'शाश्वतब्रह्म' कहा है। इस दृष्टि से ईश्वरप्रजापतिलक्षणा आधि दैविकसंस्था के 'परात्पर—अव्यय—अक्षर—क्षर' ये चार पर्व संसिद्ध बन जाते हैं।

शब्दब्रह्मप्रतिपादक व्याकरणशास्त्रने तयोपवर्णित चतुष्पर्वात्मक परब्रह्मविवर्त्तसे सर्वात्मना समतुलित शब्दब्रह्म के भी चार ही मुख्य पर्व स्वीकार किए हैं, जो तत्र शास्त्र में क्रमशः 'स्फोट—अव्यय—स्वर—वर्ण' अभिधाओं से प्रसिद्ध हुए हैं। क—ख—ग—घ—ङ—आदि व्यञ्जनात्मक पार्थिव वर्णों से क्षरात्म पर्व समतुलित है। अ—आ—इ—ई—ऋ—लृ—आदि स्वरात्मक वर्णों से अक्षरात्मपर्व समतुलित है। स्त्रीलिङ्ग पुंलिङ्ग—नपुंसकलिङ्ग—इन तीनों शब्दलिङ्गों में समानरूप से अपरिवर्त्तनरूप से व्यवहृत सुप्रसिद्ध अव्यय लिङ्गत्रयानुगता प्रजासृष्टि में स्वयं अलिङ्गरूप से आधार बने—रहने रहने वाले अव्ययात्मपर्व* से

+ निघण्टर्थ—निरुक्तार्थ—नैगमिक परिभाषासूत्र 'निगमवचन' कहलाए हैं, जैसे 'अग्निर्वा अक्षरः'—इन्द्रो देवानामोजिष्ठो बलिष्ठ' इत्यादि। यौगिकार्थप्रतिपादक नैगमिक परिभाषासूत्र 'अनुगम—वचन' कहलाए हैं, जैसे—'त्रिवृद्वा इदं सर्वम्'— 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'—चतुष्टयं वा—इदं सर्वम्'—तस्योप निषदोमिति' इत्यादि।

* नैव स्त्री—न पुमानेष—न चैवायं नपुंसकः ।।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ।।१।।

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ५।१०।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ।। (गोपथब्राह्मण)
लिङ्गेषु—त्रिविधप्राणिसर्गेषु। विभक्तिषु—खण्डखण्डभावेषु—'अविभक्तं—विभक्तेषु' इत्यादिवत्। वचनेषु—वाङ्मयभूतपदार्थेषु नानाभावापन्नेषु यन्न वैविध्यमेति—तदव्ययम्।

समतुलित हैं। एवं-वर्ण-पद-वाक्य-अखण्डादि-विविधभावापन्न सुप्रसिद्ध 'स्फोट' पदार्थ अवश्यमेव परात्पर पर्व से समतुलित है।

स्फोटशब्दब्रह्म से समतुलित परात्परब्रह्म 'तुरीयपद' है, निरुपाधिक ब्रह्म है, विश्वातीतब्रह्म है। अव्ययशब्दब्रह्म से समतुलित अव्ययात्मा 'ज्ञानात्मा' है। स्वरशब्दब्रह्म से समतुलित अक्षरात्मा 'कर्मात्मा' है। एवं व्यञ्जनशब्दब्रह्म से समतुलित क्षरात्मा 'अर्थात्मा' है। स्फोटानुगत परात्पर 'अविज्ञेय ब्रह्म' है, अव्ययानुगत अव्ययात्मा 'दुर्विज्ञेयब्रह्म' है, स्वरानुगत अक्षरात्मा 'विज्ञेयब्रह्म' है, एवं व्यञ्जनानुगत क्षरात्मा 'सुविज्ञेयब्रह्म' है। स्फोटसमाख्य परात्मा का 'पराव्वाक्' से सम्बन्ध है, अव्यय समाख्य अव्ययात्मा का 'पश्यन्तीवाक्' से सम्बन्ध है, स्वरसमाख्य अक्षरात्मा का 'मध्यमावाक्' से सम्बन्ध है, एवं व्यञ्जनसमाख्य क्षरात्मा का 'वैखरीवाक्' से सम्बन्ध है। स्फोटसंयुक्त परात्परब्रह्म सङ्ग-असङ्ग-मर्यादा से 'अतिक्रान्त' है, अव्ययसंयुक्त अव्ययात्मा विश्वगर्भ में प्रविष्ट रहता हुआ भी 'असङ्ग' है, स्वरसंयुक्त अक्षरात्मा (अव्ययरूपेण असङ्ग, क्षररूपेण ससङ्ग बनता हुआ) 'ससङ्गासङ्ग' है, एवं वर्णसंयुक्त क्षरात्मा अपनी सम्श्लिष्टलक्षणा उपादानकारणता से 'ससङ्ग' है। ठीक यही स्थिति स्फोटादि शब्दब्रह्मविवर्तभावों की है।

कण्ठताल्वादि के स्नेहगुणात्मक सौम्य स्पर्शभाव-तेजोगुणात्मक आग्नेय ऊष्मभावरूप उभयभाव के कारण * व्यञ्जनात्मक वर्ण ससङ्ग बनते हुए ससङ्ग क्षरात्मा से समतुलित हैं। कण्ठताल्वादि के अभिघातलक्षण स्पर्शभाव से असंस्पृष्ट, अतएव अपने प्रातिस्विकरूप से स्पर्शमर्यादा से असंस्पृष्ट बने रहते हुए अकारादि स्वर जहाँ असङ्ग हैं, वहाँ व्यञ्जनात्मक वर्णों के सहयोग में आकर ससङ्ग भी हैं, जैसा कि सुप्रसिद्ध अनुभक्ति से समन्वित ऋ-लृ-आदि स्वरों के गर्भ में समाविष्ट 'र्-ल्' इत्यादि ससङ्ग व्यञ्जनों के द्वारा प्रमाणित है। अतएव ससङ्गासङ्ग बने हुए स्वर ससङ्गासङ्ग अक्षरात्मा से समतुलित माने जा सकते हैं। अपनी समानरूपा-अविभक्तरूपा-अलिङ्गरूपा-अवचनरूपा-अव्याकृतावस्था से असङ्ग बने हुए अव्यय अव्ययात्मा से समतुलित हैं। एवं अपनी ध्वन्यात्मिका अखण्डता के कारण ससङ्गासङ्गमर्यादा से अतिक्रान्त वर्ण-स्वर-शब्द-पद-वाक्यादि लक्षण वर्णस्फोट-स्वरस्फोट-शब्दस्फोट-पदस्फोट-वाक्यस्फोट-अखण्डस्फोट-आदि आदि स्फोटभाव अवश्यमेव ससङ्गासङ्गमर्यादातिक्रान्त परात्परब्रह्म से समतुलित हैं। तदित्थं, शब्दब्रह्मविवर्तचतुष्टयी इस रूप से परब्रह्मविवर्तचतुष्टयी से सर्वात्मना समतुलित प्रमाणित हो रही है। जो पर्वविभाग, जैसा स्वरूपसंस्थान परब्रह्मविवर्त का है, ठीक वही पर्वविभाग, वैसा ही स्वरूप-संस्थान शब्दब्रह्मविवर्त का है। अतएव निश्चयेन तत्त्वसमन्वयपूर्वक ज्ञानविज्ञानपद्धतिपूर्वक शब्दब्रह्म की स्वाध्याय

— देखिए-वैय्याकरण भूषणसार का 'स्फोट' प्रकरण

*—"अकारो वै सर्वा वाक्। सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति"

—ऐतरेय आरण्यक

माना गया ! प्रश्न है, फिर इस प्रश्न का सम्बन्ध निगम-शास्त्र की सुप्रसिद्ध उस '+अनुगम' परिभाषा है, जिसके द्वारा प्रणवोद्धार का अनेक दृष्टियों से समन्वयसम्भव है। उन अनवच्छिन्न प्रकारों में से केवल एक प्रकार की ओर ही यहाँ पाठकों का ध्यान आकर्षित कराया जाता है। परात्परात्मक ईश्वरीय विवर्त के अमृतलक्षण अव्ययात्मा-ब्रह्मलक्षण अक्षरात्मा-शुक्रलक्षण क्षरात्मा (देखिए पृ० सं० १३६), इन तीन विवर्तों का आरम्भ में दिग्दर्शन कराते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, पञ्चकोशात्मक अव्ययात्मा सृष्टि का अधिष्ठान (आलम्बन कारण) है, पञ्चदेवमूर्त्ति अक्षरात्मा सृष्टि का निमित्तकारण है। एवं पञ्चतन्मात्रमूर्त्ति क्षरात्मा विश्व का आरम्भण (उपादानकारण) है। ईश्वर प्रजापति के ये तीनों ही आत्मविवर्त्त 'महामाया' नामक सीमाभावप्रवर्त्तक महाबल से सीमित बनते हुए "तिस्रो मात्रा मृत्युमत्य प्रयुक्ता" (प्रश्नोपनिषत् ५।६।) रूप से-'संयोगा विप्रयोगान्ताः, मरणान्ता समुच्छ्रया' (महाभारत) इस सिद्धान्त के अनुसार मरणधर्म्माक्रान्त हैं, विनश्वरधर्म्मा हैं। इन तीनों मृत्युमात्राओं का आधारभूत प्रमाभिक-अखण्ड-विश्वातीत-मायातीत-परात्परात्मा-परमेश्वर-ब्रह्मरूप से विराजमान है, जिसे राजर्षि मनु ने 'शाश्वतब्रह्म' कहा है। इस दृष्टि से ईश्वरप्रजापतिलक्षणा आधिदैविकसंस्था के 'परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर' ये चार पर्व सिद्ध बन जाते हैं।

शब्दब्रह्मप्रतिपादक व्याकरणशास्त्रने उपोपवर्णित चतुष्पर्वात्मक परब्रह्मविवर्त्तसे सर्वात्मना समतुलित शब्दब्रह्म के भी चार ही मुख्य पर्व स्वीकार किए हैं, जो तत्र शास्त्र में क्रमशः 'स्फोट-व्यञ्जन-स्वर-वर्ण' अभिधाओं से प्रसिद्ध हुए हैं। क-ख-ग-घ-ङ-आदि व्यञ्जनात्मक पार्थिव वर्णों से क्षरात्म पर्व समतुलित है। अ-आ-इ-ई-ऋ-लृ-आदि स्वरात्मक वर्णों से अक्षरात्मपर्व समतुलित है। स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग-नपुंसकलिङ्ग-इन तीनों शब्दलिङ्गों में समानरूप से अपरिवर्त्तनरूप से व्यवहृत सुप्रसिद्ध अव्यय लिङ्गभावानुगता प्रजासृष्टि में स्वयं अलिङ्गरूप से आधार बने-रहने रहने वाले अव्ययात्मपर्व* से

+ निष्कार्य-निस्तार्य-नैगमिक परिभाषासूत्र 'निगमवचन' कहलाए हैं, जैसे 'अग्निर्वा अक्षर'-इन्द्रो देवानामोजिष्ठो बलिष्ठ' इत्यादि। यौगिकार्थप्रतिपादक नैगमिक परिभाषासूत्र 'अनुगम-वचन' कहलाए हैं, जैसे-'त्रिवृद्वा इदं सर्वम्'- 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'-चतुष्टयं वा-इदं सवम्'-तस्योप निषदोमिति' इत्यादि।

* नैव स्त्री-न पुमानेष-न चैवायं नपुंसक ॥
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥१॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ५।१०।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ (गोपथब्राह्मण)
लिङ्गेषु-त्रिविधप्राणिसर्गेषु। विभक्तिषु-खण्डखण्डभावेषु-'अविभक्तं-विभक्तेषु' इत्यादिवत्। वचनेषु-वाङ्मयभूतपदार्थेषु नानाभावापन्नेषु यन्न वैविध्यमेति-तदव्ययम्।

समतुलित हैं। एवं—वर्ण—पद—वाक्य—अखण्डादि—विविधभावापन्न सुप्रसिद्ध 'स्फोट' पदार्थ अखण्ड परात्पर पर्व से समतुलित है।

स्फोटशब्दब्रह्म से समतुलित परात्परब्रह्म 'तुरीयपद' है, निरुपाधिक ब्रह्म है,—विश्वातीतब्रह्म है। अव्ययशब्दब्रह्म से समतुलित अव्ययात्मा 'ज्ञानात्मा' है। स्वरशब्दब्रह्म से समतुलित अक्षरात्मा 'कर्मात्मा' है। एवं व्यञ्जनशब्दब्रह्म से समतुलित क्षरात्मा 'अर्थात्मा' है। स्फोटानुगत परात्पर 'अविज्ञेय ब्रह्म' है, अव्ययानुगत अव्ययात्मा 'दुर्विज्ञेयब्रह्म' है, स्वरानुगत अक्षरात्मा 'विज्ञेयब्रह्म' है, एवं व्यञ्जनानुगत क्षरात्मा 'सुविज्ञेयब्रह्म' है। स्फोटसमाप्त परात्मा का 'परावाक्' से सम्बन्ध है, अव्यय समाप्त अव्ययात्मा का 'पश्यन्तीवाक्' से सम्बन्ध है, स्वरसमाप्त अक्षरात्मा का 'मध्यमावाक्' से सम्बन्ध है, एवं व्यञ्जनसमाप्त क्षरात्मा का 'वैखरीवाक्' से सम्बन्ध है। स्फोटसंयुक्त परात्परब्रह्म सङ्ग—असङ्ग—मर्यादा से 'अतिक्रान्त' है, अव्ययसंयुक्त अव्ययात्मा विश्वगर्भ में प्रविष्ट रहता हुआ भी 'असङ्ग' है, स्वरसंयुक्त अक्षरात्मा (अव्ययदृष्ट्या सङ्ग, क्षरदृष्ट्या असङ्ग बनता हुआ) 'ससङ्गासङ्ग' है, एवं वर्णसंयुक्त क्षरात्मा अपनी सङ्ग्रथिलक्षणा उपादानकारणता से 'ससङ्ग' है। ठीक यही स्थिति स्फोटादि शब्दब्रह्मविवर्त्तभावों की है।

कण्ठताल्वादि के स्नेहगुणात्मक सौम्य स्पर्शभाव—तेजोगुणात्मक आग्नेय ऊष्माभावरूप सङ्गभाव के कारण * व्यञ्जनात्मक वर्ण ससङ्ग बनते हुए ससङ्ग क्षरात्मा से समतुलित हैं। कण्ठताल्वादि के अभिघातलक्षण स्पर्शभाव से असंस्पृष्ट, अतएव अपने प्रातिस्विकरूप से स्पर्शमर्यादा से असंस्पृष्ट बने रहते हुए अकारादि स्वर जहाँ असङ्ग हैं, वहाँ व्यञ्जनात्मक वर्णों के सहयोग में आकर ससङ्ग भी हैं, जैसा कि सुप्रसिद्ध अनुभूति से समन्वित ऋ—लृ—आदि स्वरों के गर्भ में समाविष्ट 'र्—ल्' इत्यादि ससङ्ग व्यञ्जनों के द्वारा प्रमाणित है। अतएव ससङ्गासङ्ग बने हुए स्वर ससङ्गासङ्ग अक्षरात्मा से समतुलित माने जा सकते हैं। अपनी समानरूपा—अविभक्तरूपा—अखिन्नरूपा—अघनरूपा—अव्याकृतावस्था से असङ्ग बने हुए अव्यय अव्ययात्मा से समतुलित हैं। एवं अपनी व्यन्यात्मिका अखण्डता के कारण ससङ्गासङ्गमर्य्यादा से अतिक्रान्त वर्ण—स्वर—शब्द—पद—वाक्यादि लक्षण वर्णस्फोट—स्वरस्फोट—शब्दस्फोट—पदस्फोट—वाक्यस्फोट—अखण्डस्फोट—आदि आदि स्फोटभाव अखण्ड ससङ्गासङ्गमर्य्यादातिक्रान्त परात्परब्रह्म से समतुलित हैं। तदित्थं, शब्दब्रह्मविवर्त्तचतुष्टयी इस रूप से परब्रह्मविवर्त्तचतुष्टयी से सर्वात्मना समतुलित प्रमाणित हो रही है। जो पर्वविभाग, जैसा स्वरूपसंस्थान परब्रह्मविवर्त्त का है, ठीक वही पर्वविभाग, वैसा ही स्वरूप-संस्थान शब्दब्रह्मविवर्त्त का है। अतएव निश्चयेन तत्त्वसमन्वयपूर्वक ज्ञानविज्ञानपद्धतिपूर्वक शब्दब्रह्म की स्वाध्याय

— देखिए-वैय्याकरण भूषणसार का 'स्फोट' प्रकरण
*—"अकारो वै सर्वा वाक्। सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति"
—ऐतरेय आरण्यक

निष्णातता से अवश्यमेव तदभिन्न—तत्समतुलित परब्रह्मबोध की निष्णातता का अनुग्रह हो जाता है। इसी समतुलनात्मक समसमन्वय के आधार पर 'शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः, परं ब्रह्माधिगच्छति' सिद्धान्त समन्वित हुआ है। एवं इसी समसमन्वय के माध्यम से इस शब्दब्रह्मात्मक प्रणवोङ्कार को उस परब्रह्म का वाचक—समाह्वक घोषित किया गया है।

अयमत्र संग्रह —(१) अतिक्रान्तासङ्गससङ्गासङ्गससङ्गभावपरिलेखः—

(१)-सर्वमूर्त्ति —	परात्परब्रह्म-	स्फोटानुगत —	तुरीय —	अविज्ञेय	(परासमन्वित)	अतिक्रान्त
(२)-केशमूर्त्ति —	अव्ययात्मा-	अव्ययानुगत —	ज्ञानात्मा	दुर्विज्ञेय	(पश्यन्तीसमन्वित)	असङ्ग
(३)-देवमूर्त्ति —	अक्षरात्मा—	स्वरानुगत ——	कर्म्मात्मा	विज्ञेय	(मध्यमासमन्वित)	ससङ्गासङ्ग
(४)-तन्मात्रमूर्त्तिः	क्षरात्मा——	व्यञ्जनात्मक —	अर्थात्मा-	सुविज्ञेय	(वैखरीसमन्वित)	ससङ्ग

—चतुष्टयं वा इदं सर्वमित्याहुराचार्य्याः

(३१) प्रणवोङ्कारस्वरूपपरिचय—

ईश्वरप्रजापति—वाचक प्रणवोङ्कार के तात्त्विक रहस्य के परिज्ञाता आर्षमहर्षियोंनें अनुग्रह कर हमारे सम्मुख इस सम्बन्ध में यह तत्त्ववाद उपस्थित किया कि, परब्रह्म के चार विवर्त्तों में से पहिला परात्परब्रह्म अर्द्धमात्रिक—किंवा—अमात्रिक—अथवा तो सर्वमात्रिक तत्त्व है, अतएव अचिन्त्य है। अतएव च उस अर्द्धमात्रिक—अमात्रिक—परात्परभाव की वाचकता भी उसके अतद्व्यावृत्तभावानुरूप से अचिन्त्य ही समझनी चाहिए। चिन्त्यकोटि में प्रविष्ट है परब्रह्म की मायोपाधिक शेष तीनों मूर्त्तिमती मात्राएं, जिन्हें आधार बना कर ही वाङ्मनस्पथानुगत वाङ्मय शब्दशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। इस शास्त्रप्रवृत्ति को आधार बनाकर ही हमें ब्रह्म की वाचकता का समन्वय करना है।

परात्परब्रह्मगर्भित अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति सोपाधिक आत्मा का स्वरूपलक्षण हुआ है—'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' इत्यादि (देखिए पृ० सं० १४८)। ज्ञानमय अव्ययात्मा मनोमय है, कर्म्ममय अक्षरात्मा प्राणमय है, एवं अर्थमय क्षरात्मा वाङ्मय है। 'त्रयं सदेकमयमात्मा' इत्यादि पूर्व निरूपणानुसार तीनों का समन्वित रूप एक आत्मा है। एवं—'आत्मा उ या एकः सन्नेतत् त्रयम्' के अनुसार एक ही आत्मा के (रसाधार पर प्रतिष्ठित बलसम्बन्धतारतम्य से) ये तीन विवर्त्त हैं। पर ब्रह्माधारेण सुप्रतिष्ठिता यह आत्मविवर्त्तत्रयी शब्दब्रह्मसमतुलनमर्य्यादा से क्रमशः 'अकार—उकार—मकार' इन तीन वर्णब्रह्मों से समन्वित है। ज्ञानशक्तिघन मनोमय अव्ययात्मा जिस प्रकार अपने अधिष्ठानरूप से विभक्त विश्व में अविभक्तरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ भी सर्वथा असङ्ग है, असंस्पृष्ट है। तथैव कण्ठ-ताल्वादि के अभिघातरूप स्पर्श से सर्वथा असङ्ग—असंस्पृष्ट रहता हुआ 'अ'कार भी

निष्पादता से अवश्यमेव तदभिन्न—तत्समतुलित परब्रह्मबोध की निष्पादता का अनुग्रह हो जाता है। इसी समतुलनात्मक समसमन्वय के आधार पर 'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः, परं ब्रह्माधिगच्छति' सिद्धान्त समन्वित हुआ है। एवं इसी समसमन्वय के माध्यम से इस शब्दब्रह्मात्मक प्रणवोद्गार को उस परब्रह्म का वाचक—सम्राहक घोषित किया गया है।

अथमत्र संग्रह —(१) अतिक्रान्तासङ्गससङ्गासङ्गससङ्गभावपरिलेखः—

(१)—	सर्वमूर्त्ति —	परात्परब्रह्म—	स्फोटानुगत —	तुरीय —	अविज्ञेयः	(परासमन्वित)	अतिक्रान्त
(२)—	केशरमूर्त्ति —	अव्ययात्मा—	अव्ययानुगत —	ज्ञानात्मा	दुर्विज्ञेय	(पश्यन्तीसमन्वित)	असङ्ग
(३)—	देवमूर्त्ति —	अक्षरात्मा—	स्वरानुगत ——	कर्मात्मा	विज्ञेय	(मध्यमासमन्वित)	ससङ्गासङ्ग
(४)—	तन्मात्रमूर्त्तिः	क्षरात्मा——	व्यञ्जनात्मकः—	अर्थात्मा-	सुविज्ञेय	(वैखरीसमन्वित)	ससङ्ग

—चतुष्टय वा इदं सर्वमित्याहुराचार्य्याः

(६१) प्रणवोद्गारस्वरूपपरिचय—

ईश्वरप्रजापति—वाचक प्रणवोद्गार के तात्त्विक रहस्य के परिज्ञाता आपमहर्षियोंने अनुग्रह कर हमारे सम्मुख इस सम्बन्ध में यह तत्त्ववाद उपस्थित किया कि, परब्रह्म के चार विवर्तों में से पहिला परात्परब्रह्म अर्द्धमात्रिक—किंवा—अमात्रिक—अथवा तो सर्वमात्रिक तत्त्व है, अतएव अचिन्त्य है। अतएव च उस अर्द्धमात्रिक—अमात्रिक—परात्परभाव की वाचकता भी उसके अतद्व्यावृत्तभावानुरूप से अचिन्त्य ही समझनी चाहिए। चिन्त्यकोटि में प्रविष्ट है परब्रह्म की मायोपाधिक शेष तीनों मूर्त्युमती मात्राएं, जिन्हें आधार बना कर ही वाङ्मनस्पथानुगत वाङ्मय शब्दशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। इस शास्त्रप्रवृत्ति को आधार बनाकर ही हमें ब्रह्म की वाचकता का समन्वय करना है।

परात्परब्रह्मगर्भित अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति सोपाधिक आत्मा का स्वरूपलक्षण हुआ है—'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' इत्यादि (देखिए पृ० सं० १४८)। ज्ञानमय अव्ययात्मा मनोमय है, कर्ममय अक्षरात्मा प्राणमय है, एवं अर्थमय क्षरात्मा वाङ्मय है। 'अयं सदेकमयमात्मा' इत्यादि श्रुति निरूपणानुसार तीनों का समन्वित रूप एक आत्मा है। एवं—'आत्मा उ वा एकःसन्नेतत् त्रयम्' के अनुसार एक ही आत्मा के (स्वाधार पर प्रतिष्ठित मलसम्बन्धतारतम्य से) ये तीन विवर्त हैं। पर ब्रह्माधारेण सुप्रतिष्ठिता यह आत्मविवर्त्तत्रयी शब्दब्रह्मसमतुलनमर्यादा से क्रमशः 'अकार—उकार—मकार' इन तीन वर्णाक्षरों से समन्वित है। ज्ञानशक्तिघन मनोमय अव्ययात्मा जिस प्रकार अपने अधिष्ठानरूप से विभक्त विश्व में अविभक्तरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ भी सर्वथा असङ्ग है, असंस्पृष्ट है। तथैव कण्ठ-तात्वादि के अभिघातरूप स्पर्श से सर्वथा असङ्ग—असंस्पृष्ट रहता हुआ 'अ'कार भी

'विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त' का आधार बना करता है। प्रजापति का वह स्वरूप–जिसमें अधिष्ठानात्मक अव्ययात्मा प्रधान रहता है, एवं शेष दोनों अक्षर–आत्मक्षर–पर्व गर्भीभूत बने रहते हैं, 'ईश्वर' कहलाया है। अव्ययपुरुष ही जो कि 'नित्यकाममय' है, सम्प्रदायभाषानुसार 'अनन्तकल्याणगुणाकर' है। आत्मक्षर–अक्षर–गर्भित अव्ययपुरुष ही प्रथम वह 'ईश्वरतन्त्र' है, जिसका पूर्व में–'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर' इत्यादि रूप से स्वरूपनिरूपण हुआ है (देखिए पृष्ठ सं० १४८–४६)।

ईश्वरप्रजापति का वही उक्त स्वरूप–जिसमें निमित्तकारणात्मक अक्षरात्मा प्रधान रहता है, एवं शेष दोनों अव्यय–आत्मक्षरपर्व गर्भीभूत बने रहते हैं,–'जीव' कहलाया है। यह अक्षरपुरुष ही 'नित्य इच्छामय' है, सम्प्रदायभाषानुसार जो ईश्वरशरणागति में ही शाश्वत शान्ति प्राप्त किया करता है। अव्ययात्मक्षरगर्भित अक्षरात्मा ही यह द्वितीय 'जीवतन्त्र' है, जिसका–'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां–जीवभूतां महाबाहो' 'ययेदं धार्य्यते जगत्' 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' (गीता७।५,एवं २५।१६)) इत्यादि रूप से स्पष्टीकरण हुआ है। ईश्वरप्रजापति का वह प्रत्यग्यभाग–जिसमें उपादानकारणात्मक आत्मक्षरात्मा प्रधान रहता है, शेष दोनों अव्यय–अक्षरपर्व गर्भीभूत बने रहते हैं–'जगत्' कहलाया है। यह क्षर पुरुष ही नित्यमहत्परित्यागलक्षणा इन्द्रियमनोऽनुगता इच्छा-से संयुक्त है, अतएव जिसे विज्ञानभाषा में 'नित्यविचिकित्सामय' कहा गया है, सम्प्रदायभाषानुसार जो सप्तवितस्तिकायात्मक भगवद्विग्रह * है, जिसके माध्यम से साधक–उपासक–भक्त जीवात्मा अपनी नवधा विभक्ता साम्प्रदायिक भक्ति में सफल बना करता है। अव्ययाक्षरात्मगर्भित क्षरात्मा ही वह तृतीय 'जगत्तन्त्र' है, जिसका–'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धि–अविद्याबुद्धि–रेव च। अपरेयम्। क्षरः सर्वाणि भूतानि' (गीता ७।४,एवं १५।१६।) इत्यादि रूप से उपवर्णन हुआ है। इस प्रकार प्रजापति की अव्यय अक्षर आत्मक्षर कलाओं की प्रधानता-अप्रधानता, किंवा गौण-मुख्यभाव–तारतम्य से एक ही प्रजापति के प्रत्येक व्यात्मक–व्यात्मक–अतएव पूर्णात्मक–त्रिपुरुषभावापन्न तीन स्वतन्त्र तन्त्र निष्पन्न हो जाते हैं। अव्ययप्रधाननिबन्धन ईश्वरतन्त्र का 'भोगतन्त्र' नाम से, अक्षरप्रधाननिबन्धन जीवतन्त्र का 'कर्म्मतन्त्र' नाम से, एवं क्षरप्रधाननिबन्धन जगत्तन्त्र का 'आचरणतन्त्र' नाम से ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्यप्रथमखण्ड में इन तीनों तन्त्रों के व्यात्मकनिरूपणपूर्वक तीनों के प्रत्येक के विज्ञान–धर्म्म–राजनीतिपरक अर्थसमन्वयपूर्वक विस्तार से विश्लेषण हुआ है। निम्न लिखित माङ्गलिक वचन इसी पूर्णता का समर्थन कर रहा है—

पूर्णमदः–पूर्णमिदं–पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—ईशोपनिषत्

---

* क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥
—श्रीमद्भागवत १०।१४।११।

है। शान्तानन्दलक्षण आत्मसुख, किंवा आत्मशान्ति का पारिभाषिक–साङ्केतिक नाम है 'कम्' *। वैसा अव्ययमन, जो अपने (स्वानुगत) आत्मसुखात्मक 'कम्' में (आनन्दभाव में) इतस्ततः बाह्याभ्यन्तररूप से सर्वात्मना ओतप्रोत रहे, 'काममय अव्यय' कहलाएगा। 'काम' शब्द का तात्त्विक रहस्यार्थ है— "सुखे आनन्दे वा अ तप्रोत मन काम"। 'कम्'रूप आनन्दभाव के आभ्यन्तर भाग में भी अव्ययमन समाविष्ट है, तो बाह्यभाग में भी मन अवस्थित है। 'कामः' शब्द का विभक्तरूप है—'क–अ–म्–अ' यह। ककार से आगे और मकार से पूर्व 'क–म्' के मध्य में (आनन्द के आभ्यन्तर में) 'अ' कार का (अकारवाच्य अव्ययमन का) समावेश है, तो 'म' कार से आगे भी अकाररूप अव्ययमन का ,समावेश हो रहा है। इस प्रकार आनन्दात्मक–मौलिक 'कम्' शब्द ही–'क–अ–म्–अः' रूप से 'कामः' रूप में परिणत हो रहा है, जिसका तात्पर्यार्थ है—"आनन्दमय मनोमय अव्यय, किंवा आनन्द में सर्वात्मना ओतप्रोत अव्ययमन"।

(३३)—कामभाव की नित्य सफलता—

यहाँ एक यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित होता है कि, काम की (कामना की) सफलता में जहाँ आनन्दानुभूति (सुखानुभूति) होती है, वहाँ कामविफलता में दुःखानुभव भी हुआ करता है। ऐसी स्थिति में केवल काम, किंवा कामना के आधार पर ही 'सुखे ओतप्रोत मन' यह परिभाषा कैसे समन्वित मानी जा सकती है ?। प्रश्न का लोककामनामय उस इच्छातन्त्र, किंवा लालसालिप्सापरिपूर्ण उस एषणातन्त्र से सम्बन्ध है, जिसका अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है। सहजभावानुगता प्राकृतिकी ईशकामना कभी निष्फल नहीं बना करती। काम (कामना), एवं तत्फल, दोनों ईशतन्त्र में अभिन्न बने रहते हैं। अतएव नित्यकाम यह प्रजापति आत्मकाम–आप्तकाम–(प्राप्तकाम) आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। श्वोवसीयसुमनोऽनुगत कामना शब्द, किंवा काम शब्द का यही प्रासङ्गिक स्वरूपव्याख्यान है। अब क्रमप्राप्त जीवानुबन्धिनी सर्वेन्द्रियमनोऽनुगता उस 'इच्छा' ('इच्छा' शब्द) के स्वरूप की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिस इच्छात्मक व्यापार का जीवात्मानुगत प्रज्ञानमन के भावनावासनासंस्कारग्राहक सौम्य 'भाग' तन्त्र से प्रधान सम्बन्ध माना गया है।

(३४)—ईश्वर–जीव–जगत्–तन्त्रत्रयी—

त्रिपुरुषपुरुषात्मक ईश्वरप्रजापति के काम–तप.–श्रममय अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर–पर्वों से ही क्रमशः उस सुप्रसिद्ध त्रित्ववाद का आविर्भाव हुआ है, जो भारतीय रामानुजसम्प्रदाय के ईश्वर–जीव–जगदिति शिष्ट

---

* स सप्रथा मातरमुद्व योषा विसर्ज्जं कृणुपे दशे–'कम्'

—ऋक्संहिता १।१२३।११

कमाराज्जायते सर्वं कामं कैवल्यमेव च (अव्ययधाम एव च)।
अर्थश्च जायते देवि तथा धर्मश्च नान्यथा ॥ (कामधनुतन्त्र)

है, वहाँ सर्वत्र 'इच्छा' से ईश्वरकामना का ही ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य्य, मानव के सम्बन्ध में यहाँ कामना शब्द दुःखाशान्ति का कारण घोषित होगा, वहाँ 'इच्छा' मानी जायगी। एवं ईश्वर के सम्बन्ध में जहाँ 'इच्छा' शब्द प्रयुक्त होगा, वहाँ 'कामना मानी जायगी, जैसा कि–'यथेच्छा पारमेश्वरी'* (भावप्रकाश–आयुर्वेदग्रन्थ) में प्रयुक्त इच्छाशब्द कामना का समाहक बना हुआ है। इसी परिभाषा के अनुसार शास्त्रीय 'निष्कामकर्म्मयोग' का अर्थ माना जायगा 'जीवेच्छात्यागात्मक कर्म्म', एवं ईश्वरीय निष्कामभावात्मिका अबन्धना कामना से युक्त कर्म्म। अध्यात्मानुगता कामना का परित्याग तो कदापि सम्भव नहीं है। ऐसी कामना से वियुक्त निष्कामभाव तो भ्रान्त मानवों की खपुष्पकल्पना ही है। शान्ता नन्दलक्षण–नित्यशान्तिस्वरूप–रसमूर्त्ति–मनोमय–कामभाव ही 'ईश्वरेच्छा' का वास्तविक स्वरूप है, जिसे आधार बना कर कर्म्म में प्रवृत्त होने वाला मानव कभी बन्धनाविष्ट नहीं बन सकता, नहीं बन सकता। सर्वत्र 'कामनात्याग' का एकमात्र तात्पर्य्य व्यतिक्रमानुसार 'इच्छात्याग' ही मानना चाहिए, जिस इच्छातन्त्र को उपनिषदों ने–'अशनाया' नाम से व्यवहृत किया है। 'अशनाया' शब्द का निर्वचन ही 'इच्छा' शब्द का तात्त्विक इतिहास बना हुआ है।

'इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे' (यजुःसंहिता १।१।) इत्यादि मन्त्रश्रुति में पठित 'इषे' शब्द का अर्थ किया गया है–'अन्नाय'। 'अन्नं वा इष' (ऐतरेय ब्राह्मण २।४।) के अनुसार अन्न का ही नामान्तर 'इट्' है, जो अन्नात्मक इट् 'इळा' भाव में परिणत होता हुआ 'मनोर्दुहिता' (मनुकन्या) कहलाई है, जैसाकि—'इडा वै मानवी यज्ञानूकाशिन्यासीत्' (तै०ब्रा० १।२।४।४।)–'सा मनोर्दुहिता एषा निदानेन यदिडा' (शत० ब्रा० १।८।१।११) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। विषय थोड़ा बुद्धिगम्य, अतएव सतर्कतापूर्वक अवधेय है। 'इट्' भाव के त्रित्वविज्ञान के स्वरूप-परिचयाधार पर ही 'इच्छा' शब्द के तात्त्विक इतिहास का समन्वय सम्भव है।

(३६)–इट्–ऊर्क्–अन्नत्रयी–स्वरूपपरिचय—

"अन्नोर्कप्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः" इस यज्ञानुबन्धी तात्त्विक लक्षण के अनुसार 'इट्–ऊर्क्–अन्न' इन तीन भावों के आधार पर 'इट्' (अन्न) का स्वरूप अवलम्बित है। 'आदित्याज्जायते वृष्टिः, वृष्टेरन्नं, ततः प्रजाः'–'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः–पर्जन्यादन्नसम्भवः' इत्यादि श्रौती–स्मार्त्ती उपनिषदों के अनुसार आदित्याग्निद्वारा पर्जन्यवायु से पार्थिव धरातल पर वृष्ट जलांश ही तो ओषधि–वनस्पत्यादि लक्षण 'अन्न' रूप में परिणत होता है। यही अन्न 'इट्' कहलाया है। 'यूयम् तदाह–यदाह–

---

* आधिक्ये रेतसः पुंसः कन्यास्यादार्तवाधिके।
नपुंसकं तयोः साम्ये यथेच्छा पारमेश्वरी ॥

श्रेयत्रसंग्रहः—

(३)—कामेच्छाविचिकित्सापुरुषत्रयीस्वरूपपरिलेखः—

१–चराचरगर्भित ———नित्यकाममयः—अव्ययप्रधान पुरुषात्मा त्रिपुरुषलक्षणः—ईश्वरः—पूर्णमदः
२–अव्ययात्मचरगर्भित –नित्येच्छामय —अक्षरप्रधानःप्राज्ञात्मा त्रिपुरुषभावापन्न –जीव पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
३–अव्ययाचरगर्भित –नित्यविचिकित्सामय –क्षरप्रधानो विकृतात्मा-त्रिपुरुषानुगत —जगत्—पूर्णमिदम्

(३५)—कामना और इच्छा का व्यतिक्रम—

नित्यकाममय त्रिपुरुषपुरुषात्मक अव्ययात्मप्रधान ईश्वरप्रजापति से सम्बन्ध रखने वाले 'काम', किंवा 'कामना' का शब्दब्रह्मरहस्यानुगत तात्त्विक समन्वय पाठकों के समक्ष उपस्थित किया गया। अब दो शब्दों में नित्येच्छामय त्रिपुरुषपुरुषात्मक अक्षरात्मप्रधान जीवप्रजापति (मानव) से सम्बन्ध रखने वाली इच्छा, किंवा 'अशनाया' का भी स्वरूपविश्लेषण प्रासङ्गिक मान लिया जाता है। 'न हि कामनामन्तोऽस्ति काममय एवायं पुरुषः। समुद्र इव कामः। न हि समुद्रस्यान्तोऽस्ति' (तै०ब्रा०२।२।५।५) इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार मानवीय कामनाओं (इच्छाओं) का कोई अन्त नहीं है। जन्म से निधन क्षणपर्यन्त मानव इस कामसमुद्र की ऊर्म्मियों (लहरों) में ही सतत प्रवाहित रहता है। इस सम्बन्ध में एक विशेष परिभाषा को लक्ष्य बनाना पड़ेगा।

सौरमण्डलानुगत वस्तुतत्त्वात्मक स्वस्तिक को 'कश्यपप्रजापति' कहा गया है। एवं तत्समाना कृतियुक्त प्राणी (कछुए) को 'कूर्म्म' कहा गया है। अमुक विशेष (चयन) याज्ञिक कारण से वैज्ञानिकोंने कश्यपप्रजापति को तो 'कूर्म्म' नाम प्रदान कर दिया है, एवं कूर्म्मप्राणी को 'कश्यप' नाम प्रदान कर दिया है। और यही शब्दव्यतिक्रमात्मक विशेषपरिभाषात्मक एक विशेष उदाहरण हैं। इस पारिभाषिक व्यतिक्रम–सिद्धान्तानुसार ईश्वरीय कामना को यत्रतत्र 'इच्छा' नाम से भी, एवं मानवीय इच्छा को 'कामना' नाम से भी व्यवहृत कर दिया गया गया है। इसी व्यतिक्रमाधार पर ईश्वरकामना 'ईश्वरेच्छा' कहला सकती है, एवं जीवेच्छा 'जीवकामना' कहला सकती है।

यह निर्विवाद है कि, अपने स्वतन्त्र अर्थ में निरूढ़ा ईश्वरानुगता कामना कभी बन्धन का, अशान्ति का, दुःख का कारण नहीं बना करती। तथैव अपने स्वतन्त्र अर्थ में निरूढ़ा जीवानुगता इच्छा सदा बन्धन–अशान्ति–दुःख का ही कारण प्रमाणित हुई है, जिन दोनों इच्छाविमर्शों का पूर्व में भी दिग्दर्शन करा दिया गया है (देखिए पृष्ठसंख्या १४१)। जहाँ कहीं काम, किंवा कामना को शास्त्रों में दुःख–अशान्ति–उद्वेग– का कारण बतलाया गया है, वहाँ वहाँ सर्वत्र तथाकथित शब्दव्यतिक्रमसिद्धान्तानुगत 'इच्छाभाव' का ही प्राधान्य समझना चाहिए। उदाहरण के लिए–'स शान्तिमाप्नोति–न कामकामी' (गीता २।७०) इत्यादि गीतावचन 'काम' भाव से व्यतिक्रमानुगत इच्छाभाव की ओर ही संकेत कर रहा है। तथैव जहाँ 'इच्छा' को मुमुक्षाशान्तिप्रवृत्ति का कारण बतलाया गया

है, वहाँ सर्वत्र 'इच्छा' से ईश्वरकामना का ही ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य, मानव के सम्बन्ध में जहाँ कामना शब्द दु:खाशान्ति का कारण घोषित होगा, वहाँ 'इच्छा' मानी जायगी। एवं ईश्वर के सम्बन्ध में जहाँ 'इच्छा' शब्द प्रयुक्त होगा, वहाँ 'कामना मानी जायगी, जैसा कि–'यथेच्छा पारमेश्वरी'* (भावप्रकाश–आयुर्वेदग्रन्थ) में प्रयुक्त इच्छाशब्द कामना का समाहक बना हुआ है। इसी परिभाषा के अनुसार शास्त्रीय 'निष्कामकर्म्मयोग' का अर्थ माना जायगा 'जीवेच्छात्यागात्मक कर्म्म', एवं ईश्वरीय निष्कामभावात्मिका अबन्धना कामना से युक्त कर्म्म। अध्यात्मानुगता कामना का परित्याग तो कदापि सम्भव नहीं है। ऐसी कामना से वियुक्त निष्कामभाव तो भ्रान्त मानवों की खपुष्पकल्पना ही है। शान्ता नन्दलक्षण–नित्यशान्तिस्वरूप–रसमूर्त्ति–मनोमय–कामभाव ही 'ईश्वरेच्छा' का वास्तविक स्वरूप है, जिसे आधार बना कर कर्म्म में प्रवृत्त होने वाला मानव कभी बन्धनाविष्ट नहीं बन सकता, नहीं बन सकता। सर्वत्र 'कामनात्याग' का एकमात्र तात्पर्य व्यतिक्रमानुसार 'इच्छात्याग' ही मानना चाहिए, जिस इच्छातत्त्व को उपनिषदों ने–'अशनाया' नाम से व्यवहृत किया है। 'अशनाया' शब्द का निर्वचन ही 'इच्छा' शब्द का तात्त्विक इतिहास बना हुआ है।

'इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो व प्रापर्यतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे' (यजु संहिता १।१।) इत्यादि मन्त्रश्रुति में पठित 'इषे' शब्द का अर्थ किया गया है–'अन्नाय'। 'अन्न वा इष' (एतरेय ब्राह्मण २।४) के अनुसार अन्न का ही नामान्तर 'इट्' है, जो अन्नात्मक इट् 'इडा' भाव में परिणत होता हुआ 'मनोर्दुहिता' (मनुकन्या) कहलाई है, जैसाकि–'इडा वै मानवी यज्ञानूकाशिन्यासीत्' (तै०ब्रा० १।२।४।४)–'सा मनोर्दुहिता एषा निदानेन यदिडा' (शत० ब्रा० १।८।१।११) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। विषय थोड़ा बुद्धिगम्य, अतएव सतर्कतापूर्वक अवधेय है। 'इट्' भाव के वित्त्वविज्ञान के स्वरूप-परिचयाधार पर ही 'इच्छा' शब्द के तात्त्विक इतिहास का समन्वय सम्भव है।

(३६)–इट्–ऊर्क्–अन्नत्रयी–स्वरूपपरिचय—

"अन्नोर्क्प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञ" इस यज्ञानुबन्धी तात्त्विक लक्षण के अनुसार 'इट्–ऊर्क्–अन्न' इन तीन भावों के आधार पर 'इट्' (अन्न) का स्वरूप अवलम्बित है। 'आदित्याज्जायते वृष्टि', वृष्टेरन्न, ततः प्रजा'–'यज्ञाद्भवति पर्जन्य–पर्जन्यादन्नसम्भव' इत्यादि श्रौती–स्मार्ती उपनिषदों के अनुसार आदित्याग्निद्वारा पर्जन्यवायु से पार्थिव भवत्त पर वृष्ट अपांसोम ही तो ओषधि–वनस्पत्यादि लक्षण 'अन्न' रूप में परिणत होता है। यही अन्न 'इट्' कहलाया है। 'वृष्ट्वा वराह–वराह–

---

* आधिक्ये रेतसः पुंस कन्यास्यादार्त्तवाधिके।
नपुंसक तया साम्ये यथेच्छा पारमेश्वरी ॥

इषे-पिन्वस्वेति' (शत० १४।२।२।२७)- यथा वा इड्' (शत० १।५।३।११) के अनुसार वर्षा-जल से-समुत्पन्न अन्न ही 'इट्' है, यही निष्कर्ष है। 'अग्निर्वा इतो वृष्टि मुदीरयति' ※ के अनुसार पार्थिव अग्नि (प्राणाग्नि) से ऊर्ध्व प्रक्षिप्त वाष्परूप में परिणत जल खगोलीय मरुद् धरातल में सार्द्ध सप्त मासपर्य्यन्त गर्भीभूत बना रहता है। यही अनन्तर पर्जन्य द्वारा भूपृष्ठ पर आकर इसे सस्यश्यामला बना देता है, एवं यही अन्न का प्रभव बनता है, जो अन्न 'इट्' कहलाया है। यही अन्न की 'इट्' रूपा प्रथमावस्था है।

वृष्टि (जलवर्षण) से भूपृष्ठ एक प्रकार की वैसी आभा—कान्ति—ओजपूर्ण उल्लास से समन्वित हो जाता है, मानों भूपृष्ठ ने षोडशशृङ्गार धारण कर लिया हो। जलवर्षण से इसलिए दूर्वादि तृण-बीजांकुर उल्लसित—विकसित हो जाते हैं कि, इस आन्तरीक्ष्य सलिल में आन्तरीक्ष्य वह 'अवि' नामक प्राण प्रतिष्ठित रहता है, जो हरितवर्णा का उद्भावक माना गया है। इसी से सर्वत्र सघनघना हरितवर्णाभा व्याप्त हो जाती है ×। इस अविःप्राणप्राधान्य से ही अमुक प्राणी 'अवि' (मेड़) नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वृक्ष—लता—गुल्मादि का पत्ता पत्ता थिरक उठता है इस अविःप्राणानुग्रह से। यही स्वाभाविक उल्लासात्मक विकास इक्षम की उत्तरावस्था है, जिसे वैज्ञानिकोंने—'ऊर्क्' नाम से व्यवहृत किया है। जिस 'ऊर्क्' तत्त्व का—'ऊर्जेस्त्वेति—यो वृष्टात्-ऊर्ग्रसो जायते-तस्मै तदाह (शत० १।२।२।६।)—'ऊर्ग्वा आपो रस' (कौ०ब्रा० १२।१।)—'ऊर्ग्वै रस' (शत० ५।१।२।८)—'रसवतीरित्येवैतदाह-यदाह-ऊर्जस्वतीरिति' (शत० ५।३।४।२।) इत्यादि रूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। भोजन करते ही शारीरिक अवयव समुद्दीप्त हो पड़ते हैं, मानों किसी ने निर्वाणापद प्राप्त करते हुए दीपशिखा को तैलधारा से उद्दीप्त कर दिया हो।

जलवर्षण हुआ, अन्न समुत्पन्न हुआ, बीजांकुर जीवनीय रस से संयुक्त बने। कालान्तर में यही जीवनीय 'ऊर्क्' रस परिपाकावस्था में आकर घनावस्था में परिणत होता हुआ भोग्य—स्थूलान्न रूप में

※ अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुत' खलु सृष्टां नयन्ति। यदा खल्वसावादित्योन्यङ रश्मिभिः पर्य्यावर्त्तते, अथ वर्षति।

समानमेतदुदकमुच्चैत्यवचाहभिः। भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥
सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन् सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥

—इस वृष्टिविज्ञान का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथभाष्य पञ्चमवर्ष में द्रष्टव्य है—

× अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परिवृता।
तस्या रूपेणेमा वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥

परिणत हो गया। यही भोजनीय बन कर–'अद्यते' रूप से 'अन्न' नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस प्रकार एक ही आप·तत्त्व आपःरूप 'इट्' (अन्न की पूर्वावस्था–दुग्धात्मिका प्रथमावस्था)–'ऊर्क्' (जीवनरसात्मिका मध्यावस्था–परिपाकानुगतावस्था)–'अन्न' (भोग्यरूपा परिपक्वा उत्तरावस्था–तृतीयावस्था), इन तीन भावों में परिणत हो जाता है। यही त्रिमूर्ति अन्न शारीराग्नि में आहुत होकर विशकलन प्रक्रिया के माध्यम से रसासृगादि रूप में परिणत होता हुआ अपने स्थूल पार्थिव मृद्भावापन्न घन–अन्न भूतभाग से स्थूलशरीर की प्रतिष्ठा बनता है, यही अन्न अपने सूक्ष्म आन्तरीक्ष्य–ऊर्ग्रस भाव से सूक्ष्मशरीरात्मक 'ओज' का आधार बनता है, एवं यही अन्न दिव्य–चान्द्र–सौम्य–सुसूक्ष्म आपोभाव से कारणशरीरात्मक–सर्वेन्द्रियनामक प्रज्ञान मन का स्वरूपाधार बनता है। इस प्रकार इडात्मक एक ही अन्न अपने इट्–ऊर्क्–अन्न भावों से *प्राणिसृष्टि के सर्वस्व का स्वरूप सम्पादक बना हुआ है*, जिसे आधार मान कर ही श्रुति ने कहा है—

"अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति।
अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। अन्नं ब्रह्मेत्युपास्व। अन्नं न परिचक्षीत"।

अयमत्र संग्रह —

(४)—इडूर्क्–अन्नत्रयी–स्वरूपपरिलेखः—

१–आपोमय सोमरस —वृष्टि —इट्—चान्द्रम्—ततो मन स्वरूपनिष्पत्तिः (कारणशरीरनिष्पत्ति)
२–सोममयो जीवनीयरसः-रस —ऊर्क्—अन्तरीक्ष्यम्–तत·–ओजस्वरूपनिष्पत्ति (सूक्ष्मशरीरनिष्पत्ति)
३–सोममयमन्नम्—ओषधय -अन्नम्–पार्थिवम्—तत·–भौतिकशरीरनिष्पत्ति (स्थूलशरीरनिष्पत्ति)

(२७)—इट् और इच्छा का तात्त्विक स्वरूप—

हाँ, तो पूर्वोपात्त मसु श्रुति के 'इषेत्वा' वाक्य का 'इट्' शब्द परम्परया यों इट्–ऊर्क्–अन्न, तीनों भावों का स्वरूपसंग्राहक बनता हुआ 'भोग्यपरिग्रहमात्र' का अनुग्राहक प्रमाणित हो रहा है। मानव के भोग्यपरिग्रह को, किंवा शरीरत्रयी के आधारभूत परिग्रह को अवश्य ही हम 'इट्' अभिधा से सम्बोधित कर सकते हैं। जिस प्रकार पूर्णेश्वरप्रजापति स्वरूपसंरक्षण के लिए नित्यकाममय बने रहते हैं, भोग्यपरिग्रहात्मक स्वस्वरूपानुगत बलगर्भित रस में जिस प्रकार पूर्णेश्वर का काममय श्वोवसीयस्मन ओतप्रोत रहता है। तथैव पूर्णेश्वरांशरूप जीवात्मा (मानव) भी अपने स्वरूपसंरक्षण के लिए नित्य इच्छामय बना रहता है। भोग्यरूप बहिर्भावात्मक पार्थिव अन्नपरिग्रह में इसका 'प्रज्ञान' नामक सर्वेन्द्रियमनरूप अन्नमय मन ओतप्रोत बना रहता है। सैषा उभयोर्मन स्थितिः।

दोनों के ही मन यद्यपि भोग्यपरिग्रहों में ओतप्रोत रहते हैं। तथापि दोनों की इस मानसस्थिति में प्रयोजन का अन्तर है। वह अन्तर यही है कि, पूर्णेश्वर का कामनामय मन जहाँ स्वस्वरूपानुगत बल

गर्भित रसरूप परिग्रह में–उपनिषदों के शब्दों में–'अपि वा स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित' के अनुसार स्वमहिमारूप स्वस्वरूप में ही ओतप्रोत रहने के कारण स्वस्वरूप से सर्वदिशाओं में सुविकसित रहता हुआ अपनी परिपूर्णता से अक्षुण्ण बना रहता है, अतएव जो महिमारूप भोग्य परिग्रहानुगामी बना रहता हुआ भी–'अपि वा न स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित' इत्यादि रूप से परिग्रह–भोगातीत भी बन रहा है, वहाँ जीवात्मा का मानवीय प्रधान मन इच्छातन्त्र का वशवर्ती बनता हुआ परस्वरूपानुगत बाह्य भौतिक 'इद्' रूप अन्नपरिग्रह के प्रति आत्मार्पण करता हुआ स्वस्वरूपविकास–स्वपरिपूर्णता से अभिभूत बन जाता है। अतएव यह परपरिग्रहासक्ता जीवात्मकामना "इद्'–इत्यन्नम्–भोग्यपरिग्रह। तत्र शेते मन। इत्यात्मके अन्ने–भोग्यपरिग्रहे समासक्त मन। अन्ने च तप्रोतं मन" इत्यादि रूप से 'इच्छा' नाम से व्यवहृत हुई है, जो मानस इच्छासूत्र अशितिरूप परान्न की लिप्सा–लालसा–एषणा में अहर्निश आसक्त–व्यासक्त–लिप्त–समालिप्त बना रहता हुआ उपनिषदों में–'अशं–भोग्यपरिग्रहात्मकम् शानं–नयते' इत्यादि निवचन से 'अशनाया' नाम से व्यवहृत हुआ है।

यही 'अशनाया' जिसे हम इच्छासूत्रानुगता 'बुभुक्षा' (भूख) कहेंगे, जिसकी नित्यसहचारिणी 'पिपासा' मानी जायगी–के अनुग्रह से ही जीवात्मा किंवा मानव अपने मूलप्रभव–मूलप्रतिष्ठारूप हृदयस्थ अमृतलक्षण अव्ययपुरुष के सहज अनुग्रह (सम्बन्ध) से वञ्चित होता हुआ नित्य अशान्त–आर्त्त–व्यस्त–सन्त्रस्त बना रहता है। अतएव इस सन्त्रासमूला अशनाया–पिपासा को मानव की जीवन्मृत्युलक्षण 'अहरहर्मृत्यु' (दैनिकमृत्यु) मान लिया गया है। अतएव च उपनिषदों ने अशनालक्षणा इस इच्छा को, किंवा इच्छारूपा अशनाया को 'मृत्यु'–'पाप्मा' आदि नामों से व्यवहृत किया है, जैसा कि–"मृत्युनैवेदमावृतमासीत्–अशनायया। अशनाया हि मृत्यु (अशनाया वै पाप्मा)" (बृहदारण्यकोपनिषत् १।२।१।४।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है।

(३८)–सत्यकामनिष्ठ मानव—

अव्ययप्रधान ईश्वरप्रजापति जहाँ इच्छातन्त्र पर प्रभुतापूर्वक आरूढ़ बने रहते हुए सर्वतन्त्रस्वतन्त्र अबन्धनभावापन्न हैं, वहाँ अक्षरप्रधान जीवप्रजापति अपने कामनातन्त्र का वशवर्ती बनता हुआ सर्वतन्त्र परतन्त्र–सम्बन्धनभावापन्न प्रमाणित हो रहा है। वह जहाँ इच्छातन्त्र का अनुशासक बनता हुआ सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी नित्यमुक्त है, वहाँ यह कामनातन्त्र से अनुशासित रहता हुआ सबसे अभिभूत बनता हुआ नित्यबद्ध है। यह परतन्त्रतामूलक वशवर्तित्वरूप आत्माभिभवमूलक–सत्समुद्धलित 'शयनभाव' (चेतनाविकासान्तमुखभाव) ही इसकी कामना का 'इद्–अन्नं–तत्र शेते–अभिभूतो भवति' रूप से 'इच्छाभाव' है, जो कि मानव की आत्मदासता की मौलिक उपनिषत् मानी जायगी। इच्छातन्त्र में आत्मशक्ति–आत्मसहजविकास सर्वथा अन्तमुख–अभिभूत बन जाता है। अतएव इच्छापरम्पराओं का पदे पदे व्याघात स्वाभाविक बना रहता है। यदि मानव अपने हृदयकाशात्मक केन्द्र में प्रतिष्ठित

काममय कर्म्मयेश्वर–प्रजापति से अपना सहजसिद्ध ग्रन्थिबन्धनात्मक सख्यसम्बन्ध व्यक्त करने में समर्थ बन जाता है, तो इसका अन्नमय महानमन इवोवसीयस् काममय मन से अनुभावेन अनुगृहीत बनता हुआ स्वयं भी काममय ही बन जाता है। एवं इस सहजस्थिति को प्राप्त कर लेने के अनन्तर मानव की कामना ईशकामनावत् कभी निष्फल–निरर्थक–यातयाम नहीं बना करती, नहीं बन सकती। अवश्य ही 'जात्यायुर्भोगा' सिद्धान्तानुसार जन्मान्तरीय प्रभिक्रमानुगत प्रारब्धकर्म्मवश ऐसे आत्मनिष्ठ सहज पूर्ण मानव को भी अपने लोकव्यवहारों में इच्छातन्त्रानुबन्धी सामयिक व्याघात यदा–कदा सहन करते रहने पड़ेंगे। किन्तु एतावता इसके अन्त कामात्मक आत्मसंकल्प, आत्मनिष्ठाबल का कोई भी भौतिक व्याघात कोई भी बाह्यशक्ति निरोध नहीं कर सकेगी। कालपरिपाकानन्तर अवश्य ही सत्यकामनिष्ठ–सत्यसंकल्प मानव की सहज कामना–'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' (गीता ४।३८) के अनुसार निश्चयेन सफल हो जायगी। अवश्य ही सत्यकामनिष्ठ मानव के सत्यकाममय ईश्वरीय सत्य संकल्प में विघ्नपरम्परा–उपस्थित करते रहने वाले इच्छातन्त्रवशवर्त्ती दुर्बुद्धि मानव 'यतो सत्याद्योजीय' के अनुसार तात्कालिक रूप से मेघावरणवत् सत्यसंकल्प का निरोध करने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं, कर लेते हैं। किन्तु

(३६)—कुनैष्ठिक दुर्बुद्धिमानव–

किन्तु उन दुर्बुद्धियों को यह कदापि विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि, अश्मास्थानात्मक ईश्वरीय नित्यकामना यदि निम्याचरूप से उस नैष्ठिक मानव का ईश्वरीयकाम है, तो तत्प्रतिबन्धक बन्धयावत् आगन्तुक विरोधी भावों को कालान्तर में अनिवार्यरूपेण उस प्राकृतिक-प्रतिक्रियात्मक भयानक दण्ड का-नियतिदण्ड का—वशवर्त्ती बनना ही पड़ेगा, जिस भयानक दण्डप्रहार से सृष्टि से आरम्भ कर अद्यावधिपर्य्यन्त मानवेतिहास में कोई भी दुर्बुद्धि–प्रतिक्रियावादी मानव अपना संरक्षण नहीं कर सका है, नहीं कर सकता है। मानव का, शान्ति स्वस्त्ययनकामुक मानव का अनन्य लक्ष्य बनना चाहिए ईश्वरीय कामभाव, न कि मर्त्यभोगलिप्सापरिपूर्ण बन्धनप्रवर्त्तक इच्छाभाव। कामभाव आत्मस्वरूप-संरक्षणपूर्वक मानव की सहजशान्ति का प्रवर्त्तक बनता है, तो इच्छाभाव आत्मस्वरूपावरणपूर्वक मानव की अशान्ति का ही जनक प्रमाणित होता है। यही काम, और इच्छा के मौलिकस्वरूपों में महान् स्वरूपविभेद है, जिसका उत्थिताकांक्षा, उत्थाप्याकांक्षा रूप से पूर्व में स्वरूपविश्लेषण किया जा चुका है (देखिए पृ० सं० १४३)।

वहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि, ईश्वरीय सहज–प्राकृतिक इच्छा (कामना) उत्थिताकांक्षा है, दूसरे शब्दों में स्वतः उत्थित इच्छा ईश्वरीय कामना ही उत्थिताकांक्षा है। एवं जीवात्मानुगता कृत्रिम कामना (इच्छा) उत्थाप्याकांक्षा है, दूसरे शब्दों में मलीमसभावनावासनासंस्कारपरम्परा के आघात–प्रत्याघातों की निर्मम जघन्य प्रेरणा से परशक्ति–परप्रेरणा द्वारा उत्थापित कामना ही मानवीय इच्छा है, यही उत्थाप्याकांक्षा है। ईश्वरीय कामानुगत जीवात्मा के समस्त कर्म्म अबन्धन हैं, फिर भले ही

सामान्य–लौकिक–यथाजात–भावुक–मानवसमाज की प्रत्यक्षदृष्टि में एवंविध ईश्वरीय सहज कर्म–बन्धन ही क्यों न प्रतीत होते रहें। उधर मानवीय इच्छानुगत मानव के समस्त कर्म सम्बन्धन हैं, फिर भले ही मानवसमाज की दृष्टि में एवंविध लोकैषणात्मक कृत्रिम कर्म प्रत्यक्ष में श्रेष्ठकर्म ही क्यों न प्रमाणित होते रहें। यही भारतीय आर्षधर्म्मानुगता 'पाप-पुण्यद्वन्द्व' की वह महती निकषा है, जिसकी नैष्ठिकी तुला से समतुलित कर्माकर्मव्यवस्था–शुभाशुभव्यवस्था–पापपुण्यव्यवस्था–निकृष्टश्रेष्ठव्यवस्था–कभी मानव को स्वात्मधरातल से, स्वानुगत नैष्ठिक परिपूर्ण स्वरूप से स्खलित नहीं होने देती। यही वह आर्षतुला है, जिसके समतुलन को विस्मृत कर वर्त्तमान एषणाक्लिप्त मानव कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक से वञ्चित रहता हुआ केवल जन्मभूला सङ्कल्प–विकल्पभावापन्ना इन्द्रियमनोऽनुगामिनी विचिकित्सा को ही अपना परमपुरुषार्थ मानने की महद्भ्रान्ति करता हुआ सर्वथा किंकर्त्तव्यविमूढ़–दिग्विमूढ़–भ्रान्त–विभ्रान्तरूप से निरुद्देश्य–निर्लक्ष्य–अकर्मण्य–उत्पथकर्म्मानुगत बनता हुआ पशुवत् सर्वक्षेत्रों में सर्वथा परतन्त्र प्रमाणित होता हुआ क्लान्त–भ्रान्त–परिभ्रान्त–नितान्त–अशान्तरूप से इतस्ततः दग्धमाना रूप से विचरण कर रहा है।

(४०)–मानव के तीन वर्ग–

श्वोवसीयस् मनोऽनुगत काम, किंवा कामना का, एवं प्रज्ञानमनोऽनुगता इच्छा, किंवा अशनाया का संक्षिप्त इतिहास पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। अब संक्षेप से इन्द्रियमनोऽनुगता विचिकित्सा, किंवा सङ्कल्पविकल्प के सम्बन्ध में भी स्वरूप-परिचय प्राप्त कर लेना प्रासङ्गिक ही माना जायगा। कामतन्त्र अव्ययप्रधान बनता हुआ जहाँ ईश्वरानुगत है, इच्छातन्त्र अक्षरप्रधान बनता हुआ जहाँ जीवानुगत है, वहाँ विचिकित्सातन्त्र क्षरप्रधान बनता हुआ जगदनुगत ही माना गया है। यह एक नितान्त ही रहस्यपूर्ण विषय है कि, जीवात्मानुगत 'इच्छातन्त्र' का अनन्य–अन्यतम क्षेत्र मानव ही बना करता है। मानवेतर अन्य सभी जड़चेतनपदार्थ प्राकृत हैं, अतएव पशुभावापन्न हैं, अतएव जगद्भावानुगत हैं, अतएव च केवल विचिकित्साभावापन्न ही हैं। इस रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण की मीमांसा उत्तरखण्ड में इसलिए प्रासङ्गिक मानी जायगी कि, जबतक मानवकी तत्त्वमूला स्वरूपमीमांसा सर्वात्मना हृदयङ्गम नहीं कर ली जाती, तबतक इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना बुद्धिभेदजनक ही प्रमाणित होगा। अभी इस सम्बन्ध में यही अद्भुत पर्याप्त मान लेना चाहिए कि, आत्मस्वरूपाभिव्यक्ति केवल 'मानव' में ही है। मानवेतर यच्चयावत् प्राणी–अप्राणीवर्ग आत्मदृष्ट्या अनभिव्यक्त हैं, पशुभावसमतुलित हैं, एवं नितान्त प्राकृत ही हैं। इनमें स्वतन्त्र पुरुषार्थ का आत्यन्तिक अभाव है। इत्यादि।

छोड़िए रहस्यपूर्ण इस रहस्यमीमांसा को। प्रकृत को लक्ष्य बनाइए। अधिकारीभेद से मानव के साथ हम इन तीनों तन्त्रों का समन्वय कर सकते हैं। लक्ष्यारूढ़ अधिकारी, लक्ष्यानुगत अधिकारी, लक्ष्यभ्रष्ट अनधिकारी, रूप से मानव को तीन श्रेणिविभागों में विभक्त मान कर इन तीनों इच्छातन्त्रों का मध्य समन्वय किया जा सकेगा। इत्यमावपरायणा–अध्यात्मानुयोगी–आत्मबुद्धियोग-

निष्ठ–परिपूर्ण सद्वमानव 'लक्ष्यारूढ' अधिकारी माना जायगा । स्व–भावपरायण–अहङ्कारात्मानुयोगी–व्यवहारबुद्धिनिष्ठ अतएव लोकनिष्ठ मानव 'लक्ष्यानुगत' अधिकारी कहा जायगा । एवं परभावपरायण–परप्रत्ययनेयमूढ–सम्यक्लक्ष्यवञ्चित–जगदात्मानुयोगी–निष्ठाच्युत–भावुक मानव 'लक्ष्यभ्रष्ट' अनधिकारीरूप अधिकारी प्रसिद्ध होगा । आत्मबुद्धिनिष्ठ लक्ष्यारूढ अलौकिक मानव की मूलप्रतिष्ठा काममय श्वोवसीयस् मन माना रहेगा । लोकव्यवहारनिष्ठ लौकिक मानव का मूलाधार इच्छामय प्रज्ञानमन माना जायगा । एवं सत्व्यवहारविच्युत लोकभ्रष्ट मानवाभास का अमूलात्मक मूल विचिकित्सामय इन्द्रियमन कहा जायगा । इन तीनों मानववर्गों में मध्यस्थ लोकनिष्ठ मानव का इच्छामय प्रज्ञानमन मानव की वह साम्यावस्था है, जिस पर प्रतिष्ठित रहने वाला लौकिक मानव काममय बुद्धिनिष्ठ अलौकिक महामानव के द्वारा निर्दिष्ट पथ का अनुसरण करता हुआ जहाँ अपना क्रमिक अभ्युदयसाधन करता हुआ, कालान्तर में लक्ष्यानुगतिपूर्वक लक्ष्यारूढ बनता हुआ निःश्रेयसमार्गमाध्यम से अपना मानव–जीवन कृतकृत्य–सफल प्रमाणित कर लेता है । वहाँ यही लौकिक मानव लोककामनानुगता एषणात्रयी (वित्त–पुत्र–लोकैषणात्रयी), तथापि विशेषतः लोकैषणा (नामैषणा) के व्यामोह में आसक्त–व्यासक्त बनता हुआ सत्यमार्ग–सत्पथ–प्रदर्शक आत्मबुद्धियोगनिष्ठ महामानवों के आदेशोपदेशों की अत्यन्तिक उपेक्षा करता हुआ ठीक इस के विपरीत लक्ष्यहीन–हीनचरित्र–चरित्रभ्रष्ट–भ्रष्टलक्ष्य–लक्ष्यवञ्चित–वञ्चकपथकुशल–चाटुकार–कुनैष्ठिक–असन्निष्ठ–आसुर मानवों के वातावरण से–आदेशोपदेशों से आक्रान्त बनकर कालान्तर में स्वयं भी सर्वात्मना लक्ष्यभ्रष्ट बनता हुआ केवल विचिकित्सापथ का ही पथिक बनता हुआ किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है । और यों यह साम्य मानव अपने प्रज्ञाकौशलसे ऊर्ध्व पथानुगमन द्वारा जहाँ अलौकिक मानव बन सकता है । वहाँ प्रज्ञापराध से अधःपथानुगमनद्वारा लक्ष्यभ्रष्ट मानव प्रमाणित होता हुआ अपना मानव–जीवन निष्फल भी प्रमाणित कर लेता है ।

अयमत्र संग्रहः—

(५)—लक्ष्यारूढ–अनुगत–भ्रष्टमानवत्रयीस्वरूपपरिलेखः—

(१)—लक्ष्यारूढमानवः—ईश्वरानुगत —आत्मानुगत —काममयः—श्वोवसीयस्मनोऽनुगतः (आत्मनिष्ठः)

(२) —लक्ष्यानुगतमानव —स्वानुगतः——जीवानुगतः—इच्छामय –सर्वेन्द्रियमनोऽनुगत (लोकनिष्ठः)

(३)—लक्ष्यभ्रष्टमानव ——परानुगतः——जगदनुगतः—विचिकित्सामयः इन्द्रियमनोऽनुगत (निष्ठाच्युत)

(४१)—विनाशक विचिकित्साभाव—

विचिकित्सामय इन्द्रियमन की विद्युत्–इन्द्रानुगता नैसर्गिक चञ्चलता से समन्विता महत्परित्यागात्मिका–सङ्कल्पविकल्पभावापन्ना संदिहानवृत्ति (सन्देहवृत्ति) ही 'विचिकित्सा' कहलाई है, जो इन्द्रियमन का स्वरूपधर्म माना गया है। संशयार्थक 'कित' धातु–(भ्वा० प० से०) से 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (पा०सू०३।१।५) तथा 'अप्रत्ययात्' (पा०सू०३।३।१०२) सूत्रों से, सनादि

प्रत्यय द्वारा ही 'विचिकित्सा' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्धनानाकोटयवगाहि ज्ञान संशय' ही संशयवृत्ति का दार्शनिक लक्षण माना गया है। अपनी व्यवसायात्मिका निश्चित निर्णायकर्तृत्वशक्तिभावापन्ना बुद्धिनिष्ठा से स्खलित विचलित मानव एक ही लक्ष्य में जो—"यह करूँ—अथवा यह करूँ—अमुक सर्वश्रेष्ठ है, अथवा तो निकृष्ट है" इस प्रकार सदा सङ्कल्प-विकल्पात्मक ऊहापोह तर्क-वितर्क—कुतर्कपरम्परा—परस्परात्यन्तविरुद्धभावानुगता कल्पनापरम्परा का अनुगामी बना रहता है, वही मानव—वही यह संशयशील मानव इस संशयशीलता के अनुग्रह से कालान्तर में स्वयं अपनी अध्यात्मसंस्था (अपने आप) पर भी सन्देह करने लग जाता है। परिणाम स्वरूप अपनी यच्चयावत् प्राकृतिक आध्यात्मिक—आधिदैविक—आधिभौतिक शक्तियों पर अविश्वास—सन्देह करने में अभ्यस्तमना यह मन्दभाग्य मानव इन्द्रियमनोऽनुगता तमोबहुला इस विचिकित्सालक्षणा संविधान वृत्ति से वास्तव में चिकित्स्य बन जाता है। अविलम्ब ऐसे महारोगग्रस्त—चिकित्स्य—विचिकित्सानुगामी भ्रान्त मानव की किसी आत्मबुद्धिनिष्ठ नैष्ठिक मानवश्रेष्ठ के द्वारा चिकित्सा का आयोजन कराना चाहिए समाजनैष्ठिकों को। अन्यथा कालान्तर में इस सन्दिहानवृत्ति के दृढ़मूल बन जाने पर यह सर्वात्मना अचिकित्स्य—असाध्यरोगी प्रमाणित हो सकता है। एवं असाध्यदशा में 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति' पथ ही इसके लिए शेष बना रह जाता है।

केवल इन्द्रियारामपरायण—आसक्तिपूर्वक लोकवैभवभोगपरायण—वैषयिक—यथाजात—विमूढ मानव में विचिकित्सामय इन्द्रियमन का ही प्राधान्य रहता है। परमकारुणिक महर्षि विचिकित्सामय इस ऐन्द्रियक मानव के उद्बोधन के लिए एक वैसे महामाङ्गलिक पथ का निदर्शन करा रहे हैं कि, यदि यह मानव उस पथ का अनुसरण कर लेता है, तो कालान्तर में इसका क्रमिक अभ्युत्थान सम्भव बन जाता है। आभ्यन्तर मनोभावों के परिशोध के लिए अलौकिक- ज्ञाननिष्ठ महामानवों का आस्थाश्रद्धा-पूर्वक सम्मान, प्रयतभाव से—अथवा तो आरम्भ में केवल इस प्रयतभाव को निम्बादिक्वाथवत् कटु औषधि ही मान कर श्रद्धा—अश्रद्धा से—जैसे भी बने वैसे अभ्यर्चन, तथा उन ज्ञाननिष्ठ महामानवों के लोक-संग्राहक—धर्म—पथानुगत लौकिक—शास्त्रीय कर्मों की गतानुगतिकता, आदि का अनुगमन करना चाहिए। निश्चयेन इस ऋजुःपथ्यानुगमन से आत्ममल (महामल) विद्रावणपूर्वक अभ्युदय सम्भव है, जिस इस प्रक्रिया का श्रुति का निम्नलिखित आप्तवाणी से स्पष्टीकरण हुआ है, एवं जिस इस ऋजुःपथ की विशद—वैज्ञानिक मीमांसा निबन्ध के उत्तरखण्ड में होने वाली है—

ये के चास्मात्—श्रेयांसो ब्राह्मणा—तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते—'कर्म्मविचिकित्सा' वा, वृत्तिविचिकित्सा' वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिनः—युक्ता आयुक्ताः, अलूक्षा धर्म्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथा'। एष आदेशः, एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्॥

—तैत्तिरीयोपनिषत् १।११।२,४,।

(४२)—चर्म्ममयाकाश का वेष्टन—

मानवीय अध्यात्मसंस्था से सम्बन्धित अमृतलक्षण अव्ययात्मा, ब्रह्मलक्षण अक्षरात्मा, शुक्रलक्षण क्षरात्मा, इन तीन आत्मतन्त्रों से क्रमशः अनुप्राणित भोगतन्त्रानुगत-अव्ययात्मनिबन्धन श्वोवसीयसमन, कर्म्मतन्त्रानुगत अक्षरात्मनिबन्धन सर्वेन्द्रियमन, ग्रथानुगत क्षरात्मनिबन्धन इन्द्रियमन-तीनों मनस्तन्त्रों के काममय-इच्छामय-विचिकित्सामय व्यापारों का संक्षिप्त स्वरूप विज्ञ पाठकों की मानस अनुभूति का लक्ष्य बनाया गया। इन तीनों मनस्तन्त्रों में से प्रतिपाद्य प्रतिज्ञात 'मनु' के तात्त्विक इतिहास का सम्बन्ध अव्ययात्मनिबन्धन काममय श्वोवसीयसमन के साथ ही है, जिसके माध्यम से यह मन स्वरूपविवेचन भी प्रासङ्गिक बन गया है। अत्र पुनः सृष्टिमूलभूत कामभाव से सम्बन्धित मनु का परोक्षरूपेण सङ्केत करने वाली पूर्वोद्धृता 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि०' इत्यादि मन्त्रश्रुति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है। मन के रेतोभूत कामने मनुद्वारा कैसे विश्वसर्ग को व्यक्त बना डाला ?, इस मूल-प्रश्न से सम्बन्धित तात्त्विकसृष्टिविज्ञान की रूपरेखा को लक्ष्य बना लेना अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक होगा। उसी को सर्वप्रथम लक्ष्य बनाया जारहा है।

'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' 'योऽहं-सोऽसौ-'योऽसौ-सोऽहम्' इत्यादि सिद्धान्तानुसार त्रिपुरुष-पुरुषात्मक-षोडशकल-पूर्णप्रजापति का उदकरूप मानव भी प्रकृत्या-पुरुषेण च (क्षराक्षरविधया-अव्ययविधया च) उभयथा परिपूर्ण है। इस परिपूर्ण भी मानवश्रेष्ठ में अन्नमय प्रज्ञानमन की प्रज्ञापराध जनिता भ्रान्ति (भूल) से, स्वयं अपनी ही इस प्रज्ञापराधपरम्परा से इसके स्नेहगुणयुक्त, अतएव आसक्ति धर्म्माक्रान्त सोममय प्रज्ञाधरातल पर विचिकित्सा (सङ्कल्पविकल्प) मय ऐन्द्रियक मन के द्वारा आगत-समागत-अविद्या-अस्मिता-रागद्वेष-अभिनिवेशादि मलीमस-पाप्मा-संस्कार दृढमूल बन जाते हैं। इन मलीमस-संस्कारपुञ्जों से मेघावरणयुक्त सूर्य्यवत् तमोऽभिभूत बनता हुआ प्रज्ञानमन स्वधरातल पर प्रतिबिम्बरूप से प्रतिष्ठिता सौरप्राणमयी धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्यभावात्मिका विद्याबुद्धि के अव्ययात्मानुगत सत्त्वगुणान्वित-सत्त्वात्मक-भा रूप-आकाशसमतुलित ज्योतिर्भाव को (अव्ययात्मज्योति को) भी उसी प्रकार आवृत कर लेता है, जैसे कि मेघावरण से सौरप्रभा आवृत बन जाया करती है। इस मध्यस्थित तामस के आवरण से सत्यसङ्कल्पधर्म्मा काममय अन्तरात्मा, दूसरे शब्दों में मानव के शरीराकाश केन्द्र में प्रतिष्ठित हृदयाकाश के केन्द्र में स्थित दहराकाशावस्थित हृत्पुण्डरीक में-सहस्रसूर्य्यज्योति समतुलित नित्यकाममय श्वोवसीयस् मन सर्वात्मना अन्तर्मुख बन जाता है। तदित्थं, मानव के अपने ही गोप में इस प्रकार आत्मदेवता (परदेवता) के अन्तर्मुख बन जाने से मानव अपनी आध्यात्मिक परिपूर्णता के बोध से वञ्चित होता हुआ अपने आपको अपूर्ण-अज्ञ-ऐश्वर्य्यशून्य-सा अनुभूत करने लग जाता है। इस स्वदोषानुगता अपूर्णतानुभूति के अनुग्रह से ही मानव-परिपूर्ण भी मानव-पदे पदे कष्ट-दुःख-भय-शोक-मोह-भ्रान्ति-परम्पराओं का सम्मान्य अतिथि बन जाता है। निश्चित है कि—सत्यसङ्कल्पात्मक-नित्यकाममय-किंवा कामनामय अतएव निष्कामभावापन्न श्वोवसीयस् मनोमय अव्ययात्मदेव के अनुग्रह प

बिना अन्य लौकिक प्रयाससहस्रों से भी मानव की इस दु:खपरम्परा का अवसान कदापि कथमपि सम्भावित नहीं है। यदि अनन्त परमाकाश ('नभस्वान्' नामक स्वायम्भुव परमेष्ठ्योमन् लक्षण परमाकाश) को मानव एक चर्म्मास्तरणवत् अपने शरीर से वेष्टित कर सकता है, तो उस दशा में मानव अवश्य ही तथाकथित आत्मदेव के बोध के बिना भी दु:खपरम्परा से उन्मुक्त हो सकता है। तात्पर्य्य, जैसे अनन्ताकाश को चर्म्मवेष्टनवत् शरीर से आवेष्टित कर लेना मानव के लिए असम्भव है। एवमेव आत्मदेवस्वरूपबोध के बिना अमृतलक्षणा शान्ति की कामना भी मानव के लिए सर्वथा असम्भव ही बनी रहती है। इसी भाव का काकुभाषा में दिग्दर्शन कराते हुए आत्मबोधनिष्ठ महामानवों ने कहा है—

यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

—उपनिषत्

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

—यजुःसंहिता।

(४१)—मानव और पशुभाव—

काममय अव्ययात्मा के मनोमय मनुर्भाव के सम्बन्ध से ही पुरुषप्राणी 'मानव' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है, एवं मनु सम्बन्ध से, किंवा मनु के विकास से ही मानव इतर प्राणियों के समतुलन में परिपूर्ण बना है। यदि मानव अपने तथाकथित प्रज्ञापराध से इस मनुलक्षण परिपूर्णभाव की सहज अभिव्यक्ति से वञ्चित रहता हुआ दु:खभाग् है, तो इसकी 'मानव' अभिधा ही व्यर्थ मानी जायगी। आत्मानुग्रहात्मक (आत्मविकासात्मक) 'स्वात्मावबोध' से पराङ्मुख मानव में, तथा यथाजात प्राकृत पशु में कोई अन्तर नहीं है। 'समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्' प्रसिद्ध ही है। हाँ, इस समतुलनावस्था में भी दोनों में यह अन्तर अवश्य माना जा सकता है कि, यथाजात पशु–पक्षी–कृमि–कीटादि–वर्ग प्रकृतितन्त्रात्मक नियति तन्त्र से–अन्तर्य्यामी के द्वारा सृष्ट्यारम्भ में विहित–निश्चित–मर्य्यादित प्राकृतिक धर्म्म से अनुशासित रहता हुआ प्रकृत्या स्व–स्व–पशुत्व–पक्षित्वादि सहज प्राकृतिक धर्मों पर सुव्यवस्थितरूप से आरूढ़ बना रहता हुआ यहाँ अमुक अंशों में ही क्या, अधिकांश में निर्व्याजरूप से प्रत्युपकार की भावना से अपने आपको अर्संस्पृष्ट बनाए रखता हुआ सहजभाव से मानवसमाज का हितसाधन करता रहता है, वहाँ—पश्वादिवर्गसमानधर्म्मा मानवाभासात्मक एवंविध विमूढ मानव प्राकृतिक सम्पूर्ण नियन्त्रण-नियमन-मर्य्यादा सूत्रों की आत्यन्तिकरूप से उपेक्षा करता हुआ, सर्वात्मना उच्छृङ्खल उन्मर्य्याद बनता हुआ, अपनी इस उद्दण्डता–उच्छृङ्खलता–अमर्य्यादा–अविवेकिता–आदि को ही 'स्वतन्त्रस्वतन्त्रता' जैसे पावन शब्द से सम्बोधित करने का अपराध्य–पापार्जन करता हुआ अपने गृह पारिवारिक व्यक्तियों के, पार्श्ववर्ती पड़ोसियों के, समाज के मर्य्यादित शिष्ट–वृद्ध–मानवों के उत्पीडन का ही अन्यतम कारण प्रमाणित होता हुआ, अपने आश्रितवर्ग के लिए महाकालकालकराल ही प्रमाणित होता हुआ उन उपकारक पश्वादि

प्राणियों के संहारकर्म में यत्किञ्चित् भी तो लज्जा का अनुभव नहीं करता, जो इसकी अमुक हितैषिता में आत्मार्पण किए रहते हैं। स्वयं नित्य अशान्त–भ्रान्त–विभ्रान्त–बने हुए, 'जहँ जहँ चरण पड़े सन्तन के, तँह तँह, न्याय से अपने सम्पर्क स्थलों को भी सर्वात्मना सङ्क्षुब्ध–अशान्त–उत्पीड़ित करने के कारण अपने आपदुर 'को दकारामिधा से समलङ्कृत करते हुए इस मानव की दृष्टि में–'परोपकार' पुण्याय,–पापाय हितैसाधनम्' यही सूत्र जीवन का मुख्य पुरुषार्थ बना रहता है। आवश्यक है कि, मङ्गला सर्व श्रेष्ठ–परिपूर्ण–मानव का इस उद्वेगकारी दयनीय स्थिति से परित्राण हो। तदर्थ अत्यावश्यक है कि, यह अपने आपको पहिचाने, अपनी अभिभूत आत्मशक्तियों का उद्बोधन प्राप्त करे। तदर्थ अनिवार्य्य है कि यह अपने प्राकृतिक विश्वसर्गानुबन्धी तात्त्विक स्वरूप को अपने स्वाध्याय का लक्ष्य बनाये। एवं तदर्थ ही यह आवश्यकरूप से अनिवार्य्यतम है कि, मानव के वास्तविक हितसाधक (ज्ञानविज्ञानपूर्ण)–शतसहस्राब्दियों से विलुप्तप्राय–नैगमिक आम्नायपरम्परानुप्राणित उस सृष्टिविज्ञान की रूपरेखा की ओर इसका ध्यान आकर्षित किया जाय, जिसके आधार पर इसकी मूलप्रतिष्ठारूप वे 'मनु' प्रतिष्ठित हो रहे हैं, जिन्हें विस्मृत कर सचमुच इस प्राणी ने आज अपनी सर्वश्रेष्ठा–गुणनक्षत्रया–श्रेष्ठतमा 'मानव' अभिधा को अभिभूत कर लिया है।

यथाकथित आवश्यकतापरम्परा को दृष्टि में रखते हुए प्रमसक के वाङ्मय प्रपञ्च के द्वारा तथाविध मानव के सम्मुख काममय ध्रुवप्रजापति का संक्षिप्त स्वरूप समुपस्थित किया गया। तत् प्रसङ्ग से ही ईश की प्रणवस्वात्मकता का स्वरूप उपस्थित किया गया। इसी प्रसङ्ग में मानव की अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित 'श्वोवसीयस्मन–प्रज्ञानमन–इन्द्रियमन–' इन तीन मनस्तत्त्वों का स्वरूपविश्लेषण करते हुए तीनों के 'काम–कामना, इच्छा–अशनाया, विचिकित्सा–संकल्पविकल्प' इन सहज धर्मों का दिग्दर्शन प्रासङ्गिक समझा गया। इस प्रासङ्गिकी परम्परा के अनन्तर ही अब यद्यपि मूलभूत–'मनु' को ही लक्ष्यभूमि बनाना प्रासङ्गिक था, किन्तु काममय आत्ममन के सत्यसंकल्प से सम्बन्धिता काममयी आत्मसृष्टि के दिग्दर्शन के बिना क्योंकि विश्वस्वरूप अपूर्ण बना रह जाता है। अतएव इस सम्बन्ध में भी प्रङ्क्षेपात्र कुछ निवेदन कर देना प्रासङ्गिकविधया अनिवार्य्य ही मान लिया जायगा।

(४४)–विश्वाधारभूत अव्ययमन का सिंहावलोकन—

पूर्व के तृतीय परिच्छेद में विश्व की मूलजिज्ञासा को मानते हुए हमने 'अव्ययमनरहस्य'–प्रतिपादक पाँच मन्त्र उद्धृत किए थे (देखिए पृ०सं० १४१)। 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि' मन्त्र से सम्बन्धित त्रिविध मनस्तत्त्वों का दिग्दर्शन कराते हुए निष्कर्षपूर्व में ही काममय अव्ययेश्वर के श्वोवसीयस् नामक नित्य मन के साथ मानवाधारभूत 'मनु' का सम्बन्ध प्रतिपादित हुआ है। वहीं यह भी स्पष्ट हुआ है कि, यह मनोमय मनु ही विश्व का मूल बनता है। यहीं एक नवीन जिज्ञासा अभिव्यक्त हो जाती है। प्रस्तुत मीमांसा के आरम्भ में 'अव्ययमन' को विश्व का मूल बतलाया गया था, एवं आगे चलकर मनु को

बिना अन्य लौकिक प्रयाससहस्रों से भी मानव की इस दुःखपरम्परा का अवसान कदापि कथमपि सम्भावित नहीं है। यदि अनन्त परमाकाश ('नभस्वान्' नामक स्वायम्भुव परमेष्ठ्योमन् लक्षण परमाकाश) को मानव एक चर्म्मास्तरणवत् अपने शरीर से वेष्टित कर सकता है, तो उस दशा में मानव अवश्य ही तथाकथित आत्मदेव के बोध के बिना भी दुःखपरम्परा से उन्मुक्त हो सकता है। तात्पर्य, जैसे अनन्ताकाश को चर्म्मवेष्टनवत् शरीर से आवेष्टित कर लेना मानव के लिए असम्भव है। एवमेव आत्मदेव स्वरूपबोध के बिना अमृतलक्षणा शान्ति की कामना भी मानव के लिए सर्वथा असम्भव ही बनी रहती है। इसी भाव का काकुभाषा में दिग्दर्शन कराते हुए आत्मबोधनिष्ठ महामानवों ने कहा है—

यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

—उपनिषत्

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय॥

—यजुःसंहिता।

(४३)—मानव और पशुभाव—

काममय अव्ययात्मा के मनोमय मनुर्भाव के सम्बन्ध से ही पुरुषप्राणी 'मानव' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है, एवं मनुःसम्बन्ध से, किंवा मनु के विकास से ही मानव इतर प्राणियों के समतुलन में परिपूर्ण बना है। यदि मानव अपने तथाकथित प्रज्ञापराध से इस मनुर्लक्षण परिपूर्णभाव की सहज अभिव्यक्ति से वञ्चित रहता हुआ दुःखभाग् है, तो इसकी 'मानव' अभिधा ही व्यर्थ मानी जायगी। आत्मानुग्रहात्मक (आत्मविकासात्मक) 'स्वात्मावबोध' से पराङ्मुख मानव में, तथा यथाजात प्राकृत पशु में कोई अन्तर नहीं है। 'समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्' प्रसिद्ध ही है। हाँ, इस समतुलनावस्था में भी दोनों में यह अन्तर अवश्य माना जा सकता है कि, यथाजात पशु—पक्षी—कृमि—कीटादि—वर्ग प्रकृतितन्त्रात्मक नियतितन्त्र से—अन्तर्य्यामी के द्वारा सृष्ट्यारम्भ में विहित—निश्चित—मर्य्यादित प्राकृतिक धर्म्म से अनुशासित रहता हुआ प्रकृत्या स्व—स्व—पशुत्व—पक्षित्वादि सहज प्राकृतिक धर्मों पर सुव्यवस्थितरूप से आरूढ़ बना रहता हुआ जहाँ अमुक अंशों में ही क्या, अधिकांश में निर्म्मामरूप से प्रत्युपकार की भावना से अपने आपको सर्वस्पृह बनाए रखता हुआ सहजभाव से मानवसमाज का हितसाधन करता रहता है, वहाँ—पश्वादिवर्गसमानधर्म्मा मानवाभासात्मक एवंविध विमूढ मानव प्राकृतिक सम्पूर्ण नियन्त्रण-नियमन-मर्य्यादासूत्रों की आत्यन्तिकरूप से उपेक्षा करता हुआ, सर्वात्मना उच्छृंखल उमर्य्याद बनता हुआ, अपनी इस उद्दण्डता—उच्छृंखलता—अमर्य्यादा—अविवेकिता—आदि को ही 'स्वतन्त्रस्वतन्त्रता' जैसे पावन शब्द से सम्बोधित करने का जघन्य—पापार्जन करता हुआ अपने ग्राम पारिवारिक व्यक्तियों के, पार्श्ववर्ती पड़ोसियों के, समाज के मर्य्यादित शिष्ट—शुद्ध—मानवों के उत्पीड़न का ही अन्यतम कारण प्रमाणित होता हुआ, अपने आश्रितवर्ग के लिए महाकालकालकराल ही प्रमाणित होता हुआ उन उपकारक पश्वादि

प्राणियों के संहारकर्म में यत्किञ्चित् भी तो लज्जा का अनुभव नहीं करता, जो इसकी अमुक हितैषिता में आत्मार्पण किए रहते हैं। स्वयं नित्य अशान्त–भ्रान्त–विभ्रान्त–बने हुए, 'जहँ जहँ चरण पड़े सन्तन के, तँह तँह, न्याय से अपने सम्पर्क स्थलों को भी सर्वात्मना सङ्क्षुब्ध–अशान्त–उत्पीड़ित करने के कारण अपने आपदूर को दकारामिधा से समलङ्कृत करते हुए इस मानव की दृष्टि में–'परापकार' पुण्याय,–पापाय हितेसाधनम्' यही सूत्र जीवन का मुख्य पुरुषार्थ बना रहता है। आवश्यक है कि, प्रकृत्या सर्व श्रेष्ठ–परिपूर्ण–मानव का इस उद्वेगकारी दयनीय स्थिति से परित्राण हो। तदर्थ अत्यावश्यक है कि, यह अपने आपको पहिचाने, अपनी अभिभूत आत्मशक्तियों का उद्बोधन प्राप्त करे। तदर्थ अनिवार्य्य है कि यह अपने प्राकृतिक विश्वसर्गानुबन्धी तात्त्विक स्वरूप को अपने स्वाध्याय का लक्ष्य बनाये। एवं तदर्थ ही यह आवश्यकरूप से अनिवार्य्यतम है कि, मानव के वास्तविक हितसाधक (ज्ञानविज्ञानपूर्ण)–सहस्रशताब्दियों से विलुप्तप्राय–नैगमिक आम्नायपरम्परानुप्राणित उस सृष्टिविज्ञान की रूपरेखा की ओर इसका ध्यान आकर्षित किया जाय, जिसके आधार पर इसकी मूलप्रतिष्ठारूप वे 'मनु' प्रतिष्ठित हो रहे हैं, जिन्हें विस्मृत कर सचमुच इस प्राणी ने आज अपनी सर्वश्रेष्ठा–गुणग्रामलक्षणा–श्रेष्ठतमा 'मानव' अभिधा को अभिभूत कर लिया है।

तथाकथिता आवश्यकतापरम्परा को दृष्टि में रखते हुए अमुक के वाङ्मय प्रपञ्च के द्वारा तथाविध मानव के सम्मुख काममय ईश्वरप्रजापति का सङ्क्षिप्त स्वरूप समुपस्थित किया गया। तत् प्रसङ्ग से ही ईश की प्राणप्रवर्त्तकता का स्वरूप उपस्थित किया गया। इसी प्रसङ्ग में मानव की अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित 'श्वोवसीयस्मन–प्रज्ञानमन–इन्द्रियमन–'इन तीन मनस्तन्त्रों का स्वरूपविश्लेषण करते हुए तीनों के 'काम–कामना, इच्छा–अशनाया, विचिकित्सा–संकल्पविकल्प' इन सहज धर्मों का दिग्दर्शन प्रासङ्गिक समझा गया। इस प्रासङ्गिकी परम्परा के अनन्तर ही अब यद्यपि मूलभूत–'मनु' को ही लक्ष्यभूमि बनाना प्रासङ्गिक था, किन्तु काममय आत्ममन के सत्यसङ्कल्प से सम्बन्धिता काममयी आत्मसृष्टि के दिग्दर्शन के बिना क्योंकि विश्वस्वरूप अपूर्ण बना रह जाता है। अतएव इस सम्बन्ध में भी प्रसङ्गोपात्त कुछ निवेदन कर देना प्रासङ्गिकविधया अनिवार्य्य ही मान लिया जायगा।

(४४)–विश्वाधारभूत ब्रह्मवन का सिंहावलोकन—

पूर्व के तृतीय परिच्छेद में विश्व की मूलजिज्ञासा को मानते हुए हमने 'ब्रह्मवनरहस्य'–प्रतिपादक पाँच मन्त्र उद्धृत किए थे (देखिए पृ०सं० १४१)। 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि' मन्त्र से सम्बन्धित त्रिविध मनस्तन्त्रों का दिग्दर्शन कराते हुए निकटपूर्व में ही काममय अव्ययेश्वर के श्वोवसीयस् नामक नित्य मन के साथ मानवाधारभूत 'मनु' का सम्बन्ध प्रतिपादित हुआ है। यहीं यह भी स्पष्ट हुआ है कि, यह मनोमय मनु ही विश्व का मूल बनता है। यहीं एक नवीन जिज्ञासा अभिव्यक्त हो जाती है। प्रस्तुत मीमांसा के आरम्भ में 'ब्रह्मवन' को विश्व का मूल बतलाया गया था, एवं आगे चलकर मनु को

बिना अन्य लौकिक प्रयाससहस्रों से भी मानव की इस दु:खपरम्परा का अवसान कदापि कथमपि सम्भावित नहीं है। यदि अनन्त परमाकाश ('नभस्वान्' नामक स्वायम्भुव परमेष्ठ्योमन् अथवा परमाकाश) को मानव एक चर्म्मास्तरणवत् अपने शरीर से वेष्टित कर सकता है, तो उस दशा में मानव अवश्य ही तथाकथित आत्मदेव के बोध के बिना भी दु:खपरम्परा से उन्मुक्त हो सकता है। तात्पर्य, जैसे अनन्ताकाश को चर्म्मवेष्टनवत् शरीर से आवेष्टित कर लेना मानव के लिए असम्भव है। एवमेव आत्मदेव स्वरूपबोध के बिना अमृतलक्षणा शान्ति की कामना भी मानव के लिए सर्वथा असम्भव ही बनी रहती है। इसी भाव का काकुभाषा में दिग्दर्शन कराते हुए आत्मबोधनिष्ठ महामानवों ने कहा है—

यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

—उपनिषत्

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

—यजुःसंहिता।

(४३)—मानव और पशुभाव—

काममय अव्ययात्मा के मनोमय मनुर्भाव के सम्बन्ध से ही पुरुषप्राणी 'मानव' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है, एवं मनु सम्बन्ध से, किंवा मनु के विकास से ही मानव इतर प्राणियों के समतुलन में परिपूर्ण बना है। यदि मानव अपने तथाकथित प्रज्ञापराध से इस मनुर्लक्षणा परिपूर्णभाव की सहज अभिव्यक्ति से वञ्चित रहता हुआ दु:खभागी है, तो इसकी 'मानव' अभिधा ही व्यर्थ मानी जायगी। आत्मानुप्राणित (आत्मविकासात्मक) 'स्वाभावबोध' से पराङ्मुख मानव में, तथा यथाजात प्राकृत पशु में कोई अन्तर नहीं है। 'समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्' प्रसिद्ध ही है। हाँ, इस समतुलनावस्था में भी दोनों में यह अन्तर अवश्य माना जा सकता है कि, यथाजात पशु—पक्षी—कृमि—कीटादि—वर्ग प्रकृतितन्त्रात्मक नियतितन्त्र से—अन्तर्यामी के द्वारा सृष्ट्यारम्भ में विहित—निश्चित—मर्य्यादित प्राकृतिक धर्म्म से अनुशासित रहता हुआ प्रकृत्या स्व—स्व—पशुत्व—पक्षित्वादि सहज प्राकृतिक धर्म्मों पर सुव्यवस्थितरूप से आरूढ़ बना रहता हुआ जहाँ अमुक अंशों में ही क्या, अधिकांश में निर्व्याजरूप से प्रत्युपकार की भावना से अपने आपको अवसानुरूप बनाए रखता हुआ सहजभाव से मानवसमाज का हितसाधन करता रहता है, वहाँ—पश्वादिवर्गसमानधर्म्मा मानवाभासात्मक एवंविध विमूढ़ मानव प्राकृतिक सम्पूर्ण नियन्त्रण-नियमन-मर्य्यादा-सूत्रों की आत्यन्तिकरूप से उपेक्षा करता हुआ, सर्वात्मना उच्छृङ्खल उन्मर्य्याद बनता हुआ, अपनी इस उद्दण्डता—उच्छृङ्खलता—अमर्य्यादा—अविवेकिता—आदि को ही 'स्वतन्त्रस्वतन्त्रता' जैसे पावन शब्द से सम्बोधित करने का जघन्य—पापार्जन करता हुआ अपने गृह पारिवारिक व्यक्तियों के, पार्श्ववर्त्ती पड़ोसियों के, समाज के मर्य्यादित शिष्ट—वृद्ध—मानवों के उत्पीड़न का ही अन्यतम कारण प्रमाणित होता हुआ, अपने आश्रितवर्ग के लिए महाकालकालकराल ही प्रमाणित होता हुआ उन उपकारक पश्वादि

यह महाविश्व विनिर्म्मित होगया, इसे किसने धारण कर रक्खा है ?" । प्रश्न उपस्थित हुआ ऋक्संहिता में भुवनपुत्र अतएव 'भौवन' नाम से प्रसिद्ध महामहर्षि विश्वकर्म्मा * के द्वारा, एवं इस प्रश्न के मार्मिक उत्तर का विश्लेषण हुआ भगवान् तित्तिरि के द्वारा तैत्तिरीय ब्राह्मण में-'ब्रह्म वनं, ब्रह्म स वृक्ष आसीत्' इत्य दि रूप से । कैसा परोक्ष प्रश्न, एवं कैसा आश्चर्य्योत्पादक परोक्ष ही समाधान, जिस के पारिभाषिक रहस्यार्थ के परिज्ञान के बिना प्रश्नोत्तर का यत्किञ्चित् भी तो समन्वयन नहीं किया जा सकता । ब्रह्म ही वन, ब्रह्म ही वृक्ष, इससे काट-छाँट कर बना हुआ ब्रह्म ही विश्व, और ब्रह्म ही अपने इस सृष्ट रूप का सर्वाधार, एवं ऐसा यह समाधान हुआ मनोयोगपूर्वक तत्त्वज्ञ महामहर्षियों के द्वारा" कैसा है यह अद्भुत प्रश्न, और कैसा है यह अद्भुत समाधान 'स्मृत्त्वा स्मृत्त्वा रोमहर्षं प्रजायते' ।

(४५)—आलोचकों की आक्षेपपरम्परा—

वेदशास्त्र की इत्थंभूता रहस्यार्थगम्भीरा पारिभाषिकी तत्त्वदृष्टि के स्पर्शलेश से भी वञ्चित वर्त्तमान युग के प्रत्यक्ष-भूतवादी-प्रतीच्यसरणिभक्त-अर्वाचीन-नव्य विद्वानों ने सम्भवतः इसीलिए अपने ये उद्‌गार प्रकट कर देने का अक्षम्य अपराध कर डाला है कि,-"जो तत्त्ववाद, जो मौलिकरहस्य-प्राकृतिक रहस्य भारतीय विद्वान् अपनी तत्त्वविज्ञानशून्या केवल प्रमाणभक्तिमूला भावुकता के कारण समझ न सके, उसे सर्वप्रथम तो इन्होंने 'अगम्य-अनिर्वचनीय-वाङ्मनसपथातीत' कह कर अपनी विद्वत्ता की रक्षा करली है । अथवा तो वैसे अज्ञात तत्त्ववादों के लिए केवल अपनी कल्पना के माध्यम से 'ब्रह्म' नामक एक वैसे अज्ञात नाममात्र की कल्पना कर डाली है, जिसे प्रमुख बनाकर ये विद्वम्मन्य आस्थाश्रद्धाशील अन्धभक्त भावुक भारतीयों की प्रतारणा किया करते हैं । जिस का समाधान इनकी समझ में न आया, वह अनिर्वचनीय, अगम्य, और वही 'ब्रह्म', जिस इसका अन्धसमर्थित काल्पनिक 'ब्रह्म' नाम मात्र के सम्मुख, इसकी अचिन्त्यता-अनिर्वचनीयता की घोषणा के सम्मुख आस्तिक भारतीय मानव अवनतशिरस्क बन जाने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है । किन्तु जो हमारे वैसे तत्त्वज्ञ

*-निगमशास्त्र में वसिष्ठ-अगस्त्य-भरद्वाज-दीर्घतमा-बृहस्पति-अङ्गिरा-भृगु-अत्रि-आदि-आदि जितने भी ऋषिनाम भुक्तोपभुक्त हैं, वे सब वस्तुत मौलिक प्राणरूप तत्त्वों के ही नाम हैं । जिस जिस महामानव ने अपनी तपःपूता दिव्यदृष्टि से सर्वप्रथम जिस जिस ऋषिप्राण का साक्षात्कार किया, तत्कालीना सम्मानप्रदानपद्धति के अनुसार ब्रह्मपर्षदध्यक्षों के द्वारा तत्तदन्वेषक-आविष्कारक महामानवों को तत्तत् ऋषिनामों से ही व्यवहृत कर दिया गया, जो इन मानवों के 'यशोनाम' बनते हुए तद्राशभरों में भी प्रच्छलित होगए । विश्वस्रष्टा विश्वकर्म्मा-भुवनाधिष्ठाता मौलिकतत्त्व का अन्वेषण करने वाले महापुरुष इसी आधार पर 'विश्वकर्म्मा भौवन' नाम से ही प्रसिद्ध हो गए । वे ही इस मन्त्र के मन्त्रद्रष्टा (तत्त्वसाक्षात् कर्त्ता) माने गए ।

विश्वमूल घोषित किया गया। इन दोनों दृष्टिकोणों का किस आधार पर, कैसे समन्वय किया जाय। यही नवीन जिज्ञासा है, जिस के समाधान के लिए हमें सिंहावलोकनदृष्ट्या आरम्भ में मन्त्रपञ्चक-द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मवन को ही सिंहावलोकन दृष्ट्या लक्ष्य बनाना पड़ेगा।

जब कुछ न था, तो क्या था ?, दूसरे शब्दों में वर्त्तमान में अपने चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्षदृष्ट स्थूल भौतिक—चर अचरप्रपञ्च, विज्ञानदृष्टि से दृष्ट-अवलोकित परोक्ष प्राणादिप्रपञ्च, आदि आदि कुछ भी जब न था, तो उस समय क्या था ?, प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् तित्तिरि ने समाधान उपस्थित किया कि—

* ब्रह्मवन ब्रह्म स वृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ।।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।६।७

विश्वमूलजिज्ञासानुगत विचारविमर्शप्रसङ्गावसर पर एक बार ऋषिसंसत् (ब्रह्मपर्षत्—परिषत्) में प्रश्न उपस्थित यह हो पड़ा कि—

किं स्विद्वन क उ स वृक्ष आस ? यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु, तदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ।।

ऋक्संहिता १०।८१।४।

'वह ऐसा कौनसा महावन (जगल) था, उस महावन में ऐसा कौन सा महावृक्ष था, जिसे काट छाँट कर—(काट तराश कर—छील छालकर) यह इतना बड़ा सुविस्तृत त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप द्यावापृथिव्य विश्व बना डाला गया ?। हे मनीषी विद्वानो ! आप लोग अपने मनसे भली भाँति निश्चित कर कृपया यह समाधान करने का अनुग्रह करें कि, जिस महावन के महावृक्ष से पञ्चभुवनात्मक त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप

---

* इन मन्त्रों की मीमांसा पूर्व में (१४० पृ०) की जा चुकी है। अतः ये ही दोनों मन्त्र यहाँ समुपस्थित हो रहे हैं। सम्भव है 'समयमहूमूल्यवादी' आधका भावुक मानव इस पुनरुक्ति से हमारी अज्ञता का उपहास करे। उसकी इस अज्ञता का हम इसलिए हृदय से अभिनन्दन ही करेंगे कि, तात्त्विक विषयों के निरूपण से सम्बन्ध रखने वाली पुनरुक्तिपरम्परा आर्षनिष्ठा में उपादेया ही मानी गई है। 'एक ही सिद्धान्त, उसी का पुन पुन दृष्टिकोणभेद से निरूपण' यही सहज आर्षदृष्टिकोण है। यदि भावुक मानव सौभाग्य से कभी वेदग्रन्थस्वाध्याय में प्रवृत्त होगा, तो वह स्वयं इस दृष्टिकोण का सर्वतः सन्त्र पदे-पदे साक्षात्कार कर लेगा। फिर हमतो एस भावुक हैं इस परिलक्षणपाद के समन्वय करने के सम्बन्ध में कि, आगे आगे निष्प—विषयों को लिपिबद्ध करते हुए पूर्व-पूर्व के मूल विषय विस्मृत करते जाते हैं। स्वान्त सुखमूला केवल अपनी स्वाध्यायनिष्ठानुगता अपनी तत्त्वसंधारणमूला भावुकताके संरक्षण के लिए ही हमें पुन पुनः उसी शाश्वतब्रह्म का संस्मरण करना पड़ता है।

"हे पूषादेवता ! आप हमें अनुग्रह कर उन परतत्त्वदर्शी (आत्मतत्त्वद्रष्टा) तत्त्ववेत्ता विद्वानों की शरण में ले चलिए (नय), जो हमें 'इदमित्थमेव, नान्यथा' रूप से सदा निर्णयात्मक निश्चयात्मक सन्देहरहित–वैज्ञानिक समाधान से ही सर्वथा ऋजुभाव से–सरल–सुबोधगम्य शैली से ही–समाहित–आत्मतुष्ट कर सकने की क्षमता रखते हैं", इस प्रकार की उदार घोषणा करने वाला आर्षशास्त्र समाधान विदित न होने पर केवल काल्पनिक ब्रह्मादि–अनिर्वचनीयादि भावों के–शब्दों के–द्वारा हमारी प्रतारणा करता रहेगा, इस अनार्य–जघन्य–दृष्टिकोण के तो सम्मरणमात्र से भी हम महापातक का अनुभव कर रहे हैं। जो आप्तमहर्षि अविशेष तत्त्वों के सम्बन्ध में–'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' रूप से विस्पष्ट शब्दों में अपनी असमर्थता स्वीकार कर लेते हैं। जो दुर्विज्ञेय तत्त्वों के सम्बन्ध में अचिकित्वाँश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्, इत्यादि रूप से अपनी अज्ञता स्वीकार करने में अणुमात्र भी संकोच नहीं करते, जो ऋजु पथानुवर्ती सहस्रज्ञ महर्षि–'नाहं मन्ये सुवेदेति' कहते हुए अपनी ऋजुरुचि का स्पष्ट विश्लेषण करते हुए नहीं अघाते, उनके प्रति इस प्रकार की जघन्य कल्पना करते हुए कि–"उनके समक्ष में जो नहीं आया, किन्तु जिन्हें अपने पाण्डित्य की रक्षा करने का विमोहन था, उन्होंने परप्रतारणा के लिए ब्रह्म–अचिन्त्य–अनिर्वचनीयादि शब्दों की काल्पनिक सृष्टि कर डाली"–क्या सचमुच अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी नहीं बना रहे ? ।

(४७)—सहजपरिभाषाविलुप्ति—

बात कुछ ऐसी घटित हो गई है कि, निगमतत्त्ववाद से सम्बन्ध रखने वाली वे सहज परिभाषाएं आज हमारी आम्नायविद्या परम्परा के क्षेत्र से विस्मृत हो गई हैं, जिन परिभाषाओं के माध्यम के बिना हम अन्य प्रयत्नसहस्रों के आधार पर भी व्याकरणानुगत केवल धातु–प्रत्यय–प्रकृति–क्रिया–करण–कर्त्तादि के माध्यम से तात्त्विक समन्वय करने में नितान्त असमर्थ बने रह जाते हैं। गतानुगतिकभावापन्ना–पर–उच्छिष्ट ज्ञानलवानुगता–काल्पनिक बुद्धिनिष्ठा के बल पर, अथवातो केवल व्याकरण के बल पर वेदतत्वार्थ के मर्म्म का स्पर्श भी सम्भव नहीं बन सकता । स्वाध्यायपरम्परा के साथ साथ ही दुर्भाग्यवश आज हमारा यह पारम्परिक पारिभाषिक बोध भी विलुप्तप्राय बन चुका है। अतएव व्याकरण–न्याय–दर्शन–वेदान्त–धर्म्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र)–आदि आदि इतर शास्त्रों के मर्म्मस्पर्शी महामहान् शास्त्रपारङ्गतों–महामहो पाध्यायों–महामहोपदेशकों–महामहशास्त्रार्थियों के लिए भी वेदार्थसमन्वय आज एक 'समस्या' ही प्रमाणित हो रहा है *। अपने इसी एकमात्र दोष से, इसी परिभाषा–ज्ञानविस्मृतिरूप महा अपराध से आज हमें सर्वथा बालभी अर्वाचीनों के द्वारा किए गए वेदशास्त्रसम्मत तत्त्ववादों के प्रति–आक्षेप–आलोचनाओं को नतमस्तक बन कर सहन करते रहना पड़ रहा है। जिस इस असह्य स्थिति से परित्राण का एकमात्र पथ पूषादेवता का तथोक्त अनुग्रह ही बन सकता है।

---

*—देखिए–'हमारी समस्या, और उसका समाधान' नामक स्वतन्त्र निबन्ध।

विज्ञानपथानुवर्त्मा–सत्य-स्थितिपरीक्षक मानव हैं, वे कभी ऐसी प्रतारणाओं को कुछ भी तो मात्रामात्र का भी तो सम्मान प्रदान करने की इच्छा नहीं करते"। नेति ह् वाच।

(४६)—समाधानकर्त्ता पूषादेवता—

असमयम्। असमयम्॥ महती विडम्बना॥ बड़ी भ्रान्ति, महा अज्ञान, वेदार्थपरिभाषाज्ञान के अभाव से समुत्पन्न अभिनिवेशमूलक निरतिशय बुद्धिविभ्रम। वैदिकतत्त्ववाद के सम्बन्ध में पदे पदे "य एवेदमिति ब्रवत्" की निर्भ्रान्त घोषणा करने वाला वेदशास्त्र इस प्रकार परप्रतारणा के लिए प्रवृत्त होगा!, इस प्रकार की भावना के श्रवणमात्र से भी हम प्रायश्चित्त के भागी बन रहे हैं, जिसके लिए हमें यहाँ दो शब्दों में केवल अनन्य श्रद्धात्मिका श्रुति (श्रवण) मात्र से सम्भावित भी 'अग्रवर्त्तं यद्ध स वृत्र आस' की पारिभाषिकी तत्त्वदृष्टि की उपासना करनी पड़ रही है। जिस वेदशास्त्र की यह घोषणा है कि—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया', उसके सम्बन्ध में अपनी लिप्सापूर्वा भूत-विज्ञानदृष्टि के माध्यम से प्रतारणा–धारणा की कल्पना करने वालों के लिए वेदमहर्षि को अवश्य ही 'असुर्य्या नाम ते ते लोका' से भी कहीं घोरघोरतम लोक की कल्पना करनी पड़ेगी, ऐसी हमारी केवल धारणा ही नहीं, अपितु दृढ़तम आत्मविश्वास है। हम अपनी सहज 'सर्वे सन्तु निरामया'—मा कश्चिद् दुःखमाग्भवेत्' इस भारतीय भावना के माध्यम से पूषादेवता से इससे अधिक और क्या निवेदन कर सकते हैं कि,–'पुनर्नो नष्टमाजतु'। (हे पूषादेवता हमारे प्रज्ञापराध से हमने जिस तत्त्ववाद को, जिस मौलिक तत्त्वसम्पत् को विनष्ट–विस्मृत कर दिया है, आप ही अनुग्रह कर पुन उस व्यक्त करने का अनुग्रह करें, जिसके आधार पर हम अपनी विलुप्तप्राय–पारिभाषिकज्ञानसमन्वित उस तत्त्वदृष्टि को पुनः अर्जित–समार्जित करने की क्षमता प्राप्त कर सकें, जिसके प्राप्त हो जाने के अनन्तर कुछ भी तो–अज्ञात–सशयास्पद नहीं बना रह जाता। 'इत्यभिस्तुयाच पूषादेवता'।

> सम्पूषन्! विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति। य एवेदमिति ब्रवत् ॥१॥
> समु पूष्णा गमेमहि यो गृहाँ अभिशासति। इम एवेति च ॥२॥
> पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽवपद्यते। न अस्य व्यथते पविः ॥३॥
> माकिर्नेशन् माकीं रिषन् माकीं सशारि केवटे। अथारिष्टाभिरा गहि ॥४॥
> परिपूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु ॥५॥

—ऋक्सं० ६ मं० ५४ सू०।

हे पार्थिव पूषादेवता! आप अनुग्रह कर हमें वैसे तत्त्वज्ञविद्वान् के समीप ले चलिए, जो सदा सहजभाव (अञ्जसा) से तत्त्वों का अनुशासन (स्वरूपविश्लेषण) किया करता है (करने की क्षमता रखता है), एवं जो–'इदमित्थमेव नान्यथा'–यह ऐसा ही है, इस प्रकार सन्देहरहित घोषणा करता है।

नुगत–मायाबलनिबन्धन असंख्य ही सीमाभाव आविर्भूत होते रहते हैं, एवं एक निश्चित अवधि के अनन्तर 'संयोगा विप्रयोगान्ता' न्याय से उसी परात्परसमुद्र में इन सीमाभावों का उसी प्रकार तिरोभाव–विलयन भी होता रहता है, जैसे कि अनन्ताधार पर प्रतिष्ठित अनन्त पार्थिव धरातल पर ऋतुकालानुबन्ध से अनन्त असंख्य उद्भिज्ज होते रहते हैं, एवं कालपरिपाकान्त में उसी अनन्त धरातल में विलीन भी होते रहते हैं। किंवा जैसे अनन्त समुद्राधार पर तरङ्गें आविर्भूत तिरोभूत होतीं रहतीं हैं। मायाबलोदय के कारण परात्परब्रह्मधरातल पर उदीयमान मायामय सीमित अनन्त भाव ही उस परात्पर-वनब्रह्म में समाविष्ट 'वृक्षब्रह्म' हैं, जिसे विज्ञानभाषा में 'पुरुषब्रह्म' कहा गया है। अनन्त परात्परब्रह्मरूप महावन में मायामय (मायाबलसीमित) अनन्तपुरुष रूप अनन्त ही महावृक्ष समाविष्ट हैं, जिन अनन्त वृक्षों को एक विशेष रहस्य के आधार पर 'अश्वत्थवृक्ष' नाम से व्यवहृत किया गया है। विद्वद्दृष्ट्या इस आनन्त्य के दर्शन कर हम अपना जीवन इस प्रकार धन्य–कृतकृत्य बना सकते हैं।

(४६)—योगमायासमावृत आत्मा—

अचलगिरिप्रसेकघन लक्षण–अतएव अलक्षण स्वयं परात्परब्रह्म आत्यन्तिकरूप से–अत्यन्तनिविड़ रूप से सर्वात्मना अनन्त, अतएव दिग्देशकालानवच्छिन्न, अतएव वाङ्मनसपथातीत–अतएव च अचिन्त्य–अमूर्तमय–अनिर्वचनीय–अविज्ञेय। इस अनन्त परात्पर के अमुकामुक असंख्य–अनन्त–प्रदेश असंख्य–अनन्त मायाबलों के उदय से (बलदृष्ट्या ही, न तु रसदृष्ट्या) सीमित बनते हुए, इन माया पुरों से सीमित–वेष्टित के कारण 'पुरि–शते' निर्वचनानुसार 'पुरुष' अभिधा से समलङ्कृत बनते हुए 'वृक्ष' रूप में परिणत हो गए। कितने वृक्ष ?। नेति होवाचाय भावुक। असंख्य मायाबलों की गणना करने में कौन मायागर्भित मानव अद्यावधि समर्थ हुआ है ?। यदि मायाबल–असंख्य–अनन्त हैं, तो मायिक वृक्षात्मक पुरुषब्रह्म भी असंख्य–अनन्त ही मानें जायँगे। इन असंख्य–अनन्त पुरुषब्रह्मों में से केवल एक मायानुगत एक पुरुषब्रह्म को ही अपना लक्ष्य बनाइए, जिसे शास्त्रों ने 'दुर्विज्ञेय' माना है। महामायाबलान्वित इस एक पुरुषब्रह्म की स्वयं की अवयवरूपा असंख्य–अनन्त मायाभवा योगमाया–परम्परा के आनन्त्य से सम्बन्ध रखने वाली अनन्त विभूति को ज्ञानगम्या बनाने का प्रयास कीजिए, जो पुरुषविभूति–'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' रूप से अस्मदादि भावुकों के लिए तो अचिन्त्या ही बनी रहती है।

(५०)—हृदयबलाविर्भाव—

महामाया एक वैसा महाबल है, जिसने परात्परब्रह्म के अमुक प्रदेश को सीमित बना कर तद्रूप परात्पर को (परात्पर के मायाशबलित तत्प्रदेशमात्र को) 'पुरुष' अभिधा से संयुक्त कर दिया है। महामायाबलोदय के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही महामायावच्छिन्न रसबलात्मक मायिक पुरुषब्रह्म में (तदनुगता

ऋग्वेदश्रुति ने प्रश्न किया, तैत्तिरीयश्रुति ने समाधान किया। यहाँ असंख्य–अनन्त बड़े–छोटे–वृक्ष समाविष्ट रहते हैं, उसे ही वन (अरण्य–जङ्गल) कहा जाता है। आइए ! सर्वप्रथम इस अनन्त वृक्षसमाकुलित गहन–गम्भीर–ब्रह्मवन में ही आपका प्रवेश कराया जाय। बतलाया गया है कि, सृष्टि के मौलिक तत्त्व, किंवा मूलकारण ''आभू–अभ्व' नाम से प्रसिद्ध है, जो क्रमशः–'रस–बल' नामों से भी प्रसिद्ध हुए हैं। नित्य–शान्त–व्यापक तत्त्व 'आभू' है, यही 'रससमुद्र' है। सर्वथा अशान्त आप्य तत्त्व 'अभ्व' है, यही 'बलोर्म्मि' है। जो स्थिति, जो जैसा स्वरूप उच्चावचभावापन्न तरङ्गसमाकुलित एक आपूर्य्यमाण, अतएव अचलप्रतिष्ठ अनन्त समुद्र का है, लोकदृष्ट्या उदाहरण के लिए यदि ज्ञानमात्रमाध्यम से ठीक वही स्वरूप थोड़े समय के लिए उस रस–बलतत्त्वसमष्टिरूप 'ब्रह्मवन' का समझ लीजिए।

(४८)—मायाबलस्वरूपपरिचय—

रसतत्त्व शान्तसमुद्र से समतुलित है, तो बलतत्त्व अशान्त ऊर्म्मियों (लहरों–तरङ्गों) से समतुलित है। एक 'नित्यशान्त' है, तो दूसरा 'नित्यअशान्त' है। नित्यअशान्तिगर्भित–नित्यशान्तिस्वरूप सर्व बलविशिष्ट रसैकघन उस महा अनन्त समुद्र को ही वैज्ञानिकों ने 'परात्परब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया है, जिसे मनु ने मनुस्वरूपप्रतिपादक वचन में 'शाश्वतब्रह्म' नाम से, एवं गीता ने–'शाश्वतधर्म्म' नाम से लक्ष्य बनाया है। रससमुद्रात्मक इस परात्परब्रह्म के असीम धरातल पर अनन्त–असंख्य–रूप से समाविष्ट क्षणिक प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील–अतएव सामुद्रतरङ्गसमतुलित बलतत्त्वों में से एक विशेष प्रकार का सर्वबलप्रधान–सर्वबलाधारभूत बलविशेष ही 'मायाबल' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसका तात्त्विक स्वरूप सृष्टिसर्गव्याख्या के नैगमिक दृष्टिकोण की उपेक्षा करदेने वाले वर्त्तमान दार्शनिकों ने केवल 'मायावाद' कहकर उसके वास्तविक तत्त्वबोध से अपने आप को पराङ्मुख बनाते हुए भारतीय श्रद्धालु प्रजा को महाव्यामोह का अनुगामी बना डाला है।

अनन्तरससमुद्राधारेण प्रतिष्ठित अनन्तबलाधारभूत 'मायाबल' का एकमात्र काम्य है अपने अभिव्यक्त भावापन्न रसप्रदेश को (परात्पर प्रदेश को ०) सीमित कर देना, अपरिच्छिन्न को परिच्छिन्न बना देना, अमित को मितभाव प्रदान कर देना, व्यापक को व्याप्यभावानुगामी बना देना। अपनी सहज 'क्षोभवृत्ति' के कारण यह सीमाभावप्रवृत्त मायाबल भी असंख्य है। अनन्त–निःसीम–व्यापक–परात्परब्रह्म के निःसीम धरातल पर अमनुद्बुद्वत् आविर्भूत–तिरोभूत–होते रहने वाले इन असंख्य मायाबलों से तत्तत्परात्परप्रदेश

---

० दिक्–देश–काल–भावानुगत ये सम्पूर्ण सीमाभाव सम्वत्सरचक्रानुगत (– सौर–चान्द्र–पार्थिव सम्वत्सरानुगत) सृष्टिसर्गों से ही सम्बद्ध है। अतएव यहाँ इन सब दिग्–देशादि भावों का समावेश सर्वथा निषिद्ध है।

(५२)—दुरधिगम्या प्रश्नावली—

आस्तिकों में एसा प्रवाद सुना गया है कि, सृष्टि का मूल क्या है ?, प्रश्न ही दुरधिगम्य है। यह सब तो भगवान् की माया है। इसे कौन जान सकता है, इत्यादि। अपनी भावुकतापूर्णा आस्तिकता के अनुग्रह से हम भी भगवान् की इस माया के भरोसे ही इस उत्तरदायित्व को छोड़ते हुए थोड़ी देर के लिए–'योऽस्याध्यक्ष परमे व्योमन् सोऽङ्ग, वेद यदि वा न वेद, इस अन्यघोषणा पर विश्राम कर लेते हैं। साथ ही वर्त्तमान दृष्टिकोण की मान्यता का समादर करते हुए हम भी नितान्त भावुकतापूर्णा–लोकवत्त्वलीलाकैवल्यम्' (व्याससूत्र) रूप से ऊर्ध्वग्रीव मन कर उच्चस्वर से इसी घोषणा के गतानु गतिक मन जाते हैं कि–"ना, बाबा ना। यह तो सब भगवान् की लीला है। इसे कौन जान सका है"। अथवा तो हम भी आदिदेवोपासक भक्तराज पुष्पदन्त की उसी श्रद्धापूर्णा घोषणा के अनुगामी बन जाते हैं, जिसका आविर्भाव हो पड़ा है सम्भवतः श्रुति के–'किं स्विद्वन' क च स वृक्ष आस०–किंस्विदासी दधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्–कथासीत्०' इत्यादि वचनों के आधार पर इस रूप से कि— 'किमीहः किंकाय–स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम्। कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगत'। इत्यादि इत्यादि सभी घोषणाओं को हम श्रद्धापूर्वक मान्यता प्रदान कर रहे हैं उस औपासनिक दृष्टिकोण के माध्यम से, जहाँ सचमुच भगवान् की लीला ही अनन्य अशरण-शरण है। एवं मनोऽनुगता भावुकता, भावुकतानुगता मानस अनुभूति ही जहाँ सब कुछ संसाधन कर लेने में तुष्टि का अनुभव कर लेती है, भले ही यहाँ 'वेदन'लक्षणा तृप्ति का प्रवेश, वास्तविक सत्ताधिरूढ बुद्ध्यनुगत पूर्णता का प्रवेश आत्य न्तिकरूप से अवरुद्ध ही क्यों न हो।

लक्ष्य है प्रक्रान्तस्थल में यह विज्ञानकाण्ड, जहाँ केवल श्रद्धा–भक्ति–उपासना–लीला घोषणा–आदि शब्दमात्र सहायक नहीं हो सकते। अवश्य ही इस नित्यकार्यानुबन्ध से हमें निश्चयेन कारणतावाद के समन्वय का अन्वेषण करना ही पड़ेगा। और उस दशा में–'ये सब कुतर्क हैं, अनतिप्रश्न हैं,' इत्यादि *भावावेशपूर्वक हम इन प्रश्नों के साथ कदापि गजनिमीलिका न कर सकेंगे, नहीं करनी चाहिए, नहीं* की है विज्ञानपाथोदत्तशावगाहननिष्णात परमवैज्ञानिक महामहर्षियों ने।

(५३)—लोकवत्त्वलीलाकैवल्यम्—

इसीलिए तो पुनः हमें यह कहना पड़ रहा है कि, केवल 'लीला' कह कर इस लीला का योहीं स्मरण नहीं कर लेना है। अपितु स्वयं को इस भगवल्लीलादेश में महर्षियों की विज्ञानदृष्टि की उपासना के माध्यम से प्रविष्ट करना है। तदनुप्रवेश कारणान्वेषण में प्रवृत्त होना है। यदि यह लीला कोरी लीला ही होती, तो कभी–'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि०'–सोऽकामयत'–'तदैक्षत'–'एकोऽहं बहुस्याम्'– इत्यादि कारणतामूला घोषणाएँ अभिव्यक्त ही न होतीं। हुई हैं, विस्तार से हुई हैं। अतएव कारणतावाद उपेक्षणीय नहीं है। जिसे अपने भावावेश में आकर उपेक्षित करते हुए दुर्भाग्यवश हमने स्वयं को सब ओर से उपेक्षित-तिरस्कृत–दीन–हीन–दासानुदास प्रमाणित कर लिया है। पुनः हमें कहना ही पड़ेगा

मायासीमा—मायामण्डल—मायापुर—के गर्भ में) 'हृदि अयं हृदयम्' के अनुसार एक दूसरे मनुष्य 'हृदय-बल' नामक महाबल का आविर्भाव हो पड़ा। निःसीम—असीम—व्यापक में केन्द्रभाव नहीं हुआ करता, किंवा वह सम्पूर्ण—सर्वस्वरूप से ही केन्द्ररूप ही है। यह अपने कण—कण से केन्द्रमूर्त्ति है, अतएव उस असीम का कोई नियत केन्द्र बिन्दु मानना असङ्गत बन जाता है। अथवा यों कह लीजिए कि निःसीम तत्त्व की प्रतिबिन्दु—बिन्दु ही केन्द्रात्मिका बनी रहती है, जिस ऐसे केवल केन्द्रभाव का सखण्डिलक्षणा सृष्टि से कोई सम्पर्क नहीं रहता। महामायोदय से तदवच्छिन्न प्रदेश सीमित बना, इस सीमाभाव के उदित होते ही मायावेष्टित रसबलात्मक परात्पर (जिसे अब हम मायापुरसम्बन्ध से परात्पर न कह कर 'पुरुष' ही कहेंगे) स्वरूप सीमित पुर के हृदय में (केन्द्र में) हृदय (हृदयबल—हृद्धक्तिरूप विशेषबल) आविर्भूत हो गया, किंवा सर्वकेन्द्रता का स्थान इस पुरुषात्मक परात्पर में नियमित—एक केन्द्रभाव ने ग्रहण कर लिया। इस प्रकार अब पुरुषब्रह्म में 'परिधिकेन्द्र' इन दो सापेक्ष भावों का आविर्भाव स्वत सिद्ध बन गया। परिधिमण्डल बना 'शरीर' एवं केन्द्र भाव बना 'आत्मा'। केन्द्रावच्छिन्न रसबलात्मक यह पुरुषात्मा ही 'सुप्रसिद्ध यह 'श्वोवसीयस्' नामक 'अव्ययात्ममन' कहलाया, जिसका यशोगान आरम्भ से उपस्तुत है। परिधि, तथा केन्द्रभावापन्न मनोमय यही मायिक पुरुष (महामायावच्छिन्न परात्पर) 'अव्ययपुरुष' कहलाया, जिसकी षोडशात्मिका पञ्चकलाओं का अनुपद में ही स्वरूपदिग्दर्शन कराया जाने वाला है।

(५१)—कामना का मूल—

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही तो कामना, किंवा इच्छा का प्रादुर्भाव हुआ करता है। महावनात्मक परात्परब्रह्म अनन्त है, व्यापक है। उसके लिए उसकी अनन्तता के कारण, व्यापकता के कारण कुछ भी तो अप्राप्त नहीं है, अतएव उसे 'अप्राप्तवस्तुसम्प्रहानुगता कामना'लक्षणा कामना से सर्वथा असस्पृष्ट ही घोषित किया जायगा। वह अपने अहृदय, किंवा सर्वहृदयमान से मनोभाव से पृथक् है, अतएव मनोऽनुगत कामभाव से पराःपरावत। इधर मायोपाधिक, अतएव नियमित (एक) हृदयभावानुगत, अतएव मनोमय बन हुए पुरुषब्रह्म म प्राय अपनी उस सहज अनन्तता का व्यापात उपस्थित हो पड़ा है, उस सहज स्वानुगत (रसानुगत) भूमाभाव से यह पुरुष मायापुर के सीमाबन्धन के कारण पराङ्मुख-सा प्रमाणित हो चला है जो अनन्तता इसका स्वरूपधर्म है। अपने इसी सहज अनन्त व्यापकत्वानुगत भूमालक्षण भूमाभाव में पुनः परिणत होने की कामना का आविर्भाव इसका सहज धर्म बन जाता है। यही नैसर्गिकी पुरुष कामना 'आत्मकामना' कहलाई है जिसका श्रुति ने अपनी भाषा में—'एकोऽहं, बहु स्याम्' इत्यादि शब्दों में अभिनय किया है। यही इस पुरुष का मनोमय यह कामात्मक—प्रथम 'रेत' (परिणाम—सृष्टिबीज) है, जिसकी 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि 'मनसो रेत' प्रथमं यदासीत्' रूप से पूर्व में आदरपूर्वक उपवर्णन हुआ है, जिसे आधार मान कर हमें यहाँ कुछ थोड़ा और भी कुछ समझ लेना है।

समाधान होता है प्रश्न का। प्रश्न होता है कल्पित कारणतावादपरम्परा में। जो स्वत एव अपने सहज भाव से अपनी मूलकारणता के विश्लेषण क स थ-साथ सर्वथा सहजभाव से ही मायाबलोदय की कारण भूता प्रेरणा के कारण का भी स्वरूप विश्लेषण कर रहा है, वहाँ अपनी ओर से कारणता के कृत्रिम प्रश्न का उत्थान करना, और पुन उसके समन्वय के लिए व्यग्र बन कर इतस्तत कारणपरम्परा के अन्वेषण के लिए आकुल–व्याकुल बना बन जाना, एवं इसमें अन्ततोगत्वा असमथ बन कर स्वयं ही उस सवथा–ज्ञात–नित्यसिद्ध सहज कारणता को अज्ञात कह कर उसे अचिन्त्य अमतक्य अवक्य मानने-मनवाने की शून्य घोषणा कर बैठना अवश्य ही हमारी दृष्टि में वैसा कारण है, जिसे हम अवश्य ही अचिन्त्य कह सकते हैं। इसी लिए उपासनाकाण्डानुगता पुष्पदन्तादि की घोषणा हमारी दृष्टि में तो सर्वथा चिन्त्य (मीमांस्य–उपेक्षणीय) ही मानी जायगी। अब प्रश्न रह जाता है–'सोऽङ्ग वेद, यदि वा न वेद' इस घोषणा का, जिसकी उपेक्षा करना असम्भव है। अत तत्सम्बन्ध में ही अपनी भावुकता अभिव्यक्त कर देना अनिवार्य्यरूप से शेष बना रह जाता है।

(५५)–सामयिक समाधानोपक्रम—

उक्त शेप प्रश्न का समाधान यद्यपि पूव के (१८१ पृ०, तथा १५२ पृ० के) परिच्छेदों में किया जा चुका है। तथापि यहाँ भी एक विशेष दृष्टिकोण से उसी समाधान का सिंहावलोकन कर लिया जाता है। जो नैष्ठिक विद्वान्–निगमशास्त्र के–'अग्रणो वा विजये महीमध्यम्'–'एतावानस्य महिमा–अतो ज्यायांश्च पूरुष'–'अपि वा स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित'–'महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे' इत्यादि महिमा सिद्धान्तों के अन्तस्तल का स्पर्श कर चुके हैं, वे ब्रह्म की विश्वसर्गमूलानुगता 'महिमा' के तात्त्विक स्वरूपसमन्वय के आधार पर सभी कारणपरम्पराओं का सर्वात्मना सुसमन्वय करने में समथ हैं। इसी महिमासिद्धान्त के आधार पर वेदान्तनिष्ठा का 'अविकृतपरिणामवादात्मक यह विवर्त भाव' आविर्भूत हुआ है, जो महिमानुगता नैगमिक सापेक्षव्याख्या से पराङ्मुख बनता हुआ यद्यपि सर्वात्मना मूलकारणतावाद का सहजसमन्वय करने में प्राय असमथ ही रहा है। अतएव भावुक भक्तसमाज की भाँति यद्यपि उसने भी दुर्भाग्य से गतानुगतिकता का आश्रय लेते हुए सर्वथा भावुकतापूर्ण आवेश में–'लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्' यह लीलाघोषणा करते हुए ही कारणतावाद की सहजरहस्याथनिष्पत्ति का लीलासमरण ही कर दिया है। तथापि भक्तिकाण्ड की भगवल्लीला की अपेक्षा वेदान्तनिष्ठा की लोकवत्लीला महिमभाव के स्वाजितरूप विवर्त्तवाद, किंवा अविकृतपरिणामवाद के कारण महिमभाव से प्रायतः समन्वित रहती हुई समाधानाभास, किंवा सामान्य समाधान बनती हुई भावुक भाविक–दर्शनभक्त भावुक की तुष्टि का कारण प्रमाणित हो सकती है, जैसा कि उत्तरखण्ड की दार्शनिक मानव मीमांसा में विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है। यहीं हम इस सहज कारणतावाद की मीमांसा विस्तार से करने वाले हैं। अतएव यहाँ सन्दर्भसङ्गति की अपेक्षा से केवल इसी सामयिक समाधान पर हमें विश्रान्त हो जाना पड़ेगा कि—

कि, अभी बात कुछ और भी समझना शेष रह गया है। यदि कारणतावाद की ऐसी प्रबल–उच्च घोषणा है–तो फिर–'सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद०' का समन्वय कैसे और किस आधार पर ? । यही वह 'शेष' है, जिसे 'शेषप्रश्न' ही बना रहने दिया जाता, तो श्रेयःपन्था था। किन्तु जब आग्रह है तो इसका समन्वय भी प्रासङ्गिक बन ही जाता है।

(५४)–महाप्रश्नजिज्ञासा—

सभी कारणपरम्पराओं का सहजरूप से समन्वय सम्भव बनाया जा सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध में समुपस्थित इस एक महाकारण का समन्वय सम्भव प्रतीत नहीं हो रहा कि, सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्परब्रह्म जबकि असीम है, अतएव सर्वप्राप्त–सर्वाप्त, अतएव च निष्काम है, तो उसमें सर्वप्रथम सुप्त मायाबल को किसने उदित किया ? । "मायाबलोदय हो गया, इससे असीमप्रदेश सीमितप्रदेश बन गया। इस सीमाभाव के कारण हृदयबल उत्पन्न हो गया। तदवच्छिन्न रसबलात्मक पुरुष मनोमय बनता हुआ कामना का भी सर्जक बन गया। एवं मनोरेतोभूत कामरूप शुक्र से संसार का निर्माण भी हो गया"–यहाँ तक तो फिर भी कारणतावाद यथाकथञ्चित् बुद्धिगम्य बनाया जा सकता है, बन सकता है। किन्तु बिना कामना के कोई भी व्यापार सम्भव नहीं, बिना मन के कामना सम्भव नहीं, बिना हृदय के हृत्प्रविष्ट मन की सम्भावना नहीं। बिना सीमाभाव के हृदय का आविर्भाव सम्भव नहीं। बिना माया बलोदय के सीमाभाव सम्भव नहीं। बिना प्रेरणा के मायाबलोदय के सीमाभाव सम्भव नहीं। बिना प्रेरणा के मायाबलोदय सम्भव नहीं। एवं इच्छा किंवा कामना के प्रेरणारूपा क्रिया सम्भव नहीं, क्योंकि–'अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित, यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' इत्यादि क्रियासिद्धान्त से सभी सुपरिचित हैं। कामना हो, तब प्रेरणा हो। प्रेरणा हो तब मायोदय हो। तदनन्तर सीमा हृदय–मन का प्रादुर्भाव हो। तदनन्तर कामना का उदय सम्भव बने। एसी स्थिति में प्राथमिक मायोदय की कारणता का समन्वय कैसे सम्भव बनाया जाय, जबकि–तत्सम्बन्धी सभी कारणतावाद 'अन्योऽन्याश्रयाणि कार्य्याणि न प्रकल्पन्ते' न्यायानुसार असम्भव ही सम्मानित बन रहे हैं। इस महा भ्रमात्मक महाकारण का इससे अतिरिक्त और कोई समाधान सम्भव बन ही नहीं सकता कि,–"एसे कारण की जिज्ञासा करना सर्वथा निष्कारण है, निर्मूल है, कुतर्क है। मानव तो क्या, स्वयं उस कारणाधिष्ठान जगदीश्वर को भी इस मूलकारणता का रहस्य विदित है, अथवा नहीं ?, सन्देह है। सम्भवतः मूलकारण की इसी असमर्थता के आधार पर ही ऋषि ने कहा होगा कि–'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्–सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद'। फिर पुष्पदन्त ने जो इस सम्बन्ध में–'कुतर्कोऽयं कांश्चिन् मुखरयति मोहाय जगतः' घोषणा की, उसे केवल उपासनाक्षेत्र की घोषणा कहने-मात्र से विज्ञानवादी इस भावुक ने ही कौनसा पुरुषार्थ-साधन कर लिया ? । कर सकता भावुक इस प्रश्न का समाधान ? ।

नहीं। अथवा नहीं। इसलिए 'नहीं, नहीं' कि, इस प्रश्न का हमारी भावुकता के क्षेत्र में समाधान नहीं है। अपितु इसलिए 'नहीं कि, इस प्रश्न की कारणता का प्रश्न ही नहीं बन रहा।

आरम्भ कब हुआ ?, किसने किया ?, कब तक रहेगी ?, इत्यादि रूप से कृत्रिम प्रश्नपरम्पराओं के आधार पर इनके कार्य्यकारणात्मक कृत्रिम समाधानों को ही अपना सबसे बड़ा पुरुषार्थ घोषित करते रहते हैं।

(५८)—कृत्रिम कार्य्यकारणवाद—

कृत्रिम-कार्य्यकारणवाद केवल प्रत्यक्षदृष्टि का ही उत्तेजक बना करता है। शाश्वत विश्वसर्ग के सम्बन्ध में तो स्वाभाविक वह सहज कार्य्यकारण ही आधार बना रहता है, जिसके ज्ञान क्रिया अर्थरूप शक्तिभाव सहजरूप से बिना क्यों ? कैसे ? के सुसमन्वित हैं। सहजकार्य्यकारणभावों से अनुप्राणित सहजसृष्टि के मूलस्वरूप की उपासना-अनुशीलन ही भारतीय आर्षमहर्षियों की दृष्टि में प्रधान लक्ष्य रहा है। इस मूलतत्त्वान्वेषण-अनुशीलन से ही सभी कार्य्यकारणरहस्य सहजरूप से सगस्वरूपानुपात से सुसम न्वित होते रहते हैं। कृत्रिम कार्य्यकारणवाद उस स्वाभाविक सहजकार्य्यकारणवाद के समतुलन में कोई महत्त्व नहीं रखता, इसी दृष्टिकोण का अपनी सहजभाषा में स्पष्टीकरण करते हुए महर्षि ने कहा है—

> न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते।
> पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल क्रिया च ॥

इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, सृष्टि के सम्बन्ध में यहाँ कार्य्यकारणभाव की मीमांसा हुई ही नहीं है। हुई है, विस्तार से हुई है, महता समारम्भसे हुई है। इसी आधार पर कालगणनात्मिका वह युग धर्मव्यवस्था व्यवस्थित हुई है, जिसके नैगमिक-आगमिक (पौराणिक) मौलिक-रहस्यज्ञान से परिचित न होने के कारण कितने एक भारतीय विद्वानों को भी व्यामोह हो गया है, जिसके फलस्वरूप उस अनन्त कालगणना के सम्बन्ध में उनके मुख से भी ये श्रद्धा-आस्थाशून्य भावुकतापूर्ण उद्गार विनि सृत हो पड़े हैं कि—"एतत् सर्वं पुराणमिदं बोध्यम्"(भास्कराचार्य्य)। मानों इनकी दृष्टि में पौराणिक कालगणना केवल आलङ्कारिक वर्णन ही हो, जैसाकि पारिभाषिक ज्ञान से वञ्चित अन्य अभारतीय पुराणशास्त्र के सम्बन्ध में इस प्रकार की शून्यकल्पनाओं के द्वारा अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी बनाते रहते हैं।

(५९)—सृष्टिसर्गमीमांसा—

युगानुगता कालगणना का सृष्टि के साथ सम्बन्ध अवश्य है, किन्तु उस सृष्टि के साथ, जिसका सौरसम्वत्सरात्मक 'पुराणाकाश' से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। पुराणाकाश के सम्बन्ध से ही 'पुराण' नाम से प्रसिद्ध यह आर्ष्यसर्वस्वशास्त्र सौरसर्ग, तद्गर्भीभूत पार्थिवसर्ग, एवं तद्गर्भीभूत चान्द्र सर्ग, इन त्रिविध देवमानवसर्ग-भौतिक अचेतनसर्ग-चतुरराविध चान्द्र चेतनसर्ग, इन तीन सर्गों को ही मुख्यरूप से अपना प्रतिपाद्य विषय बनाता है। देव, और मानव, दोनों का कालापेक्षया सौरसम्वत्सर चक्र से सम्बन्ध है, जिसे हम 'मनःसर्ग-आत्मसर्ग'-भी कह सकते हैं कि जिसका—"पितृभ्यो देवमानवाः" (मनुस्मृति ३।२०१) मे समह हुआ है, जो कि वेदान्तदर्शन का मूलप्रतिपाद्य विषय माना गया है।

५६)—ब्रह्म की सहज महिमा

नित्य शान्त रससमुद्र में तरङ्गरूप से प्रतिष्ठित नित्य अशान्त क्षणिक बलतत्त्व की सहज महिमा है— इसका सहज रूप से 'अव्यक्त—व्यक्त—अव्यक्त—पुनः—व्यक्त—पुनः—अव्यक्त' इस शाश्वत धाराक्रम में प्रवाहित बने रहना, जिस के लिए न किसी सीमाभाव की अपेक्षा है, न हृदयबल अपेक्षित है, नापि मनस्तन्त्र अपेक्षित है, नापि या कामना अपेक्षिता है। सभी कुछ अपेक्षित है, जो कुछ सर्गात्मक व्यक्तरूप के लिए अपेक्षित होना चाहिए। कुछ भी अपेक्षित नहीं है, जो कुछ लयात्मक अव्यक्तरूप के लिए अपेक्षित नहीं होता। दूसरे शब्दों में कुछ भी अपेक्षित नहीं है सहज व्यक्त रूप के लिए, एवं सब कुछ अपेक्षित है सहजरूप से व्यक्त होने के लिए। अव्यक्त को व्यक्तरूप में परिणत होने के लिए सभी कारण अपेक्षित हैं, एवं व्यक्त को अव्यक्तरूप में परिणत होने के लिए कोई कारण अपेक्षित नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि, व्यक्त के अव्यक्त रूप में परिणत होने के लिए सभी कारण अपेक्षित हैं, एवं अव्यक्त के व्यक्त रूप में परिणत होने के लिए कोई कारण अपेक्षित नहीं। अथवा तो यह भी कहा जा सकता है कि—अव्यक्त व्यक्तरूप में परिणत होता है कारणसमुदाय को मूल बना कर, एवं व्यक्त के अव्यक्तरूप में परिणत होता है सभी कारणों को मूल बना कर। इसी विलक्षणता के कारण ही तो यह तत्त्व दुरधिगम्य बना हुआ है। इसी दुरधिगम्य दृष्टिकोण के कारण ही तो वेदान्तनिष्ठा का विवर्त्तवाद आज भावुक मानव की कृत्रिम—स्खलितप्रज्ञा के लिए एक जटिल समस्या प्रमाणित हो रहा है।

(५७)—भ्रान्त ऐतिहासिक दृष्टिकोण—

स्थिति वास्तव में यह है कि, शत-शत शताब्दियों के प्रज्ञास्खलनाभ्यास के निग्रहानुग्रह से नितान्त भावुक बना हुआ मानव सहजभाव को सर्वात्मना विस्मृत कर उस कृत्रिमता पर आरूढ़ बन गया है, जिसका मूलाधार बन जाती हैं—'क्यों—कैसे—कहाँ—कब—किन्तु—परन्तु—यद्यपि—तथापि—' आदि भावुकतापूर्ण मरोचनाएँ। इसी भावुकता के आधार पर उस भावुकतापूर्ण ऐतिहासिक दृष्टिकोण का आविर्भाव हो गया है, *जिसमें तत्त्ववादचर्चा तो है सर्वात्मना असस्पृष्ट, एवं निरर्थक एवंविध चर्चाओं का है* आग्रहपूर्वक समावेश कि, "अमुक कब उत्पन्न हुआ ?, अमुक के समय में सामाजिक—पारिवारिक—नैतिक—व्यवस्था कैसी थी ?, उस युग में लिपि का प्रचलन था, अथवा नहीं ?, वेशभूषा कैसी थी ?, भाषा का क्या स्वरूप था ?, आवास—निवास—अशन—पान—गमन—आगमनादि कथंभूत थे ?, इत्यादि। मानव के सहज जीवन में क्या अतिशय उत्पन्न हो सकता है इत्यादि भावप्रश्नों से ?, कौनसी तत्त्वचर्चा गतार्थ बन जाती है आत्मबुद्धि—निःश्रेयसविहीना कपल मन शरीरमात्रप्रधाना इस भावुकता से—भावुकतापूर्ण आत्मचर्चा से ?, प्रश्न का समाधान तो उन इतिहासान्वेषकों से ही करना चाहिए। जिस प्रकार मानवेतिहास के सम्बन्ध में निरर्थक दृष्टिकोणपरम्पराओं का समावेश हो रहा है, एवमेव सृष्टिविज्ञान में भी यही दृष्टिकोण समाविष्ट है। ब्रह्म के महिमालक्षण विवर्त्तवाद के स्वरूपबोध से असस्पृष्ट ये ऐतिहासिक अपनी दिग्—देश—कालानुगता भूतदृष्टि के माध्यम से प्रकृतिसिद्ध सृष्टि—सर्ग के सम्बन्ध में भी 'सृष्टि का

मीमांसा एवं तदनुगता इतिहासमीमांसा सर्वात्मनैव अभिभूत हो जाती है, जो कि वेदान्तनिष्ठा का सुप्रसिद्ध दिग्देशकालानवच्छिन्न अविकृतपरिणामवादात्मक विवर्त्तवाद माना गया है। तदित्थं–कार्य्यकारणात्मिका हेतुवादसम्मता ऐतिहासिकदृष्टिकोण–निबन्धना मीमांसा का एकमात्र लक्ष्य शेष रह जाता है, त्रिविध सर्गों में से सर्वान्त का केवल पार्थिव सर्ग–लोष्ठ–पाषाणादि भूतसर्ग। इनका इतिहास अवश्य ही क्यों, ?, कैसे ?, कब ?, कहाँ ?, कबतक ?, इत्यादि ऐतिहासिक प्रश्नपरम्पराओं का विषय बन सकता है, बनना चाहिए, इसीलिए बना भी है। किन्तु ?।

(६१)—सम्वत्सरचक्र की असमर्थता—

स्पष्ट हो जाना चाहिए इसी त्रिविधसर्ग के आधार पर ऐतिहासिक मर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाली जिज्ञासा का वास्तविक मर्म्म। किन्तु जो इस दृष्टिकोण से एकान्ततः अपरिचित हैं, वे कदापि इस तथ्य को हृदयङ्गम कर ही नहीं सकते अपनी भूतविज्ञानानुगता जड़दृष्टि के निग्रहानुग्रह से। जब कि सम्वत्सर कालानुगत त्रिविध आगमीय पौराणिक सर्ग में भी केवल अन्त के पार्थिव जड़ अचेतन भूतसर्ग के साथ ही दिग्देशकालानुगता कार्य्यकारणजिज्ञासा का सम्बन्ध है, तो उस लोकातीत सुसूक्ष्मतम अव्ययसर्ग के सम्बन्ध में कालानुगता कार्य्यकारणता की जिज्ञासा करना, एवं तत्समाधान की आशा-प्रतीक्षा करना, सो भी मनोऽनुगता अनुभूतिलक्षणा सर्वथा स्थूलतमा प्रत्यक्षभावापन्ना भूतदृष्टि के माध्यम से। इससे अधिक मानव की स्वप्रतारणा और क्या होगी ?।

[६२]—सर्गाधिष्ठाता परमेष्ठी प्रजापति—

तीनों साम्वत्सरिक सर्गों का मूलाधार माना गया है भृग्वङ्गिरोमय वह आपोमय पारमेष्ठ्यसर्ग,–जिसके 'सरस्वान्' नामक महासमुद्र में पुराणशास्त्र ने पार्थिव–चान्द्र–सौर–सम्वत्सराधिष्ठाता त्रैलोक्यभाग्यविधाता महामहिम सहस्रांशु सूर्य्य की वही स्वरूपसत्ता मानी है, जो कि स्वरूपसत्ता अनन्त समुद्र में बिन्द्वात्मक एक बुद्बुद की मानी गई है। अतएव आगम (पुराण) ने एक स्थान पर सूर्य्य को 'बुद्बुद' (बुलबुला) नाम से भी व्यवहृत किया है। इसी आधार पर निगम ने–'द्रप्सश्चस्कन्द' (ऋक्संहिता १०।१७।११)–'अपा गम्भन्त्सीद' (शत० ७।५।२।८।) इत्यादि रूप से सूर्य्य को आपोमय परमेष्ठी प्रजापति का 'द्रप्स' * माना है। सौरब्रह्माण्ड को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला परमेष्ठी ही 'पितृसर्ग' का मूलाधिष्ठान माना गया है जिसके सम्बन्ध में आगमशास्त्र तो तटस्थ है, किन्तु निगम ने विस्तार से इसके

* स्तोक–पृषत्–द्रप्स–आदि भेद से जलबिन्दु की अनेक अवस्थाएँ मानी गई हैं। यही स्थूलबिन्दु को ही 'द्रप्स' कहा गया है, जिसके लिए प्रान्तीय भाषा में–'टपका' शब्द प्रसिद्ध है, एवं जिसके सम्बन्ध में सहीवरसिक 'बरस निसक घन यही-यही यूँ बनर्ते, ऐसो गहराव, जैसो पुर गहरावतो, अब तोसों डरूँ नाय, तोरे पांव परूँ नाय, वे तो दिन व्यतीत भये, आमें तू डरावतो इत्यादि रूप से उपवर्णन किया करते हैं।

धातुपाषाण–आदिलक्षण पार्थिवसर्ग जड़सर्ग (अचेतनसर्ग) कहलाया है, जो वैशेषिक दर्शन का मूलप्रतिपाद्य विषय माना गया है। तमआदिस्तम्बान्त–चतुर्दशविध चान्द्रसर्ग चेतनसर्ग कहलाया है, जो सांख्यदर्शन का मूलप्रतिपाद्य विषय माना गया है। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त चतुर्दशविध चान्द्रसर्ग का चान्द्रसम्वत्सरचक्र से सम्बन्ध है, जिसे हम 'चेतनसर्ग' कह सकते हैं, 'प्राणसर्ग' कह सकते हैं, जिसके सत्त्व–रज–तमोविशाल तीन अवान्तर वर्ग माने गए हैं, एवं जो सांख्यदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना गया है। पाषाण-लोष्ट–धातुधातु आदि सर्ग का पार्थिव सम्वत्सरचक्र से सम्बन्ध है, जिसे 'अचेतनसर्ग'–'भूतसर्ग' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है, एवं जो वैशेषिक दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना गया है। इस प्रकार कालचक्रानुगत यह त्रिविध सर्ग ही आगमशास्त्र के सृष्टिसर्ग का मुख्य लक्ष्य बना हुआ है, जैसाकि अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है •।

अथमत्र संग्रहः—

(६)—सम्वत्सरचक्रानुगतसर्गत्रयीस्वरूपपरिचयपरिलेखः—

—त्रैलोक्यसर्ग— {

(१)—सौरसम्वत्सरचक्रानुगत —देवमानवसर्ग——आत्मानुगतो मन सर्ग वेदान्तप्रतिपाद्य)

(२)—चान्द्रसम्वत्सरचक्रानुगत–चतुर्दशविधभूतसर्ग –प्राणसर्ग –चेतनसर्ग (सांख्यप्रतिपाद्य)

(३)—पार्थिवसम्वत्सरचक्रानुगत–जड़सर्ग — वाक्सर्ग –अचेतनसर्ग (वैशेषिकप्रतिपाद्य)

(६०)—दिग्देशकालमीमांसा—

उक्त तीनों सर्गों के साथ ही यद्यपि कार्यकारणमीमांसात्मक दिग्देशकालभावों का अपवादभेद से सम्बन्ध स्वीकार किया है पुराणशास्त्र ने। तथापि सूक्ष्मविवेचना के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, वस्तुतः दिग्देशकालानुगता कार्यकारणमीमांसा का प्रधान सम्बन्ध पार्थिवसम्वत्सर चक्रात्मक उस जड़सर्ग के साथ ही है, जिसमें प्रत्यक्ष में दिग्–देश–कालानुबन्धी–स्थूलभावापन्न–"जायते अस्ति–विपरिणमते–वर्द्धते–अपक्षीयते–नश्यति" इन षड्भावविकारों का सम्बन्ध अन्वय बना रहता है। चेतनसर्गात्मक सांख्याभिमत प्राणसर्ग सूक्ष्मसर्ग है। अतः भूतदृष्ट्या स्थूल भी प्राणदृष्ट्या सूक्ष्म ही इस चेतनसर्ग की मीमांसा दिग्–देश–कालानुबन्ध से यथावत् समन्वित नहीं की जा सकती, जैसाकि सांख्यदर्शन के तत्त्वसर्गानुगत दिग्–देश–कालातिरेकत्व से प्रमाणित है। तीसरे देवमानवात्मक आत्मसर्ग के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है। यहाँ आते-आते तो दिग्–देश–कालानुगता कार्यकारण

• देखिए, भाष्यविज्ञानान्तर्गत 'सांख्ययोगविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय खण्ड का चान्द्रसर्गप्रकरण–पृ० सं० २०८ से पृष्ठ २२४ पर्यन्त।

मीमांसा एवं तदनुगता इतिहासमीमांसा सर्वात्मनैव अभिभूत हो जाती है, जो कि वेदान्तनिष्ठा का सुप्रसिद्ध दिग्देशकालानवच्छिन्न अविकृतपरिणामवादात्मक विवर्त्तवाद माना गया है। तदित्थ–कार्य्यकारणात्मिका हेतुवादसम्मता ऐतिहासिकदृष्टिकोण–निबन्धना मीमांसा का एकमात्र लक्ष्य शेष रह जाता है, त्रिविध सर्गों में से सर्वान्त का केवल पार्थिव सर्ग–लोष्ठ–पाषाणादि भूतसर्ग। इनका इतिहास अवश्य ही क्यों, ?, कैसे ?, कब ?, कहाँ ?, कबतक ?, इत्यादि ऐतिहासिक प्रश्नपरम्पराओं का विषय बन सकता है, बनना चाहिए, इसीलिए बना भी है। किन्तु ?।

(६१)—सम्वत्सरचक्र की असमर्थता—

स्पष्ट हो जाना चाहिए इसी त्रिविधसर्ग के आधार पर ऐतिहासिक मर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाली जिज्ञासा का वास्तविक मर्म्म। किन्तु जो इस दृष्टिकोण से एकान्ततः अपरिचित हैं, वे कदापि इस तथ्य को हृदयङ्गम कर ही नहीं सकते अपनी भूतविज्ञानानुगता जड़दृष्टि के निग्रहानुग्रह से। जब कि सम्वत्सर कालानुगत त्रिविध आगमीय पौराणिक सर्ग में भी केवल अन्त के पार्थिव जड़ अचेतन भूतसर्ग के साथ ही दिग्देशकालानुगता कार्य्यकारणजिज्ञासा का सम्बन्ध है, तो उस लोकातीत सुसूक्ष्मतम अव्ययसर्ग के सम्बन्ध में कालानुगता कार्य्यकारणता की जिज्ञासा करना, एवं तत्समाधान की आशा प्रतीक्षा करना, सो भी मनोऽनुगता अनुभूतिलक्षणा सर्वथा स्थूलतमा प्रत्यक्षभावापन्ना भूतदृष्टि के माध्यम से। इससे अधिक मानव की स्वप्रतारणा और क्या होगी ?।

[६२]—सर्गाधिष्ठाता परमेष्ठी प्रजापति—

तीनों साम्वत्सरिक सर्गों का मूलाधार माना गया है भृग्वङ्गिरोमय वह आपोमय पारमेष्ठ्यसर्ग,–जिसके 'सरस्वान्' नामक महासमुद्र में पुराणशास्त्र ने पार्थिव–चान्द्र–सौर–सम्वत्सराधिष्ठाता त्रैलोक्यभाग्यविधाता महामहिम सहस्रांशु सूर्य्य की वही स्वरूपसत्ता मानी है, जो कि स्वरूपसत्ता अनन्त समुद्र में बिन्द्वात्मक एक बुद्बुद की मानी गई है। अतएव आगम (पुराण) ने एक स्थान पर सूर्य्य को 'बुद्बुद' (बुलबुला) नाम से भी व्यवहृत किया है। इसी आधार पर निगम ने–'द्रप्सश्चस्कन्द' (ऋक्संहिता १०।१७।११)–'अपा गम्भन्त्सीद' (शत० ७।५।२।८।) इत्यादि रूप से सूर्य्य को आपोमय परमेष्ठी प्रजापति का 'द्रप्स' * माना है। सौरब्रह्माण्ड को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला परमेष्ठी ही 'पितृसर्ग' का मूलाधिष्ठान माना गया है जिसके सम्बन्ध में आगमशास्त्र तो तटस्थ है, किन्तु निगम ने विस्तार से इसके

* स्तोक–पृषत्–द्रप्स–आदि भेद से जलबिन्दु की अनेक अवस्थाएँ मानी गई हैं। बड़ी स्थूलबिन्दु को ही 'द्रप्स' कहा गया है, जिसके लिए प्रान्तीय भाषा में–'टपका' शब्द प्रसिद्ध है, एवं जिसके सम्बन्ध में सङ्गीतरसिक 'बरस निसक घन बड़ी–बड़ी यूँ धनतें, ऐसो गहरास, जैसो पुर गहरावतो, अब तोसों बरसूँ नाय, तोरे पांव परूँ नांय, वे तो दिन व्यतीत भये, अबमें तू बरावतो' इत्यादि रूप से उपवर्णन किया करते हैं।

धातूपधातु-धात्विलक्षण पार्थिवसर्ग जड़सर्ग (अचेतनसर्ग) कहलाया है, जो वैशेषिक दर्शन का मूल-प्रतिपाद्य विषय माना गया है। ब्रह्मादिस्तम्बान्त-चतुर्दशविध चान्द्रसर्ग चेतनसर्ग कहलाया है, जो सांख्यदर्शन का मूलप्रतिपाद्य विषय माना गया है। ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्त चतुर्दशविध चान्द्रसर्ग का चान्द्रसम्वत्सरचक्र से सम्बन्ध है, जिसे हम 'चेतनसर्ग' कह सकते हैं, 'प्राणसर्ग' कह सकते हैं, जिसके सत्त्व-रज-तमोविधात्मक तीन अवान्तर वर्ग माने गए हैं, एवं जो सांख्यदर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना गया है। पाषाण-लोष्ठ-धातूपधातु आदि सर्ग का पार्थिव सम्वत्सरचक्र से सम्बन्ध है, जिसे 'अचेतन-सर्ग'-'भूतसर्ग' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है, एवं जो वैशेषिक दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना गया है। इस प्रकार कालचक्रानुगत यह त्रिविध सर्ग ही आगमशास्त्र के सृष्टिसर्ग का मुख्य लक्ष्य बना हुआ है, जैसाकि अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है *।

अयमत्र संग्रहः—

(६)—सम्वत्सरचक्रानुगतसर्गत्रयीस्वरूपपरिचयपरिलेखः—

—पुराणसम्मता—

(१)—सौरसम्वत्सरचक्रानुगत —देवमानवसर्ग——आत्मानुगतो मनःसर्ग (वेदान्तप्रतिपाद्य)

(२)—चान्द्रसम्वत्सरचक्रानुगत—चतुर्दशविधभूतसर्ग—प्राणसर्ग—चेतनसर्ग (सांख्यप्रतिपाद्य)

(३)—पार्थिवसम्वत्सरचक्रानुगत जड़सर्ग — वाक्सर्ग—अचेतनसर्ग (वैशेषिकप्रतिपाद्य)

(६०)—दिग्देशकालमीमांसा—

उक्त तीनों सर्गों के साथ ही यद्यपि कार्य्यकारणमीमांसात्मक दिग्देशकालभावों का अपत्नाभेद से समन्वय स्वीकार किया है पुराणशास्त्र ने। तथापि सूक्ष्मविवेचना के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, वस्तुतः दिग्देशकालानुगता कार्य्यकारणमीमांसा का प्रधान सम्बन्ध पार्थिवसम्वत्सर चक्रात्मक उस जड़सर्ग के साथ ही है, जिसमें प्रत्यक्ष में दिग्-देश-कालानुबन्धी-स्थूलभावापन्न-'आस्ते अस्ति-विपरिणमते-वर्द्धते-अपक्षीयते-नश्यति" इन षड्भावविकारों का सम्बन्ध अन्वय बना रहता है। चेतनसर्गात्मक सांख्याभिमत प्राणसर्ग सूक्ष्मसर्ग है। अतः भूतदृष्ट्या स्थूल भी प्राणदृष्ट्या सूक्ष्म ही इस चेतनसर्ग की मीमांसा दिग्-देश-कालानुबन्ध से यथावत् समन्वित नहीं की जा सकती, जैसाकि सांख्यदर्शन के पञ्चतत्त्वानुगत दिग्-देश-कालास्पृश्य से प्रमाणित है। तीसरे देवमानवात्मक आत्म-सर्ग के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है। यहाँ आते-आते तो दिग्-देश-कालानुगता कार्य्यकारण

* देखिए, भारतविज्ञानान्तर्गत 'सापियक्षपविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय खण्ड का चान्द्रसर्गप्रकरण—पृ० सं० २०८ से पृष्ठ २२४ पर्य्यन्त।

यस्मादर्वाक् सम्वत्सरोऽहोभिः परिवर्त्तते ।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥
—शतपथब्राह्मण १४।७।२।२०।

(६३)—प्राणसृष्टि की सर्वात्मकता—

पितृसर्गाधिष्ठाता परमेष्ठी प्रजापति का मूलाधिष्ठानरूप 'ब्रह्म' नामक स्वयम्भू प्रजापति उस—'ऋषि सृष्टि' का आधार माना गया है, जिसे 'प्राणसृष्टि' भी कहा गया है। जो स्थान पारमेष्ठ्य समुद्र में समष्टि सौरब्रह्माण्ड का है, वही स्थान परमाकाशलक्षण 'नभस्वान्' नामक स्वायम्भुवमण्डल में समष्टि पृथिवी—चन्द्रमा—सूर्य को स्वगर्भ में बुद्बुदवत् प्रतिष्ठित रखने वाले आपोमय पारमेष्ठ्यमण्डल का है। इसी से स्वयम्भू की महिमा के आनन्त्य का अनुमान लगाया जा सकता है —। इस स्वायम्भुव ऋषिसर्ग की कार्य्यकारणमीमांसा भी निगमशास्त्र में—'असद्' रूप से विस्तार के साथ हुई है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हो रहा है—

असद्वाऽइदमग्र आसीत्। तदाहु —किं तदसदासीदिति ?—ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहुः—के ते ऋषय इति ?, प्राणा वा ऋषय । ते यत् पुरास्मात् सर्वस्मात्—इदमिच्छन्त श्रमेण तपसा अरिषन्—तस्माद् ऋषय ।

—शतपथब्राह्मण ६।१।१।१।

अयमत्र सर्वसंग्रहः—पञ्चसर्गानुगत —

(७)—ऋषि—पितृ—देव—सत्त्व—भूतानुगतपञ्चविधसर्गपरिलेख

(१)—ऋषिसर्ग (स्वायम्भुव)—प्राणमय—सर्वाधारसर्ग	(जनब्रनकानुगत)	} निगमसर्गत्रय	
(२)—पितृसर्ग (पारमेष्ठ्य)—आपोमय—आत्माधारसर्ग	(सम्वत्सरजनकानुगत)		
(३)—देवमानवसर्ग (सौर)—वाङ्मय—आत्मसर्ग	(सौरसम्वत्सरानुगत)		} आगमसर्गत्रय
(४)—सत्त्वसर्ग (चान्द्र)—अन्नमय—चेतनसर्ग	(चान्द्रसम्वत्सरानुगत)		
(५)—भूतसर्ग (पार्थिव)—अन्नादमय—अचेतनसर्ग	(पार्थिवसम्वत्सरानुगत)		

— ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तत् स्वाराज्य पर्य्यैत्। (शत० १३।७।१।१। ।

कार्यकारणभाव की मीमांसा भी है। जिसके आधार पर सुप्रसिद्ध 'पितृपितृयज्ञ' प्रतिष्ठित है। जो वैषम्यात्मक सौरमण्डल की प्रतिष्ठाभूमि माना गया है, एवं जिस आधार पर—'देवकार्य्याद् द्विजातीनां पितृकार्य्यं विशिष्यते' सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। आपोमय पारमेष्ठ्य सोम की अजस्र आहुति इस सौर सावित्राग्नि में होती रहती है। इसी आधार पर—'सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्' (शत० २।३।१।१।) इत्यादिरूप से सूर्य्य को अग्निहोत्र माना गया है। सौरसावित्राग्नि अपने स्वरूप से घोरकृष्ण (काला) है, इसी लिए तत्प्रवर्ग्यभूत पार्थिव भूताग्नि को मृग्यमाणत्वेन 'मृगाग्नि' कहा गया है, जिसका नैदानिक प्रतीक माना गया है—'कृष्णमृग' (काला हरिण द्रुतगामी) +, जिसे इसी याज्ञिकभाव-सम्बन्ध से हविर्यज्ञ में हविःपेषण का आधार बनाया जाता है। सौरमण्डल में जो प्रकाश—ज्योति—आतप है, वह सौर कृष्णसावित्राग्नि में + निरन्तर आहुत होने वाले शान्त पारमेष्ठ्य सोमाहुति का ही प्रभाव है। इसी प्रज्वलित सोम का नाम सौर प्रकाश है *। जबतक सौर दाहक अन्नादाग्नि में उस पारमेष्ठ्य दाम अन्नसोम की आहुति प्रक्रान्त है, तभी तक सृष्टिस्वरूपसंरक्षण है। जिस दिन यह आहुतिक्रम विच्छिन्न हो जाता है, सूर्य्य अपने प्रचण्डाग्नि से अपने सौर—चान्द्र—पार्थिव त्रैलोक्य को भस्मसात् करता हुआ अन्तत स्वयमपि अपने प्रभव पारमेष्ठ्य समुद्रगर्भ में विलीन हो जाता है, और यही सूर्य्याविर्भाव—तिरोभावात्मिका कालयुगानुगता कालसीमा कालगणना-मन्वन्तरस्वरूपा पौराणिकी सृष्टि—प्रतिसृष्टि (सर्ग—प्रतिसर्ग—सर्ग—लय) का मूलाधार माना गया है। यही रहस्यात्मक पुराणशास्त्र का समस्त तात्त्विक स्वरूपपरिचय+ है। वक्तव्य प्रकृत में यही है इस पितृसर्गाधिष्ठाता परमेष्ठी प्रजापति के सम्बन्ध में कि, सम्वत्सरचक्रत्रयी से अनुप्राणिता पूतसप्तात्मिका सर्गत्रयी इसी परमेष्ठी के अर्धाङ्ग—वरुणतत्त्व में चङ्क्रमण कर रही है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है—

— 'यस्मिन् देशे मृग कृष्णस्तत्र धर्म्मं निबोधत' ॥

\+ आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥
—ऋक्संहिता १।३५।२।

* त्वमिमा ओषधी सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमा ततन्थोर्वान्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥
—ऋक्संहिता १।९१।२२।

\+ सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च तथा ।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

कैसे कब उत्पत्तिधाराक्रम का अनुगामी बन गया ?, उस नितान्त सूक्ष्म अणोरणीयान् अतएव सर्वथा अनस्थिमत्–स्थूलभूतानुगता घनता से असंस्पृष्ट–तत्त्वविशेष ने इस अस्थिमत्- स्थूल–विश्व को कैसे अपने अनस्थिमत्–सुसूक्ष्म स्वरूप पर धारण कर लिया ?, इत्यादि सहजसिद्ध प्रश्न, एवं सहजसिद्ध केवल मनोऽनुगत बुद्धिगम्य–स्वानुभवैकगम्य समाधान के सम्बन्ध में किसने तो देखा, किसने सुना, एवं कौन किस विद्वान् से इस सम्बन्ध में ऐसे प्रश्नोत्तरविमर्श के लिए अग्रगामी बना ?"। तात्पर्य, इन स्वानुभवैकगम्य सहजसिद्ध शाश्वत–सिद्धान्तों में इन सम्वत्सरकालचक्रानुगत कृत्रिम कार्य्यकारण भावों का प्रवेश ही जब निषिद्ध है, तो तत्सम्बन्ध में प्रश्न, और उत्तर की जिज्ञासा–समाधान के लिए प्रवृत्त होगा ही कौन ?। देखिए ! महर्षि दीर्घतमा इस सम्बन्ध में क्या कह रहे हैं–

> को ददर्श प्रथमं जायमानं–अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
> भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत् ॥
> —ऋक्संहिता १।१६४।४।

> अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण ।
> कवीयमानः क इह प्रवोचत् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥
> —ऋक्सं० १।१६४।१८।

मानस प्रश्न, और मानस उत्तर, ही इस दिशा में वास्तविक प्रश्नोत्तरविमर्श माना जायगा। इसी आधार पर निगमशास्त्र में एक वैसी विलक्षण परिभाषा का आविर्भाव हुआ है, जिसमें प्रश्न, और उत्तर, दोनों भाव समाविष्ट रहते हैं। जो प्रश्न, वही उत्तर। दूसरे शब्दों में जिस वाक्य से, किंवा मन्त्र–सन्दर्भ से प्रश्न का स्वरूप अभिव्यक्त होता है, उसी वाक्य–मन्त्रसन्दर्भ से उत्तर का स्वरूप भी गतार्थ बन जाता है। इसी शैली के आधार पर लोकव्यवहार में भी इस प्रकार के वाक्यविन्यास व्यवस्थित हुए हैं, जिनके द्वारा प्रश्न एवं उत्तर, दोनों समाहित बन जाते हैं। अमुक कार्य्यकारण का स्वरूप जानकर भी अमुक व्यक्ति इस प्रकार की अनिरुक्त शैली के माध्यम से अपनी कार्य्यकारणविज्ञता अभिव्यक्त कर दिया करता है कि,–"विदित नहीं, वे–क्या किया करते हैं, कब कैसे कहाँ उनकी जीवनधारा प्रवाहित रहती है ?"। इस प्रश्नवाक्य के गर्भ में ही उत्तर भी समाविष्ट रहता है। जानकार व्यक्ति ही इस प्रकार की अनिरुक्तभाषापरा काकूभाषा का उपयोग किया करते हैं। दुरधिगम्य–सुदुर्ज्ञ–मनोभावानुगत–अतएव अनिरुक्त ऐसे कार्य्यकारणभावों के सम्बन्ध में भी इसी परोक्षशैली के माध्यम से प्रश्नोत्तरविमर्श हुआ है। महर्षि श्वेताश्वतर के द्वारा आरम्भ में आदिकारण के सम्बन्ध में इसी अनिरुक्तशैली के आधार पर कार्य्यकारणमीमांसा अभिव्यक्त हुई है। देखिए !

> किं कारणं ? ब्रह्म ? कुतः स्म जाता ? जीवाम केन ? क्व च सम्प्रतिष्ठा ? ॥
> अधिष्ठिता केन ? सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥

(६५) — मानसप्रश्नोत्तरपरम्परा—

काम्यकारणानुगत पाँचों सर्गों की समष्टि है एक पञ्चपुरुडीरामाबापत्यवल्या (*पञ्चप्रश्नयुक्त—अश्वत्थ की एक शाखा—टहनी)। इसी सहस्र शाखाएँ जिस महामायी त्रिपुरुषपुरुषात्मक अव्ययेश्वरप्रजापति में प्रविष्टित हों, उसके दुर्विज्ञेय आनन्त्य को लक्ष्य बनाइए, जिसकी कारणता का भी निगमशास्त्र ने—'कामस्तदग्रे०' इत्यादि रूप से साक्षेप निरूपण किया है। सहस्रवल्शात्मक ऐसे महामायी अव्ययेश्वर जिस मायातीत—निरपातीत—सर्वातीत—सर्वधर्मोपपन्न—शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति—सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्परब्रह्म के अमुक स्वल्प—स्वल्पतर—स्वल्पतम प्रदेश में बिन्दुवत् समाविष्ट हैं, उसके आनन्त्य का भी अपने मानस क्षेत्र में ही स्मरण कीजिए। इस सम्पूर्ण अनन्त प्रक्रिया को लक्ष्य बनाने के अनन्तर अपने मन से ही यह प्रश्न करने का अनुग्रह कीजिए कि, उस अनन्तानन्त-सर्वरूप-सर्वातीत—परात्पर के बल को—मायाबल को-उदित होने के लिए किसने प्रेरित किया ?। यही वह अचिन्त्य—अविज्ञेय, किन्तु स्वानुभवैकगम्य—शब्द द्वारा अनिर्वचनीय काम्यकारणवाद है, जिसके सम्बन्ध में महर्षि को—'क इत्था वेद यत्र स' ?'—सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद'—'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु०'—'मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो' इत्यादि सहज सिद्धान्तों का समाश्रय ग्रहण करना पड़ा है, एवं जिस इस दुरधिगम्य प्रश्न के सहज उत्तरात्मक—'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस' इस यथार्थ समाधान की आज का विमूढतम मानवसमाज आलोचना करता हुआ अपनी विमूढता को सर्वतोभावेन चरितार्थ कर रहा है। इसीलिए पुन हमको उसी इस वाक्य की पुनरावृत्ति करनी पड़ रही है कि, अभी इस सम्बन्ध में पुन कुछ समझना शेष है, जिस शेषप्रश्न का समाधान प्राप्त हो रहा है हमें उस जगन्माता जगदम्बा हैमवती उमा भगवती के निःसीम अनुग्रह से, जिसके वात्सल्यपूर्ण अनुग्रह से हमारे जैसा सर्वज्ञानवञ्चित नितान्त भावुक लौकिक यथाजात जन भी इस मीमांसा के समसमन्वय की चेष्टा में प्रवृत्त होने का दु साहस कर रहा है।

'पुनस्तत्रैवासक्लम्बितो वैतालः' न्याय से हम पुन' अपने सहज स्वभाव के कारण भावानुगता उसी वैतालवृत्ति का अनुगमन कर ही तो बैठे। वही अचिन्त्य—अनिर्वचनीय—शब्दों का आश्रयग्रहण, वही अज्ञात स्वरूप 'ब्रह्म' शब्द की उच्च घोषणा। क्या वास्तव में इस परोक्षवचनाप्रथ के अतिरिक्त उस मूलतत्त्व के सम्बन्ध में कोई काम्यकारणमीमांसा है ही नहीं !। निवेदन किया तो जा चुका इस सम्बन्ध में अपनी स्वल्पमति के सम्बन्ध में, जो कुछ भी निवेदन करना अपेक्षित था। सहजसिद्ध मानस काम्यकारणभावों के साथ कौन किससे अद्यावधि यह प्रश्न करने गया है कि —"सर्वप्रथम यह विश्व किसकी प्रेरणा से

---

* पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां 'पञ्चपर्वा'मधीमः॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् १।५।

कैसे कब उत्पत्तिधाराक्रम का अनुगामी बन गया ?, उस नितान्त सूक्ष्म अणोरणीयान् अतएव सर्वथा अनस्थिमत्-स्थूलभूतानुगता घनता से असंस्पृष्ट-सत्त्वविशेष ने इस अस्थिमत्-स्थूल-विश्व को कैसे अपने अनस्थिमत्-सुसूक्ष्म स्वरूप पर धारण कर लिया ?, इत्यादि सहजसिद्ध प्रश्न, एवं सहजसिद्ध केवल मनोऽनुगत बुद्धिगम्य-स्वानुभवैकगम्य समाधान के सम्बन्ध में किसने तो देखा, किसने सुना, एवं कौन किस विद्वान् से इस सम्बन्ध में ऐसे प्रश्नोत्तरविमर्श के लिए अग्रगामी बना ?"। तात्पर्य, इन स्वानुभवैकगम्य सहजसिद्ध शाश्वत-सिद्धान्तों में इन सम्वत्सरकालचक्रानुगत कृत्रिम कार्य्यकारण भावों का प्रवेश ही जब निषिद्ध है, तो तत्सम्बन्ध में प्रश्न, और उत्तर की जिज्ञासा-समाधान के लिए प्रवृत्त होगा ही कौन ?। देखिए ! महर्षि दीर्घतमा इस सम्बन्ध में क्या कह रहे हैं-

को ददर्श प्रथम जायमान-मस्थन्वन्त यदनस्था विभर्त्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत् ॥
—ऋक्संहिता १।१६४।४।

अव परेण पितर यो अस्यानुवेद पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्रवोचत् देव मन कुतो अधि प्रजातम् ॥
—ऋक्सं० १।१६४।१८।

मानस प्रश्न, और मानस उत्तर, ही इस दिशा में वास्तविक प्रश्नोत्तरविमर्श माना जायगा। इसी आधार पर निगमशास्त्र में एक वैसी विलक्षण परिभाषा का आविर्भाव हुआ है, जिसमें प्रश्न, और उत्तर, दोनों भाव समाविष्ट रहते हैं। जो प्रश्न, वही उत्तर। दूसरे शब्दों में जिस वाक्य से, किंवा मन्त्र-सन्दर्भ से प्रश्न का स्वरूप अभिव्यक्त होता है, उसी वाक्य-मन्त्रसन्दर्भ से उत्तर का स्वरूप भी गतार्थ बन जाता है। इसी शैली के आधार पर लोकव्यवहार में भी इस प्रकार के वाक्यविन्यास व्यवस्थित हुए हैं, जिनके द्वारा प्रश्न एवं उत्तर, दोनों समाहित बन जाते हैं। अमुक कार्य्यकारण का स्वरूप जानकर भी अमुक व्यक्ति इस प्रकार की अनिरुक्त शैली के माध्यम से अपनी कार्य्यकारणविज्ञता अभिव्यक्त कर दिया करता है कि,-"विदित नहीं, वे-क्या किया करते हैं, कब कैसे कहाँ उनकी जीवनधारा प्रवाहित रहती है ?"। इस प्रश्नवाक्य के गर्भ में ही उत्तर भी समाविष्ट रहता है। ज्ञानकार व्यक्ति ही इस प्रकार की अनिरुक्तभाषापक्षा कानूभाषा का उपयोग किया करते हैं। दुरधिगम्य-सुसूक्ष्म-मनोभावानुगत-अतएव अनिरुक्त ऐसे कार्य्यकारणभावों के सम्बन्ध में भी इसी परोक्षशैली के माध्यम से प्रश्नोत्तरविमर्श हुआ है। महर्षि श्वेताश्वतर के द्वारा आरम्भ में आदिकारण के सम्बन्ध में इसी अनिरुक्तशैली के आधार पर कार्य्यकारणमीमांसा अभिव्यक्त हुई है। देखिए !

किं कारणं ? ब्रह्म ? कुतः स्म जाता ? जीवाम केन ? क्व च सम्प्रतिष्ठाः ? ॥
अधिष्ठिता केन ? सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥

(६५) – मानसप्रश्नोत्तरपरम्परा—

कार्य्यकारणानुगत दोनों वर्गों की समष्टि है एक पञ्चपुरीगमप्रावाहरूप्या (०पञ्चपुरुष–ब्रह्म की एक शाखा–नदी)। इसी सहज शाखार्क जिस महामायी त्रिपुरसुन्दरीरूपात्मक अव्यक्तस्वरूपप्रजापति में प्रतिष्ठित हो, उसके दुर्विज्ञेय आनन्त्य को सहज बनाइए, जिसकी कारणता का भी निरूपण ऋषि ने– 'अमृतस्तस्मै०' इत्यादि रूप से साग्रव निरूपण किया है। सहजस्वरूपात्मक एवं महामायी अव्यक्तपरात्पर जिस मायातीत–निरपेक्षातीत–सर्वातीत–अनपेक्ष्य–शाश्वतब्रह्मपूर्ण–परमनिर्विशेषरूपन परात्पर के प्रमुख स्वरूप–स्वरूपतर–स्वरूपतम प्रदेश में बिन्दुरूप् समाविष्ट है, उसके आनन्त्य का भी प्रश्न मानव-क्षेत्र में ही समरण कीजिए। इस सम्पूर्ण अनन्त प्रक्रिया को सहज बनाने के अनन्तर अपने मन से ही यह प्रश्न करने का अनुग्रह कीजिए कि, उस अनन्तानन्त स्वरूप-सर्वातीत–परात्पर के बल को–मायाबल को-उदित होने के लिए किसने प्रेरित किया ?। यही यह अचिन्त्य-अचिन्त्य, किन्तु स्वानुभवैकगम्य–शब्द द्वारा अनिर्वचनीय कार्य्यकारणवाद है, जिसके सम्बन्ध में महर्षि को–'क इत्था वेद यत्र सः ?'–सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद'–'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु०'–'मनीषिणो मनसा विपश्यीमि वो' इत्यादि सहज सिद्धान्तों का समाश्रय ग्रहण करना पड़ा है, एवं जिस इस दुरधिगम्य प्रश्न के सहज उत्तरात्मक– 'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस' इस यथार्थ समाधान की आज का विमूढतम मानवाभास आलोचना करता हुआ अपनी विमूढता को सर्वतोभावेन चरितार्थ कर रहा है। इसीलिए पुनः हमको उसी इस मानव की पुनरावृत्ति करनी पड़ रही है कि, अभी इस सम्बन्ध में पुनः कुछ समझना शेष है, जिस शेषप्रश्न का समाधान प्राप्त हो रहा है हमें उस जगन्माता जगदम्बा हैमवती उमा भगवती के निःसीम अनुग्रह से, जिसके वात्सल्यपूर्ण अनुग्रह से हमारे जैसा सर्वज्ञानवञ्चित नितान्त भावुक लौकिक यथाजात जन भी इस मीमांसा के समसमन्वय की चेष्टा में प्रवृत्त होने का दुःसाहस कर रहा है।

'पुनस्तत्रैवाश्वसम्भितो वेतालः' न्याय से हम पुनः अपने सहज स्वभाव के कारण ब्रह्मानुगता उसी वेतालवृत्ति का अनुगमन कर ही तो बैठे। वही अचिन्त्य–अनिर्वचनीय–शब्दों का आश्रयग्रहण, वही अज्ञात स्वरूप 'ब्रह्म' शब्द की उच्च घोषणा। क्या वास्तव में इस प्ररोचनापथ के अतिरिक्त उस मूलतत्त्व के सम्बन्ध में कोई कार्य्यकारणमीमांसा है ही नहीं ?। निवेदन किया तो जा चुका इस सम्बन्ध में अपनी स्वसम्मति के सम्बन्ध में, जो कुछ भी निवेदन करना अपेक्षित था। सहजसिद्ध मानस कार्य्यकारणभावों के साथ कौन किससे यथावधि यह प्रश्न करने गया है कि,–"सर्वप्रथम यह विश्व किसकी प्रेरणा से

---

* पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां 'पञ्चपर्वा'मधीमः॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् १।५।

अची–ओची–आप'–आदि अनिरुक्त व्याहृतियाँ ही प्रयुक्त होती हैं। इसी दृष्टि से इस मनोमय अनिर्वचनीय (वाणी के द्वारा निरूपण करने की मर्य्यादा से अतीत) प्रजापति के लिए अनिरुक्तभावाभिव्यञ्जक 'कः'–'स ' इत्यादि संकेतपरिभाषा व्यवस्थित कर दी गई है। 'कस्मै देवाय' का प्रश्नात्मक रूप है–'हम किसके लिए हवि का विधान करें'। एवं इसी का उत्तरात्मक रूप है–'हम किसके लिए ही हवि का विधान करें'। प्रश्न में 'कस्मै' का अर्थ होगा किसके लिए, उत्तर में 'कस्मै' का अर्थ होगा–ककाराख्य इस अन्तर्य्यामी अनिरुक्त प्रजापति के लिए। यही दृष्टिकोण हैमवती उमानुब्रह्मप्रतिपादक ब्रह्मस्वरूपोद्बोधक 'केनोपनिषत्' (अनिरुक्तप्रजापतिविद्यारहस्योपनिषत्) के मन्त्रों के साथ सुसमन्वित हुआ है। देखिए!

प्रश्न—केनेषितं पतति प्रेषितं मन ?।	(किससे प्रेरित मन विषयानुगामी बनता है?)।
उत्तर—('केने'षितं पतति प्रेषितं मन)।–	'अनिरुक्तप्रजापतिरूप ककार से।
प्रश्न—केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ?।	(किस से प्रेरित प्राण युक्त होता है ?)।
उत्तर—('केन'प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः)।–	ककारप्रजापति से, अन्तर्य्यामी से।
प्रश्न—केनेषितां वाचमिमां वदन्ति ?।	(किससे प्रेरित वाक् बोलते हैं ?)
उत्तर—('केने'षितां वाचमिमां वदन्ति)।–	ककारप्रजापति की प्रेरणा से।
प्रश्न—चक्षुः श्रोत्र क उ देवो युनक्ति ?–	(कौन चक्षु और श्रोत्र को विषयानुगामी बनाता है?)
उत्तर—(चक्षुः श्रोत्र 'क' उ देवो युनक्ति)।–	ककार ही इन्हें विषयानुगत बनाता है।

—केनोपनिषत् १।१।

(६५)—पारिभाषिक शैली के द्वारा समाधान—

यही पारिभाषिक शैली 'किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्०' इत्यादि मन्त्रों के समन्वय में समन्वित हुई है। 'को ददर्श प्रथमं जायमानम्' का उत्तर भी 'को ददर्शप्रथमं जायमान ' ही प्रमाणित हो रहा है। 'कवीयमान' क इह प्रवोचत्–देवं, मन कुतो अधिजातम्' प्रश्नात्मक वाक्य भी इसी वाक्य के द्वारा उत्तर भी प्रदान कर रहा है। यही कारण है कि ऋक्संहिता में–किंस्विद्वन क उ स वृक्ष आस०' इत्यादि रूप से केवल प्रश्न ही हुआ है, उत्तर का स्वतन्त्ररूप से विश्लेषण इसीलिए नहीं किया गया कि, इस प्रश्न के गर्भ में ही अनिरुक्त 'क' कारव्याहृति के माध्यम से उत्तर गर्भीभूत है। अनिरुक्त मानस इत्यभाव ही इस प्रश्न का मौलिक समाधान है, इसीलिए–'मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्' रूप से 'मनसा पृच्छतेदु०' घोषणा हुई है। महर्षि तित्तिरि ने जो इस ऋक् श्रुति का यह समाधान किया कि–'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस०', सो भी तत्त्वत अनिरुक्त भाव का ही समर्थक बना हुआ है। जैसा अनिरुक्तभावप्रतिपादक 'कः', वैसा ही 'ब्रह्म'। इसीलिए तो तित्तिरि को भी अपने इस उत्तर का उपसंहार करते हुए–'मनसा विप्रवीमि व०' रूप से मानस अनिरुक्त भाव का ही आश्रय लेना पड़ा है। 'सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' भी इस अनिरुक्तता की ओर ही संकेत

कालः–स्वभावो–नियति–र्यदृच्छा–भूतानि–योनि –पुरुष–इति चिन्त्यम् ॥
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥२॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ॥
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥३॥
उद्गीथमेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ॥
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् १ अध्याय १,२,३,७,।

उपनिषत् के अनिरुक्तभावात्मक कि ?, कुतः ? कन ?, क्व ?, इत्यादि प्रश्नों के गर्भ में ही इसी अनिरुक्त भाव से (ककार से) सम्बन्धित उत्तर भी समाविष्ट हैं। एक अन्य मूलसंहिता के मन्त्र पर दृष्टि डालिए–जहाँ इसी अनिरुक्त भाव से प्रश्नोत्तर का समसमन्वय हुआ है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' ॥

—यजुःसंहिता २५।१०।

"सम्पूर्ण भूतों के (चान्द्र तथा पार्थिव भूतों के) अधिपति हिरण्यगर्भप्रजापति (सौर–प्रवीपन–नम्य प्रजापति–केन्द्रप्रजापति–अतएव अनिरुक्तप्रजापति) ही इस त्रैलोक्य में सर्वप्रथम आविर्भूत हुए। जिन्होंने इस द्यावापृथिवीरूप त्रैलोक्य को अपने महिमामण्डल में धारण किया। हम किस के लिए हवि प्रदान करें" इत्याद्यर्थक मन्त्र का–'कस्मै देवाय हविषा विधेम' वाक्य अवधेय है। 'कः–कः' आदि व्याहृतियाँ (अभिधाएँ–नाम) अनिरुक्तभाव की ओर संकेत कर रहीं हैं। केन्द्रस्थ अन्तर्य्यामी तत्त्व अपने सुसूक्ष्म भाव के द्वारा वाणी का विषय नहीं बना करता। अतएव यज्ञकर्म्म में प्रजापतिकर्म्म उपांशु ही होता है*। जिसका कोई व्यक्त नाम नहीं, उसका नाम 'कः–सः' इत्यादि ही तो लोक में प्रसिद्ध है। 'कौन–वह–' ये सब अभिधाएँ अनिरुक्तभाव का ही समर्थन कर रहीं हैं। पति के लिए इसी दृष्टि से 'कुणीकीय–

*—"वाक् और मन में परस्पर अहमहमिकारूपा प्रतिस्पर्द्धा जागरूक हो पड़ी। मन कहता था, मैं महान् हूँ–वाक् की अपेक्षा। वाक् कहती थी, मैं महीयसी हूँ मन की अपेक्षा। निर्णयार्थ दोनों प्रजापति के समीप गए। प्रजापति ने दोनों के समाधान में मन को ही श्रेष्ठ घोषित कर दिया। इस से वाक् अप्रसन्न हो गई प्रजापति पर। और वाक् ने यह घोषणा कर दी कि, अब मैं तुम्हारे लिए (प्रजापति के लिए) कभी हवि का वहन न करूँगी। तभी से प्राजापत्य कर्म्म तूष्णीं होने लगा।" इत्यादि आख्यान का वैज्ञानिक रहस्य शतपथविज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

—शतपथब्रा० १।४।१।१८।

चक्षुगा असकल्पित-अवर्णित-अदृष्ट बनता हुआ भी आगममनोद्वारा भाव-परावाग्द्वारा वर्णित-विज्ञान चक्षुद्वारा सर्वात्मना दृष्ट है, जो विज्ञानदृष्टि 'अग्रग्र्यि' कहलाई है *।

जिन आलोचकों का इस सम्बन्ध में यह दुराग्रह है कि, जबतक उन्हें भूतवत् प्रत्यक्ष स्थूल कार्य्य कारणद्वारा मूलकारण का साक्षात्कार नहीं हो जाता, जबतक उस मूलकारण का वे साक्षात् रूप से मत्य भूतेतिहास की भाँति वर्णन नहीं सुन लेते, तबतक वे कथमपि मूलकारणतानुगता जिज्ञासा को उपशान्त नहीं कर सकते। उनसे इसके अतिरिक्त हम तो अब कुछ भी निवेदन करने में असमर्थ हैं कि, ऐन्द्रियक भौतिक विषयों की अनुभूति का वर्णन भी जो आलोचक करने में असमर्थ हैं, वे इन्द्रियातीत, किंवा सर्वातीत – पुरुषब्रह्म के निरुक्तभावापन्न साक्षात् वर्णन की कामना करें, इस से अधिक उनकी. अपनी ओर से ही वञ्चना और क्या होगी ?। मधुर ही द्राक्षा, मधुर ही शर्करा, दोनों ही मधुर। किन्तु दोनों के रसमाधुर्य्य में महान् विभेद । क्या इस विभेद का, इस इन्द्रियानुभूति का आलोचक शब्दद्वारा स्पष्टीकरण कर सकेंगे ?, असम्भव। 'भवति रसनामात्रविषय'। रसनेन्द्रियानुभूति ही इस माधुर्य्यविभेद का अनुभवमात्र कर सकती है, वर्णन नहीं। जब कि लौकिक-भौतिक विषयों का भी केवल अनुभव ही सम्भव है, मन से ही जो ज्ञात विज्ञात बने रहते हैं, तो फिर लोकातीत सूक्ष्मतम भावों के सम्बन्ध में स्वानुभवैकगम्यपथातिरिक्त स्थूल वर्णन की जिज्ञासा रखना, तत्समाधान के लिए व्यग्र हो पड़ना, क्या जानबूझ कर अपनी स्वयं की वञ्चना नहीं है। तदपि निराशा का क्षेत्र नहीं है। अवश्य ही योगनिष्ठ अतिमानव इस सम्बन्ध में भी उन आलोचकों को वैखरीवाणी के माध्यम से भी उनका समाधान करा सकते हैं। किन्तु यह सम्भव तभी है, जब कि हम आस्थाश्रद्धापूर्वक सर्वप्रथम इस पथ पर आरूढ़ हो जायँ। अवश्य ही कालान्तर में प्रत्यक्षदर्शक भी उन्हें प्राप्त हो ही जायँगे। महाविद्यात्मिका वेदविद्या के द्वारा सभी कुछ सम्भव है। इसी आस्था के आधार पर इस दृष्टिकोण को उपसंहृत करते हुए हमें प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है।

---

* एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
—कठोपनिषत् १।३।१२।

— इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्थाः, अर्थेभ्यश्च पर मनः ॥
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१॥
महत परमव्यक्त –अव्यक्तात् पुरुषः परः ॥
पुरुषान्न पर किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति ॥२॥

कर रहा है । इत्थंभूत इच्छा-मनोमय-कामनया अनिरुक्तभाव का अनिरुक्तरूप से ही तो समाधान शक्य है, जिस अनिरुक्तभावदर्शन में स्थूलदृष्टि का प्रवेश, तदनुगत भूतविज्ञानानुगत स्थूल कार्य्यकारणभाव का प्रवेश सर्वथा अवरुद्ध ही बना रहता है । विशुद्धबुद्धिलक्षण मानवप्रज्ञानात्मा ही तद्दर्शन में, तत्कार्य्यकारणानुभूति में समर्थ है, जैसा कि–'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा' (मुण्डकोपनिषत् २।२।७) इत्यादि श्रुत्यन्तर से स्पष्ट है । यदि उक्त आलोचक के कथनानुसार 'अनिरुक्त'–'अनिर्वचनीय'–'ब्रह्म' आदि शब्द केवल प्रतारक ही होते, तो "कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि –'परोऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'–'सोऽश्रमयत–स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत–तस्य श्रान्तस्य श्रमयमानस्य तप्तस्य संतप्तस्य ललाटे स्नेहोऽजायत । तत् सुवर्णोऽभवत ' इत्यादि रूप से निरूपित कार्य्यकारणभावों का क्या अर्थ हुआ ?। अतएव एक बार और अन्तिम बार पुनः हमें यह कहना पड़ा कि, श्रुतिमूलनिबन्धन कार्य्यकारणभाव के सम्बन्ध में बात कुछ समझने जैसी है । स्थूलदृष्टि से उपलभ्य नहीं है ।

समस्त जैसी बात अब शेष क्या रह गई ?, प्रश्न का समाधान एक अन्य श्रुति पर्व द्वारा भी हुआ है कि, उस सत्य ज्ञान अनन्तलक्षण, नित्य विज्ञान आनन्दलक्षण शाश्वत ब्रह्म का भले ही शब्दद्वारा, वैखरीवाग्द्वारा निर्वचन सम्भव न हो, किन्तु 'सत्ता' रूप से आत्मा-लब्धप्रतिष्ठा मन को उसका साक्षात्कार हो रहा है । 'अस्ति' लक्षणा सत्ता का 'सत्' रूप से समर्पित बोध ही (अस्तित्व का परिज्ञान ही) 'चित्' है, इस सद्बोध से स्वतः अभिव्यक्ता तृप्ति (औपाधिक आत्मतृप्ति–शान्ति) ही 'आनन्द' है। अस्ति (सत्) की बोध (चित) रूपा * उपलब्धि (रसप्राप्ति–तृप्ति–लाभलक्षण आनन्द) ही तो 'सच्चिदानन्दलक्षण' ब्रह्म का साक्षात् स्वरूपदर्शन है, जिस काममय इस सत्यज्ञानमनन्त ब्रह्म का तैत्तिरीय ने 'कोशब्रह्म' रूप से विस्तार से विश्लेषण किया है । 'ब्रह्म' शब्द वैसा नहीं है, जिसकी अनिर्वचनीयता हमारी प्रतारणा कर के ही उपशान्त हो जाती हो । अपितु यह वैसी अनिर्वचनीयता है, जिसके गर्भ में– अनिरुक्तभाव से सत्यज्ञानानुभूतिरूपा ब्रह्मकारणता अन्तर्निगूढ है । तभी तो यह कोशब्रह्म 'गूढं रसा' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो अपने सहज अनिरुक्तभाव से अनिर्वचनीय–मनसा–वाचा–

---

* सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । सर्वं खल्विदं ब्रह्म । ब्रह्मैवेदं सर्वम् । एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ॥
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ॥
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥२॥

—कठोपनिषत् २।६।१२,१३, ।

विवेकबुद्ध्या अनुभवमात्र कर सकते हैं आप इन ज्ञानधाराओं का। अनुभव (मानसिक अनुभव) भी इन चारों में से केवल तीन ज्ञानधाराओं का ही सम्भव है। चौथी महद्ज्ञानधारात्मिका सत्त्वज्ञानधारा, एवं सर्वाधारभूता पुरुष (अव्यय) ज्ञानधारा, दोनों तो मानसानुभूतियों से भी अतीत हैं। आभ्यन्तर सुसूक्ष्म प्राण–रक्त–शिरा–स्नायु–आदि का संघठन–विघठन–परिरक्षण–आदि सभी व्यापार (कर्म) बुद्धिज्ञान धारा (विज्ञानधारा) से भी परे की वस्तु है, यही सत्त्वलक्षणा महद्ज्ञानधारा है, तदनुबन्धी कर्म ही सहजकर्म है, जिनकी कामना–कार्य्यकारणमीमांसा बुद्धि के द्वारा दृश्यमात्र अवश्य है, किन्तु–'इदमित्थमेव' रूप से मीमांस्य नहीं। इस महद्ज्ञानधारा की इत्थंभूतलक्षणा मीमांसा का आधार तो पुरुषज्ञानधारा ही बना करती है। इन पाँचों, किंवा सम्पूर्ण ज्ञानधाराओं का आधार सर्वाधार सर्वबलविशिष्टरसैकघन 'परात्पर' नामक शाश्वतब्रह्म, एवं तत्सम्बन्ध में इस प्रकार की निरवकाशभावमूला कार्य्यकारणजिज्ञासा कि–'मुग्ध मायाबल को किसने प्रेरित किया !, क्या सचमुच ऐसी जिज्ञासा से हम सर्वात्मना अपनी प्रतारणा नहीं कर रहे !। मुकुलितनयन बन कर पहिले इसी प्रश्न की मीमांसा कीजिए, स्वतः समाधान हो जायगा। यदि तदनन्तर भी समाधान न होगा, तो समाधान के अन्य प्रकारों से आलोचकों के समाधान करने का प्रयत्न किया जायगा।

अयमत्र संग्रह —

(८)–स्वपदात्मानुगतषड्विधज्ञानधारापरिलेख'—

卐—शाश्वतज्ञानधारा (निराधारा शाश्वतब्रह्मधारा)——विश्वातीता (परात्पर)

(१)—पुरुषज्ञानधारा (सर्वाधारा अव्ययज्ञानधारा)——विश्वाधारभूता (पुरुष)

(२)—महज्ज्ञानधारा (सहजकर्माधारा सत्त्वज्ञानधारा)–अध्यात्माधारभूता (महान्)

(३)—विज्ञानज्ञानधारा (विचारविमर्शरूपा-बुद्धिज्ञानधारा)–पुरुषार्थाधारभूता (बुद्धिः)

(४)—प्रज्ञानज्ञानधारा (श्रवण–दर्शनादिरूपा–सर्वेन्द्रियमनोज्ञानधारा)–कर्त्तव्याधारभूता (मन)

(५)—ऐन्द्रियकज्ञानधारा (संकल्पविकल्पात्मिका–इन्द्रियमनोज्ञानधारा)–लोकाधारभूता (इन्द्रियाणि)

(६८)–अवस्थात्रयीमाध्यम से प्रश्नसमाधान—

एक दूसरे उदाहरण से कारणमीमांसा कीजिए, किन्तु–"सर्वथा अपने मनस्तन्त्र में ही, मनोऽनुगता अनिरुक्त माया में ही" इस सत्यसन्धा के साथ। क्योंकि, कारणमीमांसा का आप लक्ष्य उसे बना रहे

(६६)–अहोरात्रनिबन्धन सहजकर्म—

हम जब अपने अहोरात्रनिबन्धन सहजेच्छा (कामना) प्रेरित कर्मों की मीमांसा में प्रवृत्त होते हैं, तो सहसा इनकी कामना–प्रवृत्ति–परिणाम आदि के सम्बन्ध में हमें स्वयं अपने ही अन्तर्जगत् में आश्चर्य्यविभोर बन जाना पड़ता है। कब किसने इच्छा की, कब आध्यात्मिक सूक्ष्मशक्तियाँ जागरूक हो पड़ीं, कब उन्होंने मूर्त परिणाम धारण कर लिया !, इत्यादि हमारे स्वयं के ही प्रश्न, हमारे अपने ही कार्य्यकारणभाव हमारे लिए अचिन्त्य–अनिर्वचनीय–अप्रतर्क्य–अनिर्देश्य–अप्रमाणित होते रहते हैं।

एक स्थूल उदाहरण को लक्ष्य बना कर इस स्थिति का समन्वय कीजिए। दो व्यक्ति, किंवा अनेक व्यक्ति किसी गन्तव्य स्थान की ओर अग्रसर हैं। परस्पर किसी तात्त्विक विषय के आधार पर प्रश्न प्रक्रान्त है। प्रश्नोत्तरपरम्परा अवधानपूर्वक प्रक्रान्त है, और प्रक्रान्त है इनकी सहजगति। कब पैर उठे, कब आगे पड़े, मार्ग में कौन मिला, क्या मिला, क्या देखा, क्या सुना, कुछ भी तो आभास नहीं रहता इन मार्गानुगामी विचारविमर्शकों को। फिर भी मानना तो पड़ेगा ही कि, पूर्ण स्वस्थदशा में ही इनकी गति प्रक्रान्त रही, सभी कुछ मिलते गए–देखते गए–सुनते गए अवधानपूर्वक। फिर भी इन सहज गति–मिलन–दर्शन–श्रवण–परम्पराओं का वर्णन यदि आप इनसे पूँछने लगेंगे तो वे यही कह पड़ेंगे कि,—हम स्पष्ट रूप से इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कह सकते। हमारा ध्यान तो विचारविमर्श में समाविष्ट था। ध्यान गत्यादि की ओर न था, तो ये ठोकर खाकर गिर क्यों न पड़े, मार्ग में आगत–गत याहनादि से कुचले क्यों न गए, इत्यादि सभी प्रश्न तब तक हमारे लिए मीमांस्य बने रहते हैं, जब तक कि हम आध्यात्मिक ज्ञानधाराओं के वास्तविक सुसूक्ष्म स्वरूप का बोध प्राप्त नहीं कर लेते।

(६७)–पञ्चविधा ज्ञानधारा—

महद्ज्ञानधारा, विज्ञानज्ञानधारा, प्रज्ञानज्ञानधारा, इन्द्रियमनोज्ञानधारा, आदि रूप से चार ज्ञानधाराओं का जब हम विश्लेषण करने लगते हैं, तो इस सम्बन्ध की अनेक मीमांसाएँ स्वतःएव समाहित बन जाती हैं। आगत–समागत–दृश्यों का दर्शन, शब्दश्रवण, गन्धग्रहण, शीतोष्णवायुस्पर्श आदि आदि ऐन्द्रियक अनुभूतियों के सङ्कल्पविकल्पभावों का आधार है इन्द्रियमनोज्ञानधारा। इनकी अनुभूतियों का आधार है प्रज्ञानमनोज्ञानधारा। तात्त्विक विषयानुगत प्रश्नोत्तरविमर्श का आधार है विज्ञानधारा। एवं शारीरिक सुसूक्ष्मभूतशक्तियों के सञ्चरण से अनुप्राणित सहज गति का आधार है महद्ज्ञानधारा। चारों में पूर्व पूर्व उत्तरोत्तरापेक्षया गरीयान् है, बलीयान् है। चारों के समसमन्वय का ही नाम 'समत्वयोग' है, यही कर्म्मकौशल है। 'सत्यज्ञान, बुद्धिज्ञान, मनोज्ञान, ऐन्द्रियकज्ञान', चारों स्वतन्त्र उक्थ–ब्रह्म–सामलक्षण स्वतन्त्र ब्रह्म हैं, जो उस एक अव्यय पुरुषब्रह्म से प्रेरित होकर स्व स्व संस्थाओं के प्रभव प्रतिष्ठा–परायण बने रहते हैं। इन चारों ज्ञानधाराओं में सर्वान्त की बाह्यभूतानुगता–स्थूलभूतानुगता श्रवण–दर्शनादिरूपा ऐन्द्रियक अनुभूति ही जब पूर्वकथनानुसार शब्दद्वारा उपवर्णित नहीं हो सकती, तो इतर तीनों ज्ञानधाराओं के उपवर्णन की जिज्ञासा भी कर बैठना क्या मदारम्य नहीं है ? । हाँ,

विवेकबुद्धया अनुभवमात्र कर सकते हैं आप इन ज्ञानधाराओं का। अनुभव (मानसिक अनुभव) भी इन चारों में से केवल तीन ज्ञानधाराओं का ही सम्भव है। चौथी महद्ज्ञानधारात्मिका सत्त्वज्ञानधारा, एवं सर्वाधारभूता पुरुष (अव्यय) ज्ञानधारा, दोनों तो मानसानुभूतियों से भी अतीत हैं। आभ्यन्तर सूक्ष्म प्राण–रक्त–शिरा–स्नायु–आदि का संघटन–विघटन–परिरक्षण–आदि सभी व्यापार (कर्म्म) बुद्धिज्ञान धारा (विज्ञानधारा) से भी परे की वस्तु है, यही सत्त्वलक्षणा महद्ज्ञानधारा है, तदनुरूपी कर्म ही सहजकर्म्म है, जिनकी कामना–कार्य्यकारणमीमांसा बुद्धि के द्वारा दृश्यमात्र अवश्य है, किन्तु–'इदमित्थमेव' रूप से मीमांस्य नहीं। इस महद्ज्ञानधारा की इत्थंभूतलक्षणा मीमांसा का आधार तो पुरुषज्ञानधारा ही बना करती है। इन पाँचों, किंवा सम्पूर्ण ज्ञानधाराओं का आधार सर्वाधार सर्वबलविशिष्टरसैकघन 'परात्पर' नामक शाश्वतब्रह्म, एवं तत्सम्बन्ध में इस प्रकार की निरवक्रमाभावमूला कार्य्यकारणजिज्ञासा कि–'शुद्ध मायाबल को किसने प्रेरित किया ?, क्या सचमुच ऐसी जिज्ञासा से हम सर्वात्मना अपनी प्रतारणा नहीं कर रहे ?। मुकुलितनयन बन कर पहिले इसी प्रश्न की मीमांसा कीजिए, स्वतः समाधान हो जायगा। यदि तदनन्तर भी समाधान न होगा, तो समाधान के अन्य प्रकारों से आलोचकों के समाधान करने का प्रयत्न किया जायगा।

अयमत्र संग्रह —

(८)—स्वरूपात्मानुगतषड्विधज्ञानधारापरिलेखः—

❀—शाश्वतज्ञानधारा (निराधारा शाश्वतब्रह्मधारा)——विश्वातीता (परात्पर)

(१)—पुरुषज्ञानधारा (सर्वाधारा अव्ययज्ञानधारा)——विश्वाधारभूता (पुरुष)

(२)—सहजज्ञानधारा (सहजकर्म्माधारा सत्त्वज्ञानधारा)—अध्यात्माधारभूता (महान्)

(३)—विज्ञानज्ञानधारा (विचारविमर्शरूपा-बुद्धिज्ञानधारा)—पुरुषार्थाधारभूता (बुद्धिः)

(४)—प्रज्ञानज्ञानधारा (श्रवण–दर्शनादिरूपा–सर्वेन्द्रियमनोज्ञानधारा)—कृत्यर्थाधारभूता (मन)

(५)—ऐन्द्रियकज्ञानधारा (संकल्पविकल्पात्मिका–इन्द्रियमनोज्ञानधारा)—लोकाधारभूता (इन्द्रियाणि)

(९८)—अवस्थात्रयीमाध्यम से प्रश्नसमाधान—

एक दूसरे उदाहरण से कारणमीमांसा कीजिए, किन्तु–"सर्वथा अपने मनस्तन्त्र में ही, मनोऽनुगता अनिरुद्ध माया में ही" इस सत्यसत्ता के साथ। क्योंकि, कारणमीमांसा का आप लक्ष्य उसे बना रहे

है, जहाँ ० वाक्–प्राण–चक्षु–श्रोत्र–मन–बुद्धि–महान्–आदि किसी भी ज्ञानधारा की गति नहीं है श्रुति के–'विज्ञातारमरे ! का केन विजानीयात्' इस सिद्धान्तानुसार । अहःस्थलानुगता तमूल इन्द्रि-यचम्पना को सहजभाव से महज्ज्योति (इन्द्रियज्योति आत्मज्योतिमना) पूर्ण आपने सम्पूर्ण–(इस्त) बना लिया । इसी सहजभाव से अपने क्रम से पूर्व–पूर्व मन कर आप रात्रि विश्रामानुगत बनते हुए 'स्वमपीतो भवति' लक्षणा स्वपिति' अवस्था (सुषुप्ति–शयन) के भाव में समाविष्ट हो गए, जिसकी व्याख्या वैज्ञानिकों ने इस प्रकार की है कि, अहःकालीन ज्ञानानुगत भावनासंस्कारों का अपने प्रज्ञागर्भित प्रसन्न प्राणधरातल में, एवं कर्मानुगत वासनासंस्कारों का अपने प्राणगर्भित सबल प्रज्ञा–(सौम्य)–धरातल में समाविष्ट अर्जित करते रहने वाला 'सर्वेन्द्रिय' नामक इन्द्रियाध्यक्ष प्रज्ञानमन अपने इस संस्कारपुञ्ज के साथ स्वाध्यच विज्ञानात्मा (बुद्धि) के ज्योतिर्भाग से जबतक अनुगृहीत प्रकाशित रहता है, तबतक तो अपने इन्हीं संस्कारपुञ्जों के आधार पर काल्पनिक निर्माणात्मक स्वप्नों का सर्जन कर इनका दृष्टोपद्रष्टा बना रहता है, एवं यही इसकी 'स्वप्नावस्था, कहलाई है, जिसका 'न तत्र रथा न रथयोगा' इत्यादिरूप से विस्तार से उपवर्णन हुआ है। आगे चल कर जब विज्ञानात्मा अपने आश्रित इस संस्कारी प्रज्ञानमन को अपनी प्रभूतज्योति से अभिभूत कर देता है, तो यह चान्द्रप्रज्ञानमन उसी प्रकार इस सौरविज्ञान के प्रखर तेज से निस्तेज बन जाता है, जैसे कि अहःस्थल में सौरतेजसे खगोलमें विद्यमान भी चन्द्रमा निस्तेज–हतप्रभ बन जाया करता है। चन्द्रमा है, चन्द्रिका भी है। किन्तु अभिभव के कारण रहती हुई–भी चन्द्रिका नहीं के समान है। ठीक यही दशा इस समय चान्द्रप्रज्ञान मन की हो जाती है। मन भी है, उसमें चन्द्रिकास्थानीय भावना–वासनासंस्कारप्रज्ञा भी है। किन्तु कोई उपयोग नहीं हो सकता इस अभिभवदशा में इस मानसी प्रज्ञा का। यहीं आकर विवश बने हुए मन को विज्ञानात्मा के साथ पुरीततिनाडीमार्ग से दहराकाशस्थ ज्योतिर्णाज्योतिर्लक्षण निरवच्छिन्नविज्ञानघन सत्यज्ञानमनन्तब्रह्म पुरुषात्मक उस ईश्वरात्मा में विलीन हो जाना पड़ता है, जो इसका ही नहीं, अपितु इन्द्रिय–मन–बुद्धि–महान्–अव्यक्तादि सम्पूर्ण सोपाधिक भावों का प्रभवप्रव 'स्व' आत्मा माना गया है।

---

* न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति, नो मनो, न विद्मः (बुद्धिर्न गच्छति–), न विजानीमः। यथैतदनुशिष्यात् अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां येनस्तद् व्याचचक्षिरे। केनोपनिषत् १।३।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ॥
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥१॥
एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश॥
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥२॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।८,९।

इस 'स्व' रूप आत्मज्योति में इन सब (केवल महान् को छोड़ कर) सपङ्गात्मभावों की अपीति (अप्यय-विलयन) हो जाती है। यही 'सुषुप्ति-अवस्था' कहलाई है, जिसे स्व में अपीत होने के कारण 'स्वपिति' कहा गया है। इस अद्वैतावस्था में कुछ भी तो भान नहीं रहता। केवल जाग्रत महान् के अनुग्रह से + आध्यात्मिक प्राणों का सञ्चार होता रहता है, अतएव श्वास-प्रश्वास कर्म प्रक्रान्त रहता है, जो प्रक्रान्ति जीवनसत्ता का आधार मानी गई है। इसी आधार पर महानात्मनिबन्धन प्राणों को भी (प्राणापानसमानोदानव्यानरूप पञ्च प्राणों को भी) प्राणोपनिषत् ने जाग्रत मान लिया है। तदित्थ-इन्द्रियप्राणगर्भित (स्तौम्य वषट्कार के त्रिवृदग्नि-पञ्चदश वायु, एकविंश आदित्य, त्रिणव भास्वरसोम, त्रयस्त्रिंश दिक्सोम, इन पाँच पार्थिव भौतिक प्राणदेवताओं के प्रवर्ग्यरूप से निष्पन्न आग्नेयी + वाक्-वायव्य प्राण-आदित्य चक्षु-दिश्य श्रोत्र-भास्वरसौम्य सकल्प-विकल्पात्मक मन, इन पञ्चविध प्राणेन्द्रियों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले) प्रज्ञानमन को स्वज्योति से सर्वात्मना अभिभूत कर देने वाले विज्ञानात्मा (बुद्धि) का पुरीततिनाड़ी के द्वारा दहराकाशस्थ अव्ययस्वरात्मा में अपीत हो जाने का नाम ही सुषुप्त्य-वस्था है। निम्नलिखित श्रौत वचन इन्हीं तीनों अवस्थाओं का दिग्दर्शन करा रहे हैं, जिन तीनों अवस्थाओं का भोक्ता ज्ञानशक्तिमय प्राज्ञ, क्रियाशक्तिमय तैजस, एवं अर्थ-शक्तिमय वैश्वानर, ये तीनों जीवात्मपर्व बन रहे हैं। जाग्रदवस्था में महान्-विज्ञान-प्रज्ञान-तीनों जाग्रत हैं। स्वप्नावस्था में महान्-विज्ञान जाग्रत हैं। सुषुप्त्यवस्था में केवल महान् जाग्रत है, जिसे सुषुप्त्यवस्थानन्तर-'सुखमहमस्वाप्सी' यह उद्घोष करने का अवसर प्राप्त हुआ करता है। महानात्मा की सुषुप्ति ही मृत्युलक्षणा सर्वावसाना वस्था मानी गई, जिस इस सर्वावसान-सर्वप्रवृत्ति के मूलाधार महानात्मा को स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा के सम्बन्ध से 'शान्तात्मा' (क) भी कहा गया है।

— य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्म्मिमाणः। तदेव शुक्रं-तद् ब्रह्म-तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत् (महानात्मा)

—कठोपनिषत् ५।८।

+ अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्य श्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत् ॥

—ऐतरेयोपनिषत् २।४।

(क) यच्छेच्छान्त आत्मनि (कठोपनिषत्-१।३।१३)।
यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति 'शान्तात्मा' तदा सर्वं निमीलति ॥
मनु १।५२।

क (१)–अथ हैनं सौर्य्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ–भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे (अध्यात्मसंस्थायां) कानि स्वपन्ति ?, कान्यस्मिन् जाग्रति ?, कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति ?, कस्यैतत् सुखं भवति ?, कस्मिन्नु सर्व्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति ?, इति । तस्मै स होवाच–यथा गार्ग्य ! मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः, सर्व्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डले एकी भवन्ति, ता पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्ति, एवं ह वै तत्सर्व्वं परे देवे मनस्येकी भवन्ति (इन्द्रियाणि) । तेन तर्ह्येष पुरुषः–न शृणोति, न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयते, न स्पृशते, नाभिवदते, नादत्ते, न विसृजते, नेयायते । 'स्वपिति' इत्याचक्षते । (सैषा सुषुप्त्यवस्था) ॥

(२)–प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति । गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानः, व्यानोऽन्वाहार्य्य पचनः । यद्गार्हपत्यात्–प्रणीयते, प्रणयनात्–आहवनीयः प्राणः । यदुच्छ्वास निःश्वासौ–एतावाहुती समं नयतीति, स समानः । मनो ह वाव यजमानः । इष्ट फलमेवोदानः । स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति । (सैषा जाग्रदवस्था) ॥

(३)–अत्रैष देवः (मनः) 'स्वप्ने' महिमानमनुभवति, यत्–दृष्टं दृष्टमनुपश्यति, श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति, देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्टं चादृष्टं च, श्रुतं चाश्रुतं च, अनुभूतं चाननुभूतं च, सच्चासच्च सर्व्वं पश्यति, सर्व्वः पश्यति । (सैषा स्वप्नावस्था) ॥

(४)–स यदा तेजसा (विज्ञानात्मना) अभिभूतो भवति, अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यति, अथैतस्मिञ्छरीरे एतत् सुखं भवति । (सैषा सुखावस्था) ॥

(५)–स यथा सोम्य ! वयांसि (पक्षिणः) वासो वृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते, एवं ह वै तत् सर्व्वं पर आत्मनि (अव्ययात्मनि) सम्प्रतिष्ठते । (सैषा सम्प्रतिष्ठितावस्था)॥

(६)–एष हि द्रष्टा–स्प्रष्टा–श्रोता–घ्राता–रसयिता–मन्ता–बोद्धा–कर्त्ता–'विज्ञानात्मा' पुरुषः । स परेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते । परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते । स यो ह वैतत्-

---

क–इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन उपनिषद्विज्ञानभाष्यों में, विशेषतः 'प्रश्नोपनिषत्-विज्ञानभाष्य' के प्रथमप्रकरण में देखना चाहिए ।

अच्छाय-अशरीर-अलोहित-शुभ्रमक्षर वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्वज्ञः सर्व्वो भवति, तदेप श्लोकः—

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वं प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षर वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्व्वज्ञ. सर्व्वमेवाविशेति"

—प्रश्नोपनिषत् ४ प्रश्न ।

अयमत्र सग्रहः-अवस्थानुगत —

(१)—कानि स्वपन्ति ? — प्रज्ञानमनोऽनुगतानीन्द्रियाणि स्वपन्ति ।

(२)—कान्यस्मिन् जाग्रति ? — महानात्मानुगता पञ्च प्राणा जाग्रति ।

(३)—कतर एप देव स्वप्नान् पश्यति ? — सर्वेन्द्रियमन स्वप्नान पश्यति विज्ञानात्मना ।

(४)—कस्यैतत सुखं भवति ? — महानात्मन सुखं भवति ।

(५)—कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति ? — परेऽव्यये सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति सर्वे ।

(७)—तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत —इद च (जाग्रत्स्थान)—परलोक-स्थान च (सुषुप्तिस्थानञ्च)। सन्ध्य तृतीय स्वप्नस्थानम् * । तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यति—इद च, परलोकस्थान च । अथ यथाक्रमोऽय परलोकस्थाने भवति । तमाक्रम्याक्रम्य—उभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति । स यत्र प्रस्वपिति—अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामुपादाय स्वय विहत्य स्वय निर्म्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति । अत्राय पुरुष स्वयञ्ज्योतिर्भवति ।

(८)—न तत्र रथाः, न रथयोगा , न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान्—रथयोगान्—पथ — सृजते । न तत्रानन्दा —मुद —प्रमुदो भवन्ति, अथानन्दान्—मुद —प्रमुद सृजते । न तत्र वेशान्ता —पुष्करिण्यः—स्रवन्त्यो भवन्ति, अथ वेशान्ता —पुष्करिण्य स्रवन्त्यो सृजते । स हि कर्त्ता । तदते श्लोका भवन्ति—

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्त सुप्तानभिचाकशीति ॥
शुक्रमादाय पुनरति स्थान हिरण्मय पुरुष एकहस ॥१॥ (विज्ञानात्मा)

---

* सन्ध्ये सृष्टिराह हि । सूचकश्च हि । निर्म्मातार चैके पुत्रादयस्य । (वेदान्तसूत्राणि)

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा ॥
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥२॥ (हंसात्मा)
स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि ॥
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतापि भयानि पश्यन् ॥३॥ (प्रज्ञानात्मा)॥

(९)—आराममस्य पश्यन्ति, न तं पश्यति कश्चनेति । तं नायतं बोधयेदित्याहुः । दुर्भिषज्यं हास्मै भवति, यमेष न प्रतिपद्यते । अथो खल्वाहुः—'जागरितदेश एवास्यैष' इति । यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति, तानि सुप्त, इति । अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति ।

(१०)—स वा एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव । स यत्तत्र किंचित् पश्यति, अनन्वागतस्तेन भवति । असङ्गो ह्ययं पुरुषः ।

(११)—स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव । स यत् यत्र किञ्चित् पश्यति, अनन्वागतस्तेन भवति । असङ्गो ह्ययं पुरुषः ।

(१२)—स वा एतस्मिन् बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति, स्वप्नान्तायैव ।

(१३)—तद्यथा महामत्स्य —उभे कूलेऽनुसञ्चरति—पूर्वञ्च—अपरञ्च, एवमेवायं पुरुषः—एतौ—उभौ—अन्तौ—अनुसञ्चरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च । तद्यथास्मिन्—आकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते, एवमेवायं पुरुषः—एतस्मा (स्मै) अन्ताय धावति, यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति ।

(१४)—ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो—यथा केशाः सहस्रधा भिन्नास्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति—शुक्लस्य—नीलस्य—पिङ्गलस्य—हरितस्य—लोहितस्य—पूर्णाः । अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव—हस्तीव—विच्छाययति—गर्तमिव पतति । यदेव जाग्रद्भयं पश्यति, तदत्राविद्यया मन्यते । अथ यत्र देव इव, राजेव, अहमेवेदं सर्वोऽस्मि—इति मन्यते,

सोऽस्य परमो लोक । तद्वा अस्यैतत्—अतिच्छन्दा—अपहतपाप्मा—अभय रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्य किञ्चन वेद, नान्तरम्। तद्वा अस्यैतत्—आप्तकाम—आत्मकाम—अकाम रूप शोकान्तरम्।

(१५)—अत्र पिता अपिता भवति, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवा, वेदा अवेदा। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति, भ्रूणहा अभ्रूणहा, चाण्डालोऽचाण्डाल, पौल्कसोऽपौल्कस, श्रमणोऽश्रमण, तापसोऽतापस। अनन्वागत पुण्येन, अनन्वागत पापेन। तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति।

(१६)—यद्वै तन्न पश्यति—पश्यन्वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीयमस्ति -ततोऽन्यद्विभक्त पश्येत्। यद्वै तन्न जिघ्रति, न रसयते, न वदति, न शृणोति, न मनुते, न स्पृशति, न विजानाति, न हि—घ्रातुर्घ्राते —रसयितु रसयते —वक्तुर्वक्ते —श्रोतुः श्रुतेः—मन्तुर्मते —स्प्रष्टुः स्पृष्टेः-विज्ञातुर्विज्ञाते —विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीयमस्ति-ततोऽन्यद्विभक्त यज्जिघ्रेत्—यद्रसयेत्—यद्वदेत्—यच्छृणुयात्- यन्मन्वीत—यत् स्पृशेत्-यद्विजानीयात्। यत्र वा अन्यदिव स्यात्—तत्राऽन्योऽन्यत् पश्येत्—जिघ्रेत्—रसयेत्-वदेत्—शृणुयात्—मन्वीत—स्पृशेत्—विजानीयात्। सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति। एष ब्रह्मलोकः सम्राट्—इति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य। एषास्य परमा गतिः। एषास्य परमा सम्पत्। एषोऽस्य परमो लोक। एषोऽस्य परम आनन्दः। एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

—बृहदारण्यकोपनिषत् ४ अ०।३ ब्रा०।

(१७)—सर्वं ह्येतद्ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्। जागरितस्थानो बहि - प्रज्ञ—सप्ताङ्गः—एकोनविंशतिमुखः—स्थूलभुक्—वैश्वानरः प्रथमः पाद (जाग्रद्-वस्थानुगत)। स्वप्नस्थानोऽन्त प्रज्ञ —सप्ताङ्ग —एकोनविंशतिमुख—प्रविविक्तभुक्-तैजस —द्वितीय पादः (स्वप्नावस्थानुगतः)॥ यत्र सुप्तो न कञ्चन काम कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान —एकीभूत -प्रज्ञानघन — एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्—चेतोमुख—प्राज्ञः—तृतीयः पाद (सुषुप्त्यवस्थानुगत)॥ एष सर्वेश्वरः (अध्यात्मसस्थायाः)। एष सर्वज्ञः, एषोऽन्तर्यामी, एष योनि सर्वस्य। प्रभवाप्ययौ हि (शारीर) भूतानाम्।

(१८)-नान्तःप्रज्ञ—न बहिः प्रज्ञ-नोभयतः प्रज्ञ-न प्रज्ञानघन-न प्रज्ञ-नाप्रज्ञ—मदृष्ट-अव्यवहार्य्य—अग्राह्य-मलक्षण-मचिन्त्य-मव्यपदेश्य-एकात्मप्रत्ययसार—प्रपञ्चोपशम-शान्त-शिव-मद्वैत-चतुर्थ मन्यन्ते। स आत्मा। स विज्ञेय। सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रम्। पादा मात्रा। मात्राश्च पादा:-अकार, उकार, मकारः, इति।

(१९)-जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा-आप्तेरादिमत्त्वात्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, आदिश्च भवति, य एव वेद॥ स्वप्नस्थानस्तैजस -उकारो द्वितीया मात्रा-उत्कर्षादुभयत्वाद्वा। उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्तति, समानश्च भवति, नास्याऽब्रह्मवित् कुले भवति, य एव वेद॥ सुषुप्तस्थान प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा-मितेरपीतेर्वा। मिनोति ह वा इद सर्व, अपीतिश्च भवति-य एवं वेद। अमात्रश्च तुर्योऽव्यवहार्य्यः प्रपञ्चोपशमः शिव -अद्वैतः। एवमोङ्कार आत्मैव। संविशत्यात्मना (अमृतात्मना-सर्वभूतान्तरात्मना) आत्मान (जीवात्मानं-भूतात्मानं) य एव वेद, य एव वेद॥ —माण्डूक्योपनिषत्।

अयमत्र सग्रहः—

(९) अवस्थाप्रवर्त्तकमोङ्कारात्मस्वरूपपरिलेखः—

(अ)-प्रपञ्चोपशम -(चतुर्थ-सर्व) -सर्वाधार-सर्वमात्रासमनुस्यूत-साक्षी
(१)-प्राज्ञ -(विश्वः-एकर्षिरा-ऐन्द्र) -सुषुप्त्यवस्थाधार-मकारमात्रिक-आनन्दभुक्
(२)-तैजस (आन्तरिक्ष्य-पञ्चदश-वायव्य)-स्वप्नावस्थाधार-उकारमात्रिक-प्रविविक्तभुक्
(३)-वैश्वानर) पार्थिव-त्रिवृत -आग्नेय)-जाग्रदवस्थाधार-अकारमात्रिक-स्थूलभुक्

प्रपञ्चोपशमादिमोक्षसाक्षी

(१०) चतुष्पादात्मस्वरूपपरिलेख—

१—इन्द्रियानुगतो वैश्वानर —(इन्द्रियाणि)—जाग्रदवस्थाभूमि
२—प्रज्ञानमनोऽनुगतस्तैजस —(मन)—स्वप्नावस्थाभूमि
३—विज्ञानबुद्ध्यनुगत प्राज्ञ —(बुद्धि)—सुषुप्त्यवस्थाभूमि
४—महानात्मानुगत प्रपञ्चोपशम —(महान्)—सर्वावस्थाभूमि

—सोऽयमात्मा चतुष्पात्
'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'

अथमत्र सर्व्वसंग्रह — (११)-अधिदैवत-अध्यात्मसमतुलनपरिलेख:—

अधिदैवत		अध्यात्म	
—सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्पर		—अभयम्	—सर्वभाव
(६) त्रिपुरुषपुरुषात्मक —पुरुष		—साक्षी (श्वोवसीयसमन)	—पुरुषभाव
(१) स्वायम्भुवाव्यक्त	—परमात्मा	—शान्तात्मा (विरज)	प्रकृतिभावा
(२) पारमेष्ठ्य	—प्रजापति	—महानात्मा (सत्त्वम्)	
(३) सौर	—हिरण्मय: पुरुष	—विज्ञानात्मा (बुद्धि:)	
(४) चान्द्र	—श्रद्धामय पुरुष	—प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रियमन)	
—१—विश्वेन्द्रमूर्ति	—सर्वज्ञ	—प्राज्ञात्मा (आनन्दभुक्)	भोक्ता
—२—आन्तरिक्ष्यवायुमूर्त्ति	—हिरण्यगर्भ	—तैजसात्मा (प्रविविक्तभुक्)	
—३—पार्थिवाग्निमूर्त्ति	—विराट्	—वैश्वानरात्मा (स्थूलभुक्)	
त्रयस्त्रिंशानुगत (३३)	—दिक्सोम (५)	—श्रोत्रम्	भोगसाधनानि
त्रिणवानुगत (२७)	—भास्वरसोम: (४)	—इन्द्रियमन	
एकविंशानुगत (२१)	—आदित्य: (३)	—चक्षु	
पञ्चदशानुगत (१५)	—वायु (२)	—प्राण	
त्रिवृदनुगत (९)	—अग्नि (१)	—वाक्	
(५) भौम —	—भूतेश	—शरीरम्	भोगायतनम्

इति नु—अधिदैवतम् ⟷ इति नु—अध्यात्मम्

पूर्णमद ⟷ पूर्णमिदम्

सोऽसौ —— योऽहम्

योऽसौ —— सोऽहम्

"सर्वमिदमोङ्कार एव"

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति॥
इन्द्रियेभ्य परं मन, मनस सत्त्वमुत्तमम्॥
सत्त्वादधि महानात्मा, महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥
अव्यक्तत्तु पर पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च॥
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥
—कठोपनिषत् ६।६।७,८।

एकोनविंशतिविधव्यानुगत पूर्वोद्धृत औपनिषद गणना के मानसिक समन्वय के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि—प्रज्ञानोनिभूत सत्यमूर्त्ति महानात्मा के महदायतन में प्रतिष्ठित वैश्वानर तैजस–प्राज्ञभावों से ज्ञान–क्रिया–अर्थशक्तिमय बनता हुआ भोक्ता वही कर्मात्मा इन्द्रिय–प्रज्ञानमन–विज्ञानबुद्धि, इन तीन प्राकृत भावों के सहयोग से क्रमशः जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्ति नाम की तीन सुप्रसिद्ध अवस्थाओं का सहजरूप से अनुगामी बना रहता है, बना रहना चाहिए। 'बना रहना चाहिए' यह सन्दिग्ध वाक्य इस लिए प्रयुक्त हुआ कि, यदि विज्ञान–प्रज्ञान–इन्द्रिय–शरीरादि–सूक्ष्मतम–सूक्ष्मतर–सूक्ष्म–स्थूल–चारों आभ्यन्तर–बाह्य साधनों के द्वारा कर्मात्मा सत्यमूर्त्ति महानात्मा की सहज–प्राकृतिक–ईश्वरेच्छा का अनुगामी बना रहता है, तब तो इसके शारीरिक–ऐन्द्रियक–मानसिक–एवं बौद्ध कर्म भी उरिष्वतकांक्षारूपा सहजकामनालक्षणा सहजेच्छा से ही सुसमन्वित बने रहते हैं। यदि प्रज्ञापराधवश कर्मात्मा उत्थाप्याकांक्षारूपा कृत्रिमकामनारूपा इच्छा का क्रीतदास बन जाता है, तो इस अवस्था में यह उस सहज आत्मकामनानुग्रह से वञ्चित होता हुआ लक्ष्यभ्रष्ट बन जाता है। एवं इस दुरवस्था में आकर ही यह लक्ष्यभ्रष्ट–सर्वभ्रष्ट मानव भूतदृष्टिपरायण बनता हुआ भौतिक–स्थूलकाम्यकारणों की मीमांसा–जिज्ञासा–प्रश्नोत्तरविमर्शाकांक्षा में प्रवृत्त हो जाता है।

सहजरूप से जाग्रदवस्था में संयुक्त सहज मानव सहज कर्मों में प्रवृत्त होता हुआ सहजभावापन्न भावना–वासनासंस्कारपुञ्जों से समन्वित होता हुआ सहजरूप से विश्रामानुगामी बन कर भोक्ता बन सहज स्वप्नद्रष्टा हो गया। ऐसे सहज मानव के सहज स्वप्न वास्तव में शुभाशुभ भावों के सूचक बनते रहते हैं। स्वप्नावस्थापर्य्यन्त कर्मप्रवृत्त्याधारभूत भावना–वासनासंस्कारपुञ्ज अन्तर्जगत् में उद्बुद्ध हैं, विकसित हैं। अतएव स्वप्नावस्था में जाग्रदवस्था की भाँति विविध सूक्ष्म कर्म वस्तुगत्या प्रक्रान्त रहते हैं। जो अर्वाचीन दार्शनिक स्वप्नवत् जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादन करने की महद्भ्रान्ति करते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, जब स्वप्न ही मिथ्या नहीं, तो तदाधारेण 'नामरूपे वै सत्यम्। ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः' (शत० ब्रा० १४।४।४।४) इत्यादि श्रौती घोषणाओं से अनुप्राणित सर्वथा 'सत्य' विश्व को मिथ्या प्रमाणित करने का साहस कथमपि क्षम्य नहीं माना जा सकता। शशशृङ्ग–खपुष्प–बन्ध्यापुत्र–आदि कतिपय उदाहरणों को अभ्युपगमवाद से थोड़ी देर के लिए फिर भी हम मान्यकोटि में अन्तर्भुक्त कर लेते हैं। किन्तु जिस स्वप्नजगत् में तदनुबन्धी सूक्ष्म कर्मों का स्थूल परिणाम भूतपरिणामवत् प्रत्यक्ष दृष्ट है, उस स्वप्नजगत् को तो कथमपि काल्पनिक–मायिक–किंवा मिथ्या नहीं कहा जा सकता। स्वयं मूलदर्शन ने (वेदान्तसूत्र) जब कि–'सन्ध्ये सृष्टिराह हि–सूचकश्च हि' इत्यादि रूप से स्वप्न को शुभाशुभ भावों का सूचक घोषित किया है, तो विदित नहीं किस प्रकार वेदान्तनिष्ठा–व्याख्या के आवेश से वेदान्तव्याख्याताओंने स्वप्नवत् जगन्मिथ्यावाद की कल्पना कर डाली ?। स एव प्रष्टव्या अभिनिविष्टाः।

'सुप्तोऽहं किल विललाप' इत्यादि अनुभूतियाँ स्पष्ट हैं। स्वप्न में मानव के अश्रुपात होते देखे गए हैं, अट्टाट्टहास-मन्दहास-अनर्गल वैखरीवागुच्चारण श्रुतोश्रुत हैं। स्वप्नानुगत दाम्पत्यकर्म्म के परिणामस्वरूप रेत स्खलन 'स्वप्नदोष' नाम से प्रसिद्ध ही है। यदि इन स्थूल-प्रत्यक्षदृष्ट परिणामों के अनुरूप स्वप्न म कर्म्म न होता, तो इन परिणामों का एवंविध मूर्तरूप खपुष्प-वन्ध्यापुत्रादिवत् सर्वथा असम्भव ही बना रहता। इसीलिए तो इस व्याख्यात्मक भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में हमें विवश बन कर यह कहना ही पड़ रहा है कि, नैगमिक सर्गव्याख्यालक्षणा आचारमीमांसा से असंस्पृष्ट यह केवल तत्त्वमीमांसात्मक भारतीयदर्शन 'दर्शन' से अधिक कुछ भी तो नहीं है। अलमतिपल्लवितेन। उत्तर खण्ड में थोड़े विस्तार से दार्शनिक दृष्टिकोण की मीमांसा होने वाली है। अतः इस प्रसङ्ग को यहीं उपरत कर दिया जाता है। निष्कर्षत ये स्वाप्न अनुभूतियाँ अपने उदर्कभावों से यह प्रमाणित कर रहीं हैं कि, स्वप्नानुगत सांस्कारिक कर्म्म केवल मातिसिद्ध-काल्पनिक पदार्थ नहीं हैं, अपितु स्थूल बाह्यजगद्वत् सत्तासिद्ध सत्य तत्त्व हैं। अतएव 'स्वप्नवत् जगत् मिथ्या' वाक्य के स्थान में अवश्य ही निगमनिष्ठ मानव को 'जगत्वत् स्वप्न भी सत्य' इस वाक्य का प्रतिष्ठान कर लेना चाहिए।

हाँ, तो प्रकृत दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाइए। इत्थंभूता सूक्ष्म स्वप्नावस्था के अनन्तर संस्कारसमन्वित प्रज्ञानमन विज्ञानज्योति से सर्वथा अभिभूत होता हुआ विज्ञानद्वारा पुरीततिनाड़ी के मार्ग से स्वाधार-सर्वाधार आत्मदेवता में अपीत हो जाता है, यही इस की सुषुप्त्यवस्था है, जिसे ब्रह्मावस्था (अद्वैतावस्था) से समतुलित माना गया है दाम्पत्यभाववत्। इस अवस्था में सब कुछ अपीत है। यहीं यह मूलप्रश्न उपस्थित हो पड़ता है, जिसके समन्वय की अब तक चेष्टा हुई है। जबकि कामना-संस्कार-क्रिया-बुद्धि-मन-इन्द्रियव्यापार-आदि सब कुछ इस अवस्था में विलीनवत् है, तो पुन जाग्रदवस्था किसकी कामना-किसकी प्रेरणा से आविर्भूत हो पड़ी? यही तो आलोचक का मुख्य मूलप्रश्न है। जो समाधान इस प्रश्न का है, वही समाधान उस प्रश्न का है। समाधान का मूलाधार है 'बल की सहज अवस्था', जिसका शाश्वत चङ्क्रमणात्मक अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्तादि धारारूप से सतत चङ्क्रमण होता रहता है। चङ्क्रमण सहज, तदनुगता कामना-प्रेरणा सहज। और इस सहज परिवर्त्तन में कृत्रिम कार्य्य-कारणात्मक प्रश्नों का समावेश सर्वथा अवरुद्ध।

क्षणभावापन्न बलों की 'सुप्तावस्था कुर्वद्रूपावस्था-निगडबद्धावस्था' रूप से तीन मुख्य अवस्थाएँ मानी गई हैं। ये ही तीनों अवस्थाएँ विज्ञानपरिभाषानुसार क्रमशः 'बल-प्राण-क्रिया' इन नामों से प्रसिद्ध हुई हैं। सुप्तावस्था में वही बल 'बल' कहलाया है, कुर्वद्रूपावस्था म वही बल 'प्राण' कहलाया है, एवं निगडबद्धावस्था में वही बल 'क्रिया' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। उदाहरण के माध्यम से इस बलत्रयी का समन्वय कीजिए। आप सशक्त हैं, इसका यह अर्थ हुआ कि आप बलवान हैं। तात्पर्य, आप में बल मात्रा आवश्यकतानुसार परिपूर्ण है। इसी बल के आधार पर तो आप गमनागमन-अशनपानादि करने में सशक्त (सबल-समर्थ) माने जाते हैं। हाँ, तो आपको अपने दैनदिन नियमानुसार सहजभाव स

अपने नियत सहज समय में गन्तव्य स्थान की ओर गमन करता है। इस गमन से पूर्व आप समाधान सहज भाव से समासीन हैं। इस आसीनावस्था में आपका बल (गत्युन्मुखबल) 'सुप्त' माना जायगा, जिसे कि आपने अभी कार्य्यरूप में परिणत नहीं किया है, किन्तु निकट भविष्य में ही कार्य्यरूप में परिणत करने वाले हैं। इस अनुदद्रूपावस्थापन्न बल का ही 'सुप्तबल' कहा जायगा, यही 'बल' कहलाएगा।

सहसा सहजभाव से बिना किसी तात्कालिक कामना से प्रेरित होकर नियत समय पर गन्तव्य स्थान की ओर आप अभिमुख हो पड़ते हैं। सुप्त-अचित-आशात्मक बल जागरूक हो पड़ता है, क्रुदद्रूप अवस्था में परिणत हो जाता है। बल की गतिरूपा यही द्वितीयावस्था 'प्राण' कहलाई है। इस प्रकार आप कबतक-कहाँतक-कितने वेग से गत्युन्मुख बने रह सकते हैं?, प्रश्नों का समाधान योगबलोदय के द्वारा प्राणरूप में परिणत बल की इयत्ता पर ही अवलम्बित है। प्राणावस्था में परिणत बल शनैः शनैः भावानुगत भी तो बनता रहता है, दूसरे शब्दों में व्यय भी तो होता रहता है। ऐसा भी समय आ सकता है, जब आप एक पादमात्र भी अग्रगामी बनने में असमर्थ हो जायें। इसलिए कि, प्राणावस्थापन्न बल अपने सहज विस्रसन-स्वरस-धर्म्म से क्षय को होता रहता है। यही बल की तीसरी निगच्छदवस्था है, जिसे वैज्ञानिकोंने गुणभूतावयवानुगत भावबल के माध्यम से 'क्रिया' नाम से व्यवहृत किया है*।

(१६)—ज्ञान-इच्छा-क्रतु-कर्म्मस्वरूपपरिचय—

एक अन्य दृष्टिकोण से बलावस्थात्रयी का समन्वय कीजिए। आप का हाथ अभी निश्चल है। मक्षिका-मशकादि के दंश निवारणार्थ निश्चल भी हाथ सहसा गतिरूप में परिणत हो जाता है। इस हस्तविधूननरूप कर्म्म में 'ज्ञान-इच्छा-क्रतु-कर्म्म' ये चार भाव समाविष्ट माने गए हैं। 'मैं हाथ उठाऊँ' इस सहज इच्छा का मूलाधार (जिसके कार्य्यकारण से हम स्वयं भी परिचित नहीं हो पाते) मनोमय प्रज्ञानज्ञान है, यही सम्पूर्ण इच्छारूप अर्कों (रश्मियों) का मूल उक्थ (प्रभव) है। इसी आधार पर 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इच्छा के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही हाथ में आमूलचूडरूप से एक प्रकार का कम्पन-सा हो पड़ता है, जिसका अर्थ है आभ्यन्तर प्राणव्यापार। जिसे संस्कृत भाषा में कृति-यत्न-चेष्टा आदि कहा जाता है, यही छन्दोभ्यस्ताभाषा (वेदभाषा) में 'क्रतु' कहलाया है। अर्थात् (लकवा) का रोगी कामना करता है, कामना को कर्म्मरूप स्थूलभाव में परिणत करने वाला भौतिक शरीर भी यहाँ है। किन्तु भूत तथा मन, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहने वाला भाव इसका मूर्च्छित है। अतएव इसकी कामना कार्य्यरूप में परिणत नहीं हो पाती। यही 'कृति' का निदर्शन है। इस आभ्यन्तर-सूक्ष्म-प्राणव्यापाररूप क्रतु के अव्यवहितोत्तरकाल में ही हाथ (हस्तात्मक स्थूलभूत) क्रियाशील बन जाते हैं, हाथ हिल पड़ता है। यही 'कर्म्मावस्था' कहलाई है, जिसे

* गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदः 'क्रिये'ति व्यपदिश्यते ॥
—वाक्यपदी (भर्तृहरिसम्मतवैय्याकरण)।

विज्ञानभाषा में 'दक्ष' कहा गया है। अतएव कर्मवृत्ति 'दक्षता–दाक्षिण्य' कहलाई है, तथ क्रतु मानवभ'क्ष 'दक्ष' कहलाया है, जिसके स्वरूपविश्लेषण के लिए ही चान्द्रकक्षात्मक दक्षवृत्त के आधार पर दक्षप्रजापति का सुप्रसिद्ध पौराणिक इतिहास अवतीर्ण हुआ है। इस प्रकार मनोमय ज्ञान, तज्जन्या इच्छा, तज्जन्य क्रतु, तज्जन्य कर्म, चारों के समसमन्वय से ही 'क्रतु' (कर्मस्वरूपनिष्पत्ति) मात्र का उदय होता है, जैसाकि अभियुक्तोंने कहा है—

> ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ।
> कृतिजन्य भवेत् कर्म, तदेतत् 'क्रतु' मुच्यते ।।

(७०)—बल-प्राण-क्रिया-स्वरूपपरिचय—

महानात्मा मनोमय है, कृतिभाव प्राणमय है, कर्मभाव वाङ्मय है। मन-प्राणवाङ्मय आत्मा ही ज्ञान सहकृत कामना–कृति–कर्म–रूप क्रत्वात्मा नामसे प्रसिद्ध हुआ है, जिसका–'क्रत्वात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि'—(छान्दोग्य० उप० ८।१३।१) इत्यादि रूपसे यशोवर्णन हुआ है। यही क्रत्वात्मा औपनिषदों में– 'युक्तात्मा'– 'आप्तकाम'– 'पर्य्याप्तकाम'– 'आत्मकाम'– 'आप्तकाम' इत्यादि उपाधियों से विभूषित हुआ है *। इन चारों क्रत्वंशों में मनोमय बल मुक्तबल है, ज्ञानसहकृत–इच्छाभाव, एवं तदभिन्न आभ्यन्तर प्राणबलात्मक कृतिभाव कुर्वद्बल है। एवं भूतानुगत कर्म निर्गच्छद्बल है। इस दृष्टि से भी बल–प्राण–क्रिया का समन्वय हो रहा है।

अयमत्र संग्रहः—ज्ञानेच्छाक्रतुकर्म्मविषयसमष्टिपरिलेख —

१—ज्ञानम् (उक्थम्) २—इच्छा (अर्कः)	—मनस्तन्त्रम् (ज्ञानम्)—मुक्तबलात्मकं बलम् (१)	—समष्टिरूप (क्रतुभावः)
३—क्रतुः (अर्कभाग) ४—कर्म (अर्करूपः) *विसृष्टि (अशीतिः)	—प्राणतन्त्रम् (क्रिया)—कुर्वद्बलात्मकः प्राणः (२) —अर्थतन्त्रम् (अर्थ)—निर्गच्छद्रूपा क्रिया (३)	

---

*कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते यत्र तत्र ।।
पर्य्याप्तकामस्य 'कृतात्मनस्तु' इहैव सर्व्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।।१।।
सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ता 'कृतात्मानो' वीतरागाः प्रशान्ताः ।।
ते सर्व्वगं सर्व्वतः प्राप्य धीरा 'युक्तात्मानः' सर्व्वमेवाविशन्ति ।।
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।२,५।

(टिप्पणी का शेषांश पृष्ठ २५४ पर देखिए)

(७१)-बल का सहज धर्म्म, और प्रश्न समाधान—

अवस्थात्रयी बल का सहज स्वभाव है। कब क्यों कहां क्या हो पड़ता है ?, इत्यादि प्रश्नपरम्पराओं का बल के इस सहजकाम–सहजप्रेरणा–सहजक्रिया–सहजकर्म्मों के सम्बन्ध में प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। सुप्तावस्था का यह अर्थ किस आधार पर मान लिया गया कि, अब यह बल अपने सहज कुर्वद्भाव से ही उच्छिन्न हो गया। कुर्वद्रूपता का अभिभवमात्र है अव्यक्तावस्था में। जैसे कुर्वद्रूपता–कामना–क्रियाभावों का अभिभवभावात्मक अव्यक्तभाव सहज है, स्वाभाविक है, तथैव इनका व्यक्तीभाव भी तो सहज ही रहेगा। इस दिशा में किसने, कब, कहां प्रेरित किया ? प्रश्नों का अवसर ही कहां प्राप्त होता है। सुषुप्ति में श्रवण–मननादि सब व्यापार अव्यक्तभाव में परिणत हो जाते हैं, इसका यह अर्थ कैसे मान लिया गया कि, ये सब व्यापार नष्ट ही होगए, अतः अब इनकी पुनः प्रवृत्ति के लिए किसी नवीन सृष्टि-कर्म्म–नवीन कामना–नवीन प्रेरणा–नवीन क्रिया–कर्म्म की अपेक्षा है ? 'नासतो विद्यते भावः—नाभावो विद्यते सतः' लक्षण सत्-कार्य्यवाद सिद्धान्त से परिचित मानव कभी इस आविर्भाव-तिरोभावमूलक सहज सर्ग–प्रलयधारा में इस प्रकार के न च–नुच की कल्पना भी नहीं कर सकता। 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्—'–'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' इत्यादि निगमवचन बलानुबन्धी इसी शाश्वत धाराक्रम का स्पष्टीकरण कर रहे हैं, जिसके महिमभाव (विवर्तभाव) से अपरिचित यथाजात मानव ही कब–कैसे–किसलिए ? इत्यादि निरर्थक प्रश्नों का अनुगामी बना रहता है। जो समाधान यह अपनी विज्ञानदृष्टि से अपनी सुषुप्त्यवस्था के अनन्तर समागत जाग्रत् अवस्था के लिए करेगा, कर सकेगा ?, वही समाधान उस सुप्त मायाबल के सम्बन्ध में समन्वित मान लिया जायगा, जो सर्वलयभाव शाश्वत बललक्षण मायातीत अनन्तर परात्पर में सुप्त हो जाया करता है।

वह सत्कार्य्यवादी ऐसा निरर्थक प्रश्न करेगा ही क्यों, जिसने यह मर्म्म हृदयङ्गम कर लिया है कि शिल्पी पाषाणशिला से किसी नवीन प्रतिमा का निर्माण नहीं करता। अपितु अव्यक्तरूप से पूर्व से ही विद्यमान स्वेच्छ प्रतिमा के आवरण को हटाकर मूर्ति को अपने शिल्पकौशल से, व्यक्तमात्र कर दिया करता है। नहीं, तो वह पानी की प्रतिमा क्यों नहीं बना डालता ?। दुग्ध से ही तो घृत का विनिर्गमन सम्भव है। जो है, उसी का तो व्यक्तीभाव होता है। अहरागम में अव्यक्त से व्यक्त का सहज रूप से आविर्भाव, एवं रात्र्यागम में व्यक्त का अव्यक्त में सहज रूप से ही विलयन, इस सहज सर्ग–लयभाव में काल्पनिक कार्यकारण–प्रश्नोत्तर-विमर्श का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता। स्पष्ट है कि—

> अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
> रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
>
> —गीता ८।१८

(२५१ की टिप्पणी का शेषांश)

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥
आस्थितः स हि 'युक्तात्मा' मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ गीता ७।१८

(७२)—अचिन्त्या खलु ये भावाः—

असमविपल्लविवेन। घुण्यद्‌ वर्जनन्यायेन विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्वमूलकारणभूत—सीमाभावप्रवर्तक—अव्यक्तावस्थापन्न मायातत्त्व के प्राथमिक उदय से सम्बन्धित आलोचक के अन्यर्थकारणभाव के समाधान की चेष्टा की गई। वह इससे कृतात्मा (संतुष्ट) बन जाय, अथवा तो अभिनिवेशानुग्रह से अपनी विमुखता को और भी दृढ़ बनाता हुआ सर्वज्ञानविमुख अकृतात्मा ही बना रह जाय, इत्यादि मीमांसाओं का भार उसी के बुद्धि-तन्त्र पर विसर्जित करते हुए हम तो जो सर्वान्त में अपनी उठी 'पुन' एक बार बात कुछ समझने जैसी है' इस धारणा के माध्यम से इस सम्बन्ध में 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' आदेश को शिरोधार्य कर यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त समझते हैं कि, उस अनन्त ब्रह्म के अनन्त स्वरूप को भी जिस महामाया जगदम्बा उमा हैमवती पीताम्बरा भगवती ने सीमित बना डाला, उस महिमामयी विश्वाधारभूता महामाया के आविर्भाव—तिरोभाव जैसे अचिन्त्य प्रश्न को श्रद्धापूर्वक अचिन्त्य ही मानते हुए उसके इसी निःसीम अनुग्रह की कामना से सर्वात्मना सम्चरणों में अर्पित कर रहे हैं अपनी सामान्य बुद्धि को निम्नलिखित आर्षवाणी के आधार पर—

> अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
> प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

(७३)—युगानुगता लोकभावुकता—

वर्त्तमानयुग की लोकभावुकता के कारण समुपस्थित सामयिक उद्वेगकरी प्रश्नचर्चा को यहीं सदा के लिए समाप्त करते हुए हम पुनः अपने श्रद्धाशील पाठकों को उस महामाया की शरण में आकर्षित कर रहे हैं, जिसने अपने बलानुबन्धी सहजभाव से उदित होकर व्यापक परात्परब्रह्म के अमुक प्रदेश को स्वपुरसीमा से सीमित करते हुए 'पुरुष' अभिधा में परिणत कर दिया है, जो कि मायावच्छिन्न परात्पर अर्थ परात्पर न कहलाकर 'पुरुष' नाम से ही घोषित होने लगा है। इसी दुर्विज्ञेय पुरुषाव्यय की उपासना में यह मानुक उसी महामायानुग्रह से प्रवृत्त होने का साहस कर रहा है।

पृष्ठ सं २१२ से आरम्भ कर पृष्ठ सं २१४ पर्य्यन्त यह स्पष्ट हुआ है कि, असीम परात्पर में सीमाभावसम्पादक मायाबल का सहज भाव से उदय हुआ। इससे परात्पर ब्रह्म का तत्प्रदेश सीमित बनता हुआ इस मायापुर सम्बन्ध से 'पुरिशेते' निर्वचन से 'पुरिशय' बन गया, जो कि 'पुरिशय' शब्द परोक्षप्रिय देवताओं (महर्षियों) की परोक्षभाषा में—'पुरुष' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ। इस पुरुष का केन्द्रस्थ बल ही 'श्वोवसीयस्' नामक काममय आत्ममन कहलाया। इससे सर्वप्रथम उद्भूत मनोरेतोभूता कामना से यही अव्ययपुरुष—निष्कलपुरुष—आगे चलकर पञ्चकलात्मक बनता हुआ 'कोशब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस स्थिति के प्रसङ्ग में ही यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित हो गया था कि, असीम अतएव सर्वप्रास—आप्त—परात्परब्रह्म में सुप्त माया बल को किसने प्रेरित किया?। इस प्रासङ्गिक प्रश्न का प्रसङ्गविधया विविध दृष्टिकोणों के माध्यम से समाधान करने की चेष्टा की गई। अब पुनः भावी निष्कल अव्यय पुरुष के पञ्चकल, तत्र प्रतिष्ठित कोशस्वरूप की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

(७४)—मनोमय कामात्मक रेत—

मनोमय कामात्मक रेत का मनःप्रधान निष्कल अव्ययपुरुष में 'एकोऽहं बहुस्याम्-प्रजायेय' इत्यंरूपा भूमाभावपरिणति की कामना से सहज कामनामयरूप उदित हुआ। इस कामरेत से निष्कल अव्यय-पुरुष को अपनी भूमा के साफल्य के लिए क्या प्राप्त हुआ ?, दूसरे शब्दों में अपनी इस प्रथम कामना से अव्यय को क्या लाभ हुआ ?, प्रश्न का समाधान है—"निष्कलरूपता से अव्ययपुरुष का कलात्मक 'सकल' रूप में परिणत हो जाना"। 'सकल' शब्द एक रहस्यार्थक शब्द है। लोकव्यवहार में 'सकल' शब्द का उपयोग-सम्पूर्ण-पूर्णता' आदि भावों के लिए हुआ करता है, जैसा कि—'सकल ब्रह्माण्ड नायक परमेश्वर'-'सकलविश्वाधिष्ठाता'-'सकलत्रिभुवनभाग्यविधाता' आदि लोकव्यवहारों से प्रमाणित है। तत्त्वतः 'सकल' शब्द का अर्थ सम्पूर्ण, किंवा पूर्णता नहीं है। अपितु कलाभाव-खण्डभाव-का ही नाम 'सकल' है (कला सहित-खण्डसहित)। निष्कल अव्ययपुरुष की पांच कलाएँ ही पुरुष का कलात्मक-खण्डात्मक-सकलभाव है।

(७५)—'सकल' शब्द मीमांसा—

वस्तुस्थिति ऐसी है कि, जब तक पुरुषात्मा रसबलचितिलक्षणा पांच कलाओं में अपने आपको विभक्त-परिणत न कर पञ्चकल चिदात्मस्वरूप में परिणत नहीं हो जाता, तब तक विश्वसर्गरूपा खण्डात्मिका-नाना-भावात्मिका परिपूर्णता (विश्वस्वरूपनिष्पत्तिलक्षणा विश्वपरिपूर्णता-सम्पूर्णत्व) असम्भव ही बनी रहती है। सकल (कलात्मक-खण्डात्मक-नानाभावात्मक-विभिन्नपदार्थात्मक) पाञ्चभौतिक महाविश्व की परिपूर्णता (स्वरूपनिष्पत्ति) निष्कल अव्ययपुरुष के सकलभाव (पञ्चकलात्मकभाव) पर ही अवलम्बित है। इस विश्वपूर्णता-साफल्य की दृष्टि से ही भावव्यञ्जक सकल शब्द का लौकिक अर्थ 'पूर्णता' बन गया है। इसके अतिरिक्त स्वयं निष्कल अव्ययेश्वर की भूमाभावात्मिका परिपूर्णता भी अमुक दृष्टिकोण से कलात्मक-नाना भावात्मक विश्वस्वरूप पर ही अवलम्बित है। विश्व ही 'विश्वेश्वर-पूर्णेश्वर' अभिधाओं का मूल बनता है। अतएव सकल (कलात्मक) विश्वनिबन्धना ईश्वरपरिपूर्णता की दृष्टि से भी 'सकल' शब्द व्यवहार में पूर्णता का वाचक बन गया है। इस प्रकार निष्कल अव्यय की कलाओं के द्वारा विश्व परिपूर्ण बनता है, इस आत्म-निबन्धन दृष्टिकोण से, तथा सकल विश्व के द्वारा विश्वेश्वर 'परिपूर्ण' अभिधा से घोषित होता है, इस विश्वनिबन्धन दृष्टिकोण से, उभयथा कलाभावात्मक भी सकलशब्द व्यवहार में पूर्णतावाचक बन गया है।

(७६)—रसबल की व्यापकता—

रसबलात्मिका महामाया की परिधि के आसमन्तात्—चारों ओर से वेष्टित हृदयबलावच्छिन्न मनोमय-रसबलात्मक निष्कल-अव्ययात्मा में भूमाभावात्मिका पूर्णता के उदय के लिए सर्वप्रथम 'कामरेत' का प्रादुर्भाव हुआ, कामना का आविर्भाव हुआ। इस रेतोमयी (सृष्टि-मुक्ति-बीजमयी) कामना का क्या स्वरूप ? प्रश्न का उत्तर 'रस-बल' के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। सद्रूप रस, एवं असद्रूप बल, दो के अतिरिक्त, दोनों के समन्वित, किंवा वियुक्त रूप के अतिरिक्त कामना का यथार्थ में अन्य कोई रूप हो भी क्या सकता है। रस-बल, दो ही तत्त्व परिधिमण्डल में व्याप्त, रस-बल, दो ही तत्त्व केन्द्र में व्याप्त। दो ही तत्त्व हृदयस्थ मन के स्वरूपनिर्माता। फलतः मनोमयी कामना में रसबल के अतिरिक्त और हो भी क्या सकता है। यह

रसबल ही कामना का वास्तविक स्वरूप है। अतएव इस अध्ययात्मानुगता मनोमयी कामना के हम 'रसकामना'-'बलकामना',-रसबलकामना, ये तीन ही नामकरण कर सकते हैं। मन रस की कामना कर सकता है, बल की कामना कर सकता है, रसबल दोनों की कामना कर सकता है। यही तो कामना का वास्तविक स्वरूप है। उक्थ का स्वरूप ही कामना का आधार बना करता है। अतएव जैसा स्वरूप उक्थ का होता है, 'अर्चंश्चरति' रूपा अर्कलक्षणा कामना का भी वैसा ही स्वरूप हुआ करता है। उदाहरण मे समन्वय कीजिए।

(७७) सास्कारिक उक्थस्वरूपपरिचय—

स्वप्नावस्था के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है कि, 'यान्येव जाग्रत् पश्यति-तानि सुप्तः। इति' (बृ० उप० १।३।)। तात्पर्य्य, स्वप्नावस्था में मन अपने मनोराज्य में संस्कारपुञ्ज के द्वारा उन्हीं दृश्यों को देख सकता है, देखता है, जिन्हें जाग्रदवस्था में देख सकता है, देख चुका है, अनुभव कर चुका है। ठीक यही स्थिति कामना के सम्बन्ध में समझिए। मन उन्हीं विषयों की कामना कर सकता है, करता है, जो संस्काररूप से, बीजरूप से पहिले से ही इसके प्रज्ञाधरातल पर प्रतिष्ठित रहा करते हैं। जिनका संस्कार मन में नहीं होता, उनकी इच्छा भी नहीं होती, नहीं हो सकती। कटु-अम्ल-लवण-तिक्त-मधुर-(कड़ुए-खट्टे-खारे-तीखे मीठे) स्वादु अस्वादु भावों की सत्ता स्वयं मानसप्रज्ञा में पहिले से ही विद्यमान रहती है। यही तो वह सुप्रसिद्ध सत्कार्य्यवाद सिद्धान्त है, जिसका निष्कर्ष पूर्व में ही प्रासङ्गिक प्रश्नसमाधान में दिग्दर्शन कराया गया है। निम्ब-आमलक-लवण-मरीचिका-इक्षुरस (नीम-आँवला-नमक-मिर्च-गन्ने का रस) आदि कटु-अम्लादि पदार्थों में कटु-अम्लादि तत्त्व नहीं हैं। अपितु ये तो कटु अम्लादि भावों के अभिव्यञ्जकमात्र है। दीपशलाका सुप्त दीप में ज्वाला का समावेश नहीं करती। अपितु अव्यक्त ज्वाला को व्यक्तरूप प्रदानमात्र कर देती है। तथैव निम्बादि पदार्थों के सम्पर्क से रसनेन्द्रिय में प्रतिष्ठित कटुत्वादिरस अभिव्यक्तमात्र हो पड़ते हैं। कहीं से इन रसों का अपूर्व आगमन नहीं होता। जिसकी रसनेन्द्रिय में जो रस संस्कारस्वरूप से जितनी मात्रा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है, उसकी रसनेन्द्रिय उसी मात्रा से तत्सजातीय पदार्थ के सम्पर्क से तद्रसानुभूति में समर्थ बना करती है। देखते हैं, स्वयं भी अनुभव करते हैं कि, किसी के लिए तिक्त मरीचिका अश्रुपात का कारण बन जाती है, एवं कोई इसे मधुररस की भाँति चर्बित कर जाता है। कहीं प्रचण्ड सीत्कार है, तो कहीं सीत्कार का आभास भी नहीं। ज्वरादिदशा में मधुर भी रस कटु प्रतीत होने लग जाते हैं। जिस जिस रसोक्थ पर किसी दोष का आक्रमण हो जाता है, वह वह रस अभिभूत होता हुआ तत्तदभिव्यञ्जक बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से भी उद्बुद्ध नहीं हो पाता। इस सहज स्थिति के आधार पर हमें यह मान लेना पड़ता है कि, जिन भौतिक विषयों की मन कामना करता है, वे भौतिक विषय संस्काररूप से पहिले से ही मानसप्रज्ञा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं। जो संस्कार उक्थरूप से प्रज्ञा में नहीं हैं, उनकी इच्छा भी नहीं हुआ करती, नहीं हो सकती। सुप्रसिद्ध "जात्यायुर्भोगाः" भी सिद्धान्त का यही मूल है। यही दृष्टिकोण 'भाग्यवाद' की मूलप्रतिष्ठा बना करता है, जिसे पुरुषार्थानुगत स्वतन्त्र उक्थ से अभिभूत भी किया जा सकता है। पूर्वोक्थ अभिभूत किए जा सकते हैं, नवीन उक्थ प्रतिष्ठित किए जा सकते हैं। प्रत्येक दशा में कामना के लिए उक्थ की पूर्वसत्ता अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित ही मानी जायगी।

(७८)-रसबल का अन्तरान्तरीभाव—

उक्त सिद्धान्त से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, मनःप्राणवाङ्मय आत्मा के अध्यात्मपुर में क्योंकि रसभाग-बलभाग, रूप से दो ही प्रकार के उभय हैं। अतः इनके कामनामनस के दो कामना के भी रसकामना, बलकामना, किंवा उभयकामना, ये तीन ही विवर्त हो जाते हैं। अभी दो कामना मान कर ही हम तत्त्वमीमांसा में प्रवृत्त होते हैं। रसाभिमुख रसकामना, बलाभिमुखा बलकामना, कामना के ये दो विभिन्न रूप उक्त कामनामय अध्यात्ममनस में प्रादुर्भूत हुए। यह स्मरण रखने की बात है कि, अपने नैसर्गिक अन्तर्यान्तरीभावात्मक-ओतप्रोतभावरूप-विलक्षण सम्बन्ध के कारण-मिश्रण कामसत्यप्रतिपादिका श्रुति में ही— 'सतो बन्धु मसति निरविन्दन्' रूप से विश्लेषण हुआ है—रस और बल, दोनों में अन्तर्यान्तरीभाव सम्बन्ध रहता है, जिसका—'तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः'—'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृत आहितः' इत्यादि श्रुतियोंसे स्पष्टीकरण हुआ है। दोनों में आधाराधेयसम्बन्ध नहीं है। अपितु ओतप्रोतसम्बन्ध है, अविनाभाव सम्बन्ध है, जिसका लौकिक निदर्शन क्रियाशीला अँगुली मानी जा सकती है। अँगुली हिल रही है। यह हिलना क्रिया है। स्थूलभाषा में इस क्रिया का अँगुली का आधार माना जाता है, एवं क्रिया का आधेय माना जाता है। किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। यदवच्छेदेन अँगुली है, तदवच्छेदेनैव क्रिया है। अँगुली के अणु अणु में क्रिया है, क्रिया के अणु अणु में अँगुली है। यही अविनाभावात्मक ओतप्रोत वह सम्बन्ध है, जिसका यथार्थ दर्शन तो एकमात्र रसबलक्षेत्र में ही सम्भव है। शुद्धरस, शुद्धबल, किंवा शास्त्रीय भाषानुसार निर्विशेष ऐकान्तिक रस, तथा निर्विशेष ऐकान्तिक बल, इन दो शब्दों का, निर्विशेष भावों का आप अपने ज्ञानीय जगत् में (बुद्धि में) अनुभवमात्र कर सकते हैं। किन्तु सत्तारूपेण दोनों कभी स्वतन्त्र-निर्विशेष रूपसे,नहीं रह सकते। अतएव जहाँ जहाँ भी 'रस' का उल्लेख होगा, सर्वत्र उन उन रसप्रकरणों में सर्वत्र रसगर्भ में बल का समावेश स्वतः समाविष्ट-मान लेना होगा। एवमेव यत्र यत्र 'बल' का उल्लेख होगा, तत्र तत्र सर्वत्र बलगर्भ में रस का समावेश स्वतः समाविष्ट मान लिया जायगा। दूसरे शब्दों में 'रस' शब्द का सर्वत्र अर्थ होगा **'बलगर्भित रस'** (बल को गर्भ में रखनेवाला रस), एवं **'बल'** शब्द का सर्वत्र अर्थ होगा **'रसगर्भित बल'** (रसको गर्भ में रखनेवाला बल) रसबलनिबन्धना—ओतप्रोतभावात्मिका इस सहज परिभाषा के माध्यम से ही प्रस्तुत विश्वस्वरूप की तात्त्विकमीमांसा में हमें प्रवृत्त रहना पड़ेगा।

(७९)-सिसृक्षा-मुमुक्षास्वरूपपरिचय—

उक्त सहज परिभाषानुसार 'रसकामना' का अर्थ होगा—**'बलगर्भिता रसकामना'**, जिसे शास्त्रोंने 'मुमुक्षा' कहा है। एवं **'बलकामना'** का अर्थ होगा—**'रसगर्भिता बलकामना'**, जिसे शास्त्रोंने 'सिसृक्षा' कहा है। सृष्टिस्वरूपनिबन्धना बलग्रन्थियों को उन्मुक्त—विमुक्त करते रहने वाली रसकामना ही मुमुक्षा कहलाएगी, एवं सृष्टिस्वरूपनिबन्धना बलग्रन्थियों को दृढ़मूल बनाने वाली बलकामना ही 'सिसृक्षा' कहलाएगी। दूसरे शब्दों में सम्भूतिकामना को सिसृक्षा कहा जायगा, विनाशकामना को 'मुमुक्षा' माना जायगा। ध्वंस कामना मुमुक्षा कहलाएगी, निर्माणकामना सिसृक्षा मानी जायगी। 'लयकामना' को मुमुक्षा कहा जायगा, सर्गकामना को सिसृक्षा माना जायगा। एवं इन परस्परात्यन्तविरुद्ध भी इन दोनों कामनाओं को रसबलवत् एक ही बिन्दु में समन्वित माना जायगा, जैसा कि निम्न लिखित श्रुतिसे स्पष्ट है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥
—ईशोपनिषत्

(८०)–ध्वंसनिर्म्माणमीमांसा—

प्रतिक्षण–विलक्षण–निर्म्माण–ध्वंस–चक्रपरम्परा के सहज शाश्वत आवर्त्तन का नाम ही वास्तविक 'सृष्टिविद्या', 'किंवा' सृष्टिविज्ञान' है। 'प्रतिक्षण' शब्द तो समझने के लिए–व्यवहारमात्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतस्तु इस सृष्टिधाराचक्र के परिभ्रमण के सम्बन्ध में काल का नियमन कदापि कथमपि सम्भव नहीं है। दिग्–देश–कालभाव इस सहज–नित्य–शाश्वत सर्गलयधारा का कदापि कथमपि नियमन नहीं कर सकते, जिनके नियमनसूत्रों का केवल सौर–चान्द्र–पार्थिव–सम्वत्सरमात्र से ही सम्बन्ध माना गया है। एवं जो मूलसृष्टिधारा–'यस्मादर्वाक् सम्वत्सरमहोभिः परिवर्त्तते' के अनुसार सम्वत्सर का भी मूल बनी हुई है, सम्वत्सरात्मक दिग्–देशकाल–चक्र जिस सृष्टिधारा के गर्भ में अपने नियमनसूत्रों का संचालन कर रहा है। तभी तो श्रुति को इस शाश्वत सृष्टिधारा के सम्बन्ध में 'क इत्था वेद, यत्र स' यह घोषणा करनी पड़ी है। क्षण–निमेष–काष्ठा आदि की कथा का यहाँ कोई महत्त्व नहीं है, जब कि यदवच्छेदेन सिसृक्षा है, तदवच्छेदेनैव मुमुक्षा भी प्रक्रान्त रहती है। क्या महत्त्व शेष रह जाता है उन भूतकार्य्यकारणवादी आलोचकों की आलोचना का, प्रश्नपरम्परा का, जो अपनी काल्पनिक इतिहास दृष्टि के माध्यम से—'इससे पूर्व वहाँ तक यह–वहाँ से आगे यह' इत्यादि रूप से अपने कल्पनाप्रश्नों का सर्जन किया करते हैं। अन्तरान्तरीभावात्मक सहज धाराक्रम में रस–बल के सहजभावापन्न इस मुमुक्षा–सिसृक्षा क्रम में–'यहाँ से यह–वहाँ से यह' इत्यादिलक्षण कालनियमन का, तन्निबन्धना दिग्–देशभावानुगता इतिहासपरम्परा का संस्मरण भी हमें प्रायश्चित्त का भागी बना रहा है। स्पष्ट है कि, रसबल की इस नैसर्गिक अविनाभूति के सम्बन्ध में भावुक मानव जब भी कभी भ्रान्ति कर बैठता है वही क्षण इसके दुःख का श्रीगणेश बन जाया करता है। सम्भूति और विनाश, निर्म्माण एवं ध्वंस, सर्ग तथा प्रलय, इन दोनों बलरसनिबन्धन भावों की अविनाभावानुभूति जहाँ नैष्ठिक सहज मानव की अध्यात्मानुगता सहज आत्मनिष्ठा है, वहाँ इस द्वन्द्वभाव की पार्थक्यानुभूति भावुक मानव की चरणानुगता वैकारिक मानसिक भावुकता है। अध्यात्मानुगत समत्वबुद्धियोग के उपदेष्टा भगवान् ने अपने गीताशास्त्र में इसी अविनाभावलक्षणा समता (समत्वयोगमूलक समदर्शन) को लक्ष्य बनाते हुए ही पदे पदे भावुक अर्जुन के माध्यम से हमारे जैसे भावुक मानवों का अनुग्रहपूर्वक उद्बोधन कराया है।

(८१)–प्रथमचितिक चिदात्मस्वरूपमीमांसा –

बलगर्भिता रसकामना का अभ्ययमन से उदय हुआ। इस रसकामना के उदय से केन्द्रस्थ मनोमय रसबलोभयमूर्त्ति निष्कल अव्ययपुरुष धरातल पर केन्द्र से परिधिपर्यन्त व्याप्त परिपूर्ण–रसबलात्मक अशीतिपरिग्रह (कामनाभोग्यपरिग्रह) में से रस (बलगर्भित रस) की चिति (चयन–बन्धन) हुई। यही 'प्रथमा रसचिति' कहलाई, जिसमें बल सर्वथा सहचर–संचर–शक्तिभाव से रस के साथ समन्वित रहा, अतएव ऐसे सहचरभावात्मक बल की विद्यमानता में भी वैज्ञानिकों ने इस बलरसोभयात्मिका भी मुमुक्षाक्रमनानुगता चिति का केवल रसचिति' नाम से ही व्यवहार कर दिया। अतएव इसे 'विशुद्धरसचिति' मान लिया गया (अपने

ज्ञानक्षेत्र में)। विशुद्धरसात्मिका यही प्रथमा चिति (अध्यात्मरसात्मिका रसचिति) ही अध्यात्मा की प्रथमा 'आनन्दकला' कहलाई, जिसका 'रसो वै स । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' इत्यादिरूप से यशोगान हुआ है। स्मरण रहे—यह रसात्मक आनन्द, किंवा आनन्दात्मक रस लोकप्रसिद्ध ऐन्द्रियक 'सुख' से सर्वथा विभिन्न विलक्षण तत्त्व है। सुख अपने परावलम्बनत्व (विषयावलम्बनत्व) से—वहाँ आदि-अन्त बनता हुआ क्षणिक है, अशाश्वत है, विनश्वर है, परिणाम में दुःखान्त है, एवं 'ख' सम्बन्ध से ऐन्द्रियक बनता हुआ अनुकूलवेदनालक्षण दुःखैकसार ही है, वहाँ आनन्दात्मक रस स्वप्रधानात्मक (अध्यात्मस्थानात्मक) केन्द्र बल से अच्युत बना रहता हुआ अपने केन्द्रस्थ क्षयोपशमन् नामक मनोभाव के सम्बन्ध से स्वतः स्वतः भूमा-अनन्तभाव का स्वरूपसमर्पक-संग्राहक-संरक्षक बनता हुआ शाश्वत है, सनातन है, अविनाशी है, अनुच्छित्ति-धर्मा है, 'ख' (इन्द्रिय) सम्बन्ध से असंस्पृष्ट-विमुक्त-उन्मुक्त रहता हुआ शाश्वत शान्ति का प्रवर्त्तक है, शाश्वतशान्तिस्वरूप है। 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (व्याससूत्र) रूप से भगवान् व्यास ने इसी आनन्दरूपा अध्यात्मनिबन्धना रसात्मिका प्रथमा अध्यात्मकला का ही यशोगान किया है।

(८२)—रसचिति का मूलाधार—

बलगर्भिता रसप्रधाना की प्रवृत्ति से आनन्दचिति पर पुनः बलगर्भित रस की चिति हुई। इस द्वितीया रसचिति में यद्यपि ग्रन्थिबन्धन तो नहीं है, किन्तु वहाँ का अबन्धनात्मक सहचर सम्बन्ध भी नहीं है। 'संचारबन्धन' नामक असंबन्धात्मक सम्बन्ध, ('बहिर्य्याम सम्बन्ध' नामक असम्बन्धात्मक संचार भावात्मक सम्बन्ध) तथा ('अन्तर्य्याम सम्बन्ध' नामक सम्बन्धात्मक ग्रन्थिबन्धनभावात्मक सम्बन्ध,) इन दोनों सम्बन्धों के मध्य का जो एक उभयधर्म्मात्मक सम्बन्ध होगा, वही इस दूसरी रसचिति का मूलाधार माना जायगा, जिसका अर्थ यह होगा कि, इस द्वितीया रसचिति में बल उद्बुद्धावस्थापन्न रहेगा, रस भी उद्बुद्धावस्थापन्न रहेगा, दोनों एक प्रकार से समतुलित रहेंगे। किन्तु ग्रन्थिबन्धनात्मक अन्तर्य्यामसम्बन्धलक्षण योगसम्बन्ध नाम के अपनी सहज वास्तविक उद्बोधनावस्था से वञ्चित रहने के कारण यहाँ बल को निर्बल तथा रस को ही उद्बुद्ध-प्रधान-माना जायगा। एवं इसी प्राधान्य से इस द्वितीया चिति को बल के उद्बुद्ध बने रहने पर भी कहा जायगा रसचिति ही।

(८३)—अन्तश्चित्त, और अन्तर्म्महिमा—

इस द्वितीया रसचिति में क्योंकि बल प्रथमा चिति की अपेक्षा उद्बुद्ध हो जाता है, अतएव यहाँ बल का स्वाभाविक मृत्युनिबन्धन नानात्वधर्म्म भी जागरूक हो जाता है। इस बलनिबन्धन नानात्व से एकत्व-निबन्धन रसानुगत, किंवा रसरूप ज्ञानमात्र भी नानाभावसहचारी बन जाता है। एकमात्र इसी आधार पर इस द्वितीया रसचिति को 'विज्ञानचिति' (विविधं ज्ञानं—नानाभावापन्नं ज्ञानं—नानाभावानुगतो रस एव विज्ञानम्। तस्यैषा चितिर्विज्ञानचितिः) नाम से व्यवहृत किया जायगा। इस प्रकार बलगर्भीभूता—सहचरबल-निबन्धना प्रथमा 'आनन्दचिति' नाम की रसचिति ही—रसात्मा ही—इस बलजागरूकावस्था में 'विज्ञानचिति' रूप में परिणत हो जाती है। यही वह है, जो कि विज्ञानचिति है। इसी रसनिबन्धना अद्वयभावना की श्रुति ने सर्वत्र सब चितियों में—"तस्यैष एव शारीर आत्मा, यः पूर्वस्य" (तै० उप० २।३) इस प्रकार घोषणा की है। बलसहचरभावनिबन्धना प्रथमा रसचिति, बलजागरूकभावनिबन्धना द्वितीया रसचिति, इन दोनों

आनन्द–विज्ञानचितियों का एक स्वतन्त्र विभाग इसलिए माना जायगा कि, इन दोनों में ही तत्त्वतः प्राधान्य रस का ही है। रस ही वस्तुगत्या यहाँ उद्बुद्ध है। बल दोना ही चितियों में सुप्तप्राय ही है। क्योंकि बिना बलग्रन्थिसम्बन्ध के केवल सद्रूप, किंवा आमद्भावापन्न भी बल संश्लिष्टलक्षण सृष्टिकर्तृत्व धर्म में असमर्थ बना रहता हुआ सुप्तवत् ही माना जायगा। तभी तो बल के रहते हुए भी इन दोनों चितियों का 'रसचिति' कहना अन्वर्थ प्रमाणित होगा। रस सुसूक्ष्मभाव है। सूक्ष्मता का अन्तर्भाव से सम्बन्ध है। अतएव इस उभयचितिसमष्टि को विज्ञानभाषा में 'अन्तश्चिति' कहा जायगा, जिसका मूल बनती है केन्द्रस्थ रसबलोभयात्मक काममय पुरुषमन की बलगर्भिता रसकामनारूपा 'मुमुक्षा'। स्वरूप से बन्धन से विमुक्त रस की कामना मुमुक्षा ही तो मानी जायगी, जिससे ग्रन्थिबन्धनविमोक ही हुआ करता है। अतएव इस अन्तश्चितिरूप आनन्दविज्ञानमय अव्ययपुरुष को अवश्य ही 'मुक्तिसाक्षी' आत्मा कहा आर माना जायगा, एवं यही मुमुक्षारूपा कामना का प्रथम 'अन्तर्विवर्त्त', किंवा निगमभाषा में 'अ सम्मेंहिमा' मानी जायगा।

(८४) अधामच्छद प्राणतत्त्व—

काममय मन का बलभाग अब उत्तेजित होने लगा। उत्तेजित–उद्बुद्ध तो वह हो पड़ा था विज्ञानचिति में ही, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है। किन्तु वहाँ रसप्राधान्य से बल को सृष्टिकार्योन्मुख मनन का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। अतएव आनन्द–विज्ञानात्मिका रसचितियों में बल की जागरूकावस्था–उत्तेजितावस्था भी तत्त्वतः सुप्तावस्था में ही परिणत हो रही थी। केन्द्रस्थ काममय मन में सहज स्वभाव से बलनिबन्धना सिसृक्षा जागरूक हो पड़ी, जिसे हम 'बलेच्छा' (रसगर्भिता बलेच्छा) कहेंगे। इस मनोमय कामात्मक बल की प्रेरणा से विज्ञानचिति के उत्तेजित–उद्बुद्ध बल को प्रोत्साहन मिला। उद्बुद्धोत्तेजित विज्ञानचितियुक्त बल सहसा आर भी अधिक उत्तेजित होता हुआ एक प्रकार से क्रियाशील बन गया। यहाँ रसभाव अंशतः अपने सहज शान्त भाव से अभिभूत–सा बन गया (बलापेक्षया, न तु स्वरूपापेक्षया)। बल की प्रधानता से, तथा रस की गौणता से यह चिति 'बलचिति' (रसगर्भिता बलचिति) कहलाई, जिसे विज्ञानपरिभाषा में 'प्राणचिति' कहा गया है। क्रियाशीलतत्त्व का ही नाम 'प्राण' है, जैसा कि पूर्व के 'बल–प्राण–क्रिया' भावस्वरूपनिरूपण प्रसङ्ग में स्पष्ट कर दिया गया है। सुप्तावस्थापन्न वही बल 'बल' है, कुर्वद्रूपावस्थापन्न वही बल 'प्राण' है, एवं निर्गच्छद्रूपावस्थापन्न वही बल 'क्रिया' है। रसचिति (आनन्द–विज्ञानचिति) में बल उद्बुद्ध तो था, किन्तु कुर्वद्रूपावस्थापन्न नहीं था। अतएव मायातीत नितान्त प्रसुप्त बलवत् इस बल को भी उन दोनों चितियों में 'बल' नाम की सुप्तावस्थापन्ना अभिधा से ही समन्वित रहना पड़ा। किन्तु बलप्रधाना सिसृक्षारूपा बलकामना के सजातीय प्रेरणाबल से कुर्वद्रूपावस्थापन्न बनने वाला वही सुप्त बल यहाँ इस तृतीया बलचिति में 'प्राण' अभिधा से समन्वित हो गया। इसी दृष्टि से इस बलचिति का 'प्राणचिति' (कुर्वद्रूपावस्थापन्न बल की चिति) कहना सर्वात्मना अन्वर्थ बना, जिसमें रस बना अन्तर्मुख, बल बना बहिर्मुख। रस का यहाँ आत्यन्तिक रूप से अभिभव (अन्तर्मुखता) नहीं है। अपितु सहज अभिभव है। अतएव इस इस चिति का सहज भी बल रस की इस आंशिक जागरूकावस्था से अवश्य ही बना रहता है। अतएव वैज्ञानिकों ने प्राण को 'असत्' मानते हुए इसे 'अधामच्छद' ही कहा है। अतएव च प्राण का "रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्दाऽसंस्पृष्ट—अधामच्छद—सुसूक्ष्मभाव एव प्राणः" यह लक्षण किया गया है।

(८५) सप्तप्राणात्मिका सुपर्णचिति—

तृतीया बलचितिरूपा यह प्राणचिति सृष्टिकर्म में अपना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। सम्पूर्ण सर्गरहस्यों में सर्वत्र यह 'प्राणब्रह्म' ही उपक्रमोपसंहार बना है। सर्वमूलान्वेषक आर्षवैज्ञानिक महर्षि इस प्राणात्मक बलान्वेषण के आधार पर ही 'ऋषि' अभिधाओं से समलंकृत हुए हैं। अपने कुत्सुरूपावरणा-लक्षण गतिभाव से ही यह बलतत्त्व 'ऋषिगन्' निर्वचन से 'ऋषि' कहलाया है। बड़ा ही गहन गम्भीरतम स्वरूप है इस प्राणतत्त्व का, जिसके अनन्त विवर्त हो जाते हैं। अतएव 'त इद्गम्भीरवेपसः'* कहते हुए मन्त्रर्षि ने प्राण के आनन्त्य का यशोगान किया है। 'को हि प्राणानामानन्त्यं वेद' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति भी प्राण के आनन्त्य का ही यशोगान कर रही है। यही वह सुप्रसिद्ध प्राणर्षि, किंवा ऋषिप्राण है, जिसे 'असत्' रूप (सदात्मकरूप) से उपवर्णित करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने विश्व का मूल माना है। इसी को सृष्टि का मूलाधार माना गया है। यही ऋषिप्राण आगे जाकर सर्वप्रथम सप्तर्षिप्राणरूप में परिणत होता है। सातों के पारस्परिक स्वानुगत सर्वहुतभावात्मक आहुतिसम्बन्ध से सप्त-सप्त प्राणात्मक सप्त-सप्त पुरुषात्मक 'सप्तपुरुषप्रजापति' की स्वरूपनिष्पत्ति होती है, जिसका 'चतुरात्' आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा' रूप से संस्थान माना गया है, जो कि संस्थान सुप्रसिद्ध 'सुपर्णचिति' का मूलाधार माना गया है। यही सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्राणप्रजापति सृष्टि का मूलाधार बनता हुआ 'प्रतिष्ठाब्रह्म' कहलाया है, जिसका तत्त्वात्मक त्रयीवेदरूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। "ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत—त्रयीमेव विद्याम् । तस्मां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत" इत्यादि रूप से तत्त्ववेदमूर्ति इस प्राणब्रह्म के अन्तर्यामीरूप कर्म से ही अपस्त्रस्त-फेनात्मक-मृदोऽपत-रेतोऽपत आदिरूप आगे जाकर अण्डसृष्टि (ब्रह्माण्डसृष्टि) का विकास हुआ है। जिसका शतपथभाष्य के उपप्रकरण (अग्निचितिरहस्यप्रकरण) में विस्तार से उपबृंहण हुआ है, यही प्राणचितिरूप प्राणब्रह्म का प्रासङ्गिक यशोगान है, जिसे आधार मान कर ही हमें विश्वस्वरूप-मीमांसा का स्वरूपविश्लेषण करना है। 'परे प्राणम्' रूप से यही प्राण 'मनु' कहलाया है, जिसके स्वरूपविश्लेषण के लिए ही हमें इस आत्मस्वरूपमीमांसा का प्रासङ्गिक आश्रय लेना पड़ा है। सर्वगति-लक्षणा यही वह प्राणतत्त्व है, जिसके गति-स्थित्य दि पञ्च विवर्तों के आधार पर 'निष्ठा-भावुकता की तात्त्विक मीमांसा' व्यवस्थित बनने वाली है। प्राणविद्या ही ऋषिविद्या है। यही निगमविद्या है, यही वह सुप्रसिद्धा ब्रह्मविद्या है, जिस ब्रह्मात्मिका देवविद्या के बल पर नैगमिक महर्षियों नें किसी युग में यह घोषणा की थी कि, "ब्रह्मविद्यया ह वै सर्व्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्या" ।

(८६)—मन:प्राणवाङ्मय 'वौक्' एवं वषट्कार—

बल कुर्वद्रूपावस्था में परिणत होता हुआ विशेषरूप से समुदीर्ण हुआ। काममय मन की सिसृक्षा का पुनः प्रेरणाबल प्राप्त हुआ। इस आत्यन्तिक सघनावस्था में आकर वही प्राणात्मक बल मूर्त रूप का अनुगामी

---

* विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः ।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे ॥
—ऋक्सं० १ ।६२।५

बन गया। दूसरे शब्दों में अव्यक्तावस्थापन्न प्राण व्यक्तावस्थापन्न 'वागभाव' में परिणत हो गया, जिस वागभाव के गर्भ में अकार–उकार–समतुलित मन, प्राण, दोनों भाव समाविष्ट हैं। 'अ–उ–अच्' ही वागभाव का मौलिक स्वरूप माना गया है। वागभाव में 'उ' रूप प्राण का प्राधान्य है, 'अ' रूप मन का द्वितीय स्थान है। अतएव 'अ'–'उ' ('मन'–'प्राण') इस प्राकृतिक स्थिति के स्थान में प्राण–प्राधान्यापेक्षया 'उ'–'अ' ('प्राण'–'मन') यह स्थिति बन जाती है। जो बल–जो मूलावस्थानुगत क्रियाशील व्यक्त बल 'उ–अ' दोनों को (प्राण और मन, दोनों को) अपने स्वरूपविकास के लिए 'अञ्चति', वही व्यक्तबल 'उ–अ–अच्' रूपसे 'वाक्' कहलाया है, जिस मनःप्राणगर्भिता, किंवा प्राणमनोगर्भिता इत्थंभूता वाक् को 'वौक्' माना गया है, जिसके आधार पर निगमशास्त्र की सुप्रसिद्धा 'वषट्कारविद्या' का वितान हुआ है। मनुरूप इन्द्र, किंवा इन्द्ररूप मनु इसी वागाहुति से संतृप्त बना करते हैं, जैसाकि–'इन्द्राय वौ पट्' इत्यादि निगमवचन से स्पष्ट है। 'उ' को वकारादेश हुआ, इस से 'उ–अ–अच्' स्वरूप 'व्–अ–अच्' स्वरूप में परिणत होगया। दीर्घभाव से 'व्–अ–अच्' ही 'वाच्', किंवा 'वाक्' रूप में परिणत होगया। यही 'वाक्' शब्द का निर्वचनेतिहास माना गया। इस मनःप्राणमय बल में यज्ञसृष्टि के द्वारा पुन –'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' रूपसे मन और प्राण का (अ और उ का) समावेश हुआ। इससे वाक् शब्दकी 'वा–अ–उ–क्' यह स्थिति बन गई। गुणद्वारा मध्यस्थ अ–उ 'ओ' रूप में परिणत हो गए। वृद्धिद्वारा 'वा–ओ–क्' भाव 'वौक्' रूप में परिणत हो गया। यही वौषट् 'वौक्–षट्' रूप 'वौषट्' कहलाया, जिसे 'वाक्षट्कार' रूपसे 'वषट्कार' कहा गया है।

(८७)–यजुः का तत्त्वात्मक स्वरूप—

त्रयीवेदमूर्त्ति प्राणचितिलक्षण प्रतिष्ठाबल को पूर्व में 'सप्तपुरुषपुरुषप्रजापति' कहा गया है। इसका ऋक्सामरूप वयोनाध से नद्ध (सीमित–छन्दित) वयरूप यजुर्भाग ही वह वास्तविक मौलिक तत्त्व है, जो अपने अव्यक्तरूप से 'प्राण' है, एवं व्यक्तरूप से 'वाक्' है। पूर्वावस्था उसी मौलिक तत्त्व की 'प्राणावस्था है, जिसे हमने 'प्राणचिति' कहा है। उत्तरावस्था उसी मौलिक बलतत्त्व की 'वागवस्था', है जिसे यहाँ 'वाक्चिति' कहा जायगा। प्राणचितिलक्षण बल ही संकेतपरिभाषा में अपने गमनधर्म–गतिस्वरूप से—'यत्' कहलाया है, एवं वाक्चितिलक्षण बल ही पूर्वप्राणरूप, तथा प्राण के भी पूर्वरूप मन, दोनों के समन्वयभाव से 'वाक्' कहलाता हुआ संकेतभाषा में 'जू' कहलाया है। प्राणरूप 'यत्', तथा वाक्रूप 'जू' इन दोनों बलतत्त्वों की समष्टि ही, दूसरे शब्दों में प्राण–वाक्–रूप दोनों बलचितियों की समष्टि ही निगम में—'यत्–जू' रूप से–'यज्जू' कहलाई है। यह 'यज्जू' शब्द ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'यजु' कहलाया है, यही तत्त्वात्मक–प्राणवाग्रूप–नित्य यजुर्वेदतत्त्व का मौलिक रहस्यार्थ है, वयात्मक जो यजुर्वेद वयोनाधात्मक ऋक्सामे में अपीत * रहता हुआ ही मूर्त्तसृष्टि का अपने उत्तरभावी 'सुब्रह्म' रूप के माध्यम से प्रभव–मूलप्रवर्त्तक बना करता है। 'यत्' रूप प्राण स्वरूपतः 'गति'–धर्मात्मक 'वायु' (प्राणवायु) है, 'जू' रूपा वाक् स्वरूपतः

---

* तवेनमेते उभे रसो भूत्वापीत ऋक् च सामाच। तदुमे ऋक्सामे यजुरपीतः।
(शत० ब्रा० १०।३।५।६।)।

'दिपति' धर्म्मात्मक 'आकाश' (भूतामय मर्त्यामय) है। तदित्थं-'यत्-जू'-'वायु-आकाश'-'प्राण-वाक्'-'प्राणचिति-वाक्चिति'-इत्यादि विविध द्वन्द्व नामों से परिगतापरिगता, अभ्यागमन की स्वनिरूपना विद्या से आविर्भूता प्राणचिति वाक्चिति की समष्टिरूपा प्रज्ञानिहिता ही 'ऋक्सामावच्छिन्ना यह यजुर्' चिति है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्वरूप-विश्लेषण हुआ है—

अयं वाव यजुर्योऽयं पवते । एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति । एतं यन्तमिदमनु-प्रजायते । तस्माद्वायुरेव यजुः । अयमेव-आकाशो जूः×, यदिदमन्तरिक्षम् । एतं ह्याका-शमनुजवते । तदेतत्-यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षं च (आकाशश्च), यच्च-जूश्च । तस्माद्-यजुः । एष एव यदेष एति । तदेतत्-ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्, ऋक्सामे वहतः ।

—शतपथब्राह्मण १०।३।५।१।

(८८)—ऋक्सामात्मक यजुःप्राणः—

श्रुति के अक्षरों का अक्षरशः से स्वांकि समन्वय कठिन है, अतएव दो शब्दों में इसके अक्षरार्थ का समन्वय कर लेना चाहिए। श्रुति ने कहा है— 'यह जो सर्वत्र (दोषभावों को दहने से 'पूत' नाम से-'पवन' नाम से प्रसिद्ध) वायु बह रहा है, यही तो 'यजु' (यजुर्वेद) है। यही गतिशील (यत्) बनता हुआ इन सब भूत-भौतिक प्रपञ्चों का जनिता (जनक-उत्पादक-सुप्रभव) है। इसके गतिभाव का अनुसरण करके ही सब कुछ उत्पन्न होता है। यह आकाश ही 'जू' नामक तत्त्व है, जो कि (इस द्यावापृथिवी-सूर्य्य और भूपिण्ड को अभिगर्भ में समाविष्ट रखने वाला नीलाम्बररूप से प्रतीयमान) यह अन्तरिक्ष है। इस आकाशरूप अन्तरिक्ष को आधार बना कर ही तो यह वायु अपने जव (वेग) से बह रहा है। सो यह यजु वायु और अन्तरिक्ष है, यत् और जू है। इसीलिए तो यह 'यजुः' कहलाया है। यही तो गतिशील तत्त्व है। सो यह गतिशील यजुः तत्त्व ऋक्साम के आधार पर प्रतिष्ठित है। ऋक्साम ही यजु का वहन कर रहे हैं"।

(८९)—वातवायु और यजुः—

त्वक्स्पर्श के द्वारा प्रत्यक्षतः-अनुभूत वायु का ही नाम क्या तत्त्वात्मक वह यजुर्वेद है, जो विश्वेश्वर का मौलिक स्वरूप उद्घोषित हुआ है ? । उत्तर है यह सुप्रसिद्ध उपलालनमात्र, नैदानिक प्रतीकमात्र, जिसे माध्यम बना कर ही मादृश बालभावापन्न व्यक्तियों को सत्य की ओर शनैः शनैः आकर्षित किया गया है। जिस वायु का हमारे शरीर से स्पर्श होता है, जो सर्वत्र विधूनन करता हुआ सब को विधूनित करता रहता है, वह तो पारिभाषिकी 'वातवायु' नामकी अभिधा से निगम में वर्णित हुआ है, जो कि अपने मौलिक विधूननधर्म्म से भूतपरमाणुओं का भूतों में परस्पर 'प्रश्लिष्ट संयोग -प्रयुक्त संयोग' अथवा आदानविसर्गात्मक सम्बन्ध से अभावि ओषधि वनस्पत्यादि का पोषण करता रहता है, जिसका कि—'वात आ वातु भेषजम्' (ऋक्सं १ ।१८६।१) इत्यादि

× जूराकाशे, सरस्वत्यां, पिशाच्यां, यवने, स्त्रियाम् ।
—विश्वकोश ।

रूप से उपवर्णन हुआ है। गुणाणुरेणुभूतभौतिक-भावानुगता बलग्रन्थिपरम्परा से प्राणवायु ही कालान्तर में अन्तिम बलग्रन्थि का अनुगामी बनता हुआ अविकृतपरिणामरूप से इस भूतवायु के स्वरूप में परिणत हुआ करता है। अतएव उस प्राणतत्व का, सुसूक्ष्म-इन्द्रियातीत प्राणवायु का स्वरूप-परिचय कराने मात्र के लिए श्रुति ने नैदानिकविधि से, किंवा प्रतीकविधि से, किंवा उपलालनविधि से—'अयं वाव यजुर्योऽयं पवते' इत्यादि रूप से प्रवहणशील भूतवायु को ('वात' वायु को) लक्ष्य बना लिया है। प्राण-गतिशील प्राण-के गतिधर्म्म से ही तो सब कुछ उत्पन्न होता है। अतः अवश्य ही इस सुसूक्ष्म प्राणवायु को 'यजु' कहा जा सकता है।

(९०)-यजुःप्राण के द्वारा यज्ञ का आतानात्मक वितान—

यहाँ श्रुति वायु (प्राण) को यजु' कह रही है, एवं यही श्रुति आगे चल कर 'यजु' के-'यत्-जू' ये दो विभाग करती हुई 'यत्' को वायु (प्राण) कह रही है, एवं 'जू' (वाक्) को 'आकाश' कह रही है। यह कैसा पारस्परिक विरोध ?। समन्वय कीजिये। जबकि 'यत्' का नाम वायु (प्राण), तथा 'जू' का नाम आकाश (वाक) है, तो 'यजु' (यत् और जू दोनों की समष्टि) को 'अयं वाव यजुर्योऽयं पवते' इत्यादि रूप से 'यजु' नाम से कैसे व्यवहृत किया गया ?, यह विप्रतिपत्ति की जा सकती है। मनोमय स्वयम्भूब्रह्म ही प्रथम बलचिति से 'प्राण' भाव में (यत्भाव में) परिणत हुआ है यह कहा जा चुका है। पूर्व पूर्व चिति में उत्तर उत्तर चिति का बीज 'बीजांकुरन्याया' नुगत अभिन्नसत्ताक कार्य्यकारण से समाविष्ट रहता है। पूर्व पूर्व कारण ही अविकृतपरिणामवादात्मक नित्यमहिमाभाव से उत्तरोत्तर के कार्य्यभावों में परिणत होता है। साथ ही पूर्व पूर्व कारण अपने उत्तरोत्तर के व्यक्तीभूत कार्य्यों को व्यक्त कर 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार उन कार्य्यों में गर्भीभूत बनता जाता है। अतएव कहा, और माना जा सकता है कि, पूर्व पूर्व कारण में कारण-कार्य्य दोनों समाविष्ट हैं सूक्ष्म रूप से, एवं उत्तरोत्तर कार्य्यों में कारण-कार्य्य दोनों समाविष्ट हैं सूक्ष्म-स्थूलरूप से। जो 'यत्' रूप प्राण अपने बीजात्मक कारणभाव से कार्य्यरूप 'जू' (मर्त्याकाश) भाव में परिणत होने वाला है, उसमें सत्कार्य्यवादसिद्धान्तानुसार पहिले से ही सूक्ष्म-अव्यक्त रूप से 'जू' रूप आकाशभाव भी प्रतिष्ठित है। इसी अभिन्नसत्तात्मक अव्यक्तभावात्मक कार्य्यकारणैक्यदृष्टि से यत्रूप भी प्राण को यजुरूप प्राणवाक्रूप से व्यवहृत कर देना निर्विरोध समन्वित हो जाता है। यही कारण है कि, प्राण के कार्य्यभूत वाक्-(मर्त्याकाश) से उत्पन्न आगे के वायु-तेज-जल-मृत्-आदि सम्पूर्ण व्यक्त कार्य्यों को-'अथो वागेवेदं सर्वम्' इत्यादि रूप से 'वाक्' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। प्राण तथा वाक्, दोनों के संगमनात्मक 'यजन' का ही नाम 'यजु' है जो कि देवयजन (देवप्राणसंगमनात्मक यज्ञ) का आधार बना करता है। इसी उभयसमन्वित दृष्टिकोणमाध्यम से 'यजु' को 'यज्ञ' नाम से भी व्यवहृत कर दिया है। 'यज्जू' का परोक्ष नाम तो 'यजु' है ही। साथ ही वाक्प्राणसंगमनभावात्मक 'यज' शब्द का भी परोक्ष नाम 'यजु' मान लिया गया है, इसी अभिन्नसत्तामाध्यम से। देखिए !

यजुषा ह देवा -अग्रे यज्ञं तेनिरे, अथ ऋचा, अथ साम्ना। तदिदन्प्येतर्हि—
यजुषैवाग्रे तन्वते, अथ ऋचा, अथ साम्ना। 'यजो' ह वै तद्यजुरिति ॥

—शत० ४।६।७।१३।

'स्थिति' धर्म्मात्मक 'आकाश' (भूताकाश मर्त्याकाश) है। तदित्थं-'यत्-जू'-'वायु-आकाश'-'प्राण-वाक्'-'प्राणचिति-वाक्चिति'-इत्यादि विविध द्वन्द्व नामों से अभिनीतापर्य्याया, आगमन की कल्पनिकल्पना स्थितता से आविर्भूता प्राणचिति अन्नचिति की समष्टिरूपा यत्पतिरूपा ही सूक्ष्मामार्या उभा यह यजुर्वेद चिति है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्वरूप-विश्लेषण हुआ है—

अय वाव यजुर्योऽय पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्व्वं जनयति। एतं यन्तमिदमनु प्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेव-आकाशो जूः×, यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनुजवते। तदेतत्-यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षं च (आकाशश्च), यच्च-जूश्च। तस्माद्-यजुः। एष एव यदेष क्षेति। तदेतत्-ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्, ऋक्सामे वहतः।

—शतपथब्राह्मण १०।३।५।१।

(८८)—ऋक्सामात्मक यजुःप्राण:—

श्रुति के अक्षरों का शब्दरूप से क्योंकि समन्वय कठिन है, अतएव दो शब्दों में इसके भावार्थ का समन्वय कर लेना चाहिए। श्रुति ने कहा है— 'यह जो सतत (दोषमात्रों को हटाने से 'पूत' नाम से-'पवन' नाम से प्रसिद्ध) वायु बह रहा है, यही तो 'यजु' (यजुर्वेद) है। यही गतिशील (यत्) बनता हुआ इन सब भूत-भौतिक प्रपञ्चों का जनिता (जनक-उत्पादक-सुप्रभव) है। इसके गतिभाव का अनुसरण करके ही सब कुछ उत्पन्न होता है। यह आकाश ही 'जू' नामक तत्त्व है, जो कि (इस द्यावापृथिवी-सूर्य्य और भूपिण्ड को अपनेगर्भ में समाविष्ट रखने वाला नीलाभरूप से प्रतीयमान) यह अन्तरिक्ष है। इस आकाशरूप अन्तरिक्ष को आधार बना कर ही तो यह वायु अपने जव (वेग) से बह रहा है। सो यह यजु वायु और अन्तरिक्ष है, यत् और जू है। इसीलिए तो यह 'यजु' कहलाया है। यही तो गतिशील तत्त्व है। सो यह गतिशील यजुः तत्त्व ऋक्साम के आधार पर प्रतिष्ठित है। ऋक्साम ही यजु का वहन कर रहे हैं"।

(८९)—वातवायु और यजु:—

त्वक्स्पर्श के द्वारा प्रत्यक्षतः-अनुभूत वायु का ही नाम क्या तत्त्वात्मक वह यजुर्वेद है, जो विश्वेश्वर का मौलिक स्वरूप उद्घोषित हुआ है?। उत्तर है यह सुप्रसिद्ध उपलालनभाव, नैदानिक प्रतीकभाव, जिसे माध्यम बना कर ही मानव बालभावापन्न व्यक्तियों को सत्य की ओर शनैः शनैः आकर्षित किया गया है। जिस वायु का हमारे शरीर से स्पर्श होता है, जो सर्वत्र विधूनन करता हुआ सब को विधूनित करता रहता है, वह तो पारिभाषिकी 'वातवायु' नामकी अभिधा से निगम में वर्णित हुआ है, जो कि अपने भौतिक विधूननधर्म्म से भूतपरमाणुओं का भूतों में परस्पर 'भक्तिर्वा संयोग -अयुर्वा संयोग' कक्षया आदानविसर्गात्मक सम्बन्ध से अन्नादि ओषधि-वनस्पत्यादि का पोषण करता रहता है, जिसका कि—'वात आ वातु भेषजम्' (ऋक्सं १।१८९।१) इत्यादि

× जूराकाशे, सरस्वत्यां, पिशाच्यां, यवने, स्त्रियाम्।

—विश्वकोश।

रूप से उपवर्णन हुआ है। गुणाणुरेणुभूतभौतिक–भायानुगता चलग्रन्थिपरम्परा से प्राणवायु ही कालान्तर में अन्तिम चलग्रन्थि का अनुगामी बनता हुआ अविकृतपरिणामरूप से इस भूतवायु के स्वरूप में परिणत हुआ करता है। अतएव उस प्राणतत्त्व का, सुसूक्ष्म–इन्द्रियातीत प्राणवायु का स्वरूप–परिचय कराने मात्र के लिए श्रुति ने नैदानिकविधि से, किंवा प्रतीकविधि से, किंवा उपलक्षणविधि से—'अयं वाव यजुर्योऽयं पवते' इत्यादि रूप से प्रवहणशील भूतवायु को ('वात' वायु को) लक्ष्य बना लिया है। प्राण–गतिशील प्राण के गतिधर्म्म से ही तो सब कुछ उत्पन्न होता है। अतः अवश्य ही इस सुसूक्ष्म प्राणवायु को 'यजु' कहा जा सकता है।

(२०)—यजुःप्राण के द्वारा यज्ञ का आतानात्मक वितान—

यहाँ श्रुति वायु (प्राण) को यजु' कह रही है, एवं यही श्रुति आगे चल कर 'यजुः' के–'यत्–जू' ये दो विभाग करती हुई 'यत्' को वायु (प्राण) कह रही है, एवं 'जू' (वाक्) को 'आकाश' कह रही है। यह कैसा पारस्परिक विरोध !। समन्वय कीजिये। जबकि 'यत्' का नाम वायु (प्राण), तथा 'जू' का नाम आकाश (वाक्) है, तो 'यजु' (यत् और जू दोनों की समष्टि) को 'अयं वाव यजुर्योऽयं पवते' इत्यादि रूप से 'यजु' नाम से कैसे व्यवहृत किया गया !, यह विप्रतिपत्ति की जा सकती है। मनोमय स्थितत्त्व ही प्रथम स्वचिति से 'प्राण' भाव में (यत्भाव में) परिणत हुआ है यह कहा जा चुका है। पूर्व पूर्व चिति में उत्तर उत्तर चिति का बीज 'बीजांकुरन्याया' नुगत अभिन्नसत्ताक कार्य्यकारण से समाविष्ट रहता है। पूर्व पूर्व कारण ही अविकृतपरिणामवादात्मक नित्यमहिमाभाव से उत्तरोत्तर के कार्य्यभावों में परिणत होता है। साथ ही पूर्व पूर्व कारण अपने उत्तरोत्तर के व्यक्तीभूत कार्य्यों को व्यक्त कर 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार उन कार्य्यों में गर्भीभूत बनता जाता है। अतएव कहा, और माना जा सकता है कि, पूर्व पूर्व कारण में कारण–कार्य्य दोनों समाविष्ट हैं सूक्ष्म रूप से, एवं उत्तरोत्तर कार्य्यों में कारण–कार्य्य दोनों समाविष्ट हैं सूक्ष्म–स्थूलरूप से। जो 'यत्' रूप प्राण अपने बीजात्मक कारणभाव से कार्य्यरूप 'जू' (मर्त्याकाश) भाव में परिणत होने वाला है, उसमें सत्कार्य्यवादसिद्धान्तानुसार पहिले से ही सूक्ष्म–अव्यक्त रूप से 'जू' रूप आकाशभाव भी प्रतिष्ठित है। इसी अभिन्नसत्तात्मक अव्यक्तभावात्मक कार्य्यकारणैक्यदृष्टि से यत्रूप भी प्राण को यजुरूप प्राणवायुरूप से व्यवहृत कर देना निर्विरोध समन्वित हो जाता है। यही कारण है कि, प्राण के कार्य्यभूत वाक्–(मर्त्याकाश) से उत्पन्न आगे के वायु–तेज–जल–मृत्–आदि सम्पूर्ण व्यक्त कार्य्यों को–'अथो वागेवेदं सर्वम्' इत्यादि रूप से 'वाक्' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। प्राण तथा वाक्, दोनों के संगमनात्मक 'यजन' का ही नाम 'यजु' है जो कि देवयजन (देवप्राणसंगमनात्मक यज्ञ) का आधार बना करता है। इसी उभयसमन्वित दृष्टिकोणमाध्यम से 'यजु' को 'यज्ञ' नाम से भी व्यवहृत कर दिया है। 'यज्जुः' का परोक्ष नाम तो 'यजु' है ही। साथ ही वाक्प्राणसंगमनभावात्मक 'यज' शब्द का भी परोक्ष नाम 'यजु' मान लिया गया है, इसी अभिन्नसत्ताभाव्यम से। देखिए।

> यजुषा ह देवा –अग्रे यज्ञं तेनिरे, अथ ऋचा, अथ साम्ना। तदिदन्प्येतर्हि—
> यजुषैवाग्रे तन्वते, अथ ऋचा, अथ साम्ना। 'यजो' ह वै तद्यजुरिति ॥
>
> —शत० ४।६।७।१३।

'रिपवि' धर्म्मात्मक 'आकाश' (भूताकाश मर्त्याकाश) है। तदित्थं-'यत्-जू'-'वायु-आकाश'-'प्राण-वाक्'-'प्राणचिति-वाक्चिति'-इत्यादि विविध द्वन्द्व नामों से परिगृहीत, अध्यात्मन की स्वनिष्कृता सिसृक्षा से आविर्भूत प्राणचिति अर्वाग्चिति की समष्टिरूपा यज्ञचितियाँ। ही ऋक्सामाधिष्ठिता यह यजुर्चिति है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्वरूप-विश्लेषण हुआ है—

अयं वाव यजुर्योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति। एतं यन्तमिदमनु-प्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेव-आकाशो जूः ×, यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याका-शमनुजवते। तदेतत्-यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षं च (आकाशश्च), यच्च-जूश्च। तस्मात्-यजुः। एष एव यदेष यन्नेति। तदेतत्-ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्, ऋक्सामे वहतः।

—शतपथब्राह्मण १०।३।५।१।

(८८)—ऋक्सामात्मक यजुःप्राणः—

श्रुति के अक्षरों का सहजरूप से क्योंकि समन्वय कठिन है, अतएव दो शब्दों में इसके भावार्थ का समन्वय कर लेना चाहिए। श्रुति ने कहा है— 'यह जो सर्वत्र (दोषभावों को हटाने से 'पूत' नाम से-'पवन' नाम से प्रसिद्ध) वायु बह रहा है, यही तो 'यजु' (यजुर्वेद) है। यही गतिशील (यत्) बनता हुआ इन सब भूत-भौतिक प्रपञ्चों का जनिता (जनक-उत्पादक-सुप्रभव) है। इसके गतिभाव का अनुसरण करके ही सब कुछ उत्पन्न होता है। यह आकाश ही 'जू' नामक तत्त्व है, जो कि (इस द्यावापृथिवी—सूर्य्य और भूपिण्ड को, अग्निगर्भ में समाविष्ट रखने वाला नीलाभरूप से प्रतीयमान) यह अन्तरिक्ष है। इस आकाशरूप अन्तरिक्ष को आधार बना कर ही तो यह वायु अपने जव (वेग) से बह रहा है। सो यह यत् वायु और अन्तरिक्ष है, यत् और जूः है। इसीलिए तो यह 'यजुः' कहलाया है। यही तो गतिशील तत्त्व है। सो यह गतिशील यजुः तत्त्व ऋक्साम के आधार पर प्रतिष्ठित है। ऋक्साम ही यजु का वहन कर रहे हैं"।

(८९)—वातवायु और यजुः—

त्वक्स्पर्श के द्वारा प्रत्यक्षतः-अनुभूत वायु का ही नाम क्या तत्त्वात्मक यह यजुर्वेद है, जो विश्वेश्वर का मौलिक स्वरूप उद्घोषित हुआ है ?। उत्तर है यह सुप्रसिद्ध उपासनभाव, वैधानिक प्रतीकभाव, जिसे माध्यम बना कर ही मानव बालभावापन्न व्यक्तियों को सत्य की ओर शनैः शनैः आकर्षित किया गया है। जिस वायु का हमारे शरीर से स्पर्श होता है, जो सर्वत्र विधूनन करता हुआ सब को विधूनित करता रहता है, यह तो पारिभाषिकी 'वातवायु' नामकी अभिधा से निगम में वर्णित हुआ है, जो कि अपने मौलिक विधूननधर्म्म से भूतपरमाणुओं का भूतों में परस्पर 'अहिर्तो संयोग—अयुतो संयोग' अथवा आदानविसर्गात्मक सम्बन्ध से अन्नादि ओषधि वनस्पत्यादि का पोषण करता रहता है, जिसका कि—'वात आ वातु भेषजम्' (ऋक्सं १।।१८९।१) इत्यादि

× जूराकाशे, सरस्वत्यां, पिशाच्यां, पवने, स्त्रियाम्।
—विश्वकोश।

में बल सहचारीमात्र है, रस ही प्रधान है। तृतीया प्राणचिति में रस सहचारी है, बल ही प्रधान है। इन चारों चितियों के मध्य में हृदयस्थान में रसनिबन्धना मुमुक्षा, बलनिबन्धना सिसृक्षा–दोनों से समन्वित रसबलमूर्त्ति काममय उभयात्मक श्वोवसीयस् नामक अव्ययमन प्रतिष्ठित है, जिसकी रसात्मिका कामना से आनन्द–विज्ञान चितियाँ अनुप्राणित हैं, एवं बलात्मिका कामना से प्राण–वाक्चितियाँ अनुप्राणित हैं। अतएव काममय उभयात्मक मन दोनों का साक्षी बनता हुआ दोनों में अन्वभूत है। इसी आधार पर 'आनन्द–विज्ञान–रसप्रधान-मन' इन तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग माना जा सकता है। 'बलात्मक मन–प्राण–वाक्' तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग माना जा सकता है। प्रथम विभाग को रसकामनानुबन्ध से 'मुक्तिसाक्षी आत्मा' कहा जा सकता है। द्वितीय भाग को 'सृष्टिसाक्षी आत्मा' कहा जा सकता है। चितिदृष्टि से मुमुक्षाप्राणिता आनन्दविज्ञान-चिति समष्टि को 'अन्तश्चिति' कहा जा सकता है, सिसृक्षानुप्राणिता प्राण–वाक्चितिसमष्टि को 'बहिश्चिति' कहा जा सकता है, एवं मध्यस्थ उभयात्मक मन को 'कामचिति' कहा जा सकता है। परात्परभिन्न मायी रस-बलमूर्त्ति निष्कल अव्ययपुरुष की इस प्रकार मनोमयी कामना, किंवा कामरस से सत् रस के असत् बल में स्नु (सम्बन्ध) तारतम्य से 'आनन्दचिति–विज्ञानचिति–कामचिति–प्राणचिति–वाक्चिति' ये पाँच चितियाँ व्यवस्थित हो जाती हैं। यों निष्कल पुरुष सकलपुरुष, किंवा पञ्चचितिकपुरुष बनता हुआ इन पाँच चितियों से 'चिदात्मा' नाम से प्रसिद्ध हो जाता है, जिसका उपनिषत् ने 'पञ्चकोशब्रह्म' रूप से यशोगान किया है। इन पाँचों में रस–बल के तारतम्य से पूर्व पूर्व कोश उत्तर उत्तर कोश का आत्मा है, उत्तर उत्तर कोश पूर्व पूर्व कोश का शरीर। पूर्व पूर्व कोश सूक्ष्म है, तदपेक्षया उत्तरोत्तर कोश स्थूल है। सूक्ष्म पूर्व कोश स्थूल उत्तर कोश का शरीर–आत्मा है, स्थूल उत्तरकोश सूक्ष्म पूर्वकोश का शरीर है। अतएव यह कोशब्रह्म 'आत्मन्वी' (शरीरविशिष्ट आत्मा–प्रजापति) नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। 'एक वा इदं वि बभूव सर्वम्' के अनुसार यह एक ही निष्कल ही मायी अव्ययपुरुष तदित्थ पञ्चकल बन रहा है।

(९४)–वाङ्मय अन्तविवर्त्त—

उपनिषत् ने 'वाङ्मयकोशब्रह्म' को 'अन्नमयकोशब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया है। कारण यही है कि मन.प्राणगर्भिता यजुर्वाक् ही वह मर्त्याकाश है, जिसका मनोगर्भित प्राणमयकोश के अनन्तर 'वाक्चिति' रूप से आविर्भाव बतलाया गया है। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' के अनुसार मनोगर्भित प्राणात्मा ही वागुरूप भूताकाश का प्रभव बनता है, जिसका तात्पर्य्य यही है कि, मनोगर्भित प्राणात्मा के सिसृक्षामूलक प्राणव्यापार से बलआपति के द्वारा प्राण ही उत्तरावस्थामें 'वाक्' रूप में परिणत होगा। सिसृक्षा प्रक्रान्त रही, बलग्रन्थि का उपक्रम हुआ। इस मनःप्राण वाङ्मय (मन.प्राणवागाकाशमय) आत्मा से वायु (आप) नामक भूत का आविर्भाव हुआ। मनःप्राणवाग्वायुरूप आत्मा से तेजोभूत का, मनःप्राण वाग्वायुतेजोमय आत्मा से जलभूत का, मनःप्राणवाग्वायुतेजजलात्मा से पार्थिवभूत का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार बलग्रन्थितारतम्य से मन.प्राणगर्भिता वाक्, किंवा मन.प्राणगर्भित आकाश ही आकाश–वायु–तेज–जल पृथिवी, इन पञ्च सूक्ष्म–गुण–भूतों में परिणत हो गया, जो कालान्तरमें–रेणु–अणु–भूत-मातिकमावानुगता पञ्चीकरणप्रक्रिया से 'पञ्चमहाभूत' रूप में परिणत हो जाता है। पञ्चमहाभूतात्मिका पृथिवी ही ओषधि वनस्पत्यादिरूप में परिणत होती है। यही शरीराग्निमें हुत होकर रस–बल के क्रमिक विशकलन के द्वारा

(६१)—अन्नात्मक यजुःप्राण—

अव्यक्तप्राण से व्यक्तीभूत वाक् ही आगे जाकर पञ्च महाभूतमात्राओं में परिणत होती हुई 'अन्न' रूप में परिणत होती है। अतएव "अन्नमय यजु" (शत० १०।३।५।१) रूप से वाङ्मय भूतसमष्टिरूप अन्न को भी 'यजुः' कह दिया जाता है। अन्नमय मन ही अत्—जूरूप प्राण—वाक् चितिरूप में परिणत होता है। अतएव 'मनो यजुर्वेदः' (शत० १०।४।३।१२)—'मन एव यजूंषि' (शत० ८।६।७।५)—'मनो वै यजुः' (शत० ६।३।१।४०) इत्यादि रूप से मन को भी 'यजु' कह दिया जाता है, जबकि व्यवस्थया प्राणवाक् के समन्वित रूप का ही नाम 'यजुः' है। जिन छन्दोरूप ऋक्-सामों का यहां—'ऋक्सामे यजुरपीतः' 'ऋक्सामे यहतः' इत्यादि रूप से प्राणवाक्रूप यजु का आधार माना गया है, वहां अन्यत्र आधाराधेयभाव के अन्तरान्तरीभाव सम्बन्ध से 'वागेवऽर्चश्च—सामानि च—मन एव यजूंषि' (शत० ८।६।७।८) इत्यादि रूप से वाक् को ऋक्साम—अभिधा से भी व्यक्त मान लिया गया है। हमें अपनी स्थूल भावुकदृष्टि से यद्यपि श्रौतसिद्धान्त विप्रतिपन्न प्रतीत होने लगते हैं। किन्तु वस्तुगत्या सम्पूर्ण तत्त्ववचनों का तत्त्वदृष्ट्या निर्विरोध समन्वय हो रहा है। वस्तुस्थिति यही है कि, 'सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्' (तै० ब्रा० ३।१२।६।१) इत्यादि निगमानुसार गतिप्रकृतिक प्राण, तथा सापेक्ष स्थितिप्रकृतिक 'वाक्' दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही 'यज्जूः' है, जो परोक्षभाषा में 'यजुः' नाम से प्रसिद्ध हुआ है *।

(६२)—यजुर्वाक्चिति का आपोभाग—

मनोमयी सिसृक्षा से उद्भूत प्राणचिति में जहां ब्रह्मतत्त्व निरतिशयरूप से समुदित था, वहां उसी सिसृक्षा से उद्भूत वाक्चिति में ब्रह्मतत्त्व ग्रन्थिभावानुगत बन जाता है। साथ ही इसमें 'तत् सृष्ट्वा' न्याय से मनः—प्राण दोनों गर्भीभूत रहते हैं। यही त्रयीमूर्त्यात्मक—मनःप्राणवाङ्मय विश्वस्रष्टा—सृष्टिसाक्षी आत्मा कहलाया है। सृष्टिसाक्षी इस आत्मब्रह्मलक्षण प्रतिष्ठाब्रह्म के तप (प्राणव्यापार) से यजु के ज्रूरूप वाक् भाग का (वाक्चिति का) द्रुत भाग ही 'आपः' (वायु नामक सूक्ष्म आपः) का आविर्भाव हुआ है, जैसाकि 'सोऽपो सृजत—वाच एव लोकात्। वागेव साऽसृज्यत' (शत० ६।१।१।७) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है।

(६३)—पञ्चकोशात्मक पञ्चब्रह्म—

स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्म कुर्वद्रूपा वस्था में परिणत होता हुआ क्रियारूप से समुद्दीप्त हुआ (२५२ २५१)। इस आत्यन्तिक उद्बोधन से ब्रह्म मूलशक्ति का अनुगामी बन गया। यही चौथी 'वाक्चिति' कहलाई, जिसमें रस सर्वथा अभिभूत है। जो स्थिति आनन्दचिति की है वही इस वाक्चिति की है। जो स्थिति विज्ञानचिति की है, वही स्थिति प्राणचिति की है। इसलिए कि—प्रथमा आनन्दचिति में ब्रह्म अभिभूत—सुप्तवत् है, रस सर्वात्मना विकसित है। चतुर्थी वाक्चिति में—रस अभिभूत है, सुप्तवत् है, ब्रह्म सर्वात्मना विकसित है। एवमेव द्वितीया विज्ञानचिति

---

* जिस अपौरुषेय शब्दवाङ्मय शास्त्र में प्राकृतिक अपौरुषेयतत्त्वात्मक वेद का निरूपण हुआ है, वह तत्त्वात्मक वेद क्या है ही रहस्यपूर्ण विषय है, जिसका सहस्रगुणात्मक निरूपण उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीय—तृतीय खण्डों में विस्तार से किया गया हुआ है।

मीमांसा होती रहेगी । परात्परविनाभूत पञ्चकल अव्ययपुरुष, तदभिन्ना–पञ्चकला पराप्रकृति (अक्षर), तदभिन्ना पञ्चकला अपराप्रकृति, इन १–परात्पर–५–अव्यय–५–अक्षर ५–क्षर–कलाओं की समष्टि को ही 'षोडशी पुरुषप्रजापति' कहा गया है, जिसका परात्परविशिष्ट अव्ययात्मभाग विश्व का अधिष्ठानकारण बनता है, तद्गर्भीभूत अक्षरात्मा (पराप्रकृति) विश्व का निमित्तकारण बनता है । एवं तद्गर्भीभूत किंवा सबगर्भीभूत क्षरात्मा विश्व का उपादानकारण बनता है । अधिष्ठान–निमित्त–उपादान (आरम्भण) कारणत्रयीसमष्टिरूप यह षोडशीपुरुष ही मायी महाविश्व का मूल बनता है, जिसे मूल बनाकर ही हमें विश्व के तात्त्विक स्वरूप की मीमांसा करते हुए निबन्ध के प्रधान साक्षीभूत पूर्वप्रतिज्ञात मनु के तात्त्विकस्वरूप का अत्र अविलम्ब उपक्रम कर देना है, जिस उपक्रान्ति के लिए थोड़ी प्रतीक्षा तो अनिवार्य्यरूपेण क्षम्य मान ही ली जायगी ।

(९५)–मायी महेश्वर के विविध विवर्त्त—

'परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर' मूर्त्ति, षोडशीप्रजापति को विश्व का मूल प्रमाणित करते हुए हमने इसी को 'मनु' स्वरूप का उपक्रम भी माना है । परिभाषाविलुप्ति के कारण, साथ ही निगमव्याख्यालक्षणा आचारमीमांसा से एकान्ततः असंस्पृष्टा वर्त्तमान दार्शनिक तत्त्वमीमांसा के अनुग्रह से नैगमिक व्यवच्छिन्न आत्मस्वरूप–बोध क्योंकि विलुप्तप्राय है । अतएव सर्वथा सहज भी यह आत्मस्वरूप आज के मानव के लिए दुर्बोध्य प्रमाणित हो सकता है । इसीलिए पुनः पुनः हमें विभिन्न दृष्टिकोणों से इन आत्मस्वरूपमीमांसाओं को लक्ष्य बनाना पड़ता है । दार्शनिक दृष्टि का ही यह असीम अनुग्रह है ! कि, सर्वथा विभक्त भी आत्मविवर्त्त आज पारस्परिक उन पर्य्यायसम्बन्धों के माध्यम से अभिन्नार्थक मानने-मनवाने की भ्रान्ति से स्व–स्व–व्यवस्थित विभक्त स्वरूपों से अभिभूत हो गए हैं । उदाहरण के लिए 'परमेश्वर–महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर–जीवात्मा' आदि प्रत्येक शब्द यद्यपि विज्ञानदृष्टया सर्वथा विभिन्न आत्मभावों के वाचक हैं । किन्तु आज एकेहलया इन सब को अभिन्नार्थक माना जा रहा है, फलस्वरूप इन शब्दों को पर्य्याय घोषित किया जा रहा है । मायातीत सर्वविलिष्टरसैकघन तत्त्व परात्पर परमेश्वर है । महामायावलावच्छिन्न सहस्र–वल्शामूर्त्ति अश्वत्थप्रलक्षण षोडशीपुरुष मायी महेश्वर है * । स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी, इन पाँच पुण्डीरों की समष्टिरूप–अतएव 'पञ्चपुण्डीरप्राजापत्यवल्शा' नाम से प्रसिद्ध, दूसरे शब्दों में स्वयम्भू से आरम्भ कर पृथिव्यन्त व्याप्त पञ्चवल्शाधिष्ठाता आत्मन्वी वल्शेश्वर ही त्रैलोक्यत्रिलोकीलक्षण सप्तभुवनात्मक विश्व का ईशिता बनता हुआ 'विश्वेश्वर' है । स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्यादि–पाँचों पुण्डीर स्वतन्त्ररूप से संगृहीत बनते हुए अपने अपने स्वतन्त्र स्वरूप से 'उपेश्वर' नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनकी समष्टि को 'पञ्चोपेश्वरा' कहा गया है । पाँचों उपेश्वरों में से केवल पार्थिव उपेश्वर से अनुप्राणित पार्थिव त्रैलोक्यत्रिलोकी के अग्नि-वायु आदित्य के त्रिवृद्भाव से कृतरूप विराट् हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्ति उपनिषदों में 'भयभूतान्तरात्मा'–'साक्षी सुपर्ण'

---

* मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्–मायिन तु महेश्वरम् ।
वस्यावयभूतैस्तु व्याप्त सर्व्व मिदञ्जगत् ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।१ ।

रेतोरूप में परिणत होती है। यह शुगारत ही गोत्राग्नि में आहुत होकर पर्यन्त में 'पुरुष' रूप में परिणत होता है। यह है सहज सृष्टिक्रम, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः,—आकाशाद्वायु —वायोरग्नि —अग्नेरापः— अद्भ्यः पृथिवी—पृथिव्या ओषधय —ओषधीभ्योऽन्नम्—अन्नात्—रेत —रेतस पुरुष । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय । —तै० उ० १० २।१।

आकाश (वाक्)—वायु—अग्नि—जल—पृथिवी—पाँचों भूत ही भोग्य बनते हैं। अतएव 'अद्यते' के अनुसार इन की समष्टि को अवश्य ही 'अन्न' कहा जा सकता है। इसी दृष्टि से इस वाङ्मयविवर्त को 'अन्नविवर्त' कहा जाता है, जिसे 'याभीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता' रूप से सर्वभूतात्मक घोषित किया गया है। इसी आधार पर भगवान् तित्तिरि ने वाङ्मय कोशको 'अन्नमयकोश' नामसे व्यवहृत कर दिया है। केवल मौलिक तत्त्वसृष्टि के प्रसङ्ग में तो इसे 'वाङ्मयकोश' ही कहा जायगा। किन्तु अन्नरसद्वारा समुत्पन्ना वैकारिकी प्रजासृष्टि की व्याख्या करते हुए इसे 'अन्नमयकोश' अभिधासे समलङ्कृत किया जायगा। सृष्टिमूलमीमांसा का उपक्रम करते हुए हम ने पूर्व में 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि०' इत्यादि मन्त्र उद्धृत किया था। उस मन्त्र की प्रथमभूमिका कामनीमानुगता—सदसद्बन्धु—(सदसत्सम्बन्ध) लक्षणा इस पञ्चकोश-निष्पत्ति पर ही उपसंहृत हो रही है।

रसबलानुगतपड्विधचितिभावपरिलेख'—

आनन्द विज्ञानघनमन प्राणगर्भिता वाक्—एष अव्यय पुरुष—

(१)—बलगर्भितो रस —रसचितिः—आनन्दचितिः—आनन्द (आनन्दकला)
(२)—बलसञ्चरितो रसः—रसचितिः—विज्ञानचितिः—विज्ञानम् (विज्ञानकला)
—अन्तश्चिति

(३)—बलानुगतो रसः—रसचितिः—मुमुक्षाचितिः
(४)—रसानुगतं बलम्—बलचितिः—सिसृक्षाचितिः
—मनः (अमनकला)—चितिप्रवर्तक

(५)—रससञ्चरितं बलम्—बलचितिः—प्राणचितिः—प्राणः (प्राणकला)
(६)—रसगर्भितं बलम्—बलचितिः—वाक्चितिः—वाक् (वाक्कला)
—बहिश्चिति

उपोपवर्णित—उपस्तुत—अमृतमय—निष्कलभावापन्न—मनोघन अतएव अमन—प्राणघन—असएव अप्राण वाग्घन—अतएव अवाक्—सर्वरस—अतएव सर्वातीत—पञ्चकोशात्मक इस सकल—अतएव निष्कल परात्परलक्षण अव्ययपुरुष के साथ नित्य सम्बद्धा 'परा—अपरा' नाम की प्रकृति ही प्रकृतिविशिष्ट पुरुष का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है, जिसकी इन प्रक्रान्त—तथा आगामिनी मीमांसाओं में यथावसर दृष्टिकोणभेद से

हुआ है, जिसके लिए 'रसो वै स' । रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' (तै० उप० २।७) इत्यादि प्रसिद्ध है। दूसरा बलसापेक्ष सर्वबलविशिष्टरसकैघन सविशेष परात्पर 'शाश्वतधर्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसके लिए निगम में 'शाश्वतब्रह्म' नाम पोषित हुआ है। 'शाश्वतस्य च धर्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च' (गीता १४।२७।) से दोनों का विभिन्नभाव स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है। यही वह 'शाश्वतब्रह्म' तत्त्व है, जिसे मानवीय 'मनु' का मूलाधार प्रमाणित करना है।

(६७)-निर्विशेष, और परात्परब्रह्म—

मायातीत, अतएव, सिरवातीत, अतएव च सत्वातीत सर्वामूल-अमूल-ब्रह्म के निर्विशेष, एवं परात्पर, इन दोनों विभिन्न विवर्त्तों के इस विभिन्न दृष्टिकोण को लक्ष्य न बनाकर दोनों की समष्टिरूप परात्पर को, दूसरे शब्दों में दोनों को एक ही मानते हुए हमें सृष्टिमूल का समन्वय करना है। परात्पर परमेश्वर सत्तादृष्टया यद्यपि अद्वय है, अभिन्न है, एक है। तथापि सापेक्ष बलानुगता भाति की दृष्टि से इसके 'रस-बल' ये दो भाति-भाव मान लिए जाते हैं। वो दोनों भातियाँ वस्तुगत्या बलनिबन्धना बनतीं हुई बलभातियाँ ही मानीं जायेंगी। इन दोनों में असङ्गभावापन्न रस संख्या से (गणना में) जहाँ 'एक' है, वहाँ दिग्देशकालदृष्टया यह 'अनन्त' (नि सीम-असीम) है। साथ ही अपने एकत्व-असीमभावनिबन्धन सहज अविचाली-स्थिर-अपरिवर्त्तन-भाव के कारण यह रस भाग-'अमृत-सत्-आभू' इत्यादि अभिधाओं से समलंकृत है। ठीक इसके विपरीत ससङ्गभावापन्न बल संख्या से जहाँ अनन्त (असंख्यात) है, वहाँ यह दिग्देशकाल से सादिसान्त है, सीमित-परिच्छिन्न है। तात्पर्य्य, रस भी अनन्त है, बल भी अनन्त है। सर्वमिदमानन्त्यम् । किन्तु रसानन्त्यता जहाँ दिग्देशकालातीतलक्षणा-दिग्देशकालासंस्पृष्टलक्षणा है, वहाँ बल की अनन्तता संख्यानन्त्यतानुगता है। सहजभाषा में रस दिग्देश-काल से अनन्त है, बल संख्या से अनन्त है। रस संख्या में एक है; बल संख्या में अनेक है। संख्यानन्त्य से अनन्त बना हुआ बल अपने नानात्व-ससीमभावनिबन्धन सहज विचाली-अस्थिर-परिवर्त्तनभाव के कारण 'मृत्यु-असत्-अभ्व' इत्यादि नाम भावों से उपवर्णित हुआ है। सदा सर्वथा एकरस-अक्षण-स्वरस के आधार पर सदा-सर्वदा विभिन्नरस-प्रतिक्षण विलक्षण क्षणभावापन्न असद्बलों का 'वीची-तरङ्गन्याय' से आलोडन-विलोडन-उदयास्त-आविर्भाव-तिरोभाव-व्यक्ताव्यक्तभाव सम्भूति-विनाश अजस्र धाराधाहिक रूप से प्रक्रान्त बना रहता है। बलों की इन उभावचतरङ्गों का सुसूक्ष्म विज्ञान ही भारतीय 'विश्वविज्ञान' है, जिसे 'आर्षविज्ञान' कहा गया है। एवं जो आर्षविज्ञान 'ब्रह्मविज्ञान'-'ब्रह्मविद्या' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है, जिसे मूल बनाए बिना किसी भी आर्ष सनातन सिद्धान्त के मौलिक रहस्य का समन्वय नहीं किया जा सकता।

(६८)-षोडशविध बलकोशपरिचय—

नित्य-शान्त-निरञ्जन-निर्गुण-असीम-व्यापक-अक्षण-अद्वय-समुद्रसमतुलित रस-परातल के आधार पर प्रतिष्ठित नित्य अशान्त-साञ्जन-सगुण-ससीम-व्याप्य-प्रतिक्षणविलक्षण-द्वैतभावापन्न-तरङ्ग-समतुलित बल यद्यपि संख्या में अनन्त है। किन्तु षोडशी मायी महेश्वर की भाँति इन असंख्य बलों के कोशरूप भी षोडशविध (१६ प्रकार के) ही मान लिए गए हैं, जिन सोलह बलकोशों में सम्पूर्ण असंख्य-बल समस्त समाविष्ट रहते हैं। जोकि षोडश बलकोश निगमग्रन्थों में यत्रतत्र क्रमशः "माया[१]-हृदयम्[२]-आया[३] धाता[४]-आप[५]-भृति[६]-यक्ष[७]-सुब्रम्[८]-सत्यम्[९]-यक्षम्[१०] -अभ्वम्[११]-वय[१२]-वयोनाध[१३]-वयुनम्[१४]-मोह[१५]-विद्या[१६]" इन नामों से उपवर्णित हुए हैं। इन सोलह बलकोशों के आधार पर

'वैश्वसत्यात्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध पार्थिवश्वर ही 'ईश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। इस ईश्वरीय पार्थिव विवर्त्त से अनुप्राणित—'भूतात्मा' 'भोक्तात्मा'–'कर्म्मात्मा'–'देही'–इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध-वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति भौम तत्त्व ही 'जीवात्मा' है, जिसका प्रधान रूप से नानाभावापन्न योगमाया से सम्बन्ध माना गया है÷।

आत्मस्वरूप की इसी दुर्विज्ञेयता को लक्ष्य बनाते हुए हम प्रतिपादित तथा प्रतिपाद्य विषय के यथा समन्वय के लिए सिंहावलोकनदृष्टया संक्षेप से आत्मस्वरूप का आश्रय ले रहे हैं। विश्वमूल के रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का विश्लेषण करने वाले पूर्वोद्धृत 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि ऋङ्मन्त्र का जो समन्वय पूर्व में हुआ है, उसके इस निष्कर्षार्थ पर हमें पहुँचना पड़ा कि,—"चराचरप्राणिवर्गसमाकुलित यह दृश्यमान पाञ्चभौतिक प्रपञ्च जब हमारी प्रत्यक्ष दृष्टि का विषय न था, तो उस सृष्टिपूर्वदशा में सर्वत्र अखण्ड-अद्वय-निरञ्जन-केवल-ब्रह्म का ही साम्राज्य था, जिस अखण्ड-निरवयव-ब्रह्म में सद्भावात्मक 'आमू' नामक 'रस' तत्त्व का, एवं असद्भावात्मक 'अभ्व' नामक 'बल' तत्त्व का सहचरसम्बन्ध से अनारान्तरीभाव से समन्वय था। सर्व्वबलविशिष्टरसैकघन इसी अद्वय ब्रह्म को, मायातीत तत्त्व को वैज्ञानिकों ने–'परात्पर परमेश्वर' नाम से व्यवहृत किया, जिसके आगे जाकर मायाबलानुगत हृदयबलावच्छिन्न मनोमय कामरेत से सत्–असत् (रस–बल) के सम्बन्ध–तारतम्य से परमेश्वर–महेश्वर–सिरेश्वर-उपेश्वर–ईश्वर–जीव–जगत्–आदि विभिन्न विवर्त्तभावों का उदय हो गया"।

(९६)–अत्यनपिनद्ध ब्रह्म

किसी भी प्रकार के मर्त्य–मारुय–सीमापाशबन्धन से सर्वात्मना असंस्पृष्ट रहने के कारण ही मायातीत-सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति परात्पर परमेश्वर विज्ञानपरिभाषा में *'अत्यनपिनद्ध' (निःसीम) नाम से उपस्तुत हुआ है। निःसीम परात्परब्रह्म का शुद्ध 'रसभाव' विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की अविवक्षा से जहाँ 'निर्विशेष' कहलाया है, वहाँ विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की विवक्षा से यही निर्विशेष 'परात्पर' कहलाने लगता है। इस प्रकार केवल ज्ञानानुगत्या (न तु सत्तानुगत्या) बल-अविवक्षाविवक्षा के भेद से मायातीत एक ही ब्रह्म के बल निरपेक्ष निर्विशेषब्रह्म (शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर) बलसापेक्ष–सर्वबलविशिष्ट सविशेषभावात्मक परात्परब्रह्म (रसबलसमष्टिरूप परात्पर), ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। स्मार्त्ती उपनिषत् की परिभाषानुसार बलनिरपेक्ष शुद्ध रसमूर्त्ति निर्विशेष परात्पर 'ऐकान्तिकसुख' (निर्विषयक आत्मरूप शुद्ध रसानन्द) नाम से व्यवहृत

÷ परमेश्वर–महेश्वरादि आत्मविवर्त्तों के विभिन्न दृष्टिकोणनिबन्धन वैज्ञानिक स्वरूपों के लिए देखिए—गीताभूमिकान्तर्गत 'आत्मपरीक्षा, ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य, एवं 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक भाष्यविज्ञानग्रन्थ का प्रथमखण्ड।

* सीमा से बद्धभाव 'नद्ध' है। सीमाबन्धन से सर्वात्मना आत्यन्तिकरूप से असंस्पृष्ट निःसीम सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तत्त्व ही 'अत्यनपिनद्ध' है।

हुआ है, जिसके लिए 'रसो वै स' । रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' (तै० उप०१।७) इत्यादि प्रसिद्ध है । दूसरा बलसापेक्ष सबलविशिष्टरसकेवल सविशेष परात्पर 'शाश्वतधर्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसके लिए निगम में 'शाश्वतब्रह्म नाम घोषित हुआ है । 'शाश्वतस्य च धर्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च' (गीता १४।२७) से दोनों का विभिन्नभाव स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है । यही वह 'शाश्वतब्रह्म' तत्त्व है, जिसे मानवीय 'मनु' का मूलाधार प्रमाणित करना है ।

(९७)–निर्विशेष, और परात्परब्रह्म—

मायातीत, अतएव, विश्वातीत, अतएव च सर्वातीत सर्वमूल–अमूल–ब्रह्म के निर्विशेष, एवं परात्पर, इन दोनों विभिन्न विवर्तों के इस विभिन्न दृष्टिकोण को लक्ष्य न बनाकर दोनों की समष्टिरूप परात्पर को, दूसरे शब्दों में दोनों को एक ही मानते हुए हमें सृष्टिमूल का समन्वय करना है । परात्पर परमेश्वर सत्यदृष्टया यद्यपि अद्वय है, अभिन्न है, एक है । तथापि सापेक्ष सत्तानुगता भाति की दृष्टि से इसके 'रस–बल' ये दो भाति-भाव मान लिए जाते हैं । जो दोनों भातियाँ वस्तुगत्या बलनिबन्धना बनती हुई बलभातियाँ ही मानी जायेंगी । इन दोनों में असङ्गभावापन्न रस संख्या से (गणना में) जहाँ 'एक' है, वहाँ दिग्देशकालदृष्टया यह 'अनन्त' (नि सीम–असीम) है । साथ ही अपने एकत्व–असीमभावनिबन्धन सहज अविचाली–स्थिर–अपरिवर्त्तन–भाव के कारण यह रस भाग–'अमृत-सत्–अभ्व' इत्यादि अभिधाओं से समलंकृत है । ठीक इसके विपरीत ससङ्गभावापन्न बल संख्या से जहाँ अनन्त (असंख्यात) है, वहाँ यह दिग्देशकाल से सादिसान्त है, सीमित–परिच्छिन्न है । तात्पर्य, रस भी अनन्त है, बल भी अनन्त है । सर्वमिदमानन्त्यम् । किन्तु रसानन्त्य जहाँ दिग्देशकालातीतलक्षणा–दिग्देशकालासंस्पृष्टिलक्षणा है, वहाँ बल की अनन्तता संख्यानन्ततानुगता है । सहजभावा में रस दिग्देश–काल से अनन्त है, बल संख्या से अनन्त है । रस संख्या में एक है; बल संख्या में अनेक है । संख्यानन्त्य से अनन्त बना हुआ बल अपने नानात्व–ससीमभावनिबन्धन सहज विचाली–अस्थिर–परिवर्त्तनभाव के कारण 'मृत्यु–असत्–अभ्व' इत्यादि नाम भावों से उपवर्णित हुआ है । सदा सर्वथा एकरस–अघण–एकरस के आधार पर सदा-सर्वदा विभिन्नरस–प्रतिक्षण विलक्षण क्षणभावापन्न असद्बलों का 'वीची–तरङ्गन्याय' से आलोडन–विलोडन–उदयास्त–आविर्भाव–तिरोभाव–व्यक्ताव्यक्तभाव सम्भूति–विनाश अजस्र धाराधाहिक रूप से प्रक्रान्त बना रहता है । बलों की इन उच्चावचतरङ्गों का सुसूक्ष्म विज्ञान ही भारतीय 'विश्वविज्ञान' है, जिसे 'आर्षविज्ञान' कहा गया है । एवं यो आर्षविज्ञान 'ब्रह्मविज्ञान'–'ब्रह्मविद्या' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है, जिसे मूल बनाए बिना किसी भी आर्ष सनातन सिद्धान्त के मौलिक रहस्य का समन्वय नहीं किया जा सकता ।

(९८)–षोडशविध बलकोशपरिचय—

नित्य–शान्त–निरञ्जन–निर्गुण–असीम–व्यापक–अक्षण–अद्वय–समुद्रसमतुलित रस–धरातल के आधार पर प्रतिष्ठित नित्य अशान्त–साञ्जन–सगुण–ससीम–व्याप्य–प्रतिक्षणविलक्षण–द्वैतभावापन्न–तरङ्ग–समतुलित बल यद्यपि संख्या में अनन्त है । किन्तु षोडशी मायी महेश्वर की भाँति इन असंख्य बलों के कोशात्मा भी षोडशविध (१६ प्रकार के) ही मान लिए गए हैं, जिन सोलह बलकोशों में सम्पूर्ण असंख्य–अनन्तबल समाविष्ट रहते हैं । जोकि षोडश बलकोश निगमग्रन्थों में यत्रतत्र क्रमशः "माया[1]–हृदयम्[2]–छाया[3]-धारा[4]-आप[5]-भूति[6]-यक्ष[7]-सूत्रम्[8]–सत्यम्[9]–यक्षम्[10] –अभ्वम्[11]–वय[12]–वयोनाध[13]–वयुनम्[14]–मोह[15]–विद्या[16]" इन नामों से उपवर्णित हुए हैं । इन सोलह बलकोशों के आधार पर

'वैश्वानरात्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध पार्थिवश्वर ही 'ईश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। इस ईश्वरीय पार्थिव विवर्त्त से अनुप्राणित—'भूतात्मा' 'भोक्तात्मा'–'कर्मात्मा'–'देही'–इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध-वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति भौम तत्त्व ही 'जीवात्मा' है, जिसका प्रधान रूप से नानाभावापन्न योगमाया से सम्बन्ध माना गया है–।

आत्मस्वरूप की इसी दुर्विज्ञेयता को लक्ष्य बनाते हुए हम प्रतिपादित तथा प्रतिपाद्य विषय के यथा समन्वय के लिए लिंगायलोकनदृष्ट्या संग्रहरूप में आत्मस्वरूप का आश्रय ले रहे हैं। विश्वमूल के रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का विश्लेषण करने वाले पूर्वोद्धृत 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि ऋङ्मन्त्र का भी समन्वय पूर्व में हुआ है, उसके इस निष्कर्षार्थ पर हमें पहुँचना पड़ा कि,—"चराचरप्राणिवर्गसमाकुलित यह दृश्यमान पाञ्चभौतिक प्रपञ्च जब हमारी प्रत्यक्ष दृष्टि का विषय न था, तो उस सृष्टिपूर्वदशा में सर्वत्र अखण्ड–अद्वय–निरञ्जन–केवल–ब्रह्म का ही साम्राज्य था, जिस अखण्ड–निरवयव–ब्रह्म में सद्भावात्मक 'आभू' नामक 'रस' तत्त्व का, एवं असद्भावात्मक 'अभ्व' नामक 'बल' तत्त्व का सहचरसम्बन्ध से अनारान्तरीभाव से समन्वय था। सर्व्वबलविशिष्टरसैकघन इसी अद्वय ब्रह्म को, मायातीत तत्त्व को वैज्ञानिकों ने–'परात्पर परमेश्वर' नाम से व्यवहृत किया, जिसके आगे चलकर मायाबलानुगत हृदयबलावच्छिन्न मनोमय कामरेत से सत्–असत् (रस–बल) के सम्बन्ध–तारतम्य से परमेश्वर–महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर–जीव–जगत्–आदि विभिन्न विवर्त्तभावों का उदय हो गया"।

(६६)–अत्यन्तपिनद्ध ब्रह्म

किसी भी प्रकार के मर्त्य–वारुण–सीमापाशबन्धन से सर्वात्मना असंस्पृष्ट रहने के कारण ही मायातीत-सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति परात्पर परमेश्वर विज्ञानपरिभाषा में *'अत्यन्तपिनद्ध' (निःसीम) नाम से उपस्तुत हुआ है। निःसीम परात्परब्रह्म का शुद्ध 'रसमात्र विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की अविवक्षा से जहाँ 'निर्विशेष' कहलाया है, वहाँ विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की विवक्षा से यही निर्विशेष 'परात्पर' कहलाने लगता है। इस प्रकार केवल ज्ञानानुगता (न तु सत्तानुगता) बल-अविवक्षाविवक्षा के भेद से मायातीत एक ही ब्रह्म के बल निरपेक्ष निर्विशेषब्रह्म (शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर) बलसापेक्ष–बलविशिष्ट सविशेषभावापन्न परात्परब्रह्म (रसबलसमष्टिरूप परात्पर) ये दो विवर्त हो जाते हैं। स्मार्त्ती उपनिषत् की–परिभाषानुसार बलनिरपेक्ष शुद्ध रसमूर्त्ति निर्विशेष परात्पर 'ऐकान्तिकसुख' (निर्विषयक आत्मरूप शुद्ध रसानन्द) नाम से व्यवहृत

– परमेश्वर–महेश्वरादि आत्मविवर्त्तों के विभिन्न दृष्टिकोणनिबन्धन वैज्ञानिक स्वरूपों के लिए देखिए—गीताभूमिकान्तर्गत 'आत्मपरीक्षा, ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य, एवं 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक भाष्यविज्ञानग्रन्थ का प्रथमखण्ड।

* सीमा से बद्धभाव 'नद्ध' है। सीमाबन्धन से सर्वात्मना आत्यन्तिकरूप से असंस्पृष्ट निःसीम सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तत्त्व ही 'अत्यन्तपिनद्ध' है।

हुआ है, जिसके लिए 'रसो वै स' । रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' (तै० उप०।१।७) इत्यादि प्रसिद्ध है । दूसरा बलसापेक्ष सर्वबलविशिष्टरसकेघन सविशेष परात्पर 'शाश्वतधर्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसके लिए निगम में 'शाश्वतब्रह्म' नाम भावित हुआ है । 'शाश्वतस्य च धर्म्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च' (गीता १४।२७।) से दोनों का विभिन्नभाव स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है । यही वह 'शाश्वतब्रह्म' तत्त्व है, जिसे मानवीय 'मनु' का मूलाधार प्रमाणित करना है ।

(९७)–निर्विशेष, और परात्परब्रह्म—

मायातीत, अतएव, विश्वातीत, अतएव च सर्वातीत सर्वमूल–अमूल–ब्रह्म के निर्विशेष, एवं परात्पर, इन दोनों विभिन्न विवर्त्तों के इस विभिन्न दृष्टिकोण को लक्ष्य न बनाकर दोनों की समष्टिरूप परात्पर को, दूसरे शब्दों में दोनों को एक ही मानते हुए हमें सृष्टिमूल का समन्वय करना है । परात्पर परमेश्वर सत्तादृष्ट्या यद्यपि अद्वय है, अभिन्न है, एक है । तथापि सापेक्ष बलानुगता भाति की दृष्टि से इसके 'रस–बल' ये दो भाति-भाव मान लिए जाते हैं । जो दोनों भातियाँ वस्तुगत्या बलनिबन्धना बनतीं हुई बलभातियाँ ही मानी जायँगी । इन दोनों में असङ्गभावापन्न रस संख्या से (*गणना में*) जहाँ 'एक' है, वहाँ दिग्देशकालदृष्ट्या यह 'अनन्त' (निःसीम–असीम) है । साथ ही अपने एकत्व–असीमभावनिबन्धन सहज अविचाली–स्थिर–अपरिवर्त्तन–भाव के कारण यह रस भाग–'अमृत-सत्–अभू' इत्यादि अभिधाओं से समलंकृत है । ठीक इसके विपरीत ससङ्गभावापन्न बल संख्या से जहाँ अनन्त (असंख्यात) है, वहाँ यह दिग्देशकाल से सादिसान्त है, सीमित–परिच्छिन्न है । तात्पर्य्य, रस भी अनन्त है, बल भी अनन्त है । सर्वमिदमानन्त्यम् । किन्तु रसानन्त्यता जहाँ दिग्देशकालातीतलक्षणा–दिग्देशकालासंस्पृष्टलक्षणा है, वहाँ बल की अनन्तता संख्यानन्त्यानुगता है । स्वल्पभाषा में रस दिग्देश-काल से अनन्त है, बल संख्या से अनन्त है । रस संख्या में एक है; बल संख्या में अनेक है । संख्यानन्त्य से अनन्त बना हुआ बल अपने नानात्व–ससीमभावनिबन्धन सहज विचाली–अस्थिर–परिवर्त्तनभाव के कारण 'मृत्यु–असत्–अभ्व' इत्यादि नाम भावों से उपवर्णित हुआ है । सदा सर्वथा एकरस–अक्षुण्ण–स्वरूप के आधार पर सदा-सर्वदा विभिन्नरस–प्रतिक्षण विलक्षण क्षणभावापन्न असद्बलों का 'वीची–तरङ्गन्याय' से आलोडन–विलोडन–उदयास्त–आविर्भाव–तिरोभाव–व्यक्ताव्यक्तभाव सम्भूति–विनाश अबाध धारावाहिक रूप से प्रक्रान्त बना रहता है । बलों की इन उच्चावचतरङ्गों का सुसूक्ष्म विज्ञान ही नाम्ना 'विश्वविज्ञान' है, जिसे 'आर्षविज्ञान' कहा गया है । एवं जो आर्षविज्ञान 'ब्रह्मविज्ञान'–'ब्रह्मविद्या' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है, जिसे मूल बनाए बिना किसी भी आर्ष सनातन सिद्धान्त के मौलिक रहस्य का समन्वय नहीं किया जा सकता ।

(९८)–षोडशविध बलकोशपरिचय—

नित्य–शान्त–निरञ्जन–निर्गुण–असीम–व्यापक–अक्षुण्ण–अद्वय–समुद्रसमतुलित रस–धरातल के आधार पर प्रतिष्ठित नित्य अशान्त–साञ्जन–सगुण–ससीम–व्याप्य–प्रतिक्षणविलक्षण–द्वैतभावापन्न–तरङ्ग–समतुलित बल यद्यपि संख्या में अनन्त है । किन्तु षोडशी मायी महेश्वर की भाँति इन असंख्य बलों के कोशरूप भी षोडशविध (१६ प्रकार के) ही मान लिए गए हैं, जिन सोलह बलकोशों में सम्पूर्ण असंख्य–अनन्तबल समाविष्ट रहते हैं । जोकि षोडश बलकोश निगमग्रन्थों में यत्रतत्र क्रमशः "माया[१]–हृदयम्[२]–जाया[३]-धारा[४]-आप[५]-भूति[६]-यक्ष[७]-सूत्रम्[८]–सत्यम्[९]–यक्षम्[१०]–अभ्वम्[११]–वय[१२]–वयोनाध[१३]–वयुनम्[१४]–मोह[१५]–विद्या[१६]" इन नामों से उपवर्णित हुए हैं । इन सोलह बलकोशों के आधार पर

'देवसत्यात्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध पार्थिवश्वर ही 'ईश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। इस ईश्वरीय पार्थिव विवर्त से अनुप्राणित—'भूतात्मा' 'भोक्तात्मा'–'कर्म्मात्मा'–'देही'–इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध-वैश्वानर-तैजस–प्राज्ञमूर्त्ति भौम तत्त्व ही 'जीवात्मा' है, जिसका प्रधान रूप से नानाभावापन्न योगमाया से सम्बन्ध माना गया है–।

आत्मस्वरूप की इसी दुर्विज्ञेयता को लक्ष्य बनाते हुए हम प्रतिपादित तथा प्रतिपाद्य विषय के यथा-समन्वय के लिए सिंहावलोकनदृष्टया संग्रहरूप से आत्मस्वरूप का आश्रय ले रहे हैं। विश्वमूल के रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का विश्लेषण करने वाले पूर्वोद्धृत 'कामस्तदग्रे समवर्त्ताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्' इत्यादि ऋङ्मन्त्र का जो समन्वय पूर्व में हुआ है, उसके इस निष्कर्षार्थ पर हमें पहुँचना पड़ा कि,—"चराचरप्राणिवर्गसमाकुलित यह दृश्यमान पाञ्चभौतिक प्रपञ्च जब हमारी प्रत्यक्ष दृष्टि का विषय न था, तो उस सृष्टिपूर्वदशा में सर्वत्र अखण्ड–अद्वय–निरञ्जन–केवल–ब्रह्म का ही साम्राज्य था, जिस अखण्ड–निरवयव–ब्रह्म में सद्भावात्मक 'आभू' नामक 'रस' तत्त्व का, एवं असद्भावात्मक 'अभ्व' नामक 'बल' तत्त्व का सहचरसम्बन्ध से अनारान्तरीभाव से समन्वय था। सर्व्वबलविशिष्टरसैकघन इसी अद्वय ब्रह्म को, मायातीत तत्त्व को वैज्ञानिकों ने–'परात्पर परमेश्वर' नाम से व्यवहृत किया, जिसके आगे जाकर मायाबलानुगत हृदयबलावच्छिन्न मनोमय कामरेत से सत्–असत् (रस–बल) के सम्बन्ध–तारतम्य से परमेश्वर–महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर–जीव–जगत्–आदि विभिन्न विवर्त्तभावों का उदय हो गया"।

(६६)—अत्यनपिनद्ध ब्रह्म

किसी भी प्रकार के मर्त्य–वारुण–सीमापाशबन्धन से सर्वात्मना असंस्पृष्ट रहने के कारण ही मायातीत-सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति परात्पर परमेश्वर विज्ञानपरिभाषा में •'अत्यनपिनद्ध' (नि:सीम) नाम से उपस्तुत हुआ है। नि:सीम परात्परब्रह्म का शुद्ध 'रसभाव' विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की अविवक्षा से जहाँ 'निर्विशेष' कहलाया है, वहाँ विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की विवक्षा से वही निर्विशेष 'परात्पर' कहलाने लगता है। इस प्रकार केवल ज्ञानानुगता (न तु सत्तानुगता) बल-अविवक्षाविवक्षा के भेद से मायातीत एक ही ब्रह्म के बलनिरपेक्ष निर्विशेषब्रह्म (शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर) बलसापेक्ष–बलविशिष्ट सविशेषभावापन्न परात्परब्रह्म (रसबलसमष्टिरूप परात्पर), ये दो विवर्त हो जाते हैं। स्मार्त्त उपनिषत् की परिभाषानुसार बलनिरपेक्ष शुद्ध रसमूर्त्ति निर्विशेष परात्पर 'ऐकान्तिकसुख' (निर्विषयक आत्मरूप शुद्ध रसानन्द) नाम से व्यवहृत

–परमेश्वर–महेश्वरादि आत्मविवर्त्तों के विभिन्न दृष्टिकोणनिबन्धन वैज्ञानिक स्वरूपों के लिए देखिए—गीताभूमिकान्तर्गत 'आत्मपरीक्षा, ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य, एवं 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक–भाष्यविज्ञानग्रन्थ का प्रथमखण्ड।

• सीमा से बद्धभाव 'नद्ध' है। सीमाबन्धन से सर्वात्मना आत्यन्तिकरूप से असंस्पृष्ट नि:सीम सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तत्त्व ही 'अत्यनपिनद्ध' है।

हुआ है, जिसके लिए 'रसो वै स । रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' (तै० उप०।१।७) इत्यादि प्रसिद्ध है। दूसरा बलसापेक्ष सर्वबलविशिष्टरसकेवन सविशेष परात्पर 'शाश्वतधर्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसके लिए निगम में 'शाश्वतब्रह्म' नाम घोषित हुआ है। 'शाश्वतस्य च धर्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च' (गीता १४।२७।) से दोनों का निभिन्नभाव स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है। यही वह 'शाश्वतब्रह्म' तत्त्व है, जिसे मानवीय 'मनु' का मूलाधार प्रमाणित करना है।

(९७)–निर्विशेष, और परात्परब्रह्म—

मायातीत, अतएव, विश्वातीत, अतएव च स्वातीत सर्वमूल–अमूल–ब्रह्म के निर्विशेष, एवं परात्पर, इन दोनों विभिन्न विवर्तों के इस विभिन्न दृष्टिकोण को लक्ष्य न बनाकर दोनों की समष्टिरूप परात्पर को, दूसरे शब्दों में दोनों को एक ही मानते हुए हमें सृष्टिमूल का समन्वय करना है। परात्पर परमेश्वर सत्तादृष्ट्या यद्यपि अद्वय है, अभिन्न है, एक है। तथापि सापेक्ष बलानुगता भाति की दृष्टि से इसके 'रस–बल' ये दो भाति-भाव मान लिए जाते हैं। वो दोनों भातियाँ वस्तुगत्या रसनिबन्धना बनती हुई बलभातियाँ ही मानी जायेंगी। इन दोनों में असङ्गभावापन्न रस संख्या से (गणना में) जहाँ 'एक' है, वहाँ दिग्देशकालदृष्टया यह 'अनन्त' (नि सीम–असीम) है। साथ ही अपने एकत्व–असीमभावनिबन्धन सहज अविचाली–स्थिर–अपरिवर्त्तन–भाव के कारण यह रस भाग–'अमृत-सत्-आभू' इत्यादि अभिधाओं से समलंकृत है। ठीक इसके विपरीत ससङ्गभावापन्न बल संख्या से जहाँ अनन्त (असख्यात) है, वहाँ यह दिग्दिशकाल से सादिसान्त है, सीमित–परिच्छिन्न है। तात्पर्य्य, रस भी अनन्त है, बल भी अनन्त है। सर्वमिदमानन्त्यम्। किन्तु रसानन्त्यता जहाँ दिग्देशकालातीतलक्षणा–दिग्देशकालासंस्पृष्टलक्षणा है, वहाँ बल की अनन्तता संख्यानन्त्यतानुगता है। सहजभाषा में रस दिग्देश-काल से अनन्त है, बल संख्या से अनन्त है। रस संख्या में एक है; बल संख्या में अनेक है। संख्यानन्त्य से अनन्त बना हुआ बल अपने नानात्त्व–ससीमभावनिबन्धन सहज विचाली–अस्थिर–परिवर्त्तनभाव के कारण 'मृत्यु–असत्–अभ्व' इत्यादि नाम भावों से उपवर्णित हुआ है। सदा सर्वथा एकरस–अक्षय–स्वरस के आधार पर सदा-सर्वदा विभिन्नरस–प्रतिक्षण विलक्षण क्षणभावापन्न असद्बलों का 'वीची–तरङ्गन्याय' से आलोडन–विलोडन–उदयास्त–आविर्भाव–तिरोभाव–व्यक्ताव्यक्तभाव सम्भूति–विनाश अजस्र धारावाहिक रूप से प्रक्रान्त बना रहता है। बलों की इन उच्चावचतरङ्गों का सुसूक्ष्म विज्ञान ही भारतीय 'विश्वविज्ञान' है, जिसे 'आर्षविज्ञान' कहा गया है। एवं जो आर्षविज्ञान 'ब्रह्मविज्ञान'–'ब्रह्मविद्या' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है, जिसे मूल बनाए बिना किसी भी आर्ष सनातन सिद्धान्त के मौलिक रहस्य का समन्वय नहीं किया जा सकता।

(९८)–षोडशविध बलकोशपरिचय—

नित्य–शान्त–निरञ्जन-निर्गुण–असीम–व्यापक–अक्षय–अद्वय–समुद्रसमतुलित रस–धरातल के आधार पर प्रतिष्ठित नित्य अशान्त–साञ्जन–सगुण–ससीम–व्याप्य–प्रतिक्षणविलक्षण–द्वैतभावापन्न–तरङ्ग–समतुलित बल यद्यपि संख्या में अनन्त है। किन्तु षोडशी मायी महेश्वर की भाँति इन असंख्य बलों के कोशबल भी षोडशविध (१६ प्रकार के) ही मान लिए गए हैं, जिन सोलह बलकोशों में सम्पूर्ण असंख्य–अनन्तबल समाविष्ट रहते हैं। जोकि षोडश बलकोश निगमग्रन्थों में यत्रतत्र क्रमशः "माया[१]–हृदयम्[२]–छाया[३] धारा[४]–आप[५]–भूति[६]–यक्ष[७]–सूत्रम्[८]–सत्यम्[९]–यक्षम्[१०] –अभ्वम्[११]–वय[१२]–वयोनाध[१३]–वयुनम्[१४]–मोह[१५]–विद्या[१६]" इन नामों से उपवर्णित हुए हैं। इन सोलह बलकोशों के आधार पर

'वैयसत्यात्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध पार्थिवेश्वर ही 'ईश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। इस ईश्वरीय पार्थिव विवर्त्त से अनुप्राणित—'भूतात्मा' 'भोक्तात्मा'–'कर्म्मात्मा'–'देही'–इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध-वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति भौम तत्त्व ही 'जीवात्मा' है, जिसका प्रधान रूप से नानाभावापन्न योगमाया से सम्बन्ध माना गया है–।

आत्मस्वरूप की इसी दुर्विज्ञेयता को लक्ष्य बनाते हुए हम प्रतिपादित तथा प्रतिपाद्य विषय के यथा समन्वय के लिए सिंहावलोकनदृष्टया संग्रहरूप से आत्मस्वरूप का आश्रय ले रहे हैं। विश्वमूल के रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का विश्लेषण करने वाले पूर्वोद्धृत 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि ऋड्मन्त्र का जो समन्वय पूर्व में हुआ है, उसके इस निष्कर्षार्थ पर हमें पहुँचना पड़ा कि,—"चराचरप्राणिवर्गसमाकुलित यह दृश्यमान पाञ्चभौतिक प्रपञ्च जब हमारी प्रत्यक्ष दृष्टि का विषय न था, तो उस सृष्टिपूर्वदशा में सर्वत्र अखण्ड-अद्वय-निरञ्जन-केवल-ब्रह्म का ही साम्राज्य था, जिस अखण्ड-निरवयव-ब्रह्म में सद्भावात्मक 'आप्' नामक 'रस' तत्त्व का, एवं असद्भावात्मक 'अभ्व' नामक 'बल' तत्त्व का सहचरसम्बन्ध से अनारान्तरीभाव से समन्वय था। सर्व्वबलविशिष्टरसैकघन इसी अद्वय ब्रह्म को, मायातीत तत्त्व को वैज्ञानिकों ने–'परात्पर परमेश्वर' नाम से व्यवहृत किया, जिसके आगे जाकर मायाबलानुगत हृदयबलावच्छिन्न मनोमय कामरेत से सत्-असत् (रस-बल) के सम्बन्ध-तारतम्य से परमेश्वर-महेश्वर-विश्वेश्वर-रूपेश्वर-ईश्वर-जीव-जगत्-आदि विभिन्न विवर्त्तभावों का उदय हो गया"।

(६६)–अत्यन्तपिनद्ध ब्रह्म

किसी भी प्रकार के मर्त्य-भाव-सीमापाशबन्धन से सर्वात्मना असंस्पृष्ट रहने के कारण ही मायातीत-सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति परात्पर परमेश्वर विज्ञानपरिभाषा में *'अत्यन्तपिनद्ध' (निःसीम) नाम से उपस्तुत हुआ है। निःसीम परात्परब्रह्म का शुद्ध 'रसभाव' विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की अविवक्षा से जहाँ 'निर्विशेष' कहलाया है, वहाँ विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की विवक्षा से वही निर्विशेष 'परात्पर' कहलाने लगता है। इस प्रकार केवल ज्ञानानुगता (न तु सत्तानुगता) बल-अविवक्षाविवक्षा के भेद से मायातीत एक ही ब्रह्म के बल निरपेक्ष निर्विशेषब्रह्म (शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर) बलसापेक्ष-बलविशिष्ट सविशेषभावापन्न परात्परब्रह्म (रसबलसमष्टिरूप परात्पर), ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। स्मार्त्ती उपनिषत् की-परिभाषानुसार बलनिरपेक्ष शुद्ध रसमूर्त्ति निर्विशेष परात्पर 'ऐकान्तिकसुख' (निर्विषयक आत्मरूप शुद्ध रसानन्द) नाम से व्यवहृत

+ परमेश्वर-महेश्वरादि आत्मविवर्त्तों के विभिन्न दृष्टिकोणानिबन्धन वैज्ञानिक स्वरूपों के लिए देखिए—गीताभूमिकान्तर्गत 'आत्मपरीक्षा, ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य, एवं 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक भाद्रविज्ञानग्रन्थ का प्रथमखण्ड।

* सीमा से बद्धभाव 'नद्ध' है। सीमाबन्धन से सर्वात्मना आत्यन्तिकरूप से असंस्पृष्ट निःसीम सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्त्व ही 'अत्यन्तपिनद्ध' है।

हुआ है, जिसके लिए 'रसो वै स' । रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' (तै० उप०१।७) इत्यादि प्रसिद्ध है। दूसरा बलसापेक्ष सर्वबलविशिष्टरसकेवल सविशेष परात्पर 'शाश्वतधर्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसके लिए निगम में 'शाश्वतब्रह्म' नाम घोषित हुआ है। 'शाश्वतस्य च धर्म्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च' (गीता १४।२७) से दोनों का विभिन्नभाव स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है। यही वह 'शाश्वतब्रह्म' तत्त्व है, जिसे मानवीय 'मनु' का मूलाधार प्रमाणित करता है।

(९७)–निर्विशेष, और परात्परब्रह्म—

मायातीत, अतएव, विश्वातीत, अतएव च स्वातीत सर्वमूल–अमूल–ब्रह्म के निर्विशेष, एवं परात्पर, इन दोनों विभिन्न विवर्त्तों के इस विभिन्न दृष्टिकोण को लक्ष्य न बनाकर दोनों की समष्टिरूप परात्पर को, दूसरे शब्दों में दोनों को एक ही मानते हुए हमें सृष्टिमूल का समन्वय करना है। परात्पर परमेश्वर स्वताद्दृष्ट्या यद्यपि अद्वय है, अभिन्न है, एक है। तथापि सापेक्ष बलानुगता भाति की दृष्टि से इसके 'रस–बल' ये दो भाति-भाव मान लिए जाते हैं। जो दोनों भातियाँ वस्तुगत्या बलनिबन्धना बनतीं हुई बलभातियाँ ही मानी जायेंगी। इन दोनों में असङ्गभावापन्न रस संख्या से (गणना में) जहाँ 'एक' है, वहाँ दिग्देशकालदृष्ट्या यह 'अनन्त' (नि सीम–असीम) है। साथ ही अपने एकत्व–असीमभावनिबन्धन सहज अविचाली–स्थिर–अपरिवर्त्तन–भाव के कारण यह रस भाग–'अमृत-सत्–अभ्व' इत्यादि अभिधाओं से समलंकृत है। ठीक इसके विपरीत ससङ्गभावापन्न बल संख्या से जहाँ अनन्त (असंख्यात) है, वहाँ यह दिग्दिशकाल से सादिसान्त है, सीमित–परिच्छिन्न है। तात्पर्य्य, रस भी अनन्त है, बल भी अनन्त है। सर्वमिदमानन्त्यम् । किन्तु रसानन्त्यता जहाँ दिग्देशकालातीतलक्षणा–दिग्देशकालासंस्पृष्टलक्षणा है, वहाँ बल की अनन्तता संख्यानन्ततानुगता है। सहजभाषा में रस दिग्देश–काल से अनन्त है, बल संख्या से अनन्त है। रस संख्या में एक है, बल संख्या में अनेक है। संख्यानन्त्य से अनन्त बना हुआ बल अपने नानात्व–ससीमभावनिबन्धन सहज विचाली–अस्थिर–परिवर्त्तनभाव के कारण 'मृत्यु–असत्–अभ्व' इत्यादि नाम भावों से उपवर्णित हुआ है। सदा सर्वथा एकरस–अक्षय–सद्रस के आधार पर सदा–सर्वदा विभिन्नरस–प्रतिक्षण विलक्षण क्षणभावापन्न असद्बलों का 'वीची–तरङ्गन्याय' से आलोडन–विलोडन–उदयास्त–आविर्भाव–तिरोभाव–व्यक्ताव्यक्तभाव सम्भूति–विनाश अजस्र धारावाहिक रूप से अक्षुण्ण बना रहता है। बलों की इन उच्चावचतरङ्गों का सुसूक्ष्म विज्ञान ही भारतीय 'विश्वविज्ञान' है, जिसे 'आर्षविज्ञान' कहा गया है। एवं जो आर्षविज्ञान 'ब्रह्मविज्ञान'–'ब्रह्मविद्या' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है, जिसे मूल बनाए बिना किसी भी आर्ष सनातन सिद्धान्त के मौलिक रहस्य का समन्वय नहीं किया जा सकता।

(९८)–षोडशविध बलकोशपरिचय—

नित्य–शान्त–निरञ्जन–निर्गुण–असीम–व्यापक–अक्षर–अद्वय–समुद्रसमतुलित रस–धरातल के आधार पर प्रतिष्ठित नित्य अशान्त–साञ्जन–सगुण–ससीम–व्याप्य–प्रतिक्षणविलक्षण–द्वैतभावापन्न–तरङ्ग–समतुलित बल यद्यपि संख्या में अनन्त है। किन्तु षोडशी मायी महेश्वर की भाँति इन असंख्य बलों के कोशरूप भी षोडशविध (१६ प्रकार के) ही मान लिए गए हैं, जिन सोलह बलकोशों में सम्पूर्ण असंख्य–अनन्तबल समाविष्ट रहते हैं। जोकि षोडश बलकोश निगमग्रन्थों में यत्रतत्र क्रमशः "माया"[1]–हृदयम्[2]–छाया[3] धारा[4]–आप[5]–भूति[6]–यक्ष[7]–सूत्रम्[8]–सत्यम्[9]–यक्षम्[10] –अभ्वम्[11]–वय[12]–वयोनाध[13]–वयुनम्[14]–मोह[15]–क्रिया[16]" इन नामों से उपवर्णित हुए हैं। इन सोलह बलकोशों के आधार पर

'विश्वसत्यात्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध पार्थिवश्वर ही 'ईश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। इस ईश्वरीय पार्थिव विवर्त्त से अनुप्राणित—'भूतात्मा' 'भोक्तात्मा'–'कर्म्मात्मा'–'देही'–इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध-वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञमूर्त्ति भौम तत्त्व ही 'जीवात्मा' है, जिसका प्रधान रूप से नानाभावापन्न योगमाया से सम्बन्ध माना गया है–।

आत्मस्वरूप की इसी दुर्विज्ञेयता को लक्ष्य बनाते हुए हम प्रतिपादित तथा प्रतिपाद्य विषय के यथा समन्वय के लिए सिंहावलोकनदृष्ट्या संग्रहरूप से आत्मस्वरूप का आश्रय ले रहे हैं। विश्वमूल के रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का विश्लेषण करने वाले पूर्वोद्धृत 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि ऋङ्मन्त्र का जो समन्वय पूर्व में हुआ है, उसके इस निष्कर्षार्थ पर हमें पहुँचना पड़ा कि,—"चराचरप्राणिवर्गसमाकुलित यह दृश्यमान पाञ्चभौतिक प्रपञ्च जब हमारी प्रत्यक्ष दृष्टि का विषय न था, तो उस सृष्टिपूर्वदशा में सर्वत्र अखण्ड–अद्वय–निरञ्जन–केवल–ब्रह्म का ही साम्राज्य था, जिस अखण्ड–निरवयव–ब्रह्म में सद्भावात्मक 'आभू' नामक 'रस' तत्त्व का, एवं असद्भावात्मक 'अभ्व' नामक 'बल' तत्त्व का सहचरसम्बन्ध से अनारान्तरीभाव से समन्वय था। सर्व्वबलविशिष्टरसैकघन इसी अद्वय ब्रह्म को, मायातीत तत्त्व को वैज्ञानिकों ने–'परात्पर परमेश्वर' नाम से व्यवहृत किया, जिसके आगे जाकर मायाबलानुगत हृदयबलावच्छिन्न मनोमय कामरेत से सत्–असत् (रस–बल) के सम्बन्ध–तारतम्य से परमेश्वर–महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर–जीव–जगत्–आदि विभिन्न विवर्त्तभावों का उदय हो गया"।

(९६)–अत्यनपिनद्ध ब्रह्म

किसी भी प्रकार के मर्त्य–वारुण–सीमापाशबन्धन से सर्वात्मना असंस्पृष्ट रहने के कारण ही मायातीत सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति परात्पर परमेश्वर विज्ञानपरिभाषा में *'अत्यनपिनद्ध' (निःसीम) नाम से उपस्तुत हुआ है। निःसीम परात्परब्रह्म का शुद्ध 'रसभाव' विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की अविवक्षा से जहाँ 'निर्विशेष' कहलाता है, वहाँ विशेषभावप्रवर्त्तक बलों की विवक्षा से वही निर्विशेष 'परात्पर' कहलाने लगता है। इस प्रकार केवल ज्ञानानुगता (न तु सत्तानुगता) बल-अविवक्षाविवक्षा के भेद से मायातीत एक ही ब्रह्म के बल-निरपेक्ष निर्विशेषब्रह्म (शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर) बलसापेक्ष–बलविशिष्ट सविशेषभावापन्न परात्परब्रह्म (रसबलसमष्टिरूप परात्पर) ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। स्मार्त्ती उपनिषत् की परिभाषानुसार बलनिरपेक्ष शुद्ध रसमूर्त्ति निर्विशेष परात्पर 'ऐकान्तिकसुख' (निर्विषयक आत्मरूप शुद्ध रसानन्द) नाम से व्यवहृत

---

१ परमेश्वर–महेश्वरादि आत्मविवर्त्तों के विभिन्न दृष्टिकोणनिबन्धन वैज्ञानिक स्वरूपों के लिए देखिए—गीताभूमिकान्तर्गत 'आत्मपरीक्षा, ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य, एवं 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक आद्यविज्ञानग्रन्थ का प्रथमखण्ड।

* सीमा से सम्बन्ध 'नद्ध' है। सीमाबन्धन से सर्वात्मना आत्यन्तिकरूप से असंस्पृष्ट निःसीम सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तत्त्व ही 'अत्यनपिनद्ध' है।

(६६)–प्रधानबलकोशत्रयी—

उक्त सोलह बलों में सम्पूर्ण अनन्त बल गर्भीभूत बने रहते हैं। अतएव ये १६ बल 'बलकोश' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें सर्वादि का 'मायाबलकोश' यह महाबल है, जिसके गर्भ में सम्पूर्ण (१५ हीं) बलकोश समाविष्ट हैं। इन सोलहों में सर्वादिभूत मायाबलकोश का अपना एक स्वतन्त्र महत्व है, जिसके द्वारा सिसृक्षामूला सृष्टि का स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है। सर्वान्त का 'विद्याबलकोश' अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है, जिसके द्वारा मुमुक्षामूला मुक्ति की प्रवृत्ति हुआ करती है। मध्यस्थ चतुर्दशबलकोश व्यष्ट्यात्मक बलकोश हैं, जिनका एक स्वतन्त्र विभाग माना जायगा, जिनमें कि भौतिक मर्त्यविश्व के यच्चयावत् लयप्रलयरूपात्मक विज्ञान समाविष्ट माने गए हैं। इस दृष्टिकोण से इन षोडशविध बलकोशों की तीन मुख्य श्रेणियाँ निष्पन्न हो जाती हैं।

मायाबलकोशात्मक आदिबल को सीमाभावानुगता कामनाबल से अनुप्राणित हम 'अशनाया बल' कहेंगे, जिसका पूर्वपरिच्छेदों में इच्छा–अशनाया के स्वरूपनिरूपण–प्रसङ्ग में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। 'अशनाया ये पाप्मा' रूप से मायानुगता अशनाया ही 'अविद्याबलकोश' है, जो व्यष्ट्यात्मक हृदय–छाया–धारादि चतुर्दशविध बलकोशों को अग्रगामी बनाकर व्यष्टिबलकोशों के सर्वान्त के 'मोहबलकोश' के द्वारा आवरणसर्ग (अविद्यासर्ग) की मूलाधिष्ठात्री बनती है। ठीक इसके विपरीत विद्याबलकोशात्मक सर्वान्त के बलकोश को–जो अपने रसानुबन्धी ज्योतिर्भाव के कारण निष्क्रमभावापन्न बना रहता है–हम बन्धननिवर्त्तक मुक्तिसाक्षी बलकोश कहेंगे, जो उन्हीं हृदय–छाया–धारादि चतुर्दशविध बलकोशों को अग्रगामी बनाकर व्यष्टिबलकोश के सर्वादि हृदयबलकोश के द्वारा (अन्तर्यामीरूपनियतिबल की प्रेरणाद्वारा) आवरणसर्ग (अविद्या–मोह) का मूलनिवर्त्तक प्रमाणित होता है। मायाबलकोश को तमोमय अविद्यासर्गप्रवृत्ति के कारण हम 'अविद्याबल' कहेंगे एवं अन्तिम बलकोश 'विद्याबल' प्रसिद्ध होगा। तथा मध्य की चतुर्दशबल कोशसमष्टि मायानुगता बनकर वही 'अविद्या' कहलाएगी, विद्यानुगता बनकर वही 'विद्या' कहलाएगी। अतएव अविद्याबलात्मक मायाबलकोश का बलनिबन्धन 'मृत्युबल', विनाशी 'क्षरबल' कहा जायगा। विद्याबलकोश को रसनिबन्धन 'अमृतबल' अविनाशी 'अक्षरबल' कहा जायगा। एवं मध्यपतितचतुर्दश बलों को 'अमृतमृत्युबल'-विद्याऽविद्याबल' 'अक्षरक्षरबल' माना जायगा। इस दृष्टि से १६ बलों का त्रिधा वर्गीकरण निष्पन्न हो जायगा। अमृतबल का सहायक हृदयबल माना जायगा, मृत्युबल का सहायक मोहबल माना जायगा। मोहात्मक मृत्युबल 'तमोबल' कहा जायगा, हृदयात्मक (मनुमर्यादात्मक) अमृतबल 'ज्योतिर्बल' माना जायगा। तमोबल को 'असद्बल' कहा जायगा, ज्योतिर्बल को 'सद्बल' माना जायगा। एवं इसी आधार पर– "असतो मा सद्गमय–मृत्योर्मा अमृतं गमय–तमसो मा ज्योतिर्गमय" इत्यादि उद्घोष व्यवस्थित होंगे। निम्नलिखित वचन इसी विद्या–अविद्यात्मक अक्षर–क्षरबलों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

प्रधानबलकोशत्रयीस्वरूपपरिलेख —

(१)	(१)—मायाबलम्	–रसानुगतम्	–मृत्यु	–अविद्या	–(असत्–तमः)	–क्षरबलम्
(१४)	(२)—हृदयादिमोहान्तबलम्	–उभयानुगतम्	–अमृतमृत्यू	–विद्याविद्ये	–(सदसत्–उभयम्)	–उभयात्मकम्
(१६)	(३)—विद्याबलम्	–रसानुगतम्	–अमृतम्	–विद्या	–(सत्–ज्योति)	–अक्षरबलम्

ही भारतीय विज्ञानकाण्ड को १६ विभागों में विभक्त माना जा सकता है, जो विज्ञानकाण्ड इन ब्रह्मों पर अवलम्बित है, एवं जिस दृष्टिकोण के माध्यम से ही विज्ञानमूलभूत ब्रह्म का 'ब्रह्म यत्र विज्ञानाद्भूय' इत्यादि रूप से तुलनात्मक विज्ञान की अपेक्षा मूलरूप ब्रह्म का भूयोभावात्मक महिमशाली घोषित किया गया है।

षोडशब्रह्मकोशसङ्ग्रहपरिलेखः—

(१)	(१)	मायाकोशानुगतं-	मायाविज्ञानम् —	छन्दोविज्ञानम्-अश्वत्थविज्ञानम्-समष्टिविज्ञानम्	
(१)	(२)	हृदयकोशानुगतं-	हृदयविज्ञानम्—	नियतिविज्ञानम्—	व्याप्तिमलापन्नानि—अध्यात्म—अधिभूत—अधिदैवत—नक्षत्र—ग्रह—लोक—खोकि—आदितिमिक-खण्डखण्डविज्ञानानि। ज्ञानं तेऽहं——'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति रसमात्रं। सविज्ञानमिदं वक्ष्यामि-'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति बलमात्रः। } यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते (गीता) 'विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानम् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। 'विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्'। 'विज्ञानमित्युपास्व'—
(२)	(३)	जायाकोशानुगत-	जायाविज्ञानम्—	दाम्पत्यविज्ञानम्	
(३)	(४)	धाराकोशानुगतं-	धाराविज्ञानम्—	क्रियाऽभेदविज्ञानम्—	
(४)	(५)	आप कोशानुगतं-	आपोविज्ञानम्—	भातिविज्ञानम्—	
(५)	(६)	भूतिकोशानुगतं—	भूतिविज्ञानम्—	प्रभवविज्ञानम्—	
(६)	(७)	यज्ञकोशानुगतं—	यज्ञविज्ञानम्—	अन्नान्नादविज्ञानम्	
(७)	(८)	सूत्रकोशानुगतं—	सूत्रविज्ञानम्—	प्रतिप्रेतिविज्ञानम्	
(८)	(९)	सत्यकोशानुगतं—	सत्यविज्ञानम्—	प्रतिष्ठाविज्ञानम्—	
(९)	(१०)	यक्षकोशानुगतं—	यक्षविज्ञानम्—	कर्मविज्ञानम्—	
(१०)	(११)	अभ्वकोशानुगत-	अभ्वविज्ञानम्—	नामरूपविज्ञानम्	
(११)	(१२)	वयःकोशानुगतं -	वयोविज्ञानम्—	प्राणविज्ञानम् —	
(१२)	(१३)	वयोनाधकोशानुगतं	वयोनाधविज्ञानम्-	वाग्विज्ञानम् —	
(१३)	(१४)	वयुनकोशानुगतं-	वयुनविज्ञानम्—	पदार्थविज्ञानम्—	
(१४)	(१५)	मोहकोशानुगतं—	मोहविज्ञानम्—	मनोविज्ञानम्—	
(१)	(१६)	विद्याकोशानुगतं-	विद्याविज्ञानम्—	बुद्धिविज्ञानम्—	कर्माश्वत्थविज्ञानसमष्टि-विज्ञानम्

(६६)—प्रधानबलकोशत्रयी—

उक्त सोलह बलों में सम्पूर्ण अनन्त बल गर्भीभूत बने रहते हैं। अतएव ये १६ बल 'बलकोश' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें *सर्वादि का 'मायाबलकोश' वह महाबल है, जिसके गर्भ में सम्पूर्ण (१५ हों) बलकोश* समाविष्ट हैं। इन कोशों में सर्वादिभूत मायाबलकोश का अपना एक स्वतन्त्र महत्त्व है, जिसके द्वारा सिसृक्षा-मूला सृष्टि का स्वरूप प्रतिष्ठित रहता है। सर्वान्त का 'विद्याबलकोश' अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है, जिसके द्वारा मुमुक्षामूला मुक्ति की प्रवृत्ति हुआ करती है। मध्यस्थ चतुर्दशबलकोश व्यष्ट्यात्मक बलकोश हैं, जिनका एक स्वतन्त्र विभाग माना जायगा, जिनमें कि भौतिक मर्त्यविश्व के यच्चयावत् खण्डखण्डात्मक विज्ञान समाविष्ट माने गए हैं। इस दृष्टिकोण से इन षोडशविध बलकोशों की तीन मुख्य श्रेणियाँ निष्पन्न हो जाती हैं।

मायाबलकोशात्मक आदिबल को सीमाभावानुगता कामनाबल से अनुप्राणित हम 'अशनाया बल' कहेंगे, जिसका पूर्वपरिच्छेदों में इच्छा-अशनाया के स्वरूपनिरूपण-प्रसङ्ग में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। 'अशनाया वै पाप्मा' रूप से मायानुगता अशनाया ही 'अविद्याबलकोश' है, जो व्यष्ट्यात्मक हृदय-जाया-धारादि चतुर्दशविध बलकोशों को अग्रगामी बनाकर व्यष्टिबलकोशों के सर्वान्त के 'मोहबलकोश' के द्वारा आवरणसर्ग (अविद्यासर्ग) की मूलाधिष्ठात्री बनती है। ठीक इसके विपरीत विद्याबलकोशात्मक सर्वान्त के बलकोश को—जो अपने रसानुबन्धी ज्योतिर्भाव के कारण निष्कामभावापन्न बना रहता है—हम बन्धननिवर्त्तक मुक्तिसाक्षी बलकोश कहेंगे, जो उन्हीं हृदय-जाया-धारादि चतुर्दशविध बलकोशों को अग्रगामी बनाकर *व्यष्टिबलकोश के सर्वादि हृदयबलकोश के द्वारा (अन्तर्यामीरूपनियतिबल की प्रेरणाद्वारा) आवरणसर्ग* (अविद्या-मोह) का मूलनिवर्त्तक प्रमाणित होता है। मायाबलकोश को तमोमय अविद्यासर्गप्रवृत्ति के कारण हम 'अविद्याबल' कहेंगे एवं अन्तिम बलकोश 'विद्याबल' प्रसिद्ध होगा। तथा मध्य की चतुर्दशबल कोशसमष्टि मायानुगता बनकर वही 'अविद्या' कहलाएगी, विद्यानुगता बनकर वही 'विद्या' कहलाएगी। अतएव अविद्याबलात्मक मायाबलकोश को बलनिबन्धन 'मृत्युबल', विनाशी 'क्षरबल' कहा जायगा। विद्याबलकोश को रसनिबन्धन 'अमृतबल' अविनाशी 'अक्षरबल' कहा जायगा। एवं मध्यप्रतिष्ठितचतुर्दश बलों को 'अमृतमृत्युबल'-विद्याऽविद्याबल' 'अक्षरक्षरबल' माना जायगा। इस दृष्टि से १६ बलों का त्रिधा वर्गीकरण निष्पन्न हो जायगा। अमृतबल का सहायक हृदयबल माना जायगा, मृत्युबल का सहायक मोहबल माना जायगा। मोहात्मक मृत्युबल 'तमोबल' कहा जायगा, हृदयात्मक (मनुर्भावात्मक) अमृतबल 'ज्योतिर्बल' माना जायगा। तमोबल को 'असद्बल' कहा जायगा, ज्योतिर्बल को 'सद्बल' माना जायगा। एवं इसी आधार पर—"असतो मा सद्गमय-मृत्योर्मा अमृतं गमय-तमसो मा ज्योतिर्गमय" इत्यादि उद्घोष व्यवस्थित होंगे। निम्नलिखित वचन इसी विद्या-अविद्यात्मक अक्षर-क्षरबलों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

प्रधानबलकोशत्रयीस्वरूपपरिलेख —

(१) (१)—मायाबलम् —बलानुगतम् —मृत्युः —अविद्या —(असत्—तमः) —क्षरबलम्
(१५) (२)—हृदयादिमोहान्तबलम् —उभयानुगतम्—अमृतमृत्यू —विद्याविद्ये —(सदसत्—उभयम्)—उभयात्मकम्
(१६) (३)—विद्याबलम् —रसानुगतम् —अमृतम् —विद्या —(सत्—ज्योतिः) —अक्षरबलम्

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥ श्वे०उप०५।१।
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ श्वे० १।१०

(१००) शक्त्युपासना की मूलप्रतिष्ठा—

यह ठीक है कि, सोलहवीं विद्याकला ही हृदयबलात्मक अन्तर्यामी नियतिग्रन्थि की प्रेरणा से बलग्रन्थिविमोकद्वारा बन्धन–मुक्ति का कारण बनता है। किन्तु यह श्रेय भी अन्ततोगत्वा सर्वाधिभूत उस महामायाबल को ही समर्पित किया जायगा, जो असीम परात्पर को भी ससीम बनाकर सर्वाधिष्ठाता बन रहा है। माया के अनुग्रह से ही तो मायी अव्ययात्मा रसानुबन्धिनी मुमुक्षा के द्वारा निष्पन्ना पूर्वोपवर्णिता आनन्दविज्ञानात्मिका अन्तर्भिति के माध्यम से बन्धनविमोक का अधिष्ठाता बनता है। अतएव बन्धन, किंवा विमोक, सर्ग, अथवा वो लय, यत्किञ्चिज्जगद्वस्तु सदसदात्मक है, सब का निःशेष उत्तरदायित्व इस महामाया जगदम्बा पर ही अवलम्बित माना जायगा। इसी महामाया के विष्णु–अक्षरनिबन्धन योगमायात्मक बल से मोहद्वारा सर्गप्रवृत्ति होती है। इसी महामाया के इन्द्र–अक्षरनिबन्धन योगमायात्मक बल से रागद्वारा सर्गस्थिति, इसी महामाया के 'ब्रह्माक्षरनिबन्धन–रजोगुणात्मक–योगमायाबल' से सर्गसंरक्षण होता है। एवं इसी महामाया के इन्द्राक्षरनिबन्धन–सत्त्वगुणात्मक–योगमायाबल से सर्गबन्धननिवृत्ति होती है। अतएव आर्षवैज्ञानिक महामहर्षियों नें 'शक्त्युपासना' को ही उपासनाकाण्ड की मूलप्रतिष्ठा माना है।

(१०१)—दार्शनिकों का व्यामोहन—

यदवधिपर्य्यन्त महामायाबल सुप्त रहता है (अव्यक्तावस्था में परिणत रहता है), तदवधिपर्य्यन्त शेष पञ्चहों बलकोश भी अव्यक्त भाव में परिणत रहते हैं। फलतः बलानुगता सृष्टिप्रक्रिया भी अव्यक्त ही बनी रहती है। मायाबल के जागरण से (व्यक्तावस्था में परिणत होने से) ही शेष बलकोश जागरूक बनते हैं, तदनन्तर ही सृष्टिप्रक्रिया प्रक्रान्त बनती है। मायाबल के इसी महामहिम–गरिमामय–महामहत्त्व को लक्ष्य बनाते हुए ही सम्भवतः अर्वाचीन दार्शनिकों ने (वेदान्तनिष्ठों नें) अपनी यह धारणा व्यक्त की है कि,–"यह सम्पूर्ण भूत–भौतिक प्रपञ्च मायिक है, मायामय है"। यह दार्शनिकधारणा तथाकथित अंशपर्य्यन्त जहाँ आर्षविज्ञानानुमोदित है, वहाँ इस धारणा के साथ–साथ अपनी निगमव्याख्याशून्या नित्यविज्ञानशून्या कल्पित इस धारणा, किंवा असद्धारणा का कोई महत्त्व स्वीकृत नहीं किया जा सकता, जिस धारणामात्र का इन दार्शनिकों ने –(जगत् क्योंकि मायिक है, अतएव मिथ्या है) इन काल्पनिक शब्दों में घोषणा करते हुए 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' न्याय को ही अक्षरशः चरितार्थ करने का महान् गौरव प्राप्त किया है।

(१०२)–सर्व्वधर्म्मोपपन्न ब्रह्म—

मायाबलानुबन्धी सर्ग का एक महत्त्वपूर्ण प्रासङ्गिक विश्लेषण और। निष्कल पुरुष 'सकल' बन गया, षोडशकल बनता हुआ 'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध हो गया, यह पूर्व में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। इस सकल ने किया क्या ?, इस प्रश्न का एक प्रासङ्गिक विश्लेषण यों समन्वित किया जा सकता है कि, मायोदय से पूर्व ब्रह्मतत्त्व निर्धर्म्मक बना रहता है। वही मायोदय से बलसम्बन्धनिबन्धन आत्मपरिग्रहों से युक्त होकर 'सधर्म्मा' बन जाता है। वे आत्मपरिग्रह जहाँ बलकोशवृद्धि से पूर्वानुसार १६ भागों में विभक्त हैं, वहाँ 'आत्मन्वी' दृष्टि से ६ भागों में विभक्त माने गए हैं *। ये आत्मपरिग्रह क्रमशः "माया"—कला"—गुण"—विकार"—अञ्जन"—आवरण"" इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इन परिग्रहात्मक षड्धर्म्मों से संयुक्त बनता हुआ निर्धर्म्मक मायातीत ब्रह्म 'सर्वधर्म्मोपपन्न' बन गया है, जिसका पुराणपुरुष ने—'सर्व्वधर्म्मोपपन्नं रथ' (व्यासभूत्र) रूप से यशोगान किया है।

उक्त ६ओं परिग्रहों का त्रिधा वर्गीकरण किया है आत्मतत्त्ववेत्ता विद्वानों नें। माया-कला, इन दोनों का एक स्वतन्त्र वर्ग है। गुण-विकार, का स्वतन्त्र वग है। एवं अञ्जन-आवरण, का एक स्वतन्त्र वर्ग है। माया-कला-रूप प्रथम द्वन्द्व 'अमृतात्मा' का स्वरूपसम्पादक बनता हुआ 'अमृतपरिग्रह' माना जायगा। गुण-विकाररूप द्वितीय द्वन्द्व 'ब्रह्मात्मा' का स्वरूपसम्पादक बनता हुआ 'ब्रह्मपरिग्रह' माना जायगा। एवं अञ्जन-आवरण रूप द्वन्द्व 'शुक्रात्मा का स्वरूपनिर्म्मापक बनता हुआ 'शुक्रपरिग्रह' माना जायगा। यद्यपि माया-कला आदि ६ परिग्रहों से समन्वित इन वर्गात्मक तीन द्वन्द्वों से फलरूप तीन आत्मविवर्त पृथक्-पृथक् तीन आत्मविवर्त माने जायेंगे। तथापि परिग्रहनिरपेक्षावस्था में 'अय सर्वैकमयमात्मा' 'एष एवात्मा-य पूर्वस्य' इत्यादि सिद्धान्तानुसार तीनों को एक ही आत्मा कहा जायगा। परिग्रहविरहित विशुद्ध आत्मदृष्ट्या यद्यपि एक ही 'आत्मा' उद्घोषित होगा। तथापि परिग्रहसापेक्षावस्था में—'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—'आत्मा व एकः सन्नेतत् त्रयम्' इत्यादि सिद्धान्तानुसार तीन आत्मविवर्त माने जायेंगे। इन तीनों आत्मपरिग्रहद्वन्द्वों के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रसङ्गविधया यह स्पष्टीकरण अनुगमनीय माना जायगा कि—

(१०३)–सीमाभावप्रवर्त्तक मायापरिग्रह,तथा–मायापरिग्रहयुक्त निष्कलपुरुष (१)

'माया' नामक प्रथम परिग्रह एकाकी है, निष्कल है। अवान्तर खण्ड-खण्डात्मिका विष्णुमाया-ब्रह्ममाया-शिवमाया-योगमाया-आदि असंख्य अनन्त-सापेक्ष मायाविवर्तों की अपेक्षा से इस स्वसहितलक्षणा

---

* देखिए–ब्रह्मविज्ञानग्रन्थान्तर्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम खण्ड पृ० सं २६१ से २६७ पर्य्यन्त—

— न सती सा, नासती सा, नोभयात्मा विरोधतः ।
काचिद्विलक्षणा माया वस्तुभूता सनातनी ॥
"वस्तु प्रकृतिरिष्यत" इति वा ।

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढ ।
क्षरं, त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥ श्वे०उप०५।१।
क्षरं प्रधान–ममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ श्वे० १।१०

(१००) शक्त्युपासना की मूलप्रतिष्ठा—

यह ठीक है कि, सोलहवीं विद्याकला ही हृदयव्याप्तात्मक अन्तर्यामी नियतिग्रन्थि की प्रेरणा से बन्धग्रन्थिविमोकद्वारा बन्धन–मुक्ति का कारण बनता है। किन्तु यह श्रेय भी अन्ततोगत्वा सर्वादिभूत उस महामायाबल को ही समर्पित किया जायगा, जो असीम परात्पर को भी ससीम बनाकर सर्वाधिष्ठाता बन रहा है। माया के अनुग्रह से ही तो मायी अव्ययात्मा स्वानुगामिनी मुमुक्षा के द्वारा निष्पन्ना पूर्णोपर्णा आनन्द विज्ञानात्मिका अन्तश्चिति के माध्यम से बन्धनविमोक का अधिष्ठाता बनता है। अतएव बन्धन, किंवा विमोक, सर्ग, अथवापि लय, यत्किञ्चिदिदं सर्वं सदसदात्मक है, सब का निःशेष उत्तरदायित्व इस महामाया जगदम्बा पर ही अवलम्बित माना जायगा। इसी महामाया के विष्णु–अक्षरनिबन्धन योगमायात्मक बल से मोहद्वारा सर्गप्रवृत्ति होती है। इसी महामाया के इन्द्र–अक्षरनिबन्धन योगमायात्मक बल से रागद्वारा सर्गस्थिति, इसी महामाया के 'ब्रह्माक्षरनिबन्धन–रजोगुणात्मक–योगमायाबल' से सर्गसंरक्षण होता है। एवं इसी महामाया के इन्द्राक्षरनिबन्धन–सत्त्वगुणात्मक–योगमायाबल से सर्गबन्धननिवृत्ति होती है। अतएव आर्षवैज्ञानिक महामहर्षियों नें 'शक्त्युपासना' को ही उपासनाकाण्ड की मूलप्रतिष्ठा माना है।

(१०१)—दार्शनिकों का व्यामोहन—

जबतकपर्य्यन्त महामायाबल सुप्त रहता है (अव्यक्तावस्था में परिणत रहता है), तबतकपर्य्यन्त शेष पञ्चहों बलकोश भी अव्यक्त भाव में परिणत रहते हैं। फलतः बलानुगता सृष्टिप्रक्रिया भी अव्यक्त ही बनी रहती है। मायाबल के जागरण से (व्यक्तावस्था में परिणत होने से) ही शेष बलकोश जागरूक बनते हैं, तदनन्तर ही सृष्टिप्रक्रिया प्रक्रान्त बनती है। मायाबल के इसी महामहिम–गरिमामय–महामहत्त्व को लक्ष्य बनाते हुए ही सम्भवतः अर्वाचीन दार्शनिकों ने (वेदान्तनिष्ठों नें) अपनी यह धारणा व्यक्त की है कि,—"यह सम्पूर्ण भूत–भौतिक प्रपञ्च मायिक है, मायामय है"। यह दार्शनिकधारणा तथाकथित अंशपर्य्यन्त जहाँ आर्षविज्ञानानुमोदित है, वहाँ इस धारणा के साथ-साथ अपनी निगमव्याख्याशून्या निस्तत्त्वविज्ञानशून्या कल्पित इस धारणा, किंवा अपद्धारणा का कोई महत्त्व स्वीकृत नहीं किया जा सकता, जिस धारणाभास का इन दार्शनिकों ने—(जगत् क्योंकि मायिक है, अतएव मिथ्या है) इन काल्पनिक शब्दों में घोषणा करते हुए 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' न्याय को ही अक्षरशः चरितार्थ करने का महान् गौरव प्राप्त किया है।

(१०२)–सर्व्वधर्म्मोपपन्न ब्रह्म—

मायाबलानुबन्धी सर्ग का एक महत्त्वपूर्ण प्रासङ्गिक विश्लेषण और। निष्कल पुरुष 'सकल' बन गया, षोडशकल बनता हुआ 'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध हो गया, यह पूर्व में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। इस सकल ने किया क्या ?, इस प्रश्न का एक प्रासङ्गिक विश्लेषण भी समन्वित किया जा सकता है कि, मायोदय से पूर्व ब्रह्मतत्त्व निर्धर्म्मक बना रहता है। यही मायोदय से बलसम्बन्धनिबन्धन आत्मपरिग्रहों से युक्त होकर 'सधर्म्मा' बन जाता है। ये आत्मपरिग्रह जहाँ बलकोशदृष्टि से पूर्वानुसार १६ भागों में विभक्त हैं, वहाँ 'आत्मन्वी' दृष्टि से ६ भागों में विभक्त माने गए हैं *। ये आत्मपरिग्रह क्रमशः "माया'—कला'—गुण'—विकार'—अञ्जन'—आवरण'" इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इन परिग्रहात्मक षड्धर्म्मों से संयुक्त बनता हुआ निर्धर्म्मक मायातीत ब्रह्म 'सर्वधर्म्मोपपन्न' बन गया है, जिसका पुराणपुरुष ने—'सर्व्वधर्म्मोपपत्तेश्च' (व्याससूत्र) रूप से यशोगान किया है।

उक्त ६ओं परिग्रहों का त्रिधा वर्गीकरण किया है आत्मतत्त्ववेत्ता विद्वानों ने। माया-कला, इन दोनों का एक स्वतन्त्र वर्ग है। गुण-विकार, का स्वतन्त्र वर्ग है। एवं अञ्जन-आवरण, का एक स्वतन्त्र वर्ग है। माया-कला-रूप प्रथम द्वन्द्व 'अमृतात्मा' का स्वरूपसम्पादक बनता हुआ 'अमृतपरिग्रह' माना जायगा। गुण-विकाररूप द्वितीय द्वन्द्व 'ब्रह्मात्मा' का स्वरूपसम्पादक बनता हुआ 'ब्रह्मपरिग्रह' माना जायगा। एवं अञ्जन-आवरण रूप द्वन्द्व 'शुक्रात्मा' का स्वरूपनिर्म्मापक बनता हुआ 'शुक्रपरिग्रह' माना जायगा। यद्यपि माया-कला आदि ६ परिग्रहों से समन्वित इन वर्गात्मक तीन द्वन्द्वों से फलरूप तीन 'आत्मविवर्त्त' पृथक्-पृथक् तीन आत्मविवर्त्त माने जायँगे। तथापि परिग्रहनिरपेक्षावस्था में 'अयं सदेकमयमात्मा' 'एष एवात्मा-स पूर्व्यस्य' इत्यादि सिद्धान्तानुसार तीनों का एक ही आत्मा कहा जायगा। परिग्रहविरहित विशुद्ध आत्मदृष्ट्या यद्यपि एक ही 'आत्मा' उपासित होगा। तथापि परिग्रहसापेक्षावस्था में—'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्' इत्यादि सिद्धान्तानुसार तीन आत्मविवर्त्त माने जायँगे। इन तीनों आत्मपरिग्रहद्वन्द्वों के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रसङ्गप्राप्त यह स्पष्टीकरण अनुगमनीय माना जायगा कि—

(१०३)–सीमाभावप्रवर्त्तक मायापरिग्रह,तथा–मायापरिग्रहयुक्त निष्कलपुरुष (१)

'माया' नामक प्रथम परिग्रह एकाकी है, निष्कल है। अवान्तर भगवद्-भगवतीभिन्न विष्णुमाया–ब्रह्ममाया–शिवमाया–योगमाया आदि असंख्य अनन्त-सापेक्ष मायाविवर्तों की अपेक्षा से इस असंख्यविलक्षणा

---

* देखिए–ब्रह्मविज्ञानग्रन्थान्तर्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम खण्ड पृ० सं० २११ से २९७ पर्यन्त—

— न सती सा, नासती सा, नोभयात्मा विरोधत ।
काचिद्विलक्षणा माया वस्तुभूता सनातनी ॥
"वस्तु प्रकृतिरिष्यते" इति वा ।

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥ श्वे०उप०५।१।
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ श्वे० १।१०

(१००) शक्त्युपासना की मूलप्रतिष्ठा—

यह ठीक है कि, सालहर्मी विद्याबल ही हृदयस्थात्मक अन्तर्यामी नियतिबल की प्रेरणा से ब्रह्मग्रन्थिविमोकद्वारा बन्धन–मुक्ति का कारण बनता है। किन्तु यह श्रेय भी अन्ततोगत्वा सर्वादिभूत उस महामायाबल को ही समर्पित किया जायगा, जो असीम परात्पर को भी ससीम बनाकर सर्वाधिष्ठाता बन रहा है। माया के अनुग्रह से ही तो मायी अव्ययात्मा रसानुबन्धिनी मुमुक्षा के द्वारा निष्प्रभा पूर्वापर्यिता आनन्द विज्ञानात्मिका अन्तश्चिति के माध्यम से बन्धनविमोक का अधिष्ठाता बनता है। अतएव बन्धन, किंवा विमोक, सर्ग, अथवा तो लय, यत्किञ्चिद्विश्वद्वद्वस्तु सदसदात्मक है, सब का निःशेष उत्तरदायित्व इस महामाया जगदम्बा पर ही अवलम्बित माना जायगा। इसी महामाया के विष्णु–अक्षरनिबन्धन योगमायात्मक बल से मोहद्वारा सर्गप्रवृत्ति होती है। इसी महामाया के इन्द्र–अक्षरनिबन्धन योगमायात्मक बल से रागद्वारा सर्गस्थिति, इसी महामाया के 'ब्रह्माक्षरनिबन्धन–रजोगुणात्मक–योगमायाबल' से सर्गसरकण होता है। एवं इसी महामाया के इन्द्राक्षरनिबन्धन–सत्त्वगुणात्मक–योगमायाबल से सर्गबन्धननिवृत्ति होती है। अतएव आर्षवैज्ञानिक महामहर्षियों नें 'शक्त्युपासना' को ही उपासनाकाण्ड की मूलप्रतिष्ठा माना है।

(१०१)–दार्शनिकों का व्यामोहन—

मत्स्यविपर्य्यन्त महामायाबल सुप्त रहता है (अव्यक्तावस्था में परिणत रहता है), तदनविपर्य्यन्त शेष पन्द्रहों बलकोश भी अव्यक्त भाव में परिणत रहते हैं। फलतः बलानुगता सृष्टिप्रक्रिया भी अव्यक्त ही बनी रहती है। मायाबल के जागरण से (व्यक्तावस्था में परिणत होने से) ही शेष बलकोश जागरूक बनते हैं, तदनन्तर ही सृष्टिप्रक्रिया प्रक्रान्त बनती है। मायाबल के इसी महामहिम–गरिमामय–महामहत्त्व को लक्ष्य बनाते हुए ही सम्भवतः अर्वाचीन दार्शनिकों ने (वेदान्तनिष्ठों नें) अपनी यह धारणा व्यक्त की है कि,–"यह सम्पूर्ण भूत–भौतिक प्रपञ्च मायिक है, मायामय है"। यह दार्शनिकधारणा तथाकथित अंशपर्य्यन्त जहाँ आर्ष-विज्ञानानुमोदित है, वहाँ इस धारणा के साथ-साथ अपनी निगमव्याख्याशून्या नित्यविज्ञानशून्या कल्पित इस धारणा, किंवा असद्धारणा का कोई महत्त्व स्वीकृत नहीं किया जा सकता, जिस धारणामात्र का इन दार्शनिकों ने—(जगत् क्योंकि मायिक है, अतएव मिथ्या है) इन काल्पनिक शब्दों में घोषणा करते हुए 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' न्याय को ही अक्षरशः चरितार्थ करने का महान् गौरव प्राप्त किया है।

कलाभावों का उदय होता है। अतएव इस निष्कलाव्यय को 'कलासर्गकर' नाम से व्यवहृत किया गया है ×। आदिभूत मायापरिग्रहविशिष्ट आत्मविवर्त्त का यही संक्षिप्त स्वरूप-परिचय है।

(१०८) षोडशकलाभावप्रवर्त्तक 'कला' परिग्रह, तथा कलापरिग्रहयुक्त सकलपुरुष-(२)

मायापरिग्रहावच्छिन्न पुरभावात्मक निष्कल परात्पर पुरुष * ही मनोमयी अमना से रस-बलचिति के द्वारा कलाभाव में परिणत हो जाता है, यह पूर्व में विस्तार से स्पष्ट किया-जा चुका है। इस

× भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् (मायी महेश्वरम्)।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ —श्वे० उप० ५।१४।

* यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः 'परात्परं पुरुष'मुपैति दिव्यम् ॥
(मुण्डकोपनिषत्) ३।२।८

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥
मुण्डकोपनिषत् २।१।२। (अप्राण प्राणघन अमना —मनोघन)

यहाँ बात कुछ समझने जैसी है। 'पर' शब्द 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः' इत्यादिरूप से केवल 'अव्ययपुरुष' के लिए निरूढ है, एवमेव 'परात्पर' शब्द केवल मायातीत निरञ्जन परमेश्वर के लिए ही निरूढ है। ऐसी स्थिति में—'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इत्यादि रूप से 'पर' नामक अव्ययपुरुष को श्रुति ने 'परात्परपुरुष' नाम से कैसे क्यों व्यवहृत किया ?, प्रश्न स्वाभाविक बन जाता है, जिसका वैज्ञानिकों ने अनेक दृष्टिकोणों से समाधान किया है। अध्यात्मसंस्था (मानवीय जीवात्म-संस्था) का साक्षी अव्ययपुरुष भी 'पर' है, एवं अधिदैवत संस्था (ईश्वरीयविश्वसंस्था) का साक्षी अव्ययपुरुष भी 'पर' है। यह परपुरुष क्योंकि जैव परपुरुष की अपेक्षा 'पर' (नि सीम—उत्कृष्ट—व्यापक) है। अतएव 'परादपि परः' (जीवाव्ययादपि परः—ईश्वर परः) निर्वचन से विश्वाव्यय को 'परात्परपुरुष' कहना अन्वर्थ बन जाता है। अपिच—जिस प्रकार—परात्पर के बलविशिष्ट रसमूर्त्ति सविशेषपरात्पर, बलनिरपेक्ष शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर, भेद से—'निर्विशेष-परात्पर' ये दो विवर्त्त मान लिए जाते हैं, तथैव मायावच्छिन्नपुरुष, मायाकलावच्छिन्नपुरुष, भेद से अव्ययपुरुष के भी 'निष्कलाव्ययपुरुष—सकलाव्ययपुरुष' में दो विवर्त्त बन जाते हैं। दोनों ही यद्यपि 'पर' हैं। तथापि सकलाव्ययरूप पर' पुरुषापेक्षया हम निष्कलाव्ययपुरुष रूप पर को 'पर' कह सकते हैं। इस दृष्टि से भी 'परादपि' (सकलाव्ययपुरुषादपि) परः '(निष्कलाव्ययपुरुषः)' रूप से निष्कलाव्ययपुरुष को 'परात्पर' कहना अन्वर्थ बन जाता है। अथवा जो—मायातीत बलसापेक्ष परात्पर जैसे निष्कल—अद्वय है। तथैव केवल मायी अव्ययपुरुष भी (निष्कलाव्ययपुरुष भी) निष्कल—अद्वयधर्म से परात्परसमतुलित ही है। अतएव अव्ययपुरुष के ही निष्कल—मायोपाधिक—निष्कल, तथा मायाकलोपाधिक सकल, दोनों विवर्त्तभावों की अपेक्षा केवल मायोपाधिक निष्कलाव्ययपुरुष को मायातीत निष्कल परात्पर से अभिन्न, किंवा समतुलित रहने के कारण वस्तुगत्या भी 'परात्पर' नाम से व्यवहृत कर देना अन्वर्थ बन जाता है।

आदिमाया को 'महामाया' नाम से व्यवहृत किया जायगा। इस आदिभूत निष्कल महामायापरिग्रह से, मायाधर्म्म से सम्बन्धित मायी परात्पर ही मायापुर से वेष्टित बनता हुआ 'निष्कल अव्ययपुरुष' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका 'माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। 'मायीमहेश्वरनिष्कलाव्ययपुरुष' ही पहला आत्मविवर्त्त है, जिसे-'न वैविध्यं गच्छति-न स्त्री पुमान् नपुंसकम्' इत्यादि निर्वचनानुसार 'अव्यय' कहना अन्वर्थ बनता है। कलाभाव ही विविधभाव है। अभी कला-परिग्रह का उदय नहीं है, जो कि कला-भाव विविध भावों का मूलाधार बना करता है। अतएव इस कला-शून्य केवल निष्कल माया-परिग्रहविशिष्ट पुरुष को 'निष्कल अव्यय' कह देना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है, जिसका निम्न लिखित गोपथश्रुति से यों उपवर्णन हुआ है—

* सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥
—गोपथब्राह्मण पू० १।२६।

मायातीत सर्वातीत निर्धर्म्मक परात्पर परमेश्वर निरञ्जन है। उसी अत्यन्तनिरञ्जन निरञ्जन परात्पर का यत्किञ्चित् प्रदेश महामायाबलावच्छेद से सीमित-मित-'मायी' बना है, जिसकी निष्कलता अद्यावधि यथापूर्व सुरक्षित है। निश्चित है कि, इस निष्कल केवल मायी महेश्वर अव्ययात्मा की 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते' इत्यादि प्रकारानुसार यदि ज्ञानात्मिका उपासना की जाती है, तो वह उपासक इस निष्कल द्वारा उस मायातीत निरञ्जन के साथ समत्वसमापन्न बनता हुआ स्वयमपि मायातीत बन जाता है। निष्कलाव्ययपुरुष की इसी ज्ञानोपासना का यशोवर्णन करते हुए ऋषि ने कहा है—

न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च।
एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम्॥
समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्॥
—कैवल्योपनिषत् २।४।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते "निष्कलं" ध्यायमानः॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।१।८।

विशुद्धमायात्मक (ज्ञानात्मक) इस निष्कल-महामायी-महेश्वराव्ययपुरुष से ही केन्द्रानुगता स्थिरता से सम्बद्धा ब्रह्मचिति, तथा मुमुक्षानुगता रसचिति से आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्-इन पांच

* स्त्री-पुं नपुंसकादि मैथुनधर्म्मों में जो भावरस से, मूलाधार बनता हुआ सर्वलिङ्गात्मक अलिङ्ग है, खण्ड खण्ड-भावापन्ना अभिव्यक्तिरूपा व्यक्तिलक्षणा विभक्तियों में जो 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्' के अनुसार अविभक्त है, वाक्परिमाणात्मक वाक्छन्दों-सीमाभावों में जो 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' के अनुसार समान है, वही निष्कल तत्त्व अव्यय है, जो व्याकरणशास्त्र में भी इसी नाम से इसी रूप से उपवर्णित हुआ है।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स 'षोडशी' ॥

—यजु संहिता ८।३६।

अव्ययनिबन्धना पञ्च योगमाया, अक्षरनिबन्धना पञ्च योगमाया, क्षरनिबन्धना पञ्च योगमाया, दूसरे शब्दों में पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल क्षर, सोलहवाँ परात्पर-समतुलित, अतएव 'परात्पर' नाम से ही प्रसिद्ध निष्कल महामायी अव्ययपुरुष, इन सोलह भावों की समष्टि ही अर्द्धमात्रिक-अकार उकार-मकारमात्रिक-प्रणवमूर्त्ति षोडशीप्रजापति है। मायोपाधिक निष्कल महेश्वर, कलोपाधिक सकल 'योगेश्वर' दोनों की समष्टिरूप एक पुरुषसंस्था है, जैसेकि मायातीत निष्कल शुद्धरसमूर्त्ति निष्प्रपञ्च निर्विशेष, तथा मायातीत अद्वय सबलविशिष्ट रसैकघन सविशेष परात्पर, दोनों की समष्टि एक संस्था है। यही पुरुषसंस्था, किंवा त्रिपुरुषपुरुषसंस्था 'अमृतसंस्था'–'अभयसंस्था' 'अव्ययसंस्था' आदि नामों से उपवर्णित है।

पुरुषानुगतकलाभावपरिलेख—

१—निष्कलभाव —सर्वमाया—महामाया]—निष्कलाऽव्यय —अर्द्ध मात्रा (४)

२—आनन्दकला—शान्तिमाया—योगमाया
३—विज्ञानकला—तृप्तिमाया—योगमाया (२)
४—मनःकला—तुष्टिमाया—योगमाया (३)
५—प्राणकला—रूपमाया—योगमाया (४)
६—वाक्कला—नाममाया—योगमाया (५)
—पञ्चकलाऽव्यय—अकार (३)

७—ब्रह्मकला—प्रतिष्ठामाया—योगमाया (१)
८—विष्णुकला—अशनायामाया-योगमाया (२)
९—इन्द्रकला—विसृजनमाया-योगमाया (३)
१०—अग्निकला—भोक्तृमाया—योगमाया (४)
११—सोमकला—सौम्यमाया—योगमाया (५)
—पञ्चकलाऽक्षर —उकार (२)

१२—प्राणकला—अन्नमाया—योगमाया (१)
१३—आपःकला—सुवेदमाया—योगमाया (२)
१४—वाक्कला—देवमाया—योगमाया (३)
१५—अन्नादकला—भूतमाया—योगमाया (४)
१६—अन्नकला—पशुमाया—योगमाया (५)
—पञ्चकलः क्षर —मकार (१)

—षोडशीप्रजापति
'मायीसकलप्रजापति'
महेश्वरो योगेश्वरः—
'अमृतात्मा'
(१)

'कलाभाव' का अर्थ है कलात्मिका, किंवा कलापरिग्रहात्मिका खण्ड–खण्ड–भावात्मिका महामायाविनाभूता विष्ण्वक्षरसमन्विता 'योगमाया'। आगमीया योगमाया ही निगम में 'कला' नाम से व्यवहृत हुई है, जिसका मुख्य कर्म्म है अद्वय–अतएव संख्यातीत तत्त्व को अपने 'कलन' भाव ('कल' संख्याने) से संख्या–भावानुगत बना देना। एक को अनेक भातिरूप में परिणत कर देना–जिस भातिप्रवर्तिका कला के आधार पर ही मा–प्रमा–प्रतिमा–अस्रीवि आदि असंख्य छन्द प्रतिष्ठित हैं, जिनका 'षाड्भुरिमाणं छन्दः' लक्षण माना गया है। निष्कलभावापन्न महामाया से महामाया के गर्भ में प्रतिष्ठिता यह कलात्मिका खण्ड–खण्डभावापन्ना छन्दोरूपा माया क्योंकि नित्य 'युक्त' रहती है, अतएव 'महामायया युक्ता माया' निर्वचन से यह कलात्मिका छन्दोमाया 'योगमाया' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसके अक्षरनिबन्धन 'ब्रह्ममाया–विष्णुमाया–इन्द्रमाया–अग्निमाया–सोममाया' ये पांच मुख्य विवर्त माने गए हैं। पुराण ने इन्द्राग्निसोमत्रयी की समष्टिरूप त्रिनेत्र शिवस्वरूप के अनुबन्ध से तीनों मायाओं की समष्टि (इन्द्राग्नि सोममायासमष्टि) को 'शिवमाया' नाम से व्यवहृत किया है, जिसके आधार पर नैगमिक 'पञ्चदेवतानुगत पञ्चमायावाद' आगमीय त्रिदेवतावादानुगत त्रिमायावाद प्रतिष्ठित हुआ है। पञ्चाक्षरनिबन्धना इन पञ्च कलामायाओं से आगे चलकर पञ्चक्षरनिबन्धना 'प्राणमाया आपोमाया–वाङ्माया–अन्नादमाया–अन्नमाया' इन पांच योगमायाओं (कलाभावों का) आविर्भाव हो जाता है। तदित्थं महामायी निष्कल परात्परनामक अव्ययपुरुष कलात्मिका इन अव्ययनिबन्धना–अक्षरनिबन्धना–क्षरनिबन्धना पन्द्रह कलात्मिका योगमायाओं से 'पञ्चदशकल' – बन जाता है। पञ्चदशकलात्मिका इन पञ्चदश योगमायाओं से समावृत बनता हुआ 'योगेश्वरात्मा' (योगमायेश्वरात्मा) वह महामायीश्वर निष्कलाव्ययात्मा अपने निगूढ़ भाव से इन्द्रियातीत बनता हुआ सर्व-साधारण के लिए अज्ञात बन रहा है ×।

योगमाया ही योगेश्वर की योगेश्वरता है, जिसे अग्रणी बनाकर अव्ययेश्वर धर्मग्लानि–उपशम के लिए अवतार धारण किया करते हैं *। इन सोलह कलाओं से 'सकल' बनता हुआ यह कलापरिग्रहयुक्त योगेश्वराव्ययपुरुष निगम में 'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध होता हुआ 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' (शत० ब्रा० –८।१।) रूपसे सम्पूर्ण विश्व का आरम्भक बना हुआ है। निम्नलिखित मन्त्रश्रुति इसी कलापरिग्रहात्मक षोडशी पुरुष का यशोगान कर रही है—

— गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठा (निष्कलाव्ययप्रतिष्ठा), देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥
(परेऽव्यये—निष्कलाव्यये)।

× नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ (गीता० ७।२५।)।

* भगवानपि ता रात्रीः शरदुत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायासमावृतः ॥
—रासपञ्चाध्यायी–श्रीमद्भागवत।

है, जिसके लिए-'बहुब्रह्म कमचरं-महदुब्रह्म कमचरम्' कहा गया है। यही सा चिदात्माव्ययपुरुष गर्भीभूत बनता हुआ 'सम्भव सर्वभूतानां ततो भवति भारत !' को चरितार्थ करता है। इस प्रकार गुणपरिग्रह के सम्बन्ध से पराव्ययपुरुष सर्वगुणसम्पन्न (त्रिगुणभावापन्न) बनता हुआ 'सगुणप्रजापति'-'सगुणेश्वर' अभिधा में परिणत हो जाता है।

(१०६)—यज्ञभावप्रवर्त्तक 'विकार' परिग्रह, तथा विकारपरिग्रहात्मक यज्ञपुरुष—(८)—

'बहु ब्रह्म कमचरम्' वचन का 'ब्रह्म' शब्द 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' के अनुसार 'चर' भाव का स्वरूपसंग्राहक बना हुआ है। अनेक ब्रह्मों (चरों) से ही महदक्षर का गुणभाव मैथुनीसृष्टिलक्षणा विकारसृष्टि का निमित्त बना करता है। अपञ्चीकृत गुणभूत जहाँ 'गुण' परिग्रह कहलाया है वहाँ पञ्चीकृत वही गुणपरिग्रह 'विकारपरिग्रह' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। मन-प्राणवाग्घन अपराव्ययपुरुष ही अपराप्रकृतिरूप चर के माध्यम से विकारभाव परिग्रहद्वारा (पञ्चीकृतगुणत्रय द्वारा) 'यज्ञपुरुष' रूप में परिणत हो जाता है। विकारविशिष्ट यह यज्ञपुरुष ही मैथुनीसृष्टि का उपादान बनता है।

त्रयीवेद 'सत्य' है, चतुर्थ वेद से समन्वित यही त्रयीवेद 'यज्ञ' है। त्रयीवेदमूर्ति सत्यप्रजापति (सगुणेश्वर) ही अथर्ववेदमूर्ति यज्ञप्रजापति (सविकारेश्वर) रूप में वितत हो रहा है, जैसा कि 'सैषा त्रयीविद्या यज्ञ' (शत० १।१।४।२)-'ते देवा अब्रुवन्-यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै' (शत ६।५।१।१८) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। महामायी महेश्वर, योगमायी योगेश्वर का समन्वितरूप अव्ययप्रधान, अतएव 'अमृतम्' नामक पुरुष था। एवं-सत्य-यज्ञप्रजापति का समन्वितरूप अक्षरप्रधान, अतएव 'ब्रह्म' नामक मूलप्रकृति है। 'ब्रह्म' शब्द 'बृंहणभाव' का सूचक माना गया है। 'यतो बृंहणं भवति तद्ब्रह्म' 'बिभर्त्ति सर्वं तद्ब्रह्म' इत्यादि निर्वचनों के माध्यम से 'भम्मन्' शब्द ही 'ब्रह्मन्' रूप में परिणत हो रहा है। 'बृह' धातु से 'मन' प्रत्ययद्वारा 'ब्रह्मन्' शब्द निष्पन्न हुआ है। जो तत्त्व 'उपादानकारण' बनता हुआ भी स्वस्वरूप से अविकृत रहता है, उस अविकृतपरिणामात्मक नित्यकारण का ही 'ब्रह्म' कहा जाता है। यही इसका बृंहणभाव है। जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) स्वस्वरूप से अविकृत-अक्षुण्ण बनी रहती हुई 'जाल' का उपादानकारण बनी रहती है तथैव गुणविकारयुक्त सत्ययज्ञात्मक अक्षर स्वस्वरूप से (अक्षररूप से) अविकृत बना रहता हुआ चररूप से विश्व का उपादान बना रहता है। 'तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति' इत्यादिवचन ब्रह्म के इसी अविकृतपरिणामवाद का, नित्यमहिमा-भाव का यशोगान कर रहे हैं *। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (व्याससूत्र) का ब्रह्म शब्द

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान् ।
तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्म्मणा पापकेन ॥
—बृहदारण्यक ४।४।२३।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।७

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।१।

(१०५)-सत्यभावप्रवर्तक 'गुण'परिग्रह, तथा गुणपरिग्रहात्मक सत्यपुरुष-(३)—

मायाबलात्मक द्वन्द्वपरिग्रहानन्तर क्रमप्राप्त गुण-विकारद्वन्द्वपरिग्रह की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है, जिसमें गुणपरिग्रह को ही सर्वप्रथम लक्ष्य बनाया जा रहा है। षाडशीप्रजापति का मध्यस्थ पञ्चकल अक्षरात्मा ही गुणपरिग्रह से समन्वित होकर 'सगुणेश्वर' कहलाया है। मायी अव्यय, तथा सकलाव्यय दोनों-'अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः' के अनुसार जहाँ निर्गुण है, वहाँ-गुणपरिग्रहसम्बन्ध से अक्षरात्मा 'सगुण' बन रहा है। यही सगुणेश्वर अपने बलनिबन्धन मर्त्यभाव से पञ्चकल क्षर का निमित्त बनता हुआ क्षरधिया 'सविकार' बन जाता है। 'अर्द्ध ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'-अमृतं चैव मृत्युश्च०' इत्यादि श्रुतिस्मृतिसिद्धान्तानुसार अक्षरप्रजापति का अर्द्धभाग अक्षीयमाण है, अमृतभावापन्न है। यही 'न क्षीयते' निर्वचन से 'अक्षर' कहलाया है। एवं अर्द्ध क्षीयमाण भाग मर्त्यभावापन्न है। यही 'क्षीयते' निर्वचन से 'क्षर' है। इस प्रकार एक ही अक्षर 'अक्षर-क्षर' भेद से दो भावों में परिणत हो रहा है, जिस द्वैधभाव का मूल कारण है गुण तथा विकार नामक परिग्रहद्वन्द्व। गुणात्मक वही अक्षर अमृतप्रधान बनता हुआ अक्षर है, यही विश्वसर्ग का निमित्त कारण बनता है। विकारात्मक यही क्षर मर्त्यप्रधान बनता हुआ क्षर है, यही विश्वसर्ग का उपादानकारण बनता है। अमृतावस्था से यही अक्षर अक्षररूप से-कारण बनता हुआ मर्त्य कार्य्य की प्रागवस्था से समन्वित 'प्र' भाव है। मर्त्यावस्था से यही अक्षर क्षररूप से—कार्य्य बनता हुआ मर्त्यविश्व की प्रत्यन्तावस्था से समन्वित 'कृति' भाव है। 'प्र' और कृति' की समष्टि ही 'प्रकृति' है, यही प्र-कृतिरूप अक्षर-क्षरसमष्टि है, कारणकार्य्यसमष्टि है। कारणात्मक 'प्र' भाव गुणात्मक है, कार्य्यात्मक (कार्य्योपादानात्मक) 'कृति' भाव विकारात्मक है। इस प्रकार एक ही अक्षर उसी प्रकार अपनी अमृतनिबन्धना प्रागवस्था, मर्त्यनिबन्धना उत्तरावस्था से द्विधा विभक्त होकर गुण तथा विकारसर्ग का अधिष्ठाता बना हुआ है, जैसाकि—'विकारांश्च गुणांश्चैवान् विद्धि प्रकृतिसम्भवान्' इत्यादि से स्पष्ट है।

स्थिति का यों भी समन्वय किया जा सकता है कि, अव्ययपुरुष पुरुष है। एवं यह-'प्रकृतिं-पुरुषं चैव विद्धि-अनादी-उभावपि' के अनुसार 'प्रकृति से नित्य समन्वित है। अव्ययपुरुष की यह प्रकृति आत्मस्वरूपनिरूपक शास्त्रानुसार (गीतानुसार) पराप्रकृति'-'अपराप्रकृति' रूप से दो प्रकार की मानी गई हैं। दोनों की समष्टि को निगमपरिभाषा में अन्तरङ्गप्रकृतिलक्षणा 'आत्मप्रकृति' कहा गया है। तत्रस्थ पुरुषात्मा ही 'प्रकृतिस्थपुरुष' उद्घोषित हुआ है। अमिचाली अव्ययरसनिबन्धना (आनन्दविज्ञानमनोमयरसाव्ययनिबन्धना), अतएव रसप्रधाना यही प्रकृति 'पर' अव्यय से समतुलिता रहती हुई जहाँ-'पराप्रकृति' (अव्ययप्रकृति-आत्मप्रकृति) कहलाई है, वहाँ विचाली अव्ययनिबन्धना (मनःप्राणवाङ्मयबलाव्ययनिबन्धना), अतएव बलप्रधाना यही प्रकृति अपरभावात्मक विश्व की सहयोगिनी बनती हुई-'अपराप्रकृति' (विश्वप्रकृति-शारीरप्रकृति) कहलाई है। दूसरे शब्दों में आनन्दविज्ञानमनोघन मुक्तिसाक्षी रसाव्यय की अमृता रसप्रकृति 'पराप्रकृति' है। मन.प्राणवाग्घन सृष्टिसाक्षी बलाव्यय की मर्त्या बलप्रकृति 'अपराप्रकृति है। पराप्रकृतिविशिष्ट पराव्यय ही अगुण प्रजापति है, अपराप्रकृतिविशिष्ट अपराव्यय ही सविकार प्रजापति है।

आनन्दविज्ञानमनोघनपराव्यय ही पराप्रकृतिरूप अक्षर के माध्यम से गुणत्रयपरिग्रह के द्वारा (सत्त्वरजस्तमोभाव द्वारा) 'सत्यपुरुष' रूप में परिणत हो जाता है। गुणत्रयविशिष्ट महान् ही अक्षरलक्षणा पराप्रकृति

है, जिसके लिए–'बहु ब्रह्मैकमक्षरं–महद्ब्रह्मैकमक्षरम्' कहा गया है। यही तो चिदात्मान्ययपुरुष गर्भीभूत बनता हुआ 'सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत'[1] को चरितार्थ करता है। इस प्रकार गुणपरिग्रह के सम्बन्ध से परात्परपुरुष सर्वगुणसम्पन्न (त्रिगुणभावापन्न) बनता हुआ 'सगुणप्रजापति'–'सगुणेश्वर' अभिधा में परिणत हो जाता है।

(१०६)–यज्ञभावप्रवर्त्तक 'विकार' परिग्रह, तथा विकारपरिग्रहात्मक यज्ञपुरुष–(४)–

'बहु ब्रह्मैकमक्षरम्' वचन का 'ब्रह्म' शब्द 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' के अनुसार 'क्षर' भाव का स्वरूपसंग्राहक बना हुआ है। अनेक ब्रह्मों (क्षरों) से ही महदक्षर का गुणभाव मैथुनीसृष्टिलक्षणा विकार सृष्टि का निमित्त बना करता है। अपञ्चीकृत गुणभूत जहाँ 'गुण' परिग्रह कहलाया है वहाँ पञ्चीकृत वही गुणपरिग्रह 'विकारपरिग्रह' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। मन-प्राण-वाग्घन अपरात्परपुरुष ही अपर प्रकृतिरूप क्षर के माध्यम से विकारभाव परिग्रहद्वारा (पञ्चीकृतगुणत्रय द्वारा) 'यज्ञपुरुष' रूप में परिणत हो जाता है। विकारविशिष्ट यह यज्ञपुरुष ही मैथुनीसृष्टि का उपादान बनता है।

त्रयीवेद 'सत्य' है, चतुर्थ वेद से समन्वित यही त्रयीवेद 'यज्ञ' है। त्रयीवेदमूर्त्ति सत्यप्रजापति (सगुणेश्वर) ही अथर्ववेदमूर्त्ति यज्ञप्रजापति (सविकारेश्वर) रूप में वितत हो रहा है, जैसा कि 'सैषा त्रयीविद्या यज्ञः' (शत० १।१।४।३)–'ते देवा अग्र एवम्–यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै' (शत० ६।५।१।१८) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। महामायी महेश्वर, योगमायी योगेश्वर का समन्वितरूप अव्ययप्रधान, अतएव 'अमृतम्' नामक पुरुष था। एवं–सत्य–यज्ञप्रजापति का समन्वितरूप अक्षरप्रधान, अतएव 'ब्रह्म' नामक मूलप्रकृति है। 'ब्रह्म' शब्द 'बृंहणभाव' का सूचक माना गया है। 'यतो बृंहणं भवति तद्ब्रह्म' 'बिभर्त्ति सर्वं तद्ब्रह्म' इत्यादि निर्वचनार्थों के माध्यम से 'ब्रह्मन्' शब्द ही 'ब्रह्मन्' रूप में परिणत हो रहा है। 'बृह्' धातु से 'मन्' प्रत्ययद्वारा 'ब्रह्मन्' शब्द निष्पन्न हुआ है। जो तत्त्व 'उपादानकारण' बनता हुआ भी स्वस्वरूप से अविकृत रहता है, उस अविकृतपरिणामात्मक नित्यकारण का ही 'ब्रह्म' कहा जाता है। यही इसका बृंहणभाव है। जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) स्वस्वरूप से अविकृत-अक्षुण्ण बनी रहती हुई 'जाल' का उपादानकारण बनी रहती है, तथैव गुणविकारयुक्त सत्ययज्ञात्मक अक्षर स्वस्वरूप से (अक्षररूप से) अविकृत बना रहता हुआ क्षररूप से विश्व का उपादान बना रहता है। 'तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति' इत्यादि वचन ब्रह्म के इसी अविकृतपरिणामवाद का, नित्यमहिमा-भाव का यशोगान कर रहे हैं *। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (व्याससूत्र) का ब्रह्म शब्द

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्।
तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्म्मणा पापकेन॥
—बृहदारण्यक ४।४।२३।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।७

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।१।

तन्मस्थितिप्रतिष्ठाहेतुभूत प्रकृतिरूप सत्य-यज्ञात्मक-गुणविकाररूप इसी प्रजापति का स्वरूपसमाहक बन रहा है। निष्कर्ष यही है कि समस्त यागरूपरूपप्रजापति ही विकार परिग्रह से यज्ञरूप में परिणत होता हुआ विश्व का उपादान बना हुआ है, एवं यही विकारपरिग्रहात्मक चतुर्थ आत्मपरिग्रह का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

(१०७)—सर्वभूतान्तरात्मभावप्रवर्तक—'अञ्जन' परिग्रह, तथा अञ्जनपरिग्रहात्मक 'विराट्पुरुष' (५)

आवरण ही अञ्जन है, आवरण ही आवरण है। तात्पर्य, स्वच्छ आवरण को 'अञ्जनावरण' कहा गया है, एवं मलिनावरण को 'आवरणावरण' माना गया है। श्वेतकाच दीपक का अञ्जनात्मक आवरण माना जायगा, कृष्णकाच, किंवा काष्ठपट्ट—किंवा वस्त्रादि आवरण दीपक के आवरणात्मक आवरण का जायँगे। श्वेतकाच के आवरण से दीपप्रभा एकान्ततः अवरुद्ध नहीं होती। किन्तु कृष्णकाच—काष्ठपट्ट—वस्त्रादि मलिनावरण (अभिप्राययुक्त मलीमस घन आवरण) भावों से दीपप्रकाश सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है। अञ्जन—आवरणरूप इन दोनों आवरणों में यही पार्थक्य है। इन दोनों में अञ्जनात्मक स्वच्छ आवरण ही प्रजापति को स्वद्वारा 'सर्वभूतान्तरात्मा' रूप में परिणत कर दिया करता है। दूसरे शब्दों में गुण-परिग्रहात्मक सत्यप्रजापति के आधार पर वितत विकारपरिग्रहात्मक यज्ञप्रजापति ही अञ्जनात्मक आवरण परिग्रह से 'सर्वभूतान्तरात्मा' नामक 'साक्षीदेवसत्य' रूप में परिणत होता है।

दूसरी दृष्टि से विषय का समन्वय कीजिए। गुणपरिग्रहात्मक सत्यप्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित विकारपरिग्रहात्मक यज्ञप्रजापति ही अञ्जनात्मक शुद्ध आवरणपरिग्रह से 'सर्वभूतान्तरात्मा' नामक 'विराट्प्रजापति' रूप में परिणत होता है, जिसके 'सर्वज्ञ—हिरण्यगर्भ—विराट्' ये तीन 'ऐन्द्र—वायव्य—आग्नेय' विवर्त माने गए हैं। यही वह सुपर्णेश्वर है, जिसका 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। यही सौम्यपार्थिवत्रैलोक्य का सर्वस्व देवसत्यात्मरूप (अग्नि—वायु—इन्द्रदेवत्रयरूप) पार्थिवेश्वर है, जो पञ्चपुण्डीर प्राजापत्यसंस्था की अन्तिम शाखारूप पार्थिवसौम्यत्रिलोकीरूप शाखा पर सुपर्णरूप से प्रतिष्ठित है। मायी—अमृत—सगुण—सविकारविशिष्ट साञ्जनेश्वरविराट्पुरुष का यही संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

(१०८)—भूतात्मभावप्रवर्त्तक—'आवरण, परिग्रह, तथा आवरणपरिग्रहात्मक 'वैश्वानरपुरुष' (६)

विराट्प्रजापति के ही द्वितीय आवरणपरिग्रह के भेद से 'ईश्वर-जीव' ये दो विवर्त हो जाते हैं। सात्त्विक अञ्जनपरिग्रह से 'ईश्वरविराट्' का उदय होता है, एवं 'पाप्मा' नामक सुप्रसिद्ध तामस-मलिन अञ्जनपरिग्रह से 'जीववैश्वानर' का उदय होता है। ईश्वरीय सात्त्विक अञ्जन 'विभूति' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके "लोक—वेद—देव—भूत—पशु" ये पाँच मुख्य विभाग माने गए हैं। जीवानुगत मलीमस—तामस अञ्जन 'पाप्मा' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके—"पर्य्याय—ऊर्मि—आशय—अवस्था—क्लेश—कर्म—विपाक—" ये सात मुख्य विभाग माने गए हैं। विभूतिपरिग्रहात्मक ईश्वरविराट् जहाँ नित्यमुक्त है, वहाँ पाप्मापरिग्रहात्मक जीव- [illegible] बन्धपर्य्यायों से युक्त रहता हुआ बद्ध है, तो मुक्तपर्य्यायों से युक्त रहता हुआ मुक्त 'पर्य्याय' परिग्रह है, जो शास्त्र में 'बद्धपर्य्याय—मुक्तपर्य्याय' नामों से [illegible] प्रसिद्ध हुए हैं।

ईश्वर में जहाँ 'क्षुधा-पिपासा-शोक-मोह-जरा-व्याधि— इन ऊर्म्मियों (उच्चावच लहरों) का अभाव है, अतएव वह जहाँ एकरस है, शान्तमनमूर्त्ति है। वहाँ जीव इन छओं ऊर्म्मियों से युक्त रहता हुआ विभिन्नरस है, अशान्तमूर्त्ति है। ईश्वर में जहाँ 'भावना-वासनात्मक' दोनों ज्ञान-कर्म्मात्मक संस्काररूप आशयों का अभाव है, वहाँ जीव दोनों आशयों से समन्वित है। ईश्वर जहाँ नित्यप्रबुद्ध-नित्यैकरस रहता हुआ 'जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति-मोह-मूर्च्छा-मृत्यु' इन छओं अवस्थाओं से सर्वथा असंस्पृष्ट है, वहाँ जीव इन छओं से नित्य समन्वित रहता है। ईश्वर नित्यकर्म्मठ बना रहता हुआ भी, कर्म्ममय विश्व के अणु-अणु में व्याप्त रहता हुआ भी बुद्धियोग-प्रभाव से कर्म्मलेप से असंस्पृष्ट रहता हुआ जहाँ 'कर्म्म' से पृथक् है, वहाँ जीवात्मा (१) 'यज्ञ-तपो-दानलक्षण विद्यासापेक्षप्रवृत्तिकर्म्म', (२) 'इष्ट-आपूर्त-दत्त-लक्षण विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्म', (३) 'सुरापान-अगम्यागमन-वृथाहिंसा-स्तेय-ब्रह्महत्या-छलात्मक धनोपार्जन, इत्यादि शास्त्रनिषिद्ध 'विकर्म्म' रूप असत्कर्म्म' (४) जलताडन-कराघात-पादभ्रमण-हस्ताङ्गुल्यादिपरिभ्रमण-तृणच्छेदन-वृथाहास्य' आदि शास्त्राप्रतिषिद्धाविहित 'अकर्म्म' रूप निरर्थक कर्म्म', (५) 'सर्वमूर्द्धन्य-बुद्धियोगलक्षण-अतएव मुक्तिसाधन 'निष्कामकर्म्म' (६) एवं निसर्गात्मक प्राकृतिक यथापरिस्थिति-यथाकाल-सहजरूप से घटित-विघटित सहजकर्म्म' इन ६ कर्म्मों से प्रारब्ध कर्म्मानुसार समन्वित रहता है। ईश्वर जहाँ 'जाति-आयु-भोग' इन तीन कर्म्मविपाकों से असंस्पृष्ट रहता है, वहाँ जीवात्मा प्रारब्धकर्म्मानुगत परिपाकस्वरूप योनि-आयु-भोग्यपरिग्रह से नित्य युक्त रहता है। जीवात्मा को प्रारब्धकर्म्मपरिपाक के अनुपात-तारतम्य से ही क्रम-योनि-आयु-भोग्यपरिग्रह प्राप्त होते हैं, जिन्हें आत्मबुद्धयनुगत पुरुषार्थद्वारा ही परिवर्त्तित किया जा सकता है। इसी आधार पर यह सूक्ति प्रसिद्ध है कि—

> आयु-कर्म्म च-वित्त च-विद्या-निधनमेव च।
> पञ्चैतानि तु सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

तदित्थं-जीवात्मस्वरूपसम्पादक सप्तविध तयोपवर्णित पाप्माओं के सम्बन्ध से ईश्वरीय विराट् ही अंशात्मना जीववैश्वानरस्वरूप में परिणत हो जाता है, जैसा कि-'अंशो नानाव्यपदेशात्' (व्यासूत्र) 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गीता) इत्यादि आप्तवचनों से प्रमाणित है। यहीं एक इस दृष्टिकोण को भी लक्ष्य बना लेना चाहिए कि, पूर्व में जिस आवरणपरिग्रह के स्वच्छआवरण-मलिनावरण भेद से केवल दो भेद बतलाये हुए इन दोनों को क्रमशः ईश्वर-जीवस्वरूपानुगत बतलाया गया था, अब इस प्रक्रान्त विशेष दृष्टिकोण से आवरण के गुणत्रयभेद से हम तीन विवर्त्त मानेंगे, जिनका क्रमशः 'सत्त्वमूर्त्ति अव्यय, रजोमूर्त्ति अक्षर, तमोमूर्त्ति क्षर' इन तीन षोडशीपुरुषेश्वर के तीनों आत्मविवर्त्तों से क्रमिक सम्बन्ध बतलाया गया है। इस दृष्टि से 'सत्त्वावरण-रज आवरण-तम आवरण' भेद से एक ही आवरण के दो के स्थान में तीन आवरण हो जाते हैं।

(१०६)–विभूति, पाप्मा, और आवरण—

ऐसा अञ्जन, जो प्रकाश का अवरोधक न बने, उसे 'विभूति' कहा जायगा। ऐसा अञ्जन, जो प्रकाश का जो अवरोधक न बने, किन्तु प्रकाश को मलिन कर दे, 'पाप्मा'–माना जायगा। एवं ऐसा

कन्मस्थितिमङ्गहेतुभूत प्रकृतिरूप सत्य-यज्ञात्मक-गुणविकारमय इसी अव्ययात्मा का स्वरूपसम्पादक बन रहा है। निष्कर्ष यही है कि अक्षर यागेश्वरात्मक ही विकार परिग्रह से यज्ञरूप में परिणत होता हुआ विश्व का उपादान बना हुआ है, एवं यही विकारपरिग्रहात्मक चतुर्थ आत्मपरिग्रह का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

(१०७)—सर्वभूतान्तरात्मभावप्रवर्तक—'अञ्जन' परिग्रह, तथा अञ्जनपरिग्रहात्मक 'विराट्पुरुष' (५)

आवरण ही अञ्जन है, आवरण ही आवरण है। तातम्य, स्वच्छ आवरण को 'अञ्जनावरण' कहा गया है, एव मलिनावरण को 'आवरणावरण' माना गया है। श्वेतकाच दीपक का अञ्जनात्मक आवरण माना जायगा, कृष्णकाच, किंवा काष्ठपट्ट—किंवा वस्त्रादि आवरण दीपक के आवरणात्मक आवरण कहे जायँगे। श्वेतकाच के आवरण से दीपप्रभा एकान्ततः अवरुद्ध नहीं होती। किन्तु कृष्णकाच—काष्ठपट्ट—वस्त्रादि मलिनावरण (अभिप्राययुक्त मलीमस घन आवरण) मार्गों से दीपप्रकाश सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है। अञ्जन—आवरणरूप इन दोनों आवरणों में यही पार्थक्य है। इन दोनों में अञ्जनात्मक स्वच्छ आवरण ही अव्ययात्मा को सद्द्वारा 'सर्वभूतान्तरात्मा' रूप में परिणत कर दिया करता है। दूसरे शब्दों में गुण परिग्रहात्मक सत्यप्रजापति के आधार पर वितत विकारपरिग्रहात्मक यज्ञप्रजापति ही अञ्जनात्मक आवरण परिग्रह से 'सर्वभूतान्तरात्मा' नामक 'साक्षीदेवसत्य' रूप में परिणत होता है।

दूसरी दृष्टि से विषय का समन्वय कीजिए। गुणपरिग्रहात्मक सत्यप्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित विकारपरिग्रहात्मक यज्ञप्रजापति ही अञ्जनात्मक शुद्ध आवरणपरिग्रह से 'सर्वभूतान्तरात्मा' नामक 'विराट्प्रजापति' रूप में परिणत होता है, जिसके 'सर्वज्ञ—हिरण्यगर्भ—विराट्' ये तीन 'ऐन्द्र—वायव्य—आग्नेय' विवर्त माने गए हैं। यही वह सुपर्णेश्वर है, जिसका 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। यही सौम्यपार्थिवत्रैलोक्य का सर्वस्व देवसत्यात्मरूप (अग्नि—वायु—इन्द्रदेवतारूप) पार्थिवेश्वर है, जो पञ्चपुरञ्जीरा प्राजापत्यकला की अन्तिम शाखारूप पार्थिवसौम्यत्रिलोकीरूप शाखा पर सुपर्णरूप से प्रतिष्ठित है। मायी—सकल—सगुण—सविकारविशिष्ट साञ्जनेश्वरविराट्पुरुष का यही संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है।

(१०८)—भूतात्मभावप्रवर्तक—'आवरण, परिग्रह, तथा आवरणपरिग्रहात्मक 'वैश्वानरपुरुष' (६)

विराट्प्रजापति के ही द्वितीय आवरणपरिग्रह के भेद से 'ईश्वर जीव' ये दो विवर्त हो जाते हैं। सात्त्विक अञ्जनपरिग्रह से 'ईश्वरविराट्' का उदय होता है, एवं 'पाप्मा' नामक सुप्रसिद्ध तामस-मलिन अञ्जनपरिग्रह से 'जीववैश्वानर' का उदय होता है। ईश्वरीय सात्त्विक अञ्जन 'विभूति' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके "लोक—वेद—देव—भूत—पशु" ये पांच मुख्य विभाग माने गए हैं। जीवानुगत मलीमस—तामस अञ्जन 'पाप्मा' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके—"पर्व्याय—ऊर्म्मि—आशय—अवस्था—क्लेश—कर्म्म—विपाक—" ये सात मुख्य विभाग माने गए हैं। विभूतिपरिग्रहात्मक ईश्वरविराट् जहाँ नित्यमुक्त है, वहाँ पाप्मापरिग्रहात्मक जीव-वैश्वानर विद्या-कर्म्मानुसार बन्धपर्व्यायों से युक्त रहता हुआ बद्ध है तो मुक्तपर्व्यायों से युक्त रहता हुआ मुक्त है। ये ही इसके 'पर्व्याय' परिग्रह हैं, जो शास्त्र में 'बद्धपर्व्याय—मुक्तपर्व्याय', नामों से ही प्रसिद्ध हुए हैं।

वक्तव्य प्रकृत में यही है कि, यज्ञप्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित विभूति–आवरण से समन्वित–स्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्मूर्त्ति–सर्वभूतान्तरात्मा नामक ईश्वरप्रजापति के आधार पर ही पाप्मावरण समन्वित प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानरमूर्त्ति–'भूतात्मा' नामक जीवप्रजापति का स्वरूपाविर्भाव हुआ है, जिसे हम 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' नाम से 'मायी–सकल–सगुण–सविकार–साञ्जनविशिष्ट सावरणात्मा' कह सकते हैं, यही जीवात्मा की सर्वरूपतालक्षणा सर्वात्मकता है, जिसके आधार पर–'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। तालिकाद्वारा इस षट्–परिग्रहात्मक षट्–आत्मविवर्त्त को लक्ष्य बनाइए, एवं तदनन्तर प्रकृत का अनुसरण कीजिए।

षट्परिग्रहोपेतप्रजापतिविवर्त्तपरिलेख'—

१–विश्व–विराट्–यज्ञ–सत्य–षोडशीप्रजापतिशरीरावच्छिन्न———{ आत्मन्वी }–"मायी महेश्वर"

२–विश्व–विराट–यज्ञ–सत्यप्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरगर्भित'—{ आत्मन्वी– }–'सकल' षोडशीप्रजापतिः'

३–विश्व–विराट–यज्ञप्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीगर्भितः–{ आत्मन्वी– }–'सगुण' सत्यप्रजापति'

४–विश्व–विराट्–प्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीसत्यगर्भित –{ आत्मन्वी– }–'सविकारो यज्ञप्रजापति'

५–विश्वप्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञगर्भित'—{ आत्मन्वी– }–'साञ्जनो विराट्प्रजापति'

६–महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञविराट्गर्भितस्तत्कृतात्मा————{ ——— }–'सावरणो विश्वप्रजापति'

———•••———

अज्ञान, जो प्रकाश को सर्वथा ही अवरुद्ध कर दे–'आवरण' कहलाएगा । इस प्रकार एक ही अज्ञान के 'विभूति–पाप्मा–आवरण' ये तीन विवर्त्त बन जायँगे। तीनों आवरणात्मक अज्ञानों को क्रमशः 'अज्ञान-पाप्मा-आवरण' इन नामों से व्यवहृत किया जायगा, तीनों को क्रमशः 'सत्त्वावरण–रज आवरण तम आवरण' माना जायगा, एवं तीनों को क्रमशः समन्वित माना जायगा 'सत्त्वान्वय-रजोऽक्षर–तम क्षर' नामक तीन आत्मपर्वों से समन्वित, अनुगृहीत, तथा अनुप्रहीत।

उदाहरणमाध्यम से आवरणत्रयी का समन्वय कीजिए। 'हरीकेन लालटेन' नाम से लोकव्यवहार में प्रसिद्ध दीपक को उदाहरण बनाइए। दीपप्रभा काचगोलक (गोला) से आवृत है, यह गोला (श्वेत काच) इस दीपप्रकाश का आवरण है। किन्तु इस आवरण से दीपप्रकाश अवरुद्ध नहीं होने पाता। इसी को हम 'विभूति' रूप अज्ञानावरण कहेंगे, सत्त्वावरण मानेंगे। दीपतैलग्राहिणी बत्ती की विषमता से, किंवा तैल की स्वल्पमात्रा से, अथवा तो भञ्झावातादिप्रवेश से दीपवर्तिका धूम का सर्जन करने लगती है। इससे लालटेन का गोला मलिन हो जाता है। स्वच्छ प्रकाश इस काचमल से मलिन हो जाता है। यही इसका 'पाप्मा' रूप आवरण माना जायगा, जिससे प्रकाश आत्यन्तिक रूप से अवरुद्ध तो नहीं हुआ, किन्तु मलिन हो गया। कालान्तर में यह काचराग अतिकालिक घनता में परिणत होता हुआ सर्वथा प्रकाश का अवरोधक भी बन सकता है। यही इसका 'आवरण' रूप आवरण (आत्यन्तिक मलिनता) माना जायगा, जिससे रहता हुआ भी प्रकाश सर्वथा अवरुद्ध होता हुआ बहिर्मण्डल में ज्योतिप्रसार में असमर्थ बन जाता है। इस प्रकार श्वेतकाच दीपप्रभा के लिए विभूतिरूप अज्ञानावरण, कृष्णकाच दीपक के लिए पाप्मारूप अज्ञानावरण, एवं कज्जलावेष्टित काच दीपकके लिए आवरणरूप आवरण प्रमाणित हो जाता है। ठीक यही स्थिति यहाँ समन्वित समझिए। सत्त्वाज्ञानरूप विभूति आवरण से वही चिदात्मप्रकाश 'ईश्वर' है, रजोरूप पाप्मावरण से वही 'जीव' है, एवं तमोरूप आवरणात्मक आवरण से वही 'शरीर' (किंवा जडपदार्थात्मक पाञ्चभौतिक विश्व) है।

विभूति–पाप्मा–आवरण–परिलेख—

१—विभूतिः (अज्ञानम्)—सत्त्वभावः—स्वच्छावरणम्—अव्ययानुगत —'ईश्वर' } —अज्ञानम्

२—पाप्मा (अज्ञानम्)—रजोभावः—मलिनावरणम्—अक्षरानुगत—जीवः } —आवरणम्

३—आवरणम् (आवरणम्)—तमोभावः—घनावरणम्—क्षरानुगत—जगत् शरीरं वा } —आवरणम्

—*—

वक्तव्य प्रकृत में यही है कि, यज्ञप्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित विभूति–आवरण से समन्वित–सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्मूर्ति–सर्वभूतान्तरात्मा नामक ईश्वरप्रजापति के आधार पर ही पाप्मावरण समन्वित प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानरमूर्ति–'भूतात्मा' नामक जीवप्रजापति का स्वरूपाविर्भाव हुआ है, जिसे हम 'यत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' नाम से 'मायी–सकल–सगुण–सविकार–साञ्जनविशिष्ट सावरणात्मा' कह सकते हैं, यही जीवात्मा की सर्वरूपतालक्षणा सर्वात्मकता है, जिसके आधार पर–'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। तालिकाद्वारा इस षट्–परिग्रहात्मक षट्–आत्मविवर्त्त को लक्ष्य बनाइए, एवं तदनन्तर प्रकृत का अनुसरण कीजिए!

षट्परिग्रहोपेतप्रजापतिविवर्त्तपरिलेखः—

१–विश्व–विराट्–यज्ञ–सत्य–षोडशीप्रजापतिशरीरावच्छिन्न ——— { आत्मन्वी– } "मायी महेश्वर"

२–विश्व–विराट्–यज्ञ–सत्यप्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरगर्भित'– { आत्मन्वी– } 'सकल' षोडशीप्रजापति'

३–विश्व–विराट्–यज्ञप्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीगर्भित'– { आत्मन्वी– } 'सगुण' सत्यप्रजापति'

४–विश्व–विराट्–प्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीसत्यगर्भित'– { आत्मन्वी– } 'सविकारो यज्ञप्रजापति'

५–विश्वप्रजापतिशरीरावच्छिन्नो महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञगर्भित' — { आत्मन्वी– } 'साञ्जनो विराट्प्रजापति'

६–महेश्वरषोडशीसत्ययज्ञविराट्गर्भितस्तत्र भूतात्मा———— { ——— } 'सावरणो विश्वप्रजापति'

———•••———

अज्ञान, जो प्रकाश को सर्वथा ही अवरुद्ध कर दे–'आवरण' कहलाएगा । इस प्रकार एक ही अज्ञान के 'विभूति–पाप्मा–आवरण' ये तीन विवर्त बन जायँगे । तीनों आवरणात्मक अज्ञानों का क्रमशः 'अज्ञान-पाप्मा-आवरण' इन नामों से व्यवहृत किया जायगा, तीनों को क्रमशः 'सत्त्वावरण–रज आवरण तम आवरण' माना जायगा, एवं तीनों को क्रमशः समन्वित माना जायगा 'सत्त्वान्वय-रजोऽवर–तम पर' नामक तीन आत्मपर्वों से समन्वित, अनुप्राणित, तथा अनुगृहीत ।

उदाहरणमाध्यम से आवरणत्रयी का समन्वय कीजिए । 'हरीकेन लालटेन' नाम से लोकव्यवहार में प्रसिद्ध दीपक को उदाहरण बनाइए । दीपप्रभा काचगोलक (गोला) से आवृत है, यह गोला (श्वेत काच) इस दीपप्रकाश का आवरण है । किन्तु इस आवरण से दीपप्रकाश अवरुद्ध नहीं होने पाता । इसी को हम 'विभूति' रूप अज्ञानावरण कहेंगे, सत्त्वावरण मानेंगे । दीपतैलग्राहिणी वर्त्ती की विषमता से, किंवा तैल की स्वल्पमात्रा से, अथवा तो कम्पनवातादिप्रवेश से दीपवर्त्तिका धूम का सर्जन करने लगती है । इससे लालटेन का गोला मलिन हो जाता है । स्वच्छ प्रकाश इस काचमल से मलित हो जाता है । यही इसका 'पाप्मा' रूप आवरण माना जायगा, जिससे प्रकाश आत्यन्तिक रूप से अवरुद्ध तो नहीं हुआ, किन्तु मलिन हो गया । कालान्तर में यह आवरण अधिकाधिक घनता में परिणत होता हुआ सर्वथा प्रकाश का अवरोधक भी बन सकता है । यही इसका 'आवरण' रूप आवरण (आत्यन्तिक मलिनता) माना जायगा, जिससे रहता हुआ भी प्रकाश सर्वथा अवरुद्ध होता हुआ बहिर्मण्डल में ज्योतिःप्रसार में असमर्थ बन जाता है । इस प्रकार श्वेतकाच दीपप्रभा के लिए विभूतिरूप अज्ञानावरण, कृष्णकाच दीपक के लिए पाप्मारूप अज्ञानावरण, एवं कज्जलावेष्टित काच दीपक के लिए आवरणरूप आवरण प्रमाणित हो जाता है । ठीक यही स्थिति यहाँ समन्वित समझिए । सत्त्वाञ्जनरूप विभूति आवरण से वही चिदात्मप्रकाश 'ईश्वर' है, रजोरूप पाप्मावरण से वही 'जीव' है, एवं तमोरूप आवरणात्मक आवरण से वही 'शरीर' (किंवा जडपदार्थात्मक पाञ्चभौतिक विश्व) है ।

विभूति–पाप्मा–आवरण–परिलेख—

१—विभूति (अज्ञानम्)—सत्त्वभावः—स्वच्छावरणम्—अन्वयानुगतः—'ईश्वरः' } —अज्ञानम्

२—पाप्मा (अज्ञानम्)—रजोभावः—मलिनावरणम्—अवरानुगतः—जीवः } —आवरणम्

३—आवरणम् (आवरणम्)—तमोभावः—घनावरणम्—परानुगतः—जगत् शरीरं वा } —आवरणम्

—*—

सकलसगुणसविकारसाजनसावरणप्रजापतिस्वरूपपरिलेख :—

सर्वबलविशिष्टरसैकघन —मायातवी —परात्पर

मायापरिग्रहाधिष्ठाता

परात्पर

परात्परपुरुष

अमृतम्

निष्कलो महेश्वर

सकल षोडशी

अर्धमात्रा

महेश्वर सकलाधिष्ठाता

महेश्वरविश्वेश्वरोपेश्वरेश्वरप्रजापतिपरिलेखः—
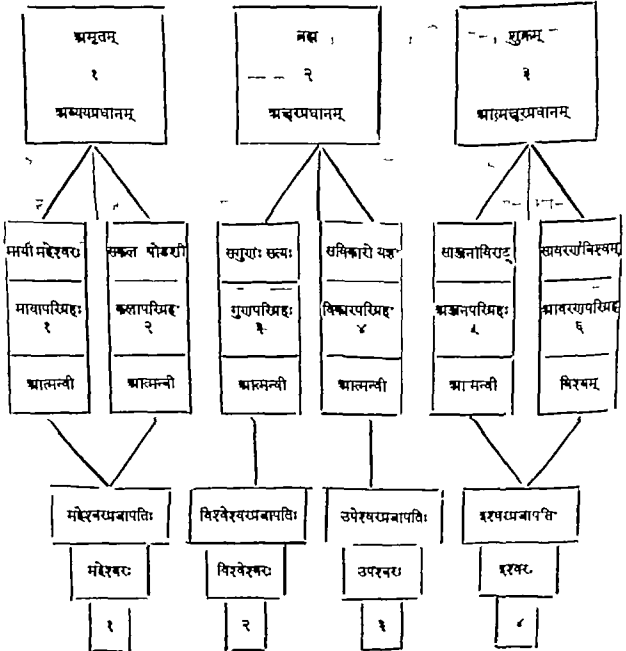
षड्विधोपासकपरिलेखः

१—परात्परोपासका ——————{ मायोपासका—महेश्वरानुयायिनः —— }-परमास्तिका गौडाचार्य्याः
२—अव्ययात्मोपासका ——————{ कलोपासकाः—षोडशीपुरुषानुयायिनः— }-वेदान्तिनः
३—अक्षरानुगृहीतात्मक्षरोपासका ——{ गुणोपासकाः—सत्यप्रजापत्यनुयायिनः— }-प्राधानिकाः
४—आत्मक्षरानुगृहीतविकारक्षरोपासका —{ विकारोपासकाः—यज्ञप्रजापत्यनुयायिनः— }-वैशेषिकाः
५—विकारक्षरानुगृहीतवैकारिकोपासका —{ अञ्जनोपासकाः—विराट्प्रजापत्यनुयायिनः— }-साम्प्रदायिकाः
६—वैकारिकक्षरानुगृहीतविश्वोपासका —{ आवरणोपासकाः—विश्वप्रजापत्यनुयायिनः— }-लोकायतिकाः

अमृत—ब्रह्म—शुक्रत्रयी—परिलेखः—

१—परात्परगर्भित—मायापरिग्रहविशिष्ट—मायी निष्कलो महेश्वरः } —अमृतम्
२—परात्पर—महेश्वरगर्भित—कलापरिग्रहविशिष्टः—सकलः षोडशी } —अमृतम्

३—परात्पर—महेश्वर—षोडशीगर्भित—गुणपरिग्रहविशिष्टः—सगुणः सत्यः } —ब्रह्म
४—परात्पर—महेश्वर—षोडशी—सत्यगर्भितः—विकारपरिग्रहविशिष्टः—सविकारो यज्ञः } —ब्रह्म

५—परात्पर—महेश्वर—षोडशी—सत्य—यज्ञगर्भित—अञ्जनपरिग्रहविशिष्टः—साञ्जनो विराट् } —शुक्रम्
६—परात्पर-महेश्वर-षोडशी-सत्य-यज्ञ-विराट्गर्भितं—आवरणपरिग्रहविशिष्टं—सावरणं-विश्वम् } —शुक्रम्

---

(११०)—परोरजमूर्त्ति वेदमय ब्रह्मा—

मायाकलादि षट्परिग्रहानुगता प्रासङ्गिकी चर्चा उपरत हुई। अब पुनः प्रकृत प्रक्रान्त विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। ८२ वें परिच्छेद से यह प्रतिज्ञा हुई थी कि जिस काममय सर्वेश्वर की पाञ्चचिति का स्वरूपविश्लेषण करते हुए (२५ पृष्ठ) सृष्टिमूलतत्त्व की पूर्व में मीमांसा हुई थी उसी का सिंहावलोकनद्वारा विभिन्न दृष्टिकोण से पुनः एक बार समन्वय कर दिया जाय। प्रतिज्ञानुसार उन विभिन्न दृष्टियों से षट्परिग्रहस्वरूपनिरूपणपूर्वक सर्वेश्वर का यशोगान हुआ। यही काममय मायी महेश्वर माया निबन्धन केन्द्रभाव से मनोमय बनता हुआ 'मनु' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे सहजभाव से स्वतः एव आविर्भूत होने के कारण तत्त्वज्ञों ने 'स्वयम्भू' अभिधा से समलंकृत किया, यो अभिधा आगे चलकर उपेश्वरमूला सृष्टि में परमेष्ठिप्रमत्वपरोरजा वेदमय ब्रह्मा के साथ भी समन्वित हो गई है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने

योऽसावतीन्द्रियग्राह्य सूक्ष्मोऽव्यक्त सनातन ॥
सर्वभूतमयोऽचिन्त्य स एव स्वयमुद्बभौ ॥३॥

—मनुः १।५-६-७- *

(१)—इस वर्तमान सर्गदशा में विश्वसत्ताकाल में भातिरूप से अनुलीनिर्देशद्वारा प्रतीयमान यह चर-अचरप्रपञ्च (अपनी अव्यक्तावस्था में) अनुपाख्यतम (विश्वाभावरूप तम) से ही आक्रान्त था, प्रत्यक्ष ज्ञान स सर्वथा अतीत था। सर्वविध परिचायक लिङ्गभावों से नहिभूत था, तर्कबुद्धि से असंस्पृष्ट था, वाङ्मनस-पथातीत बनता हुआ अविज्ञेय था, सुप्तवत् था, ऐसी थी यह सृष्टिपूर्वदशा, सृष्टि की पूर्वावस्था। (२)—अनन्तर (मायाज्योदय से) स्वयं अव्यक्तावस्थापन्न स्वयम्भू भगवान् इस व्यक्तावस्थापन्न विश्व को अभिव्यक्त करते हुए प्रकट हुए, जो स्वयम्भू पञ्चमहाभूतों के आदिभूतात्मा (आकाशभूतात्मा) हैं, वर्त्तुलाकार हैं, अव्यक्त तमोभाव के निवारक हैं ॥ (३)—इन्द्रियातीत-सुसूक्ष्म-अव्यक्त जो सनातन तत्त्व है, (सर्वभूताधिष्ठाता होने से) जो सर्वभूतमय है (अपनी अव्यक्तावस्था के कारण) जो अचिन्त्य है, वही (मायोदय से) स्वयमेव आविर्भूत होते हुए 'स्वयम्भू' अभिधा से प्रसिद्ध होगए ॥ उक्त श्लोकत्रयी का यही अक्षरार्थ है। जिसका निम्न लिखित शब्दों में रहस्यार्थानुगमन किया जा सकता है।

(११२)— अतीत' पन्थानम्—

परात्पर ब्रह्म असीम है, अतएव उस में हृद्यक्ष (केन्द्रभाव) का अभाव है। किंवा परात्पर 'का अणु-अणु ही केन्द्रभाव है, अतएव सर्गोपाधिक नियत केन्द्रबिन्दु का उस में अभाव है। असीमभाव, ससीमभाव, दोनों के साथ ही यद्यपि केन्द्रभाव का सम्बन्ध है, तथापि दोनों की इस केन्द्रता में ऋत-सत्य भेद से महान् विभेद है। असीमभाव पुरात्मक (सीमात्मक) पिण्डलक्षण सत्यभाव से असंस्पृष्ट रहता हुआ 'ऋत' तत्त्व है। अपने इस असीम ऋतभाव के कारण ऋतलक्षण असीमतत्त्व का प्रतिबिन्दु-बिन्दु केन्द्र है। उधर ससीमभाव पुरात्मक पिण्डलक्षण सत्यभाव से समन्वित रहता हुआ 'सत्यतत्त्व' है। अतएव इसमें

* निम्नलिखित श्रौत सिद्धान्त ही इस स्मार्त सिद्धान्त का मूलाधार है, जिसका 'सर्वहुतयज्ञ' रूप से श्रुति में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। देखिए (शत १३।७।१।१)

(१)—"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत-न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि भूतानि चात्मनीति। तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्यैत्। स वा एष सर्वमभो यशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति।"

(२—तपसा देवा देवतामग्र आयन्, तपसर्षयः स्वरन्वविन्दन्। तपसा सपत्नान् प्रणुदामारातीः—येनेदं विश्वं परिभूतं यदस्ति। प्रथमजं देवं हविषा विधेम स्वयम्भु ब्रह्म परमं तपो यत्। स एव पुत्र-स पिता स माता तपो ह यक्षं प्रथमं सम्बभूव॥" इति (तै ब्रा ३।१२।३।१)

(३)—आपो ह यद् बृहतीर्गर्भमायन् दक्षं दधाना जनयन्ती स्वयम्भुम्।
तत इमेऽध्यसृज्यन्त सर्गा—अद्भ्यो वा इदं समभूत्।
तस्मादिदं सर्वं ब्रह्म स्वयम्भु—इति। (तै ब्रा० १।२२।८)।

[१११]—सर्वभूतमय स्वयम्भू मनु—

इस अव्यक्त 'स्वयम्भू' ब्रह्म के सम्बन्ध में यह भाव व्यक्त किया जा सकता है कि, अपने उत्थिताकांक्षा-मूलक निष्कामभावात्मक सहजकामभाव की सहज प्रेरणा से, स्वाभाविकी शक्ति से * स्वयंलसिसिक्षरतैकपन मायातीत ब्रह्म, अतएव 'शाश्वतब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध परात्पर ब्रह्म के किसी अमुक अचिन्त्य–अप्रतर्क्य–नियत प्रदेश में अव्यक्तावस्थापन्न (सुप्तावस्थापन्न) मायाबल ÷ व्यक्तावस्था (जाग्रदवस्था) में परिणत हो गया। व्यक्त मायाबल से मित (सीमित–परिच्छिन्न) परात्पर ब्रह्म का यह मायामय प्रदेश ही 'मायापुर' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका द्रष्टा 'इन्द्राक्षर' से समन्वय माना गया है +। इसी मायापुर के सम्बन्ध से तत्परात्परप्रदेशाम-च्छिन्न रसबलमूर्त्ति 'परात्पर' 'परात्परपुरुष' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे सहजमायात्मक स्वयंभाव से प्रादुर्भूत होने के कारण हम अवश्य ही 'स्वयमुद्भवभो' रूपेण 'स्वयम्भू' अभिधा से समलंकृत कर सकते हैं। तमोभूत-अप्रज्ञात–अलक्षण–अप्रतर्क्य–अनिर्देश्य–सर्वतः–प्रसुप्तमिव अव्यक्त सर्ग को प्राथमिक व्यक्तरूप प्रदान करने वाला लक्षणविरहित–सर्वासंसृष्ट अव्यक्तीनिर्देशसंकेतातिक्रान्त–विश्वाभावलक्षण 'अनुपाख्य' (क) तम को विश्वरूप प्रकाश (विश्वभाति–प्रतीति) रूप में परिणत करने वाला स्वयम्भूपुरुष ही विश्वसर्ग का प्रथम अभिव्यञ्जक बना करता है, जैसाकि निम्नलिखित आर्षस्मृतिवचनों से प्रमाणित है—

> आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
> अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥१॥
>
> ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
> महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥२॥

---

*—परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। (उपनिषत्)

÷—अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत !
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ (गीता)

+ इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋक्संहिता)

(क)—भारतीय आध्यात्मिक विज्ञानदृष्ट्या तमोभाव 'अनुपाख्य–अनिरुक्त–निरुक्त, भेद से तीन भागों में विभक्त है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताभाष्यान्तर्गत 'कृष्णगुप्तरहस्य' नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित है। काला रंग निरुक्ततमः, किंवा निरुक्ततम है। रात्रि का तम, एवं नेत्रपक्ष्मावरोध पर प्रतीयमान तम (अंधेरा) अनिरुक्ततम के उदाहरण माने जा सकते हैं। एवं विश्वाभावलक्षण विश्वातीत तम हमारी प्रज्ञा-बुद्धि से एकान्ततः अतिक्रान्त रहता हुआ 'अनुपाख्यतम' कहलाता है।

नामों से व्यवहार प्रसिद्ध है। जिस प्रकार मानवसंस्था में पाञ्चभौतिक शरीररूप महिमा हृदयरूप आत्मा, ये दो विभाग हैं, एवमेव उस ससीम मायी महेश्वर में भी दोनों विभाग महिमारूप शरीर, आत्मरूप हृदय, इस रूप से प्रतिष्ठित है। यह संस्मरणीय है कि, मानव का शरीररूप महिमाभाग जैसे विनश्वर है, सर्वथा विनाशीय है, *परात्परपुरुष का मायामय महिमाभाग वैसा विनश्वर नहीं है। जैसी महिमा में मानव–लोकमानव–*प्रतिष्ठित है, वैसी महिमा में वह प्रतिष्ठित नहीं है। अतएव छान्दोग्यश्रुति को आगे चलकर –'यदि वा न स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित' यह भी कह देना पड़ा है। इस नित्यमहिमा* लक्षण परात्परपुरुषरूप महामायी महेश्वरको, अमायी परात्परपरमेश्वर के प्रथमावताररूप महेश्वर को, रसबलमूर्त्ति मायी स्वयम्भूपुरुष को लक्ष्य बनाकर ही हमें मानवस्वरूपाधारभूत 'मनु' तत्त्व का समन्वय करना है।

(११६)-मनस्तन्त्रके चार विवर्त—

हृदयावच्छिन्न मायायुक्त रसबल, किंवा 'हृत्पुरुष' ही विज्ञानभाषा में 'श्वोवस्यस् ब्रह्म' + कहलाया है, जो यत्रतत्र 'श्वोवसीयस्' नाम से भी उपवर्णित हुआ है। संकल्प-विकल्प–(ग्रहण-परित्याग) मायात्मक नियत विषयानुगमन के कारण 'नियतविषयग्राहित्वमिन्द्रियत्वम्' इस इन्द्रियस्वरूपलक्षण के आधार पर संकल्पविकल्पाधिष्ठाता मन 'इन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसके लिए–'पञ्चेन्द्रियाणि मन' पष्ठानि मे हृदि' (अथर्वसंहिता) इत्यादि मन्त्रश्रुति प्रसिद्ध है। प्रत्येक इन्द्रिय में अनुकूलवेदना (अनुकूलता), प्रतिकूलवेदना (प्रतिकूलता) भेद से विभिन्न दो व्यवहार स्पष्ट रूप से उपलब्ध हो रहे हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का रूपदर्शन–घ्राणग्रहण–रसास्वादन–आदि आदि स्व–स्व–व्यापार सर्वथा नियत है। किन्तु वेदनात्मक (अनुभवात्मक) अनुकूल–प्रतिकूलोभयविध व्यापार सम्पूर्ण विभिन्न इन्द्रियों में समान है। समानव्यापार प्रवर्त्तक सर्वेन्द्रियाधारभूत यही तत्त्व दूसरा 'सर्वेन्द्रिय' नामक मन 'अनिन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध है। सुषुप्तिदशा में सर्वेन्द्रियमन इन्द्रियप्राणों के साथ समन्वित होता हुआ क्लोमद्वारा जब पुरीतत्नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है, तो उस अवस्था में सम्पूर्ण इन्द्रियव्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं। इन्द्रियव्यापारों के अवरुद्ध हो जाने पर भी 'अहं' अभिमानात्मक आत्मा (सत्वमूर्त्ति महानात्मा) का व्यापार सुषुप्तिदशा में निर्बाध बना रहता है, जिसके प्रमाण श्वास-प्रश्वाससञ्चार, रक्तादिधातुसञ्चार, आदि आभ्यन्तरबाह्य-व्यापार बने हुए हैं। सुषुप्तिदशा में भी ये शरीरव्यापार जिस सत्वगुणक ज्ञानीय कामना के द्वारा प्रक्रान्त बने रहते हैं, यही तीसरा 'सत्त्वमन' है, जिसे 'महन्मन' भी कहा गया है, जिसके सम्बन्ध से अलौकिक मानव 'महानात्मा'–'महात्मा' आदि अभिधाओं से प्रसिद्ध हुआ है। तदित्थं–परात्परपुरुषात्मक 'श्वोवसीयस्मन–महन्मन–अनिन्द्रियमन–इन्द्रियमन' भेद से मनस्तन्त्र के चार विवर्त्त प्रमाणित हो जाते हैं। यही भारतीय मनोविज्ञान-

---

* एष नित्यो महिमा ब्राह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्।
—देखिए पृ० सं० २७१।

+ असतोऽधि मनोऽसृज्यत। मनः प्रजापतिमसृजत। प्रजापतिः प्रजा असृजत। तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं, यदिदं किञ्च। तदेतत्–'श्वोवस्यसं' नाम ब्रह्म। (तै० ब्रा०–श्वोवसीयस्) जै० ब्रा० उप० १०३)।

नियत केन्द्रभाव अभिव्यक्त रहता है। तात्पर्य्य यही है कि, व्यापक असीमभाव की प्रति बिन्दु बिन्दु स्वतन्त्र केन्द्र है। सर्वकेन्द्रत्त्व ही व्यापक मायातीत परात्परब्रह्म का अकेन्द्रत्व, किंवा अहृदयत्त्व है, यही इसका अमनोमयत्त्व तथा अकामयत्त्व, अतएव अवीतः पन्थानत्त्व है।

(११३)—पुरुष एवेद सर्वम्—

'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु' (यजुः सं ३४।६) इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार कामनामय मन नियतहृदय में ही प्रतिष्ठित माना गया है। परात्पर असीम है, अतएव उस में नियत हृदय का अभाव है। हृदयाभाव से उसमें मनोऽभिव्यक्ति का अभाव है। एवं तदभाव में उसमें मानसिक कामभाव का अभाव है। इस कामभावाभाव से उसमें सृष्टिप्रवृत्ति का आत्यन्तिक अभाव है और यही वह विवर्त्तवाद सर्वात्मना सिद्धान्त है, जिसे वेदान्तनिष्ठा ने 'मायामयसर्ग' नाम से घोषित किया है। यही कारण है कि, अहृदय—अमन—अकाम—परात्परब्रह्म को विवर्त्तभावापन्न सृष्टिकर्तृत्व से सर्वात्मना असंपृक्त मान लिया गया है। सृष्टिकर्ता बनता है परात्परब्रह्म का ही वह सीमित प्रदेश, जो मायाबलोदय से सीमित बनता हुआ 'मायापुर' सम्बन्ध से 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध है *। यह महामायी हृदयबलावच्छिन्न (नियतकेन्द्रावच्छिन्न), अतएव मनोमय, अतएव च कामनामय पुरुष ही सृष्टि का अधिष्ठाता बनता है, जैसा कि—'पुरुष एवेद सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' (यजु सं ३१।२।) इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्ट है।

(११४)—प्रजासर्गप्रवृत्ति का मूलाधिष्ठान—

'मायम—हृदय—महिमा अभ्व—आया—धारा—आप' आदि पूर्वोपात्त सोलह प्रकार के सुप्रसिद्ध बलकोशों में से आविर्भूत—अनुस्यूत—सर्वबलकोशाधारभूत मायाबल ही है। इससे दूसरा स्थान 'हृदयबल' का है। परात्पर के अमुक निमित्त प्रदेश में मायाबल का उदय हुआ। उदित मायाबल से परात्पर का वह अमुक निमित्त प्रदेश उसी प्रकार सीमित बन गया, जैसे कि पाषाणदुर्गसीमा से तदवच्छिन्न भूप्रदेश सीमित बन जाया करता है। सीमाभावप्रवर्त्तक मायाबल के उदित होते ही इस बलरसमूर्त्ति मायी 'परात्परपुरुष' में दूसरा हृदयबल, एवं तीसरा महिमाबल दोनों बलों का प्रादुर्भाव हो पड़ा। स्वयं केन्द्रबिन्दु तो 'हृदय' कहलाया, एवं हृदयबिन्दु से आरम्भ कर मायापुररेखात्मिका प्रधि (परिधि) पर्य्यन्त प्रदेश 'महिमा' नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' (छां उप ७।२४।१।) के अनुसार इस मायामहिमा के केन्द्र में प्रतिष्ठित हृदयावच्छिन्न पुरुष ही प्रजासर्गप्रवृत्ति का मूलाधिष्ठान बना, जैसा कि पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है।

(११५)—रसबलमूर्त्ति स्वयम्भूपुरुष—

महिमामयबल, हृदयभाव, इन दो भावों से महामायी परात्परपुरुष में बीजरूप से 'आत्मन्वी' भाव उद्बुद्ध हो गया। आत्मा, और शरीर, इन दोनों की समन्वित अवस्था ही विज्ञानभाषा में 'आत्मन्वी' नाम से व्यवहृत हुई है। सर्वहृदयात्मक केवल हृदय (अनियमित हृदय) भाव के कारण निःसीम अमायी परात्पर ब्रह्म जहाँ केवल 'आत्मा' था, वहाँ नियतहृदयभावरूप आत्मा, परिधिभावात्मक महिमाभावरूप शरीर, इन दो भावों से सीमित परात्पर पुरुष 'आत्मन्वी' बन जाता है, जिसका लोकव्यवहार में 'शरीरी'—'देही' आदि

---

* पुरि शेते—इति 'पुरिशयं' सन्तं 'पुरुष' इत्याचक्षते। (गोपथ॰ पू॰ १।३९।)

नामों से व्यवहार प्रसिद्ध है। जिस प्रकार मानवसंस्था में पाञ्चभौतिक शरीररूप महिमा हृदयरूप आत्मा, ये दो विभाग हैं, एवमेव उस ससीम मायी महेश्वर में भी दोनों विभाग महिमारूप शरीर, आत्मरूप हृदय, इस रूप से प्रतिष्ठित है। यह संस्मरणीय है कि, मानव का शरीररूप महिमाभाग जैसे विनश्वर है, सर्वथा विजातीय है, परात्परपुरुष का मायामय महिमाभाग वैसा विनश्वर नहीं है। जैसी महिमा में मानव-लोकमानव-प्रतिष्ठित है, वैसी महिमा में यह प्रतिष्ठित नहीं है। अतएव छान्दोग्यश्रुति को आगे चलकर -'यदि वा न स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित' यह भी कह देना पड़ा है। इस नित्यमहिमा* लक्षण परात्परपुरुषरूप महामायीमहेश्वरको, अमायी परात्परपरमेश्वर के प्रथमावताररूप महेश्वर को, रसब्रह्ममूर्त्ति मायी स्वयम्भूपुरुष को लक्ष्य बनाकर ही हमें मानवस्वरूपाधारभूत 'मनु' तत्व का समन्वय करना है।

(११६)-मनस्तन्त्रके चार विवर्त्त—

हृदयावच्छिन्न मायायुक्त रसब्रह्म, किंवा 'हृदयपुरुष' ही विज्ञानभाषा में 'श्वोवस्यस् ब्रह्म' — कहलाया है, जो यत्रतत्र 'श्वोवसीयस्' नाम से भी उपवर्णित हुआ है। संकल्प-विकल्प-(ग्रहण परित्याग) भावात्मक नियत विषयानुगमन के कारण 'नियतविषयग्राहित्त्वमिन्द्रियत्वम्' इस इन्द्रियस्वरूपलक्षण के आधार पर संकल्पविकल्पाधिष्ठाता मन 'इन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसके लिए-'पञ्चे न्द्रियाणि मन' षष्ठानि मे हृदि' (अथर्वसंहिता) इत्यादि मन्त्रश्रुति प्रसिद्ध है। प्रत्येक इन्द्रिय में अनुकूलवेदना (अनुकूलता), प्रतिकूलवेदना (प्रतिकूलता) भेद से विभिन्न दो व्यवहार स्पष्ट रूप से उपलब्ध हो रहे हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का रूपदर्शन-शब्दग्रहण-रसास्वादन-आदि आदि स्व-स्व-व्यापार सर्वथा नियत है। किन्तु वेदनात्मक (अनुभवात्मक) अनुकूल-प्रतिकूलोभयविध व्यापार सम्पूर्ण विभिन्न इन्द्रियों में समान है। समानव्यापार प्रवर्त्तक सर्वेन्द्रियाधारभूत यही तत्व दूसरा 'सर्वेन्द्रिय' नामक मन 'अनिन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध है। सुषुप्तिदशा में सर्वेन्द्रियमन इन्द्रियप्राणों के साथ समन्वित होता हुआ बुद्धिद्वारा जब पुरीतत्नाडी में प्रविष्ट हो जाता है, तो उस अवस्था में सम्पूर्ण इन्द्रियव्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं। इन्द्रिय-व्यापारों के अवरुद्ध हो जाने पर भी 'अहं' अभिमानात्मक आत्मा (सत्त्वमूर्त्ति महानात्मा) का व्यापार सुषुप्तिदशा में निर्बाध बना रहता है, जिसके प्रमाण श्वास-प्रश्वाससञ्चार, रक्तादिधातुसञ्चार, आदि आभ्यन्तरबाह्य-व्यापार बने हुए हैं। सुषुप्तिदशा में भी ये शरीरव्यापार जिस सत्त्वगुणक ज्ञानीय कामना के द्वारा प्रक्रान्त बने रहते हैं, वही तीसरा 'सत्त्वमन' है, जिसे 'महन्मन' भी कहा गया है, जिसके सम्बन्ध से अलौकिक मानव 'महानात्मा'- 'महात्मा' आदि अभिधाओं से प्रसिद्ध हुआ है। तदित्थं-परात्परपुरुषात्मक 'श्वोवसीयस्मन-महन्मन-अनिन्द्रियमन-इन्द्रियमन' भेद से मनस्तन्त्र के चार विवर्त्त प्रमाणित हो जाते हैं। यही भारतीय मनोविज्ञान-

---

* एष नित्यो महिमा ब्राह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्।
—देखिए पृ० सं० २७१।

— असतोऽधि मनोऽसृज्यत। मन प्रजापतिमसृजत। प्रजापतिः प्रजा असृजत। तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं, यदिदं किञ्च। तदेतत्-'श्वोऽस्यस्यं' नाम ब्रह्म।
(तै० ब्रा०-श्वोवसीयस्) जै० ब्रा० उप० १०३)।

नियत केन्द्रभाव अभिव्यक्त रहता है। तात्पर्य यही है कि, व्यापक असीमभाव की प्रति बिन्दु बिन्दु स्वतन्त्र केन्द्र है। सर्वकेन्द्रत्व ही व्यापक मायातीत परात्परब्रह्म का अकेन्द्रत्व, किंवा अहृदयत्व है, यही इसका अमनोमयत्व तथा अकामयत्व, अतएव अतीतः पन्थानत्व है।

(११३)–पुरुष एवेद सर्वम्—

'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' (यजुः सं० ३४।६) इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार कामनामय मन नियतहृदय में ही प्रतिष्ठित माना गया है। परात्पर असीम है, अतएव उस में नियत हृदय का अभाव है। हृदयाभाव से उसमें मनोऽभिव्यक्ति का अभाव है। एवं तदभाव में उसमें मानसिक कामभाव का अभाव है। इस काममायाभाव से उसमें सृष्टिप्रवृत्ति का आत्यन्तिक अभाव है और वहीं यह विवर्त्तवाद सर्वात्मना विभ्रान्त है, जिसे वेदान्तनिष्ठा ने 'मायामयसर्ग' नाम से घोषित किया है। यही कारण है कि, अहृदय-अमन-अकाम-परात्परब्रह्म को विवर्त्तभावापन्न सृष्टिकर्तृत्व से सर्वात्मना असंपृक्त मान लिया गया है। सृष्टिकर्त्ता बनता है परात्परब्रह्म का ही वह सीमित प्रदेश, जो मायाबलोदय से सीमित बनता हुआ 'मायापुर' सम्बन्ध से 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध है *। यह महामायी हृदयभावावच्छिन्न (नियतकेन्द्रावच्छिन्न), अतएव मनोमय, अतएव च कामनामय पुरुष ही सृष्टि का अधिष्ठाता बनता है, जैसा कि—'पुरुष एवेदं सर्वम्, भूतं यच्च भाव्यम्' (यजु सं० ३१।२।) इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्ट है।

(११४)–प्रजासर्गप्रवृत्ति का मूलाधिष्ठान—

'माया-हृदय-महिमा-अभ्व-आया-धारा-आप' आदि पूर्वोपात्त सोलह प्रकार के सुप्रसिद्ध बलकोषों में से सर्वाविभूत-सर्वमुख्य-सर्वबलकोषाधारभूत मायाबल ही है। इसके पूरक स्थान 'हृदयबल' का है। परात्पर के अमुक निममित प्रदेश में मायाबल का उदय हुआ। उदित मायाबल से परात्पर का वह अमुक निममित प्रदेश उसी प्रकार सीमित बन गया, जैसे कि पाषाणदुर्गसीमा से हृदयच्छिन्न भूप्रदेश सीमित बन जाया करता है। सीमाभावप्रवर्त्तक मायाबल के उदित होते ही इस बलरसमूर्त्ति मायी 'परात्परपुरुष' में दूसरे हृदयबल, तथा तीसरे महिमाबल दोनों बलों का प्रादुर्भाव हो पड़ा। स्वयं केन्द्रबिन्दु तो 'हृदय' कहलाया, एवं हृदयबिन्दु से आरम्भ कर मायापुररेखात्मिका प्रधि (परिधि) पर्य्यन्त प्रदेश 'महिमा' नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'यदि वा स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः' (छां० उप० ७।२४।१।१।) के अनुसार इस मायामहिमा के केन्द्र में प्रतिष्ठित हृदयावच्छिन्न पुरुष ही प्रजासर्गप्रवृत्ति का मूलाधिष्ठान बना, जैसा कि पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है।

(११५)–रसबलमूर्त्ति स्वयम्भूपुरुष—

महिमामयबल, हृदयभाव, इन दो भावों से महामायी परात्परपुरुष में बीजरूप से 'आत्मन्वी' भाव उद्बुद्ध हो गया। आत्मा, और शरीर, इन दोनों की समन्वित अवस्था ही विज्ञानभाषा में 'आत्मन्वी' नाम से व्यवहृत हुई है। सर्वहृदयात्मक केवल हृदय (अनियमित हृदय) मात्र के कारण निःसीम अमायी परात्पर ब्रह्म जहाँ केवल 'आत्मा' था, वहाँ नियतहृदयभावरूप आत्मा, परिधिभावात्मक महिमाभावरूप शरीर, इन दो भावों से सीमित परात्पर पुरुष 'आत्मन्वी' बन जाता है, जिसका लोकव्यवहार में 'शरीरी'–'देही' आदि

* पुरि शेते–इति 'पुरिशयं' सन्तं 'पुरुष' इत्याचक्षते। (गोपथ पू० १।१।३९।)

हुआ है। मनुतत्त्व की पूर्व प्रतिज्ञाता सम्बद्ध सामान्य परिभाषा से समन्वित–'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि मन्त्र का यही मार्गदिग्दर्शन है।

(११९)–सत्यस्य सत्यात्मक सत्यात्मलोक—

सर्वजगन्मूलाधिष्ठाता–अममय–रसबलमूर्त्ति–हृदयस्थ–पुरुषमन ही प्रतिज्ञात सुप्रसिद्ध 'मनु' तत्त्व है। रसबलात्मक हृदयमन ही विश्वात्मा है, यही पुरुष है। 'महाभूतादि वृत्तौजाः' इस मनुवचन के अनुसार यह मनोमय पुरुष आगे चलकर सृष्टयनुगत भौतिक सर्गनिबन्धन पञ्चमहाभूतों का आदिभूत 'आकाशात्मा' है। हृदयभाव के कारण, साथ ही महिमारूप शरीरभाव के कारण 'सहृदयं सशरीरं सत्यम्' * इस परिभाषा के अनुसार यह पुरुष सत्यमूर्त्ति है, जैसे विश्वसत्यापेक्षया 'सत्यस्य सत्यम्' कहा है—। अतएव आकाशात्मा स्वयम्भूपुरुष से अनुप्राणित लोक 'सत्यलोक' माना गया है। पुरुषात्मसत्य के इसी स्वरूप को लक्ष्य बनाते हुए उपनिषच्छ्रुति ने कहा है—

> "मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यः। तस्मिन्नन्तर्हृदये स। एष सर्वस्येशानः। सर्वस्याधिपतिः। सर्वमिदं प्रशास्ति, यदिदं किञ्च"।
>
> —बृहदारण्यकोपनिषत् ५।६।७।

(१२०)–सर्वशास्ता मनु—

पुरुषात्मक आत्ममन (अव्ययमन) को श्रुति ने–'सर्वमिदं प्रशास्ति' रूप से सम्पूर्ण विश्व का प्रशास्ता (अनुशासक) माना है। यही पुरुषमन क्योंकि–'मनु' है। अतएव श्रुत्यर्थानुगामिनी मनुस्मृति का–'प्रशासितारं सर्वेषाम्' यह उद्घोष मनु को सर्वशास्ता प्रमाणित करता हुआ भौतमाव से सर्वात्मना समन्वित है। 'अणोरणीयान्–महतो महीयान्' रूप से आत्मा अणोरणीयान् है, सो तद्रूप मनु भी तद्रूप ही है। अणोरणीमान्–सर्वशास्ता–आत्ममनोलक्षण–मनु के इसी भौत रहस्य को स्पष्ट करते हुए राजर्षि मनु कहते हैं—

---

* पारिभाषिक 'ऋत–सत्य–ऋतसत्य' इन तीन प्राकृतिक तत्त्वों के निम्नलिखित तीन लक्षण हुए हैं:—

(१)–"अहृदयं–अशरीरं–ऋतम्" (यथा प्राणाः–वायुः)।
(२)–"सहृदयं–सशरीरं–सत्यम्" (सर्वे पिण्डभावाः सकेन्द्राः)।
(३)–"अहृदयं–सशरीरं–ऋतसत्यम्" (मेघाः–धूमभावाः–वायूर्यादयः)।

— सत्यस्य सत्य (वा अव्ययात्मा)

> सत्यव्रतं–सत्यपरं–त्रिसत्यं–सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
> सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥
>
> —श्रीमद्भागवत

दिशा की संक्षिप्त रूपरेखा है। प्रतीच्य मनोविज्ञान (साइकालॉजी–Psychology) जहाँ केवल भौतिक–सर्वथा स्थूल–बाह्य–पार्थिव 'इन्द्रियमन' मन पर विश्रान्त है, वहाँ भारतीय मनोविज्ञान श्वोवसीयस् नामक उस पुरुषमन पर विश्रान्त है, जिसे 'आत्ममन' नाम से घोषित किया गया है।

(११७)–ऐन्द्रियकज्ञाननिकषा—

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्' (ईशोपनिषत् १) के अनुसार आत्ममन जड़चेतन–सर्वत्र समरूप से अवस्थित रहता हुआ भी अभिव्यक्त है केवल मानवस्वरूप में ही। अतएव एक मात्र मानव ही सम्पूर्ण सर्गों में पुरुष से समतुलित रहता हुआ पूर्ण कहलाया है, जैसा कि—'पुरुषो वै प्रजापते र्नेदिष्ठम्' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। इसी सर्वव्यापक आत्ममन के आधार पर–'आत्मैवेदं सर्वम्'–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'–'प्रजापतिस्त्वेवं सर्वं यदिदं किञ्च'–'सर्वं ह्येव प्रजापतिः' इत्यादि सर्ग–प्रतिसर्गरहस्यनिरूपणात्मक सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। इस आत्ममन से अनुप्राणित मानवीय सिद्धान्त ही 'आर्षसिद्धान्त' माना गया है। इस सिद्धान्त से सिद्धान्तित वाङ्मयशास्त्र ही 'अपौरुषेय वेदशास्त्र' कहलाया है, जो अपने निर्भ्रान्त सत्यज्ञानप्रभाव से स्वतःप्रमाणशास्त्र है। महन्मनोऽनुगत सत्यज्ञान की, बुद्ध्यनुगत धिषणाज्ञान की, अतीन्द्रियमनोऽनुगत प्रज्ञानज्ञान की, एवं इन्द्रियानुगत ऐन्द्रियकज्ञान की एकमात्र निकषा यही स्वतःप्रमाणशास्त्र है, जिसके लिए–'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ' (गीता १६।२४) सिद्धान्त स्थापित हुआ है।

(११८)–श्वः श्वः वसीयान् आत्ममन—

पूर्वोपवर्णित आत्ममन 'पुरुषमन' है, जो उत्तरोत्तर भूमाभाव (वृद्धिभाव–उत्कर्ष–विकास) का ही अनुगामी बना रहता है। एकोऽहं बहुस्याम्' इत्यादि रूप से यह पुरुषमन सदा श्व श्व (उत्तरोत्तर–दिन दिन) वसीयान् है, विकास–वृद्धि–उत्कर्षपथानुगामी है, अतएव इसे 'श्वोवसीयस्' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है। यही श्वोवसीयस्मन उस हृदयभाव से समन्वित काममय पुरुष है, जिसे हमने माया–वच्छिन्न परात्परपुरुष कहा है। यही काममय पुरुषमन असङ्गरसानुप्राणिता मुमुक्षा (मुक्तिकामना), तथा बलसङ्गबलानुप्राणिता सिसृक्षा (सृष्टिकामना) से उभयात्मक बनता हुआ–'उभयात्मकं मनः' का सार्थक कर रहा है। सम्भूति ही सृष्टि है, सृष्टिबन्धनविमोकलक्षण विनाश ही मुक्ति है। प्रत्येक सृष्टिधारा में, सृष्टिधारा के अणु अणु में रसानुगत बन्धनविमोक, बलानुगत ग्रन्थिबन्धनलक्षण विनाश–सम्भूति दोनों व्यापार समानक्षेत्रानुगामी बनते हुए 'सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह' को अन्वर्थ प्रमाणित कर रहे हैं। सृष्टिधारा में समष्टया–व्यष्टया–उभयथा निर्म्माण और ध्वंस दोनों समकालिक किंवा एककालिक हैं। कारण यही है कि, सृष्टिनिर्म्माता हृत मनोमय परात्परपुरुषप्रजापति की मनोमयी कामना रसापेक्षया ध्वंसानु गामिनी, बलापेक्षया निर्म्माणानुगामिनी, रूप से उभयात्मिका बनी हुई है। उभयात्मिका यह 'कामना' ही सृष्टि का प्राथमिक 'रेत' (उपादानात्मक मूलबीज) है जो हृत पुरुषमन से विनिर्गत हुआ है। सृष्टिक्रम में सर्वप्रथम मनोरेतोलक्षण इस कामबीज का ही उदय होता है, जिस कामबीज से आगे चल कर सत्रस के आधार पर असत्–बलों के ग्रन्थिबन्धनतारतम्य से सर्वोपयिक सम्बन्ध समन्वित हो जाता है। एवं जिस सम्बन्ध (रसबल) के समन्वय से (रसाधारेण होने वाले बलों के विविध सम्बन्धों से) सम्पूर्ण विश्व का निर्म्माण

हो जाती हैं। इन मध्यान्तरों के सम्बन्ध से ही आर्य्यसर्वस्व (पुराणशास्त्र) की पारिभाषिकी स्मार्तविज्ञानभाषा में यह मनु 'मन्वन्तर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। लोकव्यवहार में जिसे मुहूर्त कहा जाता है, वही पुराणभाषा में 'मन्वन्तर' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'मुहूर्त्तो घटिकाद्वयम्' के अनुसार घटिकाद्वयी (२ घड़ी) का एक मुहूर्त्त होता है। चतुर्विंशति–होरात्मक एक अहोरात्र में षष्टिमित (६०) घटिका होती हैं। फलत मुहूर्त्त उक्त अनुपात से ३० हो जाते हैं। चतुर्दश मुहूर्त्तों का भोग रात्रि में, चतुर्दश का भोग रात्रि में। १ का भोग प्रात सन्ध्या में, १ का भोग सायंसन्ध्या में, सम्भूय ३० मुहूर्त्तों का भोग एक अहोरात्र में हो जाता है। ठीक यही गणनाव्यवस्था महासर्गकालनिबन्धन–उस अहोरात्र से समन्वित है, जिसे 'ब्राह्माहोरात्र' माना गया है। मुहूर्त्त-स्थानीय १४ मन्वन्तरों का उपभोग ब्राह्मरात्रि में, १४ मन्वन्तरों का उपभोग ब्राह्म अह में, १ का उपभोग ब्राह्मप्रात सन्ध्या में, १ का उपभोग ब्राह्मसायंसन्ध्या में, सम्भूय ३० मन्वन्तरों का उपभोग एक ब्राह्माहोरात्र में हो जाता है। तात्पर्य्य इस गणनासमतुलन का यही है कि, मनु ही मन्वन्तररूप से सृष्टिधाराओं के काल नियमन के व्यवस्थापक बनते हैं। मन्वन्तररूप मनु ही सृष्टि के आयुर्भोगकाल हैं। तथैव प्राणियों की आयु के भी अधिष्ठाता मनु ही माने गये हैं।

[१२३] ज्योतिर्गौरायुष्टोमत्रयीस्वरूपपरिचय—

यहाँ बात थोड़ी समझने जैसी है। स्वायम्भुव आकाशात्मा मनु ही पारमेष्ठ्यसमुद्रगर्भित हिरण्मय मण्डलगर्भीभूत सूर्य्यनारायण के केन्द्र की प्रतिष्ठा बनते हुए 'हिरण्यगर्भमनु' नाम से प्रसिद्ध होते हैं। इसी सौरमण्डलकेन्द्रवर्त्ती मनु को लक्ष्य बनाकर इसे 'रुक्मभाभ' (सुवर्णकान्तिसदृश) कहा गया है। 'नून जना सूर्य्येण प्रसूता'—'प्राण प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः'—'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' 'निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च' इत्यादि श्रौतवचनानुसार हिरण्मय–रुक्मभाभ सौरप्रजापति (हिरण्यगर्भप्रजापति*) ही चर–अचर समस्त भुवनों का आत्मा सर्वाधार माना गया है। यह सर्वाधार सौरप्रजापति जिस छन्द पर अध्यारूढ है, यह 'बृहतीछन्द' + नाम से प्रसिद्ध है, जो नवाक्षर माना गया है। नवाक्षर बृहती के चार पादों के सम्भूय ३६ अक्षर हो जाते हैं। 'सहस्रधा महिमान सहस्रम्' के अनुसार सौरसहस्ररश्मियों का बृहतीछन्द के ३६ अक्षरों के साथ (प्रत्येक अक्षर के साथ एक एक सहस्र गोरूपरश्मियों का) सम्बन्ध हो जाता है। फलत बृहतीछन्द के ३६ सहस्र (३६ छत्तीस हजार) सूत्र हो जाते हैं। प्रत्येक सूत्र अपनी मनोमयी ज्ञानशक्ति, प्राणमयी क्रियाशक्ति, वाङ्मयी अर्थशक्ति से समन्वित होता हुआ मनःप्राणवाङ्मय आत्मा की प्रतिष्ठा बना हुआ है। 'ज्योति –गौ –आयु सूर्य्य के तीन 'मनोता' माने गए हैं। सौर केन्द्रीय मनोभाव इन तीन द्वारों में ओतप्रोत होकर ही त्रैलोक्यप्रतिष्ठा बनते हैं। अतएव

---

* हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
—यजु संहिता।

+—सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति। नैवोदेता, नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता।
—छान्दोग्योपनिषत्।

प्रशासितारं सर्वेषां–मणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् ॥
—मनु १२।१।२२।

(१२१)–'मनुः' शब्द की शाब्दिक स्वरूपनिष्पत्ति—

ज्ञानमयकोश ही 'मन' है। यद्यपि संकल्पविकल्पात्मक इन्द्रियमन, इन्द्रियप्रवर्त्तक सर्वेन्द्रियमन, एवं सुषुप्त्यधिष्ठाता सत्त्वमूर्त्ति महन्मन, ये तीनों मनस्तन्त्र भी चिदंशसम्बन्ध से प्रज्ञात्मक बनते हुए ज्ञानमय ही माने जायँगे। अतएव इन्हें 'मन' (ज्ञानशक्तिमय तत्त्व) कहना अन्वर्थ बनेगा। तथापि मननात्मक सुस्थिर ज्ञानकोश तो एकमात्र श्वोवसीयस नामक वह आत्ममन ही माना जायगा, जिस कोश की ज्ञानमात्रा का लेकर इतर मनस्तन्त्र ज्ञानमय बने रहते हैं—'तस्यैव मात्रामुपादाय सर्वाण्युपजीवन्ति' प्रसिद्ध ही है। मननात्मक सुस्थिर ज्ञानकोशलक्षण श्वोवसीयस मन को हम 'ज्ञानोक्थ' (बिम्ब–ज्ञानकन्दल–ज्ञानदीप) कहेंगे। इस उक्थात्मक आत्ममन से विनिःसृत होकर चतुर्दिक्–किंवा सर्वदिक् व्याप्त रहने वाले मननात्मक सुस्थिर ज्ञानमय अर्क (रश्मि) मण्डल को हम 'मनु' कहेंगे। यही मन, और मनु में सुसूक्ष्म स्वरूपभेद माना जायगा। बिम्बात्मक वही तत्त्व (ज्ञानकन्दल) 'मन' है, रश्म्यात्मक वही तत्त्व (ज्ञानमण्डल) 'मनु' है। हृदयावच्छिन्न वही मन 'मन' है, परिव्यवच्छिन्न वही मन 'मनु' है। आत्मरूप वही मन 'मन' है आत्ममहिमारूप वही मन 'मनु' है। उदाहरण के लिए सूर्यबिम्ब यदि मन स्थानीय है, तो सौरज्योतिर्म्मण्डल 'मनु' स्थानीय है। चन्द्रपिण्ड मन है, तो चन्द्रिकामण्डल मनु है। दीपार्चि (दीप की लौ) यदि मन है, तो दीपप्रभामण्डल मनु है। विज्ञानभाषानुसार 'पदम्' यदि मन है, तो 'पुनःपदम्' मनु है। ऋक् यदि मन है तो साम मनु है। याज्ञिक शस्त्रकर्म्म (ऋगनुगत शंसनकर्म्म) यदि मन है, तो याज्ञिक स्तोत्रकर्म्म मनु है। होता यदि मन है, तो उद्गाता मनु है। और यही मन तथा मनु में स्वरूपविभेद है। ज्ञानमण्डलसम्बन्ध से, किंवा प्रभामण्डलसम्बन्ध से ही मनु को 'रुक्माभ' कहा गया है। उक्थ मन ही क्योंकि अर्करूप से मनु है। अतएव धातु–प्रकृति प्रत्ययवादी वैय्याकरणों नें ज्ञानार्थक 'मन' धातु ('मन' ज्ञाने दिवादि) से उणादि प्रत्ययद्वारा ही मनुः शब्द की शाब्दिक स्वरूपनिष्पत्ति मानी है।

(१२२)–आयु के अधिष्ठाता मनु—

हृदयस्थ उक्थ मन की अमनामयी रश्मियों का मननशील वह महिम्मण्डल ही (अध्यात्मसर्ग की अपेक्षा से *) मनु है, जिस महिम्मण्डल के आधार पर ही सौर–चान्द्र–पार्थिवकेन्द्रत्रयी से अनुप्राणित सम्वत्सरचक्रत्रयी से समन्वित सृष्टिधारा की व्यवस्था व्यवस्थित हुई है। मनुर्म्मण्डल का भोगकाल ही सृष्टिसर्ग का आयुःप्रमाण है। इस सृष्टिकालानुबन्धी मनु की अहोरात्र–विज्ञानानुसार अवान्तर त्रिपात् (३) अवस्थाएँ

---

* अध्यात्म–अधिभूत–अधिदैवत–तीनों स्थानों में विभिन्न दृष्टिकोणों से इस मनु का समन्वय हुआ है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन 'भारतीय आर्य्यसर्वस्व का स्वरूपपरिचय' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में ही देखना चाहिए।

(१२७)—मनसा धियः, और मनु

'(१)—सम्पूर्ण प्राणदेवता हमें पवित्र करें, "मन से संयुक्त बुद्धियाँ हमें पवित्र करें," सम्पूर्ण भूत हमें पवित्र करें, (सम्पूर्ण भूतों के परिज्ञाता—अतएव) 'जातवेद' नाम से प्रसिद्ध अग्निदेव हमें पवित्र करें," ।
"(२)—प्राणदेवता हमें पवित्र करें, "बुद्धि से संयुक्त मनुगण हमें पवित्र करें", सम्पूर्ण भूत हमें पवित्र करें, पवमान देवता हमें पवित्र करें, " इत्यद्गुरार्थक पूर्वोक्त यजु तथा अथर्वमन्त्रों में और सब भाव यो प्राय समतुलित हैं, केवल दो भावों में थोड़ा अन्तर है । यजुश्रुति 'मनसा धियः' रूप से मन के साथ बुद्धि का सम्बन्ध मान रही है, एवं अथर्वश्रुति 'मनवो धिया' रूप से बुद्धि के साथ 'मनु' का सम्बन्ध बतला रही है । समानभावप्रतिपादक इस मन्त्रत्रयी में पठित 'मनसा' और 'मनवः' दोनों शब्द अपनी अभिन्नार्थकता ही प्रमाणित कर रहे हैं । केन्द्रस्थ ज्ञानभाव ही मन है । यह केन्द्रानुगत बना रहता हुआ एक है, उक्थरूप है । अनेक अर्कों का आधारभूत उक्थ एक ही तो हुआ करता है । केन्द्रस्थ मन के ऊपर भावना—वासनासंस्कारपुञ्ज प्रतिष्ठित रहता है । बुद्धि की विभिन्न रश्मियों से, दूसरे शब्दों में उक्थरूप बुद्धि की अर्करूप रश्मियों से (जिन रश्मिभावों का पारिभाषिक नाम 'धी' है, जिससे अनुप्राणित बुद्धिधर्म—'धिषणा' कहलाया है) समन्वित होकर ही प्रज्ञानमनोरूप विभिन्न भावना—वासना संस्कारों के भोग में समर्थ बनता है । बुद्धिरश्मिरूप 'धियः' ही उक्थमन को संस्कारभोग में सफल बनाती है । इसी अभिप्राय से 'मनसा धियः' कहा गया है ।

(१२८)—मनवो धिया, और मनु

महिमामण्डलस्थ अर्करूप (रश्मिरूप) मानसज्ञानभाव (ज्ञानवृत्तियाँ—प्रज्ञानवृत्तियाँ) ही पूर्व में 'मनु' नाम से व्यवहृत हुई हैं । यही उक्थ मन अर्कभाव में परिणत होकर 'मनवः' बन जाता है, जिसका आधार केन्द्रस्थ उक्थ मन समन्वित केन्द्रस्था उक्थरूपा बुद्धि बनी रहती है । इस महिमास्थिति में बुद्धि उक्थरूप से एकत्वभावापन्ना है, मन मनुरूप अर्कभाव से बहुत्वभावापन्न है । इस स्थिति का 'मनवो धिया' रूप से विश्लेषण हुआ है । तात्पर्य्य कहने का यही है कि, यजुश्रुति उक्थरूप मनु, अर्करूप बुद्धि, दोनों के क्रमिक एकत्व—अनेकत्व को लक्ष्य बनाती हुई जिस तत्त्वसमष्टि के लिए 'मनसा धियः' कह रही है । अर्करूप मन (मनु), उक्थरूप बुद्धि दोनों के क्रमिक अनेकत्व—एकत्व को लक्ष्य बनाती हुई अथर्वश्रुति उसी तत्त्वसमष्टि का 'मनवो धिया' इस रूप से विश्लेषण कर रही है । अथवा केवल मनस्तन्त्र के सम्बन्ध से ही दोनों श्रुतियों के विभिन्नार्थक दोनों वचनों का यों भी समन्वय किया जा सकता है कि—

उक्थात्मस्थापन्न हृदयस्थ मन अपने बुद्ध्यनुगत सहज व्यवसायधर्म्म से एकरूप माना गया है, इसे ही दर्शनपरिभाषा में 'निश्चयात्मक मन' कहा गया है । ऐसे व्यवसायधर्म्मानुगत—निश्चयात्मक—स्थिर—उक्थलक्षण—हृत—एकाकी 'मन' के अभिप्राय से यजुश्रुति ने 'मनसा' कहा है । एकवचनान्त शब्द प्रयुक्त हुआ है । इस मनोरूप हृत ज्ञानकलात्मक उक्थ से विनिर्गत अर्करूपा ज्ञानरश्मियाँ क्योंकि बाह्यविषयभेद से बहुभाव हो जाती हैं, अनेक होती हैं । अतएव महिमामण्डलस्थ अर्करूप 'मनु' लक्षण मन के लिए अथर्वसंहिता में 'मनवः' रूप बहुवचनान्त शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

'मनांस्योतानि यत्र' निर्वचन से इन्हें 'मनोता' कहना अन्वर्थ बनता है। इन तीन सौर मनोताओं के आधार पर ही सुप्रसिद्ध 'ज्योतिष्टोम-गोष्टोम-आयुष्टोम' नामक सौरयज्ञत्रयी प्रतिष्ठित है।

(१२४) प्राकृतिककोश के ३६००० सूत्र—

प्रत्येक सृष्टि में 'आत्मा-प्राण-पशु' ये तीन भाग समाविष्ट रहते हैं। इनमें पशुभाग 'भूत' है, इसका 'गो' मनोता के साथ सम्बन्ध है। प्राणभाग 'देवता' है, इसका 'ज्योति' मनोता के साथ सम्बन्ध है। आत्मभाग 'प्रजापति' है, इसका 'आयु' मनोताके साथ सम्बन्ध है। सौर मनःप्राणवाङ्मय आयुर्म्मनोतामय सौर आत्मा ही त्रैलोक्य प्रजा की आयु का आधार बनता है। बृहतीसम्बन्ध से ये मन प्राणवाङ्मय आयु-सूत्र ३६००० संख्याओं में विभक्त हैं। प्रति अहोरात्र में मनःप्राणवाङ्मय एक एक आयु-सूत्र का हृदयकेन्द्र से सौर केन्द्र पर्य्यन्तपर्य्यन्त ब्रह्मरन्ध्रनामक 'नान्दनद्वार' नामक पथ से वितत महापथ के द्वारा सुषुम्णापथ से उपभोग होता रहता है। प्राकृतिककोश में ऐसे बृहतीसहस्र (३६००० सूत्र हैं। यही मानव का आयुःप्रमाण है, जिन षट्त्रिंशत्बृहतीसहस्रात्मक आयु सूत्रों के ३६००० अहोरात्र हो जाते हैं। यही 'शतायुर्वै पुरुषः' का मौलिक रहस्य है, जिसका शतपथभाष्य में विस्तार से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। (देखिए शतपथविज्ञानभाष्य अग्निरहस्यात्मक १० काण्ड, ४ प्रपाठक, १ ब्राह्मण)।

(१२५) आयुर्लक्षण मनु—

वाक् का मूलरूप प्राण है, प्राण का मूलरूप मन है, मन ही मनु है। यही मनुरूप मनु पूर्व-कथनानुसार सौरहिरण्यगर्भप्रजापतिरूप में परिणत होता हुआ क्योंकि बृहती-सहस्र द्वारा आधिदैविक-आध्यात्मिक-आधिभौतिक-पर्वों की आयु का निर्म्मापक बना हुआ है। इसी आधार पर भगवान् कौषीतकि ने 'आयुर्वै मनुः' (कौ० ब्राह्मणोपनिषत् २६।१७) इत्यादि रूप से आयुतत्त्व को भी 'मनु' अभिधा से समलंकृत मान लिया है।

(१२६) मन और मनु की अभिन्नता—

उक्थ, तथा अर्क (पिण्ड तथा महिमा, अर्चि तथा प्रकाश), इस सामान्य भेद के अतिरिक्त मन और मनु, दोनों तत्त्वतः अभिन्न तत्त्व हैं। इस अभिन्नता के सम्बन्ध में निम्न लिखित मन्त्रों की ओर ही मनुप्रेमी मानवों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है—

(१)—पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु 'मनसा धियः'।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि माम्॥
—यजुःसंहिता १९।३९।

(२)—पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु 'मनवो धिया'।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा॥
—अथर्वसंहिता ६।१९।१।

स्थानीय 'पुरुष' नामक प्राणी में ही होती है। अतएव सम्पूर्ण चर-अचर प्रजावर्ग में केवल यह 'पुरुष' ही 'मानव' अभिधा का लक्ष्य बनता है।

मनुरूप आत्मा की अभिव्यक्ति, अनभिव्यक्ति रूप से स्वयम्भूमनु का विश्वसर्ग 'पुरुषसर्ग-प्रकृतिसर्ग' इन दो मार्गों में विभक्त हो जाता है। इन्हीं को क्रमशः 'आत्मसर्ग-अनात्मसर्ग' भी कहा जा सकता है। पुरुषप्राणी आत्मसर्ग है, यही आत्मा स्वमनुरूप से अभिव्यक्त है। अतएव यही मननशाला मानवाभिधा से समन्वित है। पुरुषातिरिक्त सम्पूर्ण चर-अचरसर्ग (जिसमें देवता-असुर-गन्धर्व-पशु-पक्षी-कृमि-कीट आदि आदि यच्चयावत् सर्ग सङ्गृहीत हैं) प्राकृतसर्ग है, किंवा आत्मानाभिव्यक्तिरूप अनात्मसर्ग है। अतएव इन्हें मनु के अपत्य होते हुए भी 'मानव' नहीं कहा जाता। मनुसम्बन्धित प्राकृत मन्वन्तरानुप्राणित कालचक्र से सञ्चालित मानवेतर चर-अचर प्रजा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। दिग्-देश-कालानुप्राणित सम्पूर्ण चर-अचर प्रजा प्रकृतितन्त्र से सञ्चालित रहती हुई परतन्त्र है। उधर 'मानव' अभिधा से समन्वित पुरुष अपने सहज आत्ममनु स्वरूप से अभिव्यक्त रहता हुआ दिग्देशकालसीमा से से अतिक्रान्त बनता हुआ परिपूर्ण है, शाश्वत है, अमृतपुत्र है 'ऋतस्य प्रथमजा' है। यही मानव की वह सर्वश्रेष्ठता है, जिसका हमने पुराणपुरुष के-'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' इत्यादि शब्दों में यत्रतत्र सर्वत्र उद्घोष किया है।

तथाकथित स्वयम्भू मनु से होने वाले पञ्चाग्निविद्यामूलक 'अपसृष्टि' प्रसङ्ग को अनुपद के लिए छोड़ते हुए हम मनु के विशेषभावों से, विशेष इतिहासों से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वप्रतिज्ञात 'अग्नि-प्रजापति इन्द्र-प्राण-शाश्वतब्रह्म' इत्यादि विशेष नामों के तात्त्विकस्वरूप की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

(१३१)-अग्निमूर्त्तिमनु (एतमेके वदन्त्यग्निम्)—

यह आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि, जिस मायातीत परात्परब्रह्म का मायामय मनोमय परात्पर पुरुषब्रह्म प्रथमावतार है, वह मायातीत परात्पर सर्वबलविशिष्टरसैकघन बनता हुआ रसब्रलोमयमूर्त्ति है, रसबलात्मक है। फलतः तत्प्रथमावतारस्थानीय मनोमय महामायी परात्परपुरुष की भी रसबलता सिद्ध हो जाती है। रस 'स्थिति' तत्त्व है, बल 'गति' तत्त्व है, जिन इन रसबलनिबन्धन स्थिति-गतिभावों का आगे के परिच्छेदों तथा प्रकरणों में विभिन्नरूप से, अनेकधा विभिन्न दृष्टिकोणों से समन्वय किया जाने वाला है। स्थितिभावापन्न असङ्ग रस 'अनेजत्' (अकम्पनरूप), गतिभावापन्न ससङ्ग बल 'एजत्' (कम्पनरूप) है। अनेजल्लक्षण रसात्मक स्थितिभाव ही 'महाभूतादि सूत्रौजा' के अनुसार 'आकाश' है, यही संकेतपरिभाषानुसार 'जू'* है। एजल्लक्षण बलात्मक गतिभाव ही 'वायु' (प्राणवायु-सुसूक्ष्म अवामच्छद वायुतत्त्व) है, यही संकेत परिभाषानुसार 'यत्' कहलाया है। मायासीमित पुर से सम्बन्ध रखने वाले हृदयभाव (केन्द्रभाव) के कारण रसबलात्मक पुरुष के रस तथा बल, दोनों असङ्ग-ससङ्गतत्त्व इस प्रकार (सृष्ट्युन्मुख दशा में) 'भू' रूप आकाश,

---

* 'जूराकाशे-सरस्वत्यां-पिशाच्यां-यवने-स्त्रियाम्' इत्यादि कोशवचनानुसार 'जू' शब्द सरस्वती, पिशाची, यवन, स्त्री, इत्यादि भावों का संग्राहक माना गया है।

(१२९) मनन, और मन—

अपि च ज्ञानकोशात्मक मन की मननशीला इन्द्र रश्मियाँ (हृदयाक्ष से विनिर्गत ज्ञानरश्मियाँ) हीं क्योंकि 'मनु' है, अतएव अन्यत्र 'मनु' शब्द का 'मनन' अर्थ भी स्वीकृत कर लिया गया है। तत्सम्बन्ध से ही मननशील मनीषी विद्वान् मानव को भी 'मनु' अभिधा से सम्बोधित करना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है। 'मनवस्तीर्णबर्हिषम्' (यजु सं० १५।६६) इत्यादि मन्त्रभाग के 'मनव' का अर्थ है 'मननशील विद्वान्' जैसा कि तन्मन्त्रानुगत महीधर भाष्य के "मनव—मननप्रधाना विद्वास -यमग्नि तीर्णबर्हिषमाहुर्वदन्ति" इत्यादि वचन से भी स्पष्ट है। "ये विद्वांसस्ते मनव" (शतपथ ब्रा ८।६।३।१८।) इत्यादि रूप श्रौतवचन स्पष्ट ही 'मनु' का मननार्थ भी प्रमाणित कर रहा है। उक्थात्मक हृदयस्थ मन, अर्कात्मक महिमामण्डलस्थ मनु, दोनों की इस अभिन्नता को लक्ष्य बना कर ही एक स्थान पर श्रुति ने कहा है कि – "जो मनीषी विद्वान इस प्रकार मनुष्यों के मनुष्यत्व से परिचय प्राप्त कर लेता है, वह मन की प्रतिष्ठा में ही प्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसे मननशील मनस्वी मनीषी मानव का मनुतत्त्व कभी परित्याग नहीं करता। सदा इस पर मनुरूप से मन का विभूत्यात्मक अनुग्रह होता रहता है"। मननशक्ति के सम्बन्ध से ही आर्षछन्द मननात् 'मन्त्र' कहलाए हैं। इसी आधार पर आगमशास्त्र ने मननात्मक मन्त्र को 'मनु' नाम से व्यवहृत किया है ×।

(१३०) मनु और सर्वश्रेष्ठ मानव—

'परात्परब्रह्म' नामक शाश्वतब्रह्म से अभिन्न, मायाबलसीमित, मनोमय, अतएव निष्कामभावात्मक काममय, इन्द्र परात्परपुरुष ही अपने निर्भ्रान्त मननधर्म से 'स्वयम्भूमनु' है। पाञ्चभौतिक महाविश्व का प्रादुर्भाव मनुमूर्त्ति इसी स्वयम्भूमनु से हुआ है। अतएव इस व्यापक दृष्टिकोण के आधार पर सम्पूर्ण विश्व को, विश्वगर्भित चर–अचर–प्राणिमात्र को इस स्वयम्भूमनु को 'अपत्य' रूपा सन्तान होने से 'मनोरपत्यं मानवः' निर्वचन के आधार पर 'मानव' कहा जा सकता है, एवं इसी कथन को 'मानव' शब्द का तात्त्विक सामान्य इतिहास माना जा सकता है। इस सामान्य इतिहास की उपेक्षा कर अमुक विशेष प्रजा के लिए ही 'मानव' शब्द क्यों कैसे समन्वित हो गया ?, प्रश्न का तात्त्विक समाधान करने के लिए सामवेदीय गोपथब्राह्मण की अवतारणा हुई है, जिसके रहस्यार्थ के आधार पर ही सामोपनिषत् (छान्दोग्योपनिषत्) की सुप्रसिद्ध–'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादिलक्षणा पञ्चाग्निविद्या प्रतिष्ठित हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, चर–अचर–पदार्थमात्र आदिमनु स्वयम्भू (आत्ममन) की कामना से अनुप्राणित रहते हुए 'मनोरपत्यम्' भाव से समन्वित होते हुए 'मानव' अभिधा से व्यवहृत होने चाहिए थे। किन्तु आत्ममनोलक्षण मनु की आत्मरूपेण पूर्णाभिव्यक्ति क्योंकि पञ्चाहुति के पञ्चमस्थान–

— "य एव मनुष्याणां मनुष्यत्वं वेद, मनस्येव भवति। नैनं मनुर्जहाति"।
—तै० ब्रा० २।३।८।२।

—मननशक्तिर्मनुरिति तत्र भाष्ये सर्वभौसायणाचार्यः—

× "जप्त्वैतन्नाम ये वा तव 'मनु' विमल भावयत्येतदम्ब !" (कर्पूरस्तोत्र)।

स्थानीय 'पुरुष' नामक प्राणी में ही होती है। अतएव सम्पूर्ण चर-अचर प्रजावर्ग में केवल यह 'पुरुष' ही 'मानव' अभिधा का लक्ष्य बनता है।

मनुरूप आत्मा की अभिव्यक्ति, अनभिव्यक्ति रूप से स्वयम्भूमनु का विश्वसर्ग 'पुरुषसर्ग-प्रकृतिसर्ग' इन दो मार्गों में विभक्त हो जाता है। इन्हीं को क्रमशः 'आत्मसर्ग-अनात्मसर्ग' भी कहा जा सकता है। पुरुषप्राणी आत्मसर्ग है, यहीं आत्मा स्वमनुरूप से अभिव्यक्त है। अतएव यही मननशाला मानवाभिधा से समन्वित है। पुरुषातिरिक्त सम्पूर्ण चर-अचरसर्ग (जिसमें देवता-असुर-गन्धर्व-पशु-पक्षी-कृमि-कीट इत्यादि आदि यच्चयावत् सर्ग संगृहीत हैं) प्राकृतसर्ग है, किंवा आत्मानभिव्यक्तिरूप अनात्मसर्ग है। अतएव इन्हें मनु के अपत्य होते हुए भी 'मानव' नहीं कहा जाता। मनुसम्बन्धित प्राकृत मन्वन्तरानुप्राणित कालचक्र से सञ्चालित मानवेतर चर-अचर प्रजा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। दिग्-देश-कालानुप्राणित सम्पूर्ण चर-अचर प्रजा प्रकृतितन्त्र से सञ्चालित रहती हुई परतन्त्र है। उधर 'मानव' अभिधा से समन्वित पुरुष अपने सहज आत्ममनु स्वरूप से अभिव्यक्त रहता हुआ दिग्देशकालसीमा से से अतिक्रान्त बनता हुआ परिपूर्ण है, शाश्वत है, अमृतपुत्र है 'ऋतस्य प्रथमजा' है। यही मानव की वह सर्वश्रेष्ठता है, जिसका हमने पुराणपुरुष के-'न हि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्' इत्यादि शब्दों में यत्रतत्र सर्वत्र उद्घोष किया है।

तथाकथित स्वयम्भू मनु से होने वाले पञ्चाग्निविद्यामूलक 'अपसृष्टि' प्रसङ्ग को अनुपद के लिए छोड़ते हुए हम मनु के विशेषभावों से, विशेष इतिहासों से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वप्रतिज्ञात 'अग्नि-प्रजापति इन्द्र-प्राण-शाश्वतब्रह्म' इत्यादि विशेष नामों के तात्त्विकस्वरूप की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

(१३१)-अग्निमूर्तिमनु (एतमेके वदन्त्यग्निम्)—

यह आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि, जिस मायातीत परात्परब्रह्म का मायामय मनोमय परात्पर पुरुषब्रह्म प्रथमावतार है, वह मायातीत परात्पर सर्वबलविशिष्टरसैकघन बनता हुआ रसबलोमयमूर्ति है, रसबलात्मक है। फलतः तत्प्रथमावतारस्थानीय मनोमय महामायी परात्परपुरुष की भी रसबलमयता सिद्ध हो जाती है। रस 'स्थिति' तत्त्व है, बल 'गति' तत्त्व है, जिन इन रसबलनिबन्धन स्थिति-गतिभावों का आगे के परिच्छेदों तथा प्रकरणों में विभिन्नरूप से, अनेकधा विभिन्न दृष्टिकोणों से समन्वय किया जाने वाला है। स्थितिभावापन्न असङ्ग रस 'अनेजत्' (अकम्पनरूप), गतिभावापन्न ससङ्ग बल 'एजत्' (कम्पनरूप) है। अनेजल्लक्षण रसात्मक स्थितिभाव ही 'महाभूतादि पुरौजा' के अनुसार 'आकाश' है, यही संकेतपरिभाषानुसार 'जू'* है। एजल्लक्षण बलात्मक गतिभाव ही 'वायु' (प्राणवायु-सुसूक्ष्म अघामच्छद वायुतत्त्व) है, यही संकेत परिभाषानुसार 'यत्' कहलाया है। मायासीमित पुर से सम्बन्ध रखने वाले हृदयभाव (केन्द्रभाव) के कारण रसबलात्मक पुरुष के रस तथा बल, दोनों असङ्ग-ससङ्गतत्त्व इस प्रकार (सृष्ट्युन्मुख दशा में) 'जू' रूप आकाश,

---

* 'जूराकाशे-सरस्वत्यां-पिशाच्यां-यवने-स्त्रियाम्' इत्यादि कोशवचनानुसार 'जू' शब्द सरस्वती, पिशाची, यवन, स्त्री, इत्यादि भावों का संग्राहक माना गया है।

तथा 'यत्' रूप वायु भाव में परिणत हो जाते हैं। अतएव इस मनोमय इय पुरुष को सृष्ट्युन्मुख दशा में हम अवश्य ही 'यत्-जू-आत्मक' कह सकते हैं, जिसका तात्पर्य्य है 'आकाशवाय्वात्मक', एवं जिसका फलितार्थ है—'स्थितिगतिभावात्मक, अतएव उभयात्मक मन'। स्थितिभावरूप आकाश 'जूः' है, गतिभावरूप वायु 'यत्' है। 'यत्-जू' इन दोनों गति-स्थितिभावों की समष्टि ही 'यजू' है। यही यजूः' तत्व परोक्षभाषा में 'यजु' कहलाया है। यही तत्वात्मक नित्य अपौरुषेय 'यजुर्वेद' है, जो ऋक्सामरूप वयोनाध लक्षण छन्दोवेद से नित्य छन्दित रहता है+। मनःप्राणवाङ्मय इय परात्परपुरुषात्मा इस प्रकार ऋक्सामयजुरूप से वेदमूर्त्ति बन कर ही सृष्टिसर्ग का उपक्रम बना करता है। इन तीनों तत्वात्मक अपौरुषेय नित्य वेदों में से स्थितिगतिभावात्मक आकाशवायुरूप यजूर्लक्षण यजुर्वेद इय पुरुषात्मा के काममय मनस्तन्त्र से समतुलित है। विष्कम्भात्मक वयोनाधरूप ऋग्वेद आवरणात्मक वाक्तन्त्र से समतुलित है, परिणाहात्मक वयोनाधरूप सामवेद विक्षेपात्मक प्राणतन्त्र से समतुलित है। विष्कम्भ (व्यास-डायमिटर Diameter) लक्षण मूर्त्ति को छन्दोरूप ऋग्वेद माना गया है, परिणाहात्मक मण्डल को छन्दोरूप सामवेद माना गया है, एवं विष्कम्भ-परिणाहरूप दोनों ऋक्सामछन्दों से छन्दित आकाशात्मक स्थितितत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित वाय्वात्मक गतितत्त्व को यजुर्वेद माना गया है०। तदित्थं मनः-प्राण-वाग्-रूप ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्तिघन कामविक्षेप-आवरणभावत्रयोपेत्त क परात्परपुरुषात्मा क्रमशः यजुः-साम-ऋक्-वेदों से समतुलित हो रहा है। इसी आधार पर यजु को मन, ऋक् को वाक् साम को प्राण कहा गया है, जैसाकि निम्नलिखित कतिपय प्रमाणों से प्रमाणित है—

(१)—अथ यन्मन —यजुष्टत् (तै० उप० १।२४।१।)।

(२)—मनो यजुर्वेद (शत० ब्रा० १४।४।३।१२।)।

(३)—वागेवर्चश्च (प्राणश्च) सामानि च। मन एव यजूंषि (शत० ४।६।७।५।)।

यजुःसामऋङ्मूर्त्तिर्म्मनःप्राणवाङ्मयप्रजापतिपरिलेख—

१—ज्ञानशक्तिघन—मन —काममयम्——स्थितिगतिभावात्मकेन यजुषा समतुलितम्।

२—क्रियाशक्तिघन —प्राण—विक्षेपमयः——परिणाहात्मकेन साम्ना समतुलित।

३—अर्थशक्तिघना—वाक्—आवरणमयी—विष्कम्भात्मिकया ऋचा समतुलिता।

———

+ "तदुभे ऋक्सामे यजुरपीत" (शत १।१।१।५।)

० ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्, सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥
——तै० ब्रा० ३।१२।९।१

(१३२) सर्वमिदं वयुनम्—

तात्पर्य्य यही है कि, आत्ममन से समतुलित हृद-स्थितिगतिभावतत्त्व 'यजु' है, यजुर्मूर्त्ति मनोमय इस स्वयम्भू पुरुषात्मा के आत्मप्राण से समतुलित विष्कम्भभाव 'ऋक्' है, एवं आत्मवाक् से समतुलित मण्डलभाव, किंवा मण्डलात्मिका परिधि 'साम' है। स्वयं यजु 'वय' (वस्तुतत्त्व-सत्तासिद्ध तत्त्व) है, छन्दोमय ऋक्साम 'वयोनाध' (वस्तुतत्त्व को सीमित रखने वाला मायाबलमे समतुलित मातिसिद्ध तत्त्व) है। वय, तथा वयोनाध की समष्टिरूपा वेदत्रयी के लिए ही पारिभाषिक 'वयुन' शब्द विहित हुआ है, जिसके लिए 'सर्वमिदं वयुनम्' सिद्धान्त स्थापित है। इस प्रकार वय-वयोनाध भेद से परिणाह (मण्डल)-विष्कम्भ (मण्डलव्यास)-हृदय (केन्द्र) रूप से स्वायम्भुवी मनुसंस्था के मन-प्राणवाग्भावों के साथ यजु-साम-ऋक् नामक तीनों तत्त्वात्मक अपौरुषेय वेदों का समसमन्वय हो रहा है। तीनों में ऋक्साम से छन्दित स्थितिगतिरूप आकाशवाय्वात्मक यज्जूर्मूर्त्ति यजु ही मनोलक्षण मनु से समतुलित रहता हुआ प्रस्तुत मनुप्रकरण का मुख्य लक्ष्य माना जायगा, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्वरूप-विश्लेषण हुआ है—

* अय वाव यजु—योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेद सर्वं जनयति। एत यन्तमिदमनुप्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजु। अयमेवाकाशो 'जू', यदिदमन्तरिक्षम्। एत ह्याकाशमनुजवते (जवते तस्मात्-जूरेवाकाश)। तदेतत्-यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षञ्च,-यच्च जूश्च। तस्मात् 'यजु'। तदेतद्यजु-ऋक्-सामयोः प्रतिष्ठित, ऋक्सामे वहत।

——शतपथ ब्रा० १०।३।५। १, २,।

यजुर्मूर्त्ति पुरुषमन का 'जू' रूप स्थितिगतिमायात्मक आकाश ही स्वायम्भुवी वह 'सत्यावाक्' है, जिसे आर्षविज्ञानिकों ने 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' इत्यादि रूप से 'अनादिनिधना' नाम से व्यवहृत किया है। यही तत्त्वात्मिका वह नित्या वेदवाक् है, जिसके स्वरूपविश्लेषण-स्वरूपव्याख्यान के लिए ही शब्दात्मक अपौरुषेय वेदशास्त्र का आविर्भाव हुआ है —। 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' (शत० १०।१।३।२) इत्यादि वचनानुसार इस स्वायम्भुवी प्राजापत्या वेदवाक्

---

*-इस ब्राह्मण श्रुति का रहस्यार्थ पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। देखिए पृ सं० २५४।

— वेदशास्त्र में 'वेद' तत्त्व की वैज्ञानिक परिभाषा अपना एक विशेष महत्त्व रखती है। वैज्ञानिक तत्त्ववाद की परम्परा के विलुप्तप्राय हो जाने से वेद का तात्त्विक स्वरूप आज सर्वात्मना विस्मृत हो गया है। "वेदशास्त्र वेदतत्त्व के निरूपक ग्रन्थ हैं" *यह सिद्धान्त नितान्त रहस्यपूर्ण* है, जिसके स्वरूपविश्लेषण के लिए ही 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' नामक खण्डत्रयात्मक स्वतन्त्र ग्रन्थ उपनिबद्ध हुआ है। इन तीनों खण्डों में से ५०० पाँचसौ पृष्ठात्मक वेदशास्त्रस्वरूपमीमांसात्मक प्रथमखण्ड प्रकाशित हो गया है। शेष दोनों खण्ड प्रकाशन-सापेक्ष है। वेद के रहस्यपूर्ण तात्त्विक स्वरूप की विशेष जिज्ञासा रखने वाले पाठकों को खण्डत्रयी का ही अवलोकन करना चाहिए।

के 'अमृतावाक्-मर्त्यावाक्' (रसप्रधाना वाक्-बलप्रधाना वाक्) भेद से दो विवर्त हो जाते हैं, जो दोनों विवर्त क्रमश 'सरस्वतीवाक्-आम्भृणीवाक्-' नामों से प्रसिद्ध हैं। ये ही दोनों वाग्विवर्त्त क्रमशः शब्दसृष्टि-अर्थसृष्टि के उपक्रम बनते हैं। अमृता सरस्वतीवाक् — शब्दब्रह्म की अधिष्ठात्री बनती है, मर्त्या आम्भृणी-वाक् अर्थब्रह्म की मूलप्रतिष्ठा बनती है। दोनों वाग्धारा समतुलित हैं, सदैव आविर्भूत हैं। इसी आधार पर शब्दार्थ का औत्पत्तिक नित्य सम्बन्ध माना गया है, जैसा कि- 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध' इत्यादि पूर्वमीमांसा सूत्र से स्पष्ट है। इसी अभिन्नता के आधार पर सर्वमयी × इस वाग्देवी के शब्दार्थविवर्तों की अभिन्नता घोषित हुई है ●।

(१३३)—वाग्देवी के दो विवर्त्त—

रसप्रधाना, अतएव 'सरसवती' रूपेण 'सरस्वती' नाम से प्रसिद्धा अमृतावाक् ही 'अमृताकाश' है, यही अनादिनिधना अमृता नित्या स्वायम्भुवी वाक् है, जो सृष्टि का अधिष्ठान (आधार) बना करती है। बलप्रधाना आम्भृणी वाक् ही मर्त्यावाक् है, जिसे 'मर्त्याकाश' माना जायगा। यही मर्त्याकाश भूतभौतिक सृष्टि का आरम्भण (उपादान) बनता है, जिसका-'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूत, आकाशाद्वायु,' (तै उप २१) इत्यादि श्रुति में उल्लेख हुआ है। श्रुति का 'आत्मन' पद जहाँ अमृताकाशलक्षण सरस्वतीवाक् का संग्राहक है, वहाँ 'आकाश सम्भूत' वाला 'आकाश' शब्द मर्त्याकाश लक्षण आम्भृणीवाक् का संग्राहक बना हुआ है।। दूसरे शब्दों में जिसे श्रुति ने 'आत्मा' कहा है, वह अमृताकाशलक्षणा अमृतावाक् है, जिसका वास्तविक स्वरूपव्याख्यान है-'मन प्राणगर्भिता वाक्'। एवं आत्मा से जिस आकाश की उत्पत्ति बतलाई गई है, वह मर्त्याकाशलक्षणा मर्त्यावाक् है।

(१३४)—वाग्देवी, और वेदाग्नि—

'भूताग्नि-चित्याग्नि-वैश्वानराग्नि-यज्ञाग्नि-वेदाग्नि-चितेनिधेयाग्नि' इत्यादिरूप से अग्नितत्त्व के अनेक संस्थाविभाग माने गए हैं। इन सम्पूर्ण सर्वविध अग्निविवर्तों का मूलाधार 'वेदाग्नि' ही माना गया है। अमृताकाशात्मिका अमृतावाक् (यजुर्वाक्) के आधार पर प्रतिष्ठित 'मर्त्याकाशात्मिका मर्त्यावाक् (अथर्ववाक्) वह वेदाग्निविवर्त है, जिसे उपादान बना कर मनोमय यजुर्मूर्ति स्वयम्भू मनु भूतसर्गप्रवृत्ति

— सिद्धान्तमौपनिषद शुद्धान्त परमेष्ठिन ।
शोणाधरमह किञ्चिद्-वीणाधरमुपास्महे ॥

× वाच देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाच गन्धर्वा पशवो मनुष्या ।
वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता सा नो हव जुषतामिन्द्रपत्नी ।
—अथो वागेवेदं सर्वम् ।

● द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म पर च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति ॥

मे समर्थ बना करते है। मनुर्म्मयी यजुर्वाक् ही स्वयलक्षण मूलाग्नि का मौलिक इतिहास है। किंवा सृष्टिप्रक्रिया में संघर्षप्रक्रिया के द्वारा आत्मसमर्पण करने वाला भाव ही 'अग्नि' शब्द का तात्त्विक इतिहास है। अथवा तो सृष्टिकर्म में सर्वप्रथम अग्रगामी बनने वाला अग्रभाव ही वह 'अग्नि' तत्त्व है, जिस अग्निभाव को परोक्षप्रियदेवता (विद्वान्) अपनी परोक्षभाषा में 'अग्नि' नाम से व्यवहृत करते हैं — । यही अग्रमूर्त्ति वेदाग्नि 'वागग्नि' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके स्वरूपबोध के लिए आध्यात्मिक वागिन्द्रियों को उदाहरण माना जा सकता है। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐत० उप०२।४) के अनुसार अग्नि ही वागिन्द्रियरूप में परिणत होता है। शारीरिक वैश्वानराग्नि ही (जिसे कि-'कायाग्नि' भी कहा जाता है) मनःप्रेरणा से वायु के द्वारा आघातभावापन्न बन कर क-च-ट-त-पादिलक्षणा वागिन्द्रियानुप्राणिता वैखरीवाक्‌रूप में परिणत होती है, जैसा कि शिक्षा-सिद्धान्तों × में विस्तार से प्रतिपादित है। अध्यात्म में जैसे अग्नि वाक् का मूल है, अधिदैवत में 'वाक्' अग्नितत्त्व की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। वीचीतरङ्गन्यायेन वाक्‌समुद्र ही 'संयोगविभागशब्देभ्य शब्दोत्पत्तिः' (वै० सूत्र) इत्यादि काणादसिद्धान्तानुसार 'वायु स्वात-शब्दस्तत्' (प्रातिशाख्यसूत्र) के माध्यम से मर्त्या वैखरीवाक्‌रूपा शब्दसृष्टि का आरम्भण बना करता है। सर्वाग्रभूतार्थमूला यह अमृतिया नित्या वाक् ही मनोमयी मनुर्म्मयी यजुर्वाक् है, जिसका प्रथम सर्ग 'सुब्रह्म' नामक आपोमय अथर्वब्रह्म माना गया है, जिसका कि-'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत' (शत० ६।१।१।९।) इत्यादि श्रुति से उपवर्णन हुआ है।

(१३५)–अग्निजिह्व मनु—(१)

निष्कर्षतः मनोमयी अमृतभावापन्ना नित्यावाक् ही यजुर्म्मयी स्वायम्भुवी वाक् है। यही वागग्नि है, जिसे महिमामण्डलमुक्त अर्करूप मनु के सम्बन्ध से 'मनुवाक्' कहा जा सकता है। यजुर्वागग्नि की अपेक्षा से ही यजुर्म्मूर्त्ति मनोमय मनु को 'अग्नि' इस विशेष अभिधा से व्यवहृत किया जा सकता है। जिस प्रकार मुखविवर स्थिता जिह्वा अन्न के आदान के लिए सर्वप्रथम क्रियाशीला (अग्रगामिनी) बनती है, तथैव स्वायम्भुमनु का यह वागग्निभाग ही सृष्टिकर्म के लिए सर्वप्रथम प्रवृत्त होता है। इस स्वाग्रप्रवृत्ति के कारण ही संघर्षप्रक्रिया-नुगत इस अग्रशील मनुरग्नि को 'अग्नि' कहा जाता है। इस अग्नितत्त्वबन्धा मानव को ही 'अग्रजन्मा' कहा जाता है, जिसका अर्थ होता है प्रत्यक्षभाषा में 'अग्निजन्मा' (अग्निमुख)। जिह्वाग्रमनुलिप्त इस अग्रप्रवृत्ति

— स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत-तस्मादग्नि। अग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्।
—शतपथ ब्रा० ६।१।१।११।

× आत्मा-बुद्ध्या-समेत्यर्थान्-मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मन कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥१॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
प्रातःसवनयोग त छन्दो गायत्रमाश्रितम्॥२॥
—पाणिनीयशिक्षा ३,४,

के 'अमृतावाक्-मर्त्यावाक्' (रसप्रधाना वाक्-बलप्रधाना वाक्) भेद से दो विवर्त हो जाते हैं, जो दोनों विवर्त क्रमश: 'सरस्वतीवाक्-आम्भृणीवाक्-' नामों से प्रसिद्ध हैं। ये ही दोनों वाग्विवर्त्त क्रमश: शब्दसृष्टि-अर्थसृष्टि के उपक्रम बनते हैं। अमृता सरस्वतीवाक् - शब्दब्रह्म की अधिष्ठात्री बनती है, मर्त्या आम्भृणी-वाक् अर्थब्रह्म की मूलप्रतिष्ठा बनती है। दोनों वाग्धारा समतुलित हैं, सहैव आविर्भूत हैं। इसी आधार पर शब्दार्थ का औत्पत्तिक नित्य सम्बन्ध माना गया है, जैसा कि- 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' इत्यादि पूर्वमीमांसा सूत्र से स्पष्ट है। इसी अभिन्नता के आधार पर सर्वमयी × इस वाग्देवी के शब्दार्थविवर्तों की अभिन्नता घोषित हुई है ❁।

(१३३)—वाग्देवी के दो विवर्त्त—

रसप्रधाना, अतएव 'सरसवती' रूपेण 'सरस्वती' नाम से प्रसिद्धा अमृतावाक् ही 'अमृताकाश' है, यही अनादिनिधना अमृता नित्या स्वायम्भुवी वाक् है, जो सृष्टि का अधिष्ठान (आधार) बना करती है। बलप्रधाना आम्भृणी वाक् ही मर्त्यावाक् है, जिसे 'मर्त्याकाश' माना जायगा। यही मर्त्याकाश भूतभौतिक सृष्टि का आरम्भण (उपादान) बनता है, जिसका-'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः' (तै० उप० २१) इत्यादि श्रुति में उल्लेख हुआ है। श्रुति का 'आत्मन' पद जहाँ अमृताकाशलक्षण सरस्वतीवाक् का संग्राहक है, वहाँ 'आकाश सम्भूत' वाला 'आकाश' शब्द मर्त्याकाश लक्षण आम्भृणीवाक् का संग्राहक बना हुआ है। दूसरे शब्दों में जिसे श्रुति ने 'आत्मा' कहा है, वह अमृताकाशलक्षणा अमृतावाक् है, जिसका वास्तविक स्वरूपव्याख्यान है-'मनःप्राणगर्भिता वाक्'। एवं आत्मा से जिस आकाश की उत्पत्ति बतलाई गई है, वह मर्त्याकाशलक्षणा मर्त्यावाक् है।

(१३४)—वाग्देवी, और वेदाग्नि—

'भूताग्नि-चित्याग्नि-वैश्वानराग्नि-यज्ञाग्नि-वेदाग्नि-चितेनिधेयाग्नि' इत्यादिरूप से अग्नितत्त्व के अनेक संस्थाविभाग माने गए हैं। इन सम्पूर्ण सर्वविध अग्निविवर्तों का मूलाधार 'वेदाग्नि' ही माना गया है। अमृताकाशात्मिका अमृतावाक् (ऋग्वाक्) के आधार पर प्रतिष्ठित मर्त्याकाशात्मिका मर्त्यावाक् (अथर्ववाक्) यह वेदाग्निविवर्त है, जिसे उपादान बना कर मनोमय यज्ञमूर्त्ति स्वयम्भू मनु भूतसर्गप्रवृत्ति

— सिद्धान्तमौपनिषदं शुद्धान्तं परमेष्ठिनः ।
शोणाधरमहः किञ्चित्-वीणाधरमुपास्महे ॥

× वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ।
—अथो वागेवेदं सर्वम् ।

❁ द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

र्मात्मक सूर्यमाध्यम से) प्रजासर्ग के उपक्रम बनते हुए स्वयम्भू मनु ही प्रजासन्तानवितान के मूलकारण प्रमाणित होते हुए अपनी 'प्रजापति' अभिधा को अन्वर्थ बना रहे हैं। इसी आधार पर-'प्रजापतिर्वै मनुः । स हीदं सर्वममनुत' (शत० ६।६।१।१९) इत्यादि निगमवचन प्रतिष्ठित हैं। अग्निरहस्यप्रतिपादक चयन ब्राह्मण में इस मानवीय प्राजापत्यसृष्टिविज्ञान का विस्तार से निरूपण हुआ है, जिसे तज्जिज्ञासु पाठकों को वदविज्ञानभाष्य में ही देखना चाहिए। 'मनुमन्ये प्रजापतिम्' का तात्पर्य है 'याज्ञिका -यज्ञरहस्यविदो विद्वांसो वा मनु प्रजापतिशब्देन निरूपयन्ति'। यही इस मनु की 'प्रजापति' अभिधा का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

(१३७)-इन्द्रमूर्ति मनु (इन्द्रमेके)-(३)—

कितने एक वैज्ञानिक मनु को 'इन्द्र' नाम से व्यवहृत कर रहे हैं। संक्षेप से इस 'इन्द्र' अभिधा के भी तात्त्विक इतिहास को लक्ष्य बना लीजिए। अपने सहज इन्द्रभाव के कारण मनोमय मनु को 'इन्द्र' नाम से व्यवहृत करना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है, जिस अन्वर्थता के स्वरूपपरिचय के लिए 'इन्द्र' शब्द का इतिहास जान लेना आवश्यक होगा। आर्षसाहित्य (वेदसाहित्य) में इन्द्रतत्त्व अग्नि-वाय्वादि अन्यान्य तत्त्वों की अपेक्षा अपना स्थान विशेषरूप से ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ रख रहा है +। इन्द्रदेव की सर्वज्येष्ठता तथा सर्वश्रेष्ठता का प्रधान हेतु है इन्द्र का सहज 'बलभाव'। 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्', इत्यादि निघण्टु (निघण्टु-निरुक्त) सिद्धान्तानुसार (यास्कनिरुक्त दैवतकाण्ड ७।१०।२) —

(१३८) ओजसां पतिरिन्द्र —

बलात्मक यच्चावत् व्यापारों-कर्मों-के (क्रियामात्र के) सञ्चालक-प्रवर्त्तक-तत्त्व 'इन्द्र' ही माने गए हैं। सम्पूर्ण विश्व रसात्मक बलमूर्ति-मनोमय परात्परपुरुष की कामना से ही आविर्भूत है, यह अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। पुरुष का रसभाग स्थितिलक्षण है, अनन्त है, अविकम्पित है। बलभाग गतिलक्षण है, एजत् है, विकम्पित है, यह भी स्पष्ट किया जा चुका है। असङ्ग रसतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित (निरपेक्ष स्थितितत्त्वाधारेण प्रतिष्ठित) ससङ्ग बलतत्त्वों की चिति (सञ्चिति-चयन-ग्रन्थिबन्धनसम्बन्धात्मक ग्रन्त्यामसम्बन्ध) से ही विश्व का स्वरूपनिर्माण हुआ है, यह भी उक्तप्राय है। अतएव यह कहा और माना जा सकता है कि, सम्पूर्ण विश्व में प्राधान्य गतिभावापन्न बलतत्त्व का ही है। इस बलात्मिका गति का, किंवा गत्यात्मक बल का ही नाम 'इन्द्र' है, जिसका मायापुर में हृदयरूप से विकास माना गया है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो गत्यात्मक इन्द्र ही इस मायापुर के स्वरूपनिर्म्माणात्मक व्यक्तीभाव (अभिव्यक्ति) का कारण बनता है। इसी आधार पर "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋक्सं० ६।४७।१८) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्रत्येक वस्तु का मायाबल ही उस वस्तु की सीमा माना गया है। यह सीमाभाव ही रेखात्मक पुर है, जिसके केन्द्रमें पुरुष प्रतिष्ठित रहता है-'प्रजापतिश्चरति गर्भे' (यजुः सं ३१।१९)।

+ इन्द्रः खलु वै श्रेष्ठो देवतानाम् (तै० ब्रा० २।३।१।३)
'इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो, बलिष्ठः, सहिष्ठः, सत्तमः' पारयिष्णुतमः' (ऐत०ब्रा० ७।१६)

के आधार पर ही मनु के लिए 'अग्निजिह्वा मनवः' (ऋक्सं० १।८९।७) यह कहा गया है*। राजर्षि मनु के 'एतमेके वदन्त्यग्निम्' इस अग्निप्रधान वचन का यही तात्त्विक संक्षिप्त इतिहास है, जिसका तात्पर्य्यार्थ यही है कि —यजुर्भागरूप मौलिक उस वेदाग्नि (यागाग्नि) के सम्बन्ध से ही मनोमय आत्मतन्तु को 'अग्नि' नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है, जो यागाग्नि अपूर्व के द्वारा सम्पूर्ण भूतसर्ग का मूलाधार बना करता है।

(१३६)–प्रजापतिमूर्त्ति मनु (मनुमन्ये प्रजापतिम्) (२)—

यजुम्मूर्त्ति, किंवा त्रयीमूर्त्ति आत्ममनोमय इसी हृद्य मनु की कामना से यागाग्नि के द्वारा सर्वप्रथम जिस अपतत्त्व का प्रादुर्भाव होता है+, वही 'सृष्टिशुक्र' कहलाया है। इसी शुक्राहुति से प्रजासन्तानवितान हुआ करता है, जैसाकि—'यज्ञाद्वै प्रजा प्रजायन्ते' (शत० ४।४।२।८।)—"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः" (गीता ३।१०) इत्यादि श्रुति-स्मृतिवचनों से प्रमाणित है। भृग्वङ्गिरोलक्षण आपोमय × पत्नयज्ञरूप शुक्र की स्थितिगतिरूप द्विमात्रलक्षण यागाग्नि में आहुति होना ही 'अग्नौ सोमाहुति'लक्षण यज्ञ है। यही सर्वप्रथम दशाकल विराट्सृष्ट्युत्पत्ति का कारण बनता है। + इस प्रकार यज्ञ द्वारा विराण्माध्यम से (हिरण्य-

---

* पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभं यावानो विदथेषु जग्मयः ।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह ॥
—ऋक्सं० १।८९।७।

— 'अप एव ससर्जादौ' (मनुस्मृति १।८)।

×[१]—आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ।
—गोपथब्रा०

[२]—अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्—तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।

[३]—स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
—देखिए–ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड

+[१]—सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

[२]—द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ (मनु १।३२)।

[३]—अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश । (मनु १।३४)।

गर्भात्मक सूर्य्यमाध्यम से) प्रजासर्गं के उपक्रम करते हुए स्वयम्भू मनु ही प्रजासन्तानवितान के मूलकारण प्रमाणित होते हुए अपनी 'प्रजापति' अभिधा को अन्वर्थ बना रहे हैं। इसी आधार पर-'प्रजापतिर्वै मनुः। स हीदं सर्वममनुत' (शत० ६।६।१।१६) इत्यादि निगमवचन प्रतिष्ठित हैं। अग्निरहस्यप्रतिपादक चयन ब्राह्मण में इस मानवीय प्राजापत्यसृष्टिविज्ञान का विस्तार से निरूपण हुआ है, जिसे तज्जिज्ञासु पाठकों को तद्विज्ञानभाष्य में ही देखना चाहिए। 'मनुमन्ये प्रजापतिम्' का तात्पर्य्य है 'याज्ञिका-यज्ञरहस्यविदो विद्वांसो वा मनुं प्रजापतिशब्देन निरूपयन्ति'। यही इस मनु की 'प्रजापति' अभिधा का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

(१३७)-इन्द्रमूर्ति मनु (इन्द्रमेके)-(३)—

कितने एक वैज्ञानिक मनु को 'इन्द्र' नाम से व्यवहृत कर रहे हैं। संक्षेप से इस 'इन्द्र' अभिधा के भी तात्त्विक इतिहास को लक्ष्य बना लीजिए। अपने सहज बलभाव के कारण मनोमय मनु को 'इन्द्र' नाम से व्यवहृत करना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है, जिस अन्वर्थता के स्वरूपपरिचय के लिए 'इन्द्र' शब्द का इतिहास जान लेना आवश्यक होगा। आर्षसाहित्य (वेदसाहित्य) में इन्द्रतत्त्व अग्नि-वाय्वादि अन्यान्य तत्त्वों की अपेक्षा अपना स्थान विशेषरूप से ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ रख रहा है+। इन्द्रदेव की सर्वज्येष्ठता तथा सर्वश्रेष्ठता का प्रधान हेतु है इन्द्र का सहज 'बलभाव'। 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्', इत्यादि निर्मन्तु (निघण्टु-निरुक्त) सिद्धान्तानुसार (यास्कनिरुक्त दैवतकाण्ड ७।१०।२) —

(१३८) ओजसा पतिरिन्द्र —

बलात्मक यच्चायावत् व्यापारों-कर्म्मों-के (क्रियामात्र के) सञ्चालक-प्रवर्त्तक-तत्त्व 'इन्द्र' ही माने गए हैं। सम्पूर्ण विश्व रसात्मक बलमूर्त्ति-मनोमय परात्परपुरुष की कामना से ही आविर्भूत है, यह अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। पुरुष का रसभाग स्थितिलक्षण है, अनेजत् है, अविकम्पित है। बलभाग गतिलक्षण है, एजत् है, विकम्पित है, यह भी स्पष्ट किया जा चुका है। असङ्ग रसतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित (निरपेक्ष स्थितितत्त्वाधारेण प्रतिष्ठित) ससङ्ग बलतत्त्वों की चिति (सञ्चिति-चयन-ग्रन्थिबन्धनसम्बन्धात्मक ग्रन्थ्यामसम्बन्ध) से ही विश्व का स्वरूपनिर्माण हुआ है, यह भी उक्तप्राय है। अतएव यह कहा जा सकता है कि, सम्पूर्ण विश्व में प्राधान्य गतिभावापन्न 'बलतत्त्व' का ही है। इस बलात्मिका गति का, किंवा गत्यात्मक बल का ही नाम 'इन्द्र' है, जिसका मायापुर में हृदयरूप से विकास माना गया है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो गत्यात्मक इन्द्र ही इस मायापुर के स्वरूपनिर्म्माणात्मक व्यक्तीभाव (अभिव्यक्ति) का कारण बनता है। इसी आधार पर ''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋक्सं० ६।४७।१८।) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है। प्रत्येक वस्तु का बाह्याकार ही उस वस्तु की सीमा माना गया है। यह सीमाभाव ही रसात्मक पुर है, जिसके केन्द्रमें पुरुष प्रतिष्ठित रहता है-'प्रजापतिश्चरति गर्भे' (यजुः सं ३१।१६।)।

\+ इन्द्रः खलु वै श्रेष्ठो देवतानाम् (तै० ब्रा० २।३।१।३।)

'इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो, बलिष्ठ, सहिष्ठ, सत्तमः' पारयिष्णुतम ' (ऐत०ब्रा० ७।१६)

यह आकाररूपा सीमा ही मायापुर है, यही वस्तु का स्वरूपात्मक 'रूप' है, जिसका अधिष्ठाता इन्द्र ही माना गया है जैसा कि 'इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्'—'रूपं रूपं मघवा बोभवीति'—'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इत्यादि मन्त्रश्रुतियों से प्रमाणित है। रूपाधिष्ठाता गतिलक्षण इसी बलात्मक इन्द्र को लक्ष्य बना कर इन्द्रतत्त्ववेत्ता वैज्ञानिकोंने इन्द्र को 'बलपति' (तै० ब्रा० २।५।७।४।)—'वीर्यस्वाम्' (ताण्ड्यब्राह्मण ६।७।५।८)—'ओजसांपति' (तै० ब्रा० ३।११।४।२।) इत्यादि नामों से व्यवहृत किया है।

(१३९) इन्द्र के रुद्र, एवं शिव विवर्त्त—

पूर्वोपवर्णित बलात्मक (रसबलात्मक) पुरुष का गतिभावात्मक बलतत्त्व ही 'इन्द्र' है, यही वक्तव्य निष्कर्ष है। गतिलक्षण इस द्रुय इन्द्रतत्त्व का ही आगे चलकर—'इ–द–य–' रूप से त्रेधा विकास हुआ है। केन्द्र से परिधि की ओर उन्मुख रहने वाली गति 'परागगति' है, इसे ही लोकव्यवहार में 'गति' कहा गया है। परिधि की ओर उन्मुख रहने वाली गतिलक्षणा इस गति से हृदयस्थ 'यय' (वस्तुमात्रा) का विनिर्गमन होता रहता है। अतएव इस गतिलक्षणा गति को 'विसर्ग' नाम से भी व्यवहृत किया गया है जिसकी एक लोकाभिधा—'प्रदान' भी मानी गई है। वस्तुभाव का स्वरूप इस प्रदानात्मक विसर्ग से विस्रस्त होता रहता है, खण्डित होता रहता है, अतएव विसर्गात्मिका इस विस्रंसनरूपा गति को संकेतभाषा में 'द' कार अक्षर व्यवहृत किया जाता है। खण्डनार्थक 'दो' धातु ('दो' अवखण्डने) के दकार का ही 'हृदय' शब्द के मध्यस्थ 'दकार' से सम्बन्ध है। यही पहिला इन्द्रतत्त्व है, जो अपने विशुद्ध खण्डनभाव से अनुग्रहरूप-विस्रंसनद्वारा वस्तुस्वरूप का उच्छेदक बनता हुआ संहाराधिष्ठाता 'रुद्र' नाम से उपवर्णित हुआ है, एवं जो रुद्रतत्त्व अग्नीषोमात्मिक यज्ञ के सम्बन्ध से वस्तुस्वरूपसंरक्षक बनता हुआ 'शिव' नाम से प्रसिद्ध है*।

(१४०) विश्वम्भर विष्णु—

अब विसर्गरूपा उक्त गतिको सर्वथा परावर्त्तित कर दीजिए। परिधि से केन्द्रकी ओर उन्मुख रहने वाली गति 'अर्वाग्गति' कहलाई है, जिसे लोकव्यवहार में 'आगति' कहा गया है। हृदयकी ओर उन्मुख रहने वाली आगतिलक्षणा इस अर्वाग्गतिरूपा गति से ही परिधि से बहिःस्थित पदार्थमात्राओं (विषयमात्रा-भूतमात्राओं) का क्योंकि आगमन होता रहता है, अतएव आगतिरूपा इस गति को 'आदान' नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। इस आदानलक्षण आहरणधर्म्म से (आगतिरूपा गति से) ही वस्तु की स्वरूपरक्षा सम्भव बनी रहती है। गतिरूपा गति से विस्रस्त मात्राओंको क्षतिपूर्ति इस आगति-रूपा गति से ही होती रहती है। स्ववस्तुस्वरूपसंरक्षण के लिए अन्य वस्तुमात्राओं का आहरण–अपहरण

---

* वैदिक मूलदेवतावाद जहाँ 'ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि सोम' इन पाँच भागों में विभक्त है, वहाँ पौराणिक देवतावाद 'ब्रह्मा–विष्णु–शिव इन तीन भागों में विभक्त है। वेद ने इन्द्र–अग्नि–सोम–तीनों का पृथक्रूप से स्वरूपविश्लेषण किया है। पुराणमें तीनों की समष्टिरूप 'शिव' को लक्ष्य बनाते हुए त्रिदेवतावाद ही संग्राह्य मान लिया है। दोनों दृष्टियों में केवल निरूपणीया शैली में भेद है। तत्त्वतः दोनों ही पक्ष निर्वि-रोध सुसमन्वित हैं।

करना ही इस गतिका मुख्य काम है। अतएव संकेतभाषा में इसे हरणायक 'हृञ्' धातुके सम्बन्धसे 'हृ' अक्षर से सम्बोधित किया गया है। यही आगत्यात्मक गतितत्त्व 'विष्णु' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका आदानद्वारा वस्तुपालन, किंवा विश्वपालन ही मुख्य धर्म्म माना गया है। दूसरे शब्दोंमें अपनी स्वाभाविक आहरणशक्ति से नाशवस्तुमात्रा के आदानद्वारा वस्तुका स्वरूपसंरक्षण क्योंकि इसी विष्णुतत्त्वका स्वरूपधर्म है। अतएव यह विष्णुतत्त्व पुराणों में 'पालक' रूपेण उपस्तुतोपवर्णित है।

(१८१) विजित इन्द्र और विजेता विष्णु—

केन्द्रप्रतियोगिनी परिधि–अनुयोगिनी गतिलक्षणा (पराग्गतिलक्षणा–विसर्गरूपा–प्रदानभावात्मिका) 'ऐन्द्रगति' का, एवं परिधिप्रतियोगिनी केन्द्रानुयोगिनी आगतिलक्षणा (अर्वाग्गतिलक्षणा–आदानभावात्मिका) 'वैष्णवगति' का, दोनोंका 'अहितो संयोग–अयुता सयोग' रूपसे प्रतिरूपभावात्मक सघर्ष अनवरत प्रक्रान्त रहता है। मानव की बाल्यावस्था में विष्णुगति (आगति) प्रधान रहती है, इन्द्रगति गौण रहती है। अतएव आदान होता है अधिक मात्रामें, विसर्ग होता है न्यून मात्रामें। अतएव यह प्रथमावस्था क्रमशः पुष्टिभाव-प्रवर्त्तिका बनती जाती है। वृद्धावस्थामें स्थिति का सर्वथा विपर्य्यय हो जाता है। गतिरूपा इन्द्रगति इस अवस्था में प्रधान हो जाती है विष्णुगति गौण बन जाती है। अतएव विसर्ग होता है अधिक मात्रा में, एवं आदान होता है न्यूनमात्रा में। अतएव यह उत्तरावस्था क्रमशः ह्रासभावप्रवर्त्तिका बनती जाती है। इस प्रकार पूर्व–उत्तर अवस्थारूप बाल–वृद्धावस्थाओंमें क्रमशः इन्द्र–विष्णु–दोनों एक दूसरे से पराभूत होते रहते हैं, एवं विजेता बनते रहते हैं। बाल्यावस्थामें विष्णु विजेता हैं, इन्द्र पराजित हैं। वृद्धावस्था में इन्द्र विजेता हैं, विष्णु पराजित हैं, जिसका अवस्थापर्वानुपात से १ से ३३,६७ से ९९, ये विभाग माने जा सकते हैं। ३४ से ६६ पर्य्यन्त (यदि युक्ताहारविहारपरायण मानव स्वस्थ–शतायु है, तो) व्याप्त मध्यावस्था में इन्द्राविष्णू दोनों समतुलित रहते हैं। आदान, विसर्ग, दोनों समानभावापन्न बने रहते हैं। इसी आदानविसर्गसमतुलनरूप मध्यावस्था को लक्ष्य बनाकर श्रुति ने कहा है—

> उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे, न पराजिग्ये कतरश्च नैनो ।
> इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥
>
> —ऋक्स० ६।६९।८।

"विश्व की अन्यान्य यच्चयावत् शक्तियाँ आदानविसर्गरूपा विष्णु–इन्द्र–रूपा इन दोनों महाशक्तियों से यद्यपि प्रतिद्वन्द्विता में प्रवृत्त रहती हैं। तथापि वे सम्पूर्णशक्तियाँ इन दोनों की प्रतिस्पर्द्धा में अन्ततोगत्वा पराजित हो जाती हैं। ये दोनों किसी भी अन्य शक्ति से पराजित नहीं होते।। यही नहीं, अपितु (पूर्वोक्त मध्यमावस्था में ३४ से ६६ के मध्य में) इन दोनों में से भी कोई एक दूसरे से पराजित नहीं होते। इस प्रकार परस्पर समानस्पर्द्धा रखने वाले इन्द्र और विष्णु अपनी इस स्पर्द्धा से जब 'अप्' तत्त्व (पारमेष्ठ्य यज्ञियसोममय शुक्र) को लक्ष्य बनाते हैं, दूसरे शब्दों में अपूतत्त्व पर जब इस संघर्ष का आक्रमण होता है, तो वेद–लोक–वाक्–नाम की तीन साहस्रियों का प्रादुर्भाव होता है, (इस साहस्रीत्रयी का विशद वैज्ञानिक विवेचन अन्यत्र द्रष्टव्य है)।"

(१४२)–सत्यस्य प्रतिष्ठा—

विरुद्धदिग्द्वयगति, किंवा विरुद्धसर्वदिग्गति (पराग्गतिरूपा गति, एवं अर्वाग्गतिरूपा आगति), दोनों के एकत्र समन्वय से जिस एक विलक्षण उभयात्मक गतिसमष्ट्यात्मक गतिभाव का उदय होता है यही गतिसमष्टि विज्ञानभाषा में 'स्थिति' नाम से व्यवहृत हुई है। पूर्व में हमनें अमृताकाशरूप अमृताकाश के आधार पर मर्त्याकाशरूप मर्त्याकाश (भूताकाश) का आविर्भाव बतलाया है। रसनिबन्धना शुद्धा निरपेक्षा 'स्थिति' ही 'अमृताकाश' है। एवं बलनिबन्धना सापेक्षा गतिसमष्टिरूपा वस्तुतः गतिलक्षणा स्थिति ही 'मर्त्याकाश' है। इन दोनों निरपेक्ष–सापेक्ष स्थितिभावों का विवेक करते हुए ही स्थिति–गतिभावों का समन्वय करना चाहिए। बलानुगता सापेक्षस्थिति वह स्थिति है, जिसका स्वरूप अनेक, न्यूनतम दो विरुद्धगतियों के एकत्र समन्वय से सम्पन्न हुआ करता है। रसभाव से सम्बन्ध रखने वाली स्थिति (अमृताकाशलक्षणा स्थिति) इस सापेक्ष स्थिति से सर्वथा पृथक् वस्तुतत्त्व है। रसात्मिका स्थिति जहाँ वास्तविक स्थिति है, निरपेक्षा स्थिति है, वहाँ बलात्मिका स्थिति गतिस्तम्भनमात्र है, सापेक्षस्थितिमात्र है, गतिसमुच्चयलक्षणा स्थितिमात्र है। गति-समष्टिलक्षणा इस सापेक्षस्थिति के आधार पर ही आदान–विसर्गलक्षण इन्द्र–विष्णुगतियों का सघर्ष नियमित मर्य्यादित बना रहता है। यह सापेक्षस्थिति ही दोनों गतियों की 'प्रतिष्ठा' बनती है। दोनों विरुद्धगतियों के नियमन करने के कारण ही इस सापेक्षस्थितिलक्षणा गति को संकेतभाषा में 'यम्' नाम से व्यवहृत किया जाता है। यही तीसरा 'प्रतिष्ठाब्रह्म'–है, जिसे–'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।५।) इत्यादिरूप से 'ब्रह्मा' कहा गया है।

(१४३)–हृदि अयं हृ–द–यम्—

इस प्रकार गतिलक्षण इन्द्र, आगतिलक्षण विष्णु, नियमनलक्षण ब्रह्मा, तीनों अवस्थाभेदों से अनु प्राणित गति–आगति–स्थिति–इन तीन भावों का उदय एक ही गतितत्त्व के 'पराग्गति–अर्वाग्गति–गति समष्टि' इस रूप से हो रहा है। तीनों तत्त्व क्रमशः इन्द्र–विष्णु–ब्रह्मा हैं। तीनों की समष्टि ही अक्षरमूर्ति ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूपा एकमूर्ति है, जिसका—'एका मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म–विष्णु–महेश्वराः' इत्यादिरूप से यशोवर्णन हुआ है। अपने आहरणात्मक 'हृ' धर्म्म से आगतिरूप विष्णु 'हृ' है। अपने खण्डनात्मक 'द' धर्म्म से गतिरूप इन्द्र 'द' है। एवं अपने नियमनात्मक 'यम्' धर्म्म से समन्वयात्मक स्थितिरूप ब्रह्मा 'यम्' है। तीनों की समुच्चितावस्था ही 'हृदयम्' है, यही वह अन्तर्य्यामी अक्षरमूर्त्ति प्रजापति है जिसे 'हृदि अयं हृदयम्' रूप से हृदय में प्रतिष्ठित माना गया है। 'हृदय में हृदय प्रतिष्ठित है' इसका तात्पर्य यही है कि केन्द्र में 'हृ-द–यम्' रूपा शक्तित्रयी प्रतिष्ठित है।

(१४४)–मनु का इन्द्रत्व—

हृदयस्थ इय मन गतिलक्षण इन्द्र की 'हृ–द–यम्' रूप तीनों शक्तियों से अभिन्न है। अतएव हृदयस्थ मन को अवश्य ही ऐन्द्र कहा जा सकता है। जिस प्रकार मन हृदय में (केन्द्र में) प्रतिष्ठित है एवमेव शक्तित्रयलक्षण गतित्रयात्मक इन्द्र भी हृ–द–यम्–रूप से इसी हृदय में प्रतिष्ठित है। इसी अभिन्नता के कारण मन को इन्द्र, तथा इन्द्र को मन कहना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है, जैसाकि—'हृदयमेवेन्द्रः' (शत० १२।९।१।१५।)–'यन्मनः–स इन्द्रः' (गो० ब्रा० उ० ४।११।)–'मन एवेन्द्रः' (शत०

१२।७।१।११।)—इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। मन की मननशक्ति ही तो मनु है। जबकि मनस्तत्त्व 'इ-द-यम्' मूर्ति इन्द्रतत्त्व से अभिन्न है, तो मनोरूप मनु को भी इन्द्रतत्त्व से अभिन्न ही माना जायगा। इसी दृष्टिकोण के माध्यम से हम मनुस्तत्त्व को 'इन्द्र' अभिधा से भी व्यवहृत कर सकते हैं।

(१४५)—'शुन' इन्द्र की व्यापकता—

दूसरी दृष्टि से—'इन्द्रमेके' का समन्वय कीजिए। पूर्व में यह स्पष्ट किया गया है कि, मनोमहिमालक्षण मनुस्तत्त्व यजुमूर्तिभाव से वागग्निमाध्यम से 'अग्निविद्' बनता हुआ 'अग्नि' नाम से भी व्यवहृत हो रहा है। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि, यजुः का जूभाग आकाशात्मिका 'वाक्' है, यत्भाग वाय्वात्मक 'प्राण' है। वाङ्मय यह आकाशतत्त्व रस-बलानुबन्ध से अमृत-मर्त्य-भेदेन दो भागों में विभक्त है। इन दोनों वागाकाशों में अमृताकाश (रसानुगता 'सरस्वती' नाम की अनृतावाक्) ही 'इन्द्र' है, एवं मर्त्याकाश (बलानुगता 'आम्भृणी' नाम की मर्त्यावाक्) ही 'इन्द्रपत्नी' है। अमृताकाशलक्षण अमृतवाङ्मूर्ति इन्द्र ही पारिभाषिक 'शुन' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है। इस 'शुन' रूप वागिन्द्र की परिपूर्णता से ही आकाश 'शुने-इन्द्राय-हितम्' निर्वचनानुसार 'शून्य' कहलाया है, जिस शून्य शब्द का तत्त्वार्थ है शुननामक इन्द्र तत्त्व से परिपूर्ण प्रदेश। 'शून्य' शब्द का रिक्तार्थ (खाली स्थान) करना तत्त्वविरुद्ध ही माना जायगा। विज्ञानजगत् में रिक्तता का अभाव है। 'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन' (ऋक्सं० ९।६९।६) इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्ट है कि ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ 'इन्द्र' तत्त्व व्याप्त न हो। यह इन्द्र तत्त्व वही 'शुन' नामक इन्द्रतत्त्व है, जो अपनी गति तथा श्वोवसीयस् नामक इस अन्वयमन की उत्तरोत्तरानुप्राणिता वृद्धि से समन्वित रहने के कारण ही 'शुन' नाम से व्यवहृत हुआ है। सर्वव्यापक (विश्वव्यापक) आकाशात्मा वाक्तत्त्वाङ्मय वही यह 'शुन' इन्द्र है, जिस का—'शुनं' हुवेम मघवानमिन्द्रम्' (ऋक्सं ३।३०।२२) इत्यादि रूप से यशोगान हुआ है।

(१४६)—इन्द्र और सुन्दर—

'शुन' इन्द्र वह महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसकी स्वरूपसत्ता से विश्व, तथा विश्वप्रजा की जीवनसत्ता सुरक्षित है। विश्वजीवनसंरक्षक शुन इन्द्र जहाँ जीवनसत्ता सुरक्षित रखता है, वहाँ शुन इन्द्र से अभिन्न मर्त्याकाशमयी 'इन्द्राणी' नाम की इन्द्रपत्नी जीवन में ओज-साहस-बलपूर्ण स्फूर्ति प्रदान किया करती है, जिसके अनुग्रह से प्राणी कर्मकौशल का संघर्षपूर्वक अनुगमन करने में समर्थ बना करता है। इस जीवनसत्त्व-संरक्षण से ही इन्द्र को 'आत्मा' मान लिया जाता है (देखिए शत० २।३।१।७।)। वर्त्तमान जड़विज्ञान (भूतविज्ञान) ने ईथर Ether तथा एनर्जी Enejjy नामक दो तत्त्वों का जीवनसत्ता से सम्बन्ध माना है। सम्भव है ये दोनों तत्त्व भारतीय वैदिकविज्ञान के इन्द्र, तथा इन्द्राणी के ही विकृत रूप हों। यह भी बहुत सम्भव है कि, निरुक्तक्रमानुसार भाषानुगत अपभ्रंशव्यवधानक्रम से जैसे 'सुन्दर' शब्द 'सुद्दर'-'सुत्थर'-बनता हुआ 'सुथरा' (साफ-सुथरा) रूप में परिणत हो गया है, तथैव इन्द्रशब्द भी 'इन्दर'-'इद्दर'-'इत्थर' रूपों के द्वारा कालान्तर में 'ईथर' रूपमें परिणत हो गया हो। एवमेव यह भी सम्भव है कि, इसी प्राकृतिक निर्वचनशैली के द्वारा ही 'इन्द्राणि' शब्द ही 'एनर्जी' रूपमें परिणत हो गया हो। यद्वा तद्वास्तु। प्रासङ्गिक वक्तव्य यही है कि, यजु का वाग्भाग ही 'शुन' नामक इन्द्र है। इसी आधार पर निम्नलिखित औपचारिक वचन प्रतिष्ठित है—

(१)—'अथ य इन्द्रः—सा वाक्' (जै० उप० १।३३।२।)।
(२)—'स यस्स आकाश —इन्द्र एव स '(जै० उप० १।२।७।)।
(३)—'तस्मादाहु —इन्द्रो वागिति' (शत० ११।१।६।१८।)।

(१४७)—केन्द्रस्थ, मनु और इन्द्र—

वागाकाश ही इन्द्र है। यही मनु है। तदभिन्नतत्त्व ही मनु है, तदभिन्नतत्त्व ही मन है। इस प्रकार मन—मनु—हृदय—वाक्—आदि तत्त्वों के समसमन्वय से भी मनु को 'इन्द्र' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है। मनःप्राणवाङ्मय परात्परपुरुषात्मा के साथ जैसा समसमन्वय इन्द्रतत्त्व के साथ हो रहा है, वैसा अन्य अक्षर के साथ नहीं है। इस का एकमात्र कारण है इन्द्र का मध्यतः ऐन्धन। केन्द्रानुगत विकासभाव ही, इन्द्र का इन्द्रत्व है। यही कारण कि, 'स वा एष आत्मा वाङ्मय प्राणमयो मनोमय' इस आत्मलक्षण से समतुलित इन्द्र के लिए भी 'इन्द्रो मे आत्मा' यह कह दिया जाता है। अतएव च—'हृदयमेवेन्द्र' (शत० १२।६।१।१५।)—'यन्मन—स इन्द्र,' (गो० उ० ४।११)—'प्राण एवेन्द्र' (शत० १२।६।१।१४।)—'वागिन्द्र' (शत० ८।७।२।६।)—इत्यादिरूप से आत्मवत् इन्द्र को भी मनःप्राणवाङ्मय मान लिया गया है। केन्द्रस्थ मन ही मनु है। इस केन्द्रस्थ मनोरूप मनु का विकास जिस विश्व के केन्द्र में होता है, वह स्वयम्भू और इन्द्र प्रजापति हो हैं। इस विश्वकेन्द्रानुगत मनुस्थिति के सम्बन्ध से सौर इन्द्र मनु से सर्वात्मना समतुलित हैं। इन्हीं सब रहस्यों को लक्ष्य बनाकर विद्वानों ने मनोमय हृदय मनु को 'इन्द्रमेके' रूप से 'इन्द्र' नाम से घोषित किया है।

(१४८)—प्राणमूर्त्तिमनु (परं प्राणम्)—(४)—

अपने मायात्मक सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्राणरूप से मनु को अवश्य ही 'प्राण'-अभिधा से भी सम्बोधित किया जा सकता है, जिस के सम्बन्ध में भी चिरन्तन इतिहास का परिज्ञान प्राप्त कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। जब कुछ न था, तो क्या था ?, इस सृष्टिमूलविषयक प्रश्न का समाधान करते हुए वैज्ञानिकों ने कहा—'जब यह सब कुछ विश्व—भूत—भौतिक प्रपञ्च न था, तो उस समय केवल 'असत्' तत्त्व ही था।' 'कथमसतः सज्जायेत' असत् से सद्रूप विश्व का प्रादुर्भाव कैसे सम्भव है ?, इस विप्रतिपत्ति ने उस असत् का 'सद्' रूप की मान्यता प्रदान की, एवं इसी आधार पर उस 'असत्' की व्याख्या हुई—'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्'। वह असत् वास्तव में 'सत्' ही था। जैसा नामरूपात्मक सद्भाव विश्वस्वरूप में आज हमें उपलब्ध है, वह वैसा 'सत्' न था, इसलिए तो वह 'असत्' था। वास्तव में था वह सत्प्राणरूप, अतएव वह 'असत्' सत् ही था। जिसे लोक में हम असत् (अभावात्मक) कहते हैं एवं सत् (नामरूपात्मक) कहते हैं, वह विश्वमूलतत्त्व इन लौकिक सदसद्भावों से सर्वथा विलक्षण था। अतएव वह लोकदृष्ट्या न सत् था, न असत् था। इसी आधार पर—'नासदासीत्—नो सदासीत् तदानीम्' (ऋक्संहिता) सिद्धान्त स्थापित हुआ। अनुपाख्यदृष्ट्या वह 'असत्' था, तत्त्वदृष्ट्या वह सत् था लोकानुबन्धी सदसद्—दृष्ट्या वह न सत् था, न असत् था, इस प्रकार अनेक दृष्टियों से तत्त्ववेत्ताओं ने उस विश्वमूलभूत 'असत्' तत्त्व की स्वरूपमीमांसा की, जिसका तात्त्विक समन्वय हुआ भगवान् याज्ञवल्क्य के नि

(१४९)–ऋषिप्राण की मूलोपनिषत्—

यह विश्वमूल 'असत्' तत्त्व 'ऋषि' नामक तत्त्व–विशेष ही था। वह 'ऋषि' क्या था? (ऋषितत्त्व का क्या स्वरूप था?) प्रश्न का उत्तर प्राप्त हुआ–'प्राण' ही ऋषि था। 'प्राण' का नाम 'ऋषि' क्यों हुआ?, प्रश्न का समाधान प्राप्त हुआ–'उन प्राणों ने अपने तपोयुक्त श्रम से इस विश्वनिर्माण की कामना से अपने आप को गतिशील बनाया। इस 'अरिषत्' लक्षण गतिभाव के सम्बन्ध से ही वह असत्प्राण 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध हुआ *। रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द से अतीत, अतएव अघामच्छद–असङ्ग–मौलिक तत्त्व ही वह 'ऋषि' प्राण है, जिसे नैसर्गिक गतिभाव के कारण 'ऋषि' नाम से व्यवहृत किया है। 'चरैवेति–चरैवेति' ही इस ऋषिप्राण की मूलोपनिषत् है। यह ऋषिप्राण अपने चलनिबन्धन विभूतिभावों से 'एकर्षि, द्व्यर्षि, त्र्यर्षि, सप्तर्षि, दशर्षि, आदि आदि भेदों से अनेक जात्युपजातियों में विभक्त है। जिस इन सब अनन्तप्राणों का स्वरूपपरिचय संक्षेप से प्राणोपनिषद्विज्ञानभाष्य (प्रश्नोपनिषत्विज्ञानभाष्य) से गतार्थ है। 'को हि प्राणानामानन्त्यं वेद' इत्यादि रूप से प्राणर्षि के स्वरूपव्याख्याता मानवमहर्षि ने बड़े ही गौरव से प्राणमहिमा के अनन्त विस्तार का यशोगान किया है +। मनोमय द्वारा यजुर्वेद का 'जू' नामक आकाश में प्रतिष्ठित 'यत्' नामक प्राणवायु ही वह मूल ऋषिप्राण है, जिसके आधार पर सम्पूर्ण कर्मप्रवृत्ति हुई है। 'जू' वाक् है, 'यत्' प्राण है। इस यत् जू रूप यजु से (वाक्प्राण से) समन्वित हुय मन ही आत्मा है, यही सृष्टिसाक्षी मन प्राणवाङ्मय आत्मा का स्वरूपपरिचय है।

(१५०)–सृष्टि–गति–क्रिया, और प्राणतत्त्व—

यजुः के जू रूप वाग्भाग से मनोमय मनुप्रजापति वाङ्मय है, यजु के 'यत्' रूप प्राणभाग से मनु प्राणमय है, एवं अपने प्रातिस्विक हृत्यस्थ उक्थरूप मनु के सम्बन्ध से मनु मनोमय है। मनोमयरूप से मनुप्रजापति सृष्टि की कामना करते हैं, प्राणमयरूप से मनु सृष्टिनिर्माणसहयोगी तप (आभ्यन्तरव्यापार–कृति–यत्न–चेष्टा) का अनुगमन करते हैं, एवं वाङ्मयरूप से मनु सृष्टि के उपादानसहयोगी श्रम (उपादान भाव–बाह्यव्यापार–कर्म) का अनुष्ठान करते हैं। वाक्–प्राण–मन, इन तीनों सर्गनिमित्तों में मध्यस्थ प्राण ही सृष्टि का प्रवर्त्तक माना गया है। क्योंकि सृष्टि व्यापारसापेक्षा है व्यापार क्रिया है, क्रिया गति है, गति ही प्राण है। वाक्तत्त्व अर्थरूपत्वेन निष्क्रिय है, मन ज्ञानरूपत्वेन निष्क्रिय है। सक्रिय है मध्यस्थ एकमात्र

---

* असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहु–किं तदसदासीदिति ? । ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहु–के ते ऋषय इति। प्राणा वा ऋषयः। ते यत् पुरा अस्मात् सर्वस्मात् इदमिच्छन्तः, श्रमेण तपसा अरिषन्। तस्माद्–ऋषयः।

—शत० ६।१।१।१।

+ विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवः, ते अग्नेः परिजज्ञिरे॥
—ऋक्सं० १०।६२।५।

क्रियालक्षण गतिस्वरूप प्राणतत्त्व। अतएव सृष्टिकर्तृत्व का प्रधान उत्तरदायित्व मध्यस्थ गतिशील प्राण से ही सम्बद्ध माना गया है।

(१५१)—सृष्टिमूलाधार आधिदैविक सप्तर्षिप्राण—

सृष्टि का मूलभूत मौलिकतत्त्व 'ऋषि' नामक वह मौलिक प्राण है, जिसके बलानुगत सम्बन्धतारतम्य से आगे जाकर पितर–असुर–गन्धर्व–देव–आदि अनेक यौगिक विभेद हो जाते हैं ✱। उन सब असंख्य-अनन्त यौगिक पितर-असुरादि प्राणों के मूलभूत मौलिक ऋषिप्राण की स्वयं की भी अनेक जाति-उपजातियाँ व्यवस्थित हुई हैं। उन अनेकधा विभक्त ऋषिप्राण–जात्युपजातियों में से मनोमय मनु की सृष्टिधारा के साथ प्रधान सम्बन्ध रखने वाली प्राणजाति 'सप्तर्षि' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसका अध्यात्मसंस्था में चतुर्धा विभक्त 'गुहाप्राण' रूप से अनुमान किया जा सकता है। कर्णच्छिद्रमुक्त दो कर्णप्राण, चक्षुर्गोलकमुक्त दो चक्षुःप्राण, नासाविवरमुक्त दो नासाप्राण, मुखविवरमुक्त एक मुखप्राण, इस प्रकार शिरोगन्तरालिक सहस्रकमलदल-समन्विता मस्तकरूपा शिरोगुहा में 'सप्तर्षि' नामक ऋषिप्राण प्रतिष्ठित है, यही आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण मण्डल है। मस्तक एक वैसा चमस (कटोरा) है, जिसका बुध्न (पैंदा) तो ऊपर है, एवं बिल (कटोरे का मध्यस्थ विपुलोदर भाग–जिसमें कि वस्तु भरी रहती है) अर्वाक् है। शिरः–कपाल इस कटोरे का पैंदा है, वह उर्ध्वभाग में अवस्थित है। कपालरूप पैंदे का बिलरूप पोलभाग कपाल के अधः अवस्थित है। मस्तक क्या है, मानो औंधा कटोरा है। इसी अर्वाग्बिल–ऊर्ध्वबुध्नरूप चमस में 'सहस्रदल' कमलरूप मस्तिष्क-लक्षण (भेजालक्षण) पुरोडाशद्रव्य परिपूर्ण है। यह पुरोडाश ही तो सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था का 'श्रीः' रूप वह यशोरस है, जिस ज्ञानमय रसकोश से सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था का सञ्चालन होता रहता है। सप्तपुरुष-पुरुषात्मक इस यशोरूप 'श्रीः' रस से ही मस्तक भाग 'श्रीः' कहलाया है, यही 'शिरः' शब्द का मौलिक निर्वचन है। इस श्री रूप यशोरस के आश्रित होने से ही भूतात्मक काय 'शरीर' कहलाया है। निम्नलिखित वचन इसी 'श्री' रस का यशोकीर्तन कर रहा है—

> अथ या एतेषां पुरुषाणां श्रीः, यो रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदोहन्। तदस्य शिरोऽभवत्। यत्–श्रियं समुदोहत्–तस्मात्–शिरः। तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अश्रयन्त। तस्माद्वा–एतत्–शिरः। अथ यत् प्राणा अश्रयन्त, तस्मादु प्राणाः श्रियः। अथ यत् सर्वस्मिन्–अश्रयन्त, तस्मादु शरीरम्।
>
> —शत० ब्रा० ६।१।१।४।

(१५२)—आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण—

उक्त नैगमिक सिद्धान्त के आधार पर ही आगमशास्त्र में पशुमस्तक 'श्रीः' नाम से व्यवहृत हुआ है। चराचरप्राणियों के सम्पूर्ण व्यवहारों का सञ्चालन इसी ज्ञानात्मक रसरूप 'श्रीः' भाग से हो रहा है। और

✱— ऋषिभ्य पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः।
देवेभ्यस्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥
—मनु ३।२ १

ही (ज्ञानीय प्रेरणा ही) कामना के द्वारा प्रत्येक कर्म का आरम्भबिन्दु बना करता है। इसी प्राकृतिक स्थिति के आधार पर अपनी प्रत्येक जीवनधारा, प्रत्येक कर्म में शाश्वत–सनातन–प्राकृतिक भावों का ही अनुगमन करने वाली आस्थाश्रद्धापरायणा आस्तिक भारतीय आर्षप्रजा का प्रत्येक कार्य्य 'श्री' संस्मरणपूर्वक ही उपक्रान्त बनता है। अतएव इसकी पत्रादिलेखनरूपा लिपियाँ भी 'श्री' से ही उपक्रान्त बनतीं हैं। यशोरूप 'श्री' रस की उपासना करने वाली आर्षप्रजा जिस प्रकार शून्यमस्तक को अमर्य्यादित भीमाधानुबन्ध से अशुभ मानती है, तथैव लेखनकर्म को भी 'श्री' के बिना अमाङ्गलिक ही मानती है, जो वर्त्तमान राष्ट्रीयप्रजा का एकमात्र मङ्गलविधान बना हुआ है *।

'श्री' नामक यशोरस से परिपूर्ण (ज्ञानशक्ति से परिपूर्ण) अर्वाग्बिल, तथा ऊर्ध्वबुध्न ऐसे शिरश्चक्र के तट पर तथाकथित सात *ऋषिप्राण प्रतिष्ठित हैं। सातों में ६ ऋषिप्राण सयुक् (जोड़से)*, सातवाँ एकाकी है। दो कर्णप्राण, दो चक्षु:प्राण, दो नासाप्राण, इस प्रकार ६ प्राण सयुक् हैं। सातवाँ मुखप्राण एकाकी है। इसी आध्यात्मिक महर्षिप्राण का स्वरूप–विश्लेषण करते हुए ऋषितत्त्ववेत्ता ऋषि कहते हैं —

(१)–साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजाः।
वेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपश ॥
—ऋक् स० १।१६४।१५।

(२)–अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥
—शत० १४।५।२।५।

(१५३) शिरोवेष्टन की आर्षता, एवं 'श्रीः' स्वरूपसंरक्षण—

आध्यात्मिक शिरामण्डल में आध्यात्मिक यशोरूप जैसी अमूल्य निधि प्रतिष्ठित है। यह शाश्वत दिव्यविभूति है, जिसे सदा परावृ–सुगुप्त ही रखनी चाहिए। यही इसका महामाङ्गलिक स्वस्त्ययनभाव है। इसी परावृसुगुप्ति का वैदानिक प्रतीक शिरोवेष्टन (उष्णीष–पगड़ी–साफा–टोपी–आदि) माना गया है। शिरोभाग से नीचे भव्य–आकर्षक–वेशभूषा से सुसज्जित रहता हुआ भी मानव अपने यशोभाग को (शिरोभाग को) प्रत्यक्ष रखता हुआ (उघाड़े मस्तक रखता हुआ) न केवल भारतीय आर्षदृष्टि से ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व के सभ्य–अर्द्धसभ्य–असभ्य–मानवमात्र की दृष्टि से निसर्गतः अमाङ्गलिक ही माना गया है। सुदूर पूर्व अफ्रीका की सर्वथा नग्न वासियाँ भी पक्षिपक्षादिविभूषित शिरोभूषण से समन्वित मिलीं जातीं हैं।

---

* वर्त्तमान राष्ट्रीय प्रगतिवादियों के प्रगतिशील राष्ट्रिय समाज में, एवं तदनुवर्त्ती सुधारक समाज में शिरोरूप से, तथा लिपिरूप से उभय था 'श्री' भाव का अभाव ही छद्म–उपभुक्त है। 'श्री' इनकी दृष्टि में केवल कल्पित रूढ़िवाद है। 'श्रीः' की इस प्रकार उपेक्षा करने वाला राष्ट्रीयवर्ग, एवं सुधारकवर्ग यदि भी न सर्वात्मना वञ्चित हुआ राष्ट्र और समाज को भी श्रीहीन बना देता है, तो इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं है।

क्रियालक्षण गतिस्वरूप प्राणतत्त्व। अतएव सृष्टिकर्तृत्व का प्रधान उत्तरदायित्व मध्यस्थ गतिशील प्राण से ही सम्बद्ध माना गया है।

(१५१)—सृष्टिमूलाधार आधिदैविक सप्तर्षिप्राण—

सृष्टि का मूलभूत मौलिकतत्त्व 'ऋषि' नामक वह मौलिक प्राण है, जिसके बलानुगत सम्बन्धतारतम्य से आगे जाकर पितर–असुर–गन्धर्व–देव–आदि अनेक यौगिक विभेद हो जाते हैं +। उन सब असंख्य-अनन्त यौगिक पितर-असुरादि प्राणों के मूलभूत मौलिक ऋषिप्राण की स्वयं की भी अनेक जाति-उपजातियाँ व्यवस्थित हुई हैं। उन अनेकधा विभक्त ऋषिप्राण–जात्युपजातियों में से मनोमय मनु की सृष्टिधारा के साथ प्रधान सम्बन्ध रखने वाली प्राणजाति 'सप्तर्षि' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसका अध्यात्मसंस्था में चतुर्दा विभक्त 'गुहाप्राण' रूप से अनुमान किया जा सकता है। कर्णच्छिद्रमुक्त दो कर्णप्राण, चक्षुर्गोलकमुक्त दो चक्षुप्राण, नासाविवरमुक्त दो नासाप्राण, मुखविवरमुक्त एक मुखप्राण, इस प्रकार शिरोयन्त्रात्मिका सहस्रकमलदल-समन्विता मस्तकरूपा शिरोगुहा में 'सप्तर्षि' नामक ऋषिप्राण प्रतिष्ठित है, यही आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण मण्डल है। मस्तक एक वैसा चमस (कटोरा) है, जिसका बुध्न (पैंदा) तो ऊपर है, एवं बिल (कटोरे का मध्यस्थ विपुलोदर भाग–जिसमें कि वस्तु भरी रहती है) अर्वाक् है। शिरः–कपाल इस कटोरे का पैंदा है, वह ऊर्ध्वभाग में अवस्थित है। कपालरूप पैंदे का बिलरूप पोलभाग कपाल के अधः अवस्थित है। मस्तक क्या है, मानो औंधा कटोरा है। इसी अर्वाग्बिल–ऊर्ध्वबुध्नरूप चमस में 'सहस्रदल' कमलरूप मस्तिष्क-लक्षण (भेजालक्षण) पुरोडाशद्रव्य परिपूर्ण है। यह पुरोडाश ही तो सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था का 'श्री' रूप यह यशोरस है, जिस ज्ञानमय रसकोश से सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था का सञ्चालन होता रहता है। सप्तपुरुष-पुरुषात्मक इस यशोरूप 'श्री' रस से ही मस्तक भाग 'श्रीः' कहलाया है, यही 'शिरः' शब्द का मौलिक निर्वचन है। इस श्री रूप यशोरस के आश्रित होने से ही भूतात्मक काय 'शरीर' कहलाया है। निम्नलिखित वचन इसी 'श्री' रस का यशोवर्णन कर रहा है—

> अथ या एतेषां पुरुषाणां श्रीः, यो रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन्। तदस्य शिरोऽभवत्। यत्–श्रिय समुदौहत्–तस्मात्–शिरः। तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अश्रयन्त। तस्माद्वा–एतत्–शिरः। अथ यत् प्राणा अश्रयन्त, तस्माद् प्राणाः श्रियः। अथ यत् सर्वस्मिन्–अश्रयन्त, तस्माद् शरीरम्।
>
> —शत० ब्रा० ६।१।१।४।

(१५२)—आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण—

उक्त नैगमिक सिद्धान्त के आधार पर ही आगमशास्त्र में पशुमस्तक 'श्रीः' नाम से व्यवहृत हुआ है। चराचरप्राणियों के सम्पूर्ण व्यवहारों का सञ्चालन इसी ज्ञानात्मक रसरूप 'श्री' भाग से हो रहा है। श्रीरस

+ ऋषिभ्य पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः।
देवेभ्यस्च जगत्सर्वं चर स्थाण्वनुपूर्वशः॥
—मनु ३।२०१

ही (शानीय प्रेरणा ही) श्रमना के द्वारा प्रत्येक कर्म्म का आरम्भबिन्दु बना करता है। इसी प्राकृतिक स्थिति के आधार पर अपनी प्रत्येक जीवनधारा, प्रत्येक कर्म्म में शाश्वत-सनातन-प्राकृतिक भावों का ही अनुगमन करने वाली आस्थाभद्रापरायणा आस्तिक भारतीय आर्यप्रजा का प्रत्येक कार्य्य 'श्री' संस्मरणपूर्वक ही उपक्रान्त बनता है। अतएव इसकी पत्रादिलेखनरूपा लिपियाँ भी 'श्री' से ही उपक्रान्त बनतीं हैं। यशोरूप 'श्री' रस की उपासना करने वाली आर्यप्रजा जिस प्रकार शून्यमस्तक को अमर्य्यादित श्रीभावानुबन्ध से अशुभ मानती है, तथैव लेखनकर्म्म को भी 'श्री' के बिना अमाङ्गलिक ही मानती है, जो वर्त्तमान राष्ट्रीयप्रजा का एकमात्र मङ्गलविधान बना हुआ है *।

'श्रीः' नामक यशोरस से परिपूर्ण (ज्ञानशक्ति से परिपूर्ण) अर्वाग्बिल, तथा ऊर्ध्वबुध्न ऐसे शिरश्चमस के तट पर तथाकथित सात ऋषिप्राण प्रतिष्ठित हैं। सातों में ६ ऋषिप्राण सयुक् (जोड़ले), सातवाँ एकाकी है। दो कर्णप्राण, दो चक्षुप्राण, दो नासाप्राण, इस प्रकार ६ प्राण सयुक् हैं। सातवाँ मुखप्राण एकाकी है। इसी आध्यात्मिक महर्षिप्राण का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए ऋषितत्त्ववेत्ता ऋषि कहते हैं —

(१)-साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजाः ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपश ॥
—ऋक् सं० १।१६४।१५।

(२)-अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् ।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥
—शत० १४।५।२।५।

(१५३) शिरोवेष्टन की आर्षता, एवं 'श्री' स्वरूपसंरक्षा—

आध्यात्मिक शिरश्चमस में आध्यात्मिक यशोरूप जैसी अमूल्य निधि प्रतिष्ठित है। यह साक्षात् विभूतिविभूति है, जिसे सदा परोक्ष-सुगुप्त ही रखनी चाहिए। यही इसका महामाङ्गलिक स्वस्त्ययनभाव है। इसी परोक्षसुगुप्ति का नैदानिक प्रतीक शिरोवेष्टन (उष्णीष-पगड़ी-साफा-टोपी-आदि) माना गया है। शिरोभाग से नीचे भव्य-आकर्षक-वेशभूषा से सुसज्जित रहता हुआ भी मानव अपने यशोभाग को (शिरोभाग को) प्रत्यक्ष रखता हुआ (उघाड़े मस्तक रखता हुआ) न केवल भारतीय आर्षदृष्टि से ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व के सभ्य-अर्द्ध सभ्य-असभ्य-मानवमात्र की दृष्टि से निसर्गतः अमाङ्गलिक ही माना गया है। सुदूर पूर्व अफ्रीका की सर्वथा नग्न जातियाँ भी पक्षिपक्षादिविभूषित शिरोभूषण से समन्वित सुनी जातीं हैं।

---

* वर्त्तमान राष्ट्रीय प्रगतिवादियों के प्रगतिशील राष्ट्रिय समाज में, एवं तदनुवर्त्ती सुधारक समाज में शिरोरूप से, तथा लिपिरूप से उभय या 'श्री' मान का अभाव ही दृष्ट-उपभुत है। 'श्री' इनकी दृष्टि में केवल कल्पित रूढिवाद है। 'श्री' की इस प्रकार उपेक्षा करने वाला राष्ट्रीयवर्ग, एवं सुधारकवर्ग यदि श्री से सर्वात्मना वञ्चित हुआ राष्ट्र और समाज को भी श्रीहीन बना देता है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

कहीं टोप, कहीं वस्त्रावगुण्ठन, कहीं उष्णीष, सवत्र शिरोभूषण उपलब्ध हुए हैं। 'लोहितोष्णीष-ऋत्विजः प्रचरन्ति' (लाल पगड़ी वाले यज्ञ-सञ्चालक ऋत्विक्लोग यज्ञकर्म में संलग्न हैं) इत्यादि निगमवचन इसी माङ्गलिक शिरोवेष्टन का समर्थन कर रहा है। मस्तक उघाड़ कर सम्मुख आया हुआ मानव 'शकुनवसन्तराज' (एतन्नामक ग्रन्थ) के अनुसार महा अमाङ्गलिक माना गया है। हिन्दू मानव उघाड़े मस्तक पर माङ्गलिक तिलक लगाना भी अशुभ मानता है। बात है प्रतीति में लोकशिष्टानुगतामात्र किन्तु तत्त्व है इसका सर्वथा रहस्यपूर्ण। पूर्वकथनानुसार प्राय सभी तो देशों में शिरोवेष्टन की पद्धति इष्ट-भतोपभृत है। वर्त्तमान में भी केवल 'बङ्ग' प्रान्त (बङ्गाल) को छोड़ कर सभी देशों की सभी जातियों में शिरोवेष्टनपद्धति प्रक्रान्त है। ग्रामसम्पत् में तो बड़ी ही कड़ाई से इस नियम का पालन किया जाता है। एक ग्रामीण दरिद्रबाला भले ही, अन्य शरीरावयवों से नग्नवत् बना रहे, किन्तु उसके मस्तक पर जीर्ण-शीर्ण उष्णीष अवश्य रहेगी। कृषिकर्म के लिए जाता कृषक को यदि सम्मुख उन्मुक्तशिर नर, अथवा तो नारी मिल जाते हैं, तो तत्काल यह अपने हल के साथ पराङ्मुख बन जाता है। उन्मुक्त शिर का यह परिपक्व खेत में प्रविष्ट तक नहीं होने देता। हमें आश्चर्य होता है कि, अन्यान्य सनातन-नैगमिक-संस्कृतियों में सर्वाग्रणी बना रहने वाला बङ्गप्रान्त सहसा अपनी इस निगममूला संस्कृति की उपेक्षा करते हुए 'कुमुदिनि बङ्गाली' * इस लोक प्रामाणिकता का निमित्त किस आधार से बन गया! शिरोभावावस्थिता चिरयस्थोक्त्मा 'श्रीः' ही तो वह आध्यात्मिक मौलिक सम्पत्ति है, जिस सविता में रमाभिन्न ज्ञानसम्पत् को मूल बनाकर ही मानव आधिभौतिकी व्यवसम्पत्-संग्रहद्वारा विभूतिशाली बनने में समर्थ होता है। अपनी मूलाधारभूता इस आध्यात्मिकी श्री को नग्न रखने वाला व्यवसम्पत्-संग्रह-संरक्षण में यदि असमर्थ बना रहता हुआ दीन-हीन-दरिद्री-बुभुक्षित हो जाता है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। शिरोवेष्टन, एवं शिरोऽवगुण्ठन शून्य बाङ्ग का नर, तथा नारी, दोनों ही इस दिशा में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

(१५४) श्वेत, और रंगरञ्जित शिरोवेष्टन का तारतम्य—

एक माङ्गलिक तथ्य का विश्लेषण और। 'लोहितोष्णीषः' वाक्य रङ्गरञ्जित (रङ्गीन) शिरोवेष्टन की माङ्गलिकता की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। अपने प्रत्येक कर्म्म में प्राकृतिक माङ्गलिक विधान को महत्त्व प्रदान करने वाले राजपत्तन (राजपूताना) प्रान्त की 'रङ्गीन पगड़ी' का मांगलिक महत्त्व जगत्प्रसिद्ध है, और यह चिह्न, तथा रङ्गरञ्जित नारी का दुकूलवस्त्र (रङ्गीन पीतवस्त्र-अर्थात् पीला-ओढ़ना चूनड़ी) यहाँ के महान् सांस्कृतिक गौरव के प्रतीक हैं। यहाँ श्वेत शिरोवस्त्र कीर्त्ति का नैदानिक प्रतीक बनता हुआ शिरस्त्राणप्रमाण में व्यवहार्य माना गया है। यौवराज्य-पदासीन युवा पुत्रपौत्रादि के लिए शिरस्त्राण इसके वृद्ध पिता, ज्येष्ठभ्राता, आदि ही माने गये हैं। अतएव पितापितामहादि की सत्ता से वञ्चित वृद्धपुरुष ही श्वेत शिरोवेष्टन के अधिकारी हैं। तथा पुत्र-पौत्रादि का शिरोवेष्टन तो रङ्गरञ्जित

* भूखा बङ्गाली।

ही होता है। यदि युवापुरुषादि श्वेत शिरोवेष्टन धारण करते हैं, तो वे भारतीय स्वस्त्ययन-कर्म्म से नितान्त विरुद्ध गमन करते हुए श्री-सम्पत् के विघातक ही बनते हैं, जिसका प्रत्यक्ष प्रतीक हमारा आज का श्वेतशिरोवेष्टन (धोली टोपी) युक्त, अथवा तो शून्यशिरस्क राष्ट्रीयवर्ग प्रमाणित हो रहा है। श्रीशून्य मस्तक, श्रीशून्या लिपि, श्रीशून्य धर्म्यकलाप, श्रीशून्य श्वेत शिरोवेष्टन, आदि रूप से आज तो मुहा अमाङ्गलिक श्रीविहीन भाव ही हमारी सभ्यता के प्रतीक बन रहे हैं, जिन इन अमाङ्गलिक प्रतीकों के दुष्परिणामों के उद्वेगकर इतिवृत्तों से आज के श्री-सम्पत्‌विहीन राष्ट्र के सभी तथाविध नर-नारी प्रत्यक्ष निदर्शन प्रमाणित हो रहे हैं।

(१५५) गुहाशया निहिताः सप्त सप्त—

आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण का प्रसङ्ग प्रक्रान्त था। जिस प्रकार यशोरसात्मक श्रीसम्पद्युक्त शिरोयन्त्र (शिरोगुहा) में तथाकथितरूप से सप्तर्षिप्राण प्रतिष्ठित है, तथैव इसी अध्यात्मसंस्था (शरीरसंस्था) में उरोगुहारूप उरोयन्त्र, उदरगुहारूप उदरयन्त्र, वस्तिगुहारूप वस्तियन्त्र, इन नीचे के तीनों यन्त्रों में भी इसी क्रम से सप्तर्षिप्राण प्रतिष्ठित माना गया है हस्तद्वय, स्तनद्वय, फुप्फुसद्वय, हृदय, यह दूसरा सप्तर्षिप्राणसप्तक है, जिसके प्रतिष्ठा उरोयन्त्र (छाती) है। यकृत्-प्लीहाद्वन्द्व (जिगर और तिल्ली), क्लोमद्वय, वृक्कद्वय, नाभि, यह तीसरा सप्तर्षिप्राणसप्तक है, जिसकी प्रतिष्ठा उदरयन्त्र (पेट) है। श्रोणिद्वय, मूत्ररेतसीद्वयी, आपवद्वय-मूलद्वार, यह चौथा सप्तर्षिप्राणसप्तक है, जिसकी प्रतिष्ठा वस्तियन्त्र है। इस प्रकार-'शिर-उर-उदर-वस्ति' भेद से अध्यात्मसंस्था में समानक्रमपूर्वक सप्तर्षिप्राण सप्तक चार गुहा यन्त्रों में प्रतिष्ठित होता हुआ निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुति को अक्षरशः अन्वर्थ प्रमाणित कर रहा है—

> सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
> सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥
>
> —मुण्डकोपनिषत् २।१।८

१—प्राकृतिक प्राणदेवतानुबन्धिनी माङ्गलिक स्थितियों के आधार पर आर्षवैज्ञानिकोंने शयन-भोजन वस्त्र-गमन-हसन-भाषण-शोचन-पठन-पाठन आदि आदि यच्चयावत् दैनिक व्यवहारों में कुछ एक ऐसे प्राकृतिक माङ्गलिक विधि-विधान विहित किए हैं, जिनके नियमतः अनुगमन से-आचरण से मानव की जीवनधारा सहजरूप से स्वस्ति-शान्ति-निरुपद्रवरूप से प्रवाहित होती रहती है। एवंविध सहज माङ्गलिक कर्म्मों का विभाग ही आर्षपद्धति में 'स्वस्त्ययनकर्म्म' (शान्तिस्वस्त्ययन) नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिनका गीताविज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीय खण्ड के 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक 'ग' विभागात्मक तृतीय खण्ड के 'स्वस्त्ययनकर्म्मपरिगणना' नामक अवान्तर प्रकरण में विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है।

गुहाशयप्राणसप्तकचतुष्टयीपरिलेखः—

ब्रह्मरन्ध्र—मनः सर्वम् [१]

१—कर्णौ (२)—सोमाः—पारमेष्ठ्य (३३)
२—चक्षुषी (२)—आदित्यः—दिव्य (२१)
३—नासिके (२)—वायु—आन्तरिक्ष्य (१५)
४—वाक् (१)—अग्नि—पार्थिवः (६)

१ ★—शिरोयन्त्रम् (शिरोगुहा) विज्ञानात्मा (आपः ३३)
(दिशः—त्रयस्त्रिंशः)

कण्ठः—मनः—प्राणः [२]

१—हस्तौ (२)—सोमाः—पारमेष्ठ्याः (३३)
२—स्तनौ (२)—आदित्याः—दिव्याः (२१)
३—फुप्फुसे (२)—वायुः—आन्तरिक्ष्याः १५)
४—हृदयम् (१)—अग्निः—पार्थिवः (६)

२ ★—उरोयन्त्रम् (उरोगुहा) प्राणात्मा (द्यौः २१)
(द्यौः एकविंशः)

हृदयम्—मनः—व्यानः [३]

१—यकृत्-प्लीहे (२) सोमाः-पारमेष्ठ्याः (३३)
२—क्लोमानौ (२)-आदित्याः-दिव्याः (२१)
३—वृक्के (२)-वायु-आन्तरिक्ष्य (१५)
४—नाभि (१)-अग्नि-पार्थिवः (६)

३ ★—उदरयन्त्रम् (उदरगुहा) व्यानात्मा (अन्तरिक्षम् (१५)
(अन्तरिक्षम्—पञ्चदशः)

[illegible] [४]

१—श्रोणी (२)-सोम-पारमेष्ठ्याः (३३)
२—मूत्रकोशौ (२)-आदित्याः-दिव्याः (२१)
३—आण्डे (२)-वायु-आन्तरिक्ष्याः (१५)
४—मूलाधारम् (१)-अग्निः-पार्थिवाः (६)

४ ★—बस्तियन्त्रम् (बस्तिगुहा) अपानात्मा (पृथिवी ९)
(पृथिवी ९ त्रिवृता)

मूलस्तम्भम्— सर्वम् [५]

(१५६) विरूपास इदृषयः—

प्रकृतमनुसराम। इयमनु अपने से अभिन्न मनोमय आत्मरूप से मनोमय बनता हुआ स्थिति-गतिभावात्मक यजु के जुरूप वाग्भाग से वाङ्मय, एवं यत्रूप प्राणभाग से प्राणमय बनता हुआ मन-प्राणवाङ्मय बनकर काम-तप-श्रमरूप से सृष्टिसाक्षी आत्मा बन रहा है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इस मन प्राणवाङ्मय मनुस्तत्त्व का गतिशील तपोमय प्राणभाग ही यह 'असत्' तत्त्व है, जिसे 'ऋषिन्' निर्वचन से पूर्व में 'ऋषि' कहा गया है। यह असल्लक्षण सद्रूप ऋषिप्राण वसिष्ठ–अगस्त्य–मत्स्य–कश्यप–अत्रि मरीचि-भृगु-पुलस्त्य-पुलह आदि आदि भेद से अनेक नात्युपबाधितविषत्तभावों में विभक्त है। 'प्राणा वा ऋषयः' रूप से वसिष्ठादि नाम ऋषिप्राणों से सम्बन्धित हैं। जिस प्राण का जिस मानवश्रेष्ठ ने सर्वप्रथम स्वरूपबोध प्राप्त किया, वह मानवश्रेष्ठ भी यशोनाम-पद्धति से तत्प्राणऋषि के नाम से ही लोक में प्रसिद्ध हो गया। ऋषिप्राण मधुम्मूर्ति है। यजु ही तत्त्वात्मक अपौरुषेय वेद है। क्योंकि वेदात्मक ऋषिप्राण 'विरूपास इदृषयः' सिद्धान्तानुसार अनन्त–असंख्य हैं। इसी आधार पर भगवान् तित्तिरि ने इन्द्रभरद्वाजाख्यान के प्रसङ्ग में 'अनन्ता वै वेदाः' सिद्धान्त स्थापित किया है। अनन्त ब्रह्म के निःश्वासात्मक प्राणलक्षण वेद वास्तव में अनन्त ही हैं।, जिनका इन्द्रद्वारा चार सौ वर्ष की आयु प्राप्त करने वाले भरद्वाज ऋषि-प्राण के द्रष्टा, अतएव 'भरद्वाज' नाम से ही प्रसिद्ध महर्षि मुष्टिमात्र ही बोध प्राप्त कर पाये थे (देखिये—तै० ब्रा० ३।१०।११।४)।

(१५७) ऋषि, और ऋषिद्रष्टा मानवमहर्षि—

भारतीय आर्षवैज्ञानिकों ने अपने निर्भ्रान्त तपःपूत आर्षज्ञान (सहजज्ञान) के द्वारा प्रकृति के इन गुह्यतम ऋषितत्त्वों का साक्षात्कार किया। जिस आर्ष महामानव ने सर्वप्रथम जिस ऋषिप्राण का प्राकृतिक परीक्षण के माध्यम से साक्षात्कार किया, तत्कालीन आर्षप्रजा ने इस अद्भुत अन्वेषण के प्रति अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करने के लिए उन आर्ष महामानवों को उन ऋषिप्राण-उपाधियों से ही सम्मानित किया, जो उनके 'यशोनाम' कहलाए। तद्वंशधरों में भी जिन जिन मानवश्रेष्ठों ने इस पारम्परिक पैतृक ऋषिप्राणाविष्कार का अनुशीलन-प्रचार प्रक्रान्त रक्खा, वे भी इसी यशोनाम से प्रसिद्ध हुए, जिनके आधार पर-'साक्षात्कृतधर्म्माण—ऋषयो बभूवुः' इत्यादि सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। निष्कर्षतः—प्राकृत मौलिक तत्त्व ही 'प्राण' है, यही 'असत्' नामक 'ऋषि' है, यही वेदतत्त्व है, एवं इसी से सम्पूर्ण तन्मात्रभावों की, तन्मात्रद्वारा तद्भूतभावों की उत्पत्ति हुई है, यही मनुर्म्मय वेदप्राण का मनुर्मयत्त्व है, जिसके सर्वारम्भक वेदत्त्व का राजर्षि मनु ने निम्नलिखित शब्दों में यशोगान किया है—

> १– चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
> भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥
>
> २– शब्दः-स्पर्शश्च रूपं च–रसो–गन्धश्च पञ्चमः ।
> वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिर्गुणकर्म्मतः ॥

३– बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥

—मनु १२।९७,९८,९९,।

(१५८) सप्तर्षिप्राण, और सुपर्णचिति—

सप्तर्षिप्राणात्मक जिस ऋषिप्राण का मनुरूप से अबतक यशोगान हुआ है, दो शब्दों में उसके सप्तपुरुषपुरुषात्मक आधिभौतिक स्वरूप का भी यशोगान कर लीजिए। विश्वनिर्म्माणप्रक्रियानुगामी ऋषिप्राण (सप्तर्षिप्राण) 'चत्वारः–द्वौ–एकः' (४-२-१) इस क्रम से सुसंघटित होकर 'ही' सप्तचितिरूप आधिभौतिक अवयवरूप शरीर (भौतिकपिण्ड) का स्वरूपारम्भक बनता है। दूसरे शब्दों में 'चार–दो–एक' इस रूप से अपनी तीन स्वतन्त्र चितियों में समन्वित होकर ही सप्तर्षिप्राण सृष्टिनिर्म्माणप्रक्रिया में प्रवृत्त होता है। चार ऋषिप्राणों की समन्विताऽवस्थारूपा चिति मुख्य मानी गई है। –इस मुख्यता के अनुबन्ध से ही इस चतुः-प्राणात्मिका मुख्य चिति को 'आत्मा' कहा गया है। प्राणद्वयात्मिका दूसरी चिति को 'पक्ष' माना गया है, एवं एकप्राणात्मिका चिति को 'पुच्छ' कहा गया है। यही वह सुप्रसिद्धा 'सुपर्णचिति' है, जिसका शतपथविज्ञानभाष्य के चयनयज्ञप्रकरण में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। इस सप्तचिति के सम्बन्ध से ही यह प्राण पुरुष 'सप्तपुरुषपुरुषात्मकप्रजापति' अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है।

(१५९) सप्तपुरुषपुरुषात्मा की वेदपुरुषता—

सुचतुर शिल्पी संकल्पित शिल्प के निर्म्माण से पहिले उसका रेखारूप (ढाँचा) बनाता है, तदनुरूप ही शिल्पाकार (ढलाई) का उस रेखारूप (ढाँचे) में समभिवेश करता है। मनुप्रजापति के द्वारा अपने प्राणभाग (सप्तर्षिप्राण) से सर्वप्रथम सुपर्णचितिरूप सप्तप्राणों का ढाँचा बनाया जाता है। तदनुरूप ही सम्पूर्ण सृष्टियों को (भूतमात्रासमभिवेश द्वारा) भौतिक स्वरूप प्रदान किया जाता है। चितिविज्ञान भारतीय विज्ञानकाण्ड का एक रहस्यपूर्ण तात्त्विक विषय है जो एकान्तनिष्ठ चिरकालिक स्वाध्यायव्रत के द्वारा ही विशेष गम्य बनता है। सम्पूर्ण भूतभौतिक पदार्थों में मध्यभाग, पार्श्वभाग, मूलभाग, शिरोभाग रूप से अवयव भागचतुष्टयी का समन्वय कर सकते हैं। मानवशरीर को ही उदाहरण बनाइए। शिरोभाग स्पष्ट है ही। कण्ठ से मूलाधार पर्य्यन्त व्याप्त कबन्ध (धड़) भाग मध्यभाग है, यही वह मुख्य भाग है जिसके आधार पर मस्तक–हाथ–पैर–आदि गौणभाग प्रतिष्ठित हैं। दक्षिण हस्त–दक्षिण पाद, एक पक्ष है। वाम हस्त–वाम पाद एक पक्ष है। यही पार्श्वभाग है। मेरुदण्ड के अधो भाग में अवस्थित 'त्रिकास्थि' नाम से प्रसिद्ध मूल-प्रतिष्ठा-भाग ही मूलभाग है। मध्यभाग चार प्राणों की समष्टिरूप 'चत्वार आत्मा' है। पार्श्वभाग 'द्वौ पक्षौ' है। मूलभाग 'पुच्छं प्रतिष्ठा' है। इस पुच्छप्रतिष्ठा के शिथिल हो जाने से वार्द्धक्य में शिरोभाग अवनत बन जाया करता है। एक पिप्पलपत्र (पीपल के पत्ते) को लक्ष्य बनाइए। मध्य पत्र आत्मा है, दोनों पार्श्व पक्ष हैं, मूलभाग पुच्छप्रतिष्ठा है, जिससे पत्ता तना हुआ रहता है। इसके निर्बल होते ही पत्ता अवनत हो जाता है, झुक जाता है, कालान्तर में मुर्झा जाता है। कण्ठ से आरम्भ कर शेष समग्र भौतिक शरीर में सप्तचितिरूप से प्रतिष्ठित यह सप्तर्षि अपने भौतिकरूप से 'मर्त्यचिति' माना गया है। इन सातों पुरुषों का जो अमृतभाग है, वही ऊर्ध्वस्थितशिरोभागानुगता अमृतचिति है,– जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्वरूप निरूपण हुआ है।

त इद्धा सप्त नाना पुरुषानसृजन्त । त एतान् सप्त पुरुषानेक पुरुषमकुर्वन्—यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्, यदवाङ् नाभेस्तौ द्वौ । पक्ष पुरुष, पक्ष पुरुष । प्रतिष्ठैक आसीत् । अथ या एतेषा पुरुषाणां श्री, यो रस आसीत्—तमूर्ध्वं समुदौहन् । तदस्य शिरोऽभवत् । स एव पुरुष प्रजापतिरभवत् । स य स पुरुष—प्रजापतिरभवत्, अयमेव स, योऽयमग्निश्चीयते (कायरूपेण–शरीररूपेण–मूर्त्तपिण्डरूपेण–भूतपिण्ड-रूपेण) । स वै सप्तपुरुषो भवति । सप्तपुरुषो ह्यय, पुरुष –यच्चत्वार आत्मा, त्रय पक्षपुच्छानि" ।

—शतपथब्राह्मण ६ काण्ड, अग्निरहस्यविद्या, १ ब्राह्मण ।
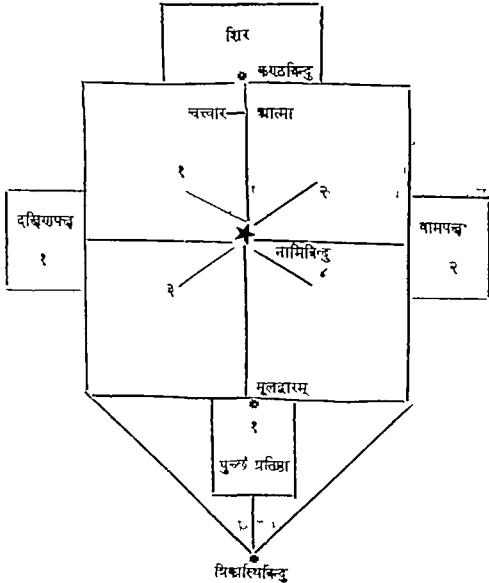
(१६०) प्राणमूर्त्ति मनु--

प्रसमतिविस्तरेण । प्राणमूर्त्ति-सतचिदिक- मनोवाङ्मय मनु से सर्वप्रथम स्वप्राणतत्त्व का ही चिति-भाव के लिए पूर्वानुसार सप्तधा विकास होता है । यही ऋषिप्राणात्मक मनुप्रजापति की प्रथमा मानससृष्टि (मानसीसृष्टि) कहलाई है, जिसका चितिभाव से पूर्ण विकास हुआ है तीसरी सौरहिरण्मयमयसस्था हिरण्यगर्भसृष्टिधारा में । अतएव यह सप्तर्षिसर्ग हिरण्यगर्भमनु (सौरप्रजापति) की सन्तति माना गया है, जैसाकि पाठक आगे आने वाले 'मनुकृतसृष्टि' निरूपण में देखेंगे । मनोमय मनु को इस सप्तप्राणात्मक सप्तर्षिप्राण के अनुबन्ध से अवश्य ही 'प्राण' नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है । प्राणतत्त्व के सप्तर्षि प्राणात्मक इस चिरन्तन इतिहास के आधार पर 'परे प्राणम्' इस मनुवचन का सुसमन्वय हो रहा है ।

(१६१)–शाश्वतब्रह्ममूर्त्तिर्मनु (अपरे ब्रह्मशाश्वतम्)–(५)—

अब क्रमप्राप्त मनु की पञ्चमी अभिधा का भी दो शब्दों में समन्वय कर दिया जाता है । मनुतत्त्व की शाश्वत–ब्रह्मरूपता में इसलिए विशेष वक्तव्य नहीं है कि विषयारम्भ में ही इस नाम के मौलिक इतिहास का दिग्दर्शन करा दिया गया है । सर्वबलविशिष्टरसैकघन मायातीत अव्यक्त परात्पर ब्रह्म ही वस्तुतः 'शाश्वतब्रह्म' कहलाया है । यह सर्वात्मना अवधेय है कि, आत्मा के अभेदभाव के कारण यद्यपि आत्मा–परमात्मा–परमेश्वर–ईश्वर–अव्यय–ब्रह्म–अमृत–आदि शब्द अभिन्नार्थक ही बन रहे हैं । किन्तु सुसूक्ष्म तत्त्वविज्ञान के आधार पर विषयसमन्वय के लिए प्रवृत्त होने पर हमें प्रत्येक शब्द की विभिन्नार्थकता का ही आश्रयग्रहण करना पड़ेगा । तभी तत्तत् श्रौतस्मार्तवचनों का यथावत् समन्वय सम्भव बन सकेगा । उदाहरण के लिए शाश्वतधर्म्म–अव्यय–अमृत–ब्रह्म–ऐकान्तिकसुख–आदि शब्द सामान्यदृष्टया जहाँ अभिन्नात्मक तत्त्व के संग्राहक बने हुए हैं वहाँ विज्ञानदृष्टया ये पाँचों शब्द विभिन्न तत्त्वों के साथ ही सम्बद्ध माने जायँगे । मायातीत परात्परब्रह्म के 'शुद्धरसात्मक, बलविशिष्टरसात्मक' ये दो विवर्त्त माने गए हैं, जो क्रमशः निर्विशेषपरात्पर, सविशेषपरात्पर नामों से भी प्रसिद्ध हैं । निर्विशेष शुद्धरसमूर्त्ति परात्पर का साङ्केतिक नाम 'ऐकान्तिकसुख' (शुद्ध आनन्द,–केवल रस–केवल आनन्द) माना जायगा, एवं सविशेष बलविशिष्टरसैकमूर्त्ति परात्पर का साङ्केतिक नाम 'शाश्वत–धर्म्म' (किंवा शाश्वतब्रह्म) माना जायगा । 'अव्यय' नाम मायामय परात्परपुरुष का साङ्केतिक नाम माना जायगा । पराप्रकृतिरूप अक्षर का साङ्केतिक नाम 'अमृत' माना जायगा । एवं अपराप्रकृतिरूप क्षर का बृंहणभाव के कारण साङ्केतिक नाम 'ब्रह्म' माना जायगा । अध्यात्मसंस्था में इन पाँचों आत्मविवर्त्तों का समन्वय-किया जायगा । साथ ही आधिदैविक पञ्चमूर्त्ति 'अहं' को इन आध्यात्मिक पाँचों अहंभावों की मूलप्रतिष्ठा कहा जायगा । बिना इस साङ्केतिक नाम समन्वय के निम्नलिखित स्मार्त्ती उपनिषत् का अन्य प्रकरणस्थलों से भी समन्वय सम्भव न बन सकेगा—

> ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
> शाश्वतस्य च धर्म्मस्य, सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
> —गीता १४।२७

१–ब्रह्मण———————क्षरात्मन———————प्रतिष्ठा— —ईश्वरीयक्षरात्मा

२–अमृतस्य———————क्षरात्मन———————प्रतिष्ठा———ईश्वरीयाक्षरात्मा

३–अव्ययस्य———————अव्ययात्मन— —प्रतिष्ठा———ईश्वरीयाव्ययात्मा

४–शाश्वतधर्म्मस्य——सविशेषपरात्परात्मन —प्रतिष्ठा———ईश्वरीयसविशेषपरात्परात्मा

५–सुखस्यैकान्तिकस्य——निर्विशेषपरात्परात्मन —प्रतिष्ठा———ईश्वरीयनिर्विशेषपरात्परात्मा

इति नु अध्यात्मम् इति नु अधिदैवतम्

(१६२)–शाश्वतब्रह्म का मौलिक स्वरूप—

रसमूर्त्ति एकान्तिकसुखरूप निर्विशेषपरात्पर, रसबलमूर्त्ति शाश्वत धर्म्मरूप सविशेषपरात्पर, दोनों की समष्टिरूप मायातीत परात्पर को हम 'शाश्वतब्रह्म' (परात्परब्रह्म) कहेंगे। दूसरे शब्दों में सर्वबल विशिष्टरसैकघन परात्पर ही शाश्वतब्रह्म अभिधा से सम्बोन्धित होगा। पुरभाव–सम्पादिका मायासीमा के द्वारा सर्वप्रथम इस शाश्वतब्रह्म का प्रथमावतार मनामय निष्कल–वह अव्ययपुरुष' ही माना जायगा, जिसे सङ्केतभाषा में 'पर' कहा गया है।* जीवसंस्था (मानवसंस्था) का 'पर' अव्यय ईश्वरीयसंस्था के 'पर' के आधार प्रतिष्ठित है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। यह ईश्वरीय पर इस जीव पर की अपेक्षा से 'परादपि पर' रूप से 'परात्परपुरुष' इस साङ्केतिक नाम से भी व्यवहृत हुआ है, जैसा कि–'परात्परं–पुरुषमुपैति दिव्यम्' इत्यादि उपनिषद्वचन से प्रमाणित है। जीवपरपुरुष (जीवाव्यय) की प्रतिष्ठारूप ईश्वरीय मनामय परपुरुष 'परादपि पर' रूप से जहाँ 'परात्परपुरुष' है, वहाँ मायातीत परात्परपुरुष पुरुष की प्रथमावतार दशा में केवल मायापुर से वेष्टित यह निष्कलभाव से मायातीत परात्पर से समतुलित बनता हुआ भी 'परात्पर' है। अतएव मायातीत शाश्वतब्रह्मरूप परात्परवत् इस मायामय परात्परपुरुष को भी पञ्चविविदिशा से पूर्वपूर्व निष्कलदशा में इसे भी 'शाश्वतब्रह्म (परात्परब्रह्म) कहने देने में विशेष आपत्ति नहीं की जा सकती। अतएवच यहाँ आकर इस अभिन्नता की दृष्टि से हम ईश्वरीय–मनामय–निष्कल अव्ययपुरुष को भी 'परात्परब्रह्म'–किंवा 'शाश्वतब्रह्म' कह सकते हैं। यही मनामय अव्ययपुरुष अपने स्थितिगतिभावरूप यजुर्भाव से 'मनु' रूप है। अतएव इस दृष्टिकोण से अव्ययात्मक मनु को भी अवश्य ही अव्ययवत् 'शाश्वतब्रह्म' अभिधा से व्यवहृत कर देना सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित हो जाता है, जिस इस तात्त्विक दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर ही राजर्षि मनु ने कहा है—'अपर ब्रह्मशाश्वतम्'। इस प्रकार वेदाग्नि–सम्बन्ध से 'अग्नि,' प्रजासर्गप्रवर्त्तकत्वेन 'प्रजापति',—मध्यप्राणत्वेन 'इन्द्र',—गतिभावत्वेन 'प्राण',—आत्माभिन्नत्वेन 'शाश्वतब्रह्म' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध 'मनु' ही मननशक्ति–मानव का मूलाधार बना करता है। यही मानवाधारभूत मनु की तात्त्विक व्याख्या का पूर्वप्रतिज्ञात चिरन्तन इतिहास है। जिसके

* अव्यय–अक्षर–क्षर–तीनों तत्त्व क्रमश सङ्केतभाषा में 'परे'–'परावर'–'अवर' इन नामों से व्यवहृत हुए हैं, जैसा कि गीताविज्ञानभाष्यादि में यत्र–तत्र अनेकधा स्पष्ट हुआ है।

आधार पर 'मानव' का चिरन्तन मौलिक इतिहास प्रतिष्ठित है। अत्र संक्षेप से इस मूलमनुपुरुष से सम्बन्ध रखने वाली सृष्टि की ओर, एवं इसके आधिदैविक–आध्यात्मिक–आधिभौतिक–इन सुप्रसिद्ध तीन विवर्त्तों की ओर ही मनुप्रेमी मानवों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

(१६३) सन्दर्भसंगति—

प्रतिज्ञात 'मनु' शब्द के चिरन्तन इतिहास के सम्बन्ध में मानव के मूल पुरुषरूप 'मनु' तत्व का तात्त्विक स्वरूप पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया, जिसका सन्दर्भसङ्गति की दृष्टि से यही निष्कर्ष है कि, सर्वव्यापक–रसबलमूर्त्ति–ज्ञानकर्ममय–अव्ययेश्वर का मनोमय हृदयस्थ भाव ही 'मनु' है, जो मनुतत्त्व मधुरश्मि के सम्बन्ध से 'अग्नि' प्रभावसर्गप्रवृत्ति के कारण प्रजापति', मध्यप्रतिष्ठाभावात्मिका बलकृति सम्बन्ध से 'इन्द्र', समष्टिविभाव से 'प्राण', एवं अव्ययात्मसम्बन्ध से 'शाश्वतब्रह्म' इत्यादि विभिन्न नामों से व्यवहृत हुआ है। तथालक्षण यह मनुतत्त्व स्वत प्रादुर्भूत होने के कारण 'स्वयम्भूमनु' नाम से प्रसिद्ध है। यही स्वयम्भू मनु मानववंश का मूलपुरुष है, जिस मूलपुरुष से अनुप्राणित सर्ग की रूपरेखा का समन्वय एकरूपेण समाप्त माना जा सकता है।

(१६४) मनुमूलक 'मानव' शब्द की व्यापकता—

जैसा कि पूर्व परिच्छेदों में कहा गया है कि, 'मनु से उत्पन्न प्रजा को ही 'मानव' कहा जायगा'। जिन स्थावर–जङ्गम (अचर–चर) जड़–चेतन–भूत–भौतिक पदार्थों की मनु से (हिरण्यगर्भात्मक और मनु से) उत्पत्ति हुई है, वे सभी पदार्थ 'मनुप्रजा' सीमा में समाविष्ट हैं। एवं मनु से समुत्पन्न होने के कारण पदार्थमात्र को 'मानव' कहा जा सकता है, कहना चाहिये। तत्त्वदृष्टि (हृदयमनुदृष्टि) से भी पदार्थमात्र का मानवत्व अनुप्रमाणित है। हृदय में प्रतिष्ठित मनःप्राणवाङ्मय हृदय मनोमय आत्मा ही 'मनु' है। पदार्थमात्र वास्तविक दृष्टया इस हृदय मनु से युक्त है। अपने अपने हृदय मनु की मनोमयी ज्ञानशक्तिसमन्विता कामना, प्राणमय क्रियाशक्तिसमन्वित तप, एवं वाङ्मय अर्थशक्तियुक्त श्रम, इस व्यापारत्रयी से ही तत्तत् पदार्थों का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। अतएव सभी पदार्थ समष्टया–व्यष्टया–उभयथा इस स्व–स्व–हृदय मनु से (जो कि प्रातिस्विक हृदय मनु उस विश्वव्यापक विश्वकेन्द्रस्थ महामायावच्छिन्न महामनु–स्वयम्भूमनु के ही प्रवर्ग्यरूप हैं) ही समुत्पन्न हैं। अतएव च सभी पदार्थों के लिए मानव' अभिधा तत्त्वसम्मता प्रमाणित हो जाती है। इस प्रकार जबकि पदार्थमात्र ही 'मानव' अभिधा से समन्वित है, तो ऐसी स्थिति में 'मनुष्य'–'पुरुष' 'नर' (आदमी) इत्यादि नामों से प्रसिद्ध मानवीसृष्टि के एक विशेष भाग में ही 'मानव' शब्द कैसे निरूढ़ (नियत) बन गया, इस प्रश्न का एक सहज संक्षिप्त समाधान पूर्व में किया जा चुका है (देखिए पृ सं १५२) किन्तु तत्समाधानमात्र से ही हेतुवादी तार्किक का क्योंकि सन्तोष सम्भव नहीं बनता, अतएव तत्समाधान के तात्त्विक स्वरूपसमन्वय के लिए मनु से सम्बन्ध रखने वाली 'सृष्टि' के तात्त्विक स्वरूप का एक विभिन्न दृष्टिकोण से समन्वय कर देना अनिवार्य्य बन जाता है।

(१६५) 'सृष्टि' शब्द का सामान्य अर्थ—

विसर्गार्थक 'सृज' धातु ('सृज–विसर्गे–दि० आ० प०') से 'क्तिन्' प्रत्यय के द्वारा 'सृष्टि' शब्द की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है, और इस धातु–प्रकृति–प्रत्ययमूला स्वरूपनिष्पत्ति को हम 'सृष्टि' शब्द की भावुक

व्याख्या करेंगे, जो अमुक सीमा पर्य्यन्त आदरणीय कही और मानी जा सकती है। स्रष्टा प्रजापति अपने एक अंश से (मनोमय अव्ययांश से) सृष्टि के अधिष्ठानकारण (आधार–आलम्बन*) बनते हैं, अपने एक अमुक अंश से (प्राणमय अक्षरांश से) सृष्टि के निमित्तकारण+ बनते हैं, एवं अपने एक अमुक अंश से (वाङ्मय क्षरांश से) सृष्टि के आरम्भणकारण (उपादान कारण) बनते हैं×। क्षरदृष्टि से यही 'सृष्टि' है अक्षरदृष्टि से यही 'सृष्टिकर्त्ता' है, एवं अव्ययदृष्टि से यही 'सृष्ट्याधार' है, न सृष्टि है, न सृष्टिकर्त्ता है। अपितु है एकमात्र साक्षी तटस्थ प्रेक्षकात्मक धरातल। प्रजापति का वाङ्मय क्षरभाग विस्रंसनधर्म्मा है, क्षरणधर्म्मा है। जिस प्रकार सरित्–इरा (रस) लक्षण सलिल (पानी) पर 'काई' आ जाती है, दुग्ध पर 'शर' (थर–मलाई–बालाई) आ जाती है, लोह से 'किट्ट' (जंग) का विनिर्गमन होता रहता है, एवमेव मनोमयी कामना से प्रेरित प्राणमय तप से वाङ्मय श्रम के द्वारा पानी–दूध–लोह–आदि स्थानीय क्षरवाक् से विकाररूप काई–शर–किट्ट–स्थानीय प्रवर्ग्यभाग का प्रतिक्षण क्षरण हुआ करता है। यही क्षरण–प्रक्रिया सृष्टिविज्ञानभाषा में 'विस्रंसन' कहलाई है। जो वाङ्मय क्षरमूलक–विशुद्धरूप (कारणरूप) से सुरक्षित रहता है, वह तो स्वयं आत्मब्रह्म का अपना भोग्य (स्वरूपसंरक्षक) बनता हुआ 'ब्रह्मौदन' कहलाया है। एवं जो भाग विस्रंसनप्रक्रिया के द्वारा विकारभाव में परिणत होता हुआ उपादानकारण बन जाता है, वह मूल आत्म–ब्रह्म की भोग्य सीमा से परित्यक्त बनता हुआ 'प्रवर्ग्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। अथर्वपरिभाषा में यही प्रवर्ग्य 'उच्छिष्ट' कहलाया है, जिसके तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण से सम्बन्ध रखने वाली 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' मूला यह 'प्रवर्ग्यविद्या' ही द्रष्टव्या है, जिसके आधार पर ब्राह्मणग्रन्थों के 'महाव्रीरयाग–कर्म्मयाग–छिन्नशीर्ष-याग' आदि प्राकृतिक प्रवर्ग्यभाग प्रतिष्ठित हैं।

(१६६) ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य—

'ब्रह्मौदन' भाग स्वरूपसंरक्षक है 'प्रवर्ग्य' भाग सृष्टि का उपादान है। जिस आतप (ऊष्मा–प्रकाश) का सौरमण्डल के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध है, यही आतप–ऊष्मा सौरसत्ता की स्वरूपधर्म्मलक्षणा बनती हुई स्वरूपसंरक्षिका है, यही सूर्य्य का 'ब्रह्मौदन' भाग है, जो सदा सूर्य्य के साथ ही समन्वित रहता है। जो आतप-ऊष्मा–विस्रंसन द्वारा सौरमण्डल से पृथक् होकर वायु में प्रवेश कर जाती है, जिसके प्रवेश से वायु तप्त–सन्तप्त बन जाता है, यही प्रवर्ग्यलक्षण सूर्य्य का उच्छिष्ट भाग है जिसके द्वारा पार्थिव जड़–चेतन का स्वरूप

---

* एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
—कठोपनिषत् १।२।१७।

+ यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथा अक्षराद्विविधाः सोम्य! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।१।

× य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।१।१।

संरक्षण सम्पन्न बनता है। प्रजापति से सृष्टिनिर्म्माण के लिए प्रवर्ग्यभागरूप 'उच्छिष्ट' का ही 'दान' प्राप्त होता है। एवं इस प्रजापतिवर्जित-त्यक्त-परित्यक्त-विसृष्ट-उच्छिष्ट भाग से ही प्रजा का स्वरूपनिर्म्माण होता है, जैसा कि-'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रितः' (अथर्वसंहिता ११।७।२७) इत्यादि मन्त्र श्रुति से प्रमाणित है।

मैथुनीसृष्टि का प्रधानरूप से क्योंकि आत्मप्रजापति के प्रवर्ग्य उच्छिष्ट भाग से ही सम्बन्ध है। अतएव विसर्गार्थक 'सृज' धातु से सम्बन्ध रखने वाले विसर्गात्मक प्रवर्ग्य भाग से सम्बद्ध पदार्थरचना को (प्रजापति से विसर्जित-प्रवृत्त-भाग से समुत्पन्न भूत-भौतिक प्रपञ्च को) ही 'सृष्टि' नाम से सम्बोधित करना अन्वर्थ बनता है। यही संसृष्टिलक्षणा सृष्टि का सामान्य तत्त्वानुगत सामान्य पारिभाषिक भावों का समन्वय है, जिसे आधार बना कर ही हमें आगे चल कर सृष्टि के तत्त्वानुगत पारिभाषिक भावों का समन्वय करना है। प्रवर्ग्यविद्या से सम्बन्ध रखने वाले इस सामान्य दृष्टिकोण की विशेष जिज्ञासा रखने वाले पाठकों को ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य प्रथमखण्डान्तर्गत 'प्रवर्ग्यविद्यास्वरूपपरिचय' नामक अवान्तरप्रकरण ही देखना चाहिए।

(१६७) सृष्टि शब्द का विशेष अर्थ—

दो, अथवा दो अनेक सजातीय-विजातीय-तत्त्वों के अन्तर्य्याम-सम्बन्ध का सामान्य पारिभाषिक नाम ही 'सृष्टि' है, जो 'सम्बन्ध सामान्य' की दृष्टि से सम्बन्धत्वेन सृष्टि के यच्चयावत् विवर्त्तों के साथ समन्वित हो रहा है। जिस तत्त्वभाव को 'सृष्टि' नहीं कहना चाहिए था, इस सामान्य सम्बन्ध की अपेक्षा से उसे भी 'सृष्टि' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। इधर मनुप्रजापति मनः-प्राण-वाङ्मय है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। इस मनुप्रजापति को आधार बनाकर ही सृष्टि के विशेष अर्थ का समन्वय अपेक्षित है। 'स वा एष आत्मा वाङ्मय -प्राणमय -मनोमयः' * इत्यादि शतपथी श्रुति के अनुसार मनःप्राणवाङ्मय एक ही आत्मा के 'परात्मा-परमात्मा-अवरात्मा' ये तीन विवर्त्त सम्पन्न हो जाते हैं। मनः-प्राणवाक्-के स्वाभाविक 'त्रिवृद्भाव' के कारण इन मन -प्राण-वाक्-तीनों कलाओं के प्रत्येक के तीन तीन विवर्त्त हो जाते हैं। तीनों विवर्त्तों की स्थिति-संस्थान में अन्तर केवल यही है कि, प्रथम संस्था में मन का प्राधान्य है। द्वितीय संस्था में प्राण का, एवं तृतीय संस्था में वाक् का प्राधान्य है। प्राणवाग्गर्भित मनोमय परात्मा मनःप्रधान है, मनोवाग्गर्भित प्राणमय परमात्मा प्राणप्रधान है, एवं मनःप्राणगर्भित वाङ्मय अवरात्मा वाक्प्रधान है। मनःप्रधान त्रिमूर्त्ति-परात्मा ज्ञानमय है, प्राणप्रधान त्रिमूर्त्ति परमात्मा क्रियामय है, एवं वाक्प्रधान त्रिमूर्त्ति अवरात्मा अर्थमय है। ज्ञानमय त्रिमूर्त्ति मनःप्रधान परात्मा ज्ञानप्राधान्य से 'चिदात्मा' है, क्रियामय त्रिमूर्त्ति प्राणप्रधान परमात्मा क्रियाप्राधान्य से 'कर्म्मात्मा' है, एवं अर्थमय त्रिमूर्त्ति वाक्प्रधान अवरात्मा अर्थप्राधान्य से 'भूतात्मा' है। चिदात्मलक्षण त्रिमूर्त्ति मनोमय परात्मा ('पर' आत्मा) 'अव्ययात्मा' है कर्म्मात्मलक्षणत्रिमूर्त्ति प्राणमय परमात्मा ('परम' आत्मा') 'अक्षरात्मा' है, एवं भूतात्मलक्षण त्रिमूर्त्ति

---

* स वा एष सृष्टिसाक्षी आत्मा अर्थशक्तिमयः-तस्मात् वाङ्मयः। क्रियाशक्तिमयः-तस्मात्—प्राणमयः। ज्ञानशक्तिमयः-तस्मात् मनोमयः। अतएव चात्मा मनःप्राणवाङ्मयः सृष्टिसाक्षी मनुमूर्त्तिः प्रजापतिः, इत्यवधेयम्।

वाङ्मय अपरात्मा ('अपर' आत्मा) 'क्षरात्मा' है। इधर मनु भी इन तीनों आत्मविवर्तों के साथ समन्वित होता हुआ त्रिमूर्ति बन रहा है। परात्मस्वरूप मनोमय मनु अव्ययमनु है, इसका पारिभाषिक नाम परात्पर पुरुषाव्यय नाम से समतुलित 'शाश्वतब्रह्म' है। परमात्मस्वरूप प्राणमय मनु 'अक्षरमनु' है, इसका पारिभाषिक नाम प्राणमूर्त्ति अक्षरनाम से समतुलित 'प्राण' है। अपरात्मस्वरूप वाङ्मयमनु 'क्षरमनु' है, इसका पारिभाषिक नाम वाङ्मूर्त्ति क्षरनाम से समतुलित 'वागग्नि' है। वागग्निलक्षण अपरात्मा (क्षरात्मा) प्राणलक्षण परमात्मा (अक्षरात्मा), मनोलक्षण परात्मा (अव्ययात्मा) से अभिन्न एवंविध इस मनुप्रजापति से, तद्रूपा आत्मकलाओं से सर्वथा स्वतन्त्र तीन सृष्टिधाराओं का विनिर्गम होता है।

मन प्राणवाङ्मयस्त्रिमूर्त्तिर्मनु'स्वरूपपरिलेखः—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

रूप अवस्थाभेदों से क्रमशः 'अग्नि–वायु–आदित्य' इन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। अवस्था त्रयभावापन्न अग्नि के त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश, भेद से तीन स्तोम हो जाते हैं, जिनमें क्रमशः अग्नि–वायु–आदित्य, अग्नि के तीनों विवर्त्त प्रतिष्ठित माने गए हैं। स्तोमभेद से एक ही वागग्निरूप मनु, किंवा मनुरूप वागग्नि २१ पर्य्यन्त वितत (व्यास) हो जाता है। इस २१ एकविंश स्तोमतन्तु सम्बन्ध से वागग्निरूप वैकारिक मनु के भी २१ तन्तुवितानात्मक विवर्त्त हो जाते हैं। पूर्वोक्त अण्डजादि चारों प्रजासर्गों के साथ इस २१ एकविंशतन्तुसमतुलित चतुर्विध मनु का सम्बन्ध हो रहा है। फलतः चारों के २१–२१–२१–२१, इस अनुपात से सम्भूय ८४ विवर्त्त हो जाते हैं। इस प्रकार अण्डजादि चार मनुविवर्त्तों के २१ भाविभक्त चतुर्दा विहितभावों से ८४ विवर्त्त प्रमाणित हो जाते हैं। महानात्मयुक्त योनिभावानुगत ऋणघनात्मक चतुरशीतिकल पितरप्राणों के सम्बन्ध से, एवं वागग्निबन्धन एकविंश स्तोमानुगत चतुर्दा विभक्त चतुरशीतिकल तन्तुओं के सम्बन्ध से, उभयथा इन दोनों विशेष कारणों से प्रजासर्ग चतुरशीतिकल (८४ कल) प्रमाणित हो जाता है।

(१७२) चतुर्विधमनुस्वरूपपरिचय—

अण्डज–पिण्डजादि–भेदनिबन्धन वागग्निलक्षण वैकारिक मनु से सम्बन्ध रखने वाला यह प्रजासर्ग सौरहिरण्मयमण्डलात्मक प्राणलक्षण अक्षर मनु से अनुप्राणित है। सौरमनुप्राण सौरगौसाहस्री से सहस्र महिमाभावों से समन्वित माना गया है। इस सहस्ररश्मिभावापन्न सौर हैरण्यगर्भमनुर्म्मण्डल में मुक्त–प्रतिष्ठित अण्डजपिण्डजादि भेदभिन्न पार्थिवसौम्यत्रिलोकी में वितत वागग्निरूप एकविंशतिधारूप से चतुर्दा वितत–चतुरशीतिकल वैकारिक पार्थिव मनु की प्रत्येक कला के साथ आधारभूत सौरगौसाहस्री का सम्बन्ध हो जाता है। फलतः ८४ के स्थान में ८४ सहस्र कलाविभाग हो जाते हैं। आगे चलकर 'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' इस रश्मिवितानात्मक साहस्रीविज्ञान–सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कलासाहस्री के साथ सहस्र–सहस्र भावों के अवान्तर वितान का सम्बन्ध हो जाता है। एक साहस्री ही शतसाहस्री बन जाती है। फलतः—८४ साहस्री के महिमात्मक साहस्रीभाव चतुरशीतिलक्ष बन जाते हैं। और यों महानात्मनिबन्धन योनिभाव चतुरशीतिकल पितृप्राणसम्बन्ध से, तथा चतुरशीतिकल मनुप्राणसम्बन्ध से चतुरशीतिलक्षकल बन जाता माना है, जैसा कि संग्रहात्मक परिलेखों से स्पष्ट है—

आत्मलक्षणमनुःपरिलेख–

१—अव्ययमनु (स्वाम्भुवमनु—स्वायम्भुवः)—भावसर्गाधिष्ठाता—शान्तब्रह्ममूर्त्तिः
२—अक्षरमनुः (हैरण्यगर्भमनु—सौरः)—गुणसर्गाधिष्ठाता—प्राणमूर्त्तिः
३—क्षरमनुः (इयगममनुः—पार्थिवः)—विकारसर्गाधिष्ठाता—वागग्निमूर्त्तिः

———×———

सर्गलक्षणमनुःपरिलेख–

१—पुरुषसर्गः ——आत्मसर्गः—स्वायम्भुवः-पूर्वसर्गः—व्याप्तकः—सर्गः
२—परप्रकृतिसर्गः—चेतनसर्गः—सौरः —प्राकृतसर्गः-रूपात्मकः—सर्गः
३—अपरप्रकृतिसर्गः-अचेतनसर्गः—पार्थिवः —वैकारिकसर्गः-एकात्मकः—सर्गः

स्तोमानुगतत्रिदेवस्वरूपपरिलेख'–

१—त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न —अग्निर्घनावस्थापन्न —अग्नि (९) २—पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न —अग्निर्तरलावस्थापन्न —वायु (१५) ३—एकविंशस्तोमावच्छिन्न —अग्निर्विरलावस्थापन्न —आदित्य (२१)	वागग्निरेकविंशतिकल — तद्रूपो वैकारिकमनु एकविंशतिकल

अण्डज पिण्डज-स्वेदज-उद्भिज्जमनुःस्वरूपपरिलेख –

१—अण्डजमनु —वैकारिकमनुभावेन समन्वित —एकविंशतिकल (२१) २—पिण्डजमनु —वैकारिकमनुभावेन समन्वित —एकविंशतिकल (२१) ३—स्वेदजमनु —वैकारिकमनुभावेन समन्वित —एकविंशतिकल (२१) ४—उद्भिज्जमनु —वैकारिकमनुभावेन समन्वित —एकविंशतिकल २१)	चतुरशीतिकल वागग्निमनुर्वैकारिक (८४) चतुरशीतिकलमित

एकविंशतिसहस्रभावापन्नमनु स्वरूपपरिलेख'–

१—सौरहैरण्यगर्भमनुसाहस्रीसम्बन्धेन	अण्डजमनुरेकविंशतिकल	—	सहस्रभावापन्न	—२१ ००
२—	,,	—पिण्डजमनु—	,,	—२१ ०
३—	,,	—स्वेदजमनु—	,	—२१
४—	,,	—उद्भिज्जमनु—	,,	—२१ ०

८४ मनुभावा
चतुरशीतिसहस्रमिता

चतुरशीतिलक्ष (८४००००) मितमनुर्भावपरिलेख'–

१—अण्डजमनुभावा	२१०	साहस्री–महिमसम्बन्धेन सहस्रधा विभक्ता		—२१०
२—पिण्डजमनुभावाः	२१	——	,,	——२१
३—स्वेदजमनुभावा	२१०	——	,	——२१
४—उद्भिज्जमनुभावा	२१ ०	——	,,	——२१ ०

सर्वे ८४० ० चतुरशीतिलक्षमिता —
वागग्निमया—वैकारिकमनुभावा

मूल–तूल–वितान–महिम–मनुचतुष्टयीपरिलेख–

(१)—एकविंशतिविकलमित	वागग्निमूलमनु	२१	(आत्मा)	"चत्वारो मनव–स्तथा"
(२)—चतुरशीतिविकलमित	वागग्नितूलमनु	८४	(पदम्)	
(३)—चतुरशीतिसहस्रविकलमित	वागग्निर्वितानमनु	८४०००	(पुनःपदम्)	
(४)—चतुरशीतिलक्षविकलमित	वागग्निर्महिममनु	८४०००००	(महिमा)	

(१७३) विभूति–योग–बन्धात्मक सम्बन्ध—

तात्पर्य्य, 'मैथुनीसृष्टि' लक्षणा विकारसृष्टि के मूलप्रभव वागग्निमय वैकारिक–पार्थिव इरारसमवत्वेन हिरण्मय* नाम से ही प्रसिद्ध परात्परसमन्वित मनु चतुर्द्धा विभक्त होकर ही अण्डजादि चार स्वतन्त्र विकार-सर्गों के मूलप्रवर्त्तक बन रहे हैं। सौरमण्डलमुक्त स्वर्गप्राप्त, एवं तत्सम्पतुलित चतुर्द्धा विभक्त मनु, दोनों भावसर्गों (अव्ययात्मानुगत मानससर्गों) के आधार पर ही भूतभौतिकलक्षण–गुणाणुरेणुमूलसमन्विता मैथुनीसृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है। निष्कर्षत—'भाव, गुण विकार,' इस तीन सर्गों का क्रमशः, 'अव्ययपुरुष, पराप्रकृतिलक्षण अक्षर, अपराप्रकृतिलक्षण क्षर' इन तीन आत्मभावों से क्रमिक सम्बन्ध है, जिनमें मनोमय भावसर्ग का अव्ययपुरुष से, प्राणमय गुणसर्ग का अक्षर से, वाङ्मय विकारसर्ग का क्षर से समन्वय हो रहा है। इन तीनों सर्गों को 'मनु' के सम्बन्ध से अवश्य ही 'मानवसर्ग' अभिधा से सम्बोधित किया जा सकता है, जिनका क्रमानुगत 'विभूति–योग–बन्ध' नामक तीन सम्बन्धों से क्रमिक सम्बन्ध माना गया है।

(१७४) वर्णों के अष्टादश (१८) विवर्त—

रसबलात्मक आत्मा का रसभाग निसर्गतः असङ्गभावापन्न है। असङ्गरस के आधार पर 'वीची-तरङ्गन्याय' से तरङ्गायित आन्दोलित उच्चावचभावेन आलोडित–विलोडित बलों का ही परस्पर सम्बन्ध धारारूप से प्रक्रान्त रहता है। यह बलसम्बन्ध 'त्रयी–अष्टादश–असंख्य' भेद से तीन श्रेणिविभागों में विभक्त माना गया है। बलों के असंख्य सम्बन्धों के कारण ही विश्वपदार्थ के नाम–रूप–कर्म–भावों में असंख्यसंख्यात परस्परविरुद्ध–अविरुद्ध–वैचित्र्यों का (भिन्नता–अभिन्नता का) उदय उपलब्ध होता है। इन असंख्य बलसम्बन्धों का एक अमुक तात्त्विक कारणविशेष के आधार पर वैज्ञानिकों नें अष्टादश

---

* सौरहिरण्मयात्मा 'विज्ञानात्मा' कहलाया है। पार्थिव इरामय आत्मा प्रज्ञानात्मा कहलाया है। विज्ञानात्मा वास्तव में हिरण्मय होने से वहाँ 'हिरण्मयपुरुष' कहलाया है, वहाँ पार्थिवप्रज्ञानात्मा इरामय होने से परोक्षभावमाध्यम से 'हिरण्मयपुरुष' मान लिया गया है, जैसाकि—'यदि–इरामयस्तस्मात्–हिरण्मय' इत्यादि ऐतरेयश्रुति से प्रमाणित है। अतएव सौरहिरण्यगर्भमनुवत् पार्थिव इरामयमनु को भी 'हिरण्मय-मनु' कहा जा सकता है।

(१८) संख्याओं में पर्य्यवसान मान लिया है+ । इन अष्टादश बलसम्बन्धों के भेद से ही रसात्मक अव्यक्त एक आत्मा के सोपाधिक १८ विवर्त हो जाते हैं+।

"१-सन्धि, २-दहरोत्तर, ३-अन्तरान्तरीभाव, ५-अभ्यूद, ६-अमितघृणिता, ७-उदार, ८-आसङ्ग, ९-अन्तर्य्याम, १०-पर्याप्तघृणित्त्व, ११-अन्यामक्तिघृणित्त्व, १२-स्वरूप, १३-चिति, १४-संशार, १५-सम्भूति १६-विभूति, १७-अनुभूति, १८-सामान्यघृणित्त्व," इन नामों से यत्र-तत्र निगमागमशास्त्र में उपवर्णित १८ बलसम्बन्धों का आगे जाकर वैज्ञानिकों नें तीन सूक्ष्म सम्बन्धों में ही अन्तर्भाव मान लिया है, जिन्हें पूर्व में-'विभूति-योग-बन्ध' इन नामों से व्यवहृत किया गया है। इस प्रकार अर्संख्य-अष्टादश-त्रय-भेद से बल सम्बन्धों के तीन श्रेणी विभाग बन जाते हैं।

बलों का पारस्परिक वह सम्बन्ध, जिसे न तो सम्बन्ध ही कहा जा सकता, एवं न असम्बन्ध ही कहा जा सकता, ऐसा 'सम्बन्ध-असम्बन्धात्मक' सम्बन्ध ही 'विभूतिसम्बन्ध' माना गया है। भावसर्गप्रवर्तक अव्ययात्मा किंवा मनोमय अव्ययात्मरूप शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति स्वयम्भूमनु इसी सम्बन्धासम्बन्धात्मक विभूतिसम्बन्ध से विश्व में व्याप्त हो रहा है। दर्पण में प्रतिबिम्बित मुखाकृति, किंवा शरीराकृति का दर्पण-पटल के साथ जो सम्बन्ध है, वही विभूतिसम्बन्ध का उदाहरण माना जा सकता है। जलपरिपूर्णपात्र के साथ सम्बद्ध सूर्य्य-प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध भी विभूत्यात्मक ही माना जायगा। यह सम्बन्ध शुद्ध बहिर्य्यामात्मक बहिर्य्यासम्बन्ध है, जिसका संसृष्टिलक्षण सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है। बलों का ऐसा विभूतिसम्बन्धात्मक बहिर्य्यासम्बन्ध (असम्बन्धात्मक-सम्बन्ध) कभी मूर्त्तभाव का जनक नहीं बन सकता। अतएव विभूतिसम्बन्धात्मक अव्यय-सर्ग को तत्त्व वैज्ञानिकों नें 'मानससर्ग' नाम से ही घोषित किया है। मानससर्गप्रवर्त्तक, विभूतिसम्बन्धयुक्त, मनःशक्तिमात्रघन, मनोमय अव्ययात्मा संसृष्टिलक्षणा मूर्त्तसृष्टि का केवल साक्षी ही बना रहता है, जैसा कि-'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि श्रौतवचन से प्रमाणित है *। अतएव इसे 'सृष्टिसाक्षी' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है।

+ पाञ्चभौतिक विश्व का स्वरूप अठारह बलसम्बन्धों से समन्वित बलतत्त्व के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव 'अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म' (कठोपनिषत्) के अनुसार 'अवर' नामक उपनिबन्धन भौतिक कर्म्म अष्टादशावयव ही मान लिया गया है। इसी संख्या रहस्य के आधार पर संकेतरूप से तत्त्ववाद की ओर आपप्रजा का ध्यान आकर्षित करने के लिए आर्षवैज्ञानिकों नें विश्वविद्याप्रतिपादक पुराणशास्त्र, इतिहासशास्त्र (महाभारत), स्मृतिशास्त्र-गीताशास्त्र, आदि आर्षग्रन्थों के १८ पुराण, १८ पर्व, १८ स्मृतियाँ, १८ अध्याय, इत्यादि रूप से अष्टादशसंख्या को लक्ष्य बनाया है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्ड के 'संख्यारहस्य' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

+ सोपाधिक इन १८ अठारह खण्डात्माओं का सुविशद वैज्ञानिक विश्लेषण खण्डचतुष्टयात्मक 'आत्मविज्ञान' नामक ग्रन्थ के 'आत्मस्वरूपविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम खण्ड में द्रष्टव्य है।

* अनादित्वात्-निर्गुणत्वात्-परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति, न लिप्यते ॥
—गीता १३।३१

मूल–तूल–वितान–महिम–मनुचतुष्टयीपरिलेख–

(१)–एकविंशतिविकल्पमितः———वागग्निमूलमनुः— २१ —(आत्मा)
(२)–चतुरशीतिविकल्पमितः———वागग्नितूलमनुः— ८४ —(पद्म)
(३)–चतुरशीतिसहस्रविकल्पमितः———वागग्निर्वितानमनु— ८४००० —(पुनःपद्म)
(४)–चतुरशीतिलक्षविकल्पमित———वागग्निर्महिममनु— ८४००००० —(महात्मा)

—"चत्वारो मनवस्तथा"

(१७३) विभूति–योग–बन्धात्मक सम्बन्ध—

तात्पर्य्य, 'मैथुनीसृष्टि' लक्षणा विकारसृष्टि के मूलप्रभव वागग्निमय वैकारिक–पार्थिव हृदयरसमन्त्वेन हिरण्मय* नाम से ही प्रसिद्ध चतुष्कसमन्वित मनु चतुर्धा विभक्त होकर ही अण्डजादि चार स्वतन्त्र विकार सर्गों के मूलप्रवर्त्तक बन रहे हैं। खेरमयबलमुक्त सर्वप्राण, एवं तत्समतुलित चतुर्धा विभक्त मनु, दोनों भावसर्गों (अव्ययात्मानुगत मानससर्गों) के आधार पर ही भूतभौतिकलक्षण–गुणाणुरेणुभूतसमन्विता मैथुनीसृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ है। निष्कर्षत—'भाव, गुण, विकार,' इस तीन सर्गों का क्रमशः, 'अव्ययपुरुष, परामकृतिलक्षण अक्षर, अपराप्रकृतिलक्षण क्षर' इन तीन आत्मभावों से क्रमिक सम्बन्ध है, जिनमें मनोमय भावसर्ग का अव्ययपुरुष से, प्राणमय गुणसर्ग का अक्षर से, वाङ्मय विकारसर्ग का क्षर से सम्बन्ध हो रहा है। इन तीनों सर्गों को 'मनु' के सम्बन्ध से अवश्य ही 'मानवसर्ग' अभिधा से सम्बोधित किया जा सकता है, जिनका क्रमानुगत 'विभूति–योग–बन्ध' नामक तीन बलसम्बन्धों से क्रमिक सम्बन्ध माना गया है।

(१७४) बलों के अष्टादश (१८) विवर्त्त—

रसबलात्मक आत्मा का रसभाग निधर्मक असङ्गभावापन्न है। असङ्गरस के आधार पर 'वीची-तरङ्गन्याय' से तरङ्गायित आन्दोलित उच्चावचभावेन आलोडित–विलोडित बलों का ही परस्पर सम्बन्ध धारारूप से प्रक्रान्त रहता है। यह बलसम्बन्ध 'त्रयी–अष्टादश–असंख्य' भेद से तीन श्रेणिविभागों में विभक्त माना गया है। बलों के असंख्य सम्बन्धों के कारण ही विश्वपदार्थ के नाम–रूप–कर्म–भावों में असंख्यासंख्यात परस्परविरुद्ध–अविरुद्ध–वैचित्र्यों का (विभिन्नता–अभिन्नता का) उदय उपलब्ध होता है। इन असंख्य बलसम्बन्धों का एक अमुक तात्त्विक कारणविशेष के आधार पर वैज्ञानिकों नें अष्टादश

---

* खेरहिरण्मयात्मा 'विज्ञानात्मा' कहलाया है। पार्थिव हृदयमय आत्मा प्रज्ञानात्मा कहलाया है। विज्ञानात्मा वास्तव में हिरण्मय होने से यहाँ 'हिरण्मयपुरुष' कहलाया है, यहाँ पार्थिवप्रज्ञानात्मा हृदयमय होने से परोक्षभावमाध्यम से 'हिरण्मयपुरुष' मान लिया गया है, जैसाकि—'यद्धि–हृदयमयत्तस्मात्–हिरण्मयः' इत्यादि ऐतरेयश्रुति से प्रमाणित है। अतएव खेरहिरण्यगर्भमनुवत् पार्थिव हृदयमनु को भी 'हिरण्मय मनु' कहा जा सकता है।

(१७५)—श्लथबन्धमीमांसा—

वर्त्तों का पारस्परिक यह सम्बन्ध, जिसे 'सम्बन्ध' सा कहा जा सकता है, किन्तु जिस सम्बन्ध में ग्रन्थिबन्धनात्मक स्वभाव नहीं है, ऐसा शिथिलबन्धात्मक सम्बन्ध ही 'योगसम्बन्ध' माना जायगा। गुणसर्गप्रवर्त्तक अक्षरात्मा, किंवा प्राणमयावरात्मरूप प्राणमूर्त्ति सौर हिरण्यगर्भ मनु इसी शिथिलबन्धात्मक योगसम्बन्ध से सृष्टि में व्याप्त हो रहा है। दर्पण में खचित कृष्ण-पीत-रक्तादि रूपप्रतिमाओं का दर्पणपृष्ठ के साथ जो सम्बन्ध है, यही योगसम्बन्ध का उदाहरण माना जायगा, जिसे थोड़े बलप्रयोग से बलादिमाध्यम से निःशेष किया जा सकता है। ऐसा श्लथसम्बन्ध भी संश्लिष्टलक्षणा सृष्टि का आरम्भक (उपादान) नहीं बन सकता। अतएव योगसम्बन्धात्मक अक्षरसर्ग को वैज्ञानिकों नें 'गुणसर्ग' कहा है, जिसका अर्थ है अव्यापक तन्मात्रसर्ग, जो मूर्त्तसर्ग का केवल निमित्त ही बना करता है। गुणसर्गप्रवर्त्तक-योगसम्बन्धसमन्वित-शिथिलबन्धन-प्राणमय अक्षरात्मा संश्लिष्टलक्षणा मूर्त्तसृष्टि का केवल निमित्त ही बना रहता है, जैसा कि—'आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः' * इत्यादि वचन से स्पष्ट है। अतएव इसे 'सृष्टिनिमित्त' कहा अन्वर्थ जाता है।

(१७६)—पेशस्कारसम्बन्ध, और मनुत्रयी—

विजातीय वर्त्तों का यह सम्बन्ध, जिसे एकीभावात्मक (समन्वयात्मक) सम्बन्ध ('सम्' समन्वयात्मक एकीभावानुगत बन्धनात्मक) कहा गया है, ऐसे ग्रन्थिबन्धनात्मक इस अन्तर्य्यामसम्बन्ध को ही 'बन्ध' नामक सम्बन्ध माना जायगा, जिसमें समन्वित विजातीय वर्त्तों का पूर्वस्वरूप उपमर्दित हो जाता है। एवं सर्वथा नवीन मूर्त्तस्वरूप उद्भूत हो जाता है। उदाहरण के लिए 'अम्भ' नामक पारमेष्ठ्य अप्तत्व (जो कि वर्त्तमान भूतविज्ञानवादियों का आक्सिजन तत्व हो), एवं 'पवमान' नामक सौर आग्नेयतत्व (जो सम्भवतः हाइड्रोजन तत्व हो), दोनों के अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक (वर्त्तमान विज्ञानभाषा के रासायनिक मिश्रण रूप सम्बन्धात्मक) बन्धसम्बन्ध से पेय पार्थिव 'जल' की सृष्टि हुई है, जिसमें अम्भ-पवमान, दोनों का पूर्वस्वरूप उपमर्दित है, 'जल' रूप अपूर्व भाव का उदय है। सोरा-कोयला, दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से बारूदतत्वविशेष ('बारूद' नामक अपूर्वतत्व) का उदय हो जाता है। शुक्र-शोणित के बन्धनात्मक सम्बन्ध से 'शिशु' रूप अपूर्व भाव समुत्पन्न हो जाता है। दर्पण-(रवेतकाच) के साथ प्रकाशरश्मिबिन्दु (फोकस) के माध्यम से सम्बन्धित चित्र (फोटो) का दर्पणपृष्ठ के साथ जो रासायनिक है, उसे भी बन्धसम्बन्ध का उदाहरण माना जा सकता है। ऐसा ग्रन्थिबन्धनात्मक बन्धसम्बन्ध ही संश्लिष्ट मूर्त्तसृष्टि का आरम्भण (उपादानकारण) बना करता है। इस सम्बन्ध में सम्बन्धियों की पूर्वस्थितियों का उपमर्द न हो जाता है। अतएव इसे 'विकृतिसम्बन्ध' भी मान लिया गया है। ... बन्धसम्बन्धात्मक क्षरसर्ग को वैज्ञानिकों नें 'विकारसर्ग' नाम से सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ है

* आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः ।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥
—श्वे० उप० ६।५।

धामच्छद (जगह रोकने वाला) मूर्त–भूतभौतिक सर्ग। विकारसर्गप्रवर्त्तक–बन्धसम्बन्धसमन्वित–अर्थशक्तिघन वाङ्मय–क्षरात्मा ही रूपाष्टिलक्षणा मूलसृष्टि का उपादानात्मक 'आरम्भण' नामक कारण बना करता है, जैसा कि–
"तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादाय अन्यत्–नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते" (बृ० उप० ४।४।४)
इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। अतएव इस क्षरात्मा, किंवा वागग्निमूर्त्ति–(सोमगर्भित अग्निमूर्त्ति, अतएव अग्नीषोमात्मक) मनु को 'सृष्टि–आरम्भण' (सृष्ट्युपादान कारण) कहना अन्वर्थ बनता है। निष्कर्ष'–विभूति–योग–बन्ध–नामक सम्बन्धत्रयी से क्रमशः समन्वित अव्ययात्मानुगत शाश्वतब्रह्मलक्षण स्वयम्भूमनु 'सृष्टिसाक्षी' बनता हुआ 'विश्वाधार' है, यही भावसर्ग का मूलप्रवर्त्तक है। अक्षरात्मानुगत प्राण लक्षण हिरण्यगर्भ सौरमनु 'सृष्टिकर्त्ता' बनता हुआ 'विश्वनिमित्त' है, यही गुणसर्ग का मूलप्रवर्त्तक है। एवं अक्षरात्मानुगत वागग्निलक्षण इरामय पार्थिवमनु 'सृष्टि-उपादान' बनता हुआ 'विश्वोपादान' है, यही विकार-सर्ग का मूलप्रवर्त्तक है। इस प्रकार अपने आधार–निमित्त–उपादानभावात्मक विभूति–योग–बन्ध–नामक सम्बन्धभावों में परिणत होता हुआ मनःप्राणवाङ्मय–शाश्वतब्रह्म–प्राण–अग्निमूर्त्ति स्वायम्भुव–सौर–पार्थिव मनु ही सर्वथा प्रमाणित हो रहा है, जैसा कि तालिका से स्पष्ट है—

(१७५)—श्लथबन्धमीमांसा—

वर्णों का पारस्परिक वह सम्बन्ध, जिसे 'सम्बन्ध' तो कहा जा सकता है, किन्तु जिस सम्बन्ध में ग्रन्थिबन्धनात्मक दृढभाव नहीं है, ऐसा शिथिलबन्धात्मक सम्बन्ध ही 'योगसम्बन्ध' माना जायगा। गुणसर्गप्रवर्त्तक अक्षरात्मा, किंवा प्राणमयाक्षरात्मरूप प्राणमूर्त्ति स्रौर हिरण्यगर्भ मनु इसी शिथिलबन्धात्मक योगसम्बन्ध से सृष्टि में व्याप्त हो रहा है। दर्पण में खचित कृष्ण—पीत—रक्तादि रूपप्रतिमाओं का दर्पणफलक के साथ जो सम्बन्ध है, वही योगसम्बन्ध का उदाहरण माना जायगा, जिसे थोड़े बलप्रयोग से जलादिमाध्यम से निःशेष किया जा सकता है। ऐसा श्लथसम्बन्ध भी संसृष्टिलक्षणा सृष्टि का आरम्भक (उपादान) नहीं बन सकता। अतएव योगसम्बन्धात्मक अक्षरसर्ग को वैज्ञानिकों नें 'गुणसर्ग' कहा है, जिसका अर्थ है अधामच्छद तन्मात्रसर्ग, जो मूर्त्तसर्ग का केवल निमित्त ही बना करता है। गुणसर्गप्रवर्त्तक—योगसम्बन्धसमन्वित—क्रियाशक्तिघन—प्राणमय अक्षरात्मा संसृष्टिलक्षणा मूल सृष्टि का केवल निमित्त ही बना रहता है, जैसा कि—'आदिः स संयोगनिमित्तहेतु' * इत्यादि वचन से स्पष्ट है। अतएव इसे 'सृष्टिनिमित्त' कहना अन्वर्थ बनता है।

(१७६)—पेशस्कारसम्बन्ध, और मनुत्रयी—

विजातीय वर्णों का वह सम्बन्ध, जिसे एकीभावात्मक (समन्वयात्मक) सम्बन्ध ('सम्' बन्धनात्मक—एकीभावानुगत बन्धनात्मक) कहा गया है, ऐसे ग्रन्थिबन्धनात्मक इस अन्तर्य्यामसम्बन्ध को ही 'बन्ध' नामक सम्बन्ध माना जायगा, जिसमें समन्वित विजातीय वर्णों का पूर्वस्वरूप उपमर्दित हो जाता है। एवं अपूर्व नवीन मूर्त्तस्वरूप उद्बुद्ध हो जाता है। उदाहरण के लिए 'अम्भ' नामक पारमेष्ठ्य अप्तत्व (जो सम्भवतः वर्त्तमान भूतविज्ञानवादियों का आक्सिजन तत्त्व हो), एवं 'पवमान' नामक स्रौर आग्नेयतत्त्व (जो सम्भवतः हाइड्रोजन तत्त्व हो), दोनों के अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक (वर्त्तमान विज्ञानक्षत्र के रासायनिक मिश्रण रूप सम्बन्धात्मक) बन्धसम्बन्ध से पेय पार्थिव 'जल' की सृष्टि हुई है, जिसमें अम्भ—पवमान, दोनों का पूर्वस्वरूप उपमर्दित है, 'जल' रूप अपूर्व भाव का उदय है। शोरा—कोयला, दोनों के रासायनिक सम्मिश्रण से दाह्यतत्त्वविशेष ('बारूद' नामक अपूर्वतत्त्व) का उदय हो जाता है। शुक्र—शोणित के बन्धनात्मक सम्बन्ध से 'शिशु' रूप अपूर्व भाव समुत्पन्न हो जाता है। दर्पण—(श्वेतकाच) के साथ प्रतीकरश्मिबिन्दु (फोकस) के माध्यम से समन्वित चित्र (फोटो) का दर्पणफलक के साथ जो दृढसम्बन्ध है, उसे भी बन्धसम्बन्ध का उदाहरण माना जा सकता है। ऐसा ग्रन्थिबन्धनात्मक बन्धसम्बन्ध ही संसृष्टिलक्षणा मूर्त्तसृष्टि का आरम्भण (उपादानकारण) बना करता है। इस सम्बन्ध में सम्बन्धियों की स्वस्वरूपात्मिका पूर्वप्रज्ञाधियों की उपमर्द न हो जाता है। अतएव इसे 'विकृतिसम्बन्ध' भी मान लिया गया है। एवं च बन्धसम्बन्धात्मक क्षरसर्ग को वैज्ञानिकों नें 'विकारसर्ग' नाम से सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ है

---

* आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्॥

—श्वे० उप० ६।५।

धामच्छद (जगॅह रोकने वाला) मूर्त–भूतभौतिक सर्ग। विश्वसर्गप्रवर्तक–बन्धसम्बन्धसमन्वित–अर्थशक्तिघन वाङ्मय–क्षरात्मा ही सम्पत्तिलक्षणा मूर्त्तसृष्टि का उपादानात्मक 'आरम्भण' नामक कारण बना करता है, जैसा कि–"तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादाय अन्यत्–नवतर कल्याणतरं रूपं तनुते" (बृ० उप० ४।४।४) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है। अतएव इस क्षरात्मा, किंवा वागग्निमूर्त्ति–(सोमगर्भित अग्निमूर्त्ति, अतएव अग्नीषोमात्मक) मनु को 'सृष्टि–आरम्भण' (सृष्ट्युपादान कारण) कहना अन्वर्थ बनता है। निष्कर्षतः–विभूति–योग–बन्ध–नामक सम्बन्धत्रयी से क्रमशः समन्वित अव्ययात्मानुगत शाश्वतब्रह्मलक्षण स्वयम्भूमनु 'सृष्टिसाक्षी' बनता हुआ 'विश्वाधार' है, यही भावसर्ग का मूलप्रवर्त्तक है। अक्षरात्मानुगत प्राण लक्षण हिरण्यगर्भ सौरमनु 'सृष्टिकर्त्ता' बनता हुआ 'विश्वनिमित्त' है, यही गुणसर्ग का मूलप्रवर्त्तक है। एवं अक्षरात्मानुगत वागग्निलक्षण इरामय पार्थिवमनु 'सृष्टि-उपादान' बनता हुआ 'विश्वोपादान' है, यही विकार-सर्ग का मूलप्रवर्त्तक है। इस प्रकार अपने आधार–निमित्त–उपादानभावात्मक विभूति–योग–बन्ध–नामक सम्बन्धभावों में परिणत होता हुआ मनःप्राणवाङ्मय–शाश्वतब्रह्म–प्राण–अग्निमूर्त्ति स्वायम्भुव–सौर–पार्थिव मनु ही सर्वस्वा प्रमाणित हो रहा है, जैसा कि तालिका से स्पष्ट है—

मूलात्ममनुःस्वरूपपरिलेखः—
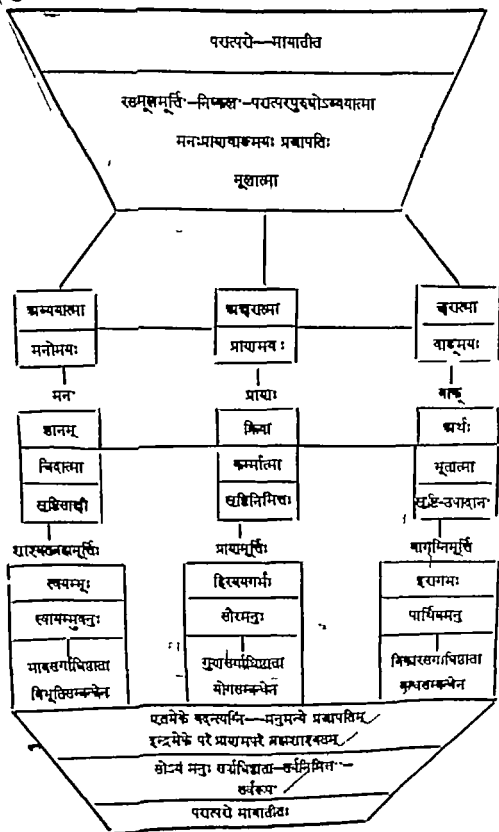
(१७७) मनुसृष्टि के सामान्य अनुबन्ध—

त्रिविध मानससर्ग (भाव–गुण–विकारसर्ग) से सम्बन्ध रखने वाले प्रक्रान्त विश्वस्वरूपमीमांसा–प्रकरण में सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक मन्वथशेषानुसारिणी नैगमिक परिभाषाओं का प्रासङ्गिक विश्लेषण पाठकों के सम्मुख समुपस्थित किया गया। अब संक्षेप से सृष्टि के सामान्य सर्गों से सम्बन्ध रखने वाले पारिभाषिक उन अनुबन्ध–भावों का दिग्दर्शन उपक्रान्त हो रहा है, जिनके कारण परस्परात्यन्त भी विरुद्ध विश्वसर्गों का सर्गत्वेन समसमन्वय हो रहा है। प्रत्येक नवीन कार्य्य में, किंवा नूतन सर्ग में 'कामना–तप–श्रम' इन तीन सामान्य भावों का सम्बन्ध रहता है, जो क्रमशः पूर्वप्रतिपादित 'विभूति–योग–बन्ध' सम्बन्धों से समतुलित है। विभूतिसम्बन्धात्मिका कामना, योगसम्बन्धात्मक तप, एवं बन्ध सम्बन्धात्मक श्रम, तीनों भाव प्रत्येक सर्ग में अनिवार्य्यरूपेण क्योंकि समन्वित रहते हैं, अतएव इन तीनों को हम अवश्य ही 'सृष्टिसामान्यानुबन्ध' कह सकते हैं। बिना कामना के किसी भी क्रिया की प्रवृत्ति शक्य नहीं है। अतएव इस कामनानुबन्ध को सर्वप्रथम, तथा मुख्य अनुबन्ध माना जायगा, जिसका कि–'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादिरूप से पूर्व में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण किया जा चुका है*।

"हम अमुक कार्य्य करना चाहते हैं" इस कामना का उक्थभावापन्न कामसमुद्र+ मन से सम्बन्ध है। मन ही कामना का उक्थ (मूलप्रभव) माना गया है। कामना के अव्यवहिताचरकाल में ही दूसरे योग सम्बन्धात्मक 'तप' नामक अनुबन्ध का उदय हो पड़ता है, जो उक्थमन से प्राणद्वारा विनिर्गत बनता हुआ 'अर्क' नाम से प्रसिद्ध है। इच्छोदय के अनन्तर इच्छा को कार्य्यरूप (मूर्त रूप) में परिणत कर देनेवाला जो आभ्यन्तर सूक्ष्म व्यापार है, वही विज्ञानभाषा में 'तप' कहलाया है, जो शारीरिक आग्नेय आङ्गिरस प्राण, तथा सौम्य भार्गवप्राण से अनुप्राणित रहता हुआ–'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' इस श्रौत परिभाषा को चरितार्थ बना रहा है। 'प्राणवान्' रूप प्राणविसर्ग ही तप का स्वरूपलक्षण है। अपनी इच्छा के द्वारा मानव किसी बाह्यपरिग्रह–सम्पत्–भूत भाग का ही तो आदान करना चाहता है। 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' सिद्धान्तानुसार मानव स्वतोभावेन प्रकृत्या भी परिपूर्ण है, एवं पूर्णपुरुषात्मक मनोमय स्वायम्भुमनु के मानससर्ग से समतुलित रहता हुआ भी परिपूर्ण है। अतएव तदवधिपर्य्यन्त मानव में अन्य बाह्य भौतिक सम्पत्तिपरिग्रह संस्कार का अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठापन सम्भव नहीं है, यावदवधिपर्य्यन्त यह अपने परिपूर्ण प्राकृत आध्यात्मिक भार्गवाङ्गिरसप्राण को संघर्षद्वारा भविष्य में समागत होने वाली संस्काररूपा बाह्यसम्पत्परिग्रह के प्रतिष्ठापन के लिए रिक्त नहीं बना लेता। इस रिक्तता–सम्पादन के लिए होने वाला प्राणसंघर्षात्मक

---

* अकामस्य क्रिया काचित्–दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥
—मनु २।४।

+ काम समुद्रमाविशेत्याह। समुद्र इव हि कामः।
नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति, न समुद्रस्य।
—तै० ब्रा० २।२।५।६।

आभ्यन्तर व्यापार ही 'तप' है, जिसका मौलिक अर्थ है- स्वप्राणदान'। इसी आधार पर श्रुति का- 'प्रयोगेनैके अमृतत्त्वमानशुः' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इसी आधार पर वैज्ञानिकों ने तप का लक्षण किया है—

" एतद्वै तप इत्याहु—यत् स्वं ददाति" (तै॰ ब्राह्मण)।

(१७८) तप और क्रतुमीमांसा—

त्यागपूर्वक ही आदान सम्भव है, संघर्ष ही त्याग का मूलप्रभव माना गया है, त्याग ही संग्रह की प्रतिष्ठा बना करता है। यह सर्वात्मना सुनिश्चित है कि, जो मानव प्राणसंघर्षद्वारा प्राणत्यागपूर्वक परिपूर्ण प्राकृतिक-संघर्षपूर्वक बाह्यसम्पत् का अर्जन करता है, उस मानव की सम्पत् में ही स्थायित्व धर्म्म समाविष्ट रहा करता है। ठीक इसके विपरीत जो लालस मानवाभास अपने आपको सर्वात्मना संघर्ष से बचाने के लिए प्रयत्नशील बना रहता हुआ धूर्तता-छल-व्याजभावों के माध्यम से अनायासेन सम्पत्ति की लालसा लिप्सा-एषणा-में प्रवृत्त रहता है, सर्वप्रथम तो वह वास्तविक सम्पत्-संग्रह में सफलता प्राप्त कर ही नहीं सकता। यदि घुणाक्षरन्यायेन इसकी यह लिप्सा कदाचित् सफल हो भी जाती है, तो भी ऐसी संघर्षशून्या सम्पत् के उपभोग में यह मानव स्वानुभूतिलक्षणा तृप्ति-शान्ति तुष्टि-पुष्टि-ऋद्धि-समृद्धिभावों का संस्पर्श भी प्राप्त नहीं कर सकता। प्राणदानरूपा तपस्या के द्वारा प्राप्त सम्पत् में ही स्थिरता है, तृप्त्यनुभूति है। अतएव लोक में –'यह हमारे पसीने की गाढ़ा (स्थिर) कमाई है' यह आमाणक प्रसिद्ध है। वक्तव्य यही है कि, इच्छा के अव्यवहितोत्तरकाल में ही शारीरिक प्राण में एक प्रकार का संघर्ष हो पड़ता है, भीतर 'हलचल' सी मच जाती है। यही अन्तर्व्यापार है, जिसे विज्ञानभाषा में 'तप', याज्ञिकपरिभाषा में 'क्रतु', व्यवहारभाषा (संस्कृतभाषा) में 'कृति-यत्न-चेष्टा', एवं यावनीभाषा में 'कोशिश' आदि विविध अभिधाओं से व्यवहृत हुआ है।

(१७९) श्रम, और कृत-मीमांसा—

तपोलक्षण प्राणव्यापार के अनन्तर ही बाह्य शरीरव्यापार हो पड़ता है। यही स्थूल व्यापार है, भूतव्यापार है, जिसे 'वाग्व्यापार' भी कहा जा सकता है। विज्ञानभाषा में यही 'श्रम' नाम से प्रसिद्ध है, यज्ञभाषा में यही 'दक्ष' नाम से प्रसिद्ध है, संस्कृतभाषा में यही 'कर्म्म-अध्यवसाय-' आदि नामों से प्रसिद्ध है। मानसिक श्रम ही इच्छा है, प्राणात्मक श्रम ही तप है, एवं वाङ्मय शारीरिक श्रम ही श्रम है, यही निष्कर्ष है। मानव ने इच्छा की कि, अपने नैसर्गिक ब्राह्मणपर्व के अनुरूप उत्तरप्रभि में ईशचिन्तनपूर्वक निगमस्वाध्यायनिष्ठा आरम्भ की जाय, इस इच्छा से इस नैगमिक मानव के प्राण उद्दीप्त हो पड़े, नित्यकर्म्म से निवृत्त हो 'तस्यां जागर्ति संयमी' को अन्वर्थ बनाता हुआ यह स्वाध्यायचेष्टा में प्रवृत्त हो पड़ा, तात्पर्य्य शरीर में प्राणसञ्चार हो पड़ा। अनन्तर स्वाध्यायनिष्ठा में प्रवृत्त हो गया, तात्पर्य्य शरीरयष्टि-तदनुबन्धी इन्द्रियवर्ग-मन-बुद्धि-वाग्व्यवहाररूप स्वाध्याय कर्म्म में समाविष्ट हो पड़े। मूलमें रहा ही इच्छा कहलाई, मध्यमें रहा तप कहलाया, एवं शरीरव्यापार ही श्रम कहलाया। इस प्रकार इच्छा-क्रतु-कर्म्म नामक-काम तप-श्रम, इन तीन व्यापारों के समसमन्वय से ही मानव के इस कर्म्मविभूतिलक्षण 'कृत' का स्वरूप-निर्माण सम्भव बन सका, जैसा कि वैज्ञानिकोंने कहा है—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छाजन्य 'क्रतु' र्भवेत् ।
क्रतुजन्यं भवेत् कर्म्म, यदेतत् "कृत" मुच्यते ।

(१८०) ऐतदात्म्यमिदं सर्व्वम्—

दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्यात्मसंस्था में कारणशरीर–सूक्ष्मशरीर–स्थूलशरीर, ये तीन विवर्त्त माने गए हैं। इस दृष्टिकोण के साथ भी उक्त अनुबन्धत्रयी स्वात्मना समन्वित हो रही है। मनोमयी भूम भावात्मिका आत्मकला कारणशरीर है, जिसका मनोमय अव्ययात्मा (परात्मा) से सम्बन्ध है। प्राणमयी सपोभावात्मिका आत्मकला सूक्ष्मशरीर है, जिसका प्राणमय अक्षरात्मा (परमात्मा) से सम्बन्ध है। एवं वाङ्मयी श्रममावात्मिका आत्मकला स्थूलशरीर है, जिसका वाङ्मय क्षरात्मा (अवरात्मा) से सम्बन्ध है। सुसूक्ष्म मन, सूक्ष्म प्राण, आत्मा की ये दोनों आभ्यन्तर कलाएँ अपने स्वाभाविक अव्यय-अक्षर–धर्म्मों से निर्विकार हैं–अविकृताएं हैं। अतएव इन दो कलाओं की समष्टि को तो 'आत्मा' मान लिया जाता है, एवं तीसरी स्थूलभावापन्ना वाक्कला को क्षरसम्बन्धानुगत विकारभाव के अनुबन्ध से 'विश्व' मान लिया गया है। इस प्रकार त्रिकल–त्रिभावापन्न एक ही आत्मा–वही आत्मा–मन प्राणरूप से आत्मा, तथा वागूप से 'विश्व', इन दो भावों में परिणत होता हुआ 'आत्मन्वी'–प्रजापति' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हो रहा है, जिस प्रसिद्धि के आधार बने हुए हैं–'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'–'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि नैगमिक सिद्धान्त।

(१८१) सप्तसप्ताञ्जानि—

मन-प्राणमय आभ्यन्तर आत्मा से बलचिति के द्वारा सर्वप्रथम 'वाक्' रूप क्षरभाव का ही विकास होता है। यह वाक् ही पहिला 'आकाशभूत' है। बलचिति तारतम्या बलग्रन्थि की क्रमिक वृद्धि–विकास से यह वागाकाश ही क्रमशः वायु–अग्नि–आप –पृथिवी (मृत्)–इन चार सर्गों का जनक बनता है। इस प्रकार आत्मा (मन-प्राण) से समुद्भूत क्षरवाक् ही आकाशादि पञ्चभूतों में परिणत होती हुई विश्वस्वरूपसमर्पिका बन रही है। अतएव–'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'–'अथो वागेवेदं सर्वम्' इत्यादि रूप से पाञ्च भौतिक विश्व को वाङ्मय कहना अन्वर्थ बन रहा है। तैत्तिरीय उपनिषत् ने भी इसी क्रम से आत्मधर्म्म का स्वरूप–विश्लेषण किया है, जैसा कि–"तस्माद्वा एतस्मादात्मन–आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी। (तै० उप० २।१।)। निष्कर्ष यही है कि, मन-प्राणवाक् इन तीन आत्मकलाओं की तीसरी वाक्कला के पाञ्चविध्य से क्रमशः "१–मन २–प्राण, ३–वाक् (आकाश), ४–वायु ५–अग्नि ६–आप, ७–मृत्" ये सात कलाएँ हो जाती हैं, जिनके आधार पर 'यत्सप्ताञ्जानि तपसाऽजनयत् पिता' इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार अध्यात्मसंस्थानुगत सप्तविध अन्न-विवर्तों की व्यवस्था हुई है।

(१८२)—प्रज्ञानुगत स्वातन्त्र्य–पारतन्त्र्य—

मानसकला का अन्न 'ज्ञान'[१] है प्राणकला का अन्न 'कर्म्म'[२] है, वागूपा आकाशकला का अन्न 'शब्द'[३] है वायुकला का अन्न 'श्वासप्रश्वास'[४] है, अग्निकला का अन्न पञ्चज्योति'[५] (प्रकाश) है। आप-कला का अन्न 'भर'[६] नामक पय बल है, एवं मृत्कला का अन्न 'यव–गोधूमादि ओषधिलक्षण,

तथा आम्रादि वनस्पतिलक्षण 'अन्न' है, जिसका स्थूलरूप से गलाधःकरणानुकूल व्यापार द्वारा निगरण किया जाता है। जिस परमात्मशक्ति—जगन्माता जगदम्बा—महामाया—के द्वारा प्राकृतिक विश्वस्वरूपसंरक्षण के लिए इन सप्तविध अन्नों का प्रादुर्भाव हुआ है, एवं जिस महामाया के निःसीम अनुग्रह से पाँच अन्न मानव को बिना कुछ प्रयास किए प्रकृत्या सहजरूप से उपलब्ध हैं, उस महामाया के द्वारा छठे-सातवें अन्नों की भी व्यवस्था उसी प्राकृतरूप से सम्भव थी। निश्चित था कि, मानव को यत्रतत्र सर्वत्र सुविधा-कामना के अनुसार बने-बनाए लेह्य-भोज्य-पदार्थ उपलब्ध हो जाते, एवं श्वासप्रश्वासादि की भाँति अन्न भी बिना प्रयास के ही गलाधःकरणानुकूलव्यापारमाध्यमद्वारा पिपासाशान्ति का कारण बनता रहता। इस प्रकार मानव अपनी सप्तविध अन्नव्यवस्था के सम्बन्ध में सर्वात्मना सुनिश्चिन्त बन जाता। परिणाम, किंवा दुष्परिणाम होता उस दशा में मानव का यही कि, अन्नव्यवस्था की ओर से निश्चिन्त बना हुआ मानव सर्वात्मना अकर्मण्य बना रह जाता। येन-केन प्रकारेण मानव कर्मनिष्ठ बना रहे, जिससे इसकी जीवनीय शक्तियाँ सुविकसित बनी रहें, जीवनविकासमूलक सहज संघर्ष से यह सर्वात्मना विमुख न बन जाय, एकमात्र इसी लक्ष्य से परमात्मशक्ति के द्वारा सात अन्नों में से छठे सातवें अशनान्न—मृदन्न, इन अन्न के दो भागों के सम्बन्ध में पारतन्त्र्य विहित हुआ है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत निबन्ध के उत्तर खण्ड की प्रतीक्षा कर रहा है।

(१८३) अनुकूलतावादी सर्वशून्यमानव—

मनोभाव मानव की अध्यात्मसंस्था का 'कारणशरीर' है, यही दार्शनिक जगत् की "प्रज्ञामात्रा" का अधिष्ठान है। प्राणभाव 'सूक्ष्मशरीर' है, यही 'प्राणमात्रा' का आधार है। एवं पञ्चभूतात्मक वाग्भाव 'स्थूलशरीर' है, यही 'भूतमात्रा' का आलम्बन है। कर्ममात्र की, सम्पूर्ण कर्मों की स्वरूप-सिद्धि के लिए इन तीनों मात्राओं का यथानुरूप व्यवस्थापूर्वक समन्वय अपेक्षित है। कारणशरीर लक्षण मनोभावात्मक प्रज्ञाभाव का व्यापार ही इच्छा है, सूक्ष्मशरीरलक्षण प्राणभावात्मक प्राणभाव का व्यापार ही तप है, एवं स्थूलशरीरलक्षण वाग्भावात्मक भूतभाव का व्यापार ही श्रम है। इच्छा—तप—श्रम तीनों का अनुरूप समन्वय ही कार्यसिद्धि का निश्चित राजपथ है, जिसे सर्वात्मना विस्मृत कर अनुकूलतावादी—संघर्षशून्य—प्राणव्यापारलक्षण तपोयोगवञ्चित स्थूलशरीरमात्रपरायण वर्तमानयुग के मानव ने सब कुछ विस्मृत कर दिया है।

(१८४) प्रणववाचकतामीमांसा—

एक प्रासङ्गिक निवेदन और। मूल में हमनें 'कामना-इच्छा' दोनों शब्दों को पर्य्यायदृष्टि से उद्धृत किया है। परन्तु यथार्थ में ऐसा है नहीं। दोनों शब्द ईश्वरीय कर्म, जैवकर्म, भेद से सर्वथा भिन्न हैं। ईश्वर की इच्छा 'कामना' ही कहलाई है, एवं जीव की कामना 'इच्छा' ही कहलाई है। इस विभेद का मौलिक रहस्य यद्यपि पूर्व परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है। तथापि सन्दर्भसङ्गतिवशात् यहाँ भी सिंहाव-लोकन समुचित होगा। परमेष्ठिपिण्ड में मनोमय अव्ययात्मा अपने असङ्गभाव से निर्लिप्त है, साक्षिमात्र है, उसी प्रकार जैसेकि शब्दप्रपञ्च विषय में 'अ' कार प्रतिष्ठ है। आप यह अनुभव करेंगे कि, अकार के उच्चारण में कण्ठ ताल्वादिस्थान मिलने नहीं पाते। अपितु अकार असङ्गरूप से ही उच्चरित है। तात्पर्य,

परब्रह्मविवर्त्त में जैसा स्वरूप 'मनोमय–अव्ययात्मा' का है, शब्दब्रह्मविवर्त्त में ठीक वैसा ही स्वरूप 'अ'कार का है। अतएव वैज्ञानिकोंनें संकेतविद्या के आधार पर 'अ' कार को 'मन' का वाचक मान लिया है। प्राणमय अक्षरात्मा सृष्टि का निमित्तकारण घोषित किया गया है। असङ्ग अव्ययात्मा, ससङ्ग क्षरात्मा, इन दोनों के मध्य में सुप्रतिष्ठित अक्षरात्मा असङ्ग–ससङ्ग दोनों धर्मों से समन्वित रहता है। अव्ययापेक्षया यह अक्षर स्थूलवत् है–ससङ्गवत् है, तो क्षरापेक्षया यही सूक्ष्मवत् है-असङ्गवत् है। अतएव न यह विशुद्ध असङ्ग ही है, न विशुद्ध ससङ्ग ही है। अपितु उभयधर्माक्रान्त है। ठीक ऐसा ही स्वरूप शब्दब्रह्मविवर्त्त में 'उ' कार का है। 'उ' कारोच्चारणकाल में ओष्ठपुट संकुचित हो जाते हैं। यही इसका ससङ्ग-स्थूलभाव है। ओष्ठपुट सर्वात्मना संस्पृष्ट नहीं बन पाते। यही इस उकार का असङ्ग-सूक्ष्मभाव है। इसी दृष्टि से प्राणमय अक्षर, एवं उकार, दोनों, को समतुलित माना जा सकता है। इस आधारपर 'उ' कार को प्राणमय अक्षर का वाचक मान लिया गया है। वाङ्मय क्षरात्मा को ही सृष्टि का उपादान कारण माना गया है। स्वान्त में प्रतिष्ठित विश्वसर्जक यह सर्वथा ससङ्ग-स्थूल-संसृष्ट संस्पृष्ट है। शब्ददृष्टि में यही स्वरूप 'म'कार का है। मकारोच्चारणकाल में दोनों ओष्ठपुट उसी प्रकार संस्पृष्ट हो जाते हैं (मिल जाते हैं), जैसे भूतों का चितिभाव सर्वात्मना संसृष्ट-संस्पृष्ट हो जाया करता है। इसी समतुलनात्मक सादृश्य के आधार पर 'म' कार को वाङ्मय क्षर का वाचक मान लिया गया है।

यद्यपि मकारवत् 'प–फ–ब–म' इन चारों वर्णों के उच्चारण में भी ओष्ठपुटद्वय संस्पृष्ट हो जाते हैं। तथापि इन चारों वर्णों में नासिक्यभाव नहीं है, अतएव इन्हें पूर्ण संसृष्ट, पूर्ण ससङ्ग नहीं माना जा सकता, जैसाकि 'पथ्यास्वस्तिविज्ञान' नामक 'वैदिकवर्णमातृकाविज्ञान' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में विस्तार से प्रतिपादित है। इधर 'म'कार में नासिक्यभाव का भी समावेश हो रहा है। अतएव 'कादयो मावसाना स्पर्शाः' इत्यादि सिद्धान्तानुसार ककार से आरम्भ कर मकारपर्य्यन्त व्याप्त स्पृष्टवर्णों में मकार अन्तिम एवं पूर्ण ससङ्ग–संसृष्टभावात्मक प्रमाणित हो रहा है। अतएव वैज्ञानिकोंनें अन्य किसी स्पृष्टवर्ण को क्षर का वाचक न मान कर मकार को ही क्षरत्वेन स्वीकार माना है।

अकार–उकार–मकार, इन तीन शब्दब्रह्ममात्राओं से क्रमशः समतुलित अव्यय–अक्षर–क्षर, तीनों आत्मकलाएँ स्वतन्त्र तीन लयक (लयकात्मा) हैं। ये तीनों लयकात्मा, उस तुरीय अर्द्धमात्रिक, तत्त्वतः, अमात्रिक परात्परब्रह्म के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं, जिसे शब्दब्रह्मवेत्ता 'अलक्षण स्फोट' नाम से व्यवहृत किया करते हैं। यही सुप्रसिद्ध प्रणवशिखा की अनुच्चार्या नित्या यह अर्द्ध मात्रा है, जिसकी सत्सम्प्रदाय में रहस्यपूर्णा उपासनापद्धति आम्नायसिद्धा बन रही है *। अर्द्ध मात्रिक रूप अमात्रिक अलक्षण स्फोट असलक्षण परात्पर से, अकार मनोमय अव्ययात्मा से, उकार प्राणमय अक्षरात्मा से, एवं मकार वाङ्मय क्षरात्मा से समतुलित है। 'अर्द्ध मात्रा'–अ१–उ२–म्३'-यही प्रणवोङ्कार का स्वरूपलक्षण है, जो उक्त समतुलन के आधार पर 'परात्पर'–अव्यय१–अक्षर क्षर' रूप आत्मभाव का वाचक माना गया है। "तस्य वाचकः प्रणवः",–

---

* अर्द्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ।
त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवी जननी परा ॥ (रहस्यशास्त्र-सप्तशती)

तथा आम्रादि वनस्पतिलक्षण 'अन्न'' है, जिसका स्थूलरूप से गलाध करणानुकूल व्यापार द्वारा निगरण किया जाता है। जिस परमात्मशक्ति–जगन्माता जगदम्बा–महामाया–के द्वारा प्राकृतिक विश्वस्वरूपसंरक्षण के लिए इन सप्तविध अन्नों का प्रादुर्भाव हुआ है, एवं जिस महामाया के निःसीम अनुग्रह से पाँच अन्न मानव को बिना कुछ प्रयास किए प्रकृत्या सहजरूप से उपलब्ध हैं, उस महामाया के द्वारा षष्ठ–सप्तम अन्नों की भी व्यवस्था उसी प्राकृतरूप से सम्भव थी। निश्चित था कि, मानव को यत्रतत्र सर्वत्र सुविधा-भावना के अनुसार बने-बनाए लेह्य-भोज्य–पदार्थ उपलब्ध हो जाते, एवं श्वासप्रश्वासादि की भाँति जल भी बिना प्रयास के ही गलाध करणानुकूलव्यापारमाध्यमद्वारा पिपासाशान्ति का कारण बनता रहता। इस प्रकार मानव अपनी सप्तविध अन्नव्यवस्था के सम्बन्ध में सर्वात्मना सुनिश्चिन्त बन जाता। परिणाम, किंवा दुष्परिणाम होता उस दशा में मानव का यही कि, अन्नव्यवस्था की ओर से निश्चिन्त बना हुआ मानव सर्वात्मना अकर्म्मण्य बना रह जाता। येन-केन प्रकारेण मानव कर्म्मठ बना रहे, जिससे इसकी जीवनीय शक्तियाँ सुविकसित बनी रहें, जीवनविकासमूलक सहज संघर्ष से यह सर्वात्मना विमुख न बन जाय, एकमात्र इसी लक्ष्य से परमात्मशक्ति के द्वारा सात अन्नों में से छठे सातवें अन्नान्न–भूदन्न, इन अन्न के दो अन्नों के सम्बन्ध में पारतन्त्र्य विहित हुआ है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत निबन्ध के उत्तर खण्ड की प्रतीक्षा कर रहा है।

(१८३) अनुकूलतावादी सर्वशून्यमानव—

मनोमाव मानव की अध्यात्मसंस्था का 'कारणशरीर' है, यही दार्शनिक जगत् की "प्रज्ञामात्रा" का अधिष्ठान है। प्राणभाव 'सूक्ष्मशरीर'' है, यही 'प्राणमात्रा'' का आधार है। एवं पञ्चभूतात्मक वाग्भाव 'स्थूलशरीर'' है, यही 'भूतमात्रा'' का आलम्बन है। कर्म्ममात्र की, सम्पूर्ण कर्म्मों की स्वरूप-सिद्धि के लिए इन तीनों मात्राओं का यथानुरूप व्यवस्थापूर्वक समन्वय अपेक्षित है। कारणशरीर अथवा मनोमयात्मक प्रज्ञाभाव का व्यापार ही इच्छा है, सूक्ष्मशरीरलक्षण प्राणमायात्मक प्राणभाव का व्यापार ही तप है, एवं स्थूलशरीरलक्षण वाग्मायात्मक भूतभाव का व्यापार ही श्रम है। इच्छा–तप–श्रम तीनों का अनुरूप समन्वय ही कार्य्यसिद्धि का निश्चित रहस्य है, जिसे सर्वात्मना विस्मृत कर अनुकूलतावादी–संघर्षशून्य–प्राणव्यापारलक्षण तपोयोगवञ्चित स्थूलशरीरमात्रपरायण वर्त्तमानयुग के मानव ने सब कुछ विस्मृत कर दिया है।

(१८४) प्रणववाचकतामीमांसा—

एक मार्म्मिक विश्लेषण और। पूर्व में हमनें 'कामना-इच्छा' दोनों शब्दों को पर्य्यायदृष्टि से उद्धृत किया है। परन्तु यथार्थ में ऐसा है नहीं। दोनों शब्द ईश्वरीय कर्म्म, जैवकर्म, भेद से सर्वथा विभक्त हैं। ईश्वर की इच्छा 'कामना' ही कहलाई है, एवं जीव की कामना 'इच्छा' ही कहलाई है। इस विभेद का मौलिक रहस्य यद्यपि पूर्व परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है। तथापि सन्दर्भसङ्गतिवशात् यहाँ भी सिंहाव-लोकन समुचित होगा। परमव्रह्मविमर्श में मनोमय अव्ययात्मा अपने अक्षरभाव से निर्लिप्त है, साक्षीमात्र है, उसी प्रकार जैसेकि शब्दब्रह्म विमर्श में 'अ' कार असङ्ग है। आप यह अनुभव करेंगे कि, अकार के उच्चारण में कण्ठ ताल्वादिस्थान मिलने नहीं पाते। अपितु अकार असङ्गरूप से ही उच्चरित है। तात्पर्य,

तत्र सुप्त होता हुआ पाशबन्धन में आबद्ध बन जाता है। सांसारिक वैभव कदापि दुःख–अशान्ति–उद्वेग–के कारण नहीं हैं। यही नहीं, अपितु विश्वम्भर के सप्तवितस्तिकायात्मक विश्वस्वरूप के संरक्षण से सम्बद्ध लोकस्वरूपसंरक्षणात्मक लोकसंग्रह के महान् उत्तरदायित्व की दृष्टि से यच्चयावत् लोकवैभव–सम्पूर्ण भूतभौतिक परिग्रह मानव के लिए अनिवार्य्यरूप से अपेक्षित है। संशोधन अपेक्षित है केवल कामनामात्र में। सहजकामनात्मक 'काम' पूर्वक संगृहीत लोकवैभव जहाँ ईश्वरवत् मानव की परिपूर्णता के संरक्षक विकासक बनते हुए आनन्दभाव के ही अनुगामी बने रहते हैं, वहाँ कृत्रिमकामनात्मिका 'इच्छा' पूर्वक संगृहीत वे ही लोकवैभव मानव की परिपूर्णता के विघातक बनते हुए आत्मानन्दस्वरूप के सहज विकास के प्रतिबन्धक ही बन जाते हैं। भूतभौतिक भोग्य परिग्रह ही 'अन्न' है। यही वैदिक परिभाषा में 'इद्' कहलाया है। अपना सहज आत्मस्वातन्त्र्य विस्मृत कर इस 'इद' (अन्नात्मक भौतिक विषय किंवा भौतिक विषयात्मक अन्न) में सुप्त हो जाने वाला मानवीय प्रज्ञानमन ही 'इद्–अन्नं–तत्र शेते' निर्वचन से 'इच्छा' कहलाया है। और यही कामना, तथा इच्छा के स्वरूपों में महान् विभेद है। प्रसङ्ग क्योंकि ईश्वरानुगता मनुसृष्टि का प्रक्रान्त है। अतएव ईश्वरीय मनुसृष्टिमीमांसा में 'कामना' को आधार मान कर ही भूतभौतिकसृष्टि की मीमांसा प्रक्रान्त रखना अनुरूप माना जायगा। काम–तपः–श्रमात्मक ईश्वरीय सामान्य सृष्टि–अनुबन्धों स्वरूपदिग्दर्शन कराया गया। अब मानवीय (मनुसम्बन्धी) भूतभौतिक सर्ग की रूपरेखा का अनुगमन प्रक्रान्त बन रहा है।

विश्वातीत-विश्वसाक्षी-विश्वकर्त्ता-विश्व-स्वरूपपरिलेखः—

१–विश्वातीत (अनिरुक्तात्मा)——परात्परः——अर्द्धमात्रा (नेतिनेतीत्युपनिषत्)
२–विश्वसाक्षी (प्रविविक्तात्मा)——अव्ययात्मा–अकार (असङ्गः)
३–विश्वकर्त्ता (प्रज्ञात्मा)——अक्षरात्मा–उकार (सङ्गासङ्ग)
४–विश्वम् (सङ्गात्मा)——क्षरात्मा——मकार (ससङ्ग)

} भौतिकेभ्यो व्यावृत्य भावानाम् "इत्युपनिषद्वोमिति"

त्रिवृत्स्वरूपपरिलेख —

परात्परः—अर्द्ध मात्रा–अव्यक्तः

१–अव्ययात्माभिन्नः—शाश्वतब्रह्ममूर्त्तिः—मनुर्मनोमयः—{ कामनायुक्तः (काम)
२–अक्षरात्माभिन्नः—प्राणमूर्त्तिः—मनुः प्राणमयः—{ तपोयुक्तः (तप)
३–क्षरात्माभिन्नः—वागग्निमूर्त्तिः — मनुः वाङ्मयः—{ श्रमयुक्तः (श्रम)

} –सृष्टिसामान्यानुबन्धत्रयी

'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्'-'तस्योपनिषदोमिति" इत्यादिवचन शब्दब्रह्म-परब्रह्म की इसी अभिमता को प्रमाणित कर रहे हैं ।

(१८५)-आप्तकामस्वरूपपरिचय—

तयोपवर्णित प्रणवस्वरूप से यह स्पष्ट है कि, मनोमय अव्ययात्मा का साङ्केतिक नाम 'अ' कार है। 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (व्याससूत्र) "रसो ह्येव स । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" इत्यादि सिद्धान्तानुसार आनन्द ही इस अव्ययात्मा का स्वरूपलक्षणात्मक प्रातिस्विक स्वरूप है। भौतिक आवरण आनन्दस्रोत का प्रतिबन्धक माना गया है उस दशा में, जब कि इस आवरणरूप भौतिक संस्कार के साथ आत्मा मनोद्वार से आसक्त-व्यासक्त बन जाया करता है। यद्यपि ईश्वरात्मा अपनी सहज इच्छा से घर द्वार सम्पूर्ण बनता है, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से सब में प्रविष्ट रहता है। तथापि वह तत्र-'न सज्जते, न व्यथते'। क्यों ?, इसलिए कि इसकी यह इच्छा-आकांक्षा उत्थितमात्रापन्ना है, सहज है, प्रकृतिसिद्ध है। सहजेच्छारूपा उत्थिताकांक्षा से आगत-समागत भूतसंस्कार कदापि आनन्दस्रोत के प्रतिबन्धक नहीं बन सकते। अव्ययेश्वरप्रजापति अपनी इस सहज इच्छा के द्वारा ही अपने स्वाभाविक उस 'आनन्द' से सदा समन्वित रहते हैं, जो आनन्दभाव साङ्केतपरिभाषा में 'कम्' नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर लोकभाषा में 'कम्' को सुख का पर्याय मान लिया गया है। अव्ययात्मा सदा सम्पूर्ण अवस्थाओं में आसमन्तात् (सब ओर से) 'कम्' (आनन्द) में ओतप्रोत रहता है। इसी आधार पर वैज्ञानिकोंने सृष्टिमूलभूता अव्ययात्मनिबन्धना मनोमयी ईश्वरेच्छा को 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि रूप में 'काम' (कामना) नाम से व्यवहृत किया है ।—'कम्' आनन्दभाव है। इस 'कम्' के मध्य में भी 'अ' कार (अव्ययात्मा) प्रतिष्ठित है। अन्त में भी 'अ' कार समन्वित है। फलतः 'क-अ-म्-अ' यह स्थिति हो जाती है, जिससे 'काम' रूप निष्पन्न हुआ है। कामलक्षणा अव्ययेश्वरेच्छा विश्व के अणु अणु में व्याप्त रहती हुई भी अबन्धना है। ऐसी कामरूपा कामना केवल आत्मकामना है, आप्तकामना है, परिपूर्णकामना है।

(१८६)-विषयेच्छास्वरूपपरिचय—

जीवात्मा (केवल मानवात्मा) ईश्वरात्मा का परिपूर्ण उक्थ स्वरूप है। किन्तु उत्थाप्याकांक्षा-लक्षणा कामना से भूतभौतिक परिग्रह इसके स्वाभाविक आत्मविकास को योगमाया के माध्यम से आवृत-समावृत कर लेते हैं *। आसक्तिबन्धनप्रधाना इस कामना से भोग्य पदार्थों में (जिन्हें हम 'अन्न' कह सकते हैं) जीवात्मा (मानवीय मन) आसक्त-व्यासक्त होता हुआ उसी प्रकार अपना सहज ईश्वरीय विकास आवृत करता हुआ क्षुद्रतम बन जाता है, जैसे कि एक कीट (चींटी-कीड़ा) गुड़शर्करादि में तल्लीन होकर उनमें संसृष्ट होता हुआ (ग्रन्थिबन्धनपूर्वक चिपकता हुआ) अपना सहज गतिभाव खो बैठता है। एकमात्र 'प्रज्ञापराध' नामक अपने ही दोष से मानव ईश्वरीय कामना को अभावात्मक (विषयात्मक) बनाता हुआ

* नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
—गीता

तत्र सुप्त होता हुआ पाशबन्धन मे आबद्ध बन जाता है। सांसारिक वैभव कदापि दुःख–अशान्ति–उद्वेग–के कारण नहीं हैं। यही नहीं, अपितु विश्वम्भर के सप्तवितस्तिकायात्मक विश्वस्वरूप के संरक्षण से सम्बद्ध लोकस्वरूपसंरक्षणात्मक लोकसंग्रह के महान् उत्तरदायित्व की दृष्टि से यच्चयावत् लोकवैभव–सम्पूर्ण भूतभौतिक परिग्रह मानव के लिए अनिवार्य्यरूप से अपेक्षित है। संशोधन अपेक्षित है केवल कामनामात्र में। सहजकामनात्मक 'काम' पूर्वक संगृहीत लोकवैभव जहाँ ईश्वरवत् मानव की परिपूर्णता के संरक्षक विकासक बनते हुए आनन्दभाव के ही अनुगामी बने रहते हैं, वहाँ कृत्रिमकामनात्मिका 'इच्छा' पूर्वक संगृहीत वे ही लोकवैभव मानव की परिपूर्णता के विघातक बनते हुए आत्मनन्दस्वरूप के सहज विकास के प्रतिबन्धक ही बन जाते हैं। भूतभौतिक भोग्य परिग्रह ही 'अन्न' है। यही वैदिक परिभाषा में 'इट्' कहलाया है। अपना सहज आत्मस्वातन्त्र्य विस्मृत कर इस 'इट' (अन्नात्मक भौतिक विषय किंवा भौतिक विषयात्मक अन्न) में सुप्त हो जाने वाला मानवीय प्रज्ञानमन ही 'इट्–अन्नं–तत्र शेते' निर्वचन से 'इच्छा' कहलाया है। और यही कामना, तथा इच्छा के स्वरूपों में महान् विभेद है। प्रसङ्ग क्योंकि ईश्वरानुगता मनुसृष्टि का चलरहा है। अतएव ईश्वरीय मनुसृष्टिमीमांसा में 'कामना' को आधार मान कर ही भूतभौतिकसृष्टि की मीमांसा प्रक्रान्त रखना अनुरूप माना जायगा। काम–तपः–श्रमात्मक ईश्वरीय सामान्य सृष्टि–अनुबन्धों स्वरूपदिग्दर्शन कराया गया। अब मानवीय (मनुसम्बन्धी) भूतभौतिक सर्ग की रूपरेखा का अनुगमन प्रक्रान्त बन रहा है।

विश्वातीत-विश्वसाक्षी-विश्वकर्त्ता-विश्व-स्वरूपपरिलेखः—

१–विश्वातीत (अनिरुक्तात्मा)——परात्परः——अर्द्धमात्रा (नेतिनेतीत्युपनिषत्)
२–विश्वसाक्षी (प्रविविक्तात्मा)——अव्ययात्मा–अकारः (असङ्गः)
३–विश्वकर्त्ता (प्रभिन्नात्मा)——अक्षरात्मा–उकार (ससङ्गासङ्ग)
४–विश्वम् (सृष्टात्मा)——क्षरात्मा–मकार (ससङ्ग)

} ओमित्येतं व्याप्य ब्रह्मात्मनम्
(तस्योपनिषदोमिति)

त्रिदण्डस्वरूपपरिलेख —

——◆◆——

परात्परः—अर्द्धमात्रा–अलक्षः

१–अव्ययात्माभिन्नः—शाश्वतब्रह्ममूर्त्तिः—मनुर्म्मनोमयः—{ कामनायुक्तः (कामः)
२–अक्षरात्माभिन्नः—प्राणमूर्त्तिः—मनुः प्राणमयः—{ तपोयुक्तः (तपः)
३–क्षरात्माभिन्नः—वागग्निमूर्त्तिः—मनुः वाङ्मयः—{ श्रमयुक्तः (श्रमः)

} –सृष्टिसामान्यानुबन्धत्रयी

(१८७) स्वायम्भुवमनु-हिरण्यगर्भमनु-गर्भित इरामय पार्थिव मनु—

अव्ययात्मानुगृहीत—अनुप्राणित, अतएव शान्तब्रह्ममूर्ति, मनोमय स्वयम्भूमनु नामक मनुप्रजापति के मनोभाग से सर्वप्रथम 'कामना' का उदय हुआ—'सोऽकामयत' । अक्षरात्मानुगृहीत—अनुगृहीत, अतएव प्राणेन्द्रमूर्त्ति प्राणमय हिरण्यगर्भमनु नामक मनुप्रजापति के प्राणभाग से कामना के अनन्तर 'तप' का उदय हुआ—'स तपोऽतप्यत' । क्षरात्मानुगृहीत—अनुप्राणित, अतएव वागग्निमूर्त्ति, वाङ्मय 'इरामयमनु' नामक मनुप्रजापति से तप के अनन्तर 'श्रम' का उदय हुआ—'सोऽश्राम्यत्' । कामयमान, तदनुरूप ही तप्यमान, एवं तदनुरूप ही श्रान्त मनुप्रजापति के कामतप-श्रमरूप सृष्टि के इन तीन सामान्य अनुबन्धों से कैसे भूत-भौतिकसर्ग प्रवृत्त हुआ ?, प्रश्न के समाधान की रूपरेखा की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

कामना स्वयम्भूमनु की, तप (अन्तर्व्यापार) हिरण्यगर्भमनु का, एवं श्रम (बाह्यव्यापार) इरामयमनु का, इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, जबतक एक ही सृष्टिकर्त्ता के कामः—तपः—श्रमभावों का एकत्र समन्वय नहीं हो जाता, तबतक सर्गप्रवृत्ति असम्भव है । इच्छा किसी और की, परिश्रम (तप) किसी अन्य का, एवं श्रम किसी तीसरे का ही, इन अन्यान्यनिरपेक्षानुबन्धी अनुबन्धों से सर्गप्रवृत्ति कैसे सम्भव बनी ? । प्रश्न का समाधान 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के रहस्यार्थ पर ही अवलम्बित है । अव्ययात्मस्वरूप स्वायम्भुव मनु से अक्षर का विकास हुआ, तद्विकासानन्तर अव्ययात्ममनु तद्गर्भ में समाविष्ट हो गया । अतएव अक्षरात्मस्वरूप हिरण्यगर्भ सोरमन का अर्थ हुआ—'स्वयम्भूमनुगर्भित हिरण्यगर्भमनु' । इससे क्षरात्मस्वरूप इरामय पार्थिव मनु का आविर्भाव हुआ तदाविर्भावानन्तर अव्ययात्ममनुगर्भीभूत अक्षरात्ममनु तद्गर्भ में प्रविष्ट होगया । अतएव क्षरात्मस्वरूप इरामय पार्थिव मनु का अर्थ हुआ—'स्वयम्भु—हिरण्यगर्भमनुगर्भित इरामयमनु' । जिस प्रकार काम—तप—श्रमलक्षण अनुबन्ध त्रय मात्र में सामान्यरूप से निर्दिष्ट हैं,

तथैव प्रत्येक सर्ग में-'तत्सृष्ट्वा' यह नियम भी सामान्यरूप से समाविष्ट माना गया है। पूर्व पूर्व की सृष्टि से समुद्भूत उत्तर उत्तर की सृष्टि में पूर्व-पूर्व सृष्टि गर्भीभूत बनी रहती है। अतएव उत्तर उत्तर की सृष्टि में पूर्व-पूर्व की सर्गमात्राएँ सर्वात्मना समाविष्ट रहतीं हैं। इसी आधार पर-'ब्रह्मै वेदं सर्वम्-सर्वं खल्विद ब्रह्म' इत्यादि सर्ग-प्रतिसर्ग-सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है।

स्वयम्भु-हिरण्यगर्भ-इरामयमनुस्वरूपपरिलेख:—

(१)—अव्ययात्मानुगृहीत-स्वयम्भूमनु ——स्वायम्भुव ————————{ काममय

(२)—अव्ययात्मानुगृहीत-स्वयम्भूमनुगर्भित—अक्षरात्मानुगृहीत-हिरण्यगर्भमनु-सौरः{ तपोमय

(३)—अव्यय-अक्षरानुगृहीत-स्वयम्भुहिरण्यगर्भित-क्षरात्मानुगृहीत इरामयमनु-पार्थिवः{ श्रममय

(१८८) मानवीयभूतभौतिकसर्ग की रूपरेखा—

अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक, मन-प्राण-वाङ्मय, शाश्वतब्रह्म-प्राणेन्द्र-वागग्निमूर्ति,-काम तप-श्रमानुबन्धसयुक्त, स्वायम्भुव-सौर-पार्थिव-मनुप्रजापतिसमष्टिरूप त्रिमूर्ति मनु ही भूतभौतिक सर्ग का सर्वेश्वा माना गया है, जिसे प्रथमदृष्ट्या 'स्वयम्भूब्रह्म' कह सकते हैं, द्वितीयदृष्ट्या 'हिरण्यगर्भप्रजापति' कह सकते हैं, एव तृतीयदृष्ट्या 'विराट्प्रजापति' कह सकते हैं। स्वयम्भूब्रह्म शाश्वतब्रह्म है, हिरण्यगर्भ प्रजापति प्राणेन्द्र है, विराट्प्रजापति 'वागग्नि' है। शाश्वतब्रह्मगर्भित-प्राणेन्द्रगर्भित-वागग्निरूप विराट्प्रजापति ही यहाँ समष्ट्यात्मक वह त्रिमूर्ति मनुप्रजापति भूतभौतिकसर्गप्रवृत्ति का उपक्रम बनता है, जिसके 'वागग्नि' रूप वेदाग्नि को लक्ष्य बना कर ही हमें इस सर्ग की रूपरेखा का समन्वय करना है। अवधानपूर्वक इस मनमूर्ति को लक्ष्य बनाइए, क्योंकि इसी के आधार पर सम्पूर्ण चरसृष्टियों की मीमांसा प्रतिष्ठित है—

अवधेया मनुमूर्त्ति —सर्वमूर्तिर्मनुप्रजापतिस्वरूपपरिलेख:—

परात्परः ——अव्ययः		
अव्ययात्मा——	अक्षरात्मा——	क्षरात्मा
मनोमयः——	प्राणमयः——	वाङ्मयः
शाश्वतब्रह्ममूर्त्तिः——	प्राणेन्द्रमूर्त्तिः——	वागग्निमूर्त्तिः
कामप्रवर्त्तकः——	तपःप्रवर्त्तकः——	श्रमप्रवर्त्तकः
स्वायम्भुवः——	सौर ——	पार्थिव
स्वयम्भूब्रह्म——	हिरण्यगर्भप्रजापतिः——	विराट्प्रजापति
आदिमनुः——	मध्यमनुः ——	अन्तमनुः
काम-तप —श्रममयः—सर्वमूर्तिः—मनुप्रजापतिरेव सर्वमसृजत—यदिदं किञ्च		

(१८९) कामयमान–तप्त–सन्तप्त–श्रान्त–मनुप्रजापति—

अमृताकाशात्मिका अमृतावाक् (अपौरुषेय यजुर्वाक् अमृत वागग्नि) के आधार पर प्रतिष्ठित मर्त्याकाशात्मिका 'मर्त्यावाक्' (हिरण्मयपौरुषपुरुषसम्बन्धेन तथा प्राणमय पार्थिवपुरुषसम्बन्धेन–पौरुषेयमयुर्वाक्–मर्त्यवागग्नि) ही यह वेदाग्निविवर्त्त है, जिसे उपादान बना कर ही मनुप्रजापति भूतसर्गप्रवृत्ति में प्रवृत्त बनते हैं। मनोमय स्वयम्भूमनु, प्राणमय हिरण्यगर्भमनु, दोनों को तत्सम्बन्धयोग से स्वमहिमम में समाविष्ट रखने वाला वाङ्मय प्राणमयमनुप्रजापति ही अपने मनःप्राणगर्भित वाग्भाग से दूसरे शब्दों में मनोमय अव्ययात्मा–प्राणमय अक्षरात्मा–दोनों को स्वमहिमगर्भ में प्रविष्ट रखने वाला वाङ्मय क्षरात्मा ही मनःप्राणगर्भित वाग्भाग से सृष्टि का उपादान कारण बनता है। एवंविध त्रिमूर्त्ति आत्मप्रजापति से अभिन्न त्रिमूर्ति मनुप्रजापति सृष्टि के काम–तप–श्रम–लक्षण तीनों सामान्य अनुबन्धों से समन्वित रहता हुआ अपने काममय मनोरूप स्वयम्भूभाग से सृष्टि का अधिष्ठान (आलम्बन–आधार) बन रहा है, तपोमय प्राणरूप हिरण्यगर्भभाग से सृष्टि का निमित्त बन रहा है, श्रममय वाग्रूप विराड्भाग से सृष्टि का उपादान बन रहा है। दूसरे शब्दों में यही मनु शाश्वतब्रह्मस्वरूप स्वायम्भुव परमेष्ठीमयभाग से मनोमय अव्ययात्मा द्वारा अनुगृहीत होकर सृष्टि का कामयमान अधिष्ठान बना रहा है, यही मनु प्राणरूप सौरप्राणमय भाग से प्राणमय अक्षरात्मा द्वारा अनुगृहीत होकर सृष्टि का तप्यमान निमित्त बन रहा है। एवं यही मनु वागग्निरूप पार्थिव वाग्भाग से वाङ्मय क्षरात्मा द्वारा अनुगृहीत होकर सृष्टि का श्रान्त उपादान बन रहा है। कामयमान–तप्यमान–श्रान्त, एवंविध मनुप्रजापति से इसके शाश्वतब्रह्मलक्षण मनोमय अव्ययात्मा के आधार पर अक्षरात्मा के व्यापार से वाग्रूप क्षर के द्वारा सर्वप्रथम जिस मौलिक तत्त्व का आविर्भाव हुआ, वही 'आपः' कहलाया, जो कि आपः तत्त्व अपनी सूक्ष्म वाष्पावस्था–मौलिक अवस्था–के कारण उपनिषदों में 'वायु' नाम से भी व्यवहृत हुआ है। येही मनुप्रजापति की प्रथमा मूलसृष्टि है, जिसके साथ हमें–'आकाशाद्वायुः'–'अग्नेरापः' इन दोनों सर्गश्रुतियों का समन्वय करना है।

(१९०) मनु का प्रथम सर्ग—

वागग्निलक्षण–प्राणमयमनुमूर्त्ति जिस क्षर उपादान से सर्वप्रथम 'आपः' नामक 'वायु' तत्त्व उत्पन्न होता है, वह आकाशात्मक वागग्नि ऋक्–साम–नामक वयोनाधों (छन्दों–सीमाभावों) से युक्त–वेष्टित–बद्ध सीमित 'यजु' नामक क्षर ही है, जिसका पूर्व में 'वेदाग्नि' रूप से भी स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। जैसा कि तत्रैव स्पष्ट किया गया है, यजुर्लक्षण वेदाग्नि में 'यत्–जू' रूप से 'गति–स्थिति' इन दोनों परस्परात्यन्त-विरुद्ध भावों का एक बिन्दु पर समन्वय हो रहा है। गतिभाव 'वायु' (प्राणवायु) है यही 'प्राण' है, यही 'यत्' है। स्थितिभाव 'आकाश' है, यही 'जू' है। दोनों का समन्वितरूप ही 'यज्जुः' लक्षण 'यजुः' है। वाक् और प्राण, दोनों ही अमृत–मर्त्यभेद से दो दो भागों में विभक्त हैं। इनमें अमृतवाक्–अमृतप्राण तो अक्षुण्ण अविकसित बने रहते हैं, एवं मर्त्यवाक्–मर्त्यप्राण का नित्य क्षय होता है। अमृतवाक् के आधार पर प्रतिष्ठित मर्त्यवाक् का (स्थितिभाव का) अमृतप्राण के आधार पर प्रतिष्ठित मर्त्यप्राण के संघर्षात्मक संयोग से–जो कि अपयामक क्षोभ रूप गतिशील प्राण का सहज स्वभाव है–जिस क्षत्रात्मक स्वरूप (स्वरूपविनाशक प्रक्षरण) हो पड़ता है। जिस प्रकार शारीरिक प्राणसंघर्षरूप परिश्रम, तथा वाङ्मय भौतिक शरीरसंघर्षरूप श्रम से प्राणाग्नि-

समन्वित शारीरिकाग्नि अयतः विस्रस्त होकर स्वेदलक्षण (पानीरूप) आप के रूप में परिणत हो जाता है, ठीक इसी प्रकार 'यत्' नामक प्राण के संघर्षरूप परिश्रम से 'जू' नामक स्वायम्भुव शारीरिकाग्नि का वाग्भाग (मर्त्यवाग्भाग) विस्रस्त होकर 'आप' रूप में परिणत हो जाता है। 'यत्' नामक वह चितिलक्षण-सप्त त्रितिक-सप्तपुरुषपुरुषात्मक-सप्तर्षिप्राण ही है, जिसका पूर्व में 'परे प्राणाम्' रूप से मनुनामनिर्वचन-परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

(१६१) सृष्टिमूलक केतु स्वरूपपरिचय—

महामाया की परिधि से सीमित मन प्राणवाङ्मय सप्तर्षिलक्षण (मायवृष्टियुक्त) सप्तपुरुषपुरुषप्रजापतिरूप स्वयम्भु-हिरण्यगर्भ-मनुगर्भित इदममनुप्रजापति ने 'एकोऽहं बहु स्याम्' लक्षणा सृष्टिकामना का सहयरूप से अनुगमन किया। कामना से यजुःप्राणभाग में महान् संघर्षरूप तपोव्यापारलक्षण आभ्यन्तर व्यापार प्रक्रान्त हो पड़ा। इस तपोमूलक, किंवा तपोरूप संघर्ष से यजु का वागग्निरूप मर्त्याकाश (मर्त्यस्थितिभाव) श्रम द्वारा द्रुत हो पड़ा। यह परिस्रुत-द्रुत-भागरूप ही स्वयम्भूप्रजापति का (तद्गर्भीभूत वाग्रूप इदमय मनु प्रजापति का) 'स्वेद' कहलाया, यही स्वायम्भुव 'स्वेद' आगे चलकर 'अथ-अवाग्' भाव के कारण, 'अथर्वा' कहलाया। वाग्रूप आकाश से उत्पन्न होने के कारण अथर्वलक्षण यही 'स्वेद' 'आकाशाद्वायु' इस सिद्धान्त का समर्थक बना। वाक्तत्व ही क्योंकि वेदाग्नि (प्राणाग्नि) है। यही द्रुत बन कर क्योंकि आप रूप सूक्ष्म जलीय तत्त्व रूप में परिणत हुआ है (जो कि सूक्ष्म जलीय तत्त्व वायु ही कहलाया है), इस दृष्टिकोण से यही वायुमूर्ति आप, 'अग्नेराप' इस सिद्धान्त का भी समर्थक बना। इस प्रकार वागग्नि से समुत्पन्न अथर्वरूप सूक्ष्म पारमेष्ठ्य वायुलक्षण आप के लिए ही 'आकाशाद्वायु-अग्नेराप' दोनों सिद्धान्त समन्वित बन गए। आकाशाद्वायु का तात्पर्य्य हुआ-'वागग्नि से सूक्ष्म आप का प्रादुर्भाव', एवं अग्नेराप का तात्पर्य्य हुआ 'प्राणाग्नि' से सूक्ष्म पारमेष्ठ्य सलिल का आविर्भाव। दोनों तत्त्व अभिन्न हैं, तो इन के लिए श्रुति में पुनरुक्ति क्यों हुई ?, यह एक सहज प्रश्न है, जिसका समाधान 'केतुविज्ञान' परिज्ञान पर ही अव लम्बित है, जो विस्तारभिया यहाँ प्रतिपादित नहीं हो सकता।

अथर्वलक्षण आप किंवा वायु, दोनों यद्यपि अभिन्न हैं। तथापि पारमेष्ठ्य भृगु-अङ्गिरा के सम्बन्ध से दोनों में एक सुसूक्ष्म महान् विभेद भी है, जिसके आधार पर 'अग्नेराप—आकाशाद्वायु'—ये दो विभिन्न वाक्य विहित हुए हैं। गतिभावापन्न आप तेजोगुणक हैं एवं इनका 'यत्' रूप प्राण से सम्बन्ध है, इसी को 'अङ्गिरा' कहा गया है। स्थितिभावापन्न आप स्नेहगुणक हैं एवं इनका जू रूप वाग्भाग से सम्बन्ध है, इसको 'भृगु' कहा गया। 'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरो' इत्यादि सिद्धान्तानुसार अङ्गिरा-भृगु दोनों ही आप हैं। अङ्गिरारूप आप 'आकाशाद्वायु' का समर्थक है एवं भृगुरूप आप 'अग्नेराप' का समर्थक है। 'आप रूप सामान्य अविभिन्नता के अनुबन्ध से हमने दोनों श्रुतिवचनों को एकत्र समन्वित मान लिया है।

पौराणिक मानवीय सृष्टिविज्ञान में क्षीरहिरण्यगर्भप्रजापति का मूल माना गया है, जिसका—मूलप्रभव पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरामूर्ति अग्नि-आपोमय (तेजःस्नेहमय) क्रतु ही बना करता है। क्रतुतत्त्व पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमय (संकोच-विकासशील) यह ऋगाग्नि-ऋक्साम (घिरा हुआ अग्निपुञ्ज-एवं फिरता हुआ

(१९२)–सृष्टिस्वरूपव्याख्यानुगता गोपथश्रुति—

नैगमिक सृष्टिविज्ञान की निरूपणीया शैली में, तथा आगमिक (पौराणिक) शैली में महान् अन्तर है, जबकि तत्समतुलनदृष्ट्या दोनों का समन्वय निर्विरोध समन्वित है। प्रकृत विश्वस्वरूपमीमांसा में हम नैगमिक शैली का ही अनुसरण कर रहे हैं, अत हेतुमूलक पौराणिक सर्ग यहाँ अप्रमाद्य बन गया है। वर्तमान विज्ञानवादियों की भूतसर्गस्वरूपमीमांसा सर्वथा अंशतः पौराणिक सग की प्रतिच्छायामात्र से ही समतुलित मानी जायगी। आत्ममूला नैगमिक शैली का तो वर्त्तमान विज्ञानजगत् ने नामस्मरण का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं किया है। हाँ तो बतला रहे थे कि, मनु–प्रजापति के वागग्निभाग से 'स्वेद' रूप भृग्वङ्गिरोमय 'आप' तत्त्व ही सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

"ओं–ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्–स्वयन्तु–एकमेव। तदैक्षत–महद्वै यक्ष, तदेकमेवास्मि। हन्त 'अहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्म्ममे' इति। तत्–अभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहः–यदार्द्र्यं–आजायत, तेनानन्दत्। तमब्रवीत्–'महद्वै यक्ष सुवेदमविदामहे' इति। तयदब्रवीत्– महद्वै यक्ष, 'सुवेदमविदामहे' इति, तस्मात् 'सुवेदो' ऽभवत्। तं वा एतं 'सुवेदं' सन्तं 'स्वेद' इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः"।

—गोपथब्राह्मण पू० १।१।

(१९३)–गोपथश्रुति का अक्षरार्थ—

गोपथश्रुति का अक्षरार्थ यही है कि–"इस प्रत्यक्ष दृष्ट–श्रुत–एवं अनुभूत–पाञ्चभौतिक विश्वसर्ग से पूर्व परात्पराव्ययाक्षरक्षरात्मक प्राणब्रह्ममूर्त्ति (ओङ्कारमूर्त्ति) मनुब्रह्म (प्रजापति) का ही, एकाकी मनु का ही साम्राज्य था, (जो वास्तव में सृष्टि से पूर्व) एकाकी ही था। इस (एकाकी ब्रह्म) ने (अपने काममय मनोराज्य में ऐसा ऊहापोह किया कि–'यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि, हम एकाकी ही बने हुए हैं'। (इस मानससंकल्प–काममयात्मक विचारपरम्परात्मक–ऊहापोह के परिणामस्वरूप ब्रह्म इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि) हन्त (अच्छा आ–चलो–इस एकाकीपन को हटाने के लिए) 'हम अपने जैसा ही अपने स्वरूप के अनुरूप ही एक दूसरे 'देव' का निर्म्माण करें'। (अपने इस कामनामय संकल्प को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए, मूर्त्तरूप प्रदान करने के लिए) ब्रह्म ने श्रम किया, तप किया, तन्मयतापूर्वक तप का अनुष्ठान किया। ब्रह्म के इस श्रम–तप–सन्तपन से (ब्रह्म के) ललाट प्रदेश पर जो स्नेह, जो आर्द्रता (गीलापन–स्वेदकण) उत्पन्न हुई, उससे ब्रह्म अभिमानन्द (कार्य्यदक्षतारूप–श्रम–परिश्रम–सफलतालक्षण तृप्त्यानन्द) में निमग्न हो गए। ब्रह्म उस (ललाट पर उत्पन्न स्वेदकणरूप आपोरूप स्नेहद्रव्य को लक्ष्य बना कर) कहने लगे कि, सचमुच यह बड़ी आश्चर्य्यपूर्ण (महत्त्वपूर्ण) घटना घटित हो पड़ी कि। हमनें आज इस (स्वेदरूप) से 'सुवेद' प्राप्त कर लिया। (ब्रह्म से ब्रह्म के ललाट प्रदेश पर समुत्पन्न) इस सुवेद को ही वैज्ञानिक लोग परोक्षभाषा में 'स्वेद' व्यवहृत करते हैं। (क्योंकि) देवता (प्राणतत्त्ववेत्ता महर्षि भूदेव) परोक्षप्रेमी, तथा प्रत्यक्ष के शत्रु हुआ करते हैं"।

ही सोमपुञ्ज) मात्र है, जो पारमेष्ठ्य समुद्र में अननुमेया आकृतिभावों से इतस्ततः प्रबलवेग से सञ्चरण करता रहता है। यही बाष्पात्मकस्वरूप, अतएव 'धूम' नाम से प्रसिद्ध केतु ('धूमकेतु') केन्द्रीभाव के कारण पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में पिण्डीभूत होकर सूर्य का प्रभव बना करता है। यही पौराणिक सृष्टिक्रम का उपक्रमस्थान माना गया है। इन उल्कापुञ्जात्मक पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमय धूमकेतुओं से पारमेष्ठ्य समुद्र परिपूर्ण है। इस परिपूर्णता के अनुबन्ध से ही इनका संस्थान 'सहस्रसंख्या' से समतुलित मान लिया जाता है। शत–सहस्र–आदि विवर्त भृग्वङ्गिरोमय एक ही केतु के अवान्तर गतिस्थितिभावात्मक विभिन्न विवर्त हैं। अतएव नारद ने एक केतु के अनेक विवर्त माने हैं। रवि–शनि–अग्नि–मङ्गल–बुध–बृहस्पति–शुक्र–आदि ग्रहकक्षाओं में उपयुक्त होने के कारण ये केतु रविपुत्र–तत्भ्राता–आदि नामों से व्यवहृत हुए हैं। महाप्रलयाधिष्ठाता, साथ ही सौरब्रह्माण्डसर्गाधिष्ठाता इन 'महस्रधा–महिमान–सहस्रम्' विभक्त भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य केतुओं का स्वरूपपरिज्ञान सौरसृष्टिविज्ञान में एक उपयोगी दृष्टिकोण माना गया है, जिसका— 'भारतीयकेतुस्वरूपपरिचय' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। पाठकों के मनोरञ्जन के लिए यहाँ तन्निबन्ध की एक सामान्य तालिकामात्र उद्धृत कर दी जाती है—

प्रासङ्गिकी केतुतालिका—सहस्रधूमकेतुपरिलेख—

१ रविपुत्रा—	सुवर्णमणिसदृशाः—	हैमाभा	(२५)—रश्मिप्रवर्तकाः
२–अग्निपुत्राः—	पद्मवर्णसदृशा —	रक्ताभा	(२५)—दुर्भिक्षप्रवर्तकाः
३–मृत्युपुत्रा —	कृष्णवर्णोपमाः—	कृष्णाभाः	(२५)—सर्वनाशकाः
४–मङ्गलभ्रातरः—	दर्पणवत्समवृत्ता —	श्वेतरक्ताभाः	(२२)—क्षोभप्रवर्तकाः
५–चन्द्रपुत्राः—	चन्द्रिकोपमाः—	रजताभाः	(३)—शान्तिप्रवर्तकाः
६–नक्षत्रपुत्राः—	श्वेतरक्तकृष्णोपमा—	सर्वाभा	(१)—प्रतिभाप्रवर्तकाः
७–शुक्रपुत्राः—	शुक्लवर्णोपमाः—	शुक्लाभाः	(८४)—योनिभावप्रवर्तकाः
८–शनैश्चरपुत्राः—	नीलवर्णोपमाः—	नीलाभाः	(६०)—आर्तिप्रवर्तकाः
९–गुरुपुत्राः—	बिन्दूपमाः—	पीताभाः	(६५)—अशान्तिप्रवर्तकाः
१०–बुधपुत्राः—	तस्करोपमाः—	हरितवर्णाभाः	(५१)—अशुभप्रवर्तकाः
११–मङ्गलपुत्रा —	कुङ्कुमोपमा —	रक्ताभा	(६)—विक्षोभप्रवर्तकाः
१२–राहुपुत्राः—	तामसकीलकोपमाः—	कृष्णाभा	(३३)—रविचारानुगतफलप्रदाः
१३–विश्वेदेवपुत्रा—	विश्वरूपोपमा —	सर्ववर्णा	(१२०)—सन्तापप्रवर्तकाः
१४–वायुपुत्राः—	अरुणोपमा —	विविधवर्णाः	(७७)—पापप्रवर्तकाः
१५–प्रजापतिपुत्रा—	गन्धर्वोपमा —	विविधवर्णाः	(८)—पुरक्षितप्रवर्तकाः
१६–वरुणपुत्रा—	वज्रोपमाः—	नीलाभाः	(३)—आपामयप्रवर्तकाः
१७–कालपुत्राः—	काकोपमा —	घोरकृष्णाभाः	(६६)—सर्वनाशप्रवर्तकाः
१८–दिक्पुत्राः—	छत्रोपमा —	सर्ववर्णाः	(१०)—सर्वभयप्रवर्तकाः

(१६२)–सृष्टिस्वरूपव्याख्यानुगता गोपथश्रुति—

नैगमिक सृष्टिविज्ञान की निरूपणीया शैली में, तथा आगमिक (पौराणिक) शैली में महान् अन्तर है, जबकि तत्वसमतुलनदृष्ट्या दोनों का समन्वय निर्विरोध समन्वित है। प्रकृत विश्वस्वरूपमीमांसा में हम नैगमिक शैली का ही अनुसरण कर रहे हैं, अत केतुमूलक पौराणिक सर्ग यहाँ अप्रमाण मन गया है। वर्त्तमान विज्ञानवादियों की भूतसर्गस्वरूपमीमांसा सवथा अंशत पौराणिक सग की प्रतिच्छायामात्र से ही समतुलित मानी जायगी। आत्ममूला नैगमिक शैली का तो वर्त्तमान विज्ञानजगत् ने नामस्मरण का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं किया है। हाँ तो चतला रहे थे कि, मनु–प्रजापति के वागग्निभाग से 'स्वेद' रूप भृग्वङ्गिरोमय 'अप्' तत्त्व ही सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

"ओं–ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्–स्वयन्तु–एकमेव। तदैक्षत–महद्वै यक्ष, तदेकमेवास्मि। हन्त 'अह मदेव मन्मात्र द्वितीय देव निर्म्ममे' इति। तत्–अभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहः–यदार्द्र्यं–आजायत, तेनानन्दत्। तमब्रवीत्–'महद्वै यक्ष सुवेदमविदामहे' इति। तद्यदब्रवीत्– महद्वै यक्ष, 'सुवेदमविदामहे' इति, तस्मात् 'सुवेदो' ऽभवत्। तं वा एत 'सुवेद' सन्त 'स्वेद' इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः"।

—गोपथब्राह्मण पू० १।१।

(१६३)–गोपथश्रुति का अक्षरार्थ—

गोपथश्रुति का अक्षरार्थ यही है कि–"इस प्रत्यक्ष दृष्ट–श्रुत–एवं अनुभूत–पाञ्चभौतिक विश्वसर्ग से पूर्व परात्पराव्ययाक्षरक्षरात्मक मायाबमूर्त्ति (षोडशपुरुषमूर्त्ति) मनुब्रह्म (प्रजापति) का ही, एकाकी मनु का ही साम्राज्य था, (जो वास्तव में सृष्टि से पूर्व) एकाकी ही था। इस (एकाकी ब्रह्म) ने (अपने काममय मनोराज्य में ऐसा ऊहापोह किया कि–'यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि, हम एकाकी ही बने हुए हैं'। (इस मानससंकल्प–काममावात्मक विचारपरामर्शात्मक–ऊहापोह के परिणामस्वरूप ब्रह्म इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि) हन्त (अच्छा वा–चलो–इस एकाकीपन को हटाने के लिए) 'हम अपने जैसा ही अपने स्वरूप के अनुरूप ही एक दूसरे 'देव' का निर्माण करें'। (अपने इस कामनामय संकल्प को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए, मूर्त्तरूप प्रदान करने के लिए) ब्रह्म ने श्रम किया, तप किया, तन्मयतापूर्वक तप का अनुष्ठान किया। ब्रह्म के इस श्रम–तप–सन्तपन से (ब्रह्म के) ललाट प्रदेश पर जो स्नेह, जो आर्द्रता (गीलापन–स्वेदकण) उत्पन्न हुई, उससे ब्रह्म महिमानन्द (कार्य्यसफलतारूप–श्रम–परिश्रम–सफलतालक्षण तृप्त्यानन्द) में निमग्न हो गए। ब्रह्म उस (ललाट पर उत्पन्न स्वेदकणरूप आपोमय स्नेहद्रव्य को लक्ष्य बना कर) कहने लगे कि, सचमुच यह बड़ी आश्चर्य्यपूर्ण (महत्त्वपूर्ण) घटना घटित हो पड़ी कि हमने आज इस (स्वेदरूप) से 'सुवेद' प्राप्त कर लिया। (ब्रह्म से ब्रह्म के ललाट प्रदेश पर समुत्पन्न) इस सुवेद को ही वैज्ञानिक लोग परोक्षभाषा में 'स्वेद' व्यवहृत करते हैं। (क्योंकि) देवता (मायातत्त्ववेत्ता महर्षि भूदेव) परोक्षप्रेमी, तथा प्रत्यक्ष के शत्रु हुआ करते हैं"।

(१६४) माङ्गलिक संस्मरणमीमांसा—

यह तो हुआ श्रुति का अक्षरार्थसमन्वय। अब दो शब्दों में रहस्यार्थ का भी समन्वय कर लीजिए। गोपथब्राह्मण का आरम्भ उक्त वचन ही से हुआ है। आर्षग्रन्थों के आरम्भ में, तथा समाप्ति में उभयत्र माङ्गलिक संस्मरण का समावेश एक विशेष महत्त्व रखता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन त्रिखण्डात्मक उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका ग्रन्थ के प्रथमखण्डमें—"उपनिषदों के आद्यन्त में माङ्गलपाठ क्यों किया जाता है ?", इस परिच्छेद में प्रतिपादित हुआ है। गोपथवचन के आरम्भ में पठित 'ओम्' के द्वारा उस आर्षमाङ्गलिक विधान का ही संरक्षण हुआ है, जिसके द्वारा संकेतरूप से श्रुति आस्थाश्रद्धा परायण आर्षमानव को यही माङ्गलिक शिक्षा प्रदान कर रही है कि "मानव को अपना प्रत्येक कर्म्म माङ्गलिक संस्मरणपूर्वक ही तो आरम्भ करना चाहिए, एवं तत्पूर्वक ही समाप्त करना चाहिए, क्योंकि माङ्गलिक संस्मरण मानव के ऐहिक-आमुष्मिक जीवन को स्वस्ति-शान्ति-सुख-समृद्धि-ऋद्धि वृद्धि-तुष्टि-पुष्टि पूर्वक प्रकान्त रखता हुआ एक प्रधान स्वस्त्ययनकर्म्म माना गया है"। एवं जिस मङ्गलसंस्मरण के ओम्-अथ-श्री-श्रीगणेशाय नमः-श्रीपराम्बायै नमः-ओं नमः परमर्षिभ्यः, इत्यादि रूप से स्व-स्व-वैय्यक्तिक उपासनानिबन्धन अनेक विवर्त्त माने गये हैं।

(१६५) 'ओं ब्रह्म' का समन्वय—

पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, स्वयम्भू-हिरण्यगर्भ-विराट्सम्राड्रूप त्रिमूर्त्ति मनुप्रजापति निष्कल-त्रिकला-षोडशकल त्रिमूर्त्ति आत्मप्रजापति से सर्वथा अभिन्न तत्त्व है। अर्द्धमात्ररूप अमात्रिक परात्पर, अकाररूप अव्यय, उकाररूप अक्षर, मकाररूप क्षर की समष्टि बनता हुआ त्रिमूर्त्ति आत्मदेवता 'ओम्' स्वरूप है। अतएव तदभिन्न मनुब्रह्म को भी अवश्य ही 'ओम्' रूप अभिधा से सम्बोधित किया जा सकता है। प्रणवोच्चार ही मनुप्रजापति का स्वस्वरूपलक्षण बन रहा है। अतएव इस मानवी सृष्टि में 'ओं ब्रह्म वा इदमग्रे०' इत्यादि प्रणवरूप से ही स्वायम्भुवी सृष्टि का उपक्रम हुआ है। अग्नि-इन्द्र-वरुण-धाता-सविता-अर्य्यमा-वायु-आदित्य आदि विभिन्न प्राणदेवता अपने अपने प्रातिस्विक धर्म्मों के आधार पर-मूलप्रवर्त्तक मूलोक्थ बनते हुए स्वतन्त्र 'ब्रह्म' हैं। गोपथश्रुति के द्वारा जिस भृग्वङ्गिरोमयी आपोमयी सृष्टि का निरूपण होने वाला है, उस सृष्टि का मूलाधार ब्रह्म प्राणलक्षण ब्रह्म (एकाङ्ग) देवता नहीं है। अपितु परात्परादि-समष्टिरूप षोडशकललक्षण सर्वप्रजापति ही इस सृष्टि का प्रवर्त्तक 'ब्रह्म' पदार्थ है। आपोमयी सृष्टि के मूलभूत ब्रह्म के इसी सर्वरूप की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए श्रुति ने ब्रह्म के साथ 'ओम्' का समन्वित करते हुए 'ओं ब्रह्म' का उपक्रमवचन माना है। मङ्गलसंस्मरण, तद्द्वारा मोक्षानुगत स्वस्त्ययनकर्म्मोपलक्षण सर्वोपरि ब्रह्म का स्वरूपविश्लेषण, इत्यादि प्रयोजनों के उद्देश्य से ही आरम्भवचन के आरम्भ में—'ओम्' उपाहृत हुआ है।

(१६६) 'इदमग्रआसीत्' का समन्वय—

'इदमग्र आसीत्' यह उत्तर वाक्य है, जो सृष्टि के पूर्व एक रहस्यपूर्ण अनुपम अवस्था की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। सृष्टितत्त्व के मार्मिक रहस्यों का अन्वेषण उन भारत नैष्ठिक मान्य भगवान् (महर्षियों) ने ही किया है, जो अपनी अध्यात्मज्ञाननिष्ठा के प्रभाव से [illegible]

से अतिक्रान्त बनते हुए कारणस्वरूप के 'प्रत्यक्षद्रष्टा' घोषित हुए हैं। 'इद' शब्द सर्वत्र पुरोऽवस्थित-प्रत्यक्षदृष्ट-अनुभूत-वर्त्तमान-विश्व का ही वाचक बोधक-समाहक माना गया है। स्पष्ट है कि, महर्षियोंने इस 'इदं,' रूप विश्वस्वरूप को लक्ष्य बनाकर ही इस कारणरूपा पूर्वावस्था के तात्त्विक स्वरूप की परोक्ष व्याख्या की है। तत्त्वदृष्या भी स्वरूपव्याख्याशैली का यही स्वरूप सहज प्रमाणित हो रहा है। कारण का स्वरूपज्ञान कार्य्य के स्वरूपज्ञान के द्वारा ही सम्भव है अर्वाचीन प्रज्ञा के लिए'। कार्य्यानुमान से ह' कारणस्वरूप बोधगम्य बना करता है। क्योंकि-कारणगुणा कार्य्यगुणानारमन्ते न्यायानुसार कारण के गुणधर्म्म ही कार्य्य के गुणधर्म्मों के आरम्भक बना करते हैं। क्षित्यङ्कुरादि कार्य्यों के द्वारा तत्कारणभूत ईश्वर (प्रकृति) का अनुमान लगाने मे कुशल नव्यतार्किकों की तर्कप्रणाली इस दिशा में प्रसिद्ध ही है। 'इदमग्रे' वाक्य इसी कार्य्यकारणमूलक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण कर रहा है।

(१९७) अव्यक्तब्रह्म का व्यक्तीभाव—

यद्यपि 'अभिन्नसत्ताक कार्य्यकारणभावी ब्रह्मवादी' की विवर्त्तभावात्मिका दृष्टि में अध्यात्म-जगत् की ही अभिव्यक्ति का ही नाम अधिभूतजगत् है। "आधिभौतिक जगत् मिथ्या है, दुःखं दुःखं है, शून्यं शून्यं है अपरिपूर्ण है, निस्सार है" इत्यादिरूपा अमाङ्गलिक-असत्-कल्पनाओं का ब्रह्मवादी की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। यह तो इस वास्तविक तथ्य का अभिगन्ता-मन्ता-श्रोता-वक्ता है कि- "यह सम्पूर्ण विश्व सर्वथा परिपूर्ण है, आनन्दमय है, नित्य है, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म-नित्य 'विज्ञानमानन्दं' ब्रह्म-स्वरूप परिपूर्ण ब्रह्म का ही व्यक्तरूप है"। ब्रह्म ही सञ्चरदशा में नानात्वलक्षणया विश्वरूप में अभिव्यक्त होता रहता है, एवं प्रतिसञ्चरदशा में यह नानाभावापन्न व्यक्त विश्व पुन अपने अव्यक्त एक ब्रह्म रूपमें परिणत होता रहता है। 'इदमग्रे' वाक्य इस ब्रह्मव्याप्तिमूलक व्यक्ता व्यक्तभाव की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। यह कार्यरूप विश्व पूर्वमें-अग्रे-कारण दशा में ब्रह्म ही था," वाक्य स्पष्ट ही अव्यक्त ब्रह्म के व्यक्तभाव को ही विश्वस्वरूप से घोषित कर रहा है।

(१९८)-'स्वयन्त्वेकमेव' का समन्वय—

ब्रह्म ही व्यक्तावस्था में 'विश्व' है, विश्व ही अव्यक्तावस्था में 'ब्रह्म' है। अन्तर इन दोनों स्थितियों में केवल यही है कि, अव्यक्तावस्था में नानात्वसम्पादक बल अव्यक्तावस्था में (सुप्तावस्था में) परिणत रहते हैं। अतएव 'अव्यक्त ब्रह्म' नानाविश्वमूलक अनेकत्व से पृथक् रहता हुआ 'एकाकी' बना रहता है। व्यक्तावस्था में नानाभावजनक बल व्यक्तावस्था में (जाग्रदवस्था में) परिणत रहते हैं। अतएव 'व्यक्त विश्व' नानाभावसमन्वित होता हुआ 'बहुधर्म्माक्रान्त' बना रहता है। सञ्चरपक्ष नानाभावानुगत है, यही विश्व है। प्रतिसञ्चरपक्ष एकत्वानुगत है, यही ब्रह्म है। ब्रह्म इस विश्व की प्रतिसञ्चरात्मिका प्रतिसर्गावस्था है, तो विश्व उस ब्रह्म की सञ्चरात्मिका सर्गावस्था है। इस उभयावस्थासमन्वयमूलक एकत्व को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है कि—"ओं ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्-स्वयन्त्वेकमेव"।

(१६४) माङ्गलिक संस्मरणमीमांसा—

यह तो हुआ श्रुति का अक्षरार्थसमन्वय। अब दो शब्दों में रहस्यार्थ का भी समन्वय कर लीजिए। गोपथब्राह्मण का आरम्भ उक्त वचन ही से हुआ है। आर्षग्रन्थों के आरम्भ में, तथा समाप्ति में उभयत्र माङ्गलिक संस्मरण का समावेश एक विशेष महत्त्व रखता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन त्रिखण्डात्मक उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका ग्रन्थ के प्रथमखण्डमें—"उपनिषदों के आद्यन्त में माङ्गलपाठ क्यों किया जाता है ?", इस परिच्छेद में प्रतिपादित हुआ है। गोपथवचन के आरम्भ में पठित 'ओम्' के द्वारा उस आर्षमाङ्गलिक विधान का ही संरक्षण हुआ है, जिसके द्वारा सङ्केतरूप से श्रुति भ्रात्यामङ्का पराक्रत आर्षमानव को यही माङ्गलिक शिक्षा प्रदान कर रही है कि "मानव को अपना प्रत्येक कर्म माङ्गलिक संस्मरणपूर्वक ही तो आरम्भ करना चाहिए, एवं तत्पूर्वक ही समाप्त करना चाहिए, क्योंकि माङ्गलिक संस्मरण मानव के ऐहिक-आमुष्मिक जीवन को स्वस्ति-शान्ति-सुख-समृद्धि-ऋद्धि वृद्धि-तुष्टि-पुष्टि पृथक् प्रकान्त रखता हुआ एक प्रधान स्वस्त्ययनकर्म्म माना गया है। एवं जिस मङ्गलसंस्मरण के ओम्-अथ-श्री श्रीगणेशाय नमः-श्रीपराम्बायै नमः-ओं नमः परमर्षिभ्यः इत्यादि रूप से स्व-स्व वैय्यक्तिक उपासनानिबन्धन अनेक विवर्त्त माने गये हैं।

(१६५) 'ओं ब्रह्म' का समन्वय—

पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है, कि स्वयम्भू-हिरण्यगर्भ-विराट्समष्टिरूप त्रिमूर्ति मनुप्रजापति निष्कल-विकल-पाशकल त्रिमूर्ति आत्मप्रजापति से सर्वथा अभिन्न तत्त्व है। अक्षरमात्ररूप अमात्रिक परात्पर, अक्षररूप अव्यय उकाररूप अक्षर, मकाररूप क्षर की समष्टि बनता हुआ त्रिमूर्ति आत्मदेवता 'ओम्' स्वरूप है। अतएव तदभिन्न मनुब्रह्म को भी अवश्य ही 'ओम्' कार अभिधा से सम्बोधित किया जा सकता है। प्रणवोङ्कार ही मनुप्रजापति का स्वरूपलक्षण बन रहा है। अतएव इस मानवी सृष्टि में 'ओं ब्रह्म वा इदमग्रे०' इत्यादि प्रणवरूप से ही स्वायम्भुवी सृष्टि का उपक्रम हुआ है। अग्नि-इन्द्र-वरुण-धाता-सविता-अर्य्यमा-वायु-आदित्य आदि विभिन्न प्राणदेवता अपने अपने प्रातिस्विक कर्म्मों के आधार पर-मूलप्रवर्त्तक मूलोक्थ बनते हुए स्वतन्त्र 'ब्रह्म' हैं। गोपथश्रुति के द्वारा जिस भृग्वङ्गिरोमयी आपोमयी सृष्टि का निरूपण होने वाला है, उस सृष्टि का मूलाधार ब्रह्म प्राणलक्षण ब्रह्म (एकाङ्ग) देवता नहीं है। अपितु परात्परादि समष्टिरूप ओंकारलक्षण स्वप्रजापति ही इस सृष्टि का प्रवर्त्तक 'ब्रह्म' पदार्थ है। आपोमयी सृष्टि मूलभूत ब्रह्म के इसी सर्वरूप की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए श्रुति ने ब्रह्म के साथ 'ओम्' को समन्वित करते हुए 'ओं ब्रह्म' का उपक्रमवचन माना है। मङ्गलसंस्मरण, तद्द्वारा शास्त्रानुगत स्वस्त्ययनकर्मशिक्षा सर्वोपरि ब्रह्म का स्वरूपनिरूपण, इत्यादि प्रयोजनों के उद्देश्य से ही आरम्भवचन के आरम्भ में—ओम्' आहुति उपात्त है।

(१६६) 'इदमग्रआसीत्' का समन्वय—

'इदमग्र आसीत्' यह उत्तर वाक्य है, जो सृष्टि के पूर्व एक रहस्यपूर्ण मुख्य पक्ष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। संहिता के मानिक रहस्यों का अनुगमन उन आम्नाय वैदिक मान भाषा (महर्षियों) ने ही किया है, जो अपनी सम्प्रदायमननिष्ठा के प्रभाव से 'इदम्' का अन्वय का ऐसा

में स्वनिबन्धन एकत्व भी समाविष्ट रहता है, जिस इस महदाश्चर्य्य का यों भी अभिनय किया जा सकेगा कि–मुमुक्षावस्थानुगता स्थिति–अवस्था में ब्रह्म का अनेकभावापन्न बने रहना, जैसे एक महान् आश्चर्य्य है, तथैव सिसृक्षाभावानुगता गति–अवस्था में ब्रह्म का एकभावापन्न बने रहना भी कम आश्चर्य्य नहीं है। और ऐसी आश्चर्य्यमयी स्थिति में एक वैज्ञानिक यह कल्पना कर बैठेगा कि,–एकाकी ब्रह्म ने जब सिसृक्षा के द्वारा विश्वरचना का संकल्प अभिव्यक्त किया होगा, तो उस सिसृक्षावस्था में सिसृक्षाभावानुगत नानात्व से सर्वथा विपरीत स्वानुगत अपने मुमुक्षाभावानुगत एकत्व का अनुभव कर, देखकर स्वयं ब्रह्म को भी एक बार तो महान् आश्चर्य्य हो गया होगा, एवं अपने इस महान् आश्चर्य्य को समन्वित करने के लिए अवश्य ही सिसृक्षानुगामी सर्गानुरक्त–सर्गाभिमुख–सृष्टिकामुक ब्रह्म ने तत्काल यही संकल्प कर डाला होगा कि—

"मुझे अपने एकत्वस्वरूप इस आश्चर्य्य के समन्वय के लिए अवश्य ही किसी वैसे मत्सदृश ही दूसरे सहयोगी को अपने श्रम–तप–श्रम–सन्तपन से समुत्पन्न कर ही लेना चाहिए, जिससे मेरी यह आश्चर्य्यकारिणी एकता द्वित्वरूप में परिणत हो जाय, एवं तद्द्वारा मैं दाम्पत्यभाव पूर्वक सृष्टिनिर्म्माण (मैथुनीसृष्टिरूप विश्वरात्मक चर मौलिक सर्ग) में समर्थ बन सकूँ।"

एकत्वरूप को अनेकत्वभाव में परिणत कर देनेवाली इस स्वाभाविक सिसृक्षा के स्वरूप विश्लेषण के लिए ही श्रुति को आगे चल कर इस सहज स्थिति का इन शब्दों में अभिनय करना पड़ा कि—"तदैक्षत– महद्वै यक्षं (आश्चर्य्य)–तदेकमेवास्मि हन्त–अहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं निर्म्ममे' इति। 'मदेव–मन्मात्रम्' उस उत्पत्स्यमान द्वितीय सहयोगी का तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण कर रहा है। 'मदेव' का अर्थ है–'मेरे जैसा', एवं 'मन्मात्रम्' का अर्थ है–'मेरे जितना'। 'मेरे जैसा' का तात्पर्य है–'मेरी–सत्यकामना के अनुरूप ही कामना में प्रवृत्त रहने वाला'। 'मेरे जितना' का तात्पर्य है–"इच्छानुरूप मेरे कार्य में मेरे आत्मसमर्पण की भाँति ही 'आत्मसमर्पण करनेवाला'"। समानसङ्कल्पस्व ही 'मदेव' है। समान बलवीर्य्यपराक्रमानुगत–शक्तिप्रयोग ही तन्मात्रम् है। और दाम्पत्यभावमूलक एता सहयोग–समसमन्वय ही अपूर्व सृष्टि का वर्धक तथा स्वरूपसंरक्षक बना रहता है, जिसका निम्नलिखित आर्षवाणी से स्पष्टीकरण हुआ है—

> समानी व आकूति समाना हृदयानि वः।
> समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
>
> —ऋक्सं० १०।१९१।४।

(२०१)–सहयोग–सेवा–तटस्थता–शत्रुता–सम्बन्धचतुष्टयी—

"तुम्हारा संकल्प समान हो, हृदय समान हो, मन समान हो, जैसे कि तुम्हारा लक्ष्य समान है, अभिन्न है।" लक्ष्य की समानता में समवेत रहनेवाले सहयोगियों का प्रत्येकदशा में समानधर्म्मा–अभिन्न धर्म्मा बन रहना अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित माना गया है। तभी लक्ष्य साफल्य सम्भव बना करता है। 'सहयोग–सेवा–तटस्थता–शत्रुता–' इन चार भावों के पर्य्यवेक्षण–निरीक्षण के माध्यम से ही सहयोग का तात्त्विक स्वरूपबोध सम्भव माना गया है। समानशीलव्यसनता में सहयोग हुआ करता है, जिसे 'मैत्रीसम्बन्ध' कहा गया है। मानवदृष्टि से यही सम्बन्ध प्रधान है, एवं इसी से मानव की प्रातिस्विक (हृदयानुगता) मानवता

(१९९) स्वयन्तु–एक–एव–सतत्त्वा ब्रह्म—

अपिच–'स्वयन्त्वेकमेव' वचनांश ब्रह्मानुगत त्रिविध भेद का भी निवारक प्रमाणित हो रहा है। नानाभाव ही भेदभाव है। यह भेदभाव वस्तुस्थिति के तारतम्य से, तन्मूलक आनन्त्य से यद्यपि अनेक भावों में विभक्त है। तथापि वैज्ञानिकोंने उन समस्त भेदभावों को भेदत्रयी में ही समन्वित मान लिया है, जो भेदत्रयी क्रमशः–'सजातीयभेद–विजातीयभेद–स्वगतभेद–' नामों से प्रसिद्ध है। एक आम का वृक्ष दूसरे आम्रवृक्ष से विभिन्न है। समानजातीय आम्रवृक्षों का यह पारस्परिक विभेद ही 'सजातीयभेद' है। आम्र–नारिकेल–जम्बू–खदिर–न्यग्रोध–आदि वृक्ष परस्पर विभिन्न जातीय हैं। यह विजातीय पारस्परिक विभेद ही 'विजातीयभेद' है। स्वयं एक ही वृक्ष में–उदाहरण के लिए आम्रवृक्ष में ही आम्रफल–आम्रमञ्जरी–आम्रपल्लव–आम्रशाखा–महाशाखा–प्रत्यन्तशाखा–स्थूण–आदि परस्पर अपना विभिन्न स्वरूप रख रहे हैं। एक ही आम्रवृक्ष में समन्वित यही पारस्परिक अवयवभेद 'स्वगतभेद' माना गया है। एक महामायापुर में महामायी अव्यक्तब्रह्म जैसा कोई अन्य ब्रह्म नहीं है, अतएव इसे 'सजातीयभेदशून्य' माना जायगा। अव्यक्तब्रह्मातिरिक्त कोई दूसरा विभिन्न स्वरूप–गुण–धर्मा' तत्त्व भी नहीं है, अतएव इसे 'विजातीयभेदशून्य' कहा जायगा। स्वयं अव्यक्तब्रह्म में असङ्गतानुगता अभिन्नसत्ता के कारण पर्वभेद का भी (अवयवभेद का भी) अभाव है, अतएव इसे 'स्वगतभेदशून्य' घोषित किया जायगा। त्रिविध भेदशून्य ब्रह्म वास्तव में 'एकाकी' ही माना जायगा। 'स्वयन्त्वेकमेव' वाक्य का 'स्वयम्' शब्द सजातीयभेद का, 'एकम्' शब्द विजातीयभेद का, तथा 'एव' शब्द स्वगतभेद का व्यावर्त्तक बन रहा है। जिस प्रकार–'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि अन्य श्रुति के 'एकम्–एव–अद्वितीयम्' तीनों शब्द क्रमशः सजातीय–विजातीय–स्वगत–भेदों के निवर्त्तक हैं, तथैव यहाँ 'स्वय–एकम्–एव' यह शब्दत्रयी त्रिभेदव्यावर्त्तिका बन रही है। इस प्रकार 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्–स्वयन्त्वेकमेव' इस प्रारम्भिक सन्दर्भश्रुति के तत्त्वपूर्ण–स्वरूपव्याख्यान की रूपरेखा का यों अंशतः स्पष्टीकरण हो जाता है।

(२००)–'मदेव मन्मात्रम्' स्वरूपमीमांसा—

यह स्मरण रखिए कि, गायत्रश्रुति के द्वारा ब्रह्ममूलक उस विश्वकर्म का प्रतिपादन हो रहा है, जो विश्वकर्म ब्रह्म की 'सिसृक्षा' नाम की कामेच्छा से ही अनुप्राणित माना गया है। ब्रह्म रसबलात्ममूर्त्ति है, यह अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है, और यह भी निवेदन किया जा चुका है कि, रसभाग अबल है, बलभाग सबल है। मनोमय स्वयम्भुगर्भित ब्रह्म बलगर्भित रसभाग से मुमुक्षानुगामी बने रहते हैं, जिनके द्वारा बल ग्रन्थियों के क्रमिक विश्लथन–विमोक–से व्यक्त विश्व अव्यक्त महाभाव में परिणत हो जाता है। वहीं मनोमय स्वयम्भूब्रह्म प्राणमय हिरण्यगर्भब्रह्म के माध्यम से वाङ्मय विराड्ब्रह्मस्वरूप के द्वारा रसगर्भित बलभागोपादान-वाचन से समन्वित होकर सिसृक्षानुगामी बने रहते हैं, जिनके द्वारा बलग्रन्थियों की क्रमिक दृढ़मूलता से अव्यक्त-ब्रह्म व्यक्त विश्वरूप में परिणत हो जाता है। मुमुक्षा (बन्धनग्रन्थिविमोकेच्छा) रसाभिमुख है, रसप्रधाना है एवं इसमें–'अनेक से एक बन जाऊँ' यह एकत्वभाव ही प्रधान रहता है। सिसृक्षा (ग्रन्थिबन्धनेच्छा) बलाभिमुख है, बलप्रधाना है, एवं इसमें 'एक से अनेक बन जाऊँ' यह 'अनेकत्वभाव ही प्रधान रहता है। किन्तु साथ ही साथ एक महान् आश्चर्य यह भी प्रमाणित बना रहता है कि मुमुक्षावस्था में एकत्व-भावापन्न ब्रह्म में बलनिबन्धन अनेकत्व भी समाविष्ट रहता है, एवं सिसृक्षावस्था में अनेकत्वभावापन्न विश्व

में रसनिस्पन्न एकत्व भी समाविष्ट रहता है, किंवा इस महदाश्चर्य्य का यों भी अभिनय किया जा सकेगा कि-मुमुक्षावस्थानुगता स्थिति-अवस्था में ब्रह्म का अनेकभावापन्न बने रहना, जैसे एक महान् आश्चर्य्य है, तथैव सिसृक्षाभावानुगता गति-अवस्था में ब्रह्म का एकभावापन्न बने रहना भी कम आश्चर्य्य नहीं है। और ऐसी आश्चर्य्यमयी स्थिति में एक वैज्ञानिक यह कल्पना कर बैठेगा कि,-एकाकी ब्रह्म ने जब सिसृक्षा के द्वारा विश्वरचना का सङ्कल्प अभिव्यक्त किया होगा, तो उस सिसृक्षावस्था में सिसृक्षाभावानुगत नानात्व से सर्वथा विपरीत स्वानुगत अपने मुमुक्षाभावानुगत एकत्व का अनुभव कर, देखकर स्वयं ब्रह्म को भी एक बार तो महान् आश्चर्य्य हो गया होगा, एवं अपने इस महान् आश्चर्य्य को समन्वित करने के लिए अवश्य ही सिसृक्षानुगामी सर्गानुरक्त-सर्गाभिमुख-सृष्टिकामुक ब्रह्म ने तत्काल यही संकल्प कर डाला होगा कि,—"मुझे अपने एकत्वस्वरूप इस आश्चर्य्य के समन्वय के लिए अवश्य ही किसी ऐसे मत्सदृश ही दूसरे सहयोगी को अपने काम-तप-श्रम-सन्तपन से समुत्पन्न कर ही लेना चाहिए, जिससे मेरी यह आश्चर्य्यकारिणी एकता द्विस्वरूप में परिणत हो जाय, एवं तद्द्वारा मैं दाम्पत्यभाव पूर्वक सृष्टिनिर्माण (मैथुनीसृष्टिरूप विकारात्मक एवं भौतिक सर्ग) में समर्थ बन सकूँ।" एकत्वरूप को अनेकत्वभाव में परिणत कर देनेवाली इस स्वाभाविक सिसृक्षा के स्वरूप विश्लेषण के लिए ही श्रुति को आगे चल कर इस सहज स्थिति का इन शब्दों में अभिनय करना पड़ा कि—"तदेतत्-महद्यक्षं (आश्चर्य्य)-तदेकमेवास्मि हन्त-अहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं निर्म्ममे" इति। 'मदेव-मा मात्रम्' उस उत्पत्स्यमान द्वितीय सहयोगी का तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण कर रहा है। 'मदेव' का अर्थ है-'मेरे जैसा', एवं 'मन्मात्रम्' का अर्थ है-'मेरे जितना'। 'मेरे जैसा' का तात्पर्य है-'मेरी-सत्यकामना के अनुरूप ही कामना में प्रवृत्त रहने वाला'। 'मेरे जितना' का तात्पर्य है-"इच्छानुरूप मेरे कार्य में मेरे आत्मसमर्पण की भाँति ही 'आत्मसमर्पण करनेवाला'"। समानसङ्कल्पत्व ही 'मदेव' है। समान बलवीर्य्यपराक्रमानुगत-शक्तिप्रयोग ही तन्मात्रम् है। और दाम्पत्यभावमूलक ऐसा सहयोग-समसमन्वय ही अपूर्व सृष्टि का सर्जक तथा स्वरूपसंरक्षक बना रहता है, जिसका निम्नलिखित आर्षवाणी से स्पष्टीकरण हुआ है—

> समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
> समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
>
> —ऋक्सं० १०।१६२।४

(२०१)-सहयोग-सेवा-तटस्थता-शत्रुता-सम्बन्धचतुष्टयी—

"तुम्हारे संकल्प समान हों, हृदय समान हों, मन समान हो जैसे कि तुम्हारा लक्ष्य समान है, अभिन्न है।" लक्ष्य की समानता में समवेत रहनेवाले सहयोगियों का प्रत्यक्षदशा में समानधर्म्मा-अभिन्न धर्म्मा बन रहना अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित माना गया है। तभी लक्ष्य साफल्य सम्भव बना करता है। 'सहयोग-सेवा-तटस्थता-शत्रुता-' इन चार भावों के पर्य्यवेक्षण-निरीक्षण के माध्यम से ही सहयोग का वास्तविक स्वरूपबोध सम्भव माना गया है। समानशीलव्यसनता में सहयोग हुआ करता है, जिसे 'मैत्रीसम्बन्ध' कहा गया है। भारतीदृष्टि से यही सम्बन्ध प्रधान है, एवं इसी से मानव की प्रातिस्विक (हृदयानुगता) मानवता

का सहज विकास सम्भव बना करता है। इस विलक्षण–अपूर्व सम्बन्ध की रक्षा का उत्तरदायित्व प्राकृतिक प्राणनिबन्धन सहज अनुरूपता (जो लोकव्यवहार में योग्यता कहलाई है)–शिक्षा–भोजन (आहारविहार)–भजन (उपासना)–शयन–गमन–भाषण–रुदन–हसन–व्यवहार (लोकव्यवसाय)–लक्ष्य (उद्देश्य)–श्रम (शारीरिकतप)–परिश्रम (प्राणतप)–आदि अनेक भावों के समसमन्वय पर ही अवलम्बित है। तथाकथित किसी भी वृत्ति–वर्त्तन–आचरण में यदि यत्किञ्चित् भी–रसात्मक भी–अन्तर आ जाता है, तो तत्काल मैत्री-सम्बन्धात्मक सहयोग मलीमस बन जाता है। यही मलीमस सहयोग कालान्तर में अनुकूल–प्रतिकूल–स्थिति–परिस्थितियों के तारतम्यसे–निग्रहानुग्रह से सेवा–तटस्थता–शत्रुता, इन तीनों में से किसी भी एकभाव का अनुगामी बन जाता है। यदि सहयोगप्रदाता का हृदय प्रकृत्या सात्त्विक है, साथ ही इसके स्वार्थ का संरक्षण निश्चित है, तो उस दशा में यह अवरसहयोगी सहयोगी न रह कर 'सेवक' बन जाता है, आज्ञावशवर्त्ती प्रमाणित हो जाता है। 'गुरु–शिष्यभाव —स्वामी–सेवकभाव'–आदि इसी सेवावृत्ति के उदाहरण हैं। यदि सहयोगप्रदाता का स्वार्थसाधन भी सम्भव नहीं बनता, साथ ही सहयोगप्रदानजनित संघर्ष से यह उद्वेग भी रखता है, तो उस अवस्था में यह सहयोग का परित्याग कर 'तटस्थता' का अनुगमन कर लेता है। यदि सहयोगप्रदाता का आभ्यन्तरजगत् (अन्तर्जगत्–प्रज्ञात्मक मनोभाव) तमोगुणबहुला तमोमूला किसी लिप्सा लालसा–लोकैषणा–वित्तैषणा से समन्वित है, और वह इस सहयोग में यदि अपनी लिप्सा–एषणा की सफलता का अनुभव नहीं करता, तो इसमें 'शत्रुता' का उदय हो पड़ता है।

(२०२)–समानमस्तु वो मन'—

देखा गया है, सुना गया है, एवं अनुभव किया गया है ऐसा सम्यग् रूपेण कि, आरम्भ में किसी लिप्सा-एषणा को मूलाधार बनाकर सहयोगप्रदान की कामना से आरम्भ में सहयोगप्रदान के लिए आकुलाव्याकुल बनते हुए सहयोगी जहाँ सर्वस्वार्पण के लिए व्यग्र प्रतीत होने लगते हैं, वहाँ अपनी इस लिप्सा–एषणा की सफलता की कथा तो दूर, प्रत्युत परिणाम में इसका सर्वस्वोन्मूलन देखकर सहसा लक्ष्य–उद्देश्यविघातक बनकर द्रष्टा–शत्रु ही बन जाया करते हैं, फिर वह लक्ष्य भले ही वैय्यक्तिक आध्यात्मिक विकास से सम्बन्ध रखता हो, किंवा तो परिवार–समाज–राष्ट्र–अभ्युदय से अनुप्राणित हो। अतएव लोकव्यवहारसंरक्षण के लिए नैष्ठिक मानव का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह अपने लक्ष्य की सफलता के लिए सहयोगी को किंवा सहयोगियों को लक्ष्य बनाता हुआ आरम्भ में ही गोपथश्रुति के 'मवेव मन्मात्रम्'–'समानमस्तु वो मन' इत्यादि आदेशों के अनुरूप ही अपनी कार्य्यपद्धति निश्चित करे। एवंविधा 'अवस्थानुरूपा व्यवस्था' प्रत्येक दिशा–दशा–क्षेत्र–काल–स्थिति–परिस्थिति में निश्चयेन मङ्गलमयी ही प्रमाणित हुआ करती है। यदि किसी आपातरमणीया भावुकतामूला भ्रान्ति के कारण, सम्प्रदर्शनानुगत प्रतारणापथ के कारण मानव को यदा कदा दुर्भाग्यवश तथाकथित लिप्सा–एषणापरायण कल्पित सहयोगी प्राप्त हो जाय, तो उनके आभ्यन्तर भयावह स्वरूप का बोध प्राप्त होने के अव्यवहितोत्तरकाल में ही वैसे समस्त सहयोगियों का अविकार्य किमप्यात्यन्तिकरूपेण ऐकान्तिक परित्याग ही कर देना चाहिए। इस रहस्यपूर्ण तथ्य का अनुगमन न करने वाला भावुक मानव न केवल पदे पदे अपमानित ही होता, अपितु दिनदिन इसके शत्रुपथ की वृद्धि होती जाती है। यही 'मवेव मन्मात्रम्' निरूपण का प्रासङ्गिक व्यवहारानुगत स्वरूपविश्लेषण है। प्रासङ्गिकमेतत्, प्रकृतमनुसराम।

(२०३)—सहधर्म्मं चरताम्—

ब्रह्मने 'मदेवमन्मात्रम्' भावना से वैसे सहयोगी की कामना की, जो इसके सृष्टिकार्य्य में समानरूप से सहयोग प्रदान करे, जिस प्राकृतिक समान सहयोग के आधार पर पति–पत्नी–लक्षण आर्षदाम्पत्यभाव प्रतिष्ठित माना गया है। यही नहीं, ऐसा सहयोग एकमात्र दाम्पत्यभावात्मक ही माना जायगा, माना गया है। 'सहधर्म्मं चरताम्' के अनुसार धर्म्मपत्नी ही एवंरूपा पूर्वलक्षणा सहयोगिनी मानी गई है। और सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव उस अव्यक्त ब्रह्मने भी अपनी 'मदेव मन्मात्रम्' कामना को अनुरूपतापूर्वक सफल बनाने के लिए सहयोगी का अन्वेषण करते करते अन्ततोगत्वा समानशीलव्यसनपरायणा–मदेव मन्मात्रा–पत्नी को ही अभिनन्दित किया होगा, जिस 'ब्रह्मपत्नी' (व्यक्तप्रकृति) का स्वरूप अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

(२०४) द्वितीय देव का निर्म्माण—

"हम अपने सदृश अपने परिमाण से समतुलित (हमारे जैसे हमारे जितने ही) द्वितीय देव का निर्म्माण करें" ब्रह्म की यही यह कामना है, जिसका अव्ययात्मानुगत शाश्वत ब्रह्मलक्षण मनोमय स्वयम्भूमनु से सम्बन्ध बतलाया गया है। सङ्कल्पात्मिका इस मनु की मानस कामना का ही (सृष्टि के सामान्य तीन अनुबन्धों में से प्रथम 'काम' नामक अनुबन्धन का ही) इस वचन से स्पष्टीकरण, किंवा संग्रह हुआ है। लक्ष्यहीन कामना, कामना विरुद्ध अस्तव्यस्त–अमर्य्यादित तप प्राण व्यापाररूपा चेष्टा–यत्न), एवं लक्ष्य–तप से उन्मुक्त ही अमर्य्यादित श्रम (वाग्व्यापाररूप शारीरिक कर्म्म) इस प्रकार प्रकृतिविरुद्ध, अतएव अप्राकृतरूप से उत्पन्न काम, तदनुगत तप, तदनुगत कर्म्म प्रथम तो लक्ष्यसिद्धि में सफल ही नहीं होते। यदि घुणाक्षरन्यायेन अंशतः सफलता प्राप्त होती भी है, तो एसे सिद्ध लक्ष्यों में स्थायित्व नहीं रहता। ईश्वरीय काम–तप –श्रम जहाँ सर्वात्मना लक्ष्यानुगत, अतएव सर्वात्मना स्थायी, अतएव च सर्वात्मना सनातन हैं सफल हैं, वहाँ मानवीय काम तप श्रम मानव के एषणा–लिप्सात्मक अपने प्रज्ञापराधरूप दोष से अमर्य्यादित–कुटिल प्रमाणित होते हुए, विभिन्न दिशाओं के अनुगामी बन कर 'मनस्यन्यत्–वचस्यन्यत्–कर्म्मण्यन्यत्–दुरात्मनाम्' को चरितार्थ करते हुए सर्वात्मना लक्ष्यच्युत, अतएव सर्वात्मना अस्थिर, अतएव च सर्वात्मना क्षणिकभावापन्न बने रहते हैं, निष्फल बने रहते हैं। सङ्कल्पात्मक काम (कामना) है कुछ और, क्रियात्मक तप है विभिन्न ही एवं कर्म्मात्मक बाह्य व्यापाररूप श्रम किसी अन्य दिशा का ही अनुगामी बन रहा है। सोचते कुछ और हैं, चेष्टा कुछ और है, शारीरिक व्यापार किसी अन्य चक्र का ही अनुगमन कर रहा है। मन में कुछ और पल्वित हो रहा है, चेष्टा कुछ और ही हो रही है, काम कुछ अन्य ही किया जा रहा है। सङ्कल्प कुछ है, कहते कुछ हैं, करते कुछ और ही हैं। इस प्रकार मन–प्राणवाङ्मय आत्मवनतारूप हृदयस्थ मनुप्रजापति के काम–तप–श्रम अनुबन्धों को विभिन्नदिशानुगामी बनाता हुआ स्खलितप्रज्ञ–चलितप्रज्ञ बना हुआ मानव आध्यात्मिक इन मनुकलाओं की सहजसिद्ध–स्वाभाविक समता को, नैसर्गिक आनुकूल्यात्मक समत्वलक्षण बुद्धियोग को आवृत करता हुआ, अभिभूत करता हुआ, विस्मृत करता हुआ अपने आध्यात्मिक बल को निर्बल–निस्तेज–अशक्त ही बना लेता है। फलतः एवं भूत्वनविस्थित–चेता मानवों के सङ्कल्प–चेष्टा–श्रम प्रायः निरर्थक ही प्रमाणित होते रहते हैं। ठीक इसके विपरीत भिन्न आर्षमानवों के, निगमागमपरायण नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों के काम–तप–श्रम–'मनस्येकं–वचस्येकं–कर्म्मण्येकं महात्मनाम्' के अनुसार एक दूसरे का लक्ष्य बनाते हुए पारस्परिक आनुकूल्य–अनुकूलतालक्षण–समत्वलक्षण,

का सहज विकास सम्भव बना करता है। इस विलक्षण–अपूर्व सम्बन्ध की रक्षा का उत्तरदायित्व प्राकृतिक प्राणनिबन्धन सहज अनुरूपता (जो लोकव्यवहार में योग्यता कहलाई है)–शिक्षा–भोजन (आहारविहार)–भजन (उपासना)–शयन–गमन–भाषण–रुदन–हसन–व्यवहार (लोकव्यवसाय)–लक्ष्य (उद्देश्य)–श्रम (शारीरिकतप)–परिश्रम (प्राणतप)–आदि अनेक भावों के समसमन्वय पर ही अवलम्बित है। तथाकथित किसी भी रुचि–वचन–आचरण में यदि यत्किञ्चित् भी–रेखात्मक भी–अन्तर आ जाता है, तो तत्काल मैत्री-सम्बन्धात्मक सहयोग मलीमस बन जाता है। यही मलीमस सहयोग कालान्तर में अनुकूल–प्रतिकूल–स्थिति–परिस्थितियों के तारतम्यसे–निग्रहानुग्रह से सेवा–तटस्थता–शत्रुता, इन तीनों में से किसी भी एकभाव का अनुगामी बन जाता है। यदि सहयोगप्रदाता का हृदय प्रकृत्या सात्त्विक है, साथ ही इसके स्वार्थ का संरक्षण निश्चित है, तो उस दशा में यह अवरसहयोगी सहयोगी न रह कर 'सेवक' बन जाता है, आज्ञावशवर्ती प्रमाणित हो जाता है। 'गुरु–शिष्यभाव'–स्वामी–सेवकभाव'–आदि इसी सेवावृत्ति के उदाहरण हैं। यदि सहयोगप्रदाता का स्वार्थसाधन भी सम्भव नहीं बनता, साथ ही सहयोगप्रदानजनित संघर्ष से यह उद्वेग भी रखता है, तो उस अवस्था में यह सहयोग का परित्याग कर 'तटस्थता' का अनुगमन कर लेता है। यदि सहयोगप्रदाता का आभ्यन्तरजगत् (अन्तर्जगत्–प्रज्ञात्मक मनोभाव) तमोगुणबहुला तमोमूला किसी लिप्सा लालसा–लोकैषणा–वित्तैषणा से समन्वित है, और वह इस सहयोग में यदि अपनी लिप्सा–एषणा की सफलता का अनुभव नहीं करता, तो इसमें 'शत्रुता' का उदय हो पड़ता है।

(२०२)–समानमस्तु वो मनः—

देखा गया है, सुना गया है, एवं अनुभव किया गया है ऐसा सम्यग् रूपेण कि, आरम्भ में किसी लिप्सा-एषणा को मूलाधार बनाकर सहयोगप्रदान की कामना से आरम्भ में सहयोगप्रदान के लिए आकुलाव्याकुल बनते हुए सहयोगी जहाँ सर्वस्वार्पण के लिए व्यग्र प्रतीत होने लगते हैं, वहाँ अपनी इस लिप्सा–एषणा की सफलता को क्या तो विफल, प्रत्युत परिणाम में इसका सर्वस्वोन्मूलन देखकर सहसा लक्ष्य–उद्देश्यविघातक प्रबल द्वेषी–शत्रु ही बन जाया करते हैं, फिर वह लक्ष्य भले ही वैय्यक्तिक आध्यात्मिक विकास से सम्बन्ध रखता हो, किंवा तो परिवार–समाज–राष्ट्र–अभ्युदय से अनुप्राणित हो। अतएव लोकव्यवहारसंरक्षण के लिए नैष्ठिक मानव का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह अपने लक्ष्य की सफलता के लिए सहयोगी को किंवा सहयोगियों को लक्ष्य बनाता हुआ आरम्भ में ही गोपथश्रुति के 'मद्वेव मन्मायम्'–'समानमस्तु वो मनः' इत्यादि आदेशों के अनुरूप ही अपनी कार्य्यपद्धति निश्चित करे। एवंविधा 'अवस्थानुरूपा व्यवस्था' प्रत्येक दिशा–दशा–देश–काल–स्थिति–परिस्थिति में निश्चयेन मङ्गलमयी ही प्रमाणित हुआ करती है। यदि किसी आपातरमणीया भावुकतामूला भ्रान्ति के कारण, भावप्रदर्शनानुगत प्रतारणापथ के कारण मानव को यदा कदा दुर्भाग्यवश तथाकथित लिप्सा–एषणापरायण कल्पित सहयोगी प्राप्त हो जाय, तो उनके आभ्यन्तर यथार्थ स्वरूप का बोध प्राप्त होने के अव्यवहितोत्तरकाल में ही ऐसे समस्त सहयोगियों का यदि–कदा किञ्चित् आत्यन्तिकरूपेण ऐकान्तिक परित्याग ही कर देना चाहिए। इस रहस्यपूर्ण तथ्य का अनुगमन न करने वाला भावुक मानव न केवल पदे पदे अपमानित ही होगा, अपितु दिनदिन इसके शत्रुपक्ष की वृद्धि होती जाती है। यही 'मद्वेव मन्मायम्' निबन्धन का प्रासङ्गिक व्यपदेशानुगत स्पष्टीकरण है। प्रासङ्गिकमेतत्, प्रकृतमनुसराम।

(२०३)—सहधर्म्म चरताम्—

ब्रह्मने 'मदेवम मात्रम्' भावना से वैसे सहयोगी की कामना की, जो इसके सृष्टिकार्य्य में समानरूप से सहयोग प्रदान करे, जिस प्राकृतिक समान सहयोग के आधार पर पति-पत्नी—लक्षण आर्षदाम्पत्यभाव प्रतिष्ठित माना गया है। यही नहीं, ऐसा सहयोग एकमात्र दाम्पत्यभावात्मक ही माना जायगा, माना गया है। 'सहधर्म्म चरताम्' के अनुसार धर्मपत्नी ही एतद्रूपा पूर्वलक्षणा सहयोगिनी मानी गई है। और सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव उस अव्यक्त ब्रह्मने भी अपनी 'मदेव मन्मात्रम्' कामना को अनुरूपतापूर्वक सफल बनाने के लिए सहयोगी का अन्वेषण करते करते अन्ततोगत्वा समानशीलव्यसनवयस्या-मदेव मन्मात्रा-पत्नी को ही अभिव्यक्त किया होगा, जिस 'ब्रह्मपत्नी' (व्यक्तप्रकृति) का स्वरूप अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

(२०४) द्वितीय देव का निर्म्माण—

"हम अपने सदृश अपने परिमाण से समतुलित (हमारे जैसे हमारे जितने ही) द्वितीय देव का निर्म्माण करें" ब्रह्म की यही वह कामना है, जिसका अध्यात्मानुगत शाश्वत ब्रह्मलक्षण मनोमय स्वयम्भूमनु से सम्बन्ध बतलाया गया है। संकल्पात्मिका इस मनु की मानस कामना का ही (सृष्टि के सामान्य तीन अनुबन्धों में से प्रथम 'काम' नामक अनुबन्धन का ही) इस वचन से स्पष्टीकरण, किंवा संग्रह हुआ है। लक्ष्यहीन कामना, कामना विरुद्ध अस्तव्यस्त-अमर्य्यादित तप प्राण व्यापाररूपा चेष्टा-यत्न), एवं लक्ष्य-तप से उन्मुख ही अमर्य्यादित श्रम (वाग्व्यापाररूप शारीरिक कर्म्म) इस प्रकार प्रकृतिविरुद्ध, अतएव अप्राकृतरूप से उत्पन्न काम, तदनुगत तप, तदनुगत कर्म्म प्रथम तो लक्ष्यसिद्धि में सफल ही नहीं होते। यदि घुणाक्षरन्यायेन अंशतः सफलता प्राप्त होती भी है, तो ऐसे सिद्ध लक्ष्यों में स्थायित्व नहीं रहता। ईश्वरीय काम-तप-श्रम जहाँ सर्वात्मना लक्ष्यानुगत, अतएव सर्वात्मना स्थायी, अतएव च सर्वात्मना सनातन हैं, सफल हैं, वहाँ मानवीय काम तप श्रम मानव के एषणा-लिप्सात्मक अपने प्रज्ञापराधरूप दोष से अमर्य्यादित-कुटिल प्रमाणित होते हुए, विभिन्न दिशाओं के अनुगामी बन कर 'मनस्यन्यत्-वचस्यन्यत्-कर्म्मण्यन्यत्-दुरात्मनाम्' को चरितार्थ करते हुए सर्वात्मना लक्ष्यच्युत, अतएव सर्वात्मना अस्थिर, अतएव च सर्वात्मना क्षणिकभावापन्न बने रहते हैं, निष्फल बने रहते हैं। सङ्कल्पात्मक काम (कामना) है कुछ ओर, क्रियात्मक तप है विभिन्न ही, एवं कर्म्मात्मक वाक् व्यापाररूप श्रम किसी अन्य दिशा का ही अनुगामी बन रहा है। सोचते कुछ ओर हैं, चेष्टा कुछ ओर है, शारीरिक व्यापार किसी अन्य क्षेत्र का ही अनुगमन कर रहा है। मन में कुछ ओर घटित हो रहा है, चेष्टा कुछ ओर ही हो रही है, काम कुछ अन्य ही किया जा रहा है। संकल्प कुछ है, कहते कुछ हैं, करते कुछ ओर ही हैं। इस प्रकार मनःप्राणवाङ्मय आत्मदेवतारूप हृदयस्थ मनुप्रजापति के काम-तप-श्रम अनुबन्धों को विभिन्नदिशानुगामी बनाता हुआ स्खलितप्रज्ञ-चलितप्रज्ञ बना हुआ मानव आध्यात्मिक इन मनुकलाओं की सहजसिद्ध-स्वाभाविक समता को, नैसर्गिक भूभुभावात्मक समत्वलक्षण बुद्धियोग को आवृत करता हुआ, अभिभूत करता हुआ, विस्मृत करता हुआ अपने आध्यात्मिक बल को निर्बल-निस्तेज-पराक ही बना लेता है। फलतः ऐसे श्रुण्ठबुद्धिस्थित-चेता मानवों के सङ्कल्प-चेष्टा-श्रम प्रायः निरर्थक ही प्रमाणित होते रहते हैं। ठीक इसके विपरीत जिन आर्षमानवों के, निगमागमपरायण नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों के काम-तप-श्रम-'मनस्येकं-वचस्येकं-कर्म्मण्येकं महात्मनाम्' के अनुसार एक दूसरे को लक्ष्य बनाते हुए पारस्परिक भूभुभाव-अनुकूलतालक्षण-समत्वलक्षण,

का सहज विकास सम्भव बना करता है। इस विलक्षण-अपूर्व सम्बन्ध की रक्षा का उत्तरदायित्व प्राकृतिक प्राणनिबन्धन सहज अनुरूपता (जो लोकव्यवहार में योग्यता कहलाई है)-शिक्षा-भोजन (आहारविहार)-भजन (उपासना)-शयन-गमन-भाषण-रुदन-हसन-व्यवहार (लोकव्यवसाय)-लक्ष्य (उद्देश्य)-श्रम (शारीरिकतप)-परिश्रम (प्राणतप)-आदि अनेक भावों के समसमन्वय पर ही अवलम्बित है। तथाकथित किसी भी वृत्ति-वर्त्तन-आचरण में यदि यत्किञ्चित् भी-रहस्यात्मक भी-अन्तर आ जाता है, तो तत्काल मैत्री-सम्बन्धात्मक सहयोग मलीमस बन जाता है। यही मलीमस सहयोग कालान्तर में अनुकूल-प्रतिकूल-स्थिति-परिस्थितियों के तारतम्यसे-निग्रहानुग्रह से सेवा-तटस्थता-शत्रुता, इन तीनों में से किसी भी एकभाव का अनुगामी बन जाता है। यदि सहयोगप्रदाता का हृदय प्रकृत्या सात्त्विक है, साथ ही इसके स्वार्थ का संरक्षण निश्चित है, तो उस दशा में यह अवरसहयोगी सहयोगी न रह कर 'सेवक' बन जाता है, आज्ञावशवर्त्ती प्रमाणित हो जाता है। 'गुरु-शिष्यभाव'-स्वामी-सेवकभाव'-आदि इसी सेवावृत्ति के उदाहरण हैं। यदि सहयोगप्रदाता का स्वार्थसाधन भी सम्भव नहीं बनता, साथ ही सहयोगप्रदानजनित संघर्ष से यह उद्वेग भी रखता है, तो उस अवस्था में यह सहयोग का परित्याग कर 'तटस्थता' का अनुगमन कर लेता है। यदि सहयोगप्रदाता का आभ्यन्तरजगत् (अन्तर्जगत्-प्रज्ञात्मक मनोभाव) तमोगुणबहुला तमोमूला किसी लिप्सा लालसा-लोकैषणा-वित्तैषणा से समन्वित है, और वह इस सहयोग में यदि अपनी लिप्सा-एषणा की सफलता का अनुभव नहीं करता, तो इसमें 'शत्रुता' का उदय हो पड़ता है।

(२०२)-समानमस्तु वो मन—

देखा गया है, सुना गया है, एवं अनुभव किया गया है ऐसा सम्यग् रूपेण कि, आरम्भ में किसी लिप्सा-एषणा को मूलाधार बनाकर सहयोगप्रदान की कामना से आरम्भ में सहयोगप्रदान के लिए आकुलाव्याकुल बनते हुए सहयोगी जहाँ सर्वस्वार्पण के लिए व्यग्र प्रतीत होने लगते हैं, वहाँ अपनी इस लिप्सा-एषणा की सफलता की कथा तो दिदूर, प्रत्युत परिणाम में इसका सर्वस्वोन्मूलन देखकर सहसा लक्ष्य-उद्देश्यविघातक प्रबल द्वेष्टा-शत्रु ही बन जाया करते हैं, फिर वह लक्ष्य भले ही वैय्यक्तिक आध्यात्मिक विकास से सम्बन्ध रखता हो, किंवा तो परिवार-समाज-राष्ट्र-अभ्युदय से अनुप्राणित हो। अतएव लोकव्यवहारसंरक्षण के लिए नैष्ठिक मानव का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह अपने लक्ष्य की सफलता के लिए सहयोगी को किंवा सहयोगियों को लक्ष्य बनाता हुआ आरम्भ में ही गोपथश्रुति के 'भवेव मन्मात्रम्'-'समानमस्तु वो मन' इत्यादि आदेशों के अनुरूप ही अपनी कार्य्यपद्धति निश्चित करे। एवंविधा 'अवस्थानुरूपा व्यवस्था' प्रत्येक दिशा-दशा-देश-काल-स्थिति-परिस्थिति में निश्चयेन मङ्गलमयी ही प्रमाणित हुआ करती है। यदि किसी आपातरमणीया भावुकतामूला भ्रान्ति के कारण, भावप्रदर्शनानुगत प्रतारणाभाव के कारण मानव को यदा कदा दुर्भाग्यवश तथाकथित लिप्सा-एषणापरायण कल्पित सहयोगी प्राप्त हो जाय, तो उनके आभ्यन्तर भयावह स्वरूप का बोध प्राप्त होने के अव्यवहितोत्तरकाल में ही वैसे समस्त सहयोगियों का अवि-कच किंवत् आत्यन्तिकरूपेण ऐकान्तिक परित्याग ही कर देना चाहिए। इस रहस्यपूर्ण तथ्य का अनुगमन न करने वाला भावुक मानव न केवल पदे पदे अपमानित ही होता, अपितु दिनदिन इनके शत्रुभाव की वृद्धि होती जाती है। यही 'भवेव मन्मात्रम्' निबन्धन का प्रासङ्गिक व्यवहारानुगत स्वरूपविश्लेषण है। प्रारम्भिकस्मेतत्, मङ्गलमनुगम्यम्।

(२०३)—सहधर्म्मं चरताम्—

ब्रह्मने 'मदेवमन्मात्रम्' भावना से वैसे सहयोगी की कामना की, जो इसके सृष्टिकर्म्म में समानरूप से सहयोग प्रदान करे, जिस प्राकृतिक समान सहयोग के आधार पर पति–पत्नी–लक्षण आर्षदाम्पत्यभाव प्रतिष्ठित माना गया है। यही नहीं, ऐसा सहयोग एकमात्र दाम्पत्यभावात्मक ही माना जायगा, माना गया है। 'सहधर्म्मं चरताम्' के अनुसार धर्मपत्नी ही एतद्रूपा पूर्णलक्षणा सहयोगिनी मानी गई है। और सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव उस अव्यक्त ब्रह्मने भी अपनी 'मदेव मन्मात्रम्' कामना को अनुरूपतापूर्वक सफल बनाने के लिए सहयोगी का अन्वेषण करते करते अन्ततोगत्वा समानशीलव्यसनपरायणा–मदेव मन्मात्रा–पत्नी का ही अभिनन्दन किया होगा, जिस 'ब्रह्मपत्नी' (व्यक्तप्रकृति) का स्वरूप अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

(२०४) द्वितीय देव का निर्म्माण—

"हम अपने सदृश अपने परिमाण से समतुलित (हमारे जैसे हमारे जितने ही) द्वितीय देव का निर्म्माण करें" ब्रह्म की यही यह कामना है, जिसका अव्ययात्मानुगत शाश्वत ब्रह्मलक्षण मनोमय स्वयम्भूमनु से सम्बन्ध बतलाया गया है। संकल्पात्मिका इस मनु की मानस कामना का ही (श्रुति के सामान्य तीन अनुबन्धों में से प्रथम 'काम' नामक अनुबन्धन का ही) इस वचन से स्पष्टीकरण, किंवा संग्रह हुआ है। लक्ष्यहीन कामना, कामना विरुद्ध अस्तव्यस्त–अमर्य्यादित तप (मन की व्यापाररूपा चेष्टा–यत्न), एवं लक्ष्य–तप से उन्मुख ही अमर्य्यादित श्रम (वाग्व्यापाररूप शारीरिक कर्म्म) इस प्रकार प्रकृतिविरुद्ध, अतएव अप्राकृतरूप से उत्पन्न काम, तदनुगत तप, तदनुगत कर्म्म प्रथम तो लक्ष्यसिद्धि में सफल ही नहीं होते। यदि घुणाक्षरन्यायेन अंशतः सफलता प्राप्त होती भी है, तो ऐसे सिद्ध लक्ष्यों में स्थायित्व नहीं रहता। ईश्वरीय काम–तप–श्रम जहाँ सर्वात्मना लक्ष्यानुगत, अतएव सर्वात्मना स्थायी, अतएव च सर्वात्मना सनातन हैं, सफल हैं, वहाँ मानवीय काम तप श्रम मानव के एषणा–लिप्सात्मक अपने प्रज्ञापराधरूप दोष से अमर्य्यादित–कुटिल प्रमाणित होते हुए, विभिन्न दिशाओं के अनुगामी बन कर 'मनस्यन्यत्–वचस्यन्यत्–कर्म्मण्यन्यत्–दुरात्मनाम्' को चरितार्थ करते हुए सर्वात्मना लक्ष्यच्युत, अतएव सर्वात्मना अस्थिर, अतएव च सर्वात्मना क्षणिकभावापन्न बने रहते हैं, निष्फल बने रहते हैं। संकल्पात्मक काम (कामना) है कुछ और, क्रियात्मक तप है विभिन्न ही, एवं कर्म्मात्मक वाक् व्यापाररूप श्रम किसी अन्य दिशा का ही अनुगामी बन रहा है। सोचते कुछ और हैं, चेष्टा कुछ और है, शारीरिक व्यापार किसी अन्य क्षेत्र का ही अनुगमन कर रहा है। मन में कुछ और घटित हो रहा है, चेष्टा कुछ और ही हो रही है, काम कुछ अन्य ही किया जा रहा है। संकल्प कुछ है, कहते कुछ हैं, करते कुछ और ही हैं। इस प्रकार मनःप्राणवाङ्मय आत्मदेवतारूप हृदयस्थ मनुप्रजापति के काम–तप–श्रम अनुबन्धों को विभिन्नदिशानुगामी बनाता हुआ स्वलक्षितप्रज्ञ–चलितप्रज्ञ बना हुआ मानव आध्यात्मिक इन मनुकलाओं की सहजसिद्ध–स्वाभाविक समता को, नैसर्गिक आनुगुण्यभावात्मक समत्वलक्षण बुद्धियोग का आहत करता हुआ, अभिभूत करता हुआ, विस्मृत करता हुआ अपने आध्यात्मिक बल को निर्बल–निस्तेज–अशक्त ही बना लेता है। फलतः ऐसे प्रज्ञापराधि-भावापन्न मानवों के संकल्प–चेष्टा–श्रम प्रायः निरर्थक ही प्रमाणित होते रहते हैं। ठीक इसके विपरीत जिन आर्षमानवों के, निगमागमपरायण नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों के काम–तप–श्रम–'मनस्येकं–वचस्येकं–कर्म्मण्येकं महात्मनाम्' के अनुसार एक दूसरे को लक्ष्य बनाते हुए पारस्परिक आनुगुण्य–अनुकूलतालक्षण–समत्वलक्षण,

का सहज विकास सम्भव बना करता है। इस विलक्षण-अपूर्व सम्बन्ध की रक्षा का उत्तरदायित्व प्राकृतिक प्राणनिबन्धन सहज अनुरूपता (जो लोकव्यवहार में योग्यता कहलाई है)-शिक्षा-भोजन (आहारविहार)-भजन (उपासना)-शयन-गमन-भाषण-रुदन-हसन-व्यवहार (लोकव्यवसाय)-लक्ष्य (उद्देश्य)-श्रम (शारीरिकतप)-परिश्रम (प्राणतप)-आदि अनेक भावों के समसमन्वय पर ही अवलम्बित है। तथाकथित किसी भी वृत्ति-वर्त्तन-आचरण में यदि यत्किञ्चित् भी-रेखात्मक भी-अन्तर आ जाता है, तो तत्काल मैत्री-सम्बन्धात्मक सहयोग मलीमस बन जाता है। यही मलीमस सहयोग कालान्तर में अनुकूल-प्रतिकूल-स्थिति-परिस्थितियों के तारतम्यसे-निग्रहानुग्रह से सेवा-तटस्थता-शत्रुता, इन तीनों में से किसी भी एकभाव का अनुगामी बन जाता है। यदि सहयोगप्रदाता का हृदय प्रकृत्या सात्त्विक है, साथ ही इसके स्वार्थ का संरक्षण निश्चित है, तो उस दशा में यह अवरसहयोगी सहयोगी न रह कर 'सेवक' बन जाता है, आज्ञावशवर्त्ती प्रमाणित हो जाता है। 'गुरु-शिष्यभाव'-स्वामी-सेवकभाव'-आदि इसी सेवावृत्ति के उदाहरण हैं। यदि सहयोगप्रदाता का स्वार्थसाधन भी सम्भव नहीं बनता, साथ ही सहयोगप्रदानजनित संघर्ष से यह उद्वेग भी रखता है, तो उस अवस्था में यह सहयोग का परित्याग कर 'तटस्थता' का अनुगमन कर लेता है। यदि सहयोगप्रदाता का आभ्यन्तरजगत् (अन्तर्जगत्-प्रज्ञात्मक मनोभाव) तमोगुणबहुला तमोमूला किसी लिप्सा लालसा-लोकैषणा-वित्तैषणा से समन्वित है, और यह इस सहयोग में यदि अपनी लिप्सा-एषणा की सफलता का अनुभव नहीं करता, तो इसमें 'शत्रुता' का उदय हो पड़ता है।

(२०२)-समानमस्तु वो मनः—

देखा गया है, सुना गया है, एवं अनुभव किया गया है ऐसा सम्यग् रूपेण कि, आरम्भ में किसी लिप्सा-एषणा को मूलाधार बनाकर सहयोगप्रदान की कामना से आरम्भ में सहयोगप्रदान के लिए आकुलान्याकुल बनते हुए सहयोगी जहाँ सर्वस्वार्पण के लिए व्यग्र प्रतीत होने लगते हैं, वहाँ अपनी इस लिप्सा-एषणा की सफलता की कथा तो विदूर, प्रत्युत परिणाम में इसका सर्वस्वोन्मूलन देखकर सहसा लक्ष्य-उद्देश्यविघातक प्रबल द्वेष्टा-शत्रु ही बन जाया करते हैं, फिर वह लक्ष्य भले ही वैय्यक्तिक आध्यात्मिक विकास से सम्बन्ध रखता हो, किंवा तो परिवार-समाज-राष्ट्र-अभ्युदय से अनुप्राणित हो। अतएव लोकव्यवहारसंरक्षण के लिए नैष्ठिक मानव का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, यह अपने लक्ष्य की सफलता के लिए सहयोगी को किंवा सहयोगियों को लक्ष्य बनाता हुआ आरम्भ में ही गोपथश्रुति के 'मद्वेव मन्मात्रम्'-'समानमस्तु वो मन' इत्यादि आदेशों के अनुरूप ही अपनी कार्य्यपद्धति निश्चित करे। एवंविधा 'अवस्थानुरूपा व्यवस्था' प्रत्येक दिशा-दशा-क्षेत्र-काल-स्थिति-परिस्थिति में निश्चयेन मङ्गलमयी ही प्रमाणित हुआ करती है। यदि किसी आपातरमणीया भावुकतामूला भ्रान्ति के कारण, भावप्रदर्शनानुगत प्रतारणापथ के कारण मानव को यदा कदा दुर्भाग्यवश तथाकथित लिप्सा-एषणापरायण कश्चित सहयोगी प्राप्त हो जाय, तो उनके आभ्यन्तर भयावह स्वरूप का बोध प्राप्त होने के अव्यवहितोत्तरकाल में ही वैसे समस्त सहयोगियों का बहि-ष्कार-किंवा आत्यन्तिकरूपेण ऐकान्तिक परित्याग ही कर देना चाहिए। इस रहस्यपूर्ण तथ्य का अनुगमन न करने वाला भावुक मानव न केवल पदे पदे अपमानित ही होता, अपितु दिनदिन इसके शत्रुपथ की वृद्धि होती जाती है। यही 'मद्वेव मन्मात्रम्' निबन्धन का प्रासङ्गिक व्यवहारानुगत स्वरूपविश्लेषण है। प्राविक्रमेतत्, प्रकृतमनुसराम'।

(२०३)-सहधर्म्मं चरताम्—

ब्रह्मने 'मदेयमन्मात्रम्' भावना से वैसे सहयोगी की कामना की, जो इसके सृष्टिकार्य्य में समानरूप से सहयोग प्रदान कर, जिस प्राकृतिक समान सहयोग के आधार पर पति-पत्नी-लक्षण आर्यदाम्पत्यभाव प्रतिष्ठित माना गया है। यही नहीं, ऐसा सहयोग एकमात्र दाम्पत्यभावात्मक ही माना जायगा, माना गया है। 'सहधर्म्म चरताम्' के अनुसार धर्म्मपत्नी ही एवंरूपा पूर्णलक्षणा सहयोगिनी मानी गई है। और सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव उस अव्यक्त ब्रह्मने भी अपनी 'मदेव मन्मात्रम्' कामना को अनुरूपतापूर्वक सफल बनाने के लिए सहयोगी का अन्वेषण करते करते अन्ततोगत्वा समानशीलव्यसनपरायणा-मदेव मन्मात्रा-पत्नी को ही अभिव्यक्त किया होगा, जिस 'ब्रह्मपत्नी' (अव्यक्तप्रकृति) का स्वरूप अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

(२०४) द्वितीय देव का निर्म्माण—

"हम अपने सदृश अपने परिमाण से समतुलित (हमारे जैसे हमारे जितने ही) द्वितीय देव का निर्म्माण करें" ब्रह्म की यही यह कामना है, जिसका अध्यात्मानुगत शाश्वत ब्रह्मलक्षण मनोमय स्वयम्भूमनु से सम्बन्ध बतलाया गया है। संकल्पात्मिका इस मनु की मानस कामना का ही (सृष्टि के सामान्य तीन अनुबन्धों में से प्रथम 'काम' नामक अनुबन्धन का ही) इस वचन से स्पष्टीकरण, किंवा संग्रह हुआ है। लक्ष्यहीन कामना, कामना विरुद्ध अस्तव्यस्त-अमर्य्यादित तप (मायाव्यापाररूपा चेष्टा-यत्न), एवं लक्ष्य-तप से उन्मुक्त ही अमर्य्यादित श्रम (वाग्व्यापाररूप शारीरिक कर्म्म) इस प्रकार प्रकृतिविरुद्ध, अतएव अप्राकृतरूप से उत्पन्न काम, तदनुगत तप, तदनुगत कर्म्म प्रथम तो लक्ष्यसिद्धि में सफल ही नहीं होते। यदि घुणाक्षरन्यायेन अंशतः सफलता प्राप्त होती भी है, तो ऐसे सिद्ध लक्ष्यों में स्थायित्व नहीं रहता। ईश्वरीय काम-तपः-श्रम जहाँ सर्वात्मना लक्ष्यानुगत, अतएव सर्वात्मना स्थायी, अतएव च सर्वात्मना सनातन हैं, सफल हैं, वहाँ मानवीय काम तपःश्रम मानव के परगणालिप्सात्मक अपने प्रज्ञापराधरूप दोष से अमर्य्यादित-कुटिल प्रमाणित होते हुए, विभिन्न दिशाओं के अनुगामी बन कर 'मनस्यन्यत्-वचस्यन्यत्-कर्म्मण्यन्यत्-दुरात्मनाम्' को चरितार्थ करते हुए सर्वात्मना लक्ष्यच्युत, अतएव सर्वात्मना अस्थिर, अतएव च सर्वात्मना क्षणिकभावापन्न बने रहते हैं निष्फल बने रहते हैं। सङ्कल्पात्मक काम (कामना) है कुछ ओर, क्रियात्मक तप है भिन्न ही एवं कर्म्मात्मक बाह्य व्यापाररूप श्रम किसी अन्य दिशा का ही अनुगामी बन रहा है। सोचते कुछ ओर हैं, चेष्टा कुछ ओर है, शारीरिक व्यापार किसी अन्य क्षेत्र का ही अनुगमन कर रहा है। मन में कुछ ओर पल्वित हो रहा है, चेष्टा कुछ ओर ही हो रही है, काम कुछ अन्य ही किया जा रहा है। संकल्प कुछ है कहते कुछ है, करते कुछ ओर ही हैं। इस प्रकार मन प्राणवाङ्मय आत्मदेवतारूप हृदयस्थ मनुप्रजापति के काम-तप-श्रम अनुबन्धों को विभिन्नदिशानुगामी बनाता हुआ स्वस्तितप्रज्ञ-चलितप्रज्ञ बना हुआ मानव आध्यात्मिक इन मनुकलाओं की सहजसिद्ध-स्वाभाविक समता को, नैसर्गिक अनुभावात्मक समत्वलक्षण बुद्धियोग को आवृत करता हुआ, अभिभूत करता हुआ विस्मृत करता हुआ अपने आध्यात्मिक बल को निर्बल-निस्तेज-अशक्त ही बना लेता है। फलतः ऐसे अव्यवस्थित-चेता मानवों के सङ्कल्प-चेष्टा-श्रम प्रायः निरर्थक ही प्रमाणित होते रहते हैं। ठीक इसके विपरीत जिन आर्यमानवों के, निगमागमपरायण नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों के काम-तप-श्रम-'मनस्येकं-वचस्येकं-कर्म्मण्येकं महात्मनाम्' के अनुसार एक दूसरे को लक्ष्य बनाते हुए पारस्परिक अनुभाव-अनुकूलतालक्षण-समत्वलक्षण,

बुद्धियोगमाध्यम से मर्य्यादित रहते हैं, सत्यसंकल्पधर्मा ईश्वरवत् उनका मनःप्राणवाङ्मय हुआ मनु अपने स्वाभाविक समत्व में सुप्रतिष्ठित रहता हुआ सबल-सशक्त बना रहता है। फलतः ऐसे व्यवस्थितचेता मानवश्रेष्ठों के सत्य संकल्प-चेष्टा-श्रम निश्चयेन सफल ही बने रहते हैं। काम-तप-श्रमभावों की इसी ईश्वरीय-प्राकृतिक समता को लक्ष्य बनाते हुए ही श्रुति ने आगे जाकर कहा है कि-"सत्यसंकल्पानन्तर ब्रह्म ने संकल्प के अनुरूप सफल्प को लक्ष्य बना कर ही तप किया, श्रम किया, एवं सर्वान्त में काम-तप-श्रम, इन तीनों का एकत्र समन्वय कर डाला, जो समसमन्वय 'सन्तपन' कहलाया"।

(२०५)-तदभ्यश्राम्यत्-अभ्यतपत्—

'तदभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्' का तात्पर्य यही है कि, संकल्पात्मिका मानसव्यापार लक्षणा कामना के अव्यवहितोत्तरकाल में ही मनुप्रजापति के (मनोमय स्वयम्भू मनु के) अंशुरागतानुगत प्राणमय हिरण्यगर्भ मनु में संघर्ष उत्पन्न हो गया, इस प्राणसंघर्ष के अव्यवहितोत्तरकाल में ही मनुप्रजापति के (प्राणमय हिरण्यगर्भ मनु के) सुपर्णानुगत वाङ्मय विराट्मनु में संघर्ष उत्पन्न हो गया। यह यजुर्वागरूप वागग्निमनुनिबन्धन संक्षोभ ही श्रम नाम से प्रसिद्ध हुआ, प्राणरूप हिरण्यगर्भमनुनिबन्धन क्षोभ ही तप कहलाया। एवं मनोरूप स्वयम्भूमनुनिबन्धन क्षोभ ही काम नाम से प्रसिद्ध हुआ। तीनों में चरात्मनिबन्धन वागग्निलक्षण यजुर्वागग्निस्वरूप विराट्मनु का संक्षोभलक्षण श्रम ही संकल्पित-तपोऽनुगत 'द्वितीय देव अभिव्यक्ति का मूल उपादान प्रमाणित हुआ। प्राणव्यापारलक्षण तप के अनन्तर ही यद्यपि वाग्व्यापारलक्षण श्रम का उदय होता है। अतएव सहजसृष्टिधारा का क्रम यही है कि—'सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्'।

(२०६)-तदभ्यतपत्-अश्राम्यत्—

तथापि एक रहस्यात्मक कारणविशेष से कुछ एक विशेष स्थलों में प्रथम स्थान श्रम को, द्वितीय स्थान तप को प्रदान कर दिया गया है। वह कारण यही है कि, चरनिबन्धना रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-लक्षणा तन्मात्राओं से असंसृष्ट, अतएव अधामच्छद, अचरनिबन्धन सुसूक्ष्मप्राणतत्त्व वाङ्मयभूत चर के आधार पर प्रतिष्ठित होकर स्वव्यापारानुष्ठानप्रसार में समर्थ बना करता है। बिना चरवाङ्मयभूत को आधार बनाए अचरप्राणमयतत्त्व तपोलक्षणस्वव्यापार में असमर्थ है। प्राणी (भूत) ही प्राणव्यापार कर सकता है। केवल प्राण तो अप्राण है। इसीलिए तो इस स्वरूप भी विशुद्ध प्राण को 'असत्' कहा जाता है। इस प्रकार प्रतिष्ठाभूमि की दृष्टि से ही वाङ्मय श्रम को यत्रतत्र प्रथम स्थान प्रदान कर दिया गया है।, एकमात्र इसी हेतु से-'अभ्यश्राम्यत्-अभ्यतपत्' रूप से श्रम का पहिले, तप का तदनन्तर उल्लेख कर दिया गया है, जो केवल दृष्टिसापेक्ष ही माना जायगा। सृष्टिसापेक्षता में तो 'अभ्यतपत्-अभ्यश्राम्यत्', यही सहज क्रम प्रतिष्ठित रहेगा।

(२०७)-'श्रान्तस्य तप्तस्य' स्वरूपमीमांसा—

"ब्रह्मप्रजापति (मनुःप्राणगर्भितवाङ्मय स्वयम्भु-हिरण्यगर्भगर्भित विराट्रूपमनुःप्रजापति) अपने तथाविध संकल्प के अनुरूप किए जाने वाले (निर्मित हो पड़ने वाले) तप और श्रम, तथा तपःश्रम के

समन्वितरूपलक्षण सन्तपन से 'तप्त-श्रान्त-सन्तप्त' बन गए" इस अर्थ का प्रतिपादन करने वाली—"तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य" श्रुति का भाव यही है कि, मनुप्रजापति का यजुरग्निरूप वागभाग इस संघर्ष से विस्रंस की चरमसीमा पर पहुँच गया। कैसा संघर्ष! सर्वव्यापक संघर्ष, श्रासमन्तात् सर्वदिगनुबन्धी व्यापक संघर्ष। यदवच्छेदेन (यत्सीमा में) ब्रह्म व्याप्त है, तदवच्छेदेनैव ब्रह्मनिःश्वासरूप वागग्नि व्याप्त था। तदवच्छेदेनैव यह संघर्ष भी व्याप्त हो गया। अलातचक्रात्मक गतिशील महाब्रह्माण्ड में व्याप्त (अण्डात्मक त्रिकेन्द्रभावात्मक दीर्घवृत्तरूप सीमामण्डल में व्याप्त*) वागग्नि का अणु अणु (ऋतरूपात्मक वागग्नि के गुणाणुभूत) क्षुब्ध हो पड़े। और इस महान् संघर्ष का परिणाम हुआ कालान्तर में—'पानी' जिसका—'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव सासृज्यत'—(शत० ६।१।१।९)। सिद्ध विषय है कि, जब भी अग्निपरमाणु अपने विस्रंस की चरमावस्था में पहुँच जाते हैं, तो इनकी विकासावस्था संकोचावस्था में परिणत हो जाती है। अग्निविकास की संकोचावस्था का नाम ही 'जल' है, जिसे विज्ञानभाषा में 'सोम' कहा गया है। ग्रीष्मऋतु आग्नेयऋतु मानी गई है, जिसे हम उष्णकाल (उन्हाला-अग्निकाल) कहा करते हैं। आषाढ के मध्य में, जब कि अग्निविकास चरमसीमा पर पहुँच जाता है, अग्नि जब अतिशयरूपेण 'उरू' (समृद्ध) बन जाता है, तो व्याकरणनियमानुसार इसे 'वर्ष' आदेश हो जाता है, अग्नि ही जलरूप में परिणत हो जाता है। अतिशय श्रम से संघर्ष की चरमावस्था में पहुँचता हुआ शरीराग्नि प्रत्यक्ष में जलरूप में (स्वेद नामक पसीने के रूप में) परिणत प्रतीत हो रहा है। अतिशय क्षोभ से सम्बद्ध संघर्ष से भी यही स्थिति हो जाती है। गोऽग्निसंघर्ष से (अङ्गिरसाग्निसंघर्ष से), तथा स्नेहाग्निसंघर्ष से (भार्गवाग्निसंघर्ष से) अश्रुपात हो पड़ना भी प्रत्यक्ष ही है। इसी आधार पर श्रुति का—'अग्नेरापः' सिद्धान्त स्थापित हुआ है।

(२०८) आर्द्र-शुष्कस्वरूपपरिचय—

स्थिति का यों समन्वय कीजिए। परात्पर ब्रह्म 'रस" तथा 'बल" भेद से भावद्वयापन्न था। ब्रह्म की इन दोनों कलाओं का क्रमशः 'स्थिति"-'गति" —इन दो भावों में अभिव्यक्तीभाव हुआ। आगे चलकर मैथुनीसृष्टि के उपक्रम में इन दोनों की 'स्नेह" 'तेज" इन दो भावों में अभिव्यक्ति होती है। रस, स्थिति, स्नेह, तीनों अनुयोगी हैं, एवं बल, गति, तेज, तीनों अनुयोगी हैं। रस-स्थिति-स्नेह के

---

* यद्यपि ब्रह्मसीमामण्डल परिपूर्णभावदृष्ट्या वर्तुलवृत्ताकार ही है। किन्तु सृष्टिदशा में इसे अपने मनःप्राणवाक् के त्रिपद्भाव के कारण त्रिकेन्द्र बन जाना पड़ता है। त्रिकेन्द्रात्मक वृत्त ही अण्डाकार 'दीर्घवृत्त' माना गया है। तीन वर्तुल (गोल) वृत्तों को सीमित करता हुआ एक दीर्घवृत्त बन जाता है जो अण्डाकार से समतुलित है। अतएव सृष्टिदशा में ब्रह्मवृत्त को 'ब्रह्माण्ड' नाम से व्यवहृत करना ही अन्वर्थ बनता है।

— सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

—मनु

बल–गति–तेज, ये तीनों प्रतियोगी हैं। ये ही द्वन्द्वात्मिका द्विनियविलक्षणा (दुनिया–द्विनियति) सृष्टि के मूलस्तम्भ हैं। रस–स्थिति–समन्वित स्नेहतत्त्व 'भृगु' है, एवं बल गति–समन्वित तेज–तत्त्व 'अङ्गिरा' है। ध्रुव (घनावयव–निविडावयव) धत्र' (तरलावयव), धरुण (विरलावयव–वाष्पावयव), इन तीन नैसर्गिक अवस्थाओं के कारण दोनों तत्त्व तीन तीन अवस्थाओं में परिणत हो रहे हैं। घनावस्थापन्न वही भृगु 'आपः' है, तरलावस्थापन्न वही भृगु 'वायु' (साम्नस्द्वाशिव नामक शान्तवायु) है। एवं विरलावस्थापन्न वही भृगु 'सोम' है ×। तथैव घनावस्थापन्न वही अङ्गिरा 'अग्नि' है, तरलावस्थापन्न वही अङ्गिरा 'यम' (रुद्र नामक उग्र वायु) है, एवं विरलावस्थापन्न वही अङ्गिरा 'आदित्य' • है। अग्नि यम–आदित्य की समष्टिरूप अङ्गिरा ही 'तेज' है एवं आप–वायु–सोम की समष्टि रूप भृगु ही 'स्नेह' है। तेज 'शुष्क' तत्त्व है, रूक्ष तत्त्व है, उत्तरोत्तर विकासशाली–विकासानुगामी (फैलनेवाला) है। स्नेह 'आर्द्र' तत्त्व है, स्निग्धतत्त्व है, उत्तरोत्तर संकोचशाली–संकोचानुगामी (सिकुड़ने वाला) है। सम्पूर्ण भौतिक विश्व में इन शुष्क–आर्द्र, दो तत्त्वों का ही साम्राज्य है, जैसा कि "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति–शुष्कं चैव–आर्द्रं चैव। यच्छुष्कं–तदाग्नेयम्। यदार्द्रं तत् सौम्यम्" (शत० ब्रा० १।६।३।२३) इत्यादि शातपथी श्रुति से प्रमाणित है।

(२०६) अग्नीषोमात्मकं जगत्–

इसी आधार पर वैज्ञानिकोंने व्यावहारिक जगत् के लिए इस तथ्य का अनिवार्यरूपेण अनुगमनीय घोषित किया है कि, " मानव को सदा सर्वदा प्रत्येक दशा में समन्वयपूर्वक भृग्वङ्गिरातत्त्वों के–स्नेह तेजोभावों के–समसमन्वय के आधार पर ही अपने व्यवहारक्षेत्र का सञ्चालन करना चाहिए"। विशुद्ध रूक्ष (रूक्ष–आग्नेय–क्रोधाविष्ट) मानव भी, कार्यसफलता से वञ्चित रह जाता है। एवं विशुद्ध आर्द्र (स्निग्ध–सौम्य–अनुरागपरायण) मानव भी असफल ही बना रह जाता है। परिस्थित्यनुसार रूक्षता–आर्द्रता दोनों का समसमन्वय रखने वाला नैष्ठिक मानव ही सफल मानव है, जिस सफलता के लिए आर्षमानव (महर्षि) की ओर से हमें यह आदेश प्राप्त हुआ है कि–"भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्" (तै० ब्रा० ३।२।७।६।)। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' (बृहज्जाबालोपनिषत् २।४।) इत्यादि औपनिषद वचन भी अग्न्युपलक्षित शुष्क–अङ्गिरा (तेजोभाव), एवं सोमोपलक्षित आर्द्र भृगु (स्नेहभाव) की व्यापकता का ही समर्थन कर रहा है।

× "आपो–वायुः–सोम–इत्येते भृगवः" (का० ब्रा० पृ० २।६।)।

• आदित्य वस्तुतः आङ्गिरस विरल प्राण का ही नाम है, जिसके 'इन्द्र'–धाता'–भग'–पूषा'–मित्र'–वरुण'–अर्यमा'–अंशु'–विवस्वान्'–त्वष्टा'–सविता'–विष्णु' ये बारह अवान्तर विभेद माने गए हैं। सूर्यमण्डल में क्योंकि इन बारहों आदित्यप्राणों का समन्वय हो रहा है। एकमात्र इसी दृष्टि से सूर्य को 'आदित्य' नाम से भी व्यवहृत कर दिया जाता है। वस्तुतः सूर्य और आदित्य का पर्याय–सम्बन्ध नहीं है।

(२१०) भृग्वङ्गिरोमय विश्व -

भृगु और अङ्गिरा, क्या दोनों दो स्वतन्त्र तत्त्व हैं ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न है, जिसका हाँ, ना दोनों उत्तरों से सम्बन्ध माना जागया। हाँ, इसलिए कि अहोरात्रवत् (आग्नेय अहः, सौम्या रात्रिवत्) दोनों की विभिन्नता प्रत्यक्ष में प्रमाणित है। ना, इसलिए कि, एक ही तत्त्व की अवस्थात्रयी क्रमशः 'भृगु-अङ्गिरा' कहलाई है। इस अभिन्नता-दृष्टि से अङ्गिरा ही भृगु है, एवं भृगु ही अङ्गिरा हैं। यही ब्रह्म है, यही सुब्रह्म है जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। हृदयस्थल से विनिर्गत होकर (निकलकर) पृ रूप परिधि की ओर अग्नि-यम-आदित्यरूप अङ्गिरा उत्तरोत्तर विशकलित-विकसित-होते हुए ऊर्ध्वगमन कर रहे हैं-। अग्नि-यम-आदित्य, इन तीनों का पारस्परिक हृद्य (हृदयानुगत) संघर्ष ही इनका अङ्गिरात्व, किंवा अग्नित्व है। परिधि (सीमा) पर्य्यन्त तीनों का क्रमिक विकास अक्षुण्ण बना रहता है। परिधि-सीमा में बहिर्भूत होते ही तीनों का हृद्य-भावात्मक संघर्ष उच्छिन्न हो जाता है, विकास उपशान्त हो जाता है। परिणाम-स्वरूप तीनों विकास की इस चरमसीमा पर पहुँचते ही संकोचावस्था में परिणत होते हुए परिधि से पुनरावर्तित बन कर हृदयाभिमुख (केन्द्राभिमुख) हो जाते हैं। केन्द्राभिमुख बने हुए इस अङ्गिरा का नाम ही 'भृगु' है। वस्तुपिण्डमुक्त हृदयबिन्दुपर्य्यन्त इस भृगु का स्वरूप सुरक्षित रहता है। क्योंकि तदवधिपर्य्यन्त भृगु के आप-वायु-सोम-इन तीनों स्वरूपों के अवस्थान (स्थिति) के लिए पर्य्याप्त अवकाश (स्थान) सुरक्षित बना रहता है। किन्तु ठीक केन्द्र-बिन्दु पर पहुँचते ही तीनों अवकाशस्थानरूप प्रतिष्ठा (आश्रय) से वञ्चित हो जाते हैं। यही इस भृगुत्रयी की संकोचावस्था की चरमावस्था है। स्थानाभाव से केन्द्रागता भृगुत्रयी का सघर्ष हो पड़ता है। इस संघर्षरूप क्षोभ से स्नेहगुणक मार्गवभाव उच्छिन्न हो जाता है तत्स्थान में तेजोगुणक आङ्गिरसभाव आविर्भूत हो पड़ता है। इस प्रकार अङ्गिराभाव में परिणत भृगुत्रयी अविच्छिन्न हृदय से परिधि की ओर अनुगत हो जाती है। तदित्थं-केन्द्रप्रतियोगी-परिध्यनुयोगी विकासशील यही तत्त्व अङ्गिरा बना हुआ है, एवं परिधिप्रतियोगी-केन्द्रानुयोगी संकोचशील वही तत्त्व भृगु बना हुआ है। अतएव 'अग्नेरापः' सत्-'अद्भ्योऽग्निः' भी कहा और माना जा सकता है, जिस मान्यता के आधार पर ही वेदशास्त्र की सुप्रसिद्धा 'अवमिश्नी' नाम की वृष्टिविद्या से सम्बन्धित निम्नलिखित मन्त्र श्रुति का समन्वय सम्भव बन रहा है, जो पृथिवी तथा द्यौ में समानरूपस्य से आप, तथा अग्नि का सम्बन्ध घोषित कर रही है—

* समानमेतदुदकं मुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥

—ऋक्सं० १।१६४।५१

—इत एत उदारुहन्—दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।
प्र भूर्जयो यथापथि द्यामङ्गिरसो ययुः ॥

सामसंहिता पू० १।२।

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य के ५पञ्चम मर्यात्मक पञ्चमखण्ड में प्रकाशित हो चुका है।

रस-गति-तेज, ये तीनों प्रतियोगी हैं। ये ही द्वन्द्वात्मिका द्विनियतिलक्षणा (दुनिया-द्विनियति) सृष्टि के मूलस्तम्भ हैं। रस-स्थिति-समन्वित स्नेहतत्त्व 'भृगु' है, एवं बल गति-समन्वित तेज-तत्त्व 'अङ्गिरा' है। ध्रुव (घनावयव-निविडावयव) धत्र' (तरलावयव), धरुण (विरलावयव-बाष्पावयव), इन तीन नैसर्गिक अवस्थाओं के कारण दोनों तत्त्व तीन तीन अवस्थाओं में परिणत हो रहे हैं। घनावस्थापन्न वही भृगु 'आपः'' है, तरलावस्थापन्न वही भृगु 'वायु'' (सामन्ददाशिव नामक शान्तवायु) है। एवं विरलावस्थापन्न वही भृगु 'सोम'' है ×। तथैव घनावस्थापन्न वही अङ्गिरा 'अग्नि'' है, तरलावस्थापन्न वही अङ्गिरा 'यम'' (रुद्र नामक उग्र वायु) है, एवं विरलावस्थापन्न वही अङ्गिरा 'आदित्य'' ● है। अग्नि-यम-आदित्य की समष्टिरूप अङ्गिरा ही 'तेज' है, एवं आप-वायु-सोम की समष्टि रूप भृगु ही 'स्नेह' है। तेज 'शुष्क' तत्त्व है, रूक्ष तत्त्व है, उत्तरोत्तर विकासशाली-विकासानुगामी (फैलनेवाला) है। स्नेह 'आर्द्र' तत्त्व है, स्निग्धतत्त्व है, उत्तरोत्तर संकोचशाली-संकोचानुगामी (सिकुड़ने वाला) है। सम्पूर्ण भौतिक विश्व में इन शुष्क-आर्द्र, दो तत्त्वों का ही साम्राज्य है, जैसा कि "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति-शुष्कं चैव-आर्द्रं चैव। यच्छुष्कं-तदाग्नेयम्। यदार्द्रं तत् सौम्यम्" (शत० ब्रा० १।६।३।२३) इत्यादि शातपथी श्रुति से प्रमाणित है।

(२०६) अग्नीषोमात्मकं जगत्-

इसी आधार पर वैज्ञानिकोंने व्यावहारिक जगत् के लिए इस तथ्य को अनिवार्यरूपेण अनुगमनीय घोषित किया है कि, " मानव को सदा सर्वदा प्रत्येक दशा में समन्वयपूर्वक भृग्वङ्गिरातत्त्वों के-स्नेह तेजोभावों के-समसमन्वय के आधार पर ही अपने व्यवहारक्रम का सञ्चालन करना चाहिए"। विशुद्ध रूक्ष (रूक्षा-आग्नेय-कोपाविष्ट) मानव भी, असर्वसफलता से विञ्चित रह जाता है। एवं विशुद्ध आर्द्र (स्निग्ध-सौम्य-अनुरागपरायण) मानव भी असफल ही बना रह जाता है। परिस्थित्य-नुसार रूक्षता-आर्द्रता दोनों का समसमन्वय रखने वाला नैष्ठिक मानव ही सफल मानव है, जिस सफलता के लिए आर्षमानव (महर्षि) की ओर से हमें यह आदेश प्राप्त हुआ है कि-"भृगूणामङ्गिरसा तपसा तप्यध्वम्" (तै० ब्रा० ३।२।७।६।)। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' (बृहज्जाबालोपनिषत् २।४।) इत्यादि औपनिषद वचन भी अग्न्युपलक्षित शुष्क-अङ्गिरा (तेजोभाव), एवं सोमोपलक्षित आर्द्र भृगु (स्नेहभाव) की व्यापकता का ही समर्थन कर रहा है।

× "आपो-वायुः-सोमः-इत्येते भृगवः" (गो० ब्रा० पू० २।६।)।

● आदित्य वस्तुतः आङ्गिरस विशिष्ट प्राण का ही नाम है, जिसके 'इन्द्र'-धाता'-भग'-पूषा'-मित्र'-वरुण'-अर्यमा'-अंशु'-विवस्वान्'-त्वष्टा''-सविता''-विष्णु'' ये बारह अवान्तर विभेद माने गए हैं। सूर्यमण्डल में क्योंकि इन बारहों आदित्यप्राणों का समन्वय हो रहा है। एकमात्र इसी दृष्टि से सूर्य्य को 'आदित्य' नाम से भी व्यवहृत कर दिया जाता है। वस्तुतः सूर्य और आदित्य का पर्य्याय-सम्बन्ध नहीं है।

'सुवेद' है। वेद यदि स्थितिगतिभावापन्न है, तो सुवेद तेज स्नेहगुणक है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि ब्रह्म की 'सदेव मन्मात्र' कामना से जो आपोमय द्वितीय वेदात्मक द्वितीय देव आविर्भूत हुआ, वही 'अथर्ववेद' नामक यह आपोमयतत्त्व है, जिसे सूर्य्य की अपेक्षा से तो प्रथमत, एवं स्वयम्भू की अपेक्षा से द्वितीयत माना गया है, एवं जो सूर्य्यमण्डल से भी परमस्थान में प्रतिष्ठित रहने के कारण 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, एवं जो परमेष्ठी मैथुनीसृष्टि (वैकारिकसर्ग) का उपक्रमबिन्दु माना गया है।

(२१३)–अथर्वेया सृष्टिस्वरूपस्थिति—

'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सिद्धान्तानुसार त्रयीवेदमूर्त्ति, किंवा अग्निमूर्त्ति ब्रह्म अपने अग्निवेदभाव से आपः तत्त्व को समुत्पन्न कर इसके गर्भ में समाविष्ट हो गया, जो कि गर्भप्रवेश–धर्म क्रमतप श्रमानुबन्धत्रयी की भाँति ही सृष्टिमात्र का सामान्य ही अनुबन्ध माना गया है। स्वात्मसमुत्पन्न आपोमय सुवेद के गर्भ में विभूतिसम्बन्ध से ब्रह्म के प्रविष्ट हो जाने का परिणाम यह होता है कि, आरम्भ में केवल स्नेहगुणक रहने वाला आपः इस अग्निवेदप्रवेश से तेजोयुक्त भी बन जाता है। इस प्रकार अथर्वलक्षण आपःतत्त्व स्वस्वरूप से स्नेहगुणक, एवं स्वायम्भुवाग्नि के प्रवेश से तेजोगुणक बनता हुआ उभयात्मक ही मान लिया गया है। आपोमय अथर्व का तेजोभाव ही अङ्गिरा है, स्नेहभाव ही भृगु है, जिन दोनों मार्गव–आङ्गिरसतत्त्वों का स्वरूपनिदर्शन पूर्व में कराया जा चुका है। अवधानपूर्वक संकलनविधया सृष्टिस्वरूप की इस वस्तुस्थिति को पुनः एक बार लक्ष्य बना लीजिए।

(२१४)–भृगुत्रयी एवं अङ्गिरात्रयी—

त्रयीवेद के यजुरग्नि के सम्बन्ध से स्नेहगुणक आपः में तेजोभाव का भी उदय हो गया। स्नेहमय आपः 'भृगु' कहलाया, एवं तेजोमय आप 'अङ्गिरा' कहलाया। 'आप'–'वायु'–'सोम'' –ये तीन अवस्था भृगु की हुई, 'अग्नि'–'यम'–'आदित्य'' अङ्गिरा की हुई। भृग्वङ्गिरा–षट्क केन्द्रस्थ प्रविष्ट त्रयीवेद से समन्वित रहा, जिसके 'ऋक्'–साम'–यत्'–जू'' ये चार विवर्त हैं। चतुष्पर्वा त्रयीवेदात्मक गर्भीभूत अग्निवेद ही 'पुरुषब्रह्म' कहलाया, एवं षट्पर्वा अथर्व वेदात्मक आपोवेद ही 'पत्नीब्रह्म' कहलाया। चतुष्कल ब्रह्मपति, षट्कलोपेता सुब्रह्मण्या पत्नी, दोनों की दशकलाओं के दाम्पत्यभाव से ही 'विराजमसृजत् प्रभुः'। दशावयव विराडग्निमूर्त्ति सूर्य्यनारायण ही इस दाम्पत्य से समुद्भूत प्रथमसर्ग है, जिसका निम्न लिखित यजुः श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है—

> हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
> स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
>
> —यजुःसंहिता

(२११)-दिवं भूमिं च निर्म्ममे—

आङ्गिरस अग्नि, भार्गव सोम, दोनों एक ही तत्व के हृदय-परिधिरूप दो भावों के अनुयोगि-प्रतियोगी दो रूप हैं, इसी आधार पर 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' (ऋक्सं०) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है। वही तत्व हृदयदशा में आङ्गिरस पुरुषतत्त्व है, परिधिदशा में भार्गवी स्त्रीतत्त्व है। यही अग्निरूपेण पति है, भृगुरूपेण पत्नी है, जिन दोनों से द्यावापृथिव्य महाब्रह्माण्ड का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। पृथिवी भार्गवी बनती हुई माता है, द्यौः आङ्गिरस बनता हुआ पिता है, दोनों अर्द्धवृषात्मक एक वृत्तभावापन्न एकमूर्त्ति हैं, जिनका 'द्यौष्पित पृथिवि मात' रूप से यशोगान हुआ है। अभिन्नतत्त्वमूलक इसी प्राकृतिक भाव दाम्पत्यतत्त्व के आधार पर यजर्षि मनु को "ताभ्यां स शकलाभ्यां दिवं भूमिञ्च निर्म्ममे' (मनु १।१३) सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं।

(२१२)-शुक्रब्रह्मस्वरूपमीमांसा—

स्थिति-गतिभावात्मक यजुर्वेद (यत्-ज,-प्राण-वाक्,-वायु-आकाश,-रूप पुरुषवेद) ऋक्सामलक्षण वयोनाध (छन्द-सीमा) से समन्वित है, यह कहा जा चुका है। यही वह त्रयीवेद है, जिसे यजुरग्नि के सम्बन्ध से 'अग्निवेद' कहा गया है, जो यह स्वायम्भुव अग्निवेद विज्ञानजगत् में 'ब्रह्मनिःश्वसित-अपौरुषेयवेद' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। एवं जिसके तात्त्विक स्वरूपनिरूपण के लिए ही अपौरुषेयतत्त्वात्मक वेद की प्रतिकृतिरूप मन्त्रब्राह्मणात्मक नित्यावाक्-लक्षण शब्दब्रह्ममय वेदशास्त्र का महर्षियों के अन्तःकरण में आविर्भाव हुआ है। त्रयीवेद ही स्वयम्भूब्रह्म है, जिसने पूर्वकथनानुसार-'मदेव मन्मात्र द्वितीय देव' की उत्पत्तिकामना से प्रेरित होकर तप एवं श्रम का अनुगमन करते हुए दोनों के समन्वयरूप सन्तपन-धर्म्म को लक्ष्य बनाया है। स्वयम्भू-ब्रह्म के तपोमय श्रमात्मक सन्तपन-से, संदोमलक्षण घर्षण से तप्त-श्रान्त-सन्तप्त अग्निवेद, किंवा वेदाग्नि (वागग्नि) द्रुत हो जाता है। अग्निवेद का यही द्रुत भाग वह 'आप:तत्त्व' है, जो अथर्व-विद्याचार्य्यों के द्वारा 'भृग्वेद' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'अथ अर्वाक् उत्पद्यते' ही इस भृग्वेदरूप आपोवेद की 'अथर्व' अभिधा का स्वरूपनिर्वचन है। स्वयम्भूलक्षण स्वायम्भुव ऋक्-सामयजुःसमष्टिरूप 'त्रयीवेद' प्रथमवेद है, यह अग्निवेद है, अतएव इसे 'उग्रवेद' कहा जायगा। यही उक्त क्रमानुसार आप:रूप में परिणत होकर अपनी उग्रता से उपशान्त हो जाता है, सुशान्त हो जाता है। जिस प्रकार प्रचण्ड ग्रीष्म में सौरताप अपने विशुद्ध रौद्र अग्निताप के कारण सर्वथा रूक्ष बना रहता हुआ सर्वथा कटु-असह्य प्रतीत होता है, एवमेव विशुद्ध अग्निलक्षण स्वायम्भुव त्रयीवेद भी कटु-उग्र-माना जा सकता है। वही कटु-असह्य सूर्य्यताप जिस प्रकार शीतर्त्तु में शीत-शान्त-स्नेहगुणक-सोमसम्बन्ध से अपनी उग्रता से अभिभूत होता हुआ सुशान्त भाव में परिणत होकर सह्य (सुहावना) बन जाता है, एवमेव स्वायम्भुव अग्निवेद को भी आप से समन्वित हो जाने पर (आपोमय बन जाने पर) सुशान्त माना जा सकता है। अतएव अग्निवेद के प्रथमावतारस्थानीय द्वितीय देवात्मक इस अथर्वलक्षण आपोवेद को इसके स्वाभाविक-सह्य-स्नेह-सुशान्तगुण धर्म्म के अनुबन्ध से इसे 'सुवेद' (सह्य-सुशान्त-वेद) कहा जा सकता है। यह 'सुवेद' नामक आपो वेद क्योंकि स्वायम्भुव वेद से अर्वाक् (स्वायम्भुव-महिमामण्डल के गर्भ में स्वयम्भू के पश्चात्) समुद्भूत-आविर्भूत है, अतएव अथ अर्वाक् निर्वचनानुसार तत्त्वज्ञों ने इसे 'अथर्ववेद' नाम से व्यवहृत किया है। स्वायम्भुव वेद 'ब्रह्म' है, तो तदुत्पन्न यह आपोवेद 'सुब्रह्म' है। अग्निवेद यदि 'वेद' है, तो सुब्रह्मवेद-

'सुवेद' है। वेद यदि स्थितिगतिभावापन्न है, तो सुवेद तेजःस्नेहगुणक है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि ब्रह्म की 'मदेव मन्मात्र' कामना से जो आपोमय द्वितीय वदात्मक द्वितीय देव आविर्भूत हुआ, यही 'अथर्ववेद' नामक वह आपोमयतत्त्व है, जिसे सूर्य्य की अपेक्षा से तो प्रथमज, एवं स्वयम्भू की अपेक्षा से द्वितीयज माना गया है, एवं जो सूर्य्यमण्डल से भी परमस्थान में प्रतिष्ठित रहने के कारण 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, एवं जो परमेष्ठी मैथुनीसृष्टि (वैकारिकसर्ग) का उपक्रमबिन्दु माना गया है।

(२१३)—अवधेया सृष्टिस्वरूपस्थिति—

'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सिद्धान्तानुसार त्रयीवेदमूर्त्ति, किंवा अग्निमूर्त्ति ब्रह्म अपने अग्निवेदभाव से आप तत्त्व को समुत्पन्न कर इसके गर्भ में समाविष्ट हो गया, जो कि गर्भप्रवेश-धर्म कामतप श्रमानुबन्धत्रयी की भाँति ही सृष्टिमात्र का सामान्य ही अनुबन्ध माना गया है। स्वात्मसमुत्पन्न आपोमय सुवेद के गर्भ में विभूतिसम्बन्ध से ब्रह्म के प्रविष्ट हो जाने का परिणाम यह होता है कि, आरम्भ में केवल स्नेहगुणक रहने वाला आपः इस अग्निवेदप्रवेश से तेजोयुक्त भी बन जाता है। इस प्रकार अथर्वलक्षण आपःतत्त्व स्वस्वरूप से स्नेहगुणक, एवं स्वायम्भुवाग्नि के प्रवेश से तेजोगुणक बनता हुआ उभयात्मक ही मान लिया गया है। आपोमय अथर्व का तेजोभाव ही अङ्गिरा है, स्नेहभाव ही भृगु है, जिन दोनों भार्गव-आङ्गिरसतत्त्वों का स्वरूपनिदर्शन पूर्व में कराया जा चुका है। अवधानपूर्वक सङ्कलनधिया सृष्टिस्वरूप की इस वस्तुस्थिति को पुनः एक बार लक्ष्य बना लीजिए।

(२१४)—भृगुत्रयी एवं अङ्गिरात्रयी—

त्रयीवेद के यजुरग्नि के सम्बन्ध से स्नेहगुणक आपः में तेजोभाव का भी उदय हो गया। स्नेहमय आप 'भृगु' कहलाया, एवं तेजोमय आप 'अङ्गिरा' कहलाया। 'आप'-वायु'-सोम'-ये तीन अवस्था भृगु की हुई, 'अग्नि'-यम'-आदित्य' अङ्गिरा की हुई। भृग्वङ्गिरा-पञ्च केन्द्रस्थ प्रविष्ट त्रयीवेद से समन्वित रहा, जिसके 'ऋक्'-साम'-यत्'-जू' ये चार विवर्त हैं। चतुष्पर्वा त्रयीवेदात्मक गर्भीभूत अग्निवेद ही 'पुरुषब्रह्म' कहलाया, एवं षट्पर्वा अथर्ववेदात्मक आपोवेद ही 'पत्नीब्रह्म' कहलाया। चतुष्कल ब्रह्मपति, षट्कलात्मिका सुब्रह्मण्या पत्नी, दोनों की दशकलाओं के दाम्पत्यभाव से ही 'विराजमसृजत् प्रभुः'। दशावयव विराडग्निमूर्त्ति सूर्य्यनारायण ही इस दाम्पत्य से समुद्भूत प्रथमसर्ग है, जिसका निम्न लिखित यजुःश्रुति से स्वरूपविश्लेषण हुआ है—

> हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
> स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
>
> —यजुःसंहिता

दशावयवविराट्मूर्त्ति–प्रथमदाम्पत्यभावपरिलेख:—

१–ऋक् (१)	ऋक्साम (१)	वेद (अग्निर्ब्रह्म–पतिः)	दाम्पत्यभाव प्रथम: ततः—सूर्योद्भवः
२–साम (२)			
३–यत् (३)	यजुः (२)		
४–जू (४)			
१–आप (५)	भृगव (३)	सुवेद (आपः सुब्रह्म–पत्नी)	
२–वायुः (६)			
३–सोम (७)			
४–अग्नि (८)	अङ्गिरस: (४)		
५–यम: (९)			
६–आदित्य (१०)			

त्रयीवेदगर्भित भृग्वङ्गिरोमय–आपोलक्षण परमेष्ठी ब्रह्मरूप उस महादेव म मात्र द्वितीय देव का स्वरूपबोध ही 'दाम्पत्यसर्ग' का मौलिक बोध है, जिसका पौराणिक सर्ग में केतुसर्गरूप से उपवृंहण हुआ है। सौरब्रह्माण्ड से समन्वित सूर्याग्नि के महाभयानक घोरघोरतम विस्फोटनों से रोदसी ब्रह्माण्ड का संत्राण एकमात्र शान्ति-मूर्त्ति शिवस्वरूप आपोमय परमेष्ठी महान् देव (महादेव) के अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। पारमेष्ठ्य भार्गव सोम की अवसाहुति से ही सौर प्रचण्डाग्नि सुशान्त बना रहता है। यदि एक क्षण के लिए भी यह आहुतिक्रम अवरुद्ध हो जाय, तो तत्क्षण सूर्य अपनी सहज प्रचण्डता से रोदसी त्रैलोक्य को भस्मावशेषावस्था में परिणत कर दे। आपोमय महान् परमेष्ठी ही इस विश्व के शिवत्व के संरक्षक हैं। इसी सहज सृष्टिधाराक्रम का श्रुति ने निम्नलिखित रूप से संक्षेप से संग्रह कर दिया है जिसका उदुपबृंह व निम्नलिखित मनुवचनों से विस्पष्टीकरण हुआ है।

(१)— आपोभृग्वङ्गिरोरूप,मापोभृग्वङ्गिरोमयम्।
सर्वमापोमय भूत, सर्व भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगा ॥

—गोपथ ब्रा० पू० १।३९।

(२)—आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त–कथं नु प्रजायेमहीति। ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तप्यमानासु हिरण्मयाण्डं सम्बभूव।

अजाता ह तर्हि सम्वत्सर आस, तदिदं यावत् सम्वत्सरस्य वेला, तावत्पर्य-प्लवत्। तत सम्वत्सरे पुरुष (सूर्य्यः—हिरण्यगर्भः) समभवत्। स प्रजापति।

—शतपथ ब्रा० ११।१।६।१,२,।

(३)—तथदब्रवीत्-ब्रह्म (स्वयम्भू)—'आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि, यदिदं किञ्च' इति। तस्मादापोऽभवत्। तदपामप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथ० पू० १।२।

(४)—सोऽयं पुरुष प्रजापतिः (स्वयम्भू) अकामयत-भूयान्त्स्यां, प्रजायेय-इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव-प्रथममसृजत्-त्रयीमेव विद्याम्। सैवास्मै-प्रतिष्ठाभवत्। तस्मादाहु—'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' इति। तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति। प्रतिष्ठा ह्येषा यद् ब्रह्म। तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत। सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेवास्य सासृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत्—यदिदं किञ्च। यदाप्नोत्—तस्मादापः। यदवृणोत्—तस्माद्वाः (वारि)। सोऽकामयत-आभ्यो अद्भ्योऽधि प्रजायेय इति। सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत् आण्डं (ब्रह्माण्ड) समवर्त्तत।

शतपथ ब्रा०_६।१।१।८,६,

—✱—

उक्तश्रुतिवचनानुप्राणितस्मृतिवचसंग्रह—मानवीय :—

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्त्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद्—व्ययम्॥

—मनु १।१६ (मूलसूत्रमिदम् ✱)।

(१) आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

✱—स वै सप्तपुरुषो भवति (शत० ६।१।१।६)।

दशावयवविराट्मूर्त्ति—प्रथमदाम्पत्यभावपरिलेखः—

त्रयीवेदगर्भित भृग्वङ्गिरोमय-आपोलक्षण परमेष्ठी ब्रह्मरूप उस मदेय मन्मात्र द्वितीय देव का स्वरूपबोध ही 'दाम्पत्यसर्ग' का मौलिक बोध है, जिसका पौराणिक सर्ग में केतुसर्गक्रम से उपबृंहण हुआ है। सौरब्रह्माण्ड से सम्बन्धित रुद्राग्नि के महाभयानक घोरघोरतम विस्फोटनों से रोदसी ब्रह्माण्ड का सन्त्राण एकमात्र शान्तिमूर्त्ति शिवस्वरूप आपोमय परमेष्ठी महान् देव (महादेव) के अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। पारमेष्ठ्य भार्गव सोम की अजस्राहुति से ही सौर प्रचण्डाग्नि सुशान्त बना रहता है। यदि एक क्षण के लिए भी यह आहुतिक्रम अवरुद्ध हो जाय, तो तत्क्षण सूर्य्य अपनी सहज प्रचण्डता से रोदसी त्रैलोक्य को भस्मावशेषावस्था में परिणत कर दे। आपोमय महान् परमेष्ठी ही इस विश्व के शिवत्व के संरक्षक हैं। इसी सहज सृष्टिधाराक्रम का श्रुति ने निम्नलिखित रूप से संक्षेप से संग्रह कर दिया है जिसका तदुपरोहक त निम्नलिखित मनुवचनों से विस्पष्टीकरण हुआ है।

(१)— आपोभृग्वङ्गिरोरूप,मापोभृग्वङ्गिरोमयम्।
सर्व्वमापोमय भूत, सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः॥
—गोपथ ब्रा० पू० १।३९।

(२)—आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त—कथं नु प्रजायेमहीति। ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तप्यमानासु हिरण्मयाण्ड सम्बभूव।

अजाता ह तर्हि सम्वत्सर आस, तदिद यावत् सम्वत्सरस्य वेला, तावत्पर्य-प्लवत्। तत सम्वत्सरे पुरुष (सूर्य्य-हिरण्यगर्भ) समभवत्। स प्रजापति।

—शतपथ ब्रा० ११।१।६।१,२,।

(३)—तद्यदब्रवीत्–ब्रह्म (स्वयम्भू)—'आभिर्वा अहमिद सर्वमाप्स्यामि, यदिद किञ्च' इति। तस्मादापोऽभवत्। तदपामप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथ० पू० १।२।

(४)—सोऽय पुरुष प्रजापतिः (स्वयम्भू) अकामयत–भूयान्त्स्या, प्रजायेय–इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव-प्रथममसृजत् त्रयी-मेव विद्याम्। सैवास्मै-प्रतिष्ठाभवत्। तस्मादाहु–'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' इति। तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति। प्रतिष्ठा ह्येषा यद् ब्रह्म। तस्यां प्रतिष्ठाया प्रतिष्ठितोऽतप्यत। सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेवास्य सासृज्यत। सेद सर्वमाप्नोत्–यदिद किञ्च। यदाप्नोत्–तस्मादाप। यदवृणोत्–तस्माद्वा (वारि)। सोऽकामयत–आभ्यो अद्भ्योऽधि प्रजायेय इति। सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत आण्ड (ब्रह्माण्ड) समवर्त्तत।

शतपथ ब्रा० ६।१।१।८,६,

—※—

उक्तश्रुतिवचनानुप्राणितस्मृतिवचनसंग्रहः–मानवीय —

तेषामिद तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्त्तिमात्राभ्या सम्भवत्यव्ययाद्–व्ययम्॥

— मनु १।१६। (मूलसूत्रमिदम् *)।

(१) आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

---

*—स वै सप्तपुरुषो भवति (शत० ६।१।१।६)।

दशावयवविराट्मूर्त्ति–प्रथमदाम्पत्यभावपरिलेखः—

१–ऋक् (१) २–साम (२)	ऋक्साम (१)	वेद (अग्निर्ब्रह्म–पतिः)	दाम्पत्यभावः प्रथमः सर्गः—सूर्योद्भवः
३–यत् (३) ४–जू (४)	यजुः (२)		
१–आपः (५) २–वायुः (६) ३–सोम (७)	भृगवः (३)	सुवेद (आपः सुब्रह्म–पत्नी)	
४–अग्निः (८) ५–यमः (९) ६–आदित्यः (१०)	अङ्गिरसः (४)		

त्रयीवेदगर्भित भृग्वङ्गिरोमय–आपोलक्षण परमेष्ठी ब्रह्मरूप उस महेश्वर मात्र द्वितीय देव का स्वरूपबोध ही 'दाम्पत्यसर्ग' का मौलिक बोध है, जिसका पौराणिक सर्ग में केतुसर्गरूप से उपबृंहण हुआ है। सौरब्रह्माण्ड से सम्बन्धित रुद्राग्नि के महाभयानक घोरघोरतम विस्फोटनों से रोदसी ब्रह्माण्ड का सन्त्राण एकमात्र शान्तिमूर्त्ति शिवस्वरूप आपोमय परमेष्ठी महान् देव (महादेव) के अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। पारमेष्ठ्य भार्गव सोम की अजस्राहुति से ही घोर प्रचण्डाग्नि सुशान्त बना रहता है। यदि एक क्षण के लिए भी यह आहुतिक्रम अवरुद्ध हो जाय, तो तत्क्षण सूर्य्य अपनी सहज प्रचण्डता से रोदसी त्रैलोक्य को भस्मावशेषावस्था में परिणत कर दे। आपोमय महान परमेष्ठी ही इस विश्व के शिवत्व के संरक्षक हैं। इसी सहज सद्विचारात्मक का श्रुति ने निम्नलिखित रूप से संक्षेप से संग्रह कर दिया है, जिसका उपबृंहण निम्नलिखित मनुवचनों से विस्पष्टीकरण हुआ है।

(१)— आपोभृग्वङ्गिरोरूप,मापोभृग्वङ्गिरोमयम्।
सर्वमापोमय भूत, सर्व भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगा ॥

—गोपथ ब्रा० पू० १।३९

(२)—आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त–कथ नु प्रजायेमहीति। ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तप्यमानासु हिरण्मयाण्ड सम्बभूव।

(२१५)–सुवेद, और स्वेदस्वरूपपरिचय—

प्रकृतमनुसराम । प्रासङ्गिक श्रौत-स्मार्तवचनसमन्वयानन्तर पुनः गोपथश्रुत्यर्थसमन्वय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। ब्रह्म के तप और श्रम, तथा उभयसमन्वयात्मक सन्तपन से क्या समुत्पन्न हुआ ?, प्रश्न का समाधान करते हुई आगे चल कर श्रुति कहती है कि—"तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेह-यत्-आर्द्रय-आजायत" इत्यादि। "श्रान्त-तप्त-सन्तप्त ब्रह्म के ललाट प्रदेश पर जो स्नेह, जो आर्द्रता (गीलापना) उत्पन्न हुई, प्रजापति उससे आत्मानन्दविभोर हो पड़े, और इस आनन्दविभोरता में उनके मुख से ये उद्‌गार अभिव्यक्त हो पड़े कि—हमनें जो अपने श्रम-तप-सन्तपन से सुवेद प्राप्त कर लिया, यह महान् यश है" । ब्रह्म के मुख से-'सुवेदरूप महान यश हमनें प्राप्त कर लिया' इस वाक्य के विनिर्गमनके साथ ही ब्रह्म से समुत्पन्न यह आपोमय द्वितीय देव 'सुवेद' भावमें परिणत हो गया। है यह तत्त्व वास्तव में 'सुवद', किन्तु परोक्षप्रिय विद्वान अपनी परोक्षाभिरूचिना सहज परोक्षप्रियता के कारण कहा करते हैं इस 'सुवेद' को—'स्वेद', जिसका लोकार्थ माना गया है पसीना ।

(२१६)—चतुर्द्धा विभक्त अग्निस्वरूपपरिचय—

"ललाटप्रदेश पर स्नेह-आद्रय' उत्पन्न हुआ, और इससे ब्रह्मस्वयम्भू आनन्दित हो पड़े," इस वाक्य के समन्वय के लिए अपनी अध्यात्मसंस्था पर दृष्टि डालिए । अध्यात्म में-'आलोमभ्य-आनखाग्रेभ्य' (केशलोम, एवं नखों के अग्रभागों को छोड़कर-जो कि रसमात्रा से बहिष्कृत हैं) सम्पूर्णशरीर में रुक्प्रतिष्ठा-मूलक-मङ्गलग्रहानुप्राणित-रुक अणुसमन्वित वैश्वानराग्नि व्याप्त है, जिस का ऊष्मा, तथा अनाहत नाद से उभयथा प्रत्यक्ष होता रहता है। वहाँ से भी शरीर का स्पर्श किया जाता है ऊष्मा (गर्मी) प्रतीत होती है, यही वैश्वानर की प्रत्यक्षदृष्टि (स्पर्श-अनुभूति) है। कर्ण, एवं नासारन्ध्रों को अंगुलिद्वारा अवरूद्ध करने से जो धक्-धक्-शब्द सुनाई पड़ता है, यही वैश्वानर की श्रुति (शाब्दिक अनुभूति) है। यह वैश्वानरलक्षण शारीराग्नि ताप, एवं शब्दानुगत बनता हुआ भूताग्नि है, सोमान्न अग्नि है, जो हिरण्मय ब्रह्माण्डाधिष्ठाता सूर्य्य का पार्थिव प्रवर्ग्यरूप माना गया है। यही भूताग्नि चतुर्विध अन्नपरिपाक का मुख्याधिष्ठाता बन कर उदररूप से दक्षिणपार्श्व में प्रतिष्ठित रहता है*, इसे ही हम विज्ञानभाषा में 'चरा ग्न' कहा करते हैं, जिसका-'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास' इत्यादि आख्यानब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है+। यही चरलक्षण भूताग्नि 'वागग्नि' कहलाया है (क)। पार्थिव सौम्यपैलास्य धर्म्यप्रधान है, जिसके त्रिवृत्(६)—

---

* अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ (गीता १५।१४) ।

+ देखिए-शतपथविज्ञानभाष्य १ कर्मात्मक प्रथमखण्ड का 'आख्यानब्राह्मण' नामक परिच्छेद ।
—शत० १।२।३।१।—

(क)—स्मरण रहे, स्वायम्भुव यजुर्वेदरूप वेदाग्निलक्षणा वागग्नि इस पार्थिव वागग्नि से सर्वथा विभिन्न तत्त्व है।

(२) तत. स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजा. प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥

(३) योऽसावतीन्द्रियग्राह्य सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातन ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्य स एव स्वयमुद्बभौ ॥

(४) सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजा ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

(५) तदण्डमभवद्धैम सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वय ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥

(६) आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्व तेन नारायणः स्मृत [सूर्य्य] ॥

(७) यत्तत्कारणमव्यक्त नित्य सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति गीयते ॥ —

(८) + तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् (अ) ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ॥

(९) ताभ्यां स शकलाभ्यां दिव भूमिं च निर्ममे । (क)
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥

—मनु १।५ से १३ श्लोक पर्य्यन्त

—तस्मादाहु –'ब्रह्म' अस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा (शत० ६।१।१।८)।

+—तत आण्ड समवर्त्तत (शत० ६।१।१।१०)।

[अ] तद्विद हिरण्मयाण्ड यावत् सम्वत्सरस्य वेला–तावत् पर्य्यप्लवत ।
(शत० ११।१।६।१)

[क] स पृथिवी–अन्तरिक्ष –द्यौरभवत् (११।१।६।४,५,१) ।

जिसका मूलस्थान अध्यात्म में हृदय बतलाया गया है, व्याप्तिस्थान हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त व्याप्त प्रदेश बतलाया गया है। सूर्य्य-परमेष्ठी-दोनों को स्वमहिममण्डल में गर्भीभूत रखने वाला अव्यक्त स्वयम्भू ही चौथा यह ब्रह्माग्नि है, जिसे हमनें वागग्नि-यजुरग्नि-वेदाग्नि कहा है, एवं जिसे शारकत्ता के अनुबन्ध से 'अव्ययाग्नि' (आत्माग्नि) माना गया है, एवं अध्यात्मसंस्था में जो शिरोगुहानुगत सहस्रदलकमलरूप ज्ञानकोश की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। इसी को हम श्वोवसीयस् नामक अव्ययमन के सम्बन्ध से 'मनोऽग्नि' भी कह सकते हैं। वेदसम्बन्धेन यह जहाँ वागग्नि है, वहाँ आत्मसम्बन्धेन यही मनोऽग्नि है। इस प्रकार परमेष्ठि-सूर्य्य को गर्भ में रखने वाले स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि (यजुर्लक्षण वागग्नि) के ही स्वायम्भुवाग्नि', सौराग्नि', चान्द्राग्नि', पार्थिवाग्नि' भेद से चार विवर्त्त हो जाते हैं। चारों क्रमशः-वेदाग्नि'-सावित्राग्नि'-सुब्रह्मण्याग्नि'-वैश्वानराग्नि' नामों से प्रसिद्ध हैं। अध्यात्मसंस्था में इन चारों का क्रमशः शिरोगुहा-उरोगुहा-उदरगुहा-बस्तिगुहा से सम्बन्ध माना गया है। अध्यात्म में चारों क्रमशः ललाटप्रदेशोपलक्षित शिरोभाग-उर-हृदय-जठर-स्थानों में प्रतिष्ठित हैं। इस प्राकृतिक क्रम को लक्ष्य में रखकर ही हमें गोपथ के ललाट प्रदेश का समन्वय करना है।

प्रजापत्यनुगतललाट-हृदय-पादप्रदेशस्वरूपपरिलेख—

(२१६)—प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति—

इत्थं-मनोमय अव्ययात्मा, प्राणमय अक्षरात्मा, वाङ्मय क्षरात्मा,—के इन तीन विवर्त्तों के अनुबन्ध से अध्यात्मसंस्था में मनोऽग्नि, प्राणाग्नि, वागग्नि, इन त्रिविध अग्निभावों का समन्वय संसिद्ध हो जाता है। मनोऽग्नि वह ज्ञानाग्नि है, जिसे हमने यह शिरोगुहानुगामी बतलाया है, जिसमें—ज्ञानघना शिवसत्ता मानी गई है, एवं जिसकी द्विजातिप्रजा आहरह सन्ध्याकाल में उपासना किया करती हुई—'ललाटप्रदेशे शिवं ध्यायेत्' को अन्वर्थ प्रमाणित करती रहती है। मनोऽग्नि यह 'ज्ञानाग्नि' है, जिसके पूर्णविकाशानन्तर

---

* पद्भ्यां भूमि प्रतिष्ठितः। स भूमि सर्वत स्पृत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम् (अध्यात्मसंस्थायां,स)

पञ्चदश(१५)-एकविंश-(२१) भेदसे तीन अवान्तर पार्थिव स्तौम्यलोक माने गए हैं। इन के 'शक्लोनपात'-अधिष्ठाता (अधिष्ठाता-नामक) नर क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य, ये तीन पार्थिव आग्नेय देवता ही मान गए हैं। इन तीनों पार्थिव-स्तौम्य-आग्नेय नर देवताओं के 'तानूनप्त्र' से ही त्रिमूर्ति वैश्वानराग्नि का उदय हुआ है, जो-'आ यो गां भाति-आ पृथिवीम ,-'वैश्वानरो यतते सूर्य्येण' इत्यादि रूप से भूकेन्द्र से आरम्भ कर पार्थिव एकविंश अहर्गण पर प्रतिष्ठित सूर्य्यपर्यन्त व्याप्त है। पार्थिव स्तौम्यत्रिलोकी के ६-१५-२१ स्तोमात्मक पृथिवी-अन्तरिक्ष द्यौ —ये तीन 'विश्व', तीनों विश्वों के नायक अग्नि वायु-आदित्य ये तीन 'नर', इन तीनों विश्वनरों के समन्वय से समुत्पन्न पार्थिव योगाग्नि चर अग्नि ही 'वैश्वानराग्नि' कहलाया है*।

(२१७)—सावित्राग्नि, और सुब्रह्मण्याग्निस्वरूपपरिचय—

दूसरा है-'प्राणाग्नि', जो सावित्राग्नि, सुब्रह्मण्याग्नि के भेद से दो भागों में विभक्त होकर शरीर में प्रतिष्ठित है। सौरप्राणाग्नि 'सावित्राग्नि' है, चान्द्रप्राणाग्नि 'सुब्रह्मण्याग्नि' है। दोनों का समसमन्वय हो रहा है। चान्द्रप्राणाग्निगर्भित सौरप्राणाग्नि, एवं सौरप्राणाग्निगर्भित चान्द्रप्राणाग्नि, इन दोनों का प्रतिष्ठास्थान हृदय है व्याप्तिस्थान हृदय से आरम्भ कर अक्षर ब्रह्मपर्य्यन्त व्याप्त 'महाप्राण' नामक प्रदेश है। चान्द्रतत्त्व-गर्भित सौरप्राणाग्नि रूक्ष है, शुष्क है। सौरप्राणगर्भित चान्द्रप्राणाग्नि स्निग्ध है, आर्द्र है। उग्राग्नि, शान्ताग्नि, इन दोनों प्राणाग्नियों का क्रमशः सूर्य्य से उत्पन्न बुद्धि के साथ, एवं चन्द्रमा से उत्पन्न प्रज्ञानमन के साथ सम्बन्ध माना गया है। दोनों की समष्टि ही विज्ञानभाषा में प्राणाग्नि-अक्षराग्नि नाम से प्रसिद्ध है।

(२१८)—गुहानुगता अग्निचतुष्टयी—

बात यों थोड़ी और भी स्पष्ट कर लेनी चाहिए। सूर्य्य-चन्द्रमा भूपिण्ड-तीनों की समष्टि रोदसीत्रैलोक्य माना गया है जो क्रमशः द्यौ (सूर्य्य)-अन्तरिक्ष (चन्द्रमा)-पृथिवी (भू) है। इन तीनों में रोदसीत्रैलोक्य के अन्तिम पर्वस्थानीय 'भूपिण्ड' का एक स्वतन्त्र विवर्त्त माना गया है, एवं-रोदसी के सूर्य्य-चन्द्रात्मक दोनों का 'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' रूप से एक स्वतन्त्र विवर्त्त माना गया है। इन दोनों विवर्त्तों में से भूपिण्डानुगत पार्थिव विवर्त्त से सम्बन्ध रखने वाला त्रिस्तोमानुगत पार्थिव भूताग्नि ही चराग्नि माना गया है, जिसे हमने पूर्व में 'वैश्वानराग्नि' कहा है। इसका प्रतिष्ठास्थान दक्षिण पार्श्व है, व्याप्ति स्थान सर्वाङ्गशरीर है। सूर्य्यचन्द्रात्मक उभयविधाग्नि प्राणाग्नि है, इसी को हम 'अक्षराग्नि' कहेंगे,

---

* स य स वैश्वानरः-इमे स लोकाः। इयमेव पृथिवी विश्वं,अग्निर्नरः। अन्तरिक्षमेव विश्व, वायुर्नरः। द्यौरेव विश्वं, आदित्यो नरः (शत० ६।३।१।३)-इयं वै पृथिवी-वैश्वानरः (शत० १३।३।८।३।)॥ अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः-पुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते, यदिदमद्यते। तस्यैष घोषो भवति-यमेतत् कर्णावपिधाय शृणोति॥
—शत० १४।८।१०।१।

(२२१)—अस्त्वण्डस्वरूपमीमांसा—

यहां भी बात कुछ समझने जैसी है। 'वागग्नि' नामक स्वायम्भुव यजुरग्नि से 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्' इत्यादि के अनुसार 'आप' की उत्पत्ति बतलाई गई है, एवं यहां भी—'अग्नेरापः' सिद्धान्त समन्वित हो रहा है, जिसका वास्तविक तात्पर्य्य है—'आकाशाद्वायु'। वागग्नि सत्याकाश है, इसी की तरलावस्था वायु है, जो पारमेष्ठ्यतत्त्व माना गया है, एवं जिसे पूर्व में भृग्वङ्गिरोमय 'आपः' कहा गया है, एवं जिस 'वायु' रूप आप को आपोमय उस परमेष्ठी का स्वरूपसमर्पक माना गया है, जो परमेष्ठी सूर्य्यपिण्ड से भी परमस्थान में प्रतिष्ठित होने के कारण 'परमेष्ठी' नाम से व्यवहृत हुआ है। कहा गया है कि, 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से अपने वागाकाशरूप वागग्निभाग से इस भृग्वङ्गिरोमय—पद्मपत्रलक्षण मदेव मन्मात्र द्वितीय देव (परमेष्ठी) को—आपोब्रह्मनामक सुवेद को—उत्पन्न कर त्रयीमूर्ति स्वयम्भूब्रह्म इसके गर्भ में प्रतिष्ठित हो जाता है, फलतः यह प्रथमदाम्पत्यरूप दशकल बन जाता है (देखिए पृ० सं०—३१)। यहां एक सृष्टिधारा-क्रम समाप्त है। यहां से आगे इस दशावयव (ऋक्[१]—यजु[२]—साम[३]—आप[४]—वायु[५]—सोम[६]—अग्नि[७]—यम[८]—आदित्य[९]) भेद से विराड्मूर्त्ति ब्रह्मसुब्रह्मरूप दाम्पत्यभाव से सर्वप्रथम जो उत्पन्न होता है, वही तत्त्व 'अग्रि' कहलाया है। सौरब्रह्माण्ड में सर्वप्रथम इसी उष्णतत्त्व का सर्जन होता है। अतएव 'सर्वस्याग्रम-सृज्यत' रूप से इसे 'अग्रि' कहा जाता है, जिसका परोक्ष नाम है—'अग्नि'। यह अग्नि उस मूल स्वायम्भुव वागग्नि का पुत्र माना जायगा। माता इसकी पारमेष्ठ्य आप, पिता इसके स्वायम्भुव यजुरग्नि। दोनों के दाम्पत्यभाव से सर्वप्रथम इसी दशावयवविराट् पुत्र का जन्म हुआ, जो कालान्तर में केन्द्रीभूत बनकर पिण्डरूप में परिणत होता हुआ 'सूर्य्यनारायण' कहलाया। ब्रह्मगर्भित (वेदाग्निगर्भित) सुब्रह्म (परमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमय आप) के दाम्पत्य से समुत्पन्न यह अग्रिरूप अग्नि ही यह सावित्राग्नि है, जो आरम्भ में भूतावस्था में परिणत रहता हुआ प्रचण्डवेग से अलातचक्रवत् उस परिधि में भ्रमण कर रहा था, जहां आज सम्वत्सरसीमा प्रतिष्ठित है। आरम्भ में भूतावस्थापन्न—आपोमय पारमेष्ठ्यसमुद्र में प्रचण्डवेग से दोधूयमान—परिभ्रममाण यही भूताग्निपुञ्ज 'धूमकेतु' माना गया है, जो आगे चलकर केन्द्रानुगत पिण्डीभाव के कारण सूर्य्यगोलकरूप में परिणत होता हुआ आज भी अलातचक्रवत् उसी वेग से परिभ्रमण कर रहा है। इसी प्रथमसृष्टि को लक्ष्य बनाकर ब्राह्मणश्रुति ने कहा है—

(ततं आण्डं समवर्त्तत—देखिए पृ० सं० ३५१] तदभ्यमृशत्—'अस्तु' इति, अस्तु, भूयोऽस्तु, इत्येव तदब्रवीत्। ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या *।

---

* यहां स्मरण रखने की बात है कि, इसी ब्राह्मण की पूर्व की कण्डिका में भी—"स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत—त्रयीमेव विद्याम्। सेवास्मै प्रतिष्ठाऽभवत्। तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत, सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्" इत्यादि रूप से त्रयी का आविर्भाव बतलाया गया है। यह त्रयी स्वायम्भुव ब्रह्मनिःश्वसित नामक अव्ययमाग्निरूप वेद है। और दशमी कण्डिका से सम्बन्ध रखने वाला अग्निवेद 'गायत्रीमात्रिकवेद' नामक और अरथवेद है, जो याज्ञवल्क्य के द्वारा उपवर्णित है। यह अपौरुषेय था, एवं यह दाम्पत्यपुरुष से उद्भूत होने के कारण पौरुषेय है। दोनों वेदाग्नि सर्वथा विभिन्न तत्त्व हैं।

मानव कर्म करता हुआ भी कर्मबन्धन से सर्वात्मना विमुक्त बन जाता है +। इसका प्रधान आयतन्त्र ललाटप्रदेशोपलक्षित शिरोगुहास्थान है। प्राणाग्नि 'क्रियाग्नि' है, जो—'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति' (प्रश्नोपनिषत् ४।३।) के अनुसार अध्यात्मसंस्था में अहोरात्र सदा जाग्रत रहता है। जिसकी प्रतिष्ठा हृदय माना गया है। वागग्नि अर्थाग्नि, किंवा मूलाग्नि है, जिसका आशय सर्वाङ्गशरीर माना गया है। मध्यस्थ प्राणाग्नि के सौर–चान्द्र भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। इस प्रकार तीन के चार अग्निविवर्त्त बन जाते हैं, और यों–'चतुर्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास' इत्यादि आप्त्याश्रुति का अनुगमभाव इस दृष्टि से भी चरितार्थ हो जाता है।

(२२०)—अश्वाग्निस्वरूपपरिचय—

'अग्नेरापः' सिद्धान्त का पूर्व में समन्वय किया जा चुका है। अग्नि का चरम (अन्तिम) विश्व कलनपरिणाम 'आपः' ही माना गया है। क्योंकि अध्यात्म में अग्नि चार प्रकार का है, अतएव यह 'आप' भी चार ही प्रकार का उत्पन्न होता है, जिसका हम अमुक भौतिक दृष्टिकोणमाध्यम से प्रत्यक्ष कर सकते हैं, करते रहते हैं। अग्नि से विसृष्ट पानी का सांकेतिक पारिभाषिक नाम है—'अभ्रु', जिसका ब्राह्मणग्रन्थों की सुप्रसिद्ध 'अश्वमेधविद्या' में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। जिस प्रकार 'अग्नि' तत्त्व परोक्षभाषा में 'अग्नि' कहलाया है, एवमेव 'अभ्रु', तत्त्व परोक्षभाषा में 'अश्व' कहलाया है *। अग्निरूप अग्नि से उत्पन्न 'अभ्रु' नामक पानी से ही 'अश्व' तत्त्व का स्वरूपनिर्माण हुआ है। 'अभ्रु'रूप पानी का नाम है 'मरीचि', जो सौररश्मिभुक्त सावित्राग्नि के संघर्ष से समुत्पन्न हुआ है, अतएव जो 'मरीचि' पानी अग्निप्रकृतिक (ऊष्मप्रकृतिक) माना गया है। सौररश्मिमण्डलभुक्त अग्निप्रकृतिक यही मरीचि पानी पार्थिव दर्भोत्पत्ति का मूल उपादान माना गया है। अतएव सूर्यप्रतिकृतिरूप हिरण्य (सुवर्ण) वत् मरीचि पानी से समुत्पन्न दर्भ (कुशा) भी पवित्र माना गया है, जिसके लिए–'पवित्रे करोति। त इमे दर्भाः' (शत१२।३।१) इत्यादि निगम प्रसिद्ध है। यही मरीचि पानी 'वेन' कहलाया है, जिसका–'अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा०'(यजुः सं ७।१६।) इत्यादि मन्त्र से उपवर्णन हुआ है। वेनात्मक मरीचि पानी ही यमुनाजल का स्वरूपनिर्माणक माना गया है। यही मरीचि नामक सौर वेन पानी सौर मारीच कश्यपप्रजापति का स्वरूपनिर्माणक घोषित हुआ है। यही मरीचि पानी 'सौर अश्व' की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' इत्यादिरूप से उपनिषदों में इसी सौराग्निरूप अश्व का रहस्यात्मक स्वरूप प्रतिपादित हुआ है।

+ यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !
ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥
—गीता ४।३७॥

* स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत, तस्मादग्रिः। अग्रिर्ह वै तमग्निमित्याचक्षते परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवाः। अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्–सोऽश्रुरभवत्। अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवाः।
—शतपथब्रा० ६।१।१।११।

सुप्रसिद्ध यह कश्यपावतार है, जिसका सूर्य्यमूलक पौराणिकसृष्टिसर्ग में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। 'कश्यपात् सकलं जगत्'–सर्वाः प्रजा काश्यप्य' 'एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत-अकरोत्तत्। कश्यपो वै कूर्म्मः' इत्यादि श्रौतवचन इस कूर्म्मविद्या का ही रहस्य विश्लेषण कर रहे हैं। सृष्टिधारा का क्रमिक निरूपण करनेवाली शातपथी श्रुति श्रम् की उत्पत्ति के अनन्तर समुद्भूत इस कूर्म्मोत्पत्ति को लक्ष्य बनाती हुई आगे जाकर कहती है—"स प्रजापतिरकामयत–आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजा प्रजनयेयमिति। ता सलिलस्याप्सु प्राविश्यत्। तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत्–स कूर्म्मोऽभवत्"।

क्या कूर्म्मप्रजापति पर विश्वस्वरूप का अवसान हो गया?, नहीं। अभी विश्वसर्ग का 'पृथिवी' नामक एक और पर्व शेष है। उपनिषत्–प्रतिपादित सृष्टिधाराक्रम के–'अद्भ्यः पृथिवी' वचन का समन्वय अभी शेष है। उसी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती हुई शातपथी श्रुति आगे चलकर कहती है कि, उस सौर हिरण्मय कश्यपप्रजापति ने यह कामना की कि, 'मैं इन मरीचिरूप पानियों से पुनः सर्ग उत्पन्न करूँ'। इसी कामना से तप–श्रम के द्वारा प्रजापति ने अष्टाचयन, अतएव–'गायत्री' नाम से प्रसिद्ध वह भूपिण्ड उत्पन्न किया जिसका संक्षिप्त स्वरूपपरिचय अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। अभी प्रक्रान्त गोपथवचन का शेषांश ही समन्वित कर लेना चाहिए।

(२२४)–चतुर्विध 'अभ्' का स्वरूपपरिचय—

सौर सावित्राग्नि से उत्पन्न आपः ही 'अभ्' कहलाया, यही परोक्षभाषा में 'अश्व' माना गया। क्योंकि प्राणात्मक इस आपोमय अश्व की अश्वपशु में प्रधानता रहती है, अतएव अश्व को तेजोलक्षण आपोमय पशु माना गया है। महिषपशु भी यद्यपि आप्यप्राणप्रधान ही है। तथापि महिषपशु का क्योंकि पार्थिव 'मर' नामक कास्वालीरूप (कादम्बीचयुक्त) मलीमस वारुण आप्यप्राण से निर्म्माण हुआ है, अतएव इसे आपोमय अश्वपशु का विरोधी पशु माना गया है। सौर इन्द्रप्राणात्मक तेजोमय आपः से समुत्पन्न अश्वपशु दिव्यपशु है, एवं वारुण मरप्राणमय मलीमस आपः से उत्पन्न महिषपशु आसुर पशु है। इसी आधार पर संस्कृतसाहित्य का सहजवैरनिबन्धन 'अश्वमाहिष्य' न्याय प्रसिद्ध है। अग्नि से संचरित आप का ही साङ्केतिक नाम 'अभ्' है, यही अश्वस्वरूप की प्रतिष्ठा है, जिसके आधार पर अश्वमेधयज्ञ व्यवस्थित हुआ है, यही मर्कर्य्यादा है। इस दृष्टि से हम चतुर्विध अग्नियों से उत्पन्न चतुर्विध पानियों को 'अभुः' इस साङ्केतिक नाम से भी व्यवहृत कर सकते हैं।

अध्यात्मसंस्था के माध्यम से ही इस चतुर्विध अप्तत्त्व का अग्निचतुष्टयी के साथ समसमन्वय कीजिए। 'परिश्रमाम्–क्रोधाम्–शोकाम्–प्रेमाम्–' भेद से अध्यात्मसंस्था में हमें चार प्रकार के पानी उपलब्ध हो रहे हैं। तन्मयतापूर्वक–निष्ठापूर्वक–व्यानप्राणसमर्पणद्वारा परिश्रम करने से सर्वप्रथम ललाटप्रदेश पर ही पसीना चमकने लगता है, अनन्तर परिश्रम के आत्यन्तिक वेग से सर्वाङ्गशरीर में स्वेदकण समुद्भूत हो जाते हैं। जिसे लोक में 'स्वेद' (पसीना) कहा गया है, वही यह 'परिश्रमाम्' नामक प्रथम आपः है, जिसका मूलप्रभवस्थान, किंवा मूलोद्भवस्थान शिरोगुहास्थित स्वायम्भुव मनोऽग्नि ही माना गया है। यही स्वेद कर्म्मसंसिद्धि का द्वार बना करता है। कर्म्मसिद्धिजनक पसीना ही तुष्टि–मुक्तिलक्षणा शान्ति का मूलबीज माना

तस्मादाहुः–ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्–इति । अपि हि तस्मात् पुरुषात् (ब्रह्मनि श्वसित–वेदाग्निगर्भित–आपोमयसलचयदाम्पत्यमूर्त्तिपुरुषात्) ब्रह्मैव (गायत्रीमात्रिकवेदाग्निरेव) पूर्वमसृज्यत । तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत । अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्,–सोऽग्निरसृज्यत । स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत–तस्मादग्रि । अग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम् । परोक्षकामा हि देवा । अथ यदश्रु सक्षरितमासीत्,–सोऽश्रु रभवत् । अश्रु ह वै तमस्व इत्याचक्षते-परोक्षम् । परोक्षकामा हि देवाः ।

(२२२)–ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रयीमेव विद्याम्—

स्वायम्भुव अपौरुषेय ब्रह्मनिःश्वसित वेदमूर्त्ति प्रजापति के वेदाग्निभाग से पत्नीरूप आपः का प्रादुर्भाव, उभयदाम्पत्य से आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र में पुनः संघर्षद्वारा अग्निरूप गायत्रीमात्रिक वेद की उत्पत्ति, इस सौर सावित्राग्नि के संघर्ष से पुनः अग्निमयप्रकृतिक 'मरीचि' नामक आपः का प्रादुर्भाव–जिस इस सृष्टिधाराक्रम का उपनिषत् ने–"आकाशाद्वायु" 'वायोरग्नि" "अग्नेरापः" इस रूप से वर्णन किया है, एवं ब्राह्मणश्रुति ने इसी स्थिति का 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्–वागेव सासृज्यत"(आकाशाद्वायु)–'सोऽग्निरसृज्यत" (वायोरग्नि')–अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्"(अग्नेरापः')' इत्यादिरूप से विश्लेषण किया है । अग्नेरापः, और अथ यदश्रु० इत्यादि दोनों वचन अभिन्नार्थक हैं । वायोरग्निः, और सोऽग्निरसृज्यत दोनों वचन समानार्थक हैं । आकाशाद्वायुः–और–सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्–दोनों वाक्य अभिन्नार्थप्रतिपादक हैं । एवं–" स पुरुषःप्रजापतिः श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्यां–सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्" इत्यादि ब्राह्मणवचन, एवं–'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि उपनिषद्वचन, दोनों अभिन्नभावसंग्राहक बने हुए हैं ।

मनुगुणतमूलसर्गपरिलेख —

मनःप्राणवाङ्मयस्त्रिमूर्त्तिः–स्वपुरुषपुरुषात्मकप्रजापतिर्मनुरेव आत्मा

आत्मनः—आकाशः (ब्रह्मनिःश्वसितवेदः–सूक्ष्मभूतः–मनुरग्नि)

आकाशात्—वायुः (भृग्वङ्गिरोमय्यः–आपः–सूक्ष्मा)

वायोः—अग्निः (गायत्रीमात्रिकवेदः–सौराग्निः)

अग्नेः—आपः (सौररश्मिमुक्ता आपः मरीच्यः)

(२२३)–प्रजापति की कूर्म्मसृष्टि—

गायत्रीमात्रिकवेदाग्निरूप सौर सावित्राग्नि के संघर्ष से उत्पन्न वेन नामक 'अम्भ'रूप मरीचि–पानी से दो भागों चलकर सौरसस्था द्यावापृथिवी की जननी बनती हुई कूर्म्मपशु की आकृति में परिणत होती है, और यही

विज्ञानात्मलक्षणा बुद्धि की सहजनिष्ठा के सहज अनुग्रह से वञ्चित बने रह जाते हैं। ऐसे लौकिक मानवों को ही भावुकमानव माना गया है। ऐसे ही भावुकमानव क्षणे क्षणे हँसते और रोते रहते हैं। यही इनका परमपुरुषार्थ बना रहता है सर्वथा अबोध बालवृन्दवत्, तथा सौम्यनारीवृन्दवत्। इस प्रकार हमें अध्यात्मसंस्था में चारों वर्गीय तत्त्व उपलब्ध हो रहे हैं—

चतुर्विध-'अश्रु' स्वरूपपरिलेख—

१–परिश्रमसंघर्षद्वारा समुत्पन्नाः—	आपः	परिश्रमाश्रु	(स्वेदमाया)	नैष्ठिकमानवानुगता
२–वैश्वानरसंघर्षद्वारा समुत्पन्नाः—	आपः	क्रोधाश्रुः	(क्लेदमाया)	भावुकमानवानुगता
३–सावित्राग्निसंघर्षद्वारा समुत्पन्नाः—	आपः	शोकाश्रु	(क्लेशमाया)	
४–चान्द्राग्निसंघर्षद्वारा समुत्पन्नाः —	आपः	प्रेमाश्रु	(मोहमाया)	

—०—

उक्त अध्यात्मसंस्था–गाथा को लक्ष्य में रखते हुए ही अब अधिदैवतलक्षण प्राकृतिक विश्वसंस्था के साथ अश्रुचतुष्टयी का समन्वय कीजिए। वेदाग्नि से उत्पन्न आपः को ही 'परिश्रमाश्रु' कहा जायगा, जो 'पारमेष्ठ्य आपः' कहलाया है, एवं जिस का प्रातिस्विक नाम वह 'अम्भ' माना गया है, जो गाङ्गेय तोय की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। अतएव जो परमपावन अहरहरनुध्यानानुगत भागीरथी–तोय 'ब्रह्मद्रवी' नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिसकी उत्पत्ति मूलप्रभव–उक्थस्थान–स्वयम्भूब्रह्मरूप प्रजापति के शिरोभागोपलक्षित ललाटप्रदेशस्थ वेदाग्नि से हुई है। सौरसावित्राग्नि से उत्पन्न आपः को 'शोकाश्रु' ही कहा जायगा, जो 'सौरआपः' कहलाया है, एवं जिसका प्रातिस्विक नाम 'मरीचि' माना गया है, जो यामुनेय तोय की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। चान्द्र सौम्याग्नि से उत्पन्न आपः को ही 'प्रेमाश्रु' कहा जायगा, जो 'चान्द्रआपः' कहलाया है। एवं जिसका प्रातिस्विक नाम 'श्रद्धा' माना गया है, जो प्रत्यक्ष स्कन्दित भौतिक पानी को श्रद्धापूत बना दिया करता है। पार्थिवभूताग्निरूप वैश्वानराग्नि से उत्पन्न आपः को ही 'क्रोधाश्रु' कहा जायगा, जो 'पार्थिव आपः' कहलाया है, एवं जिसका प्रातिस्विक नाम 'मर' माना गया है, जो वापी–कूप तडाग–सर–समुद्र–नद–नदी–झर्झर–आदि स्थानस्थित पानी माना गया है। इस प्रकार स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि, सौरसावित्राग्नि, चान्द्रसुब्रह्मण्याग्नि, पार्थिववैश्वानराग्नि, इन चार अग्नियों से समुत्पन्न पारमेष्ठ्य अम्भ, सौर मरीचि, चान्द्र श्रद्धा, पार्थिव मर ये चार प्रकार के आपः ही सप्तवितस्तिकायात्मक विश्वेश्वरप्रजापति के क्रमशः परिश्रमाश्रु–शोकाश्रु–प्रेमाश्रु–क्रोधाश्रु माने जायँगे। निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुति इसी अम्भश्चतुष्टयीरूप अप्चतुष्टयी का स्पष्टीकरण कर रही है—

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत–'लोकान्नु सृजा' इति। स इमांल्लोकानसृजत–अम्भ, मरीची, मर, आपः। अदोऽम्भ परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठा। अन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरः। या अधस्तात्–ता आपः–श्रद्धा"।

—ऐतरेयोपनिषत् १।

गया है। परिश्रमशील मानव परिश्रमाश्रु बहा कर सदा सन्तुष्ट-सन्तृप्त बने रहते हैं। यही इनकी आनन्दानुभूति है।

जब मानव क्रोधाविष्ट बन जाता है, तब भी शरीर से पसीना बह निकलता है। इसी को हम 'क्रोधाश्रु' कहेंगे। इस क्रोधाश्रुविनिर्गमन से सन्तुष्टि-तृप्ति-शान्ति की कोई अनुभूति नहीं होती। अपितु ठीक इसके विपरीत इस से अध्यात्मसंस्था क्षुब्ध-अशान्त-उद्विग्न-असन्तुष्ट बन जाती है। सर्वाङ्गशरीर विकम्पित-संत्रस्त-क्लान्त बन जाता है। ऐसे इस रुद्राग्निमूर्त्ति क्रोधाश्रु का मूलप्रभव-मूलानस्थान सर्वाङ्गशरीरव्याप्त ताप-भ्रु सिलक्षण-पूर्वप्रतिपादित पार्थिव वह वैश्वानराग्नि ही माना गया है, जिसे पूर्व में वागग्नि-प्रथाग्नि-भूताग्नि-चराग्नि-आदि विविध नामों से व्यवहृत किया गया है। भूतासक्त-अर्थैषणासक्त्याक्रान्त मानव ही इस क्रोधाश्रु का मुख्य लक्ष्य बना करता है, जो कालान्तर में मानव के वैश्वानराग्नि के आत्यन्तिकरूप से विनिर्गत हो जाने के कारण मानव की भूतप्रधाना शरीरयष्टि को कृश-अशक्त-निर्बल कर देता है।

निरतिशय शोकसंविग्नमानस-मानव की आँखों से जो अश्रुप्रवाह प्रवाहित हो पड़ता है, वही-'शोकाश्रु' कहलाया है। चान्द्रप्राणाग्निगर्भित सौरसावित्रप्राणाग्नि ही इन शोकाश्रुओं का मूलप्रभव-मूलोत्थस्थान बना करता है। सौरसावित्राग्निप्राण ही रुद्र है। रुद्र अग्निरूप यही रुद्राग्नि शोकात्मक संघर्ष से द्रुत होकर अश्रुरूप में परिणत हो पड़ता है, जिसका विनिगमन ही स्वास्थ्यकर माना गया है। क्रोधाश्रुप्रभवरूप वैश्वानर अग्नि का संरक्षण जहाँ स्वास्थ्यकर है, वहाँ इस शोकाश्रुप्रभव रुद्राग्निरूप सावित्राग्नि का अश्रु द्वारा विनिर्गमन स्वास्थ्यकर है। दोनों में यह महान् अन्तर है। क्रोध का निग्रह ही कर जाना चाहिए, तभी स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है। शोक को अश्रुद्वारा बहिर्भूत हो कर देना चाहिए। शोकाश्रु के स्तम्भन से चित्तव्यामोहनलक्षणा स्तब्धता-जड़ता का उदय हो जाता है। यह ठीक है कि, वैश्वानरविनिर्गमनवत् इस सावित्राग्निजनित शोकाश्रु के अत्यधिक मात्रा में विनिर्गत हो जाने से भी जीवनीय रस पर अनुचित प्रभाव पड़ता है। फलतः शरीर निर्बल बन जाता है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है, गात्र शिथिल बन जाते हैं। तथापि इनका विनिगमन ही भावी स्थिरता की दृष्टि से माङ्गलिक ही माना गया है।

निःसीम प्रेमसंविग्नमानस-मानव के नेत्रपक्ष्मों से विनिर्गत अश्रु ही 'प्रेमाश्रु' कहलाए हैं। सौरसावित्रप्राणाग्निगर्भित चान्द्रसुब्रह्मण्य सौम्यप्राणाग्नि ही इन अश्रुओं का मूलप्रभव-मूलोत्थस्थान माना गया है। परिश्रमाश्रुवत् ये प्रेमाश्रु भी सौम्यभावानुबन्ध से शान्तिकर-तुष्टिकर ही माने गए हैं। निरतिशय भावावेश से चलित प्रशान्तमनोरस ही इस प्रेमाश्रु के जनक हैं, जिसके श्रद्धा-वात्सल्य-काम-स्नेह-रति-नामक पाँच विवर्त प्रसिद्ध हैं। चान्द्रमन की इन पाँच रसप्रसवधारावृत्तियों के अनुबन्ध से प्रेमाश्रु के पाँच ही जातिविभाग प्राकृतिक बन जाते हैं। इन पाँचों का '१-४ के अनुपात से द्विधा वर्गीकरण किया जायगा प्रस्तुत भावुकतानिबन्ध के माध्यम से। नितान्त नैष्ठिक आर्षमानव वात्सल्य-स्नेह-काम-रति-इन चारों मानस भावों में कभी आसक्त नहीं होते। रहतीं ये चारों वृत्तियाँ इनमें भी हैं। किन्तु सर्वथा संयतरूप से, शान्तरूप से। हाँ, केवल श्रद्धात्मक मानसभाव ही इन आर्षनैष्ठिक मानवों को यथाकदा आत्मविभोर बनाता हुआ प्रेमाश्रु जनक बन जाता है। उधर यथाजात-लौकिक-कामभोगपरायण-वित्तपुत्रकलत्रैषणालिप्त-भावुकमानव सर्वात्मना मनोवशवर्त्ती बनते हुए मानस वात्सल्य-स्नेह-काम-रति-क्षेत्रों के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए

नू के आभ्यन्तर स्तरों में प्रवाहित आपोधाराएँ, तदुपरि ओषधि–वनस्पति वर्ग, यही माता धरित्री का प्राकृतिक स्वरूप है, जिसकी आर्षवैज्ञानिक अष्टावयवसम्पत् के सम्बन्ध से 'गायत्री' रूप से उपासना किया करते हैं। इसी सूर्य्यमूला, किंवा सौराग्निगर्भित–आपोमूला भूसृष्टि को लक्ष्य बनाकर उपनिषच्छ्रुति ने–'अदूभ्यः पृथिवी' कहा है, जो औपनिषद कथन निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति के द्वारा यों उपबृंहित हुआ है—

''सोऽकामयत-'आभ्य -अद्भ्य -अधि-इमा [पृथिवीं] प्रजनयेयम्' इति। तां सक्लिस्य-अप्सु प्राविध्यत्। तस्यै य पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स कूर्म्मोऽभवत्। अथ यत् ऊर्ध्वमुदोक्ष्यत-इद तत्–यत् -इदमूर्ध्व मद्भ्याऽधिजायते [पुष्करपर्णात्मिका आप –शैवालरूपा –घनभावा -शरात्मका;— घनात्मिका –आपः-इति यावत्]। सेय सर्वाप एवानुव्यैत्। तदिदमेकमेव रूप समदृश्यत-''आप' '' एव+। सोऽकामयत–भूय एव स्यात्–प्रजायेत–इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानः 'फेन'' मसृजत। सोऽवेत्–अप एतद् प भूयो वै भवति। श्रामायवेति। स श्रान्तस्तेपानो 'मृद''–शुष्कापमूप–'सिकम''–'शर्कराम्''–'अश्मान''–'अय'–'हिरण्यम्''–[ओषधि'–वनस्पतिवर्गश्च] असृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्। ता वा एता नवसृष्टय [तूलसृष्टय –८, मूलसृष्टि,–१] इयमसृज्यत, तस्मादाहु –'त्रिवृदग्नि'रिति। इय ह्यग्नि। अस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयते। अभूद्वा इय प्रतिष्ठेति, तद्भूमिरभवत्। तामप्रथयत्, सा पृथिव्यभवत्। सेय सर्वा कृत्स्ना मन्यमाना उदगायत्। यदगायत्, तस्मादग्निर्गायत्र [अष्टावयव] इति। अथोऽआहु –अग्निरेवास्यै [अवमाध्यमेन] पृष्ठे सर्व कृत्स्नो मन्यमानोऽगायत्। तस्मादग्निर्गायत्र'–इति। तस्माद् हैतस्–य सर्वो कृत्स्नो मन्यते–गायति [उपवर्णयति पृथिविस्वरूप], तैव गीते-वा रमते।''

—शतपथब्रा० ६।१।१।१२,१३,१४,१५, कण्डिका।

(२३०)–ग्रहोपग्रहभावमीमांसा––

क्या पृथिवी (भूपिण्ड) पर विश्वनिर्म्माणप्रक्रिया समाप्त है ?, नहीं अभी ब्रह्माण्ड का अन्तिम अवयव–'निधन' नाम से प्रसिद्ध 'चन्द्रमा' पर्व शेष है, जिसका निर्म्माण अभी तक असंसृष्ट ही रहा है।

— यद्यत्–अपां शर आसीत्–तत् समहन्यत, तत् पृथिव्यभवत् (शत०ब्रा० १०।६।५।२)– आपो वै पुष्करपर्णम्। (शत० ६।४।२।२)

+ न तर्हि पृथिव्यास–न द्यौरास। कम्वालीकृता ह वै तर्हि पृथिव्यास, नौषधय आसु, न वनस्पतय'।

—शत० ब्रा० २।२।४।३।

—[कम्वालीकृता–घनापोभावरूपा–शरभावानुगता–आपोमयी पृथिवी– पृथिव्या –प्रारम्भावस्था इति निष्कर्षः]।

भाव प्रवर्ग्यरूप से समन्वित हो गए। आग्नेय आग्निरसभाव दाहक अग्नि कहलाया, जो 'सावित्राग्नि' नाम से प्रसिद्ध हुआ, एवं जो आगे चलकर मा महावीर्य्यप्रधान ब्राह्मणवर्ण की मूलप्रतिष्ठा बना। सौम्य भार्गवभाव ही दाह्य सोम कहलाया, जो चन्द्ररेत–'अभ्' कहलाया जिसे हमनें पूर्व में 'मरीचि' नामक और आप कहा है, एवं जिसे यमुनाजल की मूलप्रकृति घोषित किया है। दाह्यसोमसम्बन्ध से ही दाहक सौरसावित्राग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित होता हुआ प्रकाश का सर्जक बन रहा है। सौराग्नि तो अपने प्रातिस्विकरूप से सर्वथा कृष्णवर्ण ही है, जो कृष्णमृग की मूलप्रकृति माना गया है, अतएव जो कृष्ण-मृगचर्म आर्यमानव की दिव्यदृष्टि में 'त्रयीविद्या की प्रतिकृति' (शिल्प) बना हुआ है (दक्षिण-शतपथब्राह्मण-हविर्यज्ञब्राह्मण १।१।४।१) इसी आधार पर मानवधर्म्मशास्त्र का 'यस्मिन् देशे मृग कृष्णस्तत्र धर्म्मं निबोधत' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इसी आधार पर कृष्णमृग के स्वच्छन्द विचरण से अनुप्राणित भूप्रदेश ही आर्य–धर्मभूमि घोषित हुई है। 'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' (यजुःसं ३४।३१।)इत्यादिरूपेण स्वस्वरूप से नितान्त कृष्णवर्ण भी सूर्य्याग्नि सोमाहुतिप्रभाव से ही ज्योतिष्मान् बना हुआ है, जैसा कि–'त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ' (ऋक् सं १।९१।२२) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है।

(२२६)–अष्टात्मा भूपिण्ड—

सौर सावित्राग्निरूप अग्नितत्त्व, सौररश्मिमण्डलमुक्त सौम्य 'अभ्' नामक जलतत्त्व, दोनों को अपने मण्डल में मुक्त रखते हुए सूर्य्यनारायण कुलालचक्रवत् प्रबलवेग से घूमने लगे, घूम रहे हैं, प्रलयपर्य्यन्त घूमते रहेंगे। इन सूर्य्यनारायण के परिभ्रमणरूप संघर्ष से–चापलक्षणात्मक दबाव से–अग्निगर्भित और जलतत्त्व प्रवर्ग्यरूप से सौरमण्डल से पृथक्वत् बन गया। यही पार्थिव अर्णवसमुद्र कहलाया। इसमें आन्तरिक्ष्य वायु के समावेश से बुद्बुद–बुद्बुद–बुद्बुद–परम्परया बुद्बुद समुत्पन्न हो पड़े। इन बुद्बुदों के पारस्परिक संघर्ष से कालान्तर में अर्णवसमुद्र फेनमय (झागयुक्त) बन गया। पुनः वही ताप–वायु–पानी के पारस्परिक संघर्षात्मक ताप, इससे फेन की कालान्तर में 'मृत्' रूप में परिणति, जो 'क्षार भाग' कहलाया है। मृत् की कालान्तर में 'सिकता' रूप में परिणति, जो स्निग्ध-मसृणमृत्तिका (ग्रन्थिरन्ध्रबन्धनयुक्त परमाणुसंघरूपा चिकनी मिट्टी) कहलाई है। इसकी कालान्तर में 'शर्करा' रूप में परिणति, जो कणकणलक्षणा बालुका (बालू रेत) कहलाई है। इसकी कालान्तर में 'अश्मा' (पाषाण) रूप में परिणति, कालान्तर में इसकी 'अय' (अपरिपक्व धातुमात्र, जिसे आजकल कच्चा लोहा माना जाता है) रूप में परिणति। इस अय की कालान्तर में 'हिरण्य' (लोह–ताम्र–रजत–सुवर्ण–कांस्य–पित्तल–आदि धातुमात्र) रूप में परिणति। सहित्थं–अग्नि–आपः–वायु–इन तीनों के समन्वितारतम्य से सौरप्रवर्ग्य ही पर्वरूप से क्रमशः "आपः —फेन—मृत्–सिकता—शर्करा—अश्मा–अय —हिरण्य—" इन आठ पर्वों में विभक्त होता हुआ हिरण्यपर्व पर विश्रान्त हो गया, यही अष्टात्म भूपिण्ड कहलाया, जो सूर्य्य का उपग्रह माना गया है। जिसके केन्द्र में प्रचण्ड अग्नि *, अग्निवेगनिरोध के लिए सुविशाल पाषाणस्तरपरम्परा, समिद्ध–प्रज्वलित अग्नि से पाषाणस्तरविस्फोटन के निरोध के लिए पाषाणस्तरों पर इतस्ततः–सर्वदिशाओं में प्रचण्डवेग से

---

* यथाग्निगर्भा पृथिवी, यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी, वायुर्दिशां यथा गर्भ ।
—शत० ब्रा० १४।९।४।२०।

अथर्व) के सद्ब्रह्म हैं, जिन का गोपथब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में केवल तत्समर्थक वचन मात्र उद्धृत कर दिया जाता है—

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्–आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा इदं सर्वम्–आप्स्यामि यदिदं किञ्च। तस्मात्–'धारा' अभवन्। तद्धाराणां धारात्त्वं, यच्चासु ध्रियते। तस्माज्जाया अभवन्। तज्जायानां जायात्वं, यच्चासु पुरुषो जायते। तस्मात्–'आपो' अभवन्। तदपाम्–अप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

(२३२)–पञ्चाण्डस्वरूपपरिचय—

यह तद्रूपौभा अव्यक्त स्वयम्भू के वागग्निभाग से भृग्वङ्गिरोमय 'आपः' तत्त्व उत्पन्न हुआ, जो आप 'सतमेव परमेष्ठी०' रूप से सर्वथा श्रुत है। इस प्रकार अपने वागग्निभाग से इसे उत्पन्न कर आगे चलकर उत्सृष्ट्वा नियमानुसार त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू तद्गर्भ में प्रविष्ट हो गया। इस त्र्यवेद के गर्भप्रवेश से वह भृग्वङ्गिरोमयभाव 'मण्डल' रूप पिण्डभाव में परिणत हो गया। यही उस त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का 'मदेव–म मात्र' प्रथमावतार हुआ, जिसका स्वरूपसंस्थान बना पूर्वोक्त त्रिभावानुबन्ध से अण्डाकार। अतएव–'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत' (शत० ६।१।१।१) इत्यादिरूप से त्रयीविद्यामूर्त्ति स्वयम्भू को स्वगर्भ में गुप्त रखने वाला आपोमण्डल 'अण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्राकृत नाम हुआ 'ब्रह्माण्ड' (स्वयम्भूब्रह्म का आपोमय पिण्डमान–सलिलसमुद्रलक्षण–समपाशील–प्राथमिक मण्डल)। यहीं से क्योंकि 'जायते' मूलक 'अस्ति' भाव का आरम्भ होता है। अतएव वैज्ञानिकों ने इस प्रथम ब्रह्माण्ड (पारमेष्ठ्य अण्ड) का प्रातिस्विक नामकरण किया—'अस्त्यण्ड'', जिसका–'तदभ्यभ्रुरत्–'अस्तु' इति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। तदित्थं–स्वयम्भूब्रह्म से स्वयं स्वयम्भू के गर्भीभाव के कारण वेदाग्निगर्भित आपोमय जो अण्ड सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, वही 'अस्त्यण्ड' नामक प्रथम ब्रह्माण्ड कहलाया, जिसके गर्भ में आगे चलकर क्रमशः 'जायते' भावविकारलक्षण सौर 'हिरण्मयाण्ड'' नामक द्वितीयब्रह्माण्ड, 'वर्द्धते' भावविकारलक्षण 'पोषाण्ड'' नामक तृतीय भौमब्रह्माण्ड, 'विपरिणमते' भावविकारलक्षण 'यशोऽण्ड'' नामक चतुर्थ पार्थिव ब्रह्माण्ड, एवं 'अपक्षीयते' भावविकारलक्षण 'रेतोऽण्ड'' लक्षण पञ्चम चान्द्र ब्रह्माण्ड आविर्भूत हुआ। इस प्रकार एक ही स्वयम्भूब्रह्म परमेष्ठी[1]–सूर्य्य[2]–भूपिण्ड[3]–महिमपृथिवी[4]–चन्द्रमा[5]–इन पाँच विवर्तों से क्रमशः अस्त्यण्ड[1]–हिरण्मयाण्ड[2]–पोषाण्ड[3]–यशोऽण्ड[4]–रेतोऽण्ड[5], इन पञ्चाण्डभावों में परिणत होता हुआ विश्वस्वरूपसमर्पक बन गया, यही पञ्चब्रह्माण्डसमष्टिरूप स्वयम्भूब्रह्म 'विश्वकर्म्मा' कहलाया, एवं पाँचों ब्रह्माण्डों की समष्टि ही इस विश्वकर्म्मा का 'विश्व' कहलाया, जो विश्व 'विशत्यत्र–स्वयम्भूब्रह्म' निर्वचन से ही 'विश्व' नाम से घोषित हुआ।

जिस प्रकार भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह (सूर्य्य के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न) है, तथैव चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। यह हमारा नैगमिक सर्गक्रम ही है, जिसकी प्रतिच्छाया का विकृतरूप ही वर्त्तमान जड़विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। जैसाकि पूर्व में कहा गया है, यद्यपि सृष्टिमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू 'महाभूतादि वृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुदः' के अनुसार वृत्तौजा (वर्त्तुल-वृत्ताकार) ही है। किन्तु सगप्रवृत्तिदशा में मूल आत्मा के मनःप्राणवाक्-भावों के त्रिवृत्करण से समन्वित काम'-तप-श्रम-नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों से 'दीर्घवृत्तौजाः' बन जाता है। इस दीर्घवृत्तता के सम्बन्ध से ही स्वयम्भू, एवं तत्प्रतिमाभूत परमेष्ठी आदि शेष चारों वृत्तों में दीर्घवृत्त-निबन्धन त्रिकेन्द्रभाव के आधार पर 'आत्मा'-'पद'-'पुनःपदम्'' इन तीन सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाभावों का उदय हो जाता है, जिनके आधार पर इन पाँचों दीर्घवृत्तों में प्रत्येक में मनोवाग्मयी प्रतिष्ठा मानी गई है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त का ही पारिभाषिक नाम है 'अण्ड'। अतएव दीर्घवृत्तात्मिका यह सृष्टि 'अण्डसृष्टि' नाम से ही उपवर्णित हुई है। 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-भूपिण्ड-चन्द्रमा' यह है विश्वकर्मा की क्रमधारा, जिस का मूल है स्वयम्भू, जो स्वयं कदापि कथमपि अण्डभाव में परिणत नहीं होता। अतएव जो 'विरजा'-परोरजा 'विश्वकर्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। वह लत्त्वात्मक स्वयम्भू इसीलिए एककेन्द्रानुगत कलना हुआ पूर्ण है। 'पूर्णमद-पूर्णमिदम्'-'ऊर्ध्व-मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातन'-'वियस्तस्तम्भ षड्मा रजांसि-अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' इत्यादि वचन इसी स्वयम्भूब्रह्म का यशोगान कर रहे हैं। वह लत्त्वाकारधारित, अतएव नियत एककेन्द्रसमन्वित, अतएव ऊर्ध्वमूल, (केन्द्रमूल) परिपूर्ण स्वयम्भूब्रह्म ही वेदमूर्त्ति सर्वपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है जो अपने महानिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेद से सर्वप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिसका 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।८) इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। पूर्वोपवर्णित सर्वनिर्माणसम्बन्ध से सर्व-सत्ताओं का, सम्पूर्ण अस्तिभावों का मूलभूत यह स्वयम्भूब्रह्म स्वयं-'असद्वा इदमग्र आसीत्' (शत ६।१।१।१) रूप से 'असद्' ही माना गया है, जिसका अर्थ है विशुद्ध 'सत्तारूप ब्रह्म', जिसका निम्नलिखित शब्दों में दार्शनिक लोग अभिनय किया करते हैं —

> प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
> वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' संज्ञितम् ॥
>
> —पञ्चदशी

(२३१)—जाया-धारा-आप'-त्रयी—

आज हम विश्वलक्षणलक्षणा सृष्टिदशा में जो-'इदमस्ति-अयं सूर्य्य, इयं पृथिवी, असौ चन्द्रमा' इत्यादिरूप से अंगुलीनिर्देशद्वारा जिन विश्वाश्रयों का विश्वपदार्थों का-'अस्ति' रूप से अभिनय निर्देश-करते रहते हैं वह भूतदृष्टि-सृष्टिनिबन्धन 'अस्ति' भाव उस स्वयम्भूब्रह्म से सर्वथा असंस्पृष्ट ही था और आज भी असंस्पृष्ट ही है। हमारा सोपाधिक-भूतदृष्टि-निबन्धन अस्तिभाव अव्यक्त स्वयम्भू से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध संसृष्टिमूलक षड्भावविकारों का वैकारिक-मैथुनसर्ग-से ही सम्बन्ध है जिसका उपक्रमस्थान शुक्रमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी ही माने गए हैं। यहीं से 'जाया' बल के द्वारा 'जायते' यह प्रथम भावविकार प्रादुर्भूत होता है। अनन्तर ही अंगुलीनिर्देशानुप्राणित अस्ति'-'विप-रिणमते' 'वर्द्धते' इत्यादि भावविकारों का सन्तानक्रम मन्वन्वित हुआ करता है। 'अस्ति' मूलभूत विकारात्मक प्रजनन का प्रथमोपक्रम वह सुप्रसिद्ध 'जाया' बल ही है, जिसके सम्बन्ध से योषावत्त्व 'आयाया जायते' रूप से 'जाया' नाम से प्रसिद्ध है। 'धारा-जाया-आप' तीनों ही भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य आपः (भृवेद-सुब्रह्म

अथर्व) के सहजधर्म्म हैं, जिन का अथर्वब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में केवल तत्समर्थक वचन मात्र उद्धृत कर दिया जाता है—

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधारा प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्—आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा इदं सर्वं—आप्स्यामि यदिदं किञ्च। तस्मात्—'धारा' अभवन्। तद्धाराणां धारात्वं, यच्चासु ध्रियते। तस्माज्जाया अभवन्। तज्जायानां जायात्वं, यच्चासु पुरुषो जायते। तस्मात्—'आपो' अभवन्। तदपां—अप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

(२३२)—पञ्चाण्डस्वरूपपरिचय—

एवं तपश्चीर्णा अव्यक्त स्वयम्भू के वागग्निभाग से भृग्वङ्गिरोमय 'आप' तत्त्व उत्पन्न हुआ, जो आप 'अप्समेव परमेष्ठी०' रूप से सर्वथा स्मृत है। इस प्रकार अपने वागग्निभाग से इसे उत्पन्न कर आगे चलकर तत्सृष्ट्वा नियमानुसार त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू तद्गर्भ में प्रविष्ट हो गया। इस सत्यवेद के गर्भप्रवेश से वह भृग्वङ्गिरोमयभाव 'मण्डल' रूप पिण्डभाव में परिणत हो गया। यही उस त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का 'मर्त्य-मन्मात्र' प्रथमावतार हुआ, जिसका स्वरूपसंस्थान बना पूर्वोक्त त्रिभावानुबन्ध से अण्डाकार। अतएव—'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत' (शत ६।१।१।१) इत्यादिरूप से त्रयीविद्यामूर्त्ति स्वयम्भु को स्वगर्भ में सुरक्षित रखने वाला आपोमण्डल 'अण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्राकृत नाम हुआ 'ब्रह्माण्ड' (स्वयम्भूब्रह्म का आपोमय स्विद्यमान—सलिललक्षण—स्वधारश्मि—प्राथमिक मण्डल)। यहीं से क्योंकि 'जायते' मूलक 'अस्ति' भाव का आरम्भ होता है। अतएव वैज्ञानिकों ने इस प्रथम ब्रह्माण्ड (पारमेष्ठ्य अण्ड) का प्रातिस्विक नामकरण किया—'अस्त्यण्ड'[1], जिसका—'तदभ्यमृशत्—'अस्तु' इति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। तदित्थं—स्वयम्भूब्रह्म से स्वयं स्वयम्भू के गर्भीभाव के कारण वेदाग्निगर्भित आपोमय जो अण्ड सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, वही 'अस्त्यण्ड' नामक प्रथम ब्रह्माण्ड कहलाया, जिसके गर्भ में आगे चलकर क्रमशः 'जायते' भावविकारलक्षण और 'हिरण्मयाण्ड'[2] नामक द्वितीयब्रह्माण्ड, 'वर्द्धते' भावविकारलक्षण 'गोपाण्ड'[3] नामक तृतीय भौमब्रह्माण्ड, 'विपरिणमते' भावविकारलक्षण 'यशोऽण्ड'[4] नामक चतुर्थ पार्थिव ब्रह्माण्ड, एवं 'अपक्षीयते' भावविकारलक्षण 'रेतोऽण्ड'[5] लक्षण पञ्चम चान्द्र ब्रह्माण्ड आविर्भूत हुआ। इस प्रकार एक ही स्वयम्भूब्रह्म परमेष्ठी[1]—सूर्य्य[2]—भूपिण्ड[3]—महिमपृथिवी[4]—चन्द्रमा[5]—इन पाँच विवर्तों से क्रमशः अस्त्यण्ड[1]—हिरण्मयाण्ड[2]—गोपाण्ड[3]—यशोऽण्ड[4]—रेतोऽण्ड[5], इन पञ्चाण्डभावों में परिणत होता हुआ विश्वस्वरूपसमर्पक बन गया, यही पञ्चब्रह्माण्डसमष्टिरूप स्वयम्भूब्रह्म 'विश्वकर्म्मा' कहलाया, एवं पाँचों ब्रह्माण्डों की समष्टि ही इस विश्वकर्म्मा का 'विश्व' कहलाया, जो विश्व 'विशात्मन्—स्वयम्भूब्रह्म' निर्वचन से ही 'विश्व' नाम से घोषित हुआ।

जिस प्रकार भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह (सूर्य्य के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न) है, तथैव चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। यह हमारा नैगमिक सर्गक्रम ही है, जिसकी प्रतिच्छाया का विकृतरूप ही वर्त्तमान जडविज्ञान के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। जैसाकि पूर्व में कहा गया है, यद्यपि सृष्टिमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू 'महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः' के अनुसार वृत्तौजा (वर्त्तुल–वृत्ताकार) ही है। किन्तु सगप्रवृत्तिदशा में मूल आत्मा के मनःप्राणवाक्–भावों के त्रिवृत्करण से सम्बन्धित अमाः–रूप –भम–नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों से 'दीर्घवृत्तौजा' बन जाता है। इस दीर्घवृत्तता के सम्बन्ध से ही स्वयम्भू, एवं तत्प्रतिमाभूत परमेष्ठी आदि शेष चारों वृत्तों में दीर्घवृत्त–निबन्धन त्रिकेन्द्रभाव के आधार पर 'आत्मा'–पद'–पुनःपदम्' इन तीन सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाभावों का उदय हो जाता है, जिनके आधार पर इन पाँचों दीर्घवृत्तों में प्रत्येक में मनोतात्रयी प्रतिष्ठित मानी गई है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त का ही पारिभाषिक नाम है 'अश्व'। अतएव दीर्घवृत्तात्मिका यह सृष्टि 'अश्वसृष्टि' नाम से ही उपवर्णित हुई है। 'स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–भूपिण्ड–चन्द्रमा' यह है विश्वसर्ग की क्रमधारा, जिस का मूल है स्वयम्भू, जो स्वयं कदापि कथमपि अश्वभाव में परिणत नहीं होता। अतएव जो 'विरजा'–परोरजा 'विश्वकर्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। वत्तु'लाघात्मक स्वयम्भू इसीलिए एककेन्द्रानुगत बनता हुआ पूर्ण है। 'पूर्णमदः–पूर्णमिदम्'–'ऊर्ध्व-मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः'–'वियत्स्तम्भ पत्निमा रजांसि–अजस्य रूपं किमपि स्विदेकम्' इत्यादि वचन इसी स्वयम्भूब्रह्म का यशोगान कर रहे हैं। वत्तु'लाघाकारकारित, अतएव नियत एककेन्द्रसमन्वित, अतएव ऊर्ध्वमूल, (केन्द्रमूल) परिपूर्ण स्वयम्भूब्रह्म ही वेदमूर्त्ति सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है, जो अपने ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेद से सर्वप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिसका 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत ६।१।१।८) इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। पूर्वोपवर्णित सत्वर्गप्राणसम्बन्ध से सर्व-सत्ताओं का, सम्पूर्ण अस्तिभावों का मूलभूत यह स्वयम्भूब्रह्म स्वयं–'असद्वा इदमग्र आसीत्' (शत ६।१।१।१) रूप से 'असत्' ही माना गया है, जिसका अर्थ है विशुद्ध 'सत्तारूप ब्रह्म', जिसका निम्नलिखित शब्दों में दार्शनिक लोग अभिनय किया करते हैं —

> प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
> वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' संज्ञितम्॥
>
> —पञ्चदशी

(२३१)–जाया–धारा–आपः–ब्रह्मत्रयी—

आज हम विश्वस्वरूपलक्षणा सृष्टिदशा में जो–'इदमस्ति–अयं सूर्य्यः, इयं पृथिवी, असौ चन्द्रमा' इत्यादिरूप से अंगुलीनिर्देशद्वारा जिन विश्वावयवों का विश्वपदार्थों का–'अस्ति' रूप से अभिनय-निर्देश–करते रहते हैं वह भूतदृष्टि–सृष्टिनिबन्धन 'अस्ति' भाव उस स्वयम्भूब्रह्म से सर्वथा असंस्पृष्ट ही था, और आज भी असंस्पृष्ट ही है। हमारा सोपाधिक–भूतदृष्टि–निबन्धन अस्तिभाव अव्यक्त स्वयम्भू से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध संसृष्टिमूलक षड्भावविकारों का मैथुनिक–मैथुनसर्ग–से ही सम्बन्ध है, जिसका उपक्रमस्थान शुक्रमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी ही माने गए हैं। यहीं से 'जाया' भाव के द्वारा-'जायते' यह प्रथम भावविकार प्रादुर्भूत होता है। अनन्तर ही अंगुलीनिर्देशानुप्राणित अस्ति'–'विपरिणमते' 'वर्द्धते' इत्यादि भावविकारों का सन्तानक्रम प्रक्रान्त हुआ करता है। 'अस्ति' मूलभूत विकारात्मक प्रजनन का प्रथमोपक्रम वह सुप्रसिद्ध 'जाया' भाव ही है, जिसके सम्बन्ध से योषातत्त्व 'जायायां जायते' रूप से 'जाया' नाम से प्रसिद्ध है। 'धारा–जाया–आपः' तीनों ही भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य आपः (भृगु–मूलक

अथर्व) के सहजधर्म्म हैं, जिन का अथर्वब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में केवल तत्समर्थक वचन मात्र उद्धृत कर दिया जाता है—

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधारा प्रास्यन्दन्त । ताभिरनन्दत् । तदब्रवीत्—आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा इदं सर्वं—आप्स्यामि यदिदं किञ्च । तस्माद्—'धारा' अभवन् । तद्धाराणां धारात्वं, यच्चासु ध्रियते । तस्माज्जाया अभवन् । तज्जायानां जायात्वं, यच्चासु पुरुषो जायते । तस्मात्—'आपो' अभवन् । तदपां—अप्त्वम् । आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते ।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

(२३२)—पञ्चाण्डस्वरूपपरिचय—

वर्त्तुलप्रत्यक्ष अव्यक्त स्वयम्भू के वागग्निभाग से भृग्वङ्गिरोमय 'आप' तत्त्व उत्पन्न हुआ, जो आप 'अथर्वमेव परमेष्ठी०' रूप से सर्वथा स्मृत है । इस प्रकार अपने वागग्निभाग से इसे उत्पन्न कर आगे चलकर तत्सृष्ट्वा नियमानुसार त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू तद्गर्भ में प्रविष्ट हो गया। इस सत्यवेद के गर्भप्रवेश से वह भृग्वङ्गिरोमयभाव 'मण्डल' रूप पिण्डभाव में परिणत हो गया । यही उस त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का 'मर्त्य-ब्रह्मात्र' मयमाकार हुआ, जिसका स्वरूपसंस्थान बना पूर्वोक्त त्रिभावानुबन्ध से अण्डाकार । अतएव–'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत् । तत आण्डं समवर्त्तत' (शत० ६।१।१।१) इत्यादिरूप से त्रयीविद्यामूर्त्ति स्वयम्भु को स्वगर्भ में मुक्त रखने वाला आपोमण्डल 'अण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्राकृत नाम हुआ 'ब्रह्माण्ड' (स्वयम्भूब्रह्म का आपोमय पिण्डमान-सलिललक्षण-स्वपणशक्ति-प्राथमिक मण्डल) । यहीं से क्योंकि 'जायते' मूलक 'अस्ति' भाव का आरम्भ होता है । अतएव वैज्ञानिकों ने इस प्रथम ब्रह्माण्ड (पारमेष्ठ्य अण्ड) का प्रातिस्विक नामकरण किया—'अस्त्यण्ड'', जिसका–'तदभ्यभृशत्–'अस्तु' इति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है । तदित्थं–स्वयम्भूब्रह्म से स्वयं स्वयम्भू के गर्भीभाव के कारण वेदाग्निगर्भित आपोमय जो अण्ड सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, वही अस्त्यण्ड नामक प्रथम ब्रह्माण्ड कहलाया, जिसके गर्भ में आगे चलकर क्रमशः 'जायते' भावविकारलक्षण और 'हिरण्मयाण्ड'' नामक द्वितीयब्रह्माण्ड, 'वर्द्धते' भावविकारलक्षण 'पोषाण्ड'' नामक तृतीय भौमब्रह्माण्ड, 'विपरिणमते' भावविकारलक्षण 'यशोऽण्ड'' नामक चतुर्थ पार्थिव ब्रह्माण्ड, एवं 'अपक्षीयते' भावविकारलक्षण 'रेतोऽण्ड'' लक्षण पञ्चम चान्द्र ब्रह्माण्ड आविर्भूत हुआ । इस प्रकार एक ही स्वयम्भूब्रह्म परमेष्ठी'–सूर्य्य'–भूपिण्ड'–महिमपृथिवी'–चन्द्रमा'–इन पाँच विवर्तों से क्रमशः अस्त्यण्ड'–हिरण्मयाण्ड'–पोषाण्ड'–यशोऽण्ड'–रेतोऽण्ड', इन पञ्चाण्डभावों में परिणत होता हुआ विश्वस्वरूपसमर्पक बन गया, यही पञ्चब्रह्माण्डसमष्टिरूप स्वयम्भूब्रह्म 'विश्वकर्म्मा' कहलाया, एवं पाँचों ब्रह्माण्डों की समष्टि ही इस विश्वकर्म्मा का 'विश्व' कहलाया, जो विश्व 'विशत्यत्र–स्वयम्भूब्रह्म' निर्वचन से ही 'विश्व' नाम से घोषित हुआ ।

जिस प्रकार भूपिण्ड सूर्य का उपग्रह (सूर्य के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न) है, तथैव चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। यह हमारा नैगमिक सर्गक्रम ही है, जिसकी प्रतिच्छाया का विकृतरूप ही वर्त्तमान जड़विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। जैसाकि पूर्व में कहा गया है, यद्यपि सृष्टिमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू 'महाभूतादि वृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुद' के अनुसार वृत्तौजा (वर्त्तुल–वृत्ताकार) ही है। किन्तु सर्गप्रवृत्तिदशा में मूल-आत्मा के मनःप्राणवाक्–भावों के त्रिवृत्करण से समन्वित काम:–तप:–श्रम–नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों से 'दीर्घवृत्तौजा' बन जाता है। इस दीर्घवृत्तता के सम्बन्ध से ही स्वयम्भू, एवं तत्प्रतिमाभूत परमेष्ठी आदि शेष चारों वृत्तों में दीर्घवृत्त–निबन्धन त्रिकेन्द्रभाव के आधार पर 'आत्मा'–'पद'–'पुनःपदम्'* इन तीन सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाभावों का उदय हो जाता है,जिनके आधार पर इन पाँचों दीर्घवृत्तों में प्रत्येक में मनोवाङ्मयी प्रतिष्ठित मानी गई है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त का ही पारिभाषिक नाम है 'अण्ड'। अतएव दीर्घवृत्तात्मिका यह सृष्टि 'अण्डसृष्टि' नाम से ही उपवर्णित हुई है। 'स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–भूपिण्ड–चन्द्रमा' यह है विश्वसर्ग की क्रमधारा, जिस का मूल है स्वयम्भू, जो स्वयं कदापि कथमपि अण्डभाव में परिणत नहीं होता। अतएव जो 'विरजा'-परोरजा 'विश्वकर्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'सत्यात्मक स्वयम्भू इसीलिए एककेन्द्रानुगत बनता हुआ पूर्ण है। 'पूर्णमदः–पूर्णमिदम्'–'ऊर्ध्व-मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः'–'वियस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि–अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' इत्यादि वचन इसी स्वयम्भूब्रह्म का यशोगान कर रहे हैं। वह लक्षणाभावकारित, अतएव नियत एककेन्द्रसमन्वित, अतएव ऊर्ध्वमूल, (केन्द्रमूल) परिपूर्ण स्वयम्भूब्रह्म ही वेदमूर्त्ति सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है, जो अपने ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेद से सर्वप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिसका 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।८) इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। पूर्वोपवर्णित सर्वविप्रतिषेधसम्बन्ध से सर्व-सत्ताओं का, सम्पूर्ण अस्तिभावों का मूलभूत यह स्वयम्भूब्रह्म स्वयं–'असद्वा इदमग्र आसीत्' (शत० ६।१।१।१) रूप से 'असत्' ही माना गया है, जिसका अर्थ है विशुद्ध 'सत्तारूप ब्रह्म', जिसका निम्नलिखित शब्दों में दार्शनिक लोग अभिनय किया करते हैं —

> प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
> वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' संज्ञितम्॥
> —पञ्चदशी

(२६१)–जाया–धारा–आप–पक्षत्रयी—

आज हम विश्वस्वरूपलक्षणा सृष्टिदशा में जो–'इदमस्ति–अयं सूर्य्यः, इयं पृथिवी, असौ चन्द्रमा' इत्यादिरूप से अंगुलीनिर्देशद्वारा जिन विश्वावयवों का, विश्वपदार्थों का–'अस्ति' रूप से अभिनय-निर्देश–करते रहते हैं वह मूलप्रकृति–सृष्टिनिबन्धन 'अस्ति' भाव उस स्वयम्भूब्रह्म से सर्वथा असंस्पृष्ट ही था और आज भी असंस्पृष्ट ही है। हमारा सोपाधिक–भूतवृद्धि–निबन्धन अस्तिभाव अव्यक्त स्वयम्भू से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध संसृष्टिमूलक षड्भावविकारों का वैकारिक–मैथुनसर्ग–से ही सम्बन्ध है, जिसका उपक्रमस्थान शुक्रमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी ही माने गए हैं। यहीं से 'जाया' रूप के द्वारा 'जायते' यह प्रथम भावविकार प्रादुर्भूत होता है। अनन्तर ही अंगुलीनिर्देशानुप्राणित अस्ति'–'विपरिणमते' 'वर्द्धते' इत्यादि भावविकारों का सन्तानक्रम प्रक्रान्त हुआ करता है। 'अस्ति' मूलभूत विकारात्मक प्रजनन का प्रथमोपक्रम वह सुप्रसिद्ध 'जाया' रूप ही है जिसके सम्बन्ध से योषातत्त्व 'जायाया जायते' रूप से 'जाया' नाम से प्रसिद्ध है। 'धारा–जाया–आप' तीनों ही भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य आपः (भृग्वेद–सुब्रह्म

अथव) के सहस्रवम्म हैं, जिन का अथवब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, उन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में केवल तत्समर्थक वचन मात्र उद्धृत कर दिया जाता है—

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्य पृथक् स्वेदधारा प्रास्यन्दन्त। तामिरनन्दत्। तदब्रवीत्-आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा इदं सर्वं-आप्स्यामि यदिदं किञ्च। तस्मात्-'धारा' अभवन्। तद्धाराणां धारात्वं, यच्चासु ध्रियते। तस्माज्जाया अभवन्। तज्जायानां जायात्वं, यच्चासु पुरुषो जायते। तस्मात्-'आपो अभवन्। तदपां-अप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

(२३२)—पञ्चाण्डस्वरूपपरिचय—

यह सर्वतोभा अव्यक्त स्वयम्भू के भागविभाग से भृग्वङ्गिरोमय 'आप' तत्त्व उत्पन्न हुआ, जो आप 'अतमेष परमेष्ठी०' रूप से सर्वथा भूत है। इस प्रकार अपने भागविभाग से इसे उत्पन्न कर आगे चलकर उत्सृष्वा नियमानुसार त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू तद्गर्भ में प्रविष्ट हो गया। इस सत्यवेद के गर्भप्रवेश से वह भृग्वङ्गिरोमयभाव 'मयडल' रूप पिण्डभाव में परिणत हो गया। यही उस त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का 'मदेव-मन्मात्र' प्रथमावतार हुआ, जिसका स्वरूपसंस्थान बना पूर्वोक्त त्रियायानुबन्ध से अयडाकार। अतएव-'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत' (शत० ६।१।१।१) इत्यादिरूप से त्रयीविद्यामूर्त्ति स्वयम्भु को स्वगर्भ में सुरक्षित रखने वाला आपोमयमण्डल 'अण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्राकृत नाम हुआ 'ब्रह्माण्ड' (स्वयम्भूब्रह्म का आपोमय पिण्डमान-सलिललक्षण-सपणरश्मि-प्राथमिक मण्डल)। यहीं से क्योंकि 'जायते' मूलक 'अस्ति' भाव का आरम्भ होता है। अतएव वैज्ञानिकों ने इस प्रथम ब्रह्माण्ड (पारमेष्ठ्य अण्ड) का प्रातिस्विक नामकरण किया—'अस्त्यण्ड'', जिसका-'तदभ्यमृशत्-'अस्तु' इति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। तदित्थं-स्वयम्भूब्रह्म से स्वयं स्वयम्भू के गर्भीभाव के कारण वेदाग्निगर्भित आपोमय जो अण्ड सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, वही अस्त्यण्ड' नामक प्रथम ब्रह्माण्ड कहलाया, जिसके गर्भ में आगे चलकर क्रमशः 'जायते' भावविकारलक्षण सौर 'हिरण्मयाण्ड'' नामक द्वितीयब्रह्माण्ड, 'वर्द्धते' भावविकारलक्षण 'पोषाण्ड'' नामक तृतीय भौमब्रह्माण्ड, 'विपरिणमते' भावविकारलक्षण 'यशोऽण्ड'' नामक चतुर्थ पार्थिव ब्रह्माण्ड, एवं 'अपक्षीयते' भावविकारलक्षण 'रेतोऽण्ड'' लक्षण पञ्चम चान्द्र ब्रह्माण्ड आविर्भूत हुआ। इस प्रकार एक ही स्वयम्भूब्रह्म परमेष्ठी'-सूर्य्य'-भूपिण्ड'-महिमपृथिवी'-चन्द्रमा'-इन पाँच विवर्त्तों से क्रमशः अस्त्यण्ड'-हिरण्मयाण्ड'-पोषाण्ड'-यशोऽण्ड'-रेतोऽण्ड', इन पञ्चाण्डभावों में परिणत होता हुआ विश्वस्वरूपसमर्पक बन गया, यही पञ्चब्रह्माण्डसमष्टिरूप स्वयम्भूब्रह्म 'विश्वकर्म्मा' कहलाया, एवं पाँचों ब्रह्माण्डों की समष्टि ही इस विश्वकर्म्मा का 'विश्व' कहलाया, जो विश्व 'विशत्यत्र-स्वयम्भूब्रह्म' निर्वचन से ही 'विश्व' नाम से घोषित हुआ।

जिस प्रकार भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह (सूर्य के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न) है, तथैव चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। यह हमारा नैगमिक सर्गक्रम ही है, जिसकी प्रतिच्छाया का विकृतरूप ही वर्त्तमान जड़विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है, यद्यपि सृष्टिमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू 'महाभूतादि वृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुद' के अनुसार वृत्तौजा (वर्त्तुल-वृत्ताकार) ही है। किन्तु सर्गप्रवृत्तिदशा में मूलआत्मा के मनःप्राणवाक्-भावों के त्रिवृत्करण से सम्बन्धित श्रम-तप-श्रम-नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों से 'दीर्घवृत्तौजा' बन जाता है। इस दीर्घवृत्तता के सम्बन्ध से ही स्वयम्भू, एवं तत्प्रतिमाभूत परमेष्ठी आदि शेष चारों वृत्तों में दीर्घवृत्त-निबन्धन त्रिकेन्द्रभाव के आधार पर 'आत्मा'-पदं'-पुनःपदम्' इन तीन सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाभावों का उदय हो जाता है, जिनके आधार पर इन पाँचों दीर्घवृत्तों में प्रत्येक में मनोवाग्मयी प्रतिष्ठित मानी गई है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त का ही पारिभाषिक नाम है 'अण्ड'। अतएव दीर्घवृत्तात्मिका यह सृष्टि 'अण्डसृष्टि' नाम से ही उपवर्णित हुई है। 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-भूपिण्ड-चन्द्रमा' यह है विश्वसर्ग की क्रमधारा, जिस का मूल है स्वयम्भू, जो स्वयं कदापि कथमपि अण्डभाव में परिणत नहीं होता। अतएव जो 'विरजा'-परोरजा 'विश्वकर्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। वह लक्षणात्मक स्वयम्भू इसीलिए एककेन्द्रानुगत बनता हुआ पूर्ण है। 'पूर्णमदः-पूर्णमिदम्'-'ऊर्ध्व-मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः'-'वियस्तस्तम्भ षळिमा रजांसि-अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' इत्यादि वचन इसी स्वयम्भूब्रह्म का यशोगान कर रहे हैं। वह लक्षणाकाराकारित, अतएव नियत एककेन्द्रसमन्वित, अतएव ऊर्ध्वमूल, (केन्द्रमूल) परिपूर्ण स्वयम्भूब्रह्म ही वेदमूर्त्ति षष्ठपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है जो अपने अग्निनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेद से सर्वप्रतिष्ठ बना हुआ है, जिसका 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।८) इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। पूर्वोपवर्णित सप्तविप्रायासम्बन्ध से सर्वसत्ताओं का, सम्पूर्ण अस्तिभावों का मूलभूत यह स्वयम्भूब्रह्म स्वयं-'असद्वा इदमग्र आसीत्' (शत० ६।१।१।१) रूप से 'असत्' ही माना गया है, जिसका अर्थ है विशुद्ध 'सत्तारूप ब्रह्म', जिसका निम्नलिखित शब्दों में दार्शनिक लोग अभिनय किया करते हैं —

> प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
> वचसामात्मसंवेद्य तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' संज्ञितम् ॥
>
> —पञ्चदशी

(२३१)—जाया—धारा—आप—पक्षत्रयी—

आज हम विश्वस्वरूपलक्षणा सृष्टिदशा में जो-'इदमस्ति-अयं सूर्य्यः, इयं पृथिवी, असौ चन्द्रमा' इत्यादिरूप से अंगुलीनिर्देशद्वारा जिन विश्वावयवों का, विश्वपदार्थों का-'अस्ति' रूप से अभिनय-निर्देश-करते रहते हैं, वह मूलदृष्टि-सृष्टिनिबन्धन 'अस्ति' भाव उस स्वयम्भूब्रह्म से सर्वथा असंस्पृष्ट ही था, और आज भी असंस्पृष्ट ही है। हमारा सोपाधिक-मूलदृष्टि-निबन्धन अस्तिभाव अव्यक्त स्वयम्भू से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध सृष्टिमूलक षड्भावविकारों का वैकारिक-मैथुनसर्ग-से ही सम्बन्ध है, जिसका उपक्रमस्थान शुक्रमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी ही माने गए हैं। यहीं से 'जाया' पक्ष के द्वारा 'जायते' यह प्रथम भावविकार प्रादुर्भूत होता है। अनन्तर ही अंगुलीनिर्देशानुप्राणित 'अस्ति'-'विपरिणमते' 'वर्द्धते' इत्यादि भावविकारों का सन्तानक्रम प्रक्रान्त हुआ करता है। 'अस्ति' मूलभूत विकासात्मक प्रजनन का प्रथमोपक्रम वह सुप्रसिद्ध 'जाया' पक्ष ही है, जिसके सम्बन्ध से योषातत्त्व 'जायाया जायते' रूप से 'जाया' नाम से प्रसिद्ध है। 'धारा-जाया-आप' तीनों ही भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य आपः (सुवेद-सुब्रह्म

अथर्व) के सहजधर्म्म हैं, जिन का अथवब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में केवल तत्समर्थक वचन मात्र उद्धृत कर दिया जाता है—

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्य पृथक् स्वेदधारा प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्–आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा इदं सर्वं–आप्स्यामि यदिदं किञ्च। तस्माद्–'धारा' अभवन्। तद्धाराणां धाराश्व, यदासु ध्रियते। तस्माज्जाया अभवन्। तज्जायानां जायात्व, यदासु पुरुषो जायते। तस्मात्–'आपो अभवन्। तदपां–अप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

(२३२)–पञ्चाण्डस्वरूपपरिचय—

वर्त्तलवृत्तोत्था अव्यक्त स्वयम्भू के वागग्निभाग से भृग्वङ्गिरोमय 'आपः' तत्त्व उत्पन्न हुआ, जो आप 'अयमेव परमेष्ठी०' रूप से सर्वथा ध्रुव है। इस प्रकार अपने वागग्निभाग से इसे उत्पन्न कर आगे चलकर तत्सृष्ट्वा नियमानुसार त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू तद्गर्भ में प्रविष्ट हो गया। इस सत्यवेद के गर्भप्रवेश से वह भृग्वङ्गिरोमयभाव 'मण्डल' रूप पिण्डभाव में परिणत हो गया। यही उस त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का 'सवेद–मन्मात्र' प्रथमावतार हुआ, जिसका स्वरूपसंस्थान बना पूर्वोक्त त्रिभावानुबन्ध से अण्डाकार। अतएव–'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत' (शत ६।१।१।१०) इत्यादिरूप से त्रयीविद्यामूर्त्ति स्वयम्भू को स्वगर्भ में मुक्त रखने वाला आपोमण्डल 'अण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्राकृत नाम हुआ 'ब्रह्माण्ड' (स्वयम्भूब्रह्म का आपोमय पिन्दमान–सलिललक्षण–स्वयम्भूरश्मि–प्राथमिक मण्डल)। यहीं से क्योंकि 'जायते' मूलक 'अस्ति' भाव का आरम्भ होता है। अतएव वैज्ञानिकों ने इस प्रथम ब्रह्माण्ड (पारमेष्ठ्य अण्ड) का प्रातिस्विक नामकरण किया—'अस्त्यण्ड'', जिसका–'तदभ्यमृशात्–'अस्तु' इति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। तदित्थं–स्वयम्भूब्रह्म से स्वयं स्वयम्भू के गर्भीभाव के कारण वेदाग्निगर्भित आपोमय जो अण्ड सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, वही अस्त्यण्ड' नामक प्रथम ब्रह्माण्ड कहलाया, जिसके गर्भ में आगे चलकर क्रमशः 'जायते' भावविकारलक्षण और 'हिरण्मयाण्ड²' नामक द्वितीयब्रह्माण्ड, 'वर्द्धते' भावविकारलक्षण 'पोषाण्ड³' नामक तृतीय भौमब्रह्माण्ड, 'विपरिणमते' भावविकारलक्षण 'यशोऽण्ड⁴' नामक चतुर्थ पार्थिव ब्रह्माण्ड, एवं 'अपक्षीयते' भावविकारलक्षण 'रेतोऽण्ड⁵' लक्षण पञ्चम चान्द्र ब्रह्माण्ड आविर्भूत हुआ। इस प्रकार एक ही स्वयम्भूब्रह्म परमेष्ठी¹–सूर्य्य²–भूपिण्ड³–महिमपृथिवी⁴–चन्द्रमा⁵–इन पाँच विवर्त्तों से क्रमशः अस्त्यण्ड¹–हिरण्मयाण्ड²–पोषाण्ड³–यशोऽण्ड⁴–रेतोऽण्ड⁵, इन पञ्चाण्डभावों में परिणत होता हुआ विश्वस्वरूपसमर्पक बन गया, यही पञ्चब्रह्माण्डसमष्टिरूप स्वयम्भूब्रह्म 'विश्वकर्म्मा' कहलाया, एवं पाँचों ब्रह्माण्डों की समष्टि ही इस विश्वकर्म्मा का 'विश्व' कहलाया, जो विश्व 'विशत्यत्र–स्वयम्भूब्रह्म' निर्वचन से ही 'विश्व' नाम से घोषित हुआ।

जिस प्रकार भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह (सूर्य के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न) है, तथैव चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। यह हमारा नैगमिक सर्गक्रम ही है, जिसकी प्रतिच्छाया का विकृतरूप ही वर्त्तमान बहुविज्ञान के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। जैसाकि पूर्व में कहा गया है, यद्यपि सृष्टिमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू 'महाभूतादि वृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुद' के अनुसार वृत्तौजा (वर्त्तल-गुहाकार) ही है। किन्तु सर्गप्रवृत्तिदशा में मूल-आत्मा के मनःप्राणवाक्-भावों के त्रिवृत्करण से समन्वित काम.-तपः-श्रम-नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों से 'दीर्घवृत्तौजा' बन जाता है। इस दीर्घवृत्तता के सम्बन्ध से ही स्वयम्भू, एवं आपतिमाभूत परमेष्ठी आदि शेष चारों वृत्तों में दीर्घवृत्त-निबन्धन त्रिकेन्द्रभाव के आधार पर 'आत्मा'-'पदं'-'पुनःपदम्'" इन तीन सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाभावों का उदय हो जाता है, जिनके आधार पर इन पाँचों दीर्घवृत्तों में प्रत्येक में मनोवाक्त्रयी प्रतिष्ठित मानी गई है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त का ही पारिभाषिक नाम है 'अण्ड'। अतएव दीर्घवृत्तात्मिका यह सृष्टि 'अण्डसृष्टि' नाम से ही उपवर्णित हुई है। 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-भूपिण्ड-चन्द्रमा' यह है विश्वसर्ग की क्रमधारा, जिस का मूल है स्वयम्भू, जो स्वयं कदापि कथमपि अण्डभाव में परिणत नहीं होता। अतएव जो 'विरजा'-परोरजा 'विश्वकर्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। वह लघुत्वात्मक स्वयम्भू इसीलिए एककेन्द्रानुगत बनता हुआ पूर्ण है। 'पूर्णमदः-पूर्णमिदम्'-'ऊर्ध्व-मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः'-'वियस्तस्तम्भ षळिमा रजांसि-अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' इत्यादि वचन इसी स्वयम्भूब्रह्म का यशोगान कर रहे हैं। यह लघुत्वाभ्याकारित, अतएव नियत एककेन्द्रसमन्वित अतएव ऊर्ध्वमूल, (केन्द्रमूल) परिपूर्ण स्वयम्भूब्रह्म ही वेदमूर्त्ति सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है जो अपने महानिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेद से सर्वप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिसका 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।८) इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। पूर्वोपवर्णित सर्वप्रतिष्ठासम्बन्ध से सर्व-सत्ताओं का, सम्पूर्ण अस्तिभावों का मूलभूत यह स्वयम्भूब्रह्म स्वयं-'असद्वा इदमग्र आसीत्' (शत० ६।१।१।१) रूप से 'असत्' ही माना गया है, जिसका अर्थ है विशुद्ध 'सत्तारूप ब्रह्म', जिसका निम्नलिखित शब्दों में दार्शनिक लोग अभिनय किया करते हैं —

> प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
> वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' संज्ञितम्॥
>
> —पञ्चदशी

(२३१)—जाया-धारा-आप-पक्षत्रयी—

आज हम विश्वस्वरूपलक्षणा सृष्टिदशा में जो-'इदमस्ति-अयं सूर्य्य, इयं पृथिवी, असौ चन्द्रमा' इत्यादिरूप से अंगुलीनिर्देशद्वारा जिन विश्वावयवों का, विश्वपदार्थों का-'अस्ति' रूप से अभिनय निर्देश-करते रहते हैं वह मूलसृष्टि-सृष्टिनिबन्धन 'अस्ति' भाव उस स्वयम्भूब्रह्म से सर्वथा असंस्पृष्ट ही था, और आज भी असंस्पृष्ट ही है। हमारा सोपाधिक-मूलसृष्टि-निबन्धन अस्तिभाव अव्यक्त स्वयम्भू से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध तत्सृष्टिमूलक षड्भावविकारों का वैकारिक-मैथुनसर्ग-से ही सम्बन्ध है, जिसका उपक्रमस्थान शुक्रमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी ही माने गए हैं। यहीं से 'जाया' बल के द्वारा 'जायते' यह प्रथम भावविकार प्रादुर्भूत होता है। अनन्तर ही अंगुलीनिर्देशानुप्राणित अस्ति'-'विप रिणमते' 'वर्द्धते' इत्यादि भावविकारों का सन्तानक्रम प्रक्रान्त हुआ करता है। 'अस्ति' मूलभूत विकारात्मक प्रजनन का प्रथमोपक्रम वह सुप्रसिद्ध 'जाया' बल ही है, जिसके सम्बन्ध से योषातत्त्व 'जायायां जायते' रूप से 'जाया' नाम से प्रसिद्ध है। 'धारा-जाया-आप' तीनों ही भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य आपः (मुवेद-सुब्रह्म

अथव) के सहजधर्म्म हैं, जिन का अयवब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में केवल तत्समर्थक वचन मात्र उद्धृत कर दिया जाता है—

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्य पृथक् स्वेदधारा प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्—आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा इदं सर्वं—आप्स्यामि यदिदं किञ्च। तस्माद्—'धारा' अभवन्। तद्धाराणां धाराच, यदासु ध्रियते। तस्माज्जाया अभवन्। तज्जायानां जायात्व, यदासु पुरुषो जायते। तस्मात्—'आपो' अभवन्। तदपां—अप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

(२३२)—पञ्चाण्डस्वरूपपरिचय—

पर्दु सहस्रोत्रा अव्यक्त स्वयम्भू के वागग्निभाग से भृग्वङ्गिरोमय 'आपः' तत्त्व उत्पन्न हुआ, जो आप 'अप्तमेव परमेष्ठी०' रूप से सर्वथा श्रुत है। इस प्रकार अपने वागग्निभाग से इसे उत्पन्न कर आगे चलकर तत्सृष्ट्वा नियमानुसार त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू तद्गर्भ में प्रविष्ट हो गया। इस सत्यवेद के गर्भप्रवेश से वह भृग्वङ्गिरोमयभाव 'मण्डल' रूप पिण्डभाव में परिणत हो गया। यही उस त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का 'मदेव-मन्मात्र' प्रथमावतार हुआ, जिसका स्वरूपसंस्थान बना पूर्वोक्त त्रिभावानुबन्ध से अण्डाकार। अतएव—'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत' (शत० ६।१।१।१०) इत्यादिरूप से त्रयीविद्यामूर्त्ति स्वयम्भु को स्वगर्भ में सुरक्षित रखने वाला आपोमण्डल 'अण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्राकृत नाम हुआ 'ब्रह्माण्ड' (स्वयम्भूब्रह्म का आपोमय पिन्दमान-सलिललक्षण-सपणशीप्त-प्रायमिक मण्डल)। यहीं से क्योंकि 'जायते' मूलक 'अस्ति' भाव का आरम्भ होता है। अतएव वैज्ञानिकों ने इस प्रथम ब्रह्माण्ड (पारमेष्ठ्य अण्ड) का प्रातिस्विक नामकरण किया—'अस्त्यण्ड'[1], जिसका—'तदभ्यसृजत्—'अस्तु' इति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। तदित्थं—स्वयम्भूब्रह्म से स्वयं स्वयम्भू के गर्भीभाव के कारण वेदाग्निगर्भित आपोमय जो अण्ड सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, वही अस्त्यण्ड' नामक प्रथम ब्रह्माण्ड कहलाया, जिसके गर्भ में आगे चलकर क्रमशः 'जायते' भावविकारलक्षण और 'हिरण्मयाण्ड'[2] नामक द्वितीयब्रह्माण्ड, 'वर्द्धते' भावविकारलक्षण 'पोषाण्ड'[3] नामक तृतीय सौम्यब्रह्माण्ड, 'विपरिणमते' भावविकारलक्षण 'यशोऽण्ड'[4] नामक चतुर्थ पार्थिव ब्रह्माण्ड, एवं 'अपक्षीयते' भावविकारलक्षण 'रेतोऽण्ड'[5] लक्षण पञ्चम चान्द्र ब्रह्माण्ड आविर्भूत हुआ। इस प्रकार एक ही स्वयम्भूब्रह्म परमेष्ठी[1]—सूर्य्य[2]—भूपिण्ड[3]-महिमपृथिवी[4]—चन्द्रमा[5]—इन पाँच विवर्तों से क्रमशः अस्त्यण्ड[1]—हिरण्मयाण्ड[2]—पोषाण्ड[3]—यशोऽण्ड[4]—रेतोऽण्ड[5], इन पञ्चाण्डभावों में परिणत होता हुआ विश्वस्वरूपसमर्पक बन गया, यही पञ्चब्रह्माण्डसमष्टिरूप स्वयम्भूब्रह्म 'विश्वकर्म्मा' कहलाया, एवं पाँचों ब्रह्माण्डों की समष्टि ही इस विश्वकर्म्मा का 'विश्व' कहलाया, जो विश्व 'विशत्यत्र—स्वयम्भूब्रह्म' निर्वचन से ही 'विश्व' नाम से घोषित हुआ।

जिस प्रकार भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह (सूर्य्य के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न) है, तथैव चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। यह हमारा नैगमिक सर्गक्रम ही है, जिसकी प्रतिच्छाया का विकृतरूप ही वर्त्तमान जड़विज्ञान के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। जैसाकि पूर्व में कहा गया है, यद्यपि सृष्टिमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू 'महाभूतादि वृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुदः' के अनुसार वृत्तौजा (वर्त्तुल-वृत्ताकार) ही है। किन्तु सर्गप्रवृत्तिदशा में मूल आत्मा के मनःप्राणवाक्-भावों के त्रिवृत्करण से सम्बन्धित क्रमशः-तपः-श्रम-नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों से 'दीर्घवृत्तौजा' बन जाता है। इस दीर्घवृत्तता के सम्बन्ध से ही स्वयम्भू, एवं तत्प्रतिमाभूत परमेष्ठी आदि शेष चारों वृत्तों में दीर्घवृत्त-निबन्धन त्रिकेन्द्रभाव के आधार पर 'आत्मा'-'पद'-'पुनःपदम्'* इन तीन सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाभावों का उदय हो जाता है, जिनके आधार पर इन पाँचों दीर्घवृत्तों में प्रत्येक में मनोताऽत्रयी प्रतिष्ठित मानी गई है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त का ही पारिभाषिक नाम है 'अण्ड'। अतएव दीर्घवृत्तात्मिका यह सृष्टि 'अण्डसृष्टि' नाम से ही उपवर्णित हुई है। 'स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-भूपिण्ड-चन्द्रमा' यह है विश्वसर्ग की क्रमधारा, जिस का मूल है स्वयम्भू, जो स्वयं कदापि कथमपि अण्डभाव में परिणत नहीं होता। अतएव जो 'विरजा'-परोरजा 'विश्वकर्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। वह 'सप्तात्मक स्वयम्भू इसीलिए एककेन्द्रानुगत बनता हुआ पूर्ण है। 'पूर्णमदः-पूर्णमिदम्'-'ऊर्ध्व-मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः'-'वियस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि-अजस्य रूपं किमपि स्विदेकम्' इत्यादि वचन इसी स्वयम्भूब्रह्म का यशोगान कर रहे हैं। यह 'सप्तकायकारित, अतएव नियत एककेन्द्रसमन्वित, अतएव ऊर्ध्वमूल, (केन्द्रमूल) परिपूर्ण स्वयम्भूब्रह्म ही वेदमूर्त्ति सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है, जो अपने ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेद से सर्वप्रतिष्ठ बना हुआ है, जिसका 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत॰ ६।१।१।८) इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। पूर्वोपवर्णित सप्तर्षिप्राणसम्बन्ध से सर्व-सत्ताओं का, सम्पूर्ण अस्तिभावों का मूलभूत यह स्वयम्भूब्रह्म स्वयं-'असद्वा इदमग्र आसीत्' (शत॰ ६।१।१।१) रूप से 'असत्' ही माना गया है, जिसका अर्थ है विशुद्ध 'सत्तारूप ब्रह्म', जिसका निम्नलिखित शब्दों में दार्शनिक लोग अभिनय किया करते हैं —

प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' संज्ञितम् ॥
—पञ्चदशी

(२३१)—जाया—धारा—आप'—त्रयी—

आज हम विश्वस्वरूपलक्षणा सृष्टिदशा में जो-'इदमस्ति-अयं सूर्य्यः, इयं पृथिवी, असौ चन्द्रमा' इत्यादिरूप से अंगुलीनिर्देशद्वारा जिन विश्वावयवों का, विश्वपदार्थों का-'अस्ति' रूप से अभिनय निर्देश-करते रहते हैं वह मूलदृष्टि-सृष्टिनिबन्धन 'अस्ति' भाव उस स्वयम्भूब्रह्म से सर्वथा असंस्पृष्ट ही था, और आज भी असंस्पृष्ट ही है। हमारा सोपाधिक-मूलदृष्टि-निबन्धन अस्तिभाव अव्यक्त स्वयम्भू से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध संसृष्टिमूलक षड्भावविकारों का मैथुनिक-मैथुनसर्ग-से ही सम्बन्ध है, जिसका उपक्रमस्थान शुक्रमूर्ति आपोमय परमेष्ठी ही माने गए हैं। यहीं से 'जाया' बल के द्वारा 'जायते' यह प्रथम भावविकार प्रादुर्भूत होता है। अनन्तर ही अंगुलीनिर्देशप्रमाणित 'अस्ति'-'विपरिणमते' 'वर्द्धते' इत्यादि भावविकारों का सन्तानक्रम प्रक्रान्त हुआ करता है। 'अस्ति' मूलभूत विकारात्मक प्रजनन का प्रथमोपक्रम वह सुप्रसिद्ध 'जाया' बल ही है, जिसके सम्बन्ध से योषातत्त्व 'जायायां जायते' रूप से 'जाया' नाम से प्रसिद्ध है। 'धारा-जाया-आप' तीनों ही भार्गवाङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य आपः (कुबेर-धनम

अथर्व) के सद्ब्रह्म हैं, जिन का गोपथब्राह्मण में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिन की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में केवल तत्समर्थक वचन मात्र उद्धृत कर दिया जाता है—

स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्— आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा इदं सर्वं–आप्स्यामि यदिदं किञ्च। तस्माद्–'धारा' अभवन्। तद्धाराणां धारात्त्वं, यच्चासु ध्रियते। तस्माज्जाया अभवन्। तज्जायानां जायात्त्वं, यच्चासु पुरुषो जायते। तस्मात्–'आपो' अभवन्। तदपां–अप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, यान् कामयते।

—गोपथब्राह्मण पू० १।२।

(२३२)–पञ्चाण्डस्वरूपपरिचय—

वर्त्तमानरोदसी अव्यक्त स्वयम्भू के वागग्निभाग से भृग्वङ्गिरोमय 'आपः' तत्त्व उत्पन्न हुआ, जो आप 'असमेव परमेष्ठी०' रूप से सर्वथा स्मृत है। इस प्रकार अपने वागग्निभाग से इसे उत्पन्न कर आगे चलकर तत्सृष्ट्वा नियमानुसार त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू तद्गर्भ में प्रविष्ट हो गया। इस सत्यवेद के गर्भप्रवेश से वह भृग्वङ्गिरोमयभाव 'मण्डल' रूप पिण्डभाव में परिणत हो गया। यही उस त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म का 'सवेद–सन्मात्र' प्रथमावतार हुआ, जिसका स्वरूपसंस्थान बना पूर्वोक्त त्रिभावानुबन्ध से अण्डाकार। अतएव–'सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत' (शत० ६।१।१।१०) इत्यादिरूप से त्रयीविद्यामूर्त्ति स्वयम्भू को स्वगर्भ में सुरक्षित रखने वाला आपोमण्डल 'अण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका प्राकृत नाम हुआ 'ब्रह्माण्ड' (स्वयम्भूब्रह्म का आपोमय पिन्दमान–सलिललक्षण–स्वयम्भूपिण्ड–प्राथमिक मण्डल)। यहीं से क्योंकि 'जायते' मूलक 'अस्ति' भाव का आरम्भ होता है। अतएव वैज्ञानिकों ने इस प्रथम ब्रह्माण्ड (पारमेष्ठ्य अण्ड) का प्रातिस्विक नामकरण किया—'अस्त्यण्ड'[१], जिसका–'तदभ्यभूरात्–'अस्तु' इति' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। तदित्थं–स्वयम्भूब्रह्म से स्वयं स्वयम्भू के गर्भीभाव के कारण वेदाग्निगर्भित आपोमय जो अण्ड सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ, वही अस्त्यण्ड नामक प्रथम ब्रह्माण्ड कहलाया, जिसके गर्भ में आगे चलकर क्रमशः 'जायते' भावविकारलक्षण और 'हिरण्मयाण्ड'[२] नामक द्वितीयब्रह्माण्ड, 'वर्द्धते' भावविकारलक्षण 'पोषाण्ड'[३] नामक तृतीय भौमब्रह्माण्ड, 'विपरिणमते' भावविकारलक्षण 'यशोऽण्ड'[४] नामक चतुर्थ पार्थिव ब्रह्माण्ड, एवं 'अपक्षीयते' भावविकारलक्षण 'रेतोऽण्ड'[५] लक्षण पञ्चम चान्द्र ब्रह्माण्ड आविर्भूत हुआ। इस प्रकार एक ही स्वयम्भूब्रह्म परमेष्ठी[१]–सूर्य्य[२]–भूपिण्ड[३]–महिमपृथिवी[४]–चन्द्रमा[५]–इन पाँच विवर्त्तों से क्रमशः अस्त्यण्ड[१]–हिरण्मयाण्ड[२]–पोषाण्ड[३]–यशोऽण्ड[४]–रेतोऽण्ड[५], इन पञ्चाण्डभावों में परिणत होता हुआ विश्वस्वरूपसमर्पक बन गया, यही पञ्चब्रह्माण्डसमष्टिरूप स्वयम्भूब्रह्म 'विश्वकर्म्मा' कहलाया, एवं पाँचों ब्रह्माण्डों की समष्टि ही इस विश्वकर्म्मा का 'विश्व' कहलाया, जो विश्व 'विशत्स्वत्र–स्वयम्भूब्रह्म' निर्वचन से ही 'विश्व' नाम से घोषित हुआ।

जिस प्रकार भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह (सूर्य के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न) है, तथैव चन्द्रमा भूपिण्ड का उपग्रह माना गया है। यह हमारा नैगमिक सर्गक्रम ही है, जिसकी प्रतिच्छाया का विकृतरूप ही वर्त्तमान नक्षविज्ञान के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। जैसाकि पूर्व में कहा गया है, यद्यपि सृष्टिमूलभूत अव्यक्त स्वयम्भू 'महाभूतादि वृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुदः' के अनुसार वृत्तौजा (वर्त्तुल–वृत्ताकार) ही है। किन्तु सर्गप्रवृत्तिदशा में मूल आत्मा के मनःप्राणवाक्–भावों के त्रिवृत्करण से समन्वित कामः–तपः–श्रम–नामक सृष्टि का सामान्य अनुबन्धों से 'दीर्घवृत्तौजा' बन जाता है। इस दीर्घवृत्तता के सम्बन्ध से ही स्वयम्भू, एवं तदुपविभाभूत परमेष्ठी आदि शेष चारों वृत्तों में दीर्घवृत्त–निबन्धन त्रिकेन्द्रभाव के आधार पर 'आत्मा'–पद'–पुनःपदम्' इन तीन सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाभावों का उदय हो जाता है, जिनके आधार पर इन पाँचों दीर्घवृत्तों में प्रत्येक में मनोताचयी प्रतिष्ठित मानी गई है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त का ही पारिभाषिक नाम है 'अश्व'। अतएव दीर्घवृत्तात्मिका यह सृष्टि 'अश्वसृष्टि' नाम से ही उपवर्णित हुई है। 'स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–भूपिण्ड–चन्द्रमा' यह है विश्वकर्मा की क्रमधारा, जिस का मूल है स्वयम्भू, जो स्वयं कदापि कथमपि अश्वभाव में परिणत नहीं होता। अतएव जो 'विरजा'–परोरजा 'विश्वकर्मा' आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ है। वृत्तलक्षणात्मक स्वयम्भू इसीलिए एककेन्द्रानुगत बनता हुआ पूर्ण है। 'पूर्णमदः–पूर्णमिदम्'–'ऊर्ध्व-मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातनः'–'वियस्तस्तम्भ पञ्चिमा रजांसि–अजस्य रूप किमपि स्विदेकम्' इत्यादि वचन इसी स्वयम्भूब्रह्म का यशोगान कर रहे हैं। वृत्तलक्षणाकाराकारित, अतएव निश्चत एककेन्द्रसमन्वित, अतएव ऊर्ध्वमूल, (केन्द्रमूल) परिपूर्ण स्वयम्भूब्रह्म ही वेदमूर्त्ति सत्यपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति है जो अपने ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेद से सर्वप्रतिष्ठा बना हुआ है, जिसका 'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' (शत० ६।१।१।८) इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है। पूर्वोपवर्णित सत्वप्रिमाणसम्बन्ध से सर्व-सत्ताओं का, सम्पूर्ण अस्तिभावों का मूलभूत यह स्वयम्भूब्रह्म स्वयं–'असद्वा इदमग्र आसीत्' (शत० ६।१।१।१) रूप से 'असद्' ही माना गया है, जिसका अर्थ है विशुद्ध 'सत्तारूप ब्रह्म', जिसका निम्नलिखित शब्दों में दार्शनिक लोग अभिनय किया करते हैं —

प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं 'ब्रह्म' संज्ञितम्॥
—पञ्चदशी

(२३१)–जाया–धारा–आप–शब्दत्रयी—

आज हम विश्वस्वरूपलक्षणा सृष्टिदशा में जो–'इदमस्ति–अयं सूर्य्य, इयं पृथिवी, असौ चन्द्रमा' इत्यादिरूप से अंगुलीनिर्देशद्वारा जिन विश्वावयवों का, विश्वपदार्थों का–'अस्ति' रूप से अभिनय-निर्देश–करते रहते हैं वह भूतदृष्टि–सृष्टिनिबन्धन 'अस्ति' भाव उस स्वयम्भूब्रह्म से सर्वथा असंस्पृष्ट ही था और आज भी असंस्पृष्ट ही है। हमारा सोपाधिक–भूतदृष्टि–निबन्धन अस्तिभाव अव्यक्त स्वयम्भू से कोई सम्बन्ध नहीं रख रहा। सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध संसृष्टिमूलक षड्भावविकारों का वैकारिक–मैथुनकर्म–से ही सम्बन्ध है, जिसका उपक्रमस्थान शुक्रमूर्त्ति आपोमय परमेष्ठी ही माने गए हैं। यहीं से 'जाया' शब्द के द्वारा 'जायते' यह प्रथम भावविकार प्रादुर्भूत होता है। अनन्तर ही अंगुलीनिर्देशानुप्राणित 'अस्ति'–'विप-रिणमते' 'वर्द्धते' इत्यादि भावविकारों का सन्तानक्रम प्रक्रान्त हुआ करता है। 'अस्ति' मूलभूत विकारात्मक प्रजनन का प्रथमोपक्रम वह सुप्रसिद्ध 'जाया' शब्द ही है, जिसके सम्बन्ध से योषावस्तु 'जायाया जायते' रूप से 'जाया' नाम से प्रसिद्ध है। 'धारा–जाया–आप' तीनों ही भृग्वङ्गिरोमय पारमेष्ठ्य आपः (भृग्वेद–सुब्रह्म

(२३३)—दर्शपूर्णमासानुगत अण्डवृत्त—

अग्निचयनरहस्यस्वरूपविश्लेषिका शातपथी श्रुति के विश्वस्वरूपमीमांसानुगत अण्डसृष्टिप्रकरण में यद्यपि साक्षात्‌रूप से और 'हिरण्मयाण्ड' नामक पूसर अण्ड का उल्लेख नहीं है। यहाँ केवल अस्त्वण्ड—पोशाण्ड—यशोऽण्ड—रेतोऽण्ड, इन चार अण्डों का ही क्रमिक स्वरूपविश्लेषण हुआ है। तथापि इस अण्डसृष्टिप्रकरण में क्योंकि 'अस्त्वण्ड' रूप पारमेष्ठ्य अण्ड के अनन्तर ही-'अप्स्वेष प्रथममसृज्यत अग्न्येव विद्या। मुखं ह्येतदग्नेर्यदृग्मह' (शत० ६।१।१।१०) इत्यादिरूप से गायत्रीमात्रिकवेदलक्षण घोरपुरुषाग्नि का क्रमिक निरूपण हुआ है, जो कि निश्चयेन क्रमसिद्ध हिरण्मयाण्ड ही है। अतएव हमनें समन्वयदृष्ट्या अस्त्वण्ड के अनन्तर, *तथा पोशाण्ड के पूर्व अनुक्त भी और अगत् का 'हिरण्मयाण्ड' नाम से समावेश मान लिया है।* अवश्य ही यहाँ हिरण्मयाण्ड अनुक्त है, किन्तु अन्यत्र इसका इसी क्रम से समावेश हुआ है। केवल प्रमाणमात्रकाङ्क्षियों को शतपथ के एकादशकाण्ड में प्रतिपादित 'दर्शपूर्णमासनिशान' ब्राह्मण का ही अवलोकन करना चाहिए, *जहाँ विस्पष्ट शब्दों में आपोमय परमेष्ठी के अनन्तर ही आपोमय समुद्र के गर्भ में सम्वत्सराधिष्ठाता 'हिरण्मयाण्ड' सर्ग का विस्तार से विश्लेषण हुआ है।* निदर्शन निम्नलिखित ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा—

आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास (सरित्–इरा–इति सलिलम्–द्रवभावापन्ना–आप–एव सरिरा–सलिला–तदेव सलिलम्)। ता अकामयन्त, कथ नु प्रजायेमहीति, ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु–'हिरण्मयाण्ड'–सम्बभूव। अजातो ह तर्हि सम्वत्सर आस। तदिदं हिरण्मयाण्डं यावत्सम्वत्सरस्य वेला (इदानीम्), तावत् पर्य्यप्लवत। ततः सम्वत्सरे * (दिव्यवर्षसहस्रावधि–अनन्तर) पुरुष (सूर्य्यपिण्डात्मक) समभवत्। स प्रजापति (सौरहिरण्यगर्भप्रजापति) अजायत।

—शतपथ ब्रा० ११।१।६।१,२,।

---

* अण्डात्मक पिण्डों के निर्माण में कितना समय लगा ?, इस प्रश्न का समाधान कालानुगत एकमात्र यह 'सम्वत्सर' शब्द ही है, जिसका शास्त्रकारोंनें सर्गस्वरूपभेदतारतम्य से विभाजी माना है। एक बिन्दु से आरम्भ कर पुनः उसी बिन्दु पर परिभ्रममाण चक्र का आ जाना ही सम्वत्सरकाल का पारिभाषिक समन्वय है। अपने अक्षपरिभ्रमण के अनुपात से भूपिण्डानुगत दैनंदिनगतिलक्षण परिभ्रमण चतुर्विंशतिहोरात्मक (२४ घण्टों) में हो जाता है। अतः भूपिण्डदृष्ट्या एक अहोरात्र भी एक सम्वत्सर मान लिया जायगा। अमुक महर्षि ने ३६ ०० वर्ष तप किया, इसका अर्थ होगा ३६००० दिन, अर्थात् सौ वर्ष, अर्थात् यावज्जीवन। ब्राह्मणग्रन्थों के सुप्रसिद्ध 'दीर्घसत्र' नामक सहस्रसम्वत्सर (एक हजार वर्षात्मक यज्ञ) के सम्बन्ध में भगवान् जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में इसी पार्थिवस्वाक्षपरिभ्रमणनिबन्धन एक अहोरात्रात्मक वर्ष के अनुपात से यहाँ 'वर्ष' से 'अहः' का ग्रहण करते हुए-'अहर्वाविषस्थानात्' सिद्धान्त ही स्थापित किया है, जिसका निष्कर्षार्थ होता है केवल एक हजार दिन। चान्द्रकक्षा हमारे (पार्थिव) ३० दिन के (?) उस समय से अनुप्राणित है। अतः वह पितरों का एक अहोरात्र हमारा एक मास माना गया है, जो चक्रानुपात से वर्ष भी है। अत-

(शेष पृष्ठ ३० पर देखिए)

पञ्चाण्डसर्गस्वरूपपरिलेखः—

(२३३)-दर्शपूर्णमासानुगत अण्डवृत्त—

अग्निचयनरहस्यस्वरूपविश्लेषिका शतपथी श्रुति के विश्वस्वरूपमीमांसानुगत अण्डसृष्टिप्रकरण में यद्यपि साक्षात्‌रूप से सौर 'हिरण्मयाण्ड' नामक दूसरे अण्ड का उल्लेख नहीं है। यहाँ केवल अस्त्वण्ड—पोषाण्ड—यशोऽण्ड—रेतोऽण्ड, इन चार अण्डों का ही क्रमिक स्वरूपविश्लेषण हुआ है। तथापि इस अण्डसृष्टिप्रकरण में क्योंकि 'अस्त्वण्ड' रूप पारमेष्ठ्य अण्ड के अनन्तर ही-'ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत-त्रय्येव विद्या। मुखं ह्येतदग्नेर्यद्ब्रह्म' (शत० ६।१।१।१०) इत्यादिरूप से गायत्रीमात्रिकवेदलक्षण सौरपुरुषाग्नि का क्रमिक निरूपण हुआ है, जो कि निश्चयेन क्रमसिद्ध हिरण्मयाण्ड ही है। अतएव हमनें समन्वयदृष्ट्या अस्त्वण्ड के अनन्तर, तथा पोषाण्ड के पूर्व अनुक्त भी सौर जगत् का 'हिरण्मयाण्ड' नाम से समावेश मान लिया है। अवश्य ही यहाँ हिरण्मयाण्ड अनुक्त है, किन्तु अन्यत्र इसका इसी क्रम से समावेश हुआ है। केवल प्रमाणमात्राभिज्ञों को शतपथ के एकादशकाण्ड में प्रतिपादित 'दर्शपूर्णमासनिदान' ब्राह्मण का ही अवलोकन करना चाहिए, जहाँ विस्पष्ट शब्दों में आपोमय परमेष्ठी के अनन्तर ही आपोमय समुद्र के गर्भ में सम्वत्सराधिष्ठाता 'हिरण्मयाण्ड' सर्ग का विस्तार से विश्लेषण हुआ है। निदर्शन निम्नलिखित ही पर्याप्त मान लिया जायगा—

आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास (सरित्-इरा-इति सलिलम्-प्रथमावापन्ना-आप-एव सरिरा-सलिला-तदेव सलिलम्)। ता अकामयन्त, कथं नु प्रजायेमहीति, ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु-'हिरण्मयाण्ड'-सम्बभूव। अजातो ह तर्हि सम्वत्सर आस। तदिदं हिरण्मयाण्डं यावत्सम्वत्सरस्य वेला (इदानीम्), तावत् पर्य्यप्लवत। ततः सम्वत्सरे * (दिव्यवर्षसहस्रावधि-अनन्तरं) पुरुष (सूर्य्य-पिण्डात्मकः) समभवत्। स प्रजापति (सौरहिरण्यगर्भप्रजापति) अजायत।

—शतपथ ब्रा० ११।१।६।१,२,।

---

* अण्डात्मक पिण्डों के निर्माण में कितना समय लगा?, इस प्रश्न का समाधान कालानुगत एकमात्र यह 'सम्वत्सर' शब्द ही है, जिसको शास्त्रकारोंनें सर्गस्वरूपभेदतारतम्य से विभाजी माना है। एक बिन्दु से आरम्भ कर पुनः उसी बिन्दु पर परिभ्रममाण चक्र का आ जाना ही सम्वत्सरकाल का पारिभाषिक समन्वय है। अपने अक्षपरिभ्रमण के अनुपात से भूपिण्डानुगत दैनदिनगतिलक्षण परिभ्रमण चतुर्विंशतिहोराकाल (२४ घण्टों) में हो जाता है। अतः भूपिण्डदृष्ट्या एक अहोरात्र भी एक सम्वत्सर मान लिया जायगा। अमुक महर्षि ने ३६ ०० सर्ग तप किया, इसका अर्थ होगा ३६००० दिन, अर्थात् सौ वर्ष, अर्थात् यावज्जीवन। ब्राह्मणग्रन्थों के सुप्रसिद्ध 'दीर्घसत्र' नामक सहस्रसम्वत्सर (एक हजार वर्षात्मक यज्ञ) के सम्बन्ध में भगवान् जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में इसी पार्थिवस्वाक्षपरिभ्रमणानिबन्धन एक अहोरात्रात्मक वर्ष के अनुपात से वहाँ 'वर्ष' से 'अहः' का संग्रह करते हुए-'अहानि वा अभिसंख्यत्वात्' सिद्धान्त ही स्थापित किया है, जिसका निष्कर्षार्थ होता है केवल एक हजार दिन। चान्द्रकक्षा हमारे (पार्थिव) २७ दिन तथा कुछ समय से अनुप्राणित है। अतः वह पितरों का एक अहोरात्र हमारा एक मास माना गया है, जो चक्रानुपात से सत्य भी है। और

(शेष पृष्ठ ३० पर देखिए)

(२३४)–भावविकारानुगत ग्रपञ्चवृत्त—

षड्भावविकारों में से ग्रस्ति[१]–जायते[२]–वर्द्धते[३]–विपरिणमते[४]–ग्रपक्षीयते[५], इन पाँचों का क्रमिक सम्बन्ध पाँचों प्रपञ्चविवर्त्तों के साथ बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में भी एक विशेषता का समन्वय कर लेना प्रासङ्गिक बन जाता है। प्राकृतिक महासर्गात्मक विश्वपर्वसर्गों में प्रथम 'ग्रस्ति' है, ग्रनन्तर 'जायते' है। सत्तापूर्विका भाति ही ग्रस्ति, ग्रौर जायते का तात्पर्य्य है। सत्तापूर्वक ज्ञान, ज्ञानपूर्विका सत्ता, ये सुप्रसिद्ध दो दार्शनिक दृष्टिकोण हैं। प्रश्न है कि, वस्तुग्रों की स्वरूपसत्ता है, इसलिए हम उन्हें जानते हैं ?, ग्रथवा तो हम वस्तुस्वरूप जानते हैं, इसलिए वे हैं ? । ग्रन्तर्जगत्–बहिर्जगत् भेद से दोनों प्रश्न समाहित हैं। ईश्वरीय जगत्–रूप ग्राधिदैविक जगत् की दृष्टि से सत्तापूर्विका ही भाति है, सत्तापूर्वक ही ज्ञान है। ग्रतएव तद्रूप बहिर्जगत् की दृष्टि से हमें–'वह है, इसलिए हम उसे जानते हैं', इस 'सत्तापूर्वक ज्ञान' को ही प्रधानता देनी पड़ेगी। जैवजगत्‌रूप–ग्राध्यात्मिक जगत् की दृष्टि से भातिपूर्विका ही सत्ता है, ज्ञानपूर्वक ही सत्ता है। ग्रतएव तद्रूप ग्रन्तर्जगत् की दृष्टि से हमें 'हम जानते हैं, इसलिए वह है' इस 'ज्ञानपूर्विका-सत्ता' को ही प्रधानता देनी पड़ेगी, जिसके ग्राधार पर वैदिकदर्शनशास्त्रियों का सुप्रसिद्ध–'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्'+ नामक सिद्धान्त प्रतिष्ठित है, जिसका निष्कर्ष यही है कि, हमें जो कुछ भी (परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-चर–ग्रचर–ग्रादि) प्रतीत हो रहे हैं उन सब का निर्म्माण हमारे प्रज्ञानमन से हो हुग्रा है। हमारे ही ज्ञान ने सम्पूर्ण भातियों–प्रतीतियों का स्वरूपनिर्म्माण किया है, जैसा कि 'ग्रहं मनुरभवम्–ग्रहं सूर्य्यं इवाजनि०' इत्यादि सिद्धान्तों से प्रमाणित है। 'है' इसलिए 'उत्पन्न' होता है, जो उत्पन्न वस्तुजात भाति-प्रतीति का कारण बनता है, इस ईश्वरीय दृष्टिकोण के ग्रनुसार भावविकारों का–'ग्रस्ति–जायते–वर्द्धते०' इत्यादि क्रम माना जायगा। 'जानते हैं' इसलिए है, उत्पन्न हो गया–इसलिए है, इस जैव दृष्टिकोण के माध्यम से भावविकारों का–'जायते–ग्रस्ति–वर्द्धते०' इत्यादि क्रम माना जायगा, जो कि क्रम नैगमिक। विज्ञानव्यास्या से सर्वथा शून्य-शून्य दर्शनाभासलक्षणा ग्राचारमीमांसाबहिष्कृत, ग्रतएव सर्वात्मना ग्रनुपादेय-उपेक्षणीय वर्त्तमान दार्शनिक सम्प्रदाय में माना जा रहा है।

(पृष्ठ ३३६ का शेष)

सम्वत्सरवेला का योग ३६५ ग्रहोरात्र, तथा कुछ समय से ग्रनुप्राणित है। ग्रतएव यह देवताग्रों का एक ग्रहोरात्र, हमारा एक वर्ष माना गया है, जो सौरानुपात से वर्ष भी है। ऐसे देवताग्रों के एक ग्रहोरात्र के ३० तीस विभागों की समष्टि एक देवमास (ग्रर्थात् हमारे सौर ३ वर्षों का देवताग्रों का एक मास), ऐसे बारह देवमासों की समष्टि देवताग्रों का एक वर्ष, ऐसे १ वर्षों की समष्टि पारमेष्ठ्य पितरों का एक ग्रहः, ग्रौर यही पारमेष्ठ्य ग्रहःरूप सम्वत्सरसौरपिण्डनिर्म्माण की ग्रवधि है, जो मानवकालानुपात से ग्रर्बों-खर्बों पर ठहरती है। यही व्यवस्था पृथिवी–चन्द्रमा ग्रादि के स्वरूपनिर्म्माण के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। माण्ड विज्ञान तृतीय खण्ड में, तथा प्रथम खण्ड में सर्वविध ग्रहोरात्रों की स्वरूपव्याख्या प्रतिपादित है। विशेष जिज्ञासुग्रों को तन्निबन्ध ही देखने चाहिए।

+ इस वैदिक दृष्टिकोण का निरूपण खण्डद्वयात्मक 'हमारे संशय, ग्रौर उनका निराकरण' नामक 'संशयतदुच्छेदवाद' ग्रन्थ में 'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' नामक ग्रवान्तर प्रकरण में द्रष्टव्य है।

(२३५)—भावविकारों के साथ अण्डस्वरूपसमतुलन—

क्या मूल है भावविकारों का अण्डसर्गों के साथ समन्वय बतलाने में ?, प्रश्न की मीमांसा का उत्तर दायित्व हम पाठकों की प्रज्ञा पर ही छोड़ते हैं । अब वे स्वयं श्रौत सर्गमीमांसा का क्रमिक अवलोकन करेंगे, तो एवंविध सामान्य प्रश्नाभास स्वतः ही समाहित हो जायँगे । अभी अपना कुतूहल उपशान्त करने के लिए इतना जान लेना ही पर्य्याप्त होगा कि, श्रुति का 'अस्त्विति' भाव ही+ 'अस्ति' इस प्रथम भावविकार का मूल है । 'सर्वस्याग्रमसृज्यत' वचन ही 'जायते' इस द्वितीय भावविकार का मूल है, जिसका 'भूतस्य जात पतिरेक आसीत्' इत्यादि हिरण्यगर्भप्रजापतिप्रतिपादक मन्त्र से भी समर्थन हुआ है । मन्त्रोपात्त 'जात ' 'जायते' का स्पष्ट ही संग्रह कर रहा है । 'इयं वै पृथिवी पूषा—पुष्टिर्वै पूषा-तस्मात्पशुरात्-पुष्टस्तु-इति'' इत्यादि वचन तीसरे पोषणात्मक 'वर्द्धते' भावविकार का मूल प्रमाणित हो रहा है । पार्थिव महिम मण्डलरूप सम्वत्सरचक्र अपने सहज परिभ्रमण से प्रतिक्षण विपरिणामी है । अतएव 'तद् भूमिं व्यवर्त्तयत्' इत्यादि पार्थिव परिभ्रमणप्रतिपादक श्रौतवचनानुसार चौथे 'विपरिणमते' भावविकार का संग्रह हो रहा है । 'अपक्षयभाजो वै पितरः—चन्द्रमा पितरः-मन इव हि पितरः' इत्यादि श्रौतवचन पाँचवें 'अपक्षीयते' नामक भावविकार के संग्राहक बने हुए हैं । और इस प्रकार पाँचों भावविकार पाँचों अण्डों से समतुलित हो रहे हैं, जिन पाँचों अण्डों की मूलप्रतिष्ठा प्रमाणित स्वस्ति अपौरुषयवेदमूर्त्ति स्वयम्भूब्रह्म माने गए हैं ।

पारमेष्ठ्य अप्स्वण्ड, सौर हिरण्मयाण्ड, भाम पोषाण्ड, इन अण्डों के स्वरूप का पूर्व की गोपथ-श्रुति के द्वारा, तथा चयनप्रकरणान्तर्गत षष्ठ काण्ड के प्रथम ब्राह्मण के द्वारा संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा गया । अब शेष रह गए भूमहिमारूप यशोऽण्ड, तथा चन्द्रमारूप रेतोऽण्ड, ये दो अण्डसर्ग । इनका स्वरूप क्यों निष्पन्न हुआ ?, दो शब्दों में शातपथीश्रुति के आधार पर इन दोनों का भी संक्षिप्त स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लेना चाहिए । स्वयम्भू के वागग्नि से आपोमय भृग्वङ्गिरोलक्षण परमेष्ठीरूप अप्स्वण्ड का आविर्भाव हुआ । इसके आप भाग के अग्नि, तथा मरीचि नामक आपः के समन्वय से सौरसंस्थारूप हिरण्मयाण्ड का सर्जन हुआ । इसके आन्तरिक्ष्य अग्नि से संद्वारित आप की घनता के द्वारा वायुसहयोग से महावयव भूपिण्डात्मक पोषाण्ड का स्वरूपनिर्माण हुआ, जिसके गर्भ में—'यथाग्निगर्भा पृथिवी' इस मन्त्र-श्रुति के अनुसार गर्भ में अग्नितत्त्व प्रतिष्ठित है, एवं अग्निगर्भा वो भूपिण्ड 'अर्णवसमुद्र' नामक 'मर नामक आपः' के गर्भ में समाविष्ट रहता हुआ कालान्तर में भूपिण्ड का इसके महिमामण्डल के माध्यम से इस 'सागराम्बरा' उपाधि से समलंकृत करने वाला है । पार्थिवमण्डलक्षण भूपिण्ड के इसी अग्न्यापोमय स्वरूप को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाते हुए ही हमें पार्थिव यशोऽण्ड, एवं चान्द्ररेतोऽण्ड, दोनों का स्वरूपसमन्वय करना है ।

महावयवभूपिण्ड का उत्पन्न कर अपने इस पोषाण्ड के आधार पर तद्गर्भीभूत हृदयस्थ पार्थिव प्रजापति ने आगे जाकर यह कामना की कि, 'मेरे गर्भ में पिण्डस्वरूपसम्पादक चित्य—चर—अग्नि का आधार भूत जो चितेनिधेय—प्राणरूप—प्राणाग्नि है उससे 'वायु' उत्पन्न हो, इस वायु से अन्तर्यामसम्बन्ध प्राणात्मक आदित्य का आविर्भाव हो, एवं इस प्रकार प्राणाग्नि—प्राणवायु—प्राणादित्यरूप देवसमष्टि से मैं पार्थिव महिमा-मण्डलस्वरूप में परिणत होता हुआ 'यशोऽण्ड' रूप में परिणत हो जाऊँ'' । तथैवाभून् । तथैव समभवत प्रजापतिः । ततो यशोऽण्डसर्गः समभवत ।

(२३५)—भूपिण्ड, और पृथिवी—

भूपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित प्राणाग्नि का हृत्-दम्-यम्-लक्षण हृत्प्रविष्ठ ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-मूर्ति अन्तर्यामी के प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्मा के आधार पर आगति-गतिरूप-इन्द्राविष्णु की प्रतिस्पर्द्धा से तथाकथित पार्थिव आप के आधार पर ऊर्ध्व वितान होता है, जिस वितान को सांकेतिक भाषा में 'प्रथन' कर्म कहा गया है, जिसका लौकिक अर्थ है—'फैलाव-विस्तार'। इस प्रथनभाव के कारण ही यह विवर्त्त भौमाग्निमण्डल 'यदप्रथयत तस्मात् पृथिवी' इत्यादि नैगमिक निर्वचन के अनुसार 'पृथिवी' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। जिस प्रकार किसी महामानव की महिमा ही उसका 'यश' कहलाता है, तथैव यह महिमामण्डल भौमप्रजापति का क्योंकि यश-स्थानीय ही है। अतएव इसे वैज्ञानिकों ने 'यशोऽण्ड' नाम से व्यवहृत किया है। 'इन्द्रश्च विष्णू यदप-स्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्' के अनुसार यह पार्थिववितानलक्षण प्रथनभाव स्तोमभेद से तीन संस्थाओं में विभक्त हो जाता है। त्रिवृत-पञ्चदश,-एकविंश, इन तीन स्तोमों से अनुप्राणित पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-नामक तीन पार्थिव लोकों में अग्नि के क्रमशः अग्नि (घनाग्नि)-वायु-(तर० ाग्नि) आदित्य (विरलाग्नि), ये तीन स्वरूप व्याप्त हो जाते हैं, यही भौम अग्नि का त्रिधा वितान है, जिसका स्वरूपविश्लेषण पूर्व में 'वैश्वानर' स्वरूप के प्रसङ्ग में भी किया जा चुका है, एवं पूर्व परिच्छेदों में वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञरूपक सर्वज्ञ जीवात्मा के स्वरूपप्रसङ्ग में भी विश्लेषण किया जा चुका है। भूकेन्द्र से २१वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त ९-१५-२१ स्तोमात्मक पृ० अ० द्यौ-इन तीनों लोकों में प्रतिष्ठित अग्नि-वायु-आदित्य की समष्टिरूपा महिमालक्षणा यह पृथिवी ही भूपिण्ड का वह यशोऽण्ड है, जिसके अन्त में आदित्य प्रतिष्ठित है, अतएव 'आदित्यो वै यशः' रूप से अन्त के आदित्यसम्बन्ध से भी इस मण्डलमात्र को 'यशोऽण्ड' कहना अन्वर्थ बन जाता है।

(२३६)—युग्म-अयुग्म-स्तोमस्वरूपपरिचय—

'कि तत् सहस्रमिति? इमे लोका इमे वेदा, अथो वागिति ब्रूयात्' इत्यादि पूरकश्रुतियुक्त वाक्-तत्त्व के साथ ही उस सुप्रसिद्ध 'वाक्षट्कारस्पा' 'वषट्कारविधा' का सम्बन्ध है, जिसके आधार पर अयुग्म-स्तोम-युग्मस्तोम, रूप से पार्थिव महिमामण्डल का द्विधा विभाजन हुआ करता है। त्रिवृत्'-पञ्चदश'-एक-विंश'- त्रिणव'-त्रयस्त्रिंश -चतुर्विंश' (९-१५-२१-२७-३३-३४) ये अयुग्मस्तोम हैं, इन्हीं वाङ्मय षट्स्तोमों से वाङ्मय विवर्त्त 'वषट्कार' (वाक् का षट्कार) कहलाता है। गायत्रीछन्द से छन्दित गायत्र चतुर्विंश स्तोम. त्रिष्टुप्छन्द से छन्दित त्रैष्टुभ चतुश्चत्वारिंशस्तोम, एवं जगतीछन्द से छन्दित जागत अष्टाचत्वारिंश-, स्तोम, (२४-४४-४८ स्तोम) इन तीन स्तोमों की समाष्टि ही युग्मस्तोम कहलाए हैं, जो छन्दःसम्बन्ध से 'छन्दोमास्तोम' नाम से व्यवहृत हुए हैं, एवं जिनके आधार पर प्रतिष्ठित पैप [छन्दोमायन से शतायुर्मानव की आयु में ४८ वर्ष की वृद्धि हो जाया करती है। तात्पर्य, पार्थिवतत्त्वों के वितान की अन्तिम सीमा ४८वां अहर्गण माना गया है, जो अन्तिम पृष्ठ 'नाकपृष्ठ'-'पारावतपृष्ठ' आदि पारिभाषिक नामों से व्यवहृत हुआ है। २१ पर्य्यन्त अग्नि, २७ पर्य्यन्त पार्थिव भास्वर सोम, ३३ पर्य्यन्त दिक्सोम, इस प्रकार ३३ पर्य्यन्त व्याप्त अयुग्मस्तोमों में पार्थिव अग्नीषोम विकास पाते हैं, जो एक स्वतन्त्र पार्थिवमण्डल है। ३४वां स्तोम अग्नीषोमसमष्ट्यात्मक प्राजापत्यस्तोम है, जिसे 'सर्वस्तोम' भी कहा गया है। इसी के लिए—'चतुस्त्रिंशः प्रजापतिः' यह निगमवचन प्रतिष्ठित है। और यही अग्नि, सोम, नामक इन भावों का अयुग्मस्तोमानुगत—

वान्ध्यष्टयानलच्चणा–स्वतन्त्र पार्थिव विवर्त्त है, जिसमें महाविश्वानुगता त्रैलोक्यत्रिलाकी का उपभोग सुसमन्वित हो रहा है, जो पार्थिव स्वरूप से सम्बन्धित एक बड़ा ही रहस्यपूर्ण विषय है। दुर्भाग्य है यह इस राष्ट्र का कि, अपनी मौलिक निगमरहस्यपरम्परा को विस्तृत कर आज इसने अपना सर्वस्व विस्मृत कर दिया है, जिसके फलस्वरूप वर्त्तमान उन जड़विज्ञानवादियों की आपातरमणीया सर्वथा भ्रान्तदृष्टि में निगमयुग का वह जगद्गुरु भी भारतवर्ष आज आलोच्य प्रमाणित हो रहा है।

(२३७) आदर्शोदरसन्निभा भगवती, और आलोचक—

कुछ समय पूर्व अमुक स्थान से अमुक भारतीयों के ही प्रयास से 'विश्वभारती' नामक एक खण्ड–चतुष्टयात्मक महान् ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। कहना न होगा कि, भारतीय मौलिक संस्कृति के गन्धलवस्पर्शन–रूप आचारमीमांसाशून्य (नैगमिक व्याख्याशून्य) केवल वर्त्तमान दार्शनिक दृष्टिकोण से अनुप्राणित कुछ एक परिमित लेखों को छोड़ कर उस विश्वभारती में वर्त्तमान क्षणिक विज्ञानवादियों के उच्छिष्ट का ही समावेश था, जिन में स्थान स्थान पर उनकी काल्पनिक मान्यता के आधार पर पूर्वजों को पाषाणयुग लौहयुग–आदि काल्पनिक युगों से समतुलित करते हुए तत्सम्पादकों उल्लेखकोंने पश्चिम के विज्ञान का ही यशोगान किया है। यशोगान का हम समादर करते हैं। किन्तु इसके साथ उन्होंने जो अपनी कहानियों में (पृथिवी कीकहानी, सूर्य्य की कहानी, आदि में) भारतीय निगमागममान्यताओं की उपहास-मिश्रा आलोचना की है, उसे देखते हुए अच्छा था वे उस निबन्ध का 'विश्वभारती' नामकरण न कर–'प्रतीच्योच्छिष्टगुणगाथा' ही नाम स्थापित कर 'भारती' नाम के तो गौरव को अक्षुरण बनाए रखने का महत्पुण्यार्जन कर लेते। आस्तां तावत्। अपनी कहानियों में तन्निबन्धों के मान्य लेखकोंने पौराणिक मान्यताओं का नग्न उपहास किया है। उदाहरण के लिए —"पृथिवी कछुए की पीठ पर है, चन्द्रमा सूर्य्य से ऊपर है, आदि पौराणिक मान्यताओं से प्रभावित मानव जब वर्त्तमान प्रत्यक्ष विज्ञानों के आधार पर वास्तविक स्थिति पर पहुँचता है, तो उसे आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है, और अपनी मान्यताओं के प्रति स्वयं ही उसकी अश्रद्धा हो जाती है" इत्यादि भाषाभिव्यक्ति ही पर्य्याप्त मान ली जायेगी।

कहते हैं, जब बनारस के क्विंस कालेज में किसी भारतीय के द्वारा यह प्रस्ताव उपस्थित हुआ कि "यहाँ पौराणिक भूगोल का भी शिक्षापद्धति में समावेश होना चाहिए", तो किसी तत्रत्य पाश्चात्य विद्वान् ने उपहासपूर्वक मन्दहास करते हुए ये उद्गार प्रकट करने का अनुग्रह किया था कि "जो पुराण पृथिवी पर सात समुद्र मानता है, जिस पुराण के पार्थिव द्वीपोपद्वीपों का परिमाण असंख्य कोशात्मक है, जो पुराण समुद्रों को दूध–दही–शहद–आदि से परिपूर्ण मानने की कल्पना में विभोर है, जो कभी सर्प के फण पर, तो कभी कछुए की पीठ पर पृथिवी को प्रतिष्ठित मानता है, जो पुराण चन्द्रमा को सूर्य्य से ऊपर मानता है, जिसकी दृष्टि में पृथिवी आदर्शोदरसन्निभा है*, जो पृथिवी के पुष्करद्वीप में सूर्य्य मानता है, इत्यादि इत्यादिरूपेण वो पुराण सर्वात्मना कल्पनाप्रधान प्रमाणित होता हुआ प्रत्यक्षसिद्ध विज्ञान के सर्वथा

* 'आदर्शोदरसन्निभा भगवती' [पृथिवी]

विरुद्ध हैं, उस पौराणिक भूगोल को शिक्षापद्धति में समाविष्ट करके क्या आज के इस सभ्यता के युग में मानव के परिष्कृत मस्तिष्क को विकृत करना है" । प्रस्ताव उपस्थित करने वाले किसी उस अज्ञात पुराणमक्त भारतीय के द्वारा प्रतीच्यविद्वान् के इस काल्पनिक आक्रमण का उस समय कोई अवरोध नहीं हो सका । निगमशास्त्रविद् वस्तुरहस्यविज्ञानशून्य, केवल व्याकरण–नव्यन्याय–साहित्यादि परिशीलन में ही अपनी जीवनलीला समाप्त कर देने वाले तत्समरतीय के कोश में आक्षेपनिरोध के लिए शेष रह भी क्या गया था ?, सिवाय इसके कि वे मौनरूप से वहाँ से पलायित ही हो जाते ।

एकमात्र निगमनिष्ठा के माध्यम से हमें इन अप्रासङ्गिक उद्गारों का अनुगामी बनना पड़ा । पौराणिक सर्गक्रम, उसकी 'भुवनकोशविद्या' (भूगोलविद्या), ज्योतिश्चक्रविद्या' (खगोल), वृगोलविद्या, आदि आदि का उन निगमविद्याओं के साथ समसमन्वय है, जिस पर कदापि सन्देह नहीं किया जा सकता । हम जानते नहीं, एतावता ही निगमविद्यामूलिका पौराणिकविद्या उपहास, किंवा आलोचना का क्षेत्र बन जाय, तब तो हमें भी अपने नैगमिक दृष्टिकोण के आधार पर यह कह देने की धृष्टता कर ही लेनी चाहिए, निःसंकोच रूपेण कर ही लेनी चाहिए कि, जिसे वर्त्तमान विज्ञानवादी 'पृथिवी' 'पृथिवी' नाम से घोषित करता है, वह वस्तुत है–'भूपिण्ड' । उनकी कल्पित कहानियाँ पृथिवी की कहानियाँ नहीं हैं, अपितु भूपिण्ड की कहानियाँ हैं । पृथिवी का वास्तविक स्वरूप क्या है ?, उसकी पावनगाथा क्या है ?, यह तात्त्विक दृष्टिकोण उन प्रत्यक्षवादियों की भूतदृष्टि के लिए तदवधिपर्य्यन्त सर्वथा असमाधेय प्रश्न ही बना रहेगा, यदवधिपर्य्यन्त वे निगमानुमोदित सुसूक्ष्म प्राणतत्त्व ही प्रतिच्छाया से उपकृत नहीं हो जायँगे । तब उन्हें अवश्य ही उन मन्वयावत् पौराणिकसर्गों के प्रति अवनतशिरस्क बन ही जाना पड़ेगा, जिन्हें वे अभी अपनी भूतासिक्तबुद्धि के निग्रह से काल्पनिक मानने, मनवाने की अक्षम्या भ्रान्ति कर रहे हैं । निगमपुरुष से यही कामना है कि, 'मानव' मात्र के अभ्युदय की माङ्गलिक कामना का विधान करने वाले उस वेदपुरुष के अनुग्रह से शीघ्र से शीघ्र वर्त्तमान मानव निगमनिष्ठा का अनुगामी बने, एवं सदाचारेण वह इस रहस्य को हृदयङ्गम करता हुआ सत्यवाग्मूला अपनी भ्रान्तियों का उन्मूलन करता हुआ पृथिवी की कहानी का वास्तविक मर्म्मज्ञ, उपासक बने, जिसकी उपासना में ही मानव का अभ्युदय–निःश्रेयस् सुरक्षित है । वह कूर्म्मप्रजापति अवश्य ही वास्तविक जिज्ञासु मानव की यथाविधा सात्त्विक कामना पूर्ण कर सकता है, जिसके कठोर अश्मारुण पृष्ठ पर पार्थिव विश्व प्रतिष्ठित हैं ।

'य. पराङ् रसोऽत्यक्षरत् , स कूर्म्मोऽभवत्' (शत॰ ७।५।१।१२)–'एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत'–इत्यादि श्रौतवचनानुसार सौर ज्योतिर्म्मय वह द्यावापृथिव्य परमकर्म्मा 'कश्यप नाम से प्रसिद्ध–अर्णवसमुद्ररूप अग्निरापोमय तत्त्व ही तो वह कूर्म्म है, जिसके आधार पर सूर्य्य का प्रवर्ग्यभूत भूपिण्ड प्रतिष्ठित है । भूपिण्ड का महिमामण्डल रूप ही पृथिवी है, जिसमें त्रैलोक्य–त्रिलोकी का उपभोग व्यक्त गया है । इस पृथिवी के महामहिमारूप विशाल स्वरूप का कुछ अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि, इसके आदित्य-प्राणात्मक एकविंश (इक्कीसवें) अहर्गण पर सूर्य्य प्रतिष्ठित है, जैसा कि–'एकविंशो वा इव आदित्य.' इत्यादि वचन से प्रमाणित है । यह एकविंशस्तोम ही प्राणात्मिका पृथिवी का पुराणभाषानुगत पुष्कर नामक आपोमय द्वीप का उपक्रमस्थान है, जिसे पुष्करत्वात् परोक्षभाषा में 'पुष्करद्वीप' कहा गया है । अवश्य ही प्राणपृथिवी के इस पुष्करद्वीप में ही सूर्य्य प्रतिष्ठित है । प्राणपृथिवी के त्रिणव (२७) स्तोम पर वह भास्कर सोम प्रतिष्ठित है, जिसका अग्निप्राणात्मक पिण्डरूप ही चन्द्रमा कहलाया है जिसका रेतोऽस्त्र से सम्बन्ध

है। एकविंशस्य सूर्य्य से परे २७वें स्तोम में क्योंकि पार्थिव सोम का साम्राज्य है, यही–भूउपग्रहात्मक चन्द्रपिण्ड का उपादान बनता है। इसी सजातीयानुबन्ध से पुराणने चन्द्रमा को सूर्य्य से ऊपर प्रतिष्ठित मान लिया है। महापृथिवी के आग्नेयविवर्त्त की दृष्टि से ही 'भावर्शोदरसन्निभा भगवती' यह पौराणिक सिद्धान्त समन्वित है। दधि–मधु–घृत–क्षीरादि सुसूक्ष्म रसमात्राओं से समन्वित परिपूर्ण आन्तरिक्ष्य अर्णवसमुद्र के वायुभेदनिबन्धन सप्त अवान्तर स्तर ही सप्त समुद्र हैं, जो भूपिण्ड को ही पृथिवी मान बैठने वाले प्रत्यक्षवादियों की चर्मविज्ञान-दृष्टि से सदा परोक्ष–अज्ञात ही बने रहेंगे। इन सब पौराणिक रहस्यों का स्वरूपदिग्दर्शन एक स्वतन्त्र निबन्ध-सापेक्ष है। अतः इस प्रसङ्ग को यहीं उपरत करते हुए पुन हम प्रकृत का अनुसरण कर रहे हैं।

(२३८)–यावद्ब्रह्मविष्ठित, तावती वाक्—

जैसाकि पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है, ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम, इन पञ्चाक्षरों की समष्टि से भूतपिण्ड का स्वरूप प्रतिष्ठित रहा करता है। पाँचों में से अग्नि–सोम से सम्बन्धित अयुग्म-स्तोमानुगत पृथिवीविवर्त्त एक स्वतन्त्र विभाग है। एवं ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–इन तीन अक्षरों से अनुप्राणित पार्थिव महिमविवर्त्त का एक स्वतन्त्र विभाग है, जिसके आधार पर 'विष्टप्सर्गव्यवस्था' व्यवस्थित हुई है। २४ पर्य्यन्त इन्द्राक्षर का प्राधान्य, ४४ पर्य्यन्त विष्णवक्षर का प्राधान्य, एवं ४८ पर्य्यन्त ब्रह्माक्षर का प्राधान्य है, जिसके लिए–'यावद्ब्रह्मविष्ठितं–तावती वाक्' प्रसिद्ध है। ये ही सुप्रसिद्ध 'इन्द्रविष्टप्–विष्णुविष्टप्–ब्रह्मविष्टप्' नामक तीन स्वतन्त्र विष्टप् हैं, जो क्रमशः त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप महाविश्व के रोदसी–क्रन्दसी–संयती नामक त्रिलोकियों से समतुलित हैं। केवल महापार्थिव विश्व में ही–'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' सिद्धान्तानुसार २४–४४–४८ भेद से रोदसी–क्रन्दसी–संयती लोकों का उपभोग हो रहा है। वैसे तो पृथिवी, गायत्री, जगती, मही, सागराम्बरा, मेदिनी, धरा, धरित्री, धरिणी उर्वी, आदि सभी पृथिवी के ही पर्य्याय माने जा सकते हैं। किन्तु सुसूक्ष्मदृष्ट्या ये शब्द महापृथिवी के तत्तद्विशेषस्तोम्यभावों के विभेद से विभिन्न पार्थिवसंस्थानों के ही वाचक माने जायेंगे। यहाँ पोषाण्डरूप भूपिण्ड के आधार पर मायाक्षरपञ्चक के वितान के कारण वितत महिमलक्षण पयोऽण्डरूप चतुर्थ सर्ग का संक्षिप्त स्वरूपनिदर्शन है जिसके साथ ही पञ्चम रेतोऽण्डरूप चन्द्रसर्ग भी गतार्थ बन जाता है। शतपथब्राह्मण षष्ठकाण्ड–१ प्रपाठक–१ अध्याय का द्वितीय ब्राह्मण ही इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है, जिसकी व्याख्या विस्तारभिया अत्र अशक्य मान ली गई है। यही है विश्व के स्वरूप की वह तत्त्वपूर्णा मीमांसा, जिसके भूपिण्डरूप तृतीय पर्व, पृथिवीरूप चतुर्थपर्व, चन्द्रमारूप पञ्चमपर्व से सम्बद्ध पोषाण्ड–पयोऽण्ड–रेतोऽण्ड–भावों का यही संक्षिप्त स्वरूपप्रदर्शन है, जो परिलेख से स्पष्ट हो रहा है—

— त्रैलोक्यत्रिलोकीलक्षणा—पृथिवी—स्वरूपपरिलेखः—

९—	१ अष्टाचत्वारिंशस्तोम —	(४८)	ब्रह्माक्षरप्रधानः		—हृदयस्तोमत्रयी१ (संयतीपृथिवी)
८—	२ चतुश्चत्वारिंशस्तोम —	(४४)	विष्णवक्षरप्रधान		
७—	३ चतुर्विंशस्तोम	(२४)	इन्द्राक्षरप्रधान		
६—	१ चतुस्त्रिंशस्तोमः	(१४)	दिक्सोमाक्षरप्रधानौ		—सामस्तोमत्रयी२ (क्रन्दसीपृथिवी)
५—	२ त्रयस्त्रिंशस्तोम	(११)			
४—	३ त्रिणवस्तोम	(२७)	भास्वत्सोमाक्षरप्रधान		
३—	४ एकविंशस्तोमः	(२१)	अग्न्यक्षरप्रधाना		] अग्निस्तोमत्रयी३ (रोदसीपृथिवी)
२—	५ पञ्चदशस्तोमः	(१५)			
१—	६ त्रिणवस्तोम	(९)			

स्तोमानुगत—महापृथिवी—स्वरूपपरिलेखः—

१	(१)	४८ स्तोम द्यौ	(ब्रह्मलोकः)	संयती—त्रैलोक्याधिष्ठाता ब्रह्मा (ब्राह्मी पृथिवी) —मनोमयी पृथिवी— अत्र स्वयम्भूमनु प्रतिष्ठितः
	(२)	४४ स्तोम अन्तरिक्षम्	(विष्णुलोकः)	
	(३)	२४ स्तोम पृथिवी	(इन्द्रलोकः)	
२	(१)	१४ स्तोम द्यौ	(प्रजापतिलोकः)	क्रन्दसी—त्रैलोक्याधिष्ठाता विष्णु (वैष्णवी पृथिवी)— प्राणमयी पृथिवी— अत्र हिरण्यगर्भमनु प्रतिष्ठित
	(२)	११ स्तोम अन्तरिक्षम्	[दिक्सोमलोकः)	
	(३)	२७ स्तोमः पृथिवी	(चन्द्रलोकः)	
३	(१)	२१ स्तोमः द्यौ	(आदित्यलोकः)	रोदसी—त्रैलोक्याधिष्ठाता इन्द्र (ऐन्द्रीपृथिवी) —वाङ्मयी पृथिवी— अत्र विराट्मनु प्रतिष्ठित
	(२)	१५ स्तोमः अन्तरिक्षम्	(वायुलोकः)	
	(३)	९ स्तोम पृथिवी	(अग्निलोकः)	

न्तरेण—भूः-भुवः-स्वः—व्याहृतिलक्षणा—महापृथिवीस्वरूपपरिलेख—
(४८ स्तोम -आग्नः)—द्यौ
(४४ स्तोम -वैष्णव)—अन्तरिक्षम्
(२४ स्तोम -ऐन्द्र)—पृथिवी
१
—स्वः (द्यौ)
प्रथमत्रिलोकी
१—स्वः (२४ स्तोम प्राजापत्य)—द्यौ
२—भुवः (३३ २७ स्तोमौ सोम्यौ)—अन्तरिक्षम्
३—भूः (२१ स्तोम -आदित्य)—पृथिवी
विष्णुत्रिलोकी
२
भुवः (अन्तरिक्षम्)
१—स्वः (२१ स्तोम -आदित्य)—द्यौ
२—भुवः (१५ स्तोम -वायव्य)—अन्तरिक्षम्
३—भूः (९ स्तोम-आग्नेय)—पृथिवी
इन्द्रत्रिलोकी
संयतीत्रैलोक्यम्
१
क्रन्दसीत्रैलोक्यम्
२
भूः
(पृथिवी
३
रोदसी
त्रैलोक्यम्
१
भूः
भास्वदण्ड
म
हिरण्मयाण्ड
हि
रसोऽण्ड
मा
यशोऽण्डलक्षणा सर्वस्मा महापृथिवी
भूपिण्ड —
गोपाण्डरूप

सर्वलोकसंग्राहात्मक-परिलेख — मनोताभावानुगतसप्तस्वरूपपरिलेख —

१	१—वेदाः सत्यम् (वेदाः)—३ २—सूत्रं सत्यम् (सूत्रम्)—२ ३—नियतिः सत्यम् (नियतिः)—१	स्वायम्भुवमनोतात्रयी	३	स्वयम्भूः—ब्रह्म-अव्ययाधिष्ठाता सत्यम् (७)	
					—तपः (६)
२	१—श्रद्धा-भावः (श्रद्)—३ २—ऋक्-भावः (ऋक्)—२ ३—भोगभावः— (भोगाः)—१	पारमेष्ठ्यमनोतात्रयी	३	परमेष्ठी (भास्वरम्)	जनः (५)
					—महः (४)
३	१—ज्योतिष्टोमः (ज्योतिः ३३)—३ २—गोष्टोमः (गौः १०००)—२ ३—आयुष्टोमः (आयुः ३६ ००)१	सौरमनोतात्रयी	३	सूर्यः (यशोऽन्नम्)	स्वः (३)
४	१—यशोभावः (यशः)—३ २—श्रद्धाभावः (श्रद्धा)—२ ३—रेतोभावः (रेतः)—१	चान्द्रमनोतात्रयी	३	चन्द्रमाः (रेतोऽन्नम्)	भुवः (२)
५	१—द्यौर्भावः (द्यौः)—३ २—गौर्भावः (गौः)—२ ३—वाग्भावः (वाक्)—१	भौममनोतात्रयी	३	भूपिण्डः (पोषान्नम्)	भूः (१)

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि, तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।
यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥

—छान्दोग्योपनिषत् २ प्र० २० खण्ड ३,४ कं० ।

सर्वलोकपर्व-सग्राहकश्रौतवचनानि—

(१)—पञ्चाण्डसर्गप्रतिष्ठा प्रभव-परायणमूल पञ्चाण्डाधिष्ठातृ-ब्रह्मत्रयीमूर्त्ति—स्वयम्भूः' ।

(१)—सोऽय पुरुष प्रजापतिरकामयत—'भूयान्त्स्यां, प्रजायेय', इति । सोऽश्राम्यत, स तपोऽतप्यत । स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मै व प्रथममसृजत,—त्रयीमेव विद्याम् (ब्रह्मानि श्वसितरूपामपौरुषेयाम्) । सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत् । तस्मादाहुः—'ब्रह्म' (स्वयम्भू) अस्य सर्वस्य (अण्डात्मकविश्वस्य) प्रतिष्ठा' इति । प्रतिष्ठा ह्येषा, यद्ब्रह्म (स्वयम्भूः)। (शत० ६।१।१।८) ।

—१—

(२)—अण्डचतुष्टयजनक-'जनल्लोकात्मकः-आपोमय -'अप्स्वण्ड'' रूप परमेष्ठी' (स्वयम्भुरुपग्रहरूप')

(२)—तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत । सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेवास्य साऽसृज्यत । सेद सर्वमाप्नोत्—यदिदं किञ्च । यदाप्नोत्—तस्मादापः । यदवृणोत्, तस्माद्वाः [वारि]। सोऽकामयत—'आभ्योऽद्भ्योऽधिप्रजायेय' इति । सोऽनया त्रय्या विद्यया सह अपः प्राविशत् । तत आण्ड समवर्त त । तमभ्यमृशत्—'अस्तु'' इति । भूयोऽस्तु, इत्येव तदब्रवीत् । (शत० ६।१।१।६, १०)।

—२—

(३)—अण्डत्रयीजनक-स्वर्लोकात्मक-—अग्निमय-'हिरण्यमाण्ड-रूपः''सूर्य्य' (परमेष्ठ्युपग्रहरूपः)

(३)—ततो ब्रह्मै व प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या [गायत्रीकमात्रिकसौरवेदविद्या×] । तस्मादाहुः—ब्रह्म (गायत्रीमात्रिकवेदात्मकसौरप्रजापतिः) अस्य सर्व्वस्य (रोदसी-

× यदेतन्मण्डलं तपति—तन्महदुक्थ, ता ऋचः, स ऋचां लोकः । अथ यदर्चिर्दीप्यते—तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः । अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष —सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः । सैषा त्रय्येव विद्या तपति (गायत्रीमात्रिकरूपा) । (शत० १०।५।२।१,२)

ब्रह्माण्डस्य) प्रथमजम्, इति — । तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत । मुख ह्येतदग्नेर्यद्ब्रह्म । (शत० ६।१।१।१०) आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास । ता अकामयन्त–'कथ नु प्रजायेमहि' इति । ता अश्राम्यन्, तास्तपोऽतप्यन्त । तासु तपस्तप्यमानासु 'हिरण्मयाण्ड'' सम्बभू । । (शत० ११।६।१।१।)

——३——

(४)---अण्डद्वयीजनक --भूलोकात्मकः सर्वभूतमय –'पोगाण्डरूप' 'भूपिण्ड'
(सूर्य्योपग्रहरूप)

(४)—अमूद्वा इय प्रतिष्ठेति, तद् भूमिरभवत् । सोऽकामयत प्रजापतिः (पार्थिवः)–'भूय एव स्यात्, प्रजायेय' इति । सोऽग्निना मिथुनं समभवत् । तत आण्ड समवर्त्तत । तमभ्यमृशत्–'पुष्यतु'' इति । भूयोऽस्तु, इत्येव तदब्रवीत् । (श्व० ६।१।२।१)

——४——

(५)-'यशोऽण्डरूपा'' आग्नेयी–'पृथिवी''

(५)—सोऽकामयत–'भूय एव स्यात्, प्रजायेय' इति । स (अग्निमूर्त्तिर्सोमप्रजापतिः केन्द्रस्थ)–वायुना मिथुन समभवत् । तत आण्ड समवर्त्तत । तदभ्यमृशत्–'यशो'' विभृहि– इति । ततोऽसावादित्योऽसृज्यत । एष वै यशः । (सैषा अग्नि–वायु–आदित्यरूपा–यशोऽण्डलक्षणा पृथिवी वषट्कारात्मिका) (शत० ६।१।२।३।) ।

——५——

(६)–'रेतोऽण्डरूप''–सौम्यश्चन्द्रमा'–(भूमेरुपग्रहरूप)

(६)–सोऽकामयत–'भूय एव स्यात् प्रजायेय' इति । स आदित्येन मिथुन समभवत् । तत आण्ड समवर्त्तत । तदभ्यमृशत्–'रेतो'' विभृहि– इति । ततश्चन्द्रमा असृज्यत । एष वै रेतः * । (शत० ६।१।२।४) ।

——६——

— हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजुःसं० २५।१०) ।

* विचक्षणात् [चन्द्रमसः] ऋतवो रेत आभृतम् ।
—कौ० ब्रा० उप० १।२।

(२३९)—न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः—

पूर्वोद्धृत "आपो वा इदमग्र आसीत्-स्वयम्भु-एकमेव" (गो॰ पू॰ ११) इत्यादि गोपथ-ब्राह्मण-वचन के रहस्यार्थसमन्वय के लिए (देखिए पृ॰ सं॰ १३७) हमें शास्त्रमयी भक्ति के प्रासङ्गिक समन्वय के माध्यम से आपोमयी सृष्टि से अनुप्राणित पञ्चायतनसृष्टि का संक्षिप्त इतिवृत्त पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना पड़ा, जिस सृष्टि का मूल बना स्वयम्भूमनु। अव्ययात्मनिबन्धन काममय-मनोमय मनु से कैसे विश्वोत्पत्ति हुई?, कामना का क्या स्वरूप है?, अव्ययाक्षरात्मत्रयादि आत्मविवर्त्तों का मौलिक रूप क्या है?, किन किन साधन–परिग्रहों से कामना के द्वारा मनुप्रजापति विश्वसर्ग में समर्थ बनते हैं?, स्तम्भ के आरम्भ से (पृ॰ सं॰ १३९ से) अबतक 'विश्वस्वरूपमीमांसा' के माध्यम से इन्हीं प्रश्नों के समाधान–समन्वय की चेष्टा हुई है। मानव जिस विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित है, उस विश्व के स्वरूपबोध के बिना क्योंकि मानव की प्रातिस्विक मौलिक प्राकृतिक समस्याओं का समन्वय असम्भव है। अतएव प्रस्तुत मातृकथानिबन्ध में हमें विश्व की स्वरूपमीमांसा का अनुगमन करना पड़ा, एवं इसी प्रसङ्ग से मानव की मूलप्रतिष्ठालक्षणा 'मनु' के मौलिकस्वरूप का इतिवृत्त भी पाठकों के सुम्मुख उपस्थित हुआ। अब इस सम्बन्ध में (विश्वस्वरूप के सम्बन्ध में) सनातनधर्मनिष्ठ आस्थाश्रद्धापरायण भारतीय हिन्दू मानव की 'चतुर्धामयात्रा' के पावन संस्मरण के आधार पर हम 'विश्वधामचतुष्टयी' रूप से इस विश्वस्वरूपमीमांसा का समन्वय करते हुए इस विश्वमूर्त्ति के प्रति अपनी यही श्रद्धाञ्जलि समर्पित कर रहे हैं कि–'न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः'।

(२४०)—धामचतुष्टयी–स्वरूपपरिचय—

सनातनप्रजा में 'चारो धामों की यात्रा' सुप्रसिद्ध है। आस्तिक भावुक मानव इन धामों की यात्रा से जहाँ मनस्तुष्टि का अनुभव करता है, वहाँ आस्तिक नैष्ठिक मानव इन मान्यतानुबन्धी धामों के माध्यम से आस्था–विश्वासानुप्राणित 'विश्वधामचतुष्टयी' के प्रति अपना आत्मार्पणभाव अभिव्यक्त करता हुआ तुष्टितृप्ति-आत्मशान्ति का अनुगामी बन रहा है। पञ्चपर्वा विश्वस्वरूप को लक्ष्य बनाइए, एवं 'धाम' रूप से इनको लक्ष्यरूपा यात्रा कर मानवजीवन को निष्ठासमन्वित कीजिए, जिन–विश्वधामचतुष्टयीरूप चारों धामों को हम 'अनन्तधाम¹, परमधाम², मध्यमधाम³, अवमधाम⁴', इन अभिधाओं से समन्वित करेंगे। स्वयम्भूब्रह्म को 'अनन्तधाम' माना जायगा, जिसे 'विरजा–परोरजा–ब्रह्मलोक' कहा गया है। परमेष्ठी को 'परमधाम' कहा जायगा, सूर्य्य को 'मध्यमधाम' माना जायगा, एवं सचन्द्र पार्थिव त्रिकत्रय को 'अवमधाम' घोषित किया जायगा। इन धामों की प्रामाणिकता के लिए निम्नलिखित निगमवचनों की ओर धामयात्राश्रद्धालु–मानवों का ध्यान आकर्षित किया जायगा—

(१)—य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश॥

(२,–किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्म्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥

(३)–विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
स बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥
(४)–किंस्विद्वन क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥
(५)-या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥
(६)–विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् ।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥
(७)–वाचस्पतिं विश्वकर्म्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्म्मा ॥
—ऋक्संहिता १० मं० । ८१ सूक्त—१ से ७ मन्त्रपर्य्यन्त ।
(८)–यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥
(९)–परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।
कंस्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ॥
(१०)–तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥
(११)–न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
—ऋक्संहिता १० मण्डल । ८२ सूक्त । ३, ४, ६, ७ मन्त्र ।
१२–अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥
१३–तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥
—ऋक्सं० १ मण्डल १६४ अस्यवामीयसूक्त—६,१०, मन्त्र ।
१४–तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून्त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम् ।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु ॥
—ऋक्सं० २ मण्डल २७ सूक्त ८ मन्त्र ।

(२३९)—न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः—

पूर्वोद्धृत "ओमाप्रो वा इदमग्र आसीत्-स्वयन्नु-एकमेव" (गो॰ पू॰ ११) इत्यादि गोपथब्राह्मण-वचन के रहस्यार्थसमन्वय के लिए (देखिए पृ॰ सं॰ ११७) हमें शान्तमयी भक्ति के प्रासङ्गिक समन्वय के माध्यम से आपोमयी सृष्टि से अनुप्राणित पञ्चाण्डसृष्टि का सङ्क्षिप्त इतिवृत्त पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना पड़ा, जिस सृष्टि का मूल बना स्वयम्भूमनु। अव्ययात्मनिबन्धन काममय-मनोमय मनु से कैसे विश्वोत्पत्ति हुई?, कामना का क्या स्वरूप है?, अव्ययाक्षरक्षरादि आत्मविवर्तों का मौलिक रूप क्या है?, किन किन साधन-परिग्रहों से कामना के द्वारा मनुप्रजापति विश्वसर्ग में समर्थ बनते हैं?, स्तम्भ के आरम्भ से (पृ॰ सं॰ ११६ से) प्रक्रान्त 'विश्वस्वरूपमीमांसा' के माध्यम से इन्हीं प्रश्नों के समाधान-समन्वय की चेष्टा हुई है। मानव जिस विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित है, उस विश्व के स्वरूपबोध के बिना क्योंकि मानव की मानविस्विक मौलिक प्राकृतिक समस्याओं का समन्वय असम्भव है। अतएव प्रस्तुत भावुकतानिबन्ध में हमें विश्व की स्वरूपमीमांसा का अनुगमन करना पड़ा, एवं इसी प्रसङ्ग से मानव की मूलप्रतिष्ठारूपा 'मनु' के मौलिकस्वरूप का इतिवृत्त भी पाठकों के सुमुख उपस्थित हुआ। अब इस सम्बन्ध में (विश्वस्वरूप के सम्बन्ध में) सनातनधर्मनिष्ठ आस्थाश्रद्धापरायण भारतीय हिन्दू मानव की 'चतुर्धामयात्रा' के पावन संस्मरण के आधार पर हम 'विश्वधामचतुष्टयी' रूप से इस विश्वस्वरूपमीमांसा का समन्वय करते हुए इस विश्वमूर्त्ति के प्रति अपनी यही श्रद्धाञ्जलि समर्पित कर रहे हैं कि-'न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः'।

(२४०)—धामचतुष्टयी-स्वरूपपरिचय—

सनातनप्रजा में 'चारो धामों की यात्रा' सुप्रसिद्ध है। आस्तिक भावुक मानव इन धामों की यात्रा से जहाँ मनस्तुष्टि का अनुभव करता है, वहाँ आस्तिक नैष्ठिक मानव इन मान्यतानुबन्धी धामों के माध्यम से आस्था-विश्वासानुप्राणित 'विश्वधामचतुष्टयी' के प्रति अपना आत्मार्पणभाव अभिव्यक्त करता हुआ बुद्धितुष्टि आत्मशान्ति का अनुगामी बन रहा है। पञ्चपर्वा विश्वस्वरूप को लक्ष्य बनाइए, एवं 'धाम' रूप से इनकी सङ्कल्पमूला यात्रा कर मानवजीवन को निष्ठासमन्वित कीजिए, जिन-विश्वधामचतुष्टयीरूप चारों धामों को हम 'अनन्तधाम[१], परमधाम[२], मध्यमधाम[३], अवमधाम[४]', इन अभिधानों से समन्वित करेंगे। स्वयम्भूब्रह्म को 'अनन्तधाम' माना जायगा, जिसे 'विरज-परोरजा-ब्रह्मलोक' कहा गया है। परमेष्ठी को 'परमधाम' कहा जायगा, सूर्य्य को 'मध्यमधाम' माना जायगा, एवं सचन्द्र पार्थिव विवर्त्त को 'अवमधाम' घोषित किया जायगा। इन धामों की प्रामाणिकता के लिए निम्नलिखित निगमवचनों की ओर धामयात्राश्रद्धालु-मानवों का ध्यान आकर्षित किया जायगा—

(१)—य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरॉं आ विवेश॥

(२,–किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्म्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥

विश्वस्वरूपप्रतिपादक उक्त ऋक्मन्त्रों के रहस्यार्थविश्लेषण के लिए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत निबन्ध का आकार भी अतिविस्तृत बनता जा रहा है। अतएव प्रकृत में मन्त्र के अक्षरार्थमात्र पर ही हमें सन्तोष कर लेना पड़ेगा। मन्त्र मननीय हुआ करते हैं। न तो अक्षरार्थ से ही ऋषिवाणी का तत्त्व हृदयङ्गम बना करता, नाहीं भाष्य–व्याख्या–सहस्रों से इस आत्मानुगता वाणी का वास्तविक तथ्य आत्मानुगामी बना करता। इसके लिए तो सत्य–आर्जव–श्रद्धा–अनसूया–आदि भावों के माध्यम से अनन्यनिष्ठापूर्वक विहित दीर्घकालिक स्वाध्याय, तदनुगत ऐकान्तिक मनन ही एकमात्र आर्षपथ माना गया है। वैसे इतर सभी उपाय-साधन केवल तात्कालिक 'कण्डूशान्ति' के अतिरिक्त और कोई स्थिर संस्कार उत्पन्न नहीं कर सकते।

(२४१) 'य इमा विश्वा भुवनानि०' मन्त्रार्थसमन्वय—(१)

(१) (अपने आपकी सृष्टिकर्म-सम्पादन के लिए आहुति देने से) होता (नाम से प्रसिद्ध) ऋषि (प्राणमूर्ति) जो हमारा (सम्पूर्ण चर अचर का) पिता (सर्वप्रथम प्रजापति इन सम्पूर्ण भुवनों को अपने आप में आहुत कर रहा है, वह प्राणमूर्ति पिता प्रजापति (मेरा यह सर्ग समृद्ध बने, इस सहज कामनारूप) आशी से विश्ववैभव की कामना के लिए स्वयं प्रथमस्थानीय बनता हुआ अपने अवर सर्गों के गर्भ में प्रविष्ट हो गया।

स्वर्गीय सायणाचार्य्य ने मन्त्र का जो भाष्य किया है, उसकी आलोचना इसलिए उपेक्षणीय है कि, उस आलोचना से नैष्ठिक मानव की कोई प्रयोजनसिद्धि नहीं है। "यो विश्वकर्म्मा-एतन्नामकः ऋषि-होमं कुर्वन्-सूक्तवाकादिना स्वर्गमिच्छमानः" इत्यादिरूप से मन्त्रव्याख्यान करते हुए सायण अपनी यह मान्यता व्यक्त कर रहे हैं कि, विश्वकर्म्मा नामक किसी महर्षि ने [मानवने] सर्वमेध् नामक सर्वहुतयज्ञ से स्वर्गगति प्राप्ति कर ली'। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!! पारम्परिक परिभाषाविलुप्ति से वेदार्थसमन्वय के सम्बन्ध में ब्राह्मणश्रुति से एकान्ततः विरुद्ध सर्वथा काल्पनिक–निर्मूल इस प्रकार का व्याख्यान-भाष्य न होता, तो अधिक श्रेयस्कर था। 'प्राणा वा ऋषयः। ते सर्वस्मादिदमिच्छन्त' श्रमेण तपसा अरिषं-स्तस्मादृषयः' (शत० ६।१।१।१।) 'पूषन्नेकर्षे यम सूर्यप्राजापत्य०' (ईशोपनिषत्)-इत्यादि वचनानुसार मौलिक सम्पूर्ति अतएव 'ब्रह्म' नामक स्वायम्भुव उस सत्तनिमाण का ही नाम 'ऋषि' है, जो अपने सत्यपुरुष पुरुषात्मक प्राजापत्यक्रम से सर्वसर्गप्रभव बनता हुआ 'विश्वकर्म्मा-स्वयम्भू' आदि नामों से प्रसिद्ध हो रहा है। जिसके आदान–प्रदानात्मक सर्वाहुतिलक्षण सर्वहुतयज्ञ का–'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत' (यजुः० ३१।७।) इत्यादि अन्य मन्त्रश्रुतियों से स्पष्टीकरण हुआ है, प्रकृत प्रथम मन्त्र ऋषिप्राणमूर्ति–सर्वहुतयज्ञाधिष्ठाता प्रयोवेदलक्षण सत्यपुरुषपुरुषात्मक इसी स्वयम्भू के सर्ग की समरसता व्यक्त कर रहा है, जिसके इस आम्नायसिद्ध क्रम के विस्मृत हो जाने से ही व्याख्याताओंने भावुकता के आवेश में आकर 'मामयं भद्ररिष्यति' को ही धर्म्म मान डाला है। सम्पूर्ण भूतों को अपने आप में आहुत कर लेना, अपने आप को 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से सम्पूर्ण भूतों में आहुत कर देना, सृष्टि का विवर्तकरणात्मक, तथा पञ्चीकरणात्मक सहज क्रम ही तो उस 'सर्वहुत' नामक यज्ञक्रतु का स्वरूपसम्पादक बना करता है जिसके आधारपर 'ब्रह्म वेद सर्वम्'–'सम स्वस्ति ब्रह्म' प्रजापतिरजवेद

सर्वं यदिदं किञ्च, सर्वेमु ह्येवेदं प्रजापतिः, इत्यादि सञ्चर (सर्ग)-प्रतिसञ्चर (प्रतिसर्ग) भावद्वयी के समर्थक वचन प्रतिष्ठित हैं। निम्नलिखित ब्राह्मणवचन के द्वारा सर्वाहुतिलक्षण विश्व स्वायम्भुव यज्ञ का स्वरूप-व्याख्यान हुआ है, प्रस्तुत-'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता न' इत्यादि प्रथम मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत—न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्त—'अहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि' इति। तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि [हुत्वा] सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्य-स्वाराज्य-आधिपत्यं-पर्यैत्। परमो वा एष यज्ञक्रतूनां, यत्सर्वमेध [सर्वाहुतः]।"

—शत० १३,७,१,१,२।

(२४२) किंस्विदासीदधिष्ठानम्० मन्त्रार्थसमन्वय—(२)

(२) (सर्वहुतयज्ञप्रवर्त्तक-यज्ञाधिष्ठाता ऋषिप्राणमूर्त्ति सप्तपुरुषपुरुषात्मक विश्वकर्म्मा) प्रजापति ने भुवन उत्पन्न किए, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार इन अवर भुवनों में वह प्रथमच्छद स्वयम्भू ब्रह्म प्रविष्ट हो गए, इस प्रकार से सर्वात्मना 'विश्वकर्म्मा'-'विश्वेश्वर' उपाधि से अन्वर्थ प्रमाणित हो गए। इनके सम्बन्ध में इस प्रकार की सहज प्रश्नपरम्परा उपस्थित होती है कि)—'इस पाञ्चभौतिक महाविश्व का अधिष्ठान (आधार) तो क्या था ? (क्या स्वरूप था उस आलम्बन कारण का ?), आरम्भण (उपादानकारण) क्या और कैसा था ?, इस प्रकार कैसे उससे सर्ग हुआ (अर्थात् निमित्तकारण क्या था ?,) जिस आलम्बन उपादान-निमित्तकारणत्रयी की समष्टि से विश्वकर्म्मा प्रजापति ने 'भूमि' को उत्पन्न करते हुए अपनी महिमा से इस विश्वप्रधाने द्यौर्म्मण्डल का भी वितान कर दिया।

प्रश्नोपस्थिति का मूल यह बना कि, लोकसर्गों के लौकिक उपादानों में हम आलम्बन-उपादान-निमित्त आदि कारणों का पार्थक्य उपलब्ध कर रहे हैं। आधार कुछ और होता है, उपादानकारण अन्य ही होता है, निमित्त कोई दूसरा ही बना करता है। घटनिर्म्माणप्रक्रिया में पार्थिवधरातल से अनुप्राणित कुलालचक्र आधार है, मृत्तिका उपादान है, कुम्भकार निमित्त है। जबकि विश्वकर्म्मा स्वयम्भू एक ही रूप हैं, तो उनके साथ विभिन्न नामगुणकर्म्मसमन्वित विभिन्न तीन कारणों का सम्बन्ध कैसे समन्वित हो गया ?, एक विश्व-कर्म्मात्मा विभिन्न तीन कारणात्मा कैसे बन गए ?, यही प्रश्न है, जिसका पूर्व परिच्छेदों में अधिष्ठानरूप अव्ययात्मा, आरम्भणरूप अक्षरात्मा, निमित्तरूप क्षरात्मा-रूप से 'षोडशीपुरुषप्रजापति' माध्यम से अनेकधा स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

महत्वपूर्ण ज्ञातव्य रह जाता है मन्त्र का 'यतो भूमिं जनयन्०' इत्यादि उत्तर भाग। यहाँ न तो 'भूमिम्' से भूपिण्ड अभिप्रेत है, न 'द्यौ' से सुप्रसिद्ध द्युलोक ही अभिप्रेत है। ताद्विक 'पदम्' 'पुनःपदम्' इन दो तत्वों के लिए ही यहाँ मन्त्र में 'भूमिम्'-'द्याम्' शब्द उपात्त हुए हैं। पिण्ड, और पिण्डमहिमा (जो पिण्डमहिमा 'वैश्वरूप्य'-'साहस्री'-'वषट्कार' आदि नामों से प्रसिद्ध हुई है),

विश्वस्वरूपप्रतिपादक उक्त ऋक्मन्त्रों के रहस्यार्थविश्लेषण के लिए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत निबन्ध का आकार भी बहुविस्तृत बनता जा रहा है। अतएव प्रकृत में मन्त्र के अक्षरार्थमात्र पर ही हमें सन्तोष कर लेना पड़ेगा। मन्त्र मननीय हुआ करते हैं। न तो अक्षरार्थ से ही ऋषिवाणी का तत्त्व हृदयङ्गम बना करता, नाहीं भाष्य–व्याख्या–सहस्रों से इस आत्मानुगता वाणी का वास्तविक तथ्य आत्मानुगामी बना करता। इसके लिए तो सत्य–आर्जव–श्रद्धा–अनसूया–आदि भावों के माध्यम से अनन्यनिष्ठापूर्वक विहित दीर्घकालिक स्वाध्याय, तदनुगत ऐकान्तिक मनन ही एकमात्र मार्गपथ माना गया है। वैसे इतर सभी उपाय-साधन केवल तात्कालिक 'वस्तुशान्ति' के अतिरिक्त और कोई स्थिर संस्कार उत्पन्न नहीं कर सकते।

(२४१) 'य इमा विश्वा भुवनानि०' मन्त्रार्थसमन्वय—(१)

(१) (अपने आपकी सृष्टिकर्म-सम्पादन के लिए आहुति देने से) होता (नाम से प्रसिद्ध) ऋषि (प्राणमूर्त्ति) जो हमारा (सम्पूर्ण चर अचर का) पिता (सर्वप्रथम प्रजापति इन सम्पूर्ण भुवनों को अपने आप में आहुत कर रहा है, वही प्राणमूर्त्ति पिता प्रजापति (मेरा यह सर्ग समृद्ध बने, इस सहज कामनारूप) आशी से विश्ववैभव की कामना के लिए स्वयं प्रथमस्थानीय बनता हुआ अपने अपर सर्गों के गर्भ में प्रविष्ट हो गया।

सर्वभी सायणाचार्य्य ने मन्त्र का जो भाष्य किया है, उसकी आलोचना इसलिए उपेक्षणीय है कि, उस आलोचना से नैष्ठिक मानव की कोई प्रयोजनसिद्धि नहीं है। "यो विश्वकर्म्मा–एतन्नामकः ऋषि–होमं कुर्वन्–सूक्ष्माक्षादिना स्वर्गमिच्छमानः" इत्यादिरूप से मन्त्रव्याख्यान करते हुए सायण अपनी यह मान्यता व्यक्त कर रहे हैं कि, विश्वकर्म्मा नामक किसी महर्षि ने [मानवने] सर्वमिदम् नामक सर्वहुतयज्ञ से स्वर्गगति प्राप्त कर ली'। अनवसरम्! अनवसरम्!! पारम्परिक परिभाषाविलुप्ति से वेदार्थसमन्वय के सम्बन्ध में भाष्यभाष्यभुक्ति से एकान्ततः विरुद्ध सर्वथा काल्पनिक–निर्मूल इस प्रकार का व्याख्यान-भाष्य न होता, तो अधिक श्रेयस्कर था। 'प्राणा वा ऋषयः'। 'ते सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषन्–स्तस्मादृषयः' (शत० ६।१।१।१) 'पूषन्नेकर्षे यम सूर्य्यप्राजापत्य०' (ईशोपनिषत्)–इत्यादि वचनानुसार मौलिक सम्भूर्ति अतएव 'असत्' नामक स्वायम्भुव उस सर्वप्राण का ही नाम 'ऋषि' है, जो अपने अव्ययपुरुष-पुरुषात्मक भावापत्स्वरूप से सर्वसर्गप्रभव बनता हुआ 'विश्वकर्म्मा–स्वयम्भू' आदि नामों से प्रसिद्ध हो रहा है। जिसके आदान–प्रदानात्मक सर्वाहुतिलक्षण सर्वहुतयज्ञ का–'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत' (यजुःसं० ३१।७।) इत्यादि अन्य मन्त्रश्रुतियों से स्पष्टीकरण हुआ है, प्रकृत प्रथम मन्त्र ऋषिप्राणमूर्त्ति–सर्वहुतयज्ञाधिष्ठाता त्रयीवेदलक्षण अव्ययपुरुषपुरुषात्मक इसी स्वयम्भू के सर्ग की रूपरेखा व्यक्त कर रहा है, जिसके इस आम्नायसिद्ध क्रम के विस्मृत हो जाने से ही व्याख्याताओं ने भावुकता के आवेश में आकर 'मामयं महर्षिष्यति' को ही अन्यथा बना डाला है। सम्पूर्ण भूतों को अपने आप में आहुत कर लेना, अपने आप को 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से सम्पूर्ण भूतों में आहुत कर देना, यही वह त्रिवृत्करणात्मक, तथा पञ्चीकरणात्मक सहज क्रम ही तो उस 'सर्वहुत' नामक यज्ञ का स्वरूपसम्पादक बना करता है जिसके आधारपर 'मत्रौ पेव सयम्'–'सप्त अस्तिवरं मास' प्रजापतिस्तत्त्वेद

पञ्चविध वैश्वरूप्यस्वरूपपरिलेख:—

(ख)—मन्त्रोत्तरभागनिष्कर्षः (यतो भूमिं जनयन्० इत्यादि)—

मनोमयो विश्वकर्म्मा अधिष्ठानात्मा	प्राणमयो विश्वकर्म्मा निमित्तात्मा	वाङ्मयोविश्वकर्म्मोपा०
हृदयात्मस्वरूपप्रवर्त्तकः	पुनःपदस्वरूपप्रवर्त्तकः	पदस्वरूपप्रवर्त्तकः
आत्माधिष्ठाता	पुनःपदाधिष्ठाता	पदाधिष्ठाता
१—विश्वकर्म्मा—	(१)—परमाकाशः	१ स्वयम्भूः
२—प्रजापतिः—	(२)—महासमुद्रः—	२ परमेष्ठी
३—हिरण्यगर्भः—	(३)—सम्वत्सरः—	३ सूर्य्यः
४—सर्वभूतान्तरात्मा—	(४)—आन्दम्—	४ पृथिवी
५—भूतात्मा—	(५)—नक्षत्रम्—	५ चन्द्रमा
आत्मा	पुनःपदम्	पदम्
हृदयम्	द्यौः—	भूमिः
आत्मसर्गः पञ्चविधः	महिमसर्गः पञ्चविधः	पिण्डसर्गः पञ्चविधः
सोऽयं विश्वात्मसर्गः	सोऽयं द्युसर्गः—	सोऽयं 'भूमि'सर्गः

आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्। अयं सदृक्ममयमात्मा

(२४३) विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुख – (३) मन्त्रार्थसमन्वय—

(१) जो रहस्यार्थ 'सर्वतः पाणिपादं तत्—सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' इत्यादि उपनिषच्छ्रुति का है, वही रहस्यार्थ तृतीयमन्त्र का है। दीर्घवृत्तात्मिका पञ्चविधा आयतसृष्टि का मूलाधार—मूलप्रभव विश्वकर्म्मा स्वयम्भू स्वयं 'वर्त्तुलवृत्तोऽयाः' है (गोलाकार है), जिसका स्वरूप पूर्व परिच्छेदों में यत्रतत्र स्पष्ट किया जा चुका है। वर्त्तुलात्मा स्वयम्भू विश्वकर्म्मा के प्रतिमाभूत परमेष्ठी आदि अन्तराद–हिरण्मयाण्ड–पारावत–ज्योतिरद–

दोनों के पारिभाषिक नाम हैं क्रमशः 'भूमि' और 'द्यौः'। प्रत्येक अवयवसृष्टि इन दो भावों में परिणत रहती है, जिसका मूल बना रहता है पिण्डलक्षण भूकेन्द्रस्थ अन्तर्यामी अनिरुक्त प्रजापति, जो 'आत्मा' नाम से प्रसिद्ध है। एवं वो अपने मनःप्रधान अव्ययभाग से सृष्टि का अन्तर्यामी 'आत्मा' बनता है, अपने वाक्-प्रधान क्षरभाग से सृष्टि का मूर्तभावापन्न 'पदम्' (पिण्ड-भूमि) बनता है, एवं अपने प्राणमय अक्षरभाग से सृष्टि का अमूर्तभावापन्न प्राणमय 'पुनःपदम्' (महिमा—द्यौ) बनता है। इसप्रकार एक ही विश्वकर्म्मा स्वयम्भूप्रजापति अपने मनः—प्राण—वाङ्मय अव्यय—अक्षर—क्षरभावों से कामतपःश्रमात्मक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों के माध्यम से क्रमशः अधिष्ठान-निमित्त—आरम्भणरूपेण, कारणत्रयीरूप में परिणत होता हुआ अपने इन्हीं तीनों रूपों से क्रमशः—'आत्मा—पदम्—पुनःपदम्—रूप से हृदय—पिण्ड—पिण्डमहिमा—इन तीनस्वरूपों के सर्वस्व बने रहते हैं, जिनका 'आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्, त्रयं सदेकमयमात्मा' इत्यादि अन्य वचनों से स्पष्टीकरण हुआ है। स्वयम्भू-परमेष्ठी—सूर्य—भूपिण्ड—चन्द्रमा, महाविश्व के ये पाँचों पर्व 'आत्मा—पदम्—पुनःपदम्' रूप से त्रिविवर्त्तभावापन्न हैं। चन्द्रकेन्द्र, चन्द्रपिण्ड, चन्द्रिकामण्डलात्मक चन्द्रमहिमा, चन्द्रमा में तीनों उपयुक्त हैं। चन्द्रपिण्ड 'भूमि' है, चन्द्रमहिमा 'द्यौः' है, चन्द्रकेन्द्र आत्मा है। यही क्रम शेष चारों में समन्वित है। प्रत्येक मूर्त्तपदार्थ में यही त्रयीव्यवस्था समन्वित है। और इन्हीं सर्वमूर्त्तपर्वानुगत पिण्ड, तथा पिण्डमहिमाभावों के लक्ष्य से ही प्रकृतमन्त्र में 'भूमिं जनयन्—द्यामौर्णोत्' यह कहा गया है। आत्मरूपा पाँचों महापर्व क्रमशः विश्वकर्म्मा, प्रजापति, हिरण्यगर्भ, सर्वभूतान्तरात्मा, भूतात्मा, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। मूर्त्तपिण्डलक्षण 'भूमि' रूपा (पद रूपा) ये पाँचों क्रमशः स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूर्य्य—पृथिवी-चन्द्रमा, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। एवं अमूर्त्तलक्षण 'द्यौः' रूपा (पुनःपद रूपा—वैश्वरूप्यनामक महिम-मण्डलरूपा) ये ही पाँचों क्रमशः—परमाकाश—महासमुद्र—सम्वत्सर—आर्त्तवम्—नक्षत्रम्, इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

काम—तपः—श्रमलक्षण विश्वकर्म्मा—स्वरूपपरिलेख —

(क)—मन्त्रपूर्वभागनिष्कर्षः—(किंस्विदासीदधिष्ठानम्०—इत्यादि)।

१—परात्परात्पराभिमः—पञ्चकलोऽव्ययात्मा—मनःप्रधानः काममयः—	अधिष्ठानम्	विश्वकर्म्मा
२—तदभिमः————पञ्चकलोऽक्षरात्मा—प्राणप्रधानः तपोमयः—	कथंस्वित् (निमित्तम्)	
३—तदभिमः————पञ्चकलः क्षरात्मा—वाक्प्रधानः श्रममयः—	आरम्भणम्	

"वह विश्वकर्म्मा अपने चक्षुरूप से (हृदयस्थानीय सूर्य्यरूप से) सर्वतः समानशक्तिरूप से व्याप्त है, मुखरूप से (तदुपलक्षित शिर स्थानीय स्वयम्भूरूप से) सर्वत व्याप्त है, बाहुरूप से (ऋतमयात्मक परमेष्ठी, तथा चन्द्ररूप से) सर्वत व्याप्त है, एवं पादरूप से (भूपिण्डरूप से) सर्वत व्याप्त है। (ऋत-सोमात्मक परमेष्ठी तथा चन्द्रमा इन दोनों) बाहुओं से, तथा भूताग्नि एवं प्राणाग्नि (भूपिण्डात्मक भूताग्नि, भूमिमहिमारूप प्राणाग्नि-जो क्रमशः चित्याग्नि-चितेनिधेयाग्नि नामों से प्रसिद्ध है) रूप पार्थिव पादों से (अग्नीषोमरूप बाहु-पादों से) ही यह विश्वकर्म्मा अग्नीषोमात्मक विश्व की प्रेरणा का कारण बन रहा है। द्यावापृथिवीरूप (पिण्ड एवं महिमारूप) ऐसे महाविश्व को उत्पन्न करता हुआ सहस्रशीर्ष-सहस्राक्ष-सहस्रपात् लक्षण विश्वकर्म्माप्रजापति 'एक' रूप से सर्वत्र विराजमान है। अपनी इसी एकरूपता से अनेकभावापन्न विश्व को उत्पन्न कर यह-'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' इस सिद्धान्त को अक्षरशः अन्वर्थ प्रमाणित कर रहा है।

(२४४)-'किंस्विद्वन क उ स वृक्ष आस०' (४)-मन्त्रार्थसमन्वय—

(४)—'*किंस्विद्वनं*'–*इत्यादि का रहस्यार्थ पूर्व में विस्तार से प्रतिपादित है, जिस उत्तरगर्भित प्रश्नात्मक* इस मन्त्रार्थ की प्रासङ्गिक सन्दर्भसमन्वयस्मृति यही है कि, सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्परूप 'ब्रह्मवन' के महामायावच्छिन्न सहस्रवल्शमूर्त्ति अश्वत्थ नामक षोडशीपुरुषरूप 'ब्रह्मवृक्ष' के वरभाग के तक्षण से ही द्यावापृथिवीरूप पिण्डमहिमात्मक इस महाविश्व का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है, जिसका रहस्यात्मक स्वरूपबोध मानव की मननशक्ति प्रज्ञानमयोमयी बुद्धयनुगृहीता नैष्ठिकी अन्तःप्रज्ञा पर ही अवलम्बित है। (देखिए ४१पृष्ठ))।

(२४५)-'या ते धामानि परमाणि०' (५)-मन्त्रार्थसमन्वय—

(५)—हे विश्वकर्म्मन्! आपके जो परम-अवम-मध्यम धाम हैं, उन तीनों धामों की (सहज) शिक्षा से अपने सखाओं को आप अनुग्रहीत करें (कर रहे हैं), जो कि सखा आपके 'हविः' (भोग्य, स्थानीय बने हुए हैं। हे स्वधावन्! आप स्वयं ही इस स्वधारूप हवि से अपने शरीर को महिमारूप से वितत करते हुए (फैलाते हुए) यज्ञ में (आदानप्रदानात्मक सर्वहुत्यज्ञ में) प्रवृत्त रहें (प्रवृत्त हैं)।

मनःप्राणवाङ्मय षोडशीप्रजापतिलक्षण स्वयम्भू प्रजापति ही विश्वकर्म्मा सर्वकर्म्मा प्रजापति है, जिसके अव्यय-अक्षर-क्षर नामक संस्थानों का, एवं इन तीनों संस्थानों के मूलभूत अमात्रिक अतएव मायिक परात्परसंस्थान का पूर्व में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इत्यादि *निगमानुसार* इस सर्वप्रजापति के इस प्रकार मायातीतअनन्तपरात्पर—महामायावच्छिन्नअव्यय—योगमायावच्छिन्न अक्षर-भूतमायावच्छिन्न क्षर, भेद से चार संस्थान हो जाते हैं। ये ही विश्वकर्म्मा प्रजापति के प्रातिस्विक अनन्तधाम—परमधाम—मध्यमधाम—अवमधाम (परात्परधाम-अव्ययधाम-अक्षरधाम - क्षरधाम) रूप चार धाम हैं, जिनमें परात्पररूप अनन्तधाम तो इनका अधीदन ही बना रहता है। शेष तीनों परम-मध्यम अवमधाम प्रवर्ग्यरूप से-'भयरान् व्याविवेश' रूप से अन्य परमेष्ठीसर्गादि के साथ भी सुसम्बन्धित रहते हैं दो प्रकार से।

पिण्ड—ये पाँचों ही भायवसर्ग अपने मौलिक स्वरूप से 'वच लवृत्तीवा' ही हैं। समंदशानुगत सुप्रसिद्ध दर्शपौर्णमासात्मक परिभ्रमण से ही ये वृत्त अण्डरूपात्मक दीर्घवृत्ताकार में परिणत होते हैं। समष्टि चन्द्रमा भूपिण्ड के चारों ओर भूपिण्डमहिमा के गर्भ में, समष्टि भूपिण्ड सूर्यपिण्ड के चारों ओर सूर्यमहिमा के गर्भ में, समष्टि सूर्यपिण्ड परमेष्ठिपिण्ड के चारों ओर परमेष्ठिमहिमा के गर्भ में परिक्रमा लगा रहा है। एवं समिदम, चन्द्र-भू-सूर्य को स्वमहिमगर्भ में युक्त रखता हुआ समष्टि परमेष्ठिपिण्ड स्वयम्भूपिण्ड के चारों ओर स्वयम्भूमहिमा के गर्भ में परिक्रमा लगा रहा है। चन्द्रमा-भू-सूर्य-परमेष्ठी—अलातचक्रवत् परिभ्रममाण परिक्रममाण इन चारों पिण्डों (चारों भूमियों) में केवल चन्द्रपिण्ड का स्वाक्षपरिभ्रमण नहीं है। शेष तीनों अपने अक्ष पर घूमते हुए रथचक्रवत् महद्वृत्तों के आधार पर परिक्रमा लगा रहे हैं। यही परिभ्रमण प्रक्रिया प्राकृतिक नित्य यह 'दर्शपूर्णमास' यज्ञ है, जिसके द्वारा दिति-अदितिभावों का आविर्भाव होता है। इस परिभ्रमणजनित त्रिकेन्द्रभाव से ही इनकी प्राकृतिक वच लवृत्तता दीर्घवृत्तरूप में परिणत प्रतीत हो रही है। अतएव इन्हें 'अण्ड' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। वस्तुतः अपने प्रातिस्विक मौलिकरूप से पिण्डमात्र एककेन्द्रानुगत बनते हुए 'वच लवृत्तीवा' ही हैं, जिस वच लवृत्तता के आधार पर—'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इत्यादि वचनों का समन्वय सम्भव बना करता है। इसी समानैककेन्द्रानुबन्धित्वनिबन्धन वच लवृत्तता को लक्ष्य बनाकर हमें तृतीयमन्त्र के अक्षरार्थ का समन्वय करना है।

वृत्त यदि वर्तुल (गोलाकार) है तो उसमें एक 'केन्द्र' है, जिससे यह वृत्त 'समानकेन्द्र' कहलाता है। एककेन्द्रावच्छिन्न वर्तुलवृत्त के हृदय (केन्द्र) से विनिर्गत होकर वृत्त की परिधिपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाली सम्पूर्ण केन्द्रशक्तियाँ समसमानधर्म्मा ही रहा करती हैं। चारों ओर परिपूर्णरूप से—समानरूप से—एकरूप से ही केन्द्रशक्ति वितत होती है। मन्त्रोपात्त 'विश्व' शब्द इसी परिपूर्णतालक्षण—सर्वता का—संग्राहक बना हुआ है। जिस परमाकाशलक्षण स्वयम्भू विश्वकर्म्मा के महिमामण्डल में परमेष्ठ्यादि शेष चारों समष्टिपिण्ड बुद्बुदवत् गर्भीभूत हैं, वह महासमष्टि अनन्ताकाशमूर्त्ति स्वयम्भू ही विश्वकर्म्मा विश्वमूर्त्ति प्रजापति है, जिसे आर्य्यसर्वस्वशास्त्र (पुराण) ने 'सप्तवितस्तिकाय' * कहा है। इस विश्वमूर्त्ति का शिरोपलक्षित मुखप्रदेश स्वयं 'स्वयम्भू' है। हृदयोपलक्षित चक्षुःप्रदेश विश्वकेन्द्रस्थ 'सूर्य्य' है। पादप्रदेश 'भूपिण्ड' है। तीनों क्रमशः वेदाग्नि-सावित्राग्नि-भूताग्निप्रधान बनते हुए सत्यप्रधान हैं। सूर्य्य से उपरि प्रतिष्ठित आपोमय परमेष्ठी, तथा सूर्य से अधः प्रतिष्ठित सोममय चन्द्रमा, दोनों ऋतप्रधान हैं। सत्यतत्त्व अविचाली माना गया है, ऋततत्त्व विचाली माना गया है। शरीर जैसे तो सर्वात्मना ही विचाली है। किन्तु दोनों हस्त विशेषरूप से विचाली प्रसिद्ध हैं। 'हाथ हिलाना' सहज विचाली भाव है। स्वयम्भू-सूर्य्य-भूपिण्ड, तीनों अग्निप्रधान होने से अविचाली बन रहे हैं, एवं ऋतपरमेष्ठी-ऋतचन्द्रमा, दोनों बाहुसमतुलित विचाली भाव हैं। इस प्रकार विश्वमूर्त्ति में इन पाँच पर्वों के मुख-(शिर)-चक्षु-(हृदय)-पाद-हस्तद्वय, ये चार विवर्त कल्पित हो जाते हैं। पूर्वोक्त समानकेन्द्रनिबन्धन वर्तुलभाव के कारण पाँचों ही पर्व सर्वात्मिक बन रहे हैं। 'विश्वतश्चक्षु' इत्यादि मन्त्र इसी भाव को अभिव्यक्त करता हुआ कह रहा है कि—

---

* क्वाहं तमो महदहं ख-चराग्निवार्भू—संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या—वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥
—श्रीमद्भागवत १० स्कं० १४ अ० ११ श्लोक।

"वह विश्वकर्म्मा अपने चक्षुरूप से (हृदयस्थानीय सूर्य्यरूप से) सर्वत समानशक्तिरूप से व्याप्त है, मुखरूप से (तदुपलक्षित शिर:स्थानीय स्वयम्भूरूप से) सर्वत व्याप्त है, बाहुरूप से (ऋतमयात्मक परमेष्ठी, तथा चन्द्ररूप से) सर्वत व्याप्त है, एवं पादरूप से (भूपिण्डरूप से) सर्वत व्याप्त है। (ऋत-सोमात्मक परमेष्ठी तथा चन्द्रमा इन दोनों) बाहुओं से, तथा भूताग्नि एवं प्राणाग्नि (भूपिण्डात्मक भूताग्नि, भूमिदमात्म प्राणाग्नि–जो क्रमशः, चित्याग्नि-चितेनिधेयाग्नि नामों से प्रसिद्ध है) रूप पार्थिव पादों से (अग्नीषोमरूप बाहु–पादों से) ही यह विश्वकर्म्मा अग्नीषोमात्मक विश्व की प्रेरणा का कारण बन रहा है। द्यावापृथिवीरूप (पिण्ड एवं महिमारूप) ऐसे महाविश्व को उत्पन्न करता हुआ सहस्रशीर्ष–सहस्राक्ष–सहस्रपात् लक्षण विश्वकर्म्माप्रजापति 'एक' रूप से सर्वत्र विराजमान है। अपनी इसी एकरूपता से अनेकभावापन्न विश्व को उत्पन्न कर यह–'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' इस सिद्धान्त को अक्षरशः अन्वर्थ प्रमाणित कर रहा है।

(२४४)–'किंस्विद्वन क उ स वृक्ष आस०' (४)–मन्त्रार्थसमन्वय—

(४)—'किंस्विद्वन'–इत्यादि का रहस्यार्थ पूर्व में विस्तार से प्रतिपादित है, जिस उत्तरगर्भित प्रश्नात्मक इस मन्त्रार्थ की प्रासङ्गिक सन्दर्भसमन्वयस्मृति यही है कि, सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्परूप 'ब्रह्मवन' के महामायावच्छिन्न सहस्रकलामूर्ति अश्वत्थ नामक षोडशीपुरुषरूप 'ब्रह्मवृक्ष' के चरमभाग के तक्षण से ही द्यावापृथिवीरूप पिण्डमहिमात्मक इस महाविश्व का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है, जिसका रहस्यात्मक स्वरूपबोध मानव की मननशीला प्रज्ञानमयोमयी सुबुद्धपनुगृहीता नैष्ठिकी अन्तःप्रज्ञा पर ही अवलम्बित है। (देखिए १४१५७)।

(२४५)–'या ते धामानि परमाणि०' (५)–मन्त्रार्थसमन्वय—

(५)—हे विश्वकर्म्मन्! आपके जो परम–अवम–मध्यम धाम हैं, उन तीनों धामों की (सहज) शिक्षा से अपने सखाओं को आप अनुगृहीत करें (कर रहे हैं), जो कि सखा आपके 'हवि' (भोग्य / स्थानीय बने हुए हैं। हे स्वधावन्! आप स्वयं ही इस स्वधात्म हवि से अपने शरीर को महिमारूप से विस्तृत करते हुए (फैलाते हुए) यजन में (आदानप्रदानात्मक सर्वहुतयज्ञसत्र में) प्रवृत्त रहें (प्रवृत्त हैं)।

1 मनःप्राणवाङ्मय षोडशीप्रजापतिलक्षण स्वयम्भू प्रजापति ही विश्वकर्म्मा सर्वकर्म्मा प्रजापति है, जिसके अव्यय–अक्षर–क्षर नामक संस्थानों का, एवं इन तीनों संस्थानों के मूलभूत अमानिक अद्व मायिक परात्परसंस्थान का पूर्व में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इत्यादि निगमानुसार इस सर्वप्रजापति के इस प्रकार मायातीतअनन्तपरात्पर—महामायावच्छिन्नअव्यय—योगमायावच्छिन्न अक्षर–भूतमायावच्छिन्न क्षर, भेद से चार संस्थान हो जाते हैं। ये ही विश्वकर्म्मा प्रजापति के प्रातिस्विक अनन्तधाम–परमधाम—मध्यमधाम–अवमधाम (परात्परधाम-अव्ययधाम-अक्षरधाम - क्षरधाम) रूप चार धाम हैं, जिनमें परात्पररूप अनन्तधाम तो इनका अधिष्ठान ही बना रहता है। शेष तीनों परम–मध्यम अवमधाम प्रवर्ग्यरूप से–'अवरान् आविवेश' रूप से अन्य परमेष्ठीसर्गादि के साथ भी सुसमन्वित रहते हैं दो प्रकार से।

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से जो कुछ वस्तुतत्त्व-पदार्थस्वरूपरचना है, सब का तत्प्रत्येक सर्ग में अवतरण प्राकृतिक है, यही प्रथम प्रकार है, जिससे प्रत्येक सर्ग धामत्रयात्मक बना हुआ है, जिस धामत्रयी के माध्यम से ही परमेष्ठ्यादि प्रत्येक अवयवों के साथ परमधामरूप अव्ययात्मा नामक 'आत्मा', मध्यमधामरूप अक्षरात्मा नामक 'पुनःपदम्' (महिमामण्डल), एवं अवमधामरूप क्षरात्मा नामक 'पदम्' (भूमिपिण्डलक्षण मूर्त्तपिण्ड), इन तीनों का सम्बन्ध रहता है, जैसा कि प्रथममन्त्रव्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है। इस प्रथम प्रकारात्मक धामत्रय-समन्वय को हम 'व्यष्ट्यात्मक धामप्रकार' कहेंगे।

दूसरा प्रकार समष्ट्यात्मक है। स्वयं स्वयम्भू, तद्गर्भीभूत परमेष्ठी, दोनों की अमृतप्रधाना समष्टि अव्ययप्रधान परमधाम मानी जायगी। विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य + अमृतमृत्युमयमूर्त्ति अक्षरप्रधान मध्यमधाम माना जायगा। एवं पृथिवीचन्द्ररूपा० मर्त्यप्रधाना समष्टि क्षरप्रधान अवमधाम माना जायगा, यही द्वितीय प्रकार होगा। स्वयं स्वयम्भू प्रजापति को परमप्रजापति माना जायगा, एवं तत्प्रतिकृतिभूत परमेष्ठी आदि चारों को 'प्रतिमाप्रजापति' कहा जायगा +। ये चारों प्रतिमामात्र स्वयम्भू के स्वरूप से सर्वात्मना समतुलित होते हुए क्योंकि इसके साथ आदानप्रदानात्मक समानधर्म्म-शील-व्यसन से नित्य समन्वित हैं। अतएव इन्हें 'सखा' अभिधा से व्यवहृत किया जाएगा। स्वयम्भूप्रजापति के वैश्वरूप्य महिमामण्डल में समुत्पन्न होने के कारण सूर्य्यादि चारों प्रतिमाप्रजापति जहाँ स्वयम्भू के अपत्य हैं, वहाँ स्वयम्भू के शील-व्यसन-स्वरूप-संस्थान से आत्मा-पद-पुनःपद-भावमाध्यम से सर्वात्मना समतुलित रहते हुए इन्हें स्वयम्भू के 'सखा' भी माना जा सकता है। इसी समानशीलव्यसनभावानुप्राणित पारस्परिक स्वरूपसमतुलन की दृष्टि से 'शिवा सखिभ्य' कहा गया है।

परमप्रजापति के साथ इन प्रतिमाप्रजापतियों का परस्पर आदान-प्रदानात्मक 'अन्नान्नाद' सम्बन्ध है। स्वयम्भू में ये सब आहुत हैं, इन में स्वयम्भू आहुत हैं। सम्पूर्ण भूतभौतिक प्रपञ्च स्वयम्भू में हुत हो रहा है, सम्पूर्ण भूतभौतिक प्रपञ्चों में स्वयम्भू हुत हो रहे हैं, जैसा कि-'सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि हुत्वा' इत्यादि रूप से पूर्व के प्रथममन्त्रव्याख्यान में स्पष्ट किया जा चुका है। यह इनका स्वधा (अन्नात्मक हविर्द्रव्य) बन रहा है, तो ये उसके स्वधा बन रहे हैं। 'प्रहितां संयोग'-प्रयुतां संयोगः' लक्षण पारस्परिक स्वधारूप-अन्नादरूप इसी नैसर्गिक सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए श्रुति ने

— निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च, हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन्।

* तदप्तत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात, सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्।

+ "स ऐक्षत प्रजापति (स्वयम्भू)—इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि। आत्मनो ह्येत प्रतिमामसृजत। ता वा एताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त-(१)-अग्निः (तद्गर्भितो भूपिण्डश्च), (२) इन्द्रः (तद्गर्भितः सूर्य्यश्च, (३) सोमः-(तद्गर्भित-श्चन्द्रश्च), (४) परमेष्ठी प्राजापत्य (स्वायम्भुवः)"। (शत० ११।१।१२,१३।)।

'हविषि स्वधाव' इत्यादि कहा है, वित्त अन्नादाद सम्बन्ध का निम्नलिखित एक अन्य मन्त्रश्रुति से बड़ा ही रोचक स्वरूपविश्लेषण हुआ है—

> अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।
> यो मा ददाति स इ देवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥
> —सामसं०पू०६।३।

(२४६) 'विश्वकर्म्मन् हविषा वावृधान' (६) मन्त्रार्थसमन्वय—

(६)—हे विश्वकर्म्मन्! (प्रतिमाप्रजापतिरूप परमेष्ठी–सूर्य्यादि हविप्रदाताओं के द्वारा प्रदत्त स्वधारूप) हवि से अपने महिमस्वरूप से प्रवृद्ध बनते हुए ही आप स्वयं ही द्यावापृथिवीरूप (महिमा तथा पितररूप) स्वर्गों का यजन करें (कर रहे हैं)। अर्थात् परस्परादान–प्रदानलक्षण आहुतियज्ञ से आप स्वयं भी महिमाशाली हैं, एवं आपके प्रतिमा स्थानीय परमेष्ठी सूर्य्यादि भी द्यौः–भूमिरूप से महिमामय बन रहे हैं। जो प्रजा (मानव) आप के इस परस्परादान–प्रदानलक्षण सत्र के स्वरूप से अपरिचित रहती हुई 'केवलाघो भवति केवलादी' (ऋक्सं०१०म ११७सू०६मं०)के अनुसार केवल वैय्यक्तिक स्वार्थसाधन में लिप्त है, वह सदा मोहपाश में आबद्ध रहती है। कभी उसे आत्मस्वरूपबोध नहीं होता। हम अपने हृदयस्थ मनःप्रतिष्ठित विज्ञानबुद्धिरूप इन्द्र से ही यह कामना करते हैं कि, वही हमारे इस जीवन का सूरि-प्रेरक बनें। उसी की प्रेरणा–नोदना से हम अपने मूलप्रभवप्रजापति के साथ सख्य सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ बनते हुए परस्परादान-प्रदानलक्षण स्वधायज्ञ के माध्यम से आत्मपरिपूर्णता प्राप्त करें।

(२४७) 'वाचस्पतिं विश्वकर्म्माणमूतये' (७) मन्त्रार्थसमन्वय—

(७)-हम यजुर्वाङ्मय, अतएव 'वाचस्पति' नाम से प्रसिद्ध उस विश्वकर्म्मा को, जो अपने अव्ययरूप से मनोजुव (मनोजव–मनोमय) है, आहुत कर रहे हैं। विश्वस्वरूपसंरक्षण के लिए, विश्वप्रजा के अभ्युदय निःश्रेयस् के लिए साधुकर्म्मा (साधुकर्म्मा) विश्वकर्म्मा प्रजापति हमारी इस तत्स्वरूपवर्णनात्मिका प्रार्थना को लक्ष्य बनावें, जिस वाङ्मय आहुतिकर्म्म (स्वरूपवर्णनात्मक स्तुतिकर्म्म) के माध्यम से हम (सूक्तद्रष्टा महर्षि) सदा उनका यजन करते रहते हैं।

(२४८) 'यो नः पिता जनिता०' (८) मन्त्रार्थसमन्वय—

(८)—जो विश्वकर्म्मा प्रजापति हमारा 'पिता' है, 'जनिता' है, जो 'विधाता' है, सम्पूर्ण धामों का परिज्ञाता है, जो देवताओं का एकमात्र अभिन्न आधार है, ऐसे इस विश्वकर्म्मा स्वयम्भू प्रजापति को–एकेश्वर को–ही अन्यान्य भुवनप्रश्नोत्थानपूर्वक अपना लक्ष्य (समाधानलक्ष्य) बनाया करते हैं।

अधिष्ठानात्मक आलम्बनकारण ही स्वर्ग का मूलसंरक्षक माना गया है। मौलिक सत्ताप्रतिष्ठा ही मूल स्वर्ग की प्रधान संरक्षिका है। संरक्षक ही परिभाषा में 'पिता' है। अपने मनोमय अव्ययात्मस्वरूप से मूलाधिष्ठान–आलम्बन–बनता हुआ विश्वकर्म्मा 'पिता' प्रमाणित हो रहा है। 'तथा अक्षराद्विविधा: सौम्य। भावा: प्रजायन्ते' इत्याद्यनुसार अपने मायामय अक्षरात्मस्वरूप से यही विश्वकर्म्मा स्वर्ग का जनक बनता

हुआ 'जनिता' उपाधि से विभूषित हो रहा है। मृत्तिका से उत्पन्न घट का विवर्त्तस्थान मृत्तिका ही माना गया है, जैसा कि 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादि उपनिषद्वचन से प्रमाणित है। उपादानकारण ही अपने कार्य का विवर्त्त (धारक-उक्थब्रह्मसामलक्षण आत्मा) बनता है। अतएव अपने वाङ्मय स्वरूपलक्षण से यही विश्वकर्म्मा सर्ग का उपादान बनता हुआ 'विधाता' प्रमाणित हो रहा है। इस प्रकार अपने अव्यय-अक्षर-क्षरकर्मों से सर्ग का अधिष्ठान-निमित्त, एवं आरम्भण बनता हुआ यही विश्वकर्म्मा क्रमशः * 'पिता-जनिता-विधाता' नामों से प्रसिद्ध हो रहा है।

भू-भुव-स्व-भावों से समतुलित, रोदसी-क्रन्दसी-संयती नामों से उपवर्णित पृथिवी-सूर्य्य-स्वयम्भू अभिधा से उपभुक्त प्रथम-मध्यम-परमधामरूप इस अवान्तर धामों की समष्टि स्वयम्भू के परमाकाश-लक्षण वैश्वरूप्य मण्डल में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है, जैसे कि एक मानव के ज्ञानमण्डल में उसका भावना-भावनात्मक अन्तर्जगत प्रतिष्ठित रहता है। ज्ञानजनित भावनासंस्कार, कर्म्मजनित वासनासंस्कार ही मानव का अन्तर्जगत् है जो मानव के ज्ञानात्मक महिमामण्डल में उसीप्रकार प्रतिष्ठित है, जैसे कि क्षीरसमुद्रात्मक खलात्मक सम्वत्सर महिमामण्डलमें समभिचन्द्रगर्भिता महापृथिवी प्रतिष्ठित है। अपने अन्तर्जगत का यह अन्तर्य्यामी द्रष्टा वेत्ता माना गया है। विश्व में एकमात्र स्वायम्भुव वैश्वरूप्य (महिमामण्डल) ही, ऐसा सूत्रमण्डल है, जिसमें समहिमसम्पूर्ण धाम अन्तर्जगद्रूप से प्रतिष्ठित हैं। अतएव इसे सर्ववित्-सर्वज्ञ माना गया है +। विश्वकर्मा की इसी सर्वव्याप्ति का-'यो धामानि वेद भुवनानि विश्वा' इत्यादि वाक्य से स्पष्टीकरण हुआ है।

'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'-'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'-'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास'-'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'-'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' इत्यादि वचनों के अनुसार यह मन-प्राणवाङ्मय-ज्ञानक्रियार्थमूर्त्ति-अमृतमयभमलक्षणा-अव्ययाक्षरक्षरलक्षणरूप 'एक' स्वयम्भू ब्रह्म-प्रजापति-विश्वकर्म्मा ही परमेष्ठी (वरुण)-सूर्य-(इन्द्र)-चन्द्रमा-(सोम)-पृथिवी-(अग्नि)-आदि आदि देव-भूतसर्गों का अधिष्ठान-निमित्त-आरम्भण बना हुआ है। क्रमभिव्यक्तितारतम्य से यह एक ही इन नाना विभूतिभावों में परिणत हो रहा है। अतएव इन सब का उस एक 'स्वयम्भूब्रह्म प्रजापति विश्वकर्म्मा' नाम से संग्रह किया

---

* मनोमय अव्ययात्मा ज्ञानप्रधान है, यही अधिष्ठानात्मक 'पिता' है। अतएव लोकव्यवहार में ज्ञानप्रदाता आचार्य को 'पिता' माना जा सकता है। प्राणमय अक्षरात्मा क्रियाप्रधान है, यही निमित्तात्मक 'जनिता' है, अतएव प्रजननक्रियाप्रवर्त्तक जनक को लौकिक 'जनिता' कहा जा सकता है। वाङ्मय क्षरात्मा अर्थप्रधान है। यही आरम्भणात्मक 'विधाता' है। अतएव प्रजननफलभूत गर्भसंचय अर्थ (भूतपिण्ड) की अधिष्ठात्री माता को लौकिक 'विधाता' कहा जा सकता है। 'यो नः पिता जनिता, यो विधाता' का यही व्यावहारिक समन्वय है।

,— योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्। (ऋक्सं०)।

+ यः सर्वज्ञः सर्वविद्-यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते॥ (मुण्डकोपनिषत् १।१।९)।

जा सकता है, किया गया है। प्रजापति की इसी सर्वदेवव्याप्ति का–'यो देवानां नामधा एक एव' वचन से स्पष्टीकरण हुआ है, जिसके रहस्यज्ञान से सर्वात्मना असंस्पृष्ट महानुभाव इस सम्बन्ध में अग्नि–मित्र–वरुण–सोम–इन्द्र–परमेष्ठी–आदि तत्त्वों का भी परस्पर पर्य्याय सम्बन्ध मानने–मनवाने की भ्रान्ति कर रहे हैं।

अवश्य ही ये सब उस एक ही के नानारूप हैं। अतएव इन सब के लिए अग्निब्रह्म–मित्रब्रह्म–वरुणब्रह्म आदि ब्रह्मनाम व्यवहृत हो सकता है, ब्राह्मणोपनिषदों में हुआ है। एतावता अग्नि को मित्रका, मित्र को इन्द्र का पर्य्याय मानकर इन देवतत्त्वों को सर्वत्र 'ब्रह्म' नाम से समन्वित करने का चेष्टाकरण सर्वथा निगमविरुद्ध, अतएव सर्वात्मना उपेक्षणीय ही है। 'गुणानां च परार्थत्वात्–असम्बन्धः समत्वात्' के मर्म्मज्ञ यह जानते ही हैं कि, आँख–कान–नाक–मुख–उदर–आदि सभी 'अहं' रूप आत्मा की दृष्टि से जहाँ अभिन्न हैं, वहाँ अपने वैय्यक्तिकरूप से सब विभिन्न अवयव हैं। चक्षु–श्रोत्र–कर्णादि अवश्य ही 'अहं' हैं, किन्तु चक्षु तो श्रोत्र कर्णादि नहीं हैं, कर्ण तो चक्षुःश्रोत्रादि नहीं हैं। अवश्य ही इन्द्र–मित्र–वरुणादि ब्रह्म हैं। किन्तु इन्द्र तो मित्र–वरुणादि नहीं हैं, मित्र तो इन्द्र–वरुणादि, एवं वरुण तो इन्द्र–मित्रादि नहीं हैं। इन सर्वथा विभिन्न देवतत्त्वों के स्वरूपज्ञान की उपेक्षा कर सर्वत्र 'ईश्वराय–ईश्वराय' की घोषणा करने वाले वेदभक्तों से आर्षसंस्कृति का जैसा अनिष्ट हुआ है, परसंस्कृतिप्रधान यवन–म्लेच्छादि आक्रान्ताओं से भी उतना अनिष्ट नहीं हुआ।

स्वयम्भू–परमेष्ठी–आदि पञ्चपर्वा विश्व ही क्या विश्वकर्म्माप्रजापति की व्याप्ति–इयत्ता है ?, क्या इन पर्वों पर ही विश्वस्वरूपमीमांसा विश्रान्त है ?, इसी प्रश्न का 'सम्प्रश्न' रूप से * समाधान करती हुई मन्त्र श्रुति अन्त में कहती है कि–'तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या' (अन्यानि भुवनानि तं विश्वकर्म्मप्रजापतिमेव सम्प्रश्नरूपेण यन्ति–अनुगता भवन्ति)। "प्रश्न का एकीभावात्मक 'सम्प्रश्न' आप ही समाधान है", यही वचनशेष का अक्षरार्थ है। पञ्चपर्वा विश्व तो उस अरूपमूर्त्ति सहस्रवल्शेश्वर प्रजापति का–'पञ्चपुरुषीरा प्राजापत्या वल्शा' रूप एक शाखारूप मात्र है। महामायावच्छिन्न एक मायीमहेश्वरात्मक विश्वकर्म्मा के गर्भ में ऐसे ९९९ मुख्य और प्रतिष्ठित हैं, जिनसे सम्बन्ध रखनेवाली वैज्ञानिक प्रश्नपरम्परा इस एक वल्शेश्वर से समन्वित प्रश्नपरम्परा से समतुलित रहती हुई 'सम्प्रश्नात्मिका' बन रही है। एवं इस एक प्रश्न के समाधान से ही उन सब सम्प्रश्नात्मक प्रश्नों का भी समाधान गतार्थ बन जाता है। यही वचनतात्पर्य्य है।

(२४९)–'परो दिवा पर एना पृथिव्या' (६) मन्त्रार्थसमन्वय—

(६)–जो विश्वकर्म्मा–प्रजापति इस द्युलोक से भी परे है, पृथिवी से भी परे है, देवों और असुरों से भी परे है, उस विश्वकर्म्मा प्रजापति के आपोभाग (रूप सुवेद नामक स्वेदवेद) ने किसे सर्वप्रथम अपने गर्भ में धारण किया ?, जिस (गर्भीभूत तत्त्व) को सम्पूर्ण देवदेवता × अपना लक्ष्य बनाए रहते हैं।

---

* एक लक्ष्य से समतुलित अन्य प्रश्न की पारिभाषिक संज्ञा ही 'सम्प्रश्न' माना गया है।

× प्राणतत्त्व का पारिभाषिक सामान्य नाम है 'देवता'। इस सामान्य परिभाषा के अनुसार ऋषि–पितर–असुर–गन्धर्व–देव–पशु–आदि यच्चयावत् प्राणतत्त्व 'देवता' नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर–'ऋषिदेवत्य–पितृदेवत्य–असुरदेवत्य–देवदेवत्य–पशुदेवत्य–आदि व्यवहार प्रतिष्ठित हैं। त्योसर्म्मय ३३ संख्या में विभक्त अग्निप्राणात्मक तत्त्व ही 'देव' नामक देवता हैं, अतएव इस आग्नेय प्राण को हम 'देवदेवता' कहेंगे। जहाँ भी श्रुति में केवल 'देव' शब्द पठित होगा, सर्वत्र आग्नेय 'देवदेवताओं' का ही ग्रहण होगा।

योगमायावच्छिन्न सप्तभुवनात्मक–पञ्चपर्वा विश्व में यद्यपि स्वयम्भूविश्वकर्म्मा प्रजापति भी त्रयी-त्रैलोक्य में द्युलोकरूप से समाविष्ट हैं। अतएव इस भुवनदृष्टिकोण से परमेष्ठी–सूर्य्यादिवत् यद्यपि स्वयम्भू विश्वकर्म्मा भी द्यावापृथिवीनिबन्धना भुवनमर्य्यादा–सीमा–में ही अन्तर्भुक्त है, इसीलिए इसे पूर्व में द्युरूप 'परमधाम' कहना मानना अन्वर्थ भी बनता है। तथापि सहस्रवल्शेश्वर–महामायावच्छिन्न मायी महेश्वरात्मक परात्परपुरुष (षोडशीपुरुष) निबन्धन 'आभूप्रजापति' (आसमन्तात् भाति–भवति–व्याप्तो–भवति) रूप महामायी स्वयम्भूप्रजापति को सप्तभुवनात्मक–त्रिधामलक्षण द्यावापृथिवी की सीमित परिधि से बहिर्भूत ही माना जायगा। सहस्रवल्शाओं के अनुपात से सहस्रमार्गों में ही विभक्त त्रिधामात्मक द्यावापृथिव्य सप्तभुवनों की अपेक्षा से सहस्रवल्शेश्वर 'आभू' नामक महामायी स्वयम्भूप्रजापति विश्वकर्म्मा (मायी महेश्वर) को 'पर' ही माना जायगा, एवं इसी दृष्टिकोणमाध्यम से यह कहा और माना जा सकेगा कि, 'विश्वकर्म्मा आभूस्वयम्भू द्यु से भी परे हैं, एवं पृथिवी से भी परे हैं'। 'परो दिवा पर एना पृथिव्या' का यही तत्वार्थ है।

प्रत्येक वल्शेश्वर में आपोमय परमेष्ठीमण्डल, एवं अग्निमय सौरमण्डल, ये दो ही मुख्य संस्थान हैं। भूपिण्ड सूर्य्यसजातीय (आग्नेय) है, चन्द्रपिण्ड परमेष्ठिसजातीय (आपोमय) है। अतएव ये दोनों पिण्ड आपोमय परमेष्ठी, एवं अग्निमय सूर्य्य से संगृहीत हैं। फलतः वल्शात्मक पञ्चपर्वा विश्व में परमेष्ठी एवं सूर्य्य, इन दो संस्थाओं का ही प्राधान्य प्रमाणित हो जाता है। अप्तत्त्व ही वरुण है, यह वारुण आप्यप्राण ही 'असुर' है। एवं सौर आग्नेय प्राण ही 'देव' नामक देवता है, जैसा कि टिप्पणी में स्पष्ट कर दिया गया है। इस प्रकार परमेष्ठी–सूर्य्यवत् वल्शात्मक पञ्चपर्वा विश्व में आपोमय पारमेष्ठ्य असुरप्राण, तथा अग्निमय सौर देवप्राण, इन दो प्राजापत्य (स्वायम्भुव) प्राणों का ही प्राधान्य प्रमाणित हो जाता है। इसी आधार पर प्राकृतिक प्राणसपर्य्यात्मक आख्यानोपाख्यानों में–'देवाश्च ह वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे' (शतपथ) इत्यादि रूप से सौर देव, तथा पारमेष्ठ्य असुरों की प्रतिद्वन्द्विता का ही उल्लेख रहता है। स्वायम्भुवप्राण 'ऋषिप्राण' कहलाया है। वल्शात्मक पञ्चपर्वा योगमायावच्छिन्न स्वयम्भू तो अवश्य ही परमेष्ठी–सूर्य्यगत इनके असुर–देवप्राणों का प्रपञ्च–प्रतिष्ठातत्त्व बनता हुआ तत्सृष्ट्वा न्याय से इन असुर–देवप्राणों की सीमा में ही अन्तर्भुक्त है। किन्तु सहस्रवल्शाधिष्ठाता महामायी आभूस्वयम्भू विश्वकर्म्मा इन दोनों प्राणों से भी परमेष्ठी–सूर्य्यवत् पर ही माना जायगा। इसी तथ्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है—"परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति"।

'कंस्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपः०' इत्यादि मन्त्रोत्तरभाग हिरण्यगर्भात्मक सौरमण्डल का ही स्वरूपनिरूपण कर रहा है, जिसके द्वारा त्रिधामात्मक सप्तभुवनलक्षण पञ्चपर्वा विश्व के स्वरूप का आविर्भाव (अभिव्यक्ति) होता है। पञ्चपर्वा विश्वस्वरूप के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों ने 'शिरोमूलासृष्टि, हृदयमूलासृष्टि', पादमूलासृष्टि, ये तीन विभिन्न प्रकार माने हैं। इसका तात्पर्य्य है 'स्वयम्भूमूलासृष्टि–सूर्य्यमूलासृष्टि, भूमूलासृष्टि'। क्योंकि 'स्वयम्भू–सूर्य्य–भूपिण्ड' ये तीन ही पर्व सप्तवितस्तिकायात्मक विश्वेश्वर (वल्शेश्वर) के क्रमशः 'सहस्र-शीर्षा' उपलक्षित 'शिर', 'सहस्राक्षः' उपलक्षित 'हृदय', एवं 'सहस्रपात्' उपलक्षित 'पाद' हैं। इन तीनों विभिन्न दृष्टिकोणों के मूल विभिन्न तीन भाव हैं, जो क्रमशः "सृष्टिमूलासृष्टि–स्थितिमूलासृष्टि, दृष्टिमूला-सृष्टि' इन नामों से प्रसिद्ध हैं। प्राकृतिक उत्पत्तिक्रम ही 'सृष्टि' नामक प्रथम भाव है। महत्या स्वयम्भू से

ही सृष्टि का आरम्भ होता है। इस दृष्टि से सृष्टिको 'शिरोमूला–स्वयम्भूमूलासृष्टि' कहा जायगा। उत्पात्यनन्तर मध्यस्थ सूर्य्य के आदानप्रदानात्मक यज्ञ के द्वारा ही उत्पन्न विश्व स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित–स्थित रहता है। सूर्य्यसत्ताबल ही विश्वसत्ताबल माना गया है, जो स्वस्त्ययनात्मक पुण्याहवाचन कर्म्म में 'पुण्याह' नाम से प्रसिद्ध है, जिस का भारतीय माङ्गलिक ब्राह्मण 'पुण्याहं–पुण्याहम्' रूपसे यशोगान किया करते हैं। सूर्य्य का अभाव ही सृष्टिस्थिति का अभाव है। अतएव इस स्थितिमूलक दृष्टिकोण की अपेक्षा से विश्वसर्ग को सूर्य्यमूलक मान लिया गया है। इसी दृष्टि से सृष्टि को 'हृदयमूला'-सूर्य्यमूला' सृष्टि माना जायगा। सृष्टिसर्ग का द्रष्टा–व्याख्याता–श्रोता है पार्थिव ऋषि विद्वान्–लौकिक मानव। ऋषिमानव है इस रहस्य का द्रष्टा, विद्वान् द्विजातिमानव है इस ऋषिदृष्ट भौतरहस्य का स्मृतिरूप से व्याख्याता, एवं अस्मदादि लौकिक मानव हैं इस व्याख्या के श्रोता–अनुगन्ता पद्मभेषी। इस तीनों मानवों का आधार है भौमजगत् (पार्थिवजगत्)। इन की दृष्टि में प्रथमस्थान 'भू' है, द्वितीय स्थान सूर्य्य है, अन्तिमस्थान स्वयम्भू है। इस दृष्टिप्राधान्य से विश्वसर्ग का व्याख्याक्रम बन जाता है भू–सूर्य्य–स्वयम्भू। यही तीसरा दृष्टिकोण है। इसी दृष्टि से सृष्टिको 'पादमूला–पृथिवीमूला' सृष्टि घोषित किया जायगा। सृष्टिरहस्यप्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थों में तीनों ही प्रकार यत्रतत्र विस्तार से प्रतिपादित हैं, जिनका उक्त विभिन्न दृष्टिकोणों से समन्वय न करने के कारण ही व्याख्याता–श्रोताओं में अनेक प्रकार की भ्रान्तियों का उद्गम हो पड़ा है।

तात्पर्य्य पूर्व सन्दर्भ का यही है कि, सृष्टिस्वरूप के उपवर्णन में वैज्ञानिक महर्षियोंने 'सृष्टि–स्थिति–दृष्टि–इन तीन दृष्टिकोणों से तीन प्रकारों का माध्यम स्वीकार किया है। सृष्टि बनी कैसे, किस से?, इस प्रश्न को मीमांसा में उन्होंने स्वयम्भू को मूल मानकर विश्वस्वरूपमीमांसा की है, जिस का सृष्टिमूलक प्राकृतिक क्रम रहा है–'स्वयम्भू'-परमेष्ठी[२]–सूर्य्य[३]–भू[४] –चन्द्रमा[५]' यह। सृष्टि का 'स्वरूप कैसे किससे सुरक्षित है?, इस प्रश्न की मीमांसा में विश्वमध्यस्थ सूर्य्य को मूल मान कर विश्वस्वरूपमीमांसा हुई है। जिसका स्थितिमूलक क्रम रहा है–'सूर्य्य[१], चन्द्रमा[२], भू[३], परमेष्ठी[४], स्वयम्भू[५]' यह। सृष्टि का स्थूलरूप क्या है?, कौनसा सृष्टिरूप सर्वप्रथम मानव की दृष्टि का विषय बनता है?, इस प्रश्न की मीमांसा में विश्व के अन्त में प्रतिष्ठित भूपिण्ड को मूल मानकर विश्वस्वरूपमीमांसा हुई है। जिस का दृष्टिमूलक क्रम रहा है–भू[१] –चन्द्रमा[२]–सूर्य्य[३]–परमेष्ठी[४]–स्वयम्भू[५]' यह। इन तीनों क्रमों के माध्यम से ही विभिन्नरूप से तीन प्रकार से विश्वस्वरूपमीमांसा हुई है, जो प्रजास्वरूपमीमांसा से अंशतः समतुलित है*।

---

* गर्भस्थ शिशु के किस अङ्ग का सर्वप्रथम स्वरूपनिर्म्माण होता है?, प्रश्न के समाधान में विभिन्न विप्रमुखों के विभिन्न तीन मत हैं। प्रथम मस्तक का निर्म्माण होता है, यह एक मत है। प्रथम पैर बनने लगते हैं, यह एक मत है। प्रथम हृदय का निर्म्माण होता है, यह एक मत है। भगवान् चरक इस सम्बन्ध में अपना यह निर्णय अभिव्यक्त कर रहे हैं कि,–'सर्वे–सहैव'। अर्थात् शिर–हृदय–पादादि सब अङ्गों का निर्म्माण एक साथ ही होता है। स्पष्ट है कि मतत्रयनिरूपणा यह निर्म्माणभावना नैगमिक दृष्टिकोणत्रय को ही मूल बना कर प्रवृत्त हुई है। देखिए–चरकसंहिता शा० स्था०।

द्यावापृथिवी-स्वरूपपरिलेख '—

१—स्वयम्भूमूलासृष्टिः—शिरोमूला (सृष्टिमूलासृष्टि)—स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, भूः, चन्द्र

२—सूर्य्यमूलासृष्टि—हृदयमूला (स्थितिमूलासृष्टिः)—सूर्य्य, चन्द्रमा, भूः, परमेष्ठी, स्वयम्भू

३—पृथिवीमूलासृष्टि—पादमूला (दृष्टिमूलासृष्टि)—भूः, चन्द्रमा, सूर्य्य, परमेष्ठी, स्वयम्भू

उक्त तीनों दृष्टिकोणों में से प्रकृतमन्त्रोत्तरार्द्ध मध्यस्थ सूर्य्यमूलक—स्थितिभावप्रधान—दृष्टिकोण को ही प्रधानता देता हुआ कह रहा है कि—'कंस्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आप॰'। आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में समुत्पन्न आङ्गिरस अग्न्याग्नि के गर्भीभूत हो जाने से अम्भीयोमात्मक को प्रचण्ड अग्निगोलक त्रैलोक्य तम का निवारण करता हुआ अभिव्यक्त हो पड़ता है, वही अपगर्भस्थ हिरण्मयाण्डमूर्त्ति सौरब्रह्माण्ड है, जिसमें—'चित्रं देवानामुदगात्' (यजुःसंहिता) इत्यादिरूप से देवदेवतात्मक सम्पूर्ण प्राणदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं। 'कंस्विद्गर्भं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे' इस उत्तर मन्त्रभाग का यही रहस्यार्थ है।

(२५०) 'तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र॰' (१०) मन्त्रार्थसमन्वय—

(१)—(६ नवम मन्त्र में प्रतिपाद्य सूर्य्यमूला—स्थितिभावप्रधाना विश्वस्वरूपमीमांसा का ही विस्तार से स्वरूपविश्लेषण करती हुई दशम मन्त्रश्रुति कहती है कि)—"उस (आपोमय परमेष्ठीसमुद्र) में मृत्वङ्गिरोमूर्त्ति (स्नेहतेजोमय) आपः तत्त्व ने सर्वप्रथम (सूर्य्यपिण्डनामक हिरण्मयाण्डलक्षण) गर्भ को धारण किया, जिस गर्भीभूत हिरण्मयाण्डमण्डल में सम्पूर्ण प्राणदेवता समाविष्ट हो गए। अज (अव्ययपुरुष) की नाभि (केन्द्र) रूप इस सूर्य्य में ही सम्पूर्ण विश्व समर्पित है, जिस सूर्य्य में कि सम्पूर्ण भुवन प्रतिष्ठित हैं"।

'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्' (गीता ४।६।)—'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (कठोप० २।१८)—'अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' (ऋक्सं॰) इत्यादि आर्षवचनानुसार मनोमय अमात्मा अव्ययपुरुष ही 'अज' कहलाया है। सृष्टिक्रमानुसार यद्यपि स्वायम्भुवी संचरीत्रिलोकी में मनोमय अव्ययात्मा का, सौरी क्रन्दसीत्रिलोकी में प्राणमय अक्षरात्मा का, एवं पार्थिवी रोदसीत्रिलोकी में वाङ्मय सृष्टि

चरात्मा का प्राधान्य बतलाया गया है। इस दृष्टिकोण से यद्यपि विश्वमध्यस्थ-अव्ययगर्भस्थ सौर हिरण्यगर्भ प्रजापति का अक्षरमयत्व ही प्रमाणित हो रहा है। तथापि एक विशेष औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार मध्यस्थ सौरप्रजापति को 'ब्रह्म' नामक 'पर' अव्यय से, साथ ही 'ब्रह्म' नामक अवर क्षर से भी समन्वित मानते हुए इसे अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति, विश्वकर्म्मा-षोडशीप्रजापति की उपाधि से भी समलङ्कृत माना जा सकता है। अपने प्रातिस्विक स्वरूप से महामायी अव्ययपुरुष निष्कल है, निरञ्जन है, निर्गुण है*। प्रश्न उपस्थित होता है कि, किसने ब्रह्मचिति के द्वारा इस निष्कल ब्रह्म को पञ्चकलरूप में परिणत करते हुए 'षोडशीकलपुरुष' रूप में परिणत कर दिया ? इस प्रश्न का एकमात्र समाधान महामायी अव्ययपुरुष के रसबलोभयमूर्त्ति हृदयस्थ ह-द-य-लक्षण-उक्थ्र रसानुबन्धी बल ही है, जिसे 'प्रकृति' कहा गया है, दर्शनभाषा में जो 'चेतना' नाम से प्रसिद्ध है, उपनिषदों में जो 'अक्षर' (अक्षरमूर्त्ति हृदयस्थ अन्तर्यामी) नाम से उपवर्णित हुआ है। इस प्रकृतिरूप अक्षर के व्यापार से ही अव्ययपुरुष ब्रह्मचिति के द्वारा आनन्दविज्ञानादि पञ्चकलभावों में परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दों में प्रकृति (अक्षर) ही इस ब्रह्मपुरुष को (अव्यय को) ब्रह्मचिति के द्वारा 'चिदात्मा' रूप में परिणत कर इसे सम्भूति का अनुगामी बनाकर इसे विश्वेश्वर-विश्वकर्म्मा-विश्वात्मा-विश्वचर-उपाधियों से अलङ्कृत कर देती है। यही प्रकृतिरूप अक्षर अपने मर्त्यभाग से ब्रह्मचिति के द्वारा पञ्चक्षरचिति का प्रवर्त्तक बनता है। इस प्रकार मध्यस्थ (हृदयस्थ) अक्षर ही परस्य, अतएव 'पर' नामक अधिष्ठान-आलम्बनकारणात्मक ब्रह्म अव्यय के कलात्मक स्वरूपनिर्म्माण का, एवं अवरस्य, अतएव 'अवर' नाम से प्रसिद्ध आरम्भण-उपादानात्मक-अतएव-'ब्रह्म' नाम के क्षर के स्वरूपनिर्म्माण का निमित्त बनता है। यही कारण है कि, उपनिषत् ने मध्यस्थ मध्यमधामात्मक अक्षर को ही परधामात्मक पराव्यय का, अवरधामात्मक ब्रह्माक्षर का संग्राहक मानते हुए दोनों को भी अक्षर नाम से ही व्यवहृत करते हुए इसे ही सर्वमूर्त्ति घोषित कर दिया है, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से प्रमाणित है—

[१]—सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि—'ओम्' इत्येतत् ।

[२]—एतद्ध्येवाक्षरं 'ब्रह्म' एतद्ध्येवाक्षरं 'परम्' ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

—कठोपनिषत् १।२।१५,१६,।

मध्यस्थता ही अक्षर की हृन्मूलता है, हृन्मूलता ही अक्षर की सर्वरूपसंग्राहकता है, यही श्रुतिवचनों का निष्कर्षार्थ है। इसी विशेष दृष्टिकोण से मध्यस्थ अक्षरमूर्त्ति-अक्षरप्रधान सौरहिरण्यगर्भप्रजापति को 'ब्रह्म' नामक उस अव्ययात्मपुरुष (षोडशी) से अभिन्न मान लिया जाता है, जो विश्वकर्म्मा बन रहा है। मानव

---

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥
—गीता१३।३१

की अध्यात्मसंस्था का सर्वस्व यही सौरप्रजापति बन रहा है, जैसा कि—'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्' इत्यादि अन्य वचनों से प्रमाणित है। सौरप्रजापति ही विश्वसर्ग का सर्वेसर्वा बना हुआ है। यही सर्ग-प्रलयाधिष्ठाता बना हुआ है। सूर्य्यसत्ता ही विश्वसत्ता है, सूर्य्य का अभाव ही विश्व का अभाव है। आर्षनैगमिक सनातनवर्णाश्रमधर्म्म-सर्वविधप्रजासर्ग-मोक्षस्वर्ग-आदि आदि यच्चयावत् विधि-विधानों की मूलप्रतिष्ठा यही सौरप्रजापति है। इसी अजरूप (षोडशीपुरुषाव्ययरूप) सौरप्रजापति के आधार पर उसीप्रकार विश्व की जीवनसत्ता सुरक्षित है, जैसा कि—इन्द्रशक्ति के आधार पर ही मानव की जीवनसत्ता सुरक्षित रहती है। इन्द्रशक्ति की उत्क्रान्ति के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही जैसे मानव का भौतिक स्वरूप निःशेष बन जाता है, तथैव इन्द्रशक्ति-रूप सौरप्रजापति के अव्यक्तरूप में परिणत होते ही विश्व का भौतिक व्यक्त स्वरूप स्मृतिगर्भ में विलीन हो जाता है। अतएव इसे हम अवश्य ही 'अजक' (षोडशीपुरुषात्मक विश्वकर्म्मा) मान सकते हैं, इस नाभि (केन्द्र) रूप सौरप्रजापति में ही सम्पूर्ण भुवनों को अर्पित-समर्पित मान सकते हैं। 'अजस्य नाभावध्येकमर्पितं, यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः,' इत्यादि मन्त्र इसी स्थितिमूलक दृष्टिकोण को प्रधानता देता हुआ सृष्टि का सूर्य्यमूलत्व, किंवा हृदयमूलत्व घोषित कर रहा है।

(२५१) 'न तं विदाथ य इमा जजान०' (११) मन्त्रार्थसमन्वय—

(११)—"जिस (विश्वकर्म्मा प्रजापति) ने इन सम्पूर्ण भुवनों को उत्पन्न किया है, उसे आप-हम (वास्तविकरूप से-इदमित्थमेवरूप से) नहीं जानते। (विश्वस्वरूपमीमांसक व्याख्याकार) आप लोगों के मस्तिष्क में (विश्वस्वरूप के सम्बन्ध में) कुछ और ही प्रकार के (कल्पित) सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। (जिन्हें निर्णयात्मक नहीं कहा जा सकता)। नीहार से आवृत केवल वाक्कल्पनापरायण, उदरमात्रपरायण उक्थशास (उक्थरूप सृष्टि के मूलकारण का शासन-व्याख्यान करने वाले) ऐसे मानव इतस्ततः विचरण कर रहे हैं।"

प्रकृत मन्त्र विश्वस्वरूपमीमांसा की रहस्यपूर्ण दुरधिगम्यता-दुर्बोध्यता-दुर्विज्ञेयता की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित करता हुआ हमें यह उद्बोधनसूत्र प्रदान कर रहा है कि, अपनी चकित-स्खलित-आपात रमणीया भावुकतापूर्णा-प्रज्ञा के बल पर हम सहसा जिस प्रकार विश्वस्वरूपमीमांसानुगत पृथिवी-चन्द्रमा नक्षत्र-सूर्य-धूमकेतु-पार्थिव-चान्द्र-सौर-आदि विभिन्न शक्तियाँ, आदि आदि के भौतिक कारणों के अन्वेषण में, इनके व्याख्यान-स्वरूप प्रकार-प्रदर्शन आदि में प्रवृत्त होते हुए—'पृथिवी का ऐसा स्वरूप है-वैसा स्वरूप है-चन्द्रमा यों घूमता है-नक्षत्रों का एवंविधरूप है—' इत्यादिरूपेण घोषणा के द्वारा अपनी अभिज्ञता-पाण्डित्य प्रदर्शित करते रहते हैं, ऐसा यह चकित-स्खलितप्रज्ञ प्रकार, ऐसी यह कारणान्वेषणा कदापि विश्व-स्वरूपमीमांसा का यथावत् समन्वय नहीं कर सकती। इसके लिए तो सामान्यप्रज्ञा-अस्मदादि सामान्य मानवों के लिए एकमात्र आप्तवचनप्रामाण्य ही शरणीकरणीय है। आर्षदृष्टिसमन्वित आर्षश्रुतिमानव ही इस

* अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
—गीता ४।६।

दुरधिगम्य विश्वस्वरूपमीमांसा का वास्तविक स्वरूपव्याख्यान कर सकते हैं। मानवीय प्रज्ञा का अनुमान, अनुमानानुगता भूतदृष्टि, भूतदृष्टिप्रधाना आनुमानिकी सर्गप्रभवकारणमीमांसाएँ कदापि इस दिशा में सफल नहीं बन सकतीं। जिस विश्वकारणस्वरूप 'उक्थ' के सम्बन्ध में तत्त्वद्रष्टा महर्षियोंने भी–"योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग ! वेद, यदि वा न वेद" इत्यादिरूप से दुर्विज्ञेयता अभिव्यक्त करते हुये इसे सुसूक्ष्मा विज्ञानदृष्टि का लक्ष्य घोषित किया है, उस 'उक्थ' का एकांशेनतया केवल अपनी भूतदृष्टि के माध्यम से, प्रत्यक्षकारणों के बल पर, भौतिक प्रत्यक्ष परीक्षणों के आधार पर यथेच्छ कल्पनाओं का सर्जन कर लेना, एवं उनकी यथेच्छरूप से कल्पनाप्रधाना व्याख्याएँ करने लग जाना, यह सभी कुछ आपातरमणीय है, अमान्य है। 'मनसा पृच्छतेदु–यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्–मनसा वि ब्रवीमि वो महाध्य–तिष्ठद्भुवनानि धारयन्' इत्यादिरूपा अन्तर्दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली मननप्रधाना सुसूक्ष्मा अन्तर्व्याख्या ही इस विश्वस्वरूपमीमांसा का समाधान कर सकती है। सर्वसामान्य मानव इस क्षेत्र में सर्वथा अनधिकृत ही माने जाँयगे। उनका अभ्युदय–निःश्रेयस् तो एकमात्र 'यच्छन्द आह–तदस्माकं प्रमाणम्' के अनुगमन पर ही अवलम्बित है। जो भावुक मानव इस तथ्य को न जान कर कल्पना के द्वारा विश्व की यथेच्छ मीमांसा करते हुए यथेच्छ उक्थों का व्याख्यानोपव्याख्यान करने की भ्रान्ति करते रहते हैं, उनके सम्बन्ध में हमें यही कहना पड़ेगा कि, जिस प्रकार घने कोहरे (नीहार) से ढँका हुआ मनुष्य केवल कल्पना के आधार पर–"मैं यह देख रहा हूँ–यह देख लिया–यह देख लूंगा, उसका यह स्वरूप है–यह स्वरूप है–" इत्यादि कल्पना करता हुआ, केवल अपने मन में ही अपने आप को सन्तुष्ट मानता हुआ इतस्ततः लक्ष्यहीनरूप से विचरण करता रहता है, ठीक इसीप्रकार कल्पनाप्रधाना प्रत्यक्षमूला भूतदृष्टिरूप नीहार से सर्वात्मना आवृत समावृत अभिभूत व्याख्याता लोग कल्पना के द्वारा यथेच्छ कारणपरम्पराओं की घोषणा करते हुए, केवल अपने मनोराज्य में ही सृष्टितत्त्वमर्म्मज्ञ–कुशलव्याख्याता (अद्भुतरूप) मानने मनवाने की मयावह भ्रान्ति करते हुए 'इतस्ततो वव्रम्यमाणा परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा' को अन्वर्थ बनाते रहते हैं।

जिस उद्देश्य से श्रुति को मानव के सम्मुख–आस्तिक भावुक मानव के सम्मुख–यह उद्बोधनसूत्र उपस्थित करने की आवश्यकता हुई ?, एक अनिवार्य प्रश्न उपस्थित हो जाता है –'न तं विदाथ य इमा जजान०' इत्यादि मन्त्रश्रुति के सम्बन्ध में। विश्वस्वरूपमीमांसात्मक महान् तात्त्विक सन्दर्भ के अन्त में सहसा उपस्थित हो जाने वाला ऐसा उद्बोधनात्मक प्रसङ्ग अप्रासङ्गिक सा प्रतीत होने लगता है। वर्त्तमान युग के भूतदृष्टिपरायण प्रत्यक्षवादी विश्वस्वरूपव्याख्याताओंने जिस नीहारप्रावृता स्थिति के माध्यम से विश्व की स्वरूपमीमांसा की है, जिस प्रकार इन्होंने भूस्तर–चन्द्रमा–नक्षत्रकक्षा–सूर्य्यगोलक–महदस्थान–मेरुस्वरूप–आदि की विवेचना की है, वैसा ही कुछ उस आदियुगात्मक वेदयुग में प्रचलित होता, तब तो फिर भी यथाकथञ्चित् हम इस उद्बोधनसूत्र को प्रासङ्गिक मान सकते थे। किन्तु उस युग में ऐसी अनर्गल आपात–रमणीय कल्पनाप्रधान कहानियों का कोई अस्तित्व ही नहीं था। हाँ, उस युग के प्रत्यक्षवादी सर्वसामान्य यथाजात मानव–"तद्वै तद्–अचिर्व्भास अप्यासु–त्रयी वा एषा विद्या तपति" (शत० १०।५।२।२) इत्यादिरूप से सूर्य्य–चन्द्रादि के प्रति अपना मौलिक श्रद्धान अवश्य प्रकट कर दिया करते थे, जिस के लिए एवंविध उद्बोधनसूत्र अनपेक्षित ही कहा जायगा। अतएव यह प्रश्न दृढमूल बन जाता है कि, सृष्टिस्वरूपविज्ञानप्रसङ्ग में यह अप्रासङ्गिक चर्चा क्यों ?।

प्रश्न के समाधानके लिए हमें उस 'दशवाद' को लक्ष्य बनाना पड़ेगा, जिसका आदियुगात्मक वेदयुग से भी पूर्व के परम वैज्ञानिक 'साध्ययुग' से सम्बन्ध है, एवं जिसका ऋक्संहिता के ही सुप्रसिद्ध 'नासदीय सूक्त' में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। तत्वविज्ञानकर्म्मान्वेषण में सतत प्रवृत्त ज्ञान-विज्ञानिष्ठ 'साध्य', अद्भुत अस्त्रशस्त्रविधाननिष्णात 'महाराजिक', कृषिगोरक्षवाणिज्यकुशल 'आभास्वर', एवं शिल्पकलानिष्णात 'तुषित', इन चार वर्गों में विभक्त तत्कालीन मानवसमाज में साध्यवर्ग ही प्रमुख माना जाता था, जिसने अपने सुसूक्ष्मेक्षण के द्वारा प्राकृतिक तत्त्वविमर्शन में अप्रतिम क्षमता प्राप्त करते हुए भौतिक विज्ञानदिशा में महती सफलता अर्जित करली थी। 'प्रकृति ही सब कुछ है, एवं इसके रहस्यज्ञान से मानव सब कुछ कर सकता है, नवीन विश्वनिर्माण भी कर सकता है यदि कामना करे तो" इस प्रकार प्राकृतिक तत्त्वों के रासायनिक सम्मिश्रणात्मक यज्ञों का अन्य विजातीय यज्ञों (विजातीय यौगिक तत्त्वों) के समन्वय के आधार पर नाकमहिमा (स्वर्गमहिमा) का भी उपहास करने वाले साध्योंने * सृष्टिमूल के सम्बन्ध में केवल प्राकृतिक तत्त्वों के आधार पर जो सिद्धान्त स्थापित किए थे वे, ही सुप्रसिद्ध १० सिद्धान्त 'दशवाद' नाम से प्रसिद्ध हुए, जिन का एकमात्र लक्ष्य था 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त'। 'प्रकृतिमूलक यज्ञ (प्राकृतिक तत्त्वसम्मिश्रणात्मक यागात्मक योग) से यज्ञ का सम्बन्ध' ही इनकी दृष्टि में सर्वस्व था। प्रकृतिसत्तात्मक पुरुषसत्ता-ब्रह्मसत्ता से साध्य सर्वात्मना उसीप्रकार पराङ्मुख थे, जैसे कि वर्त्तमान जड़वादी केवल प्रकृतिवादी (वस्तुतः विकारवादी) जनता हुआ ब्रह्मसत्ताबोध से सर्वात्मना असंस्पृष्ट है। साध्यों के सृष्टिमूलात्मक उक्थ (कारण) ही 'अम्भोवाद'[१], व्योमवाद[२], आवरणवाद[३], सद्वाद,[४] असद्वाद[५], अहोरात्रवाद[६], रजोवाद[७], मृत्युवाद[८], अमृतवाद[९], अमृतमृत्युवाद[१०] ' इन 'वाद' नामों से प्रसिद्ध हुए, जो तत्त्वदृष्ट्या अपना एक विशेष महत्त्व रखते हैं +। ये दशों ही उक्थवाद उस युग में प्रचण्ड तर्क-युक्ति-प्रत्यक्षदृष्टि-परम्परा के माध्यम से प्रचार-प्रसार के अनुगामी बनते हुए तद्युगानुगत भावुक महाराजिक-आभास्वरादि मानवप्रजा के स्वरूपविमोहन के कारण बने हुए थे। आगे चलकर स्वयम्भूब्रह्मसत्ता के प्रथम द्रष्टा, अतएव तद्युगीया व्यवस्था के अनुसार 'स्वयम्भूब्रह्मा' नाम से ही प्रसिद्ध ऋषिमानव के द्वारा उस ब्रह्मवाद की स्थापना हुई, जिसके आधार पर सर्वथा विभक्त दशों वाद एक अभिन्नसत्ता पर समन्वित किए गए। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' के स्थान में 'यज्ञेन प्रजापतिमयजन्त' घोषणा व्यवस्थित हुई। प्रकृति के साथ साथ पुरुषब्रह्मसत्ता का अनुगमन आरम्भ हुआ। और यों विश्वस्वरूप के सम्बन्ध में 'नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप-उक्थशासः'-साध्यों के प्रकृतिवाद का उन्मूलन कर ब्रह्मा ने ब्रह्मतत्त्वात्मक कारणवाद प्रतिष्ठित किया, जिस एककारणतावाद की निम्नलिखितरूप से घोषणा हुई—

---

* यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥
यजुःसंहिता ३१।१६।

+ विस्तारभिया यहाँ इनका स्वरूपनिरूपण करने में हम असमर्थ हैं। इन दशों वादों की संक्षिप्त स्वरूपदिशा का वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिका नामक द्वितीय खण्ड के-ब्रह्मकर्मपरीक्षा 'ग' विभागात्मक तृतीय विभाग में कर दिया गया है।

(१) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भ किमासीद्गहनं गभीरम् ॥
(२)—न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत् प्रकेत ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥
(३)—तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥
——ऋक् सं० १०।१२६।१,२,३, ।

प्राङ्मेरुमरुत्कलानुगता वेदधर्म्मव्यवस्था को प्रादुर्भूत करने वाले ब्रह्मसत्तासंस्थापक स्वयम्भू ब्रह्मा (स्वयम्भू मनु) भारतीय मानवसमाज की वर्णाश्रमव्यवस्था के आदिप्रवर्त्तक बने । इसी मानवमनु के सम्बन्ध से भारतीयप्रजा 'मनुष्या'–'मानवा'–'मनुजाः' कहलाई, और इस दृष्टिकोण से सांस्कृतिक–अपत्य परम्परानिबन्धनमाव के द्वारा 'मनोरपत्य मानव' लक्षण उस भावुकतापूर्ण लक्षण का भी समन्वय सम्भव बन सका, जिसका विश्वस्वरूपमीमांसा–निबन्ध के आरम्भ में दिग्दर्शन कराया गया है, (देखिए पृष्ठ सं० मनुशब्द का भावुकतापूर्ण निर्वचन १६७) । ब्रह्मसत्तानुगामिनी मानवप्रजा की वर्णव्यवस्था साध्ययुगानुगता वर्णव्यवस्था से ही अनुप्राणित रही । क्योंकि चतुर्वर्णव्यवस्था भी अन्यान्य मौलिक व्यवस्थाओं की भाँति प्राकृतिकी–नित्या–जन्मसिद्धा ही है, जिसका गुणकर्म्मात्मक संस्कारविशेषों से विकासमात्र हुआ करता है, जैसा कि–'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च' (वशिष्ठ) इत्यादि आर्षवचन से प्रमाणित है । आदियुगानुगत साध्य ही इस ब्रह्मयुग में ज्ञानबलानुगामी 'ब्राह्मण' कहलाए, महाराजिक ही पौरुष बलानुगामी 'क्षत्रिय' कहलाए, आभास्वर ही वित्तबलानुगामी–भूतबलानुगामी 'वैश्य' कहलाए, एवं तुषित ही शिल्पकलोपजीवी 'शूद्र' कहलाए । यहाँ आकर वेदशास्त्रप्रामाण्यमूला शब्दप्रामाण्यमक्ति दृढ़मूल बनी, जिसे केन्द्रित किया वेदयुगात्मक देवयुग के उन देवमानवों नें, जो 'शाश्वतोनपात्' नाम से प्रसिद्ध थे * ।

ब्रह्मसत्ता प्रतिष्ठित हुई, विश्वमूल का निर्णयात्मक दृष्टिकोण सुव्यवस्थित बना । सभी कुछ सुसमन्वित हुआ । किन्तु आदियुगानुगता साध्यभावना भी प्राकृतिक वारुण–आसुरप्राण के पारस्परिक अनुग्रह से प्रक्रान्त रही, जिसके आधार पर आर्षवैज्ञानिकों नें देवासुर–संग्राम की शाश्वतता घोषित की है । देवगुरु बृहस्पति, असुरगुरु शुक्र, इन दो आचार्यों के द्वारा भारतवर्ष में देवविद्या, एवं असुरविद्या का प्रचार–प्रसार प्रक्रान्त बना, जो अद्यावधि भी येनकेन रूपेण सत्कार्य्यवादसिद्धा व्यक्त प्रक्रान्त चला आ रहा है, एवं 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' रूप से यावच्चन्द्रदिवाकरौ प्रक्रान्त ही रहेगा । शुक्रविद्यामूला असुरविद्या जहाँ

* देवविभाग के आठ वर्ग हैं, जिनमें एक विभाग मानवेतिहास से सम्बन्ध रखने वाले 'भौमदेवता' ओं का है जो 'मानवदेवता' थे, जिनका अस्तित्व आज विलुप्त है । शतपथविज्ञानभाष्य के १–२–वर्षात्मक १–९–खण्डों में इन आठों वर्गों का विशद विवेचन कर दिया गया है ।

मत्यचमूलक—मूतप्रधान—जड़वादात्मक—भावकतोचेजक—मन्तर्जगत्शान्तिविघातक—भौतिक आविष्कारों का उत्साह प्रदान करती रहती है, वहाँ परस्पविविधामूला देवविद्यात्मिका निगमागमविद्या परोक्षमूलक—प्राणप्रधान—ब्रह्म भावात्मक—निष्ठासमर्पक—अन्तर्बहिर्जगत्—शान्ति—समृद्धिप्रवर्तक—आध्यात्मिक—आधिभौतिक—संपर्यात्मक—सद्भावों को प्रोत्साहित करती रहती है । असुरमूला सृष्टिविद्या, किंवा विश्वस्वरूपमीमांसा गन्धर्वनगर लीलावत् आपातरमणीया बनती हुई जहाँ नीहारेण प्रावृता रहती हुई पदे पदे संशय की जन्मदात्री है, वहाँ देवमूला विश्वस्वरूपमीमांसा प्रमाणानुगता लोकतत्त्वलीलावत् सर्वदैव रमणीया प्रमाणित बनती हुई—निर्मला रहती हुई सर्वदैव—'इदमित्थमेव नान्यथा' का उद्घोष करती रहती है । भावुकमानव वहाँ परमत्यपनेयता से प्रावाहिक आसुरविद्याओं से विमोहित होता हुआ गतानुगतिक बना रहता है, वहाँ नैष्ठिक मानवमें श्रेष्ठविद्या के द्वारा मोहातिक्रान्त बनता हुआ शाश्वतीभ्यः समाभ्य उसी सनातन—निगमागमनिष्ठा का अनन्योपासक बना रहता है । इसी नैष्ठिक मानव की इस शाश्वतीनिष्ठा को दृढमूल बनाने के लिए ही, इस साध्ययुग से आरम्भ कर प्रलय—पर्य्यन्त प्रवाहित नीहारप्रावृत स्खलनपरम्पराओं से उद्बुद्ध बनाए रखने के लिए ही मन्त्रमहर्षिने विश्वस्वरूपमीमांसात्मक तात्त्विक प्रकरण का उपसंहार—सर्वथा प्रसङ्गरूप से ही 'न तं विदाथ य इमा जजान' इत्यादि मन्त्र से किया है, जिसके उत्तरार्द्ध का प्रतीक 'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना॰' इत्यादि औपनिषद मन्त्र माना जा सकता है । 'नीहारेण प्रावृता' का प्रतीक 'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना', है । 'जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति' का प्रतीक 'स्वयं धीरा पण्डितं मन्यमाना' है, एवं 'चरन्ति' का प्रतीक 'दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा' है । 'क्षरं त्वविद्या॰ (श्वे उ ५।१।) के अनुसार तमोगुणप्रधान भूतभौतिक मर्त्य पार्थिव क्षरात्मक विनाशी प्रपञ्च ही 'अविद्या' है, जिसका सहचारी बनता है असुरूपभावात्मक विषयासक्त—एषणापरायण मन, जिसके सम्बन्ध से बुद्धि का सहज और अमृतभावात्मक ज्योतिर्मय अमृतात्मनिबन्धन * विद्याभाग अभिभूत—आवृत हो जाता है, एवं अज्ञानमूला अविद्या—अधर्ममूलक अभिनिवेश—आसक्तिमूलक रागद्वेष—अनैश्वर्यमूला अस्मिता, ये चार अविद्याभाव उदित हो जाते हैं । इन चारों से, अथवा तो चारों में से १ २ ३-४—किसी से समन्वित लोकैषणात्मक मानव वास्तव में अविद्याग्रस्त है । भौतिक स्थूल क्षरात्मक जगत् को ही परमपुरुषार्थ मानते रहना, इसी के पीछे अनुधावन करते रहना ही अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानता है । इस अविद्यारूप क्षर प्रपञ्च में आसक्त—व्यासक्त विद्यात्मक अक्षरभाव के विरोधी—शाश्वत अमृतसत्ता के लेशलेश से भी अपरिचित विविध वादानुगामी भूतविज्ञानवादी साध्य, तदनुगामी असुरमानव, तत्सम्प्रदाय को अद्यावधि भी सुरक्षित बनाए रखने वाले चूँकि भूतविज्ञानवादी ही अविद्याग्रस्त बने रहते हुए 'अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना' का अक्षरशः चरितार्थ करते रहते हैं । अपने क्षरात्मक भूतविज्ञानवाद को ही मानव का एकमात्र पुरुषार्थ घोषित करने वाले ये भूतविज्ञानवादी अपने आपको बड़ा ही कुशल—मेधावी—विद्वान्—सृष्टिरहस्यव्याख्याता धीर विद्वान् मानते रहते हैं, बड़े गर्व से अपनी मान्यताओं का उद्घोष करते रहते हैं । सदा ही अपनी चपलतम् सियों—भूतान्वेषणों—आविष्कारों के यशोगान में घाटोप प्रवृत्त रहते हुए अपनी 'जल्प्या' उपाधि को समलंकृत करते हुए अपने मनोराज्य में मानस प्राणों से इन्द्रितृप्ति का अनुभव करते हुए, अतएव 'असुतृप' उपाधि को अन्वर्थ बनाते हुए उपनिषत् के—'स्वयं धीरा पण्डितंमन्यमाना' रूप से सुप्रसिद्ध के

---

* क्षरं त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ।
—श्वे॰ उप॰ ५।१।

मौलिक कारणों की व्याख्या करते हुए पशुवत् विचरते रहते हैं। इन्हें यह स्वप्न में भी चिन्ता नहीं है कि, जिस अविद्यात्मक चर को ही इन्होंने सर्वस्व मान रक्खा है, वह अविद्यात्मक चर तो केवल भौतिक शरीर पर ही विश्रान्त है। वस्तुतः सृष्टि का मूल तो वह है, जो चरवादी जानता भी नहीं। जिस मूल से यह विश्व कैसे उत्पन्न हुआ है, उस मौलिक कारण का तो इन चरवादियों को आभास भी नहीं है। इन्हीं सब भावों का संग्रहरूप से स्वरूपविश्लेषण करते हुए ऋषि ने 'न त विदाथ य इमा जजान' इत्यादि उद्बोधनात्मिका प्रासङ्गिकी घोषणा की है।

(२५२)-'अचिकित्वान्-चिकितुषश्चिदत्र०' (१२) मन्त्रार्थसमन्वय—

(१२)-"स्वयं यथार्थनिर्णय करने में असमर्थ, यथार्थनिर्णय में (अपनी सुसूक्ष्मा विज्ञानदृष्टि-आर्षदृष्टि-ऋषिदृष्टि के प्रभाव से) सर्वात्मना समर्थ उन कवियों को मैं अपनी जानकारी के लिए ही यह पूँछ रहा हूँ, क्योंकि मैं स्वयं इस रहस्य का जानकार नहीं हूँ। प्रश्न मेरा यही है कि, जिसने इन सुप्रसिद्ध ६ रजों को (अपने आकर्षणसूत्र से) अपने आप में व्यवस्थित बना रक्खा है, उस (रज से अतीत) अज एक तत्त्व का क्या स्वरूप है?" किंवा-"जिस उस अज एक आत्मरूप में (स्वरूप में) जो कोई एक वैसा तत्त्व है, जिसने इन ६ ओं रजों का स्तम्भन कर इन्हें व्यवस्थित बना रक्खा है, उसका क्या स्वरूप है?, यह मेरे जैसा अल्पज्ञ उन सुविज्ञों से जिज्ञासा कर रहा है, जो सुविज्ञ इस रहस्य को जान चुके हैं।"

आदियुगात्मक देवयुग के सुप्रसिद्ध परपारदर्शी महामहिम अनेक तात्त्विक रहस्यों के मन्त्रद्रष्टा, विशेषतः सौम्यमहानात्मनिबन्धना 'पितृविद्या' के द्रष्टा-व्याख्याता * महामहर्षि दीर्घतमा के द्वारा दृष्ट सुप्रसिद्ध 'अस्यवामीयसूक्त' का यह षष्ठ मन्त्र है। ऐसे महर्षि के ये उद्गार हैं कि, "मैं स्वयं क्योंकि नहीं जानता, किन्तु जानने की इच्छा रखता हूँ। अतएव जो इस विषय के जानकार हैं, उन से यह प्रश्न कर रहा हूँ।" इस दिशा में महर्षियों की आप्तता के प्रति अनन्य आस्था रखने वाले नैष्ठिक मानवों के हृदय में सहसा यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, "क्या वास्तव में महर्षि दीर्घतमा इस रहस्य को न जानकर ऐसा प्रश्न कर रहे हैं?' सर्वभीसायणाचार्य्य ने तो इसी भाव का समर्थन करते हुए प्रस्तुत मन्त्र के आध्यात्मिक समन्वय की चेष्टा की है, जो 'पुराणरते न विचारणीयचरिता -विप्रन्तु हुं यसेताम्' न्याय से आलोच्य नहीं है। जबकि इसी सूक्त में इसी महामहर्षि के द्वारा-'विद्मो मातृ क्षीम पितृ मृ०' इत्यादि मन्त्र में विस्पष्ट रूप से इस प्रश्न का समाधान उपलब्ध हो रहा है, तो यह कदापि नहीं माना जा सकता कि, दीर्घतमा अज्ञता के कारण 'अचिकित्वान्' इत्यादि प्रश्न कर रहे हैं। फिर इस भाव का वास्तविक तात्पर्य्य क्या?, क्यों विदितवेदितव्य महर्षि ने 'हम स्वयं नहीं जानते, इसलिए जाननेवालों से प्रश्न कर रहे हैं' इत्यादिरूप प्ररोचना शैलीका अनुगमन किया?। हमारे जैसा यथाजात लौकिक मानव रहस्यार्थगभीरा ऋषि की इस मन्त्रवाणी से सम्बन्धित इस दिशा का क्या समाधान कर सकता है। हाँ, इस सम्बन्ध में हम तो केवल यही निवेदन कर अपना उत्तरदायित्व उपरत कर देते हैं कि, जिस प्रकार सर्वलोकस्रष्टा विश्वकर्मा प्रजापति हमारे लिए

* महर्षि के अमुक पितृविद्यात्मक मन्त्रों के आधार से ही प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत् का स्वरूपविश्लेषण हुआ है। देखिए, श्राद्धविज्ञानग्रन्थान्तर्गत-सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् नामक तृतीय खण्ड का 'प्र० वि वि०' नामक परिच्छेद।

अचिन्त्य-अप्रतर्क्य-अविज्ञेय है, तथय इन अचिन्त्य तत्वों के द्रष्टा महर्षियों की रहस्यार्थगभीरा मन्त्रवाक् भी हमारे जैसे लोकदृष्टियुक्त यथार्थवादी के लिए अविज्ञेय ही है। 'है सभी कुछ रहस्यपूर्ण शाश्वत सनातन तत्त्व' १७ समन्वय के अतिरिक्त 'नान्य पन्था विद्यते अयनाय'।

रहस्यार्थगभीरा श्रुतिवाणी सर्वत्र परोक्षभाव को ही अपना लक्ष्य बनाए रहती है। कहीं प्रश्न के गर्भ में उत्तर समाविष्ट है, कहीं उत्तर के गर्भ में प्रश्न समाविष्ट है, कहीं परोक्ष नामनिर्वचनों में तत्त्वप्राणों का स्वरूप निहित है, कहीं 'अविज्ञेयता' के माध्यम से वाङ्मनसपथातीत अविज्ञेयतत्त्वों को विज्ञेय प्रमाणित कर देने वाली शैली का अनुगमन हुआ है, तो कहीं प्रत्यक्ष विज्ञेय तत्त्वों को अविज्ञेयतामाध्यम से व्यक्त किया गया है। 'किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस०', 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः', 'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद',-'नेतिनेतीत्युपनिषत्', 'अविज्ञातं विजानतां-विज्ञातमविजानताम्', 'विज्ञातारमरे धा केन विजानीयात्'- 'कस्मै देवाय हविषा विधेम', 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः'- अपि वा न स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः'-'न त विदाथ य इमा जजान', 'पाकः पृच्छामि मनसा अविजानन्'- इत्यादि वचन श्रुतिवाणी की इसी परोक्षप्रियशैली का समर्थन कर रहे हैं। 'अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्' इत्यादि प्रकृत मन्त्र भी इसी परोक्षशैली के आधार पर मायातीततत्त्व की ओर तटस्थरूप से मानवीय मनोबुद्धि का ध्यान आकर्षित कर रहा है।

स्थूलारुन्धती-न्यायेन इस सम्बन्ध में ऐसा कुछ आभास होता है कि, मायातीत परात्परब्रह्म के मायामय षोडशीपुरुष से स्वयम्भू के द्वारा समुत्पन्न यह पञ्चपर्वा विश्व अपने ६ रजों के रूप से अवाङ्मयात्मप्रधान इस स्वायम्भुव षोडशीपुरुषलक्षण सत्यात्मा के सूत्रात्मरूप पर प्रतिष्ठित है। मायातीत परात्पर, यह महामायावच्छिन्न-सहस्रवल्शेश्वर-स्वायम्भुव-सत्यषोडशीप्रजापति भी निष्कलाव्ययरूप विशुद्ध 'अज' रूप से मायातीत बनता हुआ वाङ्मनसपथातीत होकर अविज्ञेय, एवं अनिर्वचनीय ही है, किन्तु अविज्ञेय—अनिर्वचनीय अज अव्यय की सत्ता 'आलम्बन' रूप से (अधिष्ठानरूप से) प्रत्येक सर्ग में समष्ट्या—व्यष्ट्या—उभयथा रहती है। प्रत्येक सर्गव्याख्या में सर्गस्वरूपव्याख्याता उस अविज्ञेय अचिन्त्य का सद्रूप से ही स्मरण कर लेना अनिवार्य मानते हुए इस अनिवार्यता के माध्यम से अपनी पूर्णविज्ञता ही घोषित कर रहे हैं, जैसाकि—'विज्ञातमविजानताम्०' इत्यादि अन्य वचनों से स्पष्ट है। सर्वमूलमूत, अधिष्ठानकारणात्मक निष्कल अज अव्यय क्योंकि मायातीत, अतएव अविज्ञेय परात्परब्रह्म से समतुलित बनता हुआ अविज्ञेय है, अचिकित्स्य है। यही क्योंकि सम्पूर्ण सर्गों का उपक्रमरूपात्मक अधिष्ठानकारण बनता है। अतएव दीर्घतमा महर्षि ने 'अचिकित्वान्०' इत्यादि रूप से लोकात्मक सर्गों का स्वरूपविश्लेषण करते हुए उसका अविज्ञेयभावरूप से ही संस्मरण करा दिया है। न तो यहाँ प्रश्न ही है, न महर्षि अज्ञ बन कर ही,'कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्' यह कह रहे हैं। सबकुछ जानबूझ कर ही अविज्ञेय-अचिन्त्य-अजतत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने के लिए ही महर्षि ने सहजरूप से इस परोक्षशैली का आश्रय लिया है, जो श्रुतिपरम्परा की एक आश्चर्यकारिणी रहस्यार्थ प्रतिपादिका महत्त्वपूर्ण शैली है।

'इमे वै लोका रजांसि' (यजुः सं ११।६। शत ६।७।४।५) इत्यादि मन्त्रब्राह्मणवचनानुसार लोक ही 'रज' नाम से प्रसिद्ध है। 'सप्त व्याहृतीनां प्रजापतिर्ऋषिः' इत्यादि तन्त्रस्मरणानुसार भूः—

भुवः-स्वः-महः-जनत्-तप -सत्यम्, इस रूप से लोक सात माने गए हैं। यदि लोक ही का नाम रज है, तो 'षडिमा रजांसि' के स्थान में 'सप्त इमानि रजांसि' होना चाहिए था। किस दृष्टि से महर्षि ने ६ ही रज माने ?, प्रश्न का समाधान 'रज' के पारिभाषिक अर्थ पर अवलम्बित है। 'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमान' (यजु सं० ३३।२१)-'रजसो विमाने' (य०७।१६)-इत्यादि अन्य मन्त्रश्रुतियों में जिस अभिप्राय से रज शब्द पठित है, प्रकृतमन्त्र में भी रज शब्द उसी अभिप्राय से पठित है। यह क्रियाशील सृष्ट्यनुगत भार्गवाङ्गिरस आपोमय पारमेष्ठ्य धामच्छद अत्रिप्राण ही 'रज' कहलाया है, जिसके सम्बन्ध से ऋतुमती की लोकभाषा (संस्कृतभाषा) में 'रजस्वला' कहलाई है, एवं 'छन्दोभ्यस्ता' नाम की ऋषिभाषा में 'आत्रेयी' कहलाई है (देखिए, शत० १।४।५।१३)। पारदर्शकताप्रतिबन्धक-अतएव मूर्त्त (स्थूल) सर्ग का मूल उपादान-रजोगुणान्वित-भार्गवसौम्य, आङ्गिरस आग्नेय, दोनों पारमेष्ठ्य आप्यप्राणों से समन्वित, 'न त्रि इति अत्रि' इत्यादि * निर्वचनप्रधान प्राणविशेष ही 'अत्रि' कहलाया है, जिसके पार्थिवरूप से भास्वरसोमपिण्डात्मक 'चन्द्रमा' का स्वरूपनिर्माण हुआ है +।

भूरादि सत्यलोकान्त सातों लोकों में सत्यात्मक स्वयम्भूलोक तथाकथित अत्रिप्राण की सीमा से बहिर्भूत है। अतएव यह मूर्त्त पाञ्चभौतिक सर्ग से असंस्पृष्ट है। मूर्त्तसर्गात्मक रजःसर्ग का आरम्भ होता है भृग्वङ्गिरोऽत्रिमय (अतएव रजोमय) आपोमय परमेष्ठी से। अतएव इसे ही उपनिषदों ने 'स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्०' इत्यादि रूप से 'शुक्र' (विश्वोपादानभूत द्रव्य) नाम से व्यवहृत किया है। 'तदेतद्-शुक्रमतिवर्त्तन्ति धीरा' (उप०) इत्यादि के अनुसार पारमेष्ठ्य इस शुक्र का अतिवर्त्तन, एवं स्वायम्भुव भास्वररूप सत्यात्मा का अनुगमन ही अपरामुक्ति मानी गई है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, यद्यपि लोक सात ही हैं। किन्तु सातवाँ सत्य स्वयम्भू क्योंकि रजोरूप मूर्त्त भाव से अतिक्रान्त है। अतएव उसे 'विरजब्रह्मलोक' मान लिया गया है, जो कि रज से अतीत होने के कारण ही 'परोरजा' नाम से प्रसिद्ध है। अतएव इसे लोकगणना से महर्षि दीर्घतमा ने पृथक् करते हुए 'षडिमा रजांसि' ही सिद्धान्त स्थापित कर दिया है। पूर्वप्रतिपादिता पञ्चविधा अपरसृष्टि का मूलप्रभव परमेष्ठीरूप अप्तत्त्व ही बनता है। अतएव ही दीर्घसूत्रात्मक त्रिनाभी सर्ग का आधार बनता है। जो सत्यौजा है, वह स्वरूपतः स्थिर है। उसमें कम्पन नहीं है। अतएव सत्यस्वयम्भू स्थिर है, शेष अप्तत्त्वात्मक ६ ओं लोक गतिमान् हैं। सहजभाषा में यों समन्वय कर लीजिए कि, चन्द्रमा भूपिण्ड के चारों ओर अपने 'दक्षवृत्त' पर परिक्रमा लगा रहा है, सचन्द्र भूपिण्ड अपने 'अक्षवृत्त' पर परिभ्रमण करता हुआ (इसके द्वारा अहोरात्रनिबन्धना दैनंदिनगति का स्वरूपप्रवर्त्तक

---

* अपनी घन-तरल-विरल-अवस्थाओं से भृगुतत्त्व-आप, वायु, सोमः, इन तीन रूपों में, अङ्गिरातत्त्व अग्निः, यमः, आदित्यः, इन तीन रूपों में विभक्त है। इस प्रकार दोनों ही पारमेष्ठ्यतत्त्व त्रि-त्रिः-रूपों में परिणत रहते हैं। इन दोनों ही प्राणों के साथ मूर्त्तभावप्रवर्त्तक-स्थानावरोधी (जगह रोकने वाला), अतएव 'धामच्छद' नाम से प्रसिद्ध पारमेष्ठ्य जिस प्राण का सम्बन्ध रहता है, वह एक ही रूप में में परिणत रहता है। अतएव 'न त्रिः' इस निर्वचनानुसार इसे 'अत्रिः' कहा गया है।

+ देखिए-अत्रिख्याति का पौराणिक प्रकरण।

चलता हुआ इस स्वाक्षरिभ्रमण के साथ साथ) साम्वत्सरिक 'क्रान्तिवृत्त' पर० सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। चन्द्र-भू-सहित सूर्य्य-पिण्ड 'अयनवृत्त' पर परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। एवं चन्द्र-भू-सूर्य्य-सहित परमेष्ठी 'विश्ववृत्त' पर स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। परमेष्ठी, चन्द्रमा, इन दोनों मार्गव सौम्यपिण्डों का स्वाक्षपरिभ्रमण नहीं है। सूर्य्य, भूपिण्ड, इन दोनों आग्नेय पिण्डों का स्वाक्षपरिभ्रमणपूर्वक वृत्तपरिभ्रमण है। इसप्रकार चारों पिण्ड परिभ्रममाण हैं अश्वत्थचक्रवत्। स्वयं स्वयम्भू स्थिर है। अतएव इसे सोमपतीव मान लिया जाता है। सोमपतीव, वागग्निलक्षण-आक्षरात्मा, अविनाशी, पुरोवा सत्य स्वयम्भू परोरजा ने ही इन ६ ओं रजों का अपनी सूत्रशक्ति के द्वारा उसी प्रकार नियमित व्यवस्थित रूप से स्तम्भन कर रक्खा है, जैसे कि नागदन्त (खूँटी) से बँधा हुआ सूत्र (डोर) अग्रभागस्थित कन्दुकादिको आबद्ध रखता हुआ इसे मर्य्यादित बनाए रहता है। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए श्रुति ने कहा है—'वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि'। अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा, वेदात्मा, तीनों स्वायम्भुव मनोता माने गए हैं (देखिए पृ० सं १७८)। हृ-द-यम्-लक्षण हृदयाक्षरत्रयी (ब्रह्मेन्द्रविष्णुमयी) ही स्वयम्भू का अन्तर्य्यामीरूप है, जिसे 'शास्ता'-'नियतिदण्ड'-'ब्रह्मदण्ड'-आदि नामों से भी व्यवहृत किया गया है। पिण्डपृष्ठात्मक अग्नि-सोम नामक दोनों अक्षर ही 'सूत्रात्मा' है। एवं ऋक्-यजु-सामलक्षण ब्रह्मनिःश्वसितरूपा अपौरुषेया वेदत्रयी ही स्वायम्भुव वेदात्मा है। इन तीन मनोताओं से स्वयम्भू सत्यात्मा निःसत्य बना हुआ है। अन्य सोपाधिक विश्वसत्यों का सत्य यही सत्य है। अतएव इसे 'सत्यस्य सत्यम्' कहा जाता है। निम्नलिखित निगमागमवचन इसी सत्यात्मा का स्वरूपविश्लेषण कर रहे हैं—

(१)— भीषास्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्य्यः ॥
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पञ्चम ॥ (तै० उप० २।८)

(२)— सत्यव्रत सत्यपर त्रिसत्य सत्यस्य योनिं निहित च सत्ये ।
सत्यस्यसत्य मृतसत्यनेत्रे सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना ॥

—श्रीमद्भागवत

स्वायम्भुव सूत्रात्मा के आकर्षण से ही ६ ओं रज आकर्षित होते हुए मर्य्यादित बने हुए हैं, यही तात्पर्य्य है, जिसका 'विश्वस्तम्भ से विश्लेषण हुआ है। आक्षरात्मा-अन्तर्य्यामी-सूत्रात्मा-वेदात्मा-सत्यस्यसत्य-मूर्ति-परोरजा-विरज-सप्तम विश्व स्वयम्भू प्रजापति ने इन भूरादि परमेष्ठ्यन्त ६ ओं रजों का अपने सूत्ररूप

---

* सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्। देवत्रा रथ्योर्हिता। (सामसं० पू० २।२।)।
यद्ग इन्द्रमवर्द्धयत्, यद्भूमिं व्यवर्त्तयत्।
चक्राण ओपशं दिवि। (ऋक्सं० ८।१४।५)।

मे स्तम्भन कर रक्खा है, वह सत्यस्वयम्भू उस षोडशीप्रजापति नामक महामायी सहस्रवल्शेश्वर-अश्वत्थ नामक अज अव्यय के महामायावच्छिन्न व्यापक (विश्वव्यापक) रूप में अङ्गसम्बन्ध से समाविष्ट 'एक' ही रूप है। यहाँ समन्वय यही अपेक्षित है कि, महामायी सहस्रवल्शेश्वर षोडशीप्रजापति 'अज' नामक अव्ययात्मा है, जिसके लिए-'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन' इत्यादि प्रसिद्ध है। जैसा रूप (स्वरूप) इस सहस्रवल्शेश्वर महामायी अज का है, ठीक वैसा ही रूप, यही सस्थानक्रम विश्वकर्म्मा-एकपञ्चपुण्डीर-प्राजापत्यवल्शात्मक ईश्वर योगमायी स्वयम्भू प्रजापति का है, जिसने ६ रजों का स्तभन कर रक्खा है। परमेष्ठी-सूर्य्य-भूपिण्ड-चन्द्रमा, ये चारों पुण्डीर तो अण्डसृष्टि से समन्वित होते हुए दीर्घवृत्तात्मक त्रिकेन्द्रभाव में परिणत होते हुए उस तुरीया, अतएव एककेन्द्रात्मक, अतएव सर्वतः पाणिपादाक्षिशिरोमुख महामायी सहस्र-वल्शेश्वर के रूप (स्वरूप) से सर्वात्मना समतुलित नहीं है। इन चारों को स्वमहिमामण्डल में भक्त रखने वाला स्वयम्भू ही एकमात्र ऐसा तत्त्व है, जो उस तुरीया की भाँति अण्डसृष्टि से असंसृष्ट रहता हुआ तुरीया है, अतएव तद्वत् यह भी सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष सहस्रपात् है। इस प्रकार उस महामायी सहस्रवल्शेश्वर अज के रूप में इन पाँचो पुण्डीरों में से एकमात्र 'स्वयम्भू' नामक तुरीया पुण्डीर ही ऐसा पुण्डीर है, जो उससे सर्वात्मना समतुलित है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है-'अजस्य रूप किमपि स्विदेकम्-(सहस्रवल्शेश्वरलक्षणे अजस्वरूपे किमप्येकम्-यदस्ति-पुण्डीरस्वयम्भू-स एव वियस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि)। यही प्रकृतमन्त्र का सक्षिप्त अक्षरार्थसमन्वय है।

(२५३) 'तिस्रो मातॄन्त्रीन् पितॄन् बिभ्रत्०' (१३) मन्त्रार्थसमन्वय—

(१३) "तीन माताओं को, एवं तीन पिताओं को (इस प्रकार इन ६ दम्पतियों को) धारण करता हुआ (वह) एक (इन सब के) ऊर्ध्वभाग (ऊपर) में स्थित रहता हुआ (यत्किञ्चित् भी तो) ग्लानि का (थकान का) अनुभव नहीं करता। उस द्यु के (सर्वोच्च) पृष्ठ पर ये (सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक) विश्वपर्व विश्वावीता वाक् से मन्त्रणा करते रहते हैं (समन्वित होते रहते हैं)।"

अबतक विश्वस्वरूपमीमांसा के सम्बन्ध में जो बारह मन्त्र व्याख्यात हुए हैं, उन में कई एक वैसे भावों का उल्लेख हुआ है जिनके आधार पर विश्वपर्वों की संख्या के सम्बन्ध में परस्पर समन्वय कर लेना सर्वसाधारण के लिए कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए 'या ते धामानि०' इत्यादि मन्त्रद्वारा विश्व के 'परमधाम-मध्यमधाम-अवमधाम' ये तीन धाम बतलाए गए हैं। तीनों का क्रमश स्वयम्भूगर्भित परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रगर्भितापृथिवी-इन तीनों के साथ सम्बन्ध बतलाते हुए तीनों को संयती-क्रन्दसी-रोदसी-नाम के तीन लोक बतलाया गया है। इस दृष्टि से विश्वपर्व तीन भागों में विभक्त प्रमाणित हो रहे हैं। कभी स्वयम्भू परमेष्ठी-सूर्य्य-भूपिण्ड-चन्द्रमा, भेद से विश्वपर्व पञ्चधा विभक्त प्रमाणित किए जा रहे हैं। अन्यत्र स्वयम्भू को तो अण्डसर्ग से पृथक् माना जा रहा है, एवं 'परमेष्ठी[१]-सूर्य्य[२]-भूपिण्ड[३] महिमापृथिवी[४]-चन्द्रमा[५], इस प्रकार चार के ही पाँच पर्व मानकर इनके साथ क्रमशः अप्स्वण्ड, हिरण्मयाण्ड, पोषाण्ड, यशोऽण्ड, रैतोऽण्ड क्रम से पाँच अण्डों का सम्बन्ध बतलाया जा रहा है। कभी भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यम्-सात लोक बतलाते हुए विश्व को सप्तपर्वा घोषित किया जा रहा है। तो कभी इनमें से ६ को लोक माना जा रहा है, सातवें सत्य को लोकाधिष्ठाता प्रमाणित किया जा रहा है। स्थूलदृष्ट्या परस्पर असमन्वित

से प्रतीत ये सभी विभिन्न दृष्टिकोण सुसूक्ष्म 'त्रैलोक्यत्रिलोकीविज्ञान' के परिज्ञान से सर्वात्मना सुसमन्वित हो जाते हैं। अतएव १३-१४, इन दो मन्त्रों से यही समन्वयविज्ञान स्पष्ट हुआ है।

भौमत्रिलोकी[१], रुद्रत्रिलोकी[२], कश्यपत्रिलोकी[३], यज्ञत्रिलोकी[४], वामनत्रिलोकी[५] अध्यात्म त्रिलोकी[६], त्रैलोक्यत्रिलोकी[७], त्रैलोक्यत्रिलोकी[८], भेद से अष्टधा विभक्त देवयगत् त्रिलोकी भी आठ वर्गों में विभक्त मानी गई है, जिसका अन्य निबन्धों में यथावसर विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। प्रकृत के दोनों मन्त्रों (१३-१४) से आठवीं 'त्रैलोक्यत्रिलोकी' का ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिसके सुसमन्वय के अनन्तर विश्वपर्वानुबन्धी सम्पूर्ण विभिन्न दृष्टिकोण सुसमन्वित हो जाते हैं। 'द्यौष्पितः०' * इत्यादि मन्त्र श्रुति के अनुसार 'द्यौ' का पारिभाषिक नाम 'पिता' है, एवं पृथिवी का पारिभाषिक नाम 'माता' है। द्यौः और पृथिवी, इन दोनों का मध्य का भाग 'अन्त' ईक्षते' निर्वचनानुसार 'अन्तरीक्ष' कहलाया है, जो परोक्षभाषा में अन्तरिक्ष कहलाता है। इसप्रकार दो के तीन लोक हो जाते हैं, जिनका समष्ट्यात्मक पारिभाषिक नाम है- 'द्यावापृथिवी', जैसा कि 'इमे वै द्यावापृथिवी परीशासौ' (शत० १४।२।१।११) ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। 'द्यौ' 'च' पृथिवी' का ही सन्ध्यात्मकरूप द्यावापृथिवी है। मध्यस्थ 'आ' कार अन्तरिक्ष का ही संग्राहक बन रहा है। अन्यत्र इन्हीं तीनों के सांकेतिक नाम क्रमशः 'स्वः भुवः भूः' भी माने गए हैं। *यही 'त्रिलोकी' शब्द का सामान्य स्वरूपपरिचय है। इसी को मूल मानकर हमें मन्त्रार्थ का समन्वय करना चाहिए।*

'त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः' (शत० ब्रा०) के अनुसार उक्त तीनों लोक आत्मानुबन्धी मन-प्राणवाग्भावों के नैसर्गिक त्रिवृद्भाव के कारण त्रिवृद्भावापन्न बन रहे हैं, जिसका अर्थ यही है कि भूरूप पृथिवीलोक, भुवःरूप अन्तरिक्षलोक, स्वःरूप द्युलोक, तीनों प्रत्येक क्रमशः भूः-भुवः-स्वः, इस रूप से तीन तीन अवान्तर लोकों में परिणत हो जाते हैं। फलतः इस त्रिवृद्भाव के कारण तीन के ९ लोक हो जाते हैं। यही 'त्रैलोक्यत्रिलोकी' की सामान्य रूपरेखा है। इस दृष्टि से ९ लोकों में तीन द्यौः हैं, तीन पृथिवी हैं, तीन अन्तरिक्ष हैं। द्यौः, और पृथिवी पूर्वकथनानुसार क्रमशः पिता-माता हैं। इसी आधार पर श्रुति ने कहा है-'तिस्रो मातस्त्रीन् पितृन् बिभ्रत्०' इत्यादि। 'भू' रूप प्रथम लोकानुबन्धी भूः-भुवः-स्वःरूप त्रिवृद्भाव प्रथम त्रैलोक्य है जो 'रोदसीत्रैलोक्य' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'भुवः' रूप द्वितीय लोकानुबन्धी भूः-भुवः-स्वःरूप त्रिवृद्भाव द्वितीय त्रैलोक्य है, जो 'क्रन्दसीत्रैलोक्य' कहलाया है। एवं 'स्वः' रूप तृतीय लोकानुबन्धी भूः-भुवः-स्वः रूप त्रिवृद्भाव तृतीय त्रैलोक्य है, जो 'संयतीत्रैलोक्य' नाम से प्रसिद्ध है। तीनों के क्रमशः अक्षराक्षर-विष्णवक्षर-इन्द्राक्षर, ये तीन हृदयाक्षर मूलाधिष्ठान बने हुए हैं।

---

* द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त ॥
—ऋक्संहिता ६।५१।५।

नवलोकात्मकत्रैलोक्यस्वरूपपरिलेखः—

क्रम	लोक	द्यावापृथिवी	त्रिलोकी	
१– (३) स्वः द्यौः				
२– (२) भुवः–अन्तरिक्षम्	द्यावापृथिवी–स्वर्लोकः	ब्रह्माक्षरत्रिलोकी		
३– (१) भूः–पृथिवी	(संयतीत्रैलोक्यम्)	(स्वायम्भुवी)		
४– (३) स्वः–द्यौः				
५– (२) भुवः–अन्तरिक्षम्	द्यावापृथिवी–भुवर्लोकः	विष्णवक्षरत्रिलोकी	ऐषा त्रैलोक्यत्रिलोकी	
६– (१) भूः–पृथिवी	(क्रन्दसीत्रैलोक्यम्)	(पारमेष्ठिनी)	(नवलोकात्मिका)	
७– (३) स्वः–द्यौः				
८– (२) भुवः–अन्तरिक्षम्	द्यावापृथिवी–भूर्लोकः	इन्द्राक्षरत्रिलोकी		
९– (१) भूः–पृथिवी	(रोदसीत्रैलोक्यम्)	(सौरी)		

तीन माता–रूप तीन पृथिवीलोक, तीन पिता–रूप तीन द्युलोक, अतएव तीनों द्यु–पृथिवियों के तीन ही अन्तरिक्ष, सम्भूय ९ लोक हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, 'सप्त व्याहृतीनां–प्रजापतिर्ऋषिः' इत्यादि नैगमिक सिद्धान्तसम्मत ७ लोकों का क्या अर्थ ?। प्रश्न का समाधान 'अन्तर्भाव' से सम्बन्धित है। रोदसी नामक प्रथम त्रैलोक्य का स्वर्लोक क्रन्दसी नामक द्वितीय त्रैलोक्य का भूलोक बन रहा है। एवं क्रन्दसी त्रैलोक्य का स्वर्लोक संयती नामक तृतीय त्रैलोक्य का भूलोक बन रहा है। इस प्रकार ९ में से दो लोक संयती, एवं क्रन्दसी त्रैलोक्यों में अन्तर्भूत हो रहे हैं। फलतः गणनास्थिति में ९ के स्थान में सात ही लोक शेष रह जाते हैं, जैसाकि पूर्व की संग्रहात्मिका तालिकाओं में स्पष्ट किया जा चुका है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, यदि लोक सात हैं, तो फिर 'षडिमा रजांसि' का क्या अर्थ ?। उत्तर पूर्वनिरूपण से गतार्थ है। सातवाँ पुण्डीरस्वयम्भू पुण्डीरात्मक विश्वापेक्षया जहाँ लोकसीमा में अन्तर्भूत रहता हुआ 'लोक' (व्याकृत) है, वहाँ स्वसपुण्डीरात्मक व्यापक अव्ययरूपी विश्वकर्मा स्वयम्भू का ('अव्ययस्य रूपं किमपि स्विदेकम्' के अनुसार) प्रतीक बना हुआ, तदभिव्याप्त्यपेक्षया तद्रूप ही बनता हुआ लोकातीत है, अतएव लोकसीमा से बहिर्भूत बनता हुआ अनादि ६ओं लोकों का मूलाधार बन रहा है।

इसके अतिरिक्त ६ लोक जहाँ गतिभाव के कारण 'रजः' (क्रियात्मक गतिशीलतत्त्व) हैं, वहाँ सातवाँ स्वयम्भूलोक अपने पूर्णात्मक 'तृतीया' रूप से सत्त्वगुणक बनता हुआ स्थिर है। इस दृष्टि से भी इसे सप्तलोकगणना से पृथक् मान लिया जाता है। इस प्रकार लोकानुबन्धिनी सभी समस्याओं का त्रैलोक्य-त्रिलोकीविज्ञान के समन्वय के द्वारा सर्वात्मना यथावत् समन्वय हो जाता है।

यह प्राकृतिक नियम है कि, किसी भी भार का वहन करने से भारवाही म्लान हो जाता है, क्लान्त बन जाता है, थक जाता है। कारण यही है कि, 'भार' घनात्मक मूर्त पदार्थ वामच्छद होता है। अतएव यह अपने केन्द्र की ओर अपने पिण्डात्मक मूर्त पदार्थ को आकर्षित किए रहता है। उदाहरण के लिए एक पाषाणखण्ड को ही लक्ष्य बनाइए। पाषाण का केन्द्र पाषाणभार को चारों ओर से अपनी ओर आकर्षित रखता है। जब एक व्यक्ति इसे उठाता है, तो वह तो इसे अपने केन्द्राकर्षण से आकर्षित करता है, दूसरी ओर पाषाणकेन्द्र इस पाषाण को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। दोनों आकर्षणों का समन्वय ही व्यक्ति को 'भार' प्रतीत कराता है। कालान्तर में इस विजातीय पाषाणकेन्द्राकर्षण से अपने केन्द्राकर्षण का अधिक समय पर्य्यन्त समसमन्वय सुरक्षित रखने में असमर्थ होता हुआ पाषाणभार से क्लान्त बनकर इसे अन्ततोगत्वा छोड़ देता है। हाँ, यदि व्यक्ति का केन्द्रापकर्षणात्मक आकर्षणबल पाषाणकेन्द्राकर्षण बल से अधिक बलवान् होता है, तो उस दशा में वह व्यक्ति इस पाषाणभार से नहीं थकता। साधारण व्यक्ति एक दो मन के पाषाणभार से जहाँ क्लान्त हो जाता है, वहाँ मल्ल ५-७ मन के पाषाण को कन्दुक (गेंद) का उठाता हुआ अणुमात्र भी क्लान्ति का अनुभव नहीं करता। क्या इस भारसमतुलन के लिए भारवाहक का भारात्मक पदार्थ की अपेक्षा अधिक स्थूल होना आवश्यक है ?, नेति होवाच। मूर्त पिण्ड की स्थूलता-कृशता से केन्द्राकर्षणात्मक भार के तारतम्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। कृशशरीरी भी दृढगात्र व्यक्ति अधिक भार उठा सकता है, एवं स्थूलशरीरी भी शिथिलगात्र व्यक्ति थोड़े से भार से क्लान्त हो जाता है। वस्तुतः इस भार का समतुलन हो रहा है 'केन्द्रबिन्दु' पर। यदि केन्द्रबिन्दु के साथ अपने केन्द्रबिन्दु का समसमन्वय करा दिया जाता है, तो इस केन्द्रसमसमन्वय से एक छोटा भी पदार्थ अपने से बड़े भी आकार-प्रकार के पदार्थ का निर्भारत्व से वहन कर लेता है। यही सुप्रसिद्धा 'केन्द्रापकर्षिणीविद्या' है, जिसका अपने अन्तर्जगत् के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध स्थापित कर लेने के अनन्तर हृदयबलसिद्ध वह साधक अतुलित भार को निर्भारत्व से कन्दुकवत् उठा सकता है, जिसके प्रचण्ड उदाहरण निगमागमविद्यास्वरूप भगवान् वासुदेव कृष्ण माने जा सकते हैं, जिनका गोवर्द्धनधारण आस्तिकजगत् की मान्यता से अनुप्राणित बन रहा है *।

---

* प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ (यजुःसंहिता ३१।१९)

उक्त मन्त्रद्वारा इसी प्राजापत्या केन्द्रापकर्षिणीविद्या की रूपरेखा का स्पष्टीकरण हुआ है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड अग्नीषोमात्मक से अनुप्राणित अन्नाद—अन्नरूप घररूप अग्नीषोमों से इतरूप है। इस अग्नीषोमात्मक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में ह—द—यम्—रूप मनोऽनुविष्णु (स्थिति–गति–आगति) लक्षण, अन्तर्यामी नामक जो इन्द्रशक्ति प्रतिष्ठित रहती है, गर्भस्थिता (केन्द्रस्थिता) वही शक्ति 'प्रजापति' कहलाई है, जिसकी

[शेष पृष्ठ ५११ पर देखिए]

चन्द्रकेन्द्रशक्ति भूकेन्द्र से, भूकेन्द्रशक्ति सूर्य्यकेन्द्र से, सूर्य्यकेन्द्रशक्ति परमेष्ठिकेन्द्रशक्ति से, एवं इन सब की केन्द्रशक्तियाँ स्वायम्भुवी प्राजापत्या महीयसी सर्वकेन्द्रशक्ति से समतुलित हैं। उसका केन्द्राकर्षण आदानशाला है, शृचीभावापन्न है। अतएव समस्त विश्वात्मक-मूर्त्त-अमूर्त्तात्मक-यज्ञरूपात्मक भार का वहन करते हुए भी वह यत्किञ्चित् भी म्लान-क्लान्त-भ्रान्त-परिभ्रान्त-क्षुब्ध नहीं होता, नहीं हो सकता।

(पृष्ठ ४१० का शेष)
अथवा अग्नीषोमात्मक पिण्ड, एवं साहस्त्राह्लीरूप छन्दोमास्तोमात्मक वस्तुपिण्ड का वह महिमामण्डल ही है, जिसके केन्द्र में वस्तुपिण्ड सुरक्षित रहता है। महिमा के केन्द्र में वस्तुपिण्ड, एवं वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्राजापत्या वह शक्ति, जो अपने अविनाशी अनुच्छित्तिधर्म्म से-अक्षरधम्मा है, नित्य है, अजायमान है, एवं जिस अजायमान अक्षरशक्ति से नित्य अविनाभूत क्षरशक्ति के द्वारा ही मूर्त्त वस्तुपिण्ड उत्पन्न हुआ है, प्रतिष्ठित है। 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते' का यही अक्षरार्थ है। कैसे इस हृदयस्थिता प्राजापत्या केन्द्रशक्ति का परिचय प्राप्त किया जाय ?, मन्त्र का उत्तर भाग इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। जो वस्तुपिण्ड शृचीवा (वर्तुलाकार-गोलाकार) होता है, त्रिकोणमिति-सिद्धान्तानुगता 'त्रिज्या' से उस वस्तुपिण्ड के केन्द्र का तो सुविधा से समन्वय हो जाता है। किन्तु त्रिकेन्द्रात्मक दीर्घवृत्त (अण्डवृत्त), अष्टकोण, षट्कोण, चतुष्कोण, त्रिकोण, किंवा यत्किञ्चित् छन्दित पिण्डों के केन्द्र का परिचय कठिन बन जाता है, जिस कठिनता से त्राण पाने का एक अन्यतम सरल उपाय है 'भारसमतुलन'। एक लकड़ी (छड़ी-बेंत) को आप अपनी मध्याङ्गुली पर रखिए। आप देखेंगे लकड़ी पार्थिवकेन्द्राकर्षण से अङ्गुली पर स्थिर न रह कर कभी इधर तो कभी उधर लुढ़कती रहती है। आप शनैः शनैः सावधानी से इसके समतुलन का प्रयत्न प्रक्रान्त रखिए। जिस भी बिन्दु के साथ आप की अङ्गुली के लक्ष्यप्रदेशयुक्त केन्द्र का, लकड़ी के केन्द्र का, एवं भूकेन्द्र का, तीनों केन्द्रों का समसमतुलन हो जायगा, उसी क्षण लकड़ी 'स्थिररूप' से अङ्गुली पर ठहर जायगी। कारण इस केन्द्र के आधार पर ही सम्पूर्ण वस्तुपिण्डमात्राओं का भार स्थित रहता है— 'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा'। हाँ, है यह श्रम थोड़ा बुद्धयनुगत स्थिरता-धीरता से समन्वित। शीघ्रता-चञ्चलप्रज्ञता में आप केन्द्रसमतुलन, किंवा केन्द्रस्वरूपदर्शन नहीं कर सकते। इसी अभिप्राय से श्रुति ने कहा है कि-'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः'। इसी केन्द्रसमतुलनात्मक केन्द्राकर्षण से समतुलित भारात्मक भी भूपिण्ड सूर्य्यकेन्द्र से आकर्षित है, तो साथ ही भूकेन्द्र से सूर्य्य भी आकर्षित है। इस समसमन्वयात्मक समाकर्षण से ही न तो सूर्य्य ही भूपिण्ड को आत्मसात् कर सकता, नाहीं भूपिण्ड ही सूर्य्य को आत्मसात् कर सकता। अपितु दोनों के आकर्षण-प्रत्याकर्षण से अन्वितचारात्मक उस सम्वत्सरचक्र का व्यवस्थित स्वरूप बना हुआ है जिस पर भूपिण्ड स्वाक्षपरिभ्रमणपूर्वक सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। यही वह आकर्षणशक्ति है, जिसका-'आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत्०' इत्यादि रूप से सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् सत्श्री भास्कराचार्य्य ने- समे समन्तात् पततु त्वियं खे' रूप से उस आशङ्का का समाधान किया है, जो 'यह भूपिण्ड निराधार है तो गिर क्यों नहीं पड़ता ?' इस रूप से सर्वसामान्य में हुआ करती है। दुर्भाग्य है भारतराष्ट्र का, जिसने निगमवर्त्मों को विस्मृत कर अपनी इन रहस्यपूर्ण विद्याओं को विस्मृति के गर्भ में विलीन कर वर्त्तमान नयशिक्षित सन्ततियों को अपने पूर्वजों के उपहास में प्रवृत्त कर दिया, एवं सर्वथा अर्वाचीन न्यूटन आदि को ही आकर्षणसिद्धान्त के 'प्रथम आविष्कारक' सम्मान से सम्मानित मान लिया। कालाय तस्मै नमः।

'ऊर्ध्व' शब्द भी पारिभाषिक है। सर्वसाधारण में 'ऊर्ध्व' का अर्थ है 'ऊँचा', 'अध' का अर्थ है-'नीचा'। अर्थ ठीक भी है, नहीं भी है। 'ऊर्ध्व' सुनते ही सामान्यजन शून्य आकाश की ओर अंगुली-निर्देश कर देते हैं, एवं अधः से भूपिण्ड की ओर निर्देश कर देते हैं। इस दृष्टि से इन अर्थों का कोई महत्त्व नहीं है। विज्ञानजगत् में पूर्वादि दिशाओं की भाँति, लपेट एक-दो-तीन-आदि यच्चयावत् संख्याओं की भाँति, रत्ती-छटांक-आधापाव-पाव-सेर-मन-आदि मानमानों की भाँति ऐसा ऊँचा-नीचा भाव भी भातिसिद्ध पदार्थ ही है। लोकव्यवहारमात्र के लिए इनकी मानसिक कल्पनामात्र है। वस्तुत: 'सत्ता' दृष्ट्या ये सब शून्यं शून्यं ही हैं। वस्तुत: विज्ञानदृष्ट्या-'ऊर्ध्व' का अर्थ है 'केन्द्र', एवं 'अध' का अर्थ है 'परिधि'। परिधिरूप बहिर्मण्डल (वस्तुपिण्ड के परिणाह-घेर-रूप मण्डल) की प्रतिबिन्दु से तत्केन्द्र ऊर्ध्व है, एवं इस ऊर्ध्वकेन्द्र की अपेक्षा से परिधिमण्डल की प्रतिबिन्दु अध है। 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' इत्यादि औपनिषद वचन का 'ऊर्ध्व' शब्द भी केन्द्र का, तथा 'अवाक्' शब्द परिधि का ही वाचक बन रहा है। सम्पूर्ण भुवन (रजात्मक १४ओं लोक) स्वायम्भुव केन्द्र में ही (केन्द्राकर्षण में ही) संस्थित हैं। इसी ऊर्ध्वात्मक केन्द्राकर्षणसमतुलन से तीनों माताओं तथा तीनों पिताओं को धारण करता हुआ भी यह केन्द्रमण्डलरूप स्वयम्भू सत्यात्मा म्लान नहीं होता। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है—"तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति"।

'अवग्लापयन्ति मातृ-पितृन्' से कुछ और भी समझना है। यह स्वयं तो थकना जानता ही नहीं, क्योंकि यह तो 'तस्थौ' है, स्थितिभावात्मक है। गति ही क्रिया है। क्रिया ही विसर्गरूप से वस्तुमात्रा के ह्रास का कारण बनती हुई वस्तु को थकाती है, म्लान बनाती है जिस क्षतिपूर्ति के लिए केन्द्रशक्ति को 'आदान' का अनुगमन करना पड़ता है। जब कि सत्य-स्वयम्भू स्थितिभावापन्न है, तो उसमें विसर्गात्मक क्षय का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। तभी तो इसे-'अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' इत्यादि रूप से 'अज' कहना अन्वर्थ बनता है। शेष १४ओं परमेष्ठ्यादि चन्द्रमान्त रजोलोक क्योंकि क्रियाशील हैं। अतएव इनके सम्बन्ध में 'म्लान' भाव का प्रश्न उपस्थित होता है। 'नेमवग्लापयन्ति' वाक्य इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। १४ओं रजोलोक भी अपना अपना स्वतन्त्र केन्द्र रख रहे हैं। यदि ये स्वतन्त्ररूप से ही परिभ्रममाण होते, तो अवश्य ही न केवल ये थक ही जाते, अपितु विसर्गमात्राक्षय के नैरन्तर्य से कालान्तर में इनकी स्वरूपसत्ता ही उच्छिन्न हो जाती। किन्तु देख रहे हैं कि, सब निरन्तर प्रभावों में अपनी मात्राओं का उत्सर्ग करते हुए भी ज्यों के त्यों अक्षुण्ण बने हुए हैं। कारण स्पष्ट है। जिस स्वयम्भूप्रजापति की केन्द्रशक्ति के आधार पर इनका आविर्भाव हुआ है, उसी केन्द्रशक्ति के अनुगत बने रहने से इनके विसर्ग भाग की क्षतिपूर्ति भी होती रहती है। इसी केन्द्रानुगति से इनका स्वरूप अक्षुण्ण बना हुआ है। इनमें से कोई भी न तो थकता ही, न म्लान ही होता, न स्वरूप से ही उच्छिन्न होता। थकते वे हैं, नष्ट वे होते हैं, जो उस मात्रारूप केन्द्रबल का परित्याग कर अमर्य्यादित-स्खलितकेन्द्र-उन्मर्याद-उच्छृङ्खल बन जाया करते हैं। यही 'नेमवग्लापयन्ति' का रहस्यार्थ है। केवल इस वाक्य से ही स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण नहीं हो रहा है। अतएव महर्षि को उत्तरभागद्वारा इसी तत्त्व का विभिन्न दृष्टिकोण से समन्वय करना पड़ा। 'ईम्-न अवग्लापयन्ति' ही पदच्छेद है, जिसका समन्वयार्थ है (उस स्वयम्भूकेन्द्र से मर्य्यादित-व्यवस्थित-समतुलित रहते हुए ये १४ओं रज) उस स्वयम्भू को भी ये ग्लानि नहीं पहुँचा रहे,

(एवं स्वयं भी म्लान नहीं हो रहे) । दोनों हीं इस केन्द्रसमतुलन से निर्भार बने हुए हैं । कहना न होगा कि, नगमिक परिभाषाओं के विस्मृतप्राय हो जाने से ही भाष्यकारों को इस सम्बन्ध में सर्वथा वैसी आपातरमणीय कल्पनाओं का ही आश्रय लेना पड़ा है, जो प्रौढिवादमात्र ही कहा जा सकता है * ।

"प्रजासर्ग में सतत प्रवृत्त रहते हुए भी, इस निर्म्माणकर्म्म में अपनी मात्राओं से निरन्तर विस्रस्त रहते हुए भी परमेष्ठ्यादि चन्द्रमान्त ये लोक क्या कारण है कि, न तो थकते ही, एवं न स्वस्वरूप से क्षीण ही होते । अपितु 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते, नो कनीयान्' इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार ये सदा स्वस्वरूप से अक्षुण्ण ही बने रहते हैं !,' इस प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि कहते हैं कि—"ये ६ ओं हीं माता-पिता (लोक) द्यु के पृष्ठ पर मन्त्रणा करते रहते हैं"। कौनसा द्युलोक !, जो वास्तव में द्युलोक है । भूरूप रोदसीत्रैलोक्य, भुवःरूप क्रन्दसीत्रैलोक्य, एवं स्वःरूप संयतीत्रैलोक्य ही क्रमशः महाव्याहृतिरूप पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-नामक तीन लोक हैं, जिनके त्रिवृद्भाव से ही आगे चलकर तीन तीन लोकविवर्त्त बन जाते हैं । इस दृष्टि से वस्तुतः 'द्युलोक' तीसरे संयतीत्रैलोक्य का स्वयम्भूरूप द्युलोक ही है । यही 'द्युपृष्ठ' है, जिसका पारिभाषिक नाम है—'पारावतपृष्ठ' । ६ ओं लोक इसी स्वायम्भुव द्युपृष्ठ पर परस्पर मन्त्रणा करते रहते हैं । कौन, किस से, कैसे मन्त्रणा कर रहे हैं !, इस प्रश्नत्रयी का एकमात्र समाधान है स्वायम्भुवी वह वाक्, जिसे हमनें पूर्व में 'यजुर्वाक्' कहा है, जिसके सम्बन्ध में-'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत' इत्यादि सिद्धान्त प्रसिद्ध है, जो यजुर्वाक् (आकाश) ही भृग्वङ्गिरोमय परमेष्ठी की स्वरूपसमर्पिका बनती है । यही स्वायम्भुवी वाक् अपने 'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' रूप से सम्पूर्ण विश्व की अधिष्ठात्री बनती है, जिसके पारमेष्ठ्य भार्गव, आङ्गिरसरूप क्रमशः 'आम्भृणीवाक्, सरस्वतीवाक्' नामों से प्रसिद्ध हैं । तेजोगुणमयी आङ्गिरसी सरस्वतीवाक् को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाली स्नेहगुणमयी भार्गवी आम्भृणीवाक् अर्थसर्ग की मूलाधिष्ठात्री बनती है । एवं स्नेहगुणान्विता भार्गवीवाक् को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाली तेजोगुणमयी सरस्वतीवाक् शब्दसर्ग की मूलाधिष्ठात्री बनती है । पौराणिक आम्नाय में ये ही दोनों वागेश्वियाँ महालक्ष्मी, महासरस्वती नामों से उपवर्णित हुई हैं । पारमेष्ठ्य सरस्वान समुद्र में समुद्भूता आम्भृणीवाक् ही (पारमेष्ठ्य विष्णु से समन्विता) महालक्ष्मी है, एवं इसी समुद्र में समुद्भूता सरस्वतीवाक् ही (परमेष्ठिगर्भित सार

---

* सर्वश्री सायणाचार्य्य ने इसके सम्बन्ध में जो उद्गार प्रकट किए हैं, उन्हें लक्ष्य बनाने मात्र से ही इन परिभाषानोपबृंहित अर्थों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है । देखिए-"एकः प्रधानभूतः- असहायो- वा पुत्रस्थानीय आदित्यः-सम्वत्सराख्य कालो वा तिस्रो मातृ सस्यसृष्ट्याद्युत्पादयित्री- रित्यादिलोकत्रय नित्यर्थः तथा त्रीन् पितॄन् जगतां पालयितॄन् लोकत्रयाभिमानिनो अग्निवायुसूर्य्याख्यान्-बिभ्रत्सन् ऊर्ध्वस्तस्थौ उन्नत अत्यन्तदीर्घस्तिष्ठति । भूत भविष्यदाद्यात्मना । सूर्य्यपक्षे सर्वेभ्य उन्नत-न हि काल आदित्यो वा अन्येन पराभूयते०"—इत्यादि ।

इन्द्र से समन्विता) महासरस्वती है *। शेष रह जाती है मन्त्रातीता महाकाली, यह यही सुप्रसिद्धा स्वायम्भुवी यजुर्वाक् है, जिसे दशमहाविद्या-रहस्यवेत्ताओंनें 'आद्या' नाम से व्यवहृत किया है, जिसके सर्जन से आम्नायनिष्ठ मानव अपने मानवजीवन को कृतकृत्य बनाया करते हैं +। आदिस्वरूपा, अतएव 'आद्या' नाम से प्रसिद्धा,-'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्' से समतुलिता, अतएव 'श्यामा' नाम से तन्त्रशास्त्र में उपवर्णिता महामाया वेदरूपा यजुर्वाक् ही मूलवाक् है, जो विश्व को अपने गर्भ में सुरक्षित रखती हुई स्वयं विश्वातीता बनी हुई है +।

मनःप्राणगर्भिता यह स्वायम्भुवी 'वाक्' रूपा वाक् ही 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन'-आकाश -(वाक्) सम्भूत' इत्याद्यनुसार विश्वस्वरूप में परिणत हुई है, जिसके आधार पर 'अथो वागेवेदं सर्वम्' (ऐतरेय आरण्यक) इत्यादि सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' से इसी स्वायम्भुवी वेदवाक् का यशोगान हुआ है, जो मूलोत्तमरूप से द्यु के पृष्ठस्थानीय स्वयम्भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित रहती हुई विश्व को स्वमहिमामण्डल में अन्तर्मुक्त रखती हुई अविश्वमिन्वा (विश्वव्यापका-विश्वातीता) है, एवं अपने अर्करूपात्मक आम्भृणी-सरस्वतीरूपों से विश्वस्वरूप में परिणत हो रही है। वाग्देवी के इन्हीं विविध विवर्त्तों का यत्रतत्र विभिन्न दृष्टिकोणों से स्वरूपनिरूपण हुआ है। देखिए—

(१)—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥
—तै० ब्रा० २।८।८।४

} स्वायम्भुवी वेदवाक् (महाकाली)

---

* सिद्धान्तमौपनिषद शुद्धान्तं परमेष्ठिनः ।
शोणाधरमहः किञ्चिद् वीणाधरमुपास्महे ॥
—लघुपाराशरी का मङ्गलाचरण

— (१) यच्च किञ्चित् क्वचिद् वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके ।
तस्य सर्वस्य या शक्ति सा त्वं किं स्तूयसे तदा ॥
(२)—परा परमाख्या परमा त्वमेव परमेश्वरी ।
(३)—केषाञ्चित् पुरुजित्पदाम्बुजरजो राज्येव राज्यप्रदा—(महासरस्वती) (सौरी ऐन्द्री)
केषाञ्चित् कमलापतेश्चरणयोश्चिन्तैव चिन्तामणिः ।—महालक्ष्मी (पारमेष्ठिनी)
अस्माकं तु कपालकेलिकलिका कल्पान्तसवर्द्धिनी
काम कामगवी नवीनजलदश्यामाभिरामा गतिः

} महाकाली (स्वायम्भुवी)

+ शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानमुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम् ।
देवी त्रयी भगवती भवभावनाय वार्ता च सर्वजगतां परमार्त्तिहन्त्री ॥

(२)—वाच देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वा पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
—तै० ब्रा० २।८।८।४ } पारमेष्ठिनीआम्भृणी-वाक् (महालक्ष्मी)

(३)—ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥
—ऐतरेयआरण्यक १।१। } सौरी सरस्वती वाक् (महासरस्वती)

स्वयम्भूकेन्द्र में (जो कि द्यु लोक का पूर्वकथित पारिभाषिक 'ऊर्ध्व' नामक पृष्ठ है) उक्थरूप से प्रतिष्ठित विश्वावीता विश्वसर्जिका, अतएव 'अविश्वमिन्वा' (जिसे विश्व सीमित न बना सके) नाम से प्रसिद्धा स्वायम्भुवी वेदवाक् के वितान से ही चन्द्रमान्त विश्वसर्ग का स्वरूप निष्पन्न हुआ है । अपने अन्तरान्तरी-भावात्मक परिभ्रमणों से परमेष्ठ्यादि चन्द्रमादि सम्पूर्ण विश्वपर्व उस द्यु पृष्ठस्था वाक् से समन्वित होते हुए उस वाग्रस का आदान करते रहते हैं, जिस आदानविसर्गात्मिका नैसर्गिकी परिभ्रमणविधा का 'दर्शपूर्णमास' यज्ञरहस्य में प्रतिपादन हुआ है । परिभ्रममाण ये विश्वपर्व जब उस वाक्पृष्ठ के समसम्मुख बन जाते हैं, तो यही इनका उस वाक् के साथ मन्त्रणाकाल है, यही इनका पौर्णमास है । जब परिभ्रमण करते करते ये विश्वपर्व वाक्पृष्ठ से विपरीत दिशा में आ जाते हैं, तो यही इनका दर्शकाल है । इस प्रकार स्वायम्भुवी वाक् के साथ मन्त्रणात्मक सहयोग से ही इनके विस्रस्तभागों की क्षतिपूर्ति होती रहती है, जिसका महर्षिने— 'मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम्' इस उत्तरभाग से स्पष्टीकरण किया है । इसी रहस्य का अन्यत्र इस रूप से स्वरूप विश्लेषण हुआ है कि——

(२५४)—'तिस्रो भूमीर्धारयन्०' (१४) मन्त्रार्थसमन्वय —

(१४)—"तीन भूमियों को धारण करता हुआ, और तीन (ही) द्यु लोकों को धारण करता हुआ (वह प्रजापति स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित—निश्चलरूप से व्याप्त हो रहा है), जिसके इन तीन द्यावापृथिव्यरूपों के मध्य में तीन ही व्रत (अन्तरिक्ष) प्रतिष्ठित हैं । ऋत के सम्बन्ध से आदित्य महामहिमशाली बने हुए हैं । हे अर्य्यमन् ! (तपोलोकात्मक प्राण ।), हे वरुण ! (जनल्लोकात्मक प्राण !), हे मित्र ! (महर्लोकात्मक प्राण ।), इस प्रकार यह विश्वकर्म्मा स्वयम्भू (विश्व में अत्यन्तवही) शोभनीय बने हुए हैं" ।

'अन्नं वै व्रतम्' (ताण्ड्यमहाब्राह्मण २२।४।७।) इत्याद्यनुसार सामात्मक ऋताम्न ही व्रत है । अन्तरिक्ष ऋतप्रधान लोक है । अतएव इसे 'व्रत' कहना अन्वर्थ बनता है । इसी आधार पर—'अन्तरिक्षं—वै महाव्रतम्' (शत० १ ।१।२।२।) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है । इसी आधार पर—'उर्वन्तरिक्ष-मन्वेमि' इत्यादिरूप से व्रत का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध माना गया है । मातृरूप तीन पृथिवीलोक, पितृरूप

तीन द्यु लोक, इन ९ लोकों का जहाँ १२ वें मन्त्र में संग्रह हुआ है, वहाँ 'त्रीणि त्रता विदथे अन्तरेषाम्' रूप से द्यावापृथिव्य (द्यु और पृथिवी के मध्य में प्रतिष्ठित) तीन अन्तरिक्षों का भी संग्रह हो रहा है। इस 'सर्वहुत'–'सर्वमेदस्' यज्ञात्मक इस विश्वयज्ञमण्डल में (विदथे–विश्वयज्ञे) तीन भूमि–तीन द्यु–मध्यनामक तीन ही अन्तरिक्ष, लोक हैं। इन तीनों त्रिकों को धारण करता हुआ सम्पूर्ण विश्व का अनुरूप–प्रतिरूप शिल्पात्मक सौन्दर्य (चारु) बना हुआ है, जिस इस विश्वसौन्दर्य्य के साधक बने हुए हैं तपोलोकात्मक अर्य्यमा, जनल्लोकात्मक वरुण, महर्लोकात्मक मित्र, नाम के प्राण। दानुस्वधाशक्तिप्रवर्त्तक प्राण ही 'अर्य्यमा' है, जिसके द्वारा स्वायम्भुवतत्त्व विश्वस्वरूपनिर्म्माण में प्रवर्ग्यरूप से उपयुक्त होते रहते हैं *। 'बृहस्पतिः पूर्वेषां मुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथम' (शत० ६।१।४।१८) इत्यादि निगमानुसार बृहस्पति पूर्वदेवों के अन्त में प्रतिष्ठित हैं, एवं इन्द्र उत्तरदेवों के आदि में प्रतिष्ठित हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि, सप्तलोकात्मक–त्रिधामात्मक–पञ्चपर्वा–विश्व के सूर्य्य को केन्द्र मान कर 'पूर्व–उत्तर' ये दो विभाग मान लिए जाते हैं। सूर्य्य से ऊपर के परमेष्ठी–स्वयम्भूपिण्ड पूर्वदेव हैं, सूर्य्य से नीचे के भूपिण्ड–चन्द्रमा, दोनों उत्तरदेव हैं, दोनों का विभाजक विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य है, जिसका मन्त्र ने 'अतेनादित्या महि वो महित्वम्' इत्यादिरूप से स्पष्टीकरण किया है। पूर्वदेवों की अन्तिम सीमा में जो ग्रह प्रतिष्ठित है, वही 'बृहस्पति' कहलाया है, जिसे 'वाक्पति' भी माना गया है। यही सुप्रसिद्ध 'वाजपेययज्ञ' का मूलाधिष्ठाता बना हुआ है। यह स्मरण रखने की बात है कि, निगमशास्त्र में पारमेष्ठ्योपग्रहभूत बृहस्पति-ग्रह, सूर्य्योपग्रहभूत बृहस्पतिग्रह, एवं–'लुब्धकनक्षत्र' नाम से प्रसिद्ध नाक्षत्रिक बृहस्पति, रूप से तीन बृहस्पतियों का स्वरूप निरूपित हुआ है। सुप्रसिद्ध पौराणिक ताराहरणोपाख्यान का 'लुब्धकनक्षत्र' नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति के साथ सम्बन्ध है। सौर बृहस्पतिग्रह सौर महिममण्डल में भुक्त रहता हुआ सौर देवप्राण का अधिष्ठाता बना रहे है, जिस का–'बृहस्पतिः पुर एता' (यजुः सं० १७।४०) इत्यादिरूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। यही पौराणिक देवगुरु बृहस्पति है, जिसका ज्योतिर्विद् 'गुरुदशा' से सम्बन्ध माना करते हैं। एक बृहस्पतिग्रह वह है, जो सूर्य्य से ऊपर अवस्थित है जो परमेष्ठी को उपग्रह बनता हुआ उसके चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है। पारमेष्ठ्य सौम्य ब्रह्मवर्चप्रधान अन्नरस ही–(जो 'ऊर्क्' इस पारिभाषिक नाम से प्रसिद्ध है) 'वाज' नाम से प्रसिद्ध है। इस 'वाज' नामक पारमेष्ठ्य ज्ञानवर्द्धक प्राणात्मक रस को जन्मजात ब्राह्मणमानव जिस वैधप्रक्रियासे अपने आत्मगर्त में आधान करता है, वही प्रक्रिया 'वाजपेय' नाम से प्रसिद्ध हुई है। 'राजा–वाजो–महो–हविः' इत्यादिरूप से पारमेष्ठ्य सौम्यप्राणात्मक मार्गव रस ही इन चार जातियों में विभक्त हो रहा है। यही पारमेष्ठ्य सोम पार्थिव कक्षा में भुक्त हो कर 'हविःसोम' कहलाया है, जिससे 'हविर्याग' होता है। यही पारमेष्ठ्य सोम चन्द्रानुगत अन्तरिक्षकक्षा में भुक्त हो कर 'महःसोम' कहलाया है, जिससे 'महायाग' होता है। यही पारमेष्ठ्य सोम सौरकक्षा (इन्द्रकक्षा) में भुक्त होकर 'राजसोम' कहलाया है, जिससे 'राजसूय' होता है। एवं यही पारमेष्ठ्य सोम स्वकक्षा में ही भुक्त होता हुआ 'वाजसोम' कहलाया है, जिस से 'वाजपेय' यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। वाजपेय सोम पारमेष्ठ्य बृहस्पतिप्राण से समन्वित है। अतएव इसे 'बृहस्पतिसव' भी कहा गया है, जिसका अधिकार एकमात्र

---

* यशो वा अर्य्यमा (वै० भा० २।३।५।४)–अर्य्यमेति तमाहुर्यो ददाति (वै० भा० १।१।२।५)।

ब्राह्मण को ही है। राजसूय का अधिकार एकमात्र मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा को ही है। शेष ग्रहयाग, तथा हविर्याग में द्विजातिमात्र (ब्रा० क्ष० वै० मात्र) अधिकृत हैं। 'राजा वै राजसूयेन-इष्ट्वा भवति, सम्राड्वाजपेयेन' इत्यादि के अनुसार राजा जहाँ राजसूय से 'राजा' पदाधिकारी बनता है, वहाँ ब्राह्मण वाजपेय से सम्राट्पदाधिकारी बन जाता है। तात्पर्य्य प्रकृत में यही है कि, पारमेष्ठ्य वागात्मक प्राण ही बृहस्पति है, जो सौर इन्द्रप्राण से ऊपर, एवं पूर्व लोकों (स्वयम्भू-परमेष्ठी लोकों) से अन्त में प्रतिष्ठित हैं। अपने पारमेष्ठ्य लोकसम्बन्ध से ये 'बृहस्पति पूर्वेषामुत्तमो भवति' वाले बृहस्पति जनल्लोक के उपमर्द हैं, जो जनल्लोक सप्तत्रैलोक्य के अन्तरिक्षलोकात्मक (स्वयम्भू और परमेष्ठी के मध्यमें स्थित महलोक) तपोलोक से अधोऽवस्थित है। इस तपोलोकात्मक दातृशक्तियुत प्राण ही का नाम 'अर्य्यमा' है, जिस के आधार पर सुप्रसिद्ध पौराणिक 'दिवगङ्गा' प्रतिष्ठित है, जिसे अर्वाचीन वैज्ञानिक 'दूध की नदी' (मिल्क वे) कहा करते हैं। भारतीय लोकव्यवहार में यही 'आकाशगङ्गा' नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें असंख्यातः नक्षत्र-पुञ्जप्रतिष्ठित हैं। तपोलोकात्मक अर्य्यमाप्राण का भोग (जो कि इस वियद्गङ्गानामक सुरवर्त्म से ऊर्ध्व स्थित है, अतएव जो अर्य्यमा जनल्लोकात्मक परमेष्ठी के उपमर्द बृहस्पति से भी उर्ध्व माना गया है) स्व-प्रधान इस आकाशगङ्गात्मक सुरमार्गमण्डल में ही होता है। अतएव इसे निगमपरिभाषा में 'अर्य्यम्णः पन्था' कहा गया है, जैसाकि-'एषा वा ऊर्ध्वा बृहस्पतेर्दिक्, तदेष उपरिष्टात्-अर्य्यम्णः-पन्था' (शत० ५।५।१।१२।) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। 'तपसा तप्यध्वम्' ही प्रदानशक्ति का मूलाधार है। 'एतद्वै तप इत्याहुर्यन् स्वं ददाति' ही तपःप्राण का लक्षण है, एवं यही तपोलोकात्मक, दातृत्वशक्तिप्रधान इस अर्य्यमाप्राण का संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है। इसीसे स्वायम्भुव सत्य प्रवर्ग्यरूप से विश्वस्वरूपनिर्म्माण में उपयुक्त होते हैं। अतएव इस तपोलोकप्रतिष्ठ तपोमूर्त्ति प्रदानशक्तिघन अर्य्यमाप्राण को हम अवश्य ही विश्व-सौन्दर्य का प्रवर्त्तक मान सकते हैं*।

सुप्रसिद्ध ग्रहयाग के सुप्रसिद्ध चत्वारिंशत् (४०) ग्रहों में एक ग्रह 'मैत्रावरुण' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका 'क्रतुदक्षौ' रूप से शतपथ '४।१। तृतीय' ब्राह्मण में विशद वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। जिस प्रकार आध्यात्मिक 'प्रजा-प्रजनन' कर्म्म में 'नाभानेदिष्ठ, वालखिल्या, वृषाकपि, एवयामरुत्' ये चार सहचारीप्राण प्रमुख बने रहते हैं, तथैव आधिदैविक विश्वनिर्म्माण में 'आदित्य, अर्य्यमा, वरुण, मित्र,' ये चार प्राण प्रमुख बने रहते हैं। मन्त्र के उत्तर भाग ने-'अतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्य्यमन् वरुण मित्र चारु' इत्यादि रूप से इन चार प्राणों का ही स्वरूप स्पष्ट किया है, जिनमें से 'अर्य्यमा' नामक तपोलोक के प्राण की रूपरेखा का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है। अब मित्रावरुण का भी संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया जाता है। 'ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः (शत० ४।१।४।२) के अनुसार 'ब्रह्म' (ज्ञानशक्तिमय प्राण) का ही नाम मित्र है, एवं 'क्षत्र' (क्रियाशक्तिमय प्राण) का ही नाम वरुण है। अध्यात्मदृष्ट्या उदाहरणरूप से इन दोनों का यों समन्वय किया जा सकता है कि,-ज्ञानमय मन का-'मैं अमुक कर्म्म करूँ' यह मानसिक संकल्पात्मक प्राण (प्रज्ञाप्राणात्मक ज्ञानीय प्राण) ही 'क्रतु' है, यही मित्र है। एवं इस मानस संकल्प की जिस क्रिया (बाह्यकर्म्म) रूप प्राण से स्वरूपनिष्पत्ति होती है, वही क्रियाशील प्राण 'दक्ष' है, यही

* जिस मानव में जन्मना यह अर्य्यमाप्राण विकसित रहता है, वह सहजरूप से दानशक्ति से समन्वित रहता है। जिसका यह प्राण अभिभूत रहता है, वह जन्मजात कृपण होता है।

वरुण है +। निष्कर्षतः ज्ञानशक्तियुक्त प्राण ही मित्र है, क्रियाशक्तिमयप्राण ही वरुण है, जो दोनों प्राण क्रमशः पारमेष्ठ्य आपोमय भृगु–अङ्गिराप्राणों से अनुप्राणित हैं। स्नेहगुणप्रधान भृगु से अनुप्राणित सौम्य पारमेष्ठ्यप्राण से समन्वित महर्लोकीय प्राण ही 'मित्र' है, एवं तेजोगुणप्रधान अङ्गिरा से अनुप्राणित आग्नेय पारमेष्ठ्यप्राण से समन्वित जनर्लोकीय प्राण ही 'वरुण' है। ये दोनों प्राण ही तपोलोकीय अर्य्यमाप्राण से समन्वित होकर विधात्मिका द्यावापृथिवी के स्वरूपनिर्म्माता बनते हैं। अतएव मित्रावरुण का द्यावापृथिवी से घनिष्ठ सम्बन्ध मान लिया गया है, जैसा कि—'द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयोः प्रियं धाम' (ताण्ड्य ब्रा॰ १४।२।४)—'अयं वै–पृथिवीलोको मित्रः, असौ–द्युलोको वरुणः' (शत॰ १२।६।२।१२) इत्यादि ब्राह्मणनिगमों से स्पष्ट है। तपोरूप अर्य्यमा, तद्युक्त ज्ञानक्रियारूप भार्गवाङ्गिरस मित्रावरुण, तीनों के समन्वित रूप ही क्योंकि द्यावापृथिव्य विश्व का स्वरूपसौन्दर्य सुरक्षित रखते हैं, इसी आधार पर 'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है। चौथा प्राण है आदित्य, जिसके सवित्रात्मक स्वरूप से ही सृष्टिकर्म्म प्रवृत्त होता है। 'सविता वै देवानां प्रसविता' इत्यादि लक्षण प्रेरणात्मक आदित्यप्राण, तथा ज्ञानक्रियामय अर्य्यमाप्राण, इन चारों के समन्वित रूप से ही विश्वसौन्दर्य स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है। और यही मन्त्रोत्तरभाग का दिशापरिचय है।

वाज–राज–भक्ष–हविः सोमचतुष्टयीस्वरूपपरिलेखः—

१—पारमेष्ठ्यसोमः——वाजः——तत्तो वाजपेयस्वरूपनिष्पत्तिः (बृहस्पतिसवः–परमेष्ठिसवो वा)

२—सौरसोमः——राजा——तत्तो राजसूयस्वरूपनिष्पत्तिः (इन्द्रसवः——सूर्य्यसवो वा)

३—चान्द्रसोमः——भक्षः——तत्तो भक्ष्याभक्ष्यस्वरूपनिष्पत्तिः (सोमसवः——चन्द्रसवो वा)

४—पार्थिवसोमः——हविः——तत्तो हविर्भागस्वरूपनिष्पत्तिः (अग्निसवः——पृथिवीसवो वा)

— क्रतुदक्षौ ह वाऽअस्य मित्रावरुणौ, एतन्नु अध्यात्मम्। स यदेव मनसा कामयते–'इदं मे स्यात्–इदं कुर्वीय' इति, स एव क्रतुः। अथ यदस्मै तत् समृध्यते, स दक्षः। मित्र एव क्रतुः, वरुणो दक्षः। ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः। अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रियः।

—शतपथ॰ ४।१।४।१

पूर्वेषामुत्तम-उत्तरेषा प्रथमः-स्वरूपपरिलेखः—

पूर्वदेवा —
- १ स्वयम्भू—सर्वाध्यक्ष सर्वात्मा
- २ आपोमयः परमेष्ठी
- ३ वाङ्मयिर्बृहस्पति ——{ बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तम

उत्तरदेवा —
- १ तेजोमय-इन्द्रः (सूर्य्यः)—{ इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः
- २ स्नेहमय-सोम (चन्द्र)
- १ भूतमयोऽग्नि (पृथिवी)

—✦✦—

सर्वसग्रह-एकशाखारूप-एक-शाखाविश्वस्वरूपपरिलेखः—

—✦✦—

(२५५)—सन्दर्भसङ्गति—

नैगमिक विश्वस्वरूपमीमांसा के सम्बन्ध में चतुर्दशसंख्यात्मक मन्त्रसन्दर्भ के माध्यम से जिस विश्व की स्वरूपमीमांसा हुई है, वह तो वस्तुतः महाविश्व का एक सहस्रवाँ पर्व है, जो निगमपरिभाषा में 'पञ्चपुण्डीरा-माजापत्यवल्शा' (सहस्रवल्शेश्वर की पञ्चपर्वरूपा एक शाखा) नाम से प्रसिद्ध है । ऐसी हजार शाखाओं

की, किंवा पञ्चपर्वा ऐसे हजार विश्वों की समष्टि ही एक महामायावच्छिन्न महाविश्व की स्वरूपमीमांसा है। अनन्तपरात्पर में महामायावत्सों के आनन्त्य से विदित नहीं, कितने ऐसे असंख्य महामायावत्स हैं। एक एक महामायावत्स से एक एक महाविश्व का स्वरूपनिर्म्माण, एक एक महाविश्व में योगमायासम्बन्ध से सहस्र-सहस्र पञ्चपर्वा विश्वों का स्वरूपनिर्म्माण। कैसा है यह आनन्त्य, कैसी है तदनुगता अनन्तब्रह्म की यह अनन्तमहिमा, एवं कैसी है उन महामहिम महर्षियों की वह अनन्तदृष्टि, जिसने इस आनन्त्य का साक्षात्कार कर-'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म'-'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'-'सर्वखल्विदं ब्रह्म'-'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'-'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'-'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इत्यादि अनन्तभाव अभिव्यक्त किए नैष्ठिक मानव के अभ्युदयनि श्रेयस् के लिए। नमः परम-ऋषिभ्यः। नमः परम-ऋषिभ्यः॥ नमः परम-ऋषिभ्यः॥।

'मनु' ही ऋषिदृष्ट तथाकथित विश्वस्वरूप के मूलप्रवर्त्तक हैं। यह मनुसर्ग 'भाव-गुण-विकार' भेद से तीन मार्गों में विभक्त है, जो क्रमशः मानसीसृष्टि प्रकृतिसृष्टि, मैथुनीसृष्टि नामों से प्रसिद्ध है। इन्हीं के क्रमशः अव्ययसर्ग, अक्षरसर्ग, क्षरसर्ग, इस रूप से, पुरुषसर्ग, प्रकृतिसर्ग, विकृतिसर्ग, इस रूप से, आत्मसर्ग, देवसर्ग, भूतसर्ग इस रूप से, शाश्वतब्रह्ममूर्त्तिस्वयम्भूमनुसर्ग, इन्द्रप्राणमूर्त्ति हिरण्यगर्भमनुसर्ग, अग्निमूर्त्तिविराट्मनुसर्ग, इस रूप से अनेकधा स्पष्टीकरण हुए हैं। अक्षर रसतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाले दिग्देशकालावच्छिन्न रसबल बलों के विभूति-योग-बन्ध, नामक तीन विविध सम्बन्धों के कारण ही मनुसर्ग तीन मार्गों में विभक्त हुआ है। इन तीनों सृष्टियों के सामान्य अनुबन्ध काम-तप-श्रम नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, जिन इन सामान्य अनुबन्धों के व्यापार से ही त्रिविध मनुसर्ग प्रवृत्त हुआ है।

भाव, एवं गुणसर्गसमन्वित विकारसर्गात्मक—स्वयम्भूहिरण्यगर्भगर्भित एवं विराट्मनुरूप अग्निमूर्त्ति वेदत्रयावच्छिन्न सप्तपुरुषपुरुषात्मक मनुप्रजापति की भूतसर्गकामना से (जोकि कामना मनोनुबन्ध से नैसर्गिकी है, अतएव जिस सहज कामना के सम्बन्ध में—क्यों?, कैसे?, कब?, इत्यादि प्रश्न उपस्थित ही नहीं होते), कामानुगत इस तप से, तपोऽनुगत इस श्रम से इस वामाग्नि के द्वारा सर्वप्रथम 'आप' नामक भूत ही उत्पन्न हुआ है, जो 'महाभूत' नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिसके सम्बन्ध से ही स्वयम्भूमनु नामक आदि मनु (प्रथम अव्यक्त मनु) 'महाभूतादि वृत्तोजा' कहलाए हैं। इसी महत्ता के कारण यह आप तत्त्व 'महद्यक्ष'—'महद्यशा'-'महद्ब्रह्म'-'महत्प्रभु'-'महान्विभु' आदि नामों से यत्रतत्र उपवर्णित हुआ है, जो अध्यात्म-संस्था में चतुरशीतिलक्ष पितृप्राणमूर्त्ति 'महानात्मा' का स्वरूप बना हुआ है। इसी महाभूतात्मक 'आपोमय' का पूर्व में गोपथश्रुति के माध्यम से 'स्वेदवेद' रूप से विस्तार से स्वरूपनिरूपण हुआ है। यही ईशोपनिषद् का सुप्रसिद्ध वह 'शुक्र' तत्त्व है, जिसका—'स पर्य्यगाच्छुक्रमकाय०' इत्यादिरूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। यही मौलिक विश्व का उपादानात्मक 'शुक्र' पदार्थ है, जिसकी सौरहिरण्याग्नि में आहुति होने से ही उस सम्वत्सरयज्ञप्रजापति का जन्म हुआ है, जो यज्ञप्रजापति शुक्रशोणितनिबन्धना प्रजा का उपादान बना करता है *। यही वह आप तत्त्व है, जिसका छान्दोग्योपनिषद् की सुप्रसिद्ध पञ्चाग्निविद्या में-'इति तु पञ्चम्या-

---

* सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
—गीता ३।१०।

माहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है। इसी 'आपः' तत्त्व की सर्वव्याप्ति के आधार पर—'यदाप्नोत् तस्मादापः, अवृणोत् तस्माद्वाः' इत्यादि रूप से इसे सर्वरूप घोषित किया गया है —।

वागग्नि (स्वायम्भुव वेदाग्नि) से सर्वप्रथम समुद्भूत यह 'आपः' नामक महान् तत्त्व भृग्वङ्गिरोमय बनता हुआ स्नेहतेजोमूर्ति है। स्नेहात्मक भृगुसम्बन्ध से सौम्यमूर्ति बनता हुआ यह आपः शीत (ठंढा) तत्त्व है, एवं तेजोरूप अङ्गिरासम्बन्ध से आग्नेय बनता हुआ यह आपः उष्ण (गरम) तत्त्व है। इसी आधार पर प्रान्तीयभाषा में आपः के वैकारिकरूप पार्थिव 'मर' नामक पेय पानी को 'ठंढी आग' कहा जाता है। वस्तुतः रुद्राग्निसमावेश से ही पानी तरल बना हुआ है, जैसाकि 'अपां संघातो विलयनं च तेजःसंयोगात्' (वैशेषिकसूत्र—कणाददर्शन) से भी प्रतिध्वनित है। स्नेहतेजोगुणक-भृग्वङ्गिरोमय-शुक्रमूर्ति यही आप 'सुब्रह्म' कहलाया है, जिसके गर्भ में 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से प्रविष्ट रहने वाला वेदत्रयावच्छिन्न विराडग्निमूर्ति मनु प्रतिष्ठित है। वेदाग्निमूर्ति वेदत्रयीलक्षण मनु जहाँ 'ब्रह्म' है, वहाँ सुवेदमूर्ति सौम्यवेदलक्षण आप 'सुब्रह्म' है। इस ब्रह्म और सुब्रह्म के रासायनिक सम्मिश्रणात्मक 'याग' नामक सम्बन्ध से (अन्तर्याम-सम्बन्ध से) ही आगे जाकर क्रमशः अम्भ—मरीचि—मरः—श्रद्धा—नामक चार मार्गों में परिणत होता हुआ अप्तत्त्व क्रमशः पारमेष्ठ्य-सौर—पार्थिव—चान्द्रमहिमामण्डलों का स्वरूपनिर्माता बनता है, जो कि चारों अप्तत्त्व अध्यात्मसंस्था में क्रमशः परिभमाम्, क्रोधाम्, शोकाम्, प्रेमाम्, नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इन सब विषयों के संक्षिप्त स्वरूपोपवर्णन का ही अब तक के सन्दर्भों का स्वरूपपरिचय है, जिसे लक्ष्य बना कर ही हमें विश्वस्वरूपमीमांसा का समन्वय करना चाहिए। जैसा कि—गोपथश्रुति के रहस्यार्थ का उपसंहार करते हुए पूर्व में कहा गया था कि, श्रुतिशैली सर्वत्र परोक्षभाव को मध्यस्थ बना कर ही तत्त्वव्याख्या करती है। इसी परोक्षभाव के कारण निगमरहस्य पारम्परिक आम्नाय से अनुगत है, जिसके विलुप्तप्राय हो जाने से ही आज निगमरहस्य हमारे लिए एक समस्या बन गया है। क्यों महर्षियों ने तत्त्ववादव्याख्यान में परोक्षशैली का आश्रय लिया ?, इस प्रासङ्गिक किन्तु पूर्वप्रतिज्ञात प्रश्न का समाधान कर प्रक्रान्त 'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक द्वितीय स्तम्भ उपरत हो रहा है।

(२५६) प्रासङ्गिक–प्रतिज्ञात–प्रत्यक्ष–परोक्षभावमीमांसोपक्रम—

'प्रतिगतमक्षि-इन्द्रियं-यत्र' इत्यादि निर्वचनानुसार इन्द्रियग्राह्य भाव के लिए जहाँ 'प्रत्यक्ष' शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ इन्द्रियातीत भाव 'अक्षणो परम्' निर्वचनानुसार 'परोक्ष' अभिधा से व्यवहृत हुआ है। प्रत्यक्षं स्यादैन्द्रियकं, अप्रत्यक्षमतीन्द्रियम्' (अमरकोष—१।१।७६।) इत्यादि कोशसिद्धान्तानुसार—'अक्षं-'प्रतिगतम्-इन्द्रियगतम्' ही 'प्रत्यक्ष' शब्द का निर्वचन है, एवं 'अक्षं—अप्रतिगतम्' ही परोक्षभावसूचक

— अप्सु तं मुञ्च,मद्र ते—सोऽम अप्सु प्रतिष्ठितः ।
आपोमया सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ॥

—महाभारत

'अप्रत्यक्ष' शब्द का निर्वचन है। जिसका अनुभव, किंवा अनुभूति इन्द्रियों से होती है, उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है, एवं जिसकी अनुभूति इन्द्रियों से नहीं होती है, वैसा इन्द्रियातिक्रान्त विषय ही अप्रत्यक्ष, किंवा परोक्ष कहलाया है। अनुभवविशेष ही 'प्रत्यक्ष' है, एवं अनुभवविशेष ही परोक्ष है। इन्द्रियमन समन्वित सर्वेन्द्रियमनोऽनुगत इन्द्रियों से अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य, विषयावच्छिन्नचैतन्य, इन तीन चैतन्य (ज्ञान) धाराओं के एक बिन्दु (केन्द्र) में समसमन्वय होने से जो अनुभवविशेष होता है, वही इन्द्रियजन्यज्ञानात्मक अनुभव 'प्रत्यक्ष' कहलाया है, जिसका—'घटमहं जानामि, घटमहं पश्यामि' इत्यादि वाक्यों के द्वारा अभिनय हुआ करता है। सामने एक वस्तु है, उसका आप प्रत्यक्ष कर रहे हैं। इस इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान में तीन ज्ञानधाराएँ काम कर रहीं हैं। आपका हृदयस्थ ज्ञानमय उक्थात्मक मन एक ज्ञानधारा है, जिसमें से रश्मिरूप से ज्ञान का एक मण्डल बनता है, जिस ज्ञानीय रश्मिमण्डल में इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित हैं। रश्मिज्ञानात्मक इन्द्रियवर्ग ही दूसरी ज्ञानधारा है। सम्मुख अवस्थित पदार्थ (चाहे वह जड़ हो, अथवा चेतन-निरिन्द्रिय हो, अथवा सेन्द्रिय) भी ज्ञानधारायुक्त है। इस ज्ञानमण्डल के साथ इन्द्रिय ज्ञानमण्डल का प्रथम सम्बन्ध होता है। इन्द्रिय ज्ञानधारा के द्वारा विषयज्ञानधारा हृदयस्थ उक्थज्ञान में प्रविष्ट होती है। तभी इस प्रत्यक्षज्ञान का उदय होता है। मनोमय उक्थज्ञान ही दर्शनभाषा में 'अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य' कहलाया है, रश्मिरूप इन्द्रियज्ञानमण्डल ही 'अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य' कहलाया है, एवं विषयानुगत ज्ञान ही 'विषयावच्छिन्नचैतन्य' कहलाया है। इसी आधार पर दार्शनिकों नें प्रत्यक्ष का यह लक्षण माना है—"अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यसमभिव्याप्तान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यपरिगृहीतविषयावच्छिन्न चैतन्यमेव प्रत्यक्षम्"। निष्कर्षतः मूर्त्त पदार्थों के साथ सम्बन्ध रखने वाला तात्कालिक इन्द्रियजन्य-ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाया है। किंवा मनोऽनुगत इन्द्रियभावों से सम्बन्ध रखने वाला (त्रिज्ञानधारासमन्वयात्मक) मूर्त्त-आधिभौतिक अनुभवविशेष ही 'प्रत्यक्ष' है।

(२५७)—आत्मबुद्धिमनोविमूढ भावुक मानव—

सम्पूर्ण इन्द्रियों के अधिष्ठाता 'प्रज्ञान' नामक सर्वेन्द्रियमन का * सञ्चालन जिस से होता है, वही सुमस्थित पद 'बुद्धि' तत्त्व है, जिसके 'स्वतन्त्र-परतन्त्र' भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। स्वतन्त्र बुद्धि 'विद्या बुद्धि' कहलाई है। परतन्त्रबुद्धि 'अविद्याबुद्धि' कहलाई है। केन्द्रस्थ आत्मा ही अध्यात्मसंस्था का 'स्व' भाग है, एवं मनोऽनुगत बाह्यप्रपञ्च आत्मा का 'पर' भाग है। इस 'स्व' रूप आत्मा से अनन्यता रखने वाली आत्मानुगता बुद्धि ही स्वानुगता 'स्व' (आत्म) तन्त्र में प्रतिष्ठिता 'विद्याबुद्धि' है। एवं बाह्यविषयात्मक 'पर' तन्त्र में प्रतिष्ठिता मनोव्यापारवर्त्तिनी बुद्धि ही 'परानुगता 'पर' (भूत) तन्त्र में प्रतिष्ठिता 'अविद्याबुद्धि' है'। हृदयस्थ 'स्व' नामक आत्मा एकाकी है। अतएव तदनुगता विद्याबुद्धि एकभावापन्ना है। अतएव इसका स्वरूपधर्म्म एकत्वनिबन्धन व्यवसायधर्म्म से समन्वित रहता है। अतएव इस स्वानुगता (आत्मानुगता), अतएव 'स्वतन्त्रा' नाम से प्रसिद्धा एकभावापन्ना (निर्भ्रान्त-निश्चित-एक निर्णयात्मिका) विद्याबुद्धि को 'व्यवसायबुद्धि' कहा गया है, जैसा कि—'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन' (गीता२।४१।) इत्यादि से

---

* रजोबलमयस्य, सत्त्व, सर्वेन्द्रिय, इन्द्रियमन, रूप से चार मनोविवर्त्तों का पूर्व परिच्छेदों में विस्तार से प्रतिपादन किया जा चुका है। देखिये पृ० सं० १८९, एवं २८१।

स्पष्ट है। यदि यही बुद्धि मनोऽनुगता बनकर मनोवशवर्त्तिनी बन जाती है, तो परतन्त्र है। इस अवस्था में 'नवो नवो भवति जायमानः' के अनुसार प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील मृत्युभावात्मक नानाभावप्रधान मूर्त्त-धरातल-भौतिकजगत् में आसक्त-व्यासक्त इन्द्रियवशवर्त्ती चान्द्रमन के नानात्व से बुद्धि का स्वानुगत एकत्व निबन्धन (आत्मनिबन्धन) व्यवसायधर्म्म अभिभूत हो जाता है, एवं यह पराक्रान्त बनती हुई नानाभावात्मिका हो जाती है। यही अव्यवसायात्मिका बहुशाखामशाखोपेता अविद्याबुद्धि है, यही अव्यवसायात्मिका भ्रान्ता बुद्धि है, जिसका-'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' इत्यादि रूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। ऐसी मनोवशवर्त्तिनी अविद्याबुद्धि स्वयं अपने हित-अहितनिर्णय में सर्वथा असमर्थ बनी रहती हुई सदा पराभिता-गतानुगतिक-परानुकरणपरा-परतन्त्रा है, जिससे सदा ही मानवीय मन विमुग्ध बना रहता है। ऐसे मानव का न अपना कोई स्थिर आदर्श होता, न लक्ष्य। अपितु-'मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धिः' आमात्मक को अक्षरशः चरितार्थ करने वाला यह बुद्धिविमूढ गतानुगतिक मानव सदा परभावानुगत ही बना रहता है। दूसरों का अन्धानुकरण ही इस भ्राम-बुद्धि-मनोविमूढ भावुक मानव का लक्ष्य बना रहता है।

(२५८)-प्रत्यक्ष, और परोक्षशब्दार्थसमन्वय—

उक्त दोनों बुद्धिविवर्त्तों के द्वारा प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि, आत्मानुगता विद्याबुद्धि से सम्बद्ध निर्भ्रान्त अनुभवविशेष ही 'परोक्ष' कहलाया है, जो इन्द्रियों से अतिक्रान्त अनुभव माना गया है। सहज भाषा में तथ्य का यों भी समन्वय किया जा सकता है कि— 'मन के वश में रहने वाली बुद्धि के सहयोग से मनोद्वारा इन्द्रियों से जो अनुभव होता है, वही प्रत्यक्ष है"—एवं "मन को वश में रखने वाली बुद्धि से बिना इन्द्रियों के ही जो अनुभव होता है, वही परोक्ष है"। अथवा-"आत्मानुगता स्वतन्त्रा विद्यारूपा व्यवसायबुद्धि से समन्वित निर्भ्रान्त निश्चित-एकभावात्मक-आध्यात्मिक अनुभव ही परोक्ष है," एवं "मनोऽनुगता परतन्त्रा अविद्यारूपा अव्यवसायबुद्धि से समन्वित भ्रान्त-संशयास्पद-नानाभावात्मक-आधिभौतिक अनुभव ही प्रत्यक्ष है"। किंवा—"विषयों के साथ व्यवसायबुद्धि से उत्पन्न होने वाला निर्भ्रान्त निश्चित अनुभव ही 'परोक्ष' है"-एवं "विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला भ्रान्त-अनिश्चित अनुभव ही 'प्रत्यक्ष' है।

(२५९ –'प्रत्यक्ष' के ५ विवर्त्त–

प्रत्यक्ष का मूलाधार जहाँ सेन्द्रिय चञ्चलप्रज्ञ भावुक मन है, वहाँ परोक्ष का मूलाधार इन्द्रियानपेक्ष नैष्ठिक विज्ञानात्मा (विद्याबुद्धि) है। निष्कर्षतः- व्यवसायबुद्ध्यनुगत अनुभवविशेष 'परोक्ष' है, एवं अव्यवसायशील मनोऽनुगत ऐन्द्रियक अनुभवविशेष ही 'प्रत्यक्ष' है। परोक्षानुभव आत्मानुगत है, प्रत्यक्षानुभव विश्वानुगत, किंवा लोकानुगत है। आत्मानुगत परोक्षभाव इन्द्रियनिरपेक्ष बनता हुआ स्वतन्त्र है, लोकानुगत प्रत्यक्षभाव इन्द्रियसापेक्ष बनता हुआ परतन्त्र है। व्यवसायबुद्धि के स्वाभाविक एकत्व से अनुप्राणित परोक्षानुभव जहाँ एकत्वसम्पत्तिलक्षण निश्चित भाव से ('इदमित्थमेव नान्यथा' रूपसे) समन्वित है, वहाँ अस्थिर मन के नैसर्गिक नानात्व से अनुप्राणित प्रत्यक्षानुभव इन्द्रियानुगति के सम्बन्ध से समन्वित है जिसके लोकनिष्ठ दार्शनिकों ने ५ विवर्त्त माने हैं।।

यह षड्विध प्रत्यक्षानुभव घ्राणज-रासन-श्रावण-चाक्षुष-स्पार्शन-मानस, नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। नासिका से सम्बन्ध रखने वाला गन्धग्रहणानुगत घ्राणज अनुभव, जिह्वा से सम्बन्ध रखने वाला रसग्रहणानुगत रासन अनुभव, श्रोत्र से सम्बन्ध रखने वाला शब्दग्रहणानुगत श्रावण अनुभव, चक्षु से सम्बन्ध रखने वाला रूपग्रहणानुगत चाक्षुष अनुभव, त्वचा से सम्बन्ध रखने वाला स्पर्शग्रहणानुगत स्पार्शन अनुभव, एवं इन्द्रियमन से सम्बन्ध रखने वाला संकल्पविकल्पात्मक (ग्रहण-परित्यागात्मक) मानस अनुभव, ये ६ ओं ही अनुभवविशेष 'इन्द्रियानुभव' कहलाए हैं। एवं इन्द्रियानुभूति के सम्बन्ध से ही इस षड्विध ऐन्द्रियक अनुभव को 'प्रत्यक्ष' उपाधि से समलंकृत किया गया है। सूँघना, स्वाद लेना, सुनना, देखना, स्पर्शानुभव करना, ऊहापोह करना, ये छओं व्यापार 'ऐन्द्रियक-प्रत्यक्ष' की सीमा में ही समाविष्ट हैं। कहना न होगा कि, इस षड्विध प्रत्यक्षानुभव के साथ तत्ववेत्ता विज्ञानदृष्टिपरायण विद्वानों का नैसर्गिक अरुचमाहित्य (विरोध) है। वे इस 'प्रत्यक्ष' पर अणुमात्र भी आस्था नहीं रखते, नहीं रखनी चाहिए। ऐसा क्यों ?, क्यों नहीं, इस लोकानुगत प्रत्यक्षानुभव को समादरणीय माना गया ?, 'प्रत्यक्षद्विष' रूप से विद्वानोंने क्यों इसके साथ विरोध किया ?, क्यों प्रत्यक्षवादी को-'प्रत्यक्षमेवेति चार्वाकः' रूप से नास्तिक घोषित किया ?, इत्यादि मानुकता(?) प्रश्नपरम्परा के समाधान के लिए उन प्रत्यक्षप्रेमियों का निम्नलिखित एक प्रासङ्गिक वैदिक आख्यान की ओर ही ध्यान आकर्षित किया जा रहा है—

(२६०) प्रत्यक्षस्वरूपविश्लेषक रहस्यपूर्ण श्रौत आख्यान—

अथातो मनसश्चैव वाचश्च—'अहमद्र'—ऽउदितम्। मनश्च ह वै वाक् च अहम्भद्र ऽऊदाते। तद्ध मन उवाच—"अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि। न वै मया त्वं किञ्चन—अनभिगतं वदसि। सा यन्मम त्वं कृतानुकरा—अनुवर्त्मा—असि (अतः) अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि" इति। अथ ह वागुवाच—"अहमेव त्वच्छ्रेयसी—अस्मि। यद्वै त्वं वेत्थ, अहं तद्विज्ञपयामि, अहं सञ्ज्ञपयामि" इति। ते प्रजापतिं प्रतिप्रश्नमेयतुः। स प्रजापतिर्मनसऽएवानुवाच—"मन एव त्वच्छ्रेयः, मनसो वै त्वं कृतानुकरा—अनुवर्त्मा—असि। श्रेयसो वै पापीयान् कृतानुकरोऽनुवर्त्मा भवति" इति। सा ह वाक् परोक्ता विसिष्मिये। तस्यै (तस्या) गर्भः पपात। सा ह वाक् प्रजापतिमुवाच—"अहव्यवाडेवाहं तुभ्यं भूयासं, यां मा परोवाच"। तस्माद्यत् किञ्च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियते, उपांश्वेव तत् क्रियते। अहव्यवाड्ढि वाक् प्रजापतयेऽआसीत् (अस्ति च)।

—शतपथब्राह्मण १।४।५।८ से १२ कण्डिकापर्य्यन्त

(२६१)—अक्षरार्थसमन्वय—

अक्षरार्थ इस आख्यान का यही है कि—"(किसी समय) मन और वाक् (वाणी) में परस्पर एक दूसरे से श्रेष्ठ मानने की प्रतिस्पर्द्धा जाग्रत हो पड़ी। मन और वाणी इस प्रतिद्वन्द्विता में (आज भी)

संलग्न देखे जाते हैं। (वाक् की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करते हुए इस मन ने) निश्चयभाव से दृढ़ता-साहसपूर्वक (उस) कहा कि, (हे वाक्) मैं ही तुझ से श्रेष्ठ हूँ। (मेरी श्रेष्ठता का प्रमाण यही है कि) तू मुझ से अज्ञात-असङ्कल्पित कुछ भी नहीं बोलती (बोल सकती)। क्यों कि तू कृतानुकरा है (मेरे कृत-संकल्प का अनुकरण करने वाली), अनुवर्त्मा है (मेरे संकल्प के पीछे पीछे अनुधावन करने वाली गतानुगतिका है), अतएव सिद्ध है कि, मैं (मन) ही तुझ (वाक्) से श्रेष्ठ हूँ। (मन के इस तर्क को सुनकर-इसका खण्डन करती हुई मन की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करती हुई) वाक् कहने लगी कि (हे मन !) मैं ही तुझ से श्रेष्ठ हूँ। (मेरी श्रेष्ठता का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि) तू (मन) जो कुछ (अपने संकल्पविकल्पात्मक मनोराज्य में) जानता है— (अनुभव करता है, चिन्तन करता है, ऊहापोह करता है), मैं ही उसे व्यक्त करती हूँ (जानती हूँ, वाङ्मयजगत् का विषय बनाती हूँ, प्रकट करती हूँ। अतएव सिद्ध है कि, मैं ही तुझ मन से श्रेष्ठ हूँ)। (मन और वाक् की इस पारस्परिक अहंमद्रता-श्रेष्ठाभिमानधर्मता-का जब इन दोनों से परस्पर निर्णय न हो सका तो) इस प्रश्न को लेकर (निर्णय के लिए) दोनों प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुए। (प्रजापति ने इन दोनों के ही तर्क सुने, एवं इन तर्कों के आधार पर अपना निर्णय प्रकट करते हुए) प्रजापति ने मन की ओर दृष्टिनिक्षेप करते हुए वाक् से कहा कि, हे वाक् ! मन ही तेरी अपेक्षा श्रेष्ठ है। क्योंकि तू मन की कृतानुकरा (मन के किए हुए का अनुकरण करने वाली) है, अनुवर्त्मा (मन के संकल्पित मार्ग पर चलने वाली) है, (और यह प्राकृतिक नियम है कि, दो व्यक्तियों में) जो निम्न श्रेणी का व्यक्ति होता है, वह अपने से उच्च श्रेणी के व्यक्ति का ही कृतानुकर, एवं अनुवर्त्मा बना रहता है *। (इसलिए मन ही तेरी अपेक्षा श्रेष्ठ है)। (प्रजापति के इस मनोऽनुकूल, एवं स्वप्रतिकूल निर्णय से) वह वाक् प्रजापति से इस प्रकार एक अनात्मीय अहितचिन्तक शत्रु की भाँति अपने सम्बन्ध में विपरीत निर्णय सुनकर सहसा स्तब्ध आश्चर्य्ययुक्त बन गई। वाक् का सम्पूर्ण गर्व (अभिमान) पददलित-विध्वस्त (चूर-चूर) हो गया। (क्योंकि, वाक् को ऐसी आशा थी कि, प्रजापति मन की अपेक्षा इसे ही श्रेष्ठ प्रमाणित करेंगे। हो गया इससे सर्वथा विपरीत। प्रजापति के इस स्व-आशा-विश्वास के विरुद्ध-प्रतिकूल निर्णय से गर्वखर्विता बनती हुई वाक् सहसा आवेशपूर्वक क्रुद्धा बनती हुई) प्रजापति से कहने लगी कि, हे प्रजापते ! आज से (सृष्टि के आरम्भ से ही) मैं तुम्हारे लिए अहव्यवाट् (हव्य वहन न करने वाली) ही बनी रहूँगी (बनी हुई है), जो कि तुमने (इस प्रतिद्वन्द्विता में) मेरा इस प्रकार (मन के समक्ष में) मानमर्दन कर डाला। यही कारण है कि, यज्ञकर्म्म में जो कुछ भी प्राजापत्य (प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाला) कर्म्म किया जाता है, वह उपांशु (चुपचाप ही, बिना मन्त्रवाणी-प्रयोग के ही) किया जाता है। । क्योंकि आरम्भ में प्रजापति के लिए वाक् अहव्यवाट् ही बन चुकी थी।"

(२६२)-रहस्यदिशोपक्रम—

ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध 'सामिधेनी' प्रकरण में उक्त आख्यान का समावेश एक विशेष कर्म्म की उपपत्ति (मौलिक कारण) के स्वरूपविश्लेषण के सम्बन्ध में हुआ है। सामिधेनी-प्रकरणान्तर्गत यद्यपि

---

* यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥ (गीता३।२१।)

भावाओं का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने प्राजापत्यकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली उपांशुभावना के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया है कि, इन्द्र–अग्नि, सोम, वायु, आदि प्राणदेवताओं के लिए जो आहुति-प्रदानादिलक्षण यागादि कर्म्म किए जाते हैं, उनमें सर्वत्र मन्त्रप्रयोग विहित है। मन्त्रप्रयोगात्मक मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही इन्द्रादि देवदेवताओं के लिए आहुतिप्रदानादि यज्ञकर्म्म सम्पन्न होते हैं। किन्तु प्राजापत्य-कर्म्म उपांशु–बिना मन्त्रोच्चारण के–ही होता है। सर्वाधारभूत प्रजापति के लिए मन्त्रवाक् का प्रयोग क्यों नहीं होता ?, इसी मार्मिक प्रश्न का समाधान करने के लिए उक्त प्रासङ्गिक आख्यान उद्धृत हुआ है, जिसके रहस्यार्थ का शतपथभाष्य के तत्प्रकरण में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। प्रकृत में प्रसङ्गसमन्वय के लिए दो शब्दों में आख्यानानुगता रहस्यदिशा का स्पष्टीकरण कर दिया जाता है।

(२६३)–गर्भ–पिण्ड–महिमा–संस्थात्रयी—

'प्रजापतिश्चरति गर्भे०' (यजुः सं० ३१।१९) इत्यादि श्रुति के अनुसार प्रजापतिदेवता प्रत्येक पदार्थ के (वह पदार्थ सेन्द्रिय हो, अथवा निरिन्द्रिय, अर्थात् चेतन हो, किंवा जड़ हो) गर्भ (केन्द्र) में गर्भरूप से (हृ–द–य रूप आगति–गति–स्थिति–त्रयीरूप से) प्रतिष्ठित रहता है, जिससे अनुप्राणित केन्द्रापकर्षणबल का पूर्व परिच्छेद में विश्वस्वरूपमीमांसामूलक ऋक्मन्त्रव्याख्यान में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। मनःप्राणवाङ्मय केन्द्रस्थ उक्थभाव (हृदयस्थ मूलभाव) ही अन्तर्य्यामी नामक प्रजापति है, जो प्रत्येक पदार्थ की केन्द्रशक्ति बनता हुआ पदार्थ का नियमितरूप से सञ्चालन करता रहता है। यह हृद प्रजापति अपने नैसर्गिक त्रिहृद्भाव के कारण त्रिसंस्थ बन कर अपने महिममण्डल में भूमारूप से व्याप्त रहता है। प्रजापति की ये तीनों संस्थाएँ क्रमशः गर्भसंस्था, पिण्डसंस्था, महिमासंस्था, नामों से सुप्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिए, आप किसी भी मूर्त्त वस्तुपिण्ड को अपना लक्ष्य बना लीजिए। उस मूर्त्त वस्तुपिण्ड में आप इन तीनों संस्थाओं का साक्षात्कार कर लेंगे। पुरोऽवस्थित जिस वस्तुपिण्ड का आप चक्षुरिन्द्रिय से साक्षात्कार (प्रत्यक्षात्मक इन्द्रियानुभव) कर रहे हैं, जिसे आप आँखों से देख रहे हैं, वही महिमसंस्था है, जिसका वैज्ञानिकोंने 'वषट्कार' से सम्बन्ध माना है। प्राजापत्य कर्म्ममात्र का यह एक महाद्भुत (आश्चर्य) है कि, दृश्य, तथा स्पृश्य, दोनों का आधार यद्यपि एक ही पदार्थ है। किन्तु दृश्य पदार्थ कुछ और है, एवं स्पृश्य पदार्थ कुछ और ही है। जो तत्त्व हमारा 'दृश्य' बनता है, वह अन्य है एवं जो 'स्पृश्य' बनता है, वह पृथक् है। दूसरे शब्दों में जिसे आप देख सकते हैं, देख रहे हैं, देखते हैं, उसे छू नहीं सकते। एवं जिसका स्पर्श कर रहे हैं, उसे देख नहीं सकते। दृश्य बनता है मण्डल, एवं स्पृश्य बनता है पिण्ड। पिण्ड का आप स्पर्श कर सकते हैं, किन्तु इसे देख नहीं सकते। मण्डल को आप देख सकते हैं, किन्तु स्पर्श इसका नहीं कर सकते। क्योंकि यह अपने प्राणरूप से अधामच्छद रहता है। स्थितिस्पष्टीकरण के लिए यों समन्वय कीजिए कि, बिना प्रकाशसाधन को मध्यस्थ बनाए आप वस्तु का साक्षात्कार नहीं कर सकते, अर्थात् देख नहीं सकते। हाँ, प्रकाश के बिना आप वस्तुपिण्ड का स्पर्शानुभव अवश्य कर सकते हैं। सूर्य्य–चन्द्रमा–अग्नि–विद्युत्–तारक–दीप–आदि किसी न किसी प्रकाश के सहयोग से ही स्पर्शानुभव के द्वारा अनुमेय वस्तुपिण्ड का आप को साक्षात्कार हुआ करता है।

(२६४)–स्पृश्यपिण्ड, और दृश्यमण्डलस्वरूपमीमांसा—

क्या वस्तुपिण्ड के साथ आप की दृग्बिन्दु का सम्बन्ध होता है ?, नहीं। अपितु यथाकथित सूर्य्यादि की प्रकाशरश्मियों के सावित्रभाव का सर्वप्रथम वस्तुपिण्ड (स्पृश्य) के साथ सम्बन्ध होता है। यहां जाकर

प्रकाशरश्मियाँ गायत्रभाव में परिणत हो जाती हैं, जिसका अर्थ है 'रश्मिप्रतिफलन'। सूर्यात्मक वस्तुपिण्ड के साथ साक्षात् रूप से सम्बद्ध प्रकाशरश्मियाँ सावित्रभावान्विता हैं, एवं वस्तुपिण्ड के साथ सम्बद्ध होकर तदाकाराकारित बन कर प्रतिफलनरूप से अपना स्वतन्त्र बहिर्म्मण्डल बना लेने वाली प्रकाशरश्मियाँ गायत्रभावान्विता हैं। यही गायत्रमण्डल वस्तु का बहिर्म्मण्डल कहलाया है, जो हमारी दृष्टि का विषय बनता है। यही वह दृश्यमण्डल है, जिसका सूर्यपिण्ड के आधार पर प्रकाशप्रतिफलन के माध्यम से बहिर्वितान हुआ है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित आकृति 'रश्मिप्रसार' सिद्धान्तानुसार सामीप्य–विदूर–दोनों भावों से यथानुरूप सयुक्त बन जाती है, एवमेव दृश्यमण्डल से सम्बद्ध सूर्यपिण्ड का सामीप्य एवं विदूरभाव भी चक्षुर्म्मण्डल में यथानुरूप संयुक्त बनता रहता है। तात्पर्य्य, वस्तु के आकार की भाँति उसकी दूरी का, सामीप्य का चित्र भी आप के चक्षुर्म्मण्डल में समाविष्ट हो जाता है। यही कारण है कि, दृश्यमण्डलाकाराकारित वस्तु को यद्यपि देख रहे हैं आप चक्षुर्म्मण्डल की सीमा में ही, तथापि प्रतीत आप को ऐसा होता रहता है, मानों दृश्यवस्तु आप से विदूर अमुक स्थान पर प्रतिष्ठित हो। विश्वास कीजिए, जिस नियत स्थान पर वस्तु है, उसे आप कदापि कथमपि नहीं देख सकते। हाँ, आप उसका स्पर्श अवश्य कर सकते हैं। जिसे आप देख रहे हैं, वह तो प्रकाशरश्मियों के सम्पर्क से आप की अपनी चक्षुरिन्द्रियमुक्ता प्रज्ञाप्राणात्मिका ज्ञानीयरश्मियों के समन्वय से समुत्पन्न दृश्यमण्डल ही है, जिसके निर्म्माता स्वयं आप (ज्ञानात्मक प्रत्यय) हैं, अतएव जो आपकी ही अपनी वस्तु है, एवं जिसके आधार पर उपनिषदों में–'स्वयं–निर्म्माय' इत्यादि रूप से 'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। एवं जो औपनिषद सिद्धान्त 'अहं मनुरभवं–अहं सूर्य्य इवाजनि' इत्यादिरूप से मन्त्रसंहिताओं में विस्तार से निरूपित हुआ है, यथा जिसका निष्कर्ष है—"हम जो **कुछ देख–सुन–अनुभव कर रहे हैं, वह सब कुछ हमारे ज्ञान–प्रत्यय से ही विनिर्म्मित है।"**

(२६५)–उद्गीथप्रजापतिस्वरूपपरिचय–

दृश्यमण्डल का आधार बनता है सूर्यपिण्ड। एवं दोनों का मूलाधार–सर्वाधार बनता है **'हृत्पृष्ठ'** जिसके लिए 'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा" (यजुः सं० ३१।१९) यह प्रसिद्ध है। हृत्पृष्ठ ही गर्भसंस्था है सूर्यपिण्ड ही पिण्डसंस्था है, दृश्यमण्डल ही महिमासंस्था है। प्रथमसंस्था 'आत्मा' है, द्वितीयसंस्था 'पदम्' है, तृतीयसंस्था 'पुनःपदम्' है। हृदयरूप आत्मा, सूर्यपिण्डरूप पद, एवं दृश्यमण्डलरूप पुनःपद, इन तीनों गर्भ–पिण्ड महिमा–संस्थाओं की समष्टि ही पदार्थ की कृत्स्नरूपता है। हृदयावच्छिन्न यही आत्मप्रजापति अपने अनिरुक्त अनिर्वचनीय–उपांशुरूप से 'अनिरुक्तप्रजापति' कहलाया है, जिसे अनिरुक्तभावप्रधाना 'क' कार व्याहृति से व्यवहृत किया गया है। 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' (केनोपनिषत्) 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' (यजुःसंहिता) इत्यादि*श्रुतियों में पठित 'केन' 'कस्मै' पदों का अर्थ है 'अनिरुक्तप्रजापतिना, अनिरुक्तप्रजापतये'। सूर्यपिण्डावच्छिन्न यही प्रजापति अपने स्वाभाविक 'उत्–(ऊर्ध्व)–गी (गानरूप–

---

* प्रतीच्य अन्वेषणपद्धति के गतानुगतिक भारतीय 'वैदिक रिसर्चस्कॉलर' महानुभावों से सुना गया है कि, जब देवपूजन बंद हो गया, देवताओं के मोचनानन्तर जब ईश्वर का ज्ञान हो गया, तो देवताओं की उपेक्षा कर दी गई। केवल ईश्वर ही उपास्य बन गया। यही उपेक्षाभाव 'कस्मै देवाय' इत्यादि से प्रतिध्वनित है। धन्य हैं ये स्कॉलर महाभाग!, और धन्य है इनका यह मौलिक अन्वेषण!

प्राप) थम् (ऊर्ध्वगमनद्वारा श्रमप्रविश्रामाप्ति) धर्म के कारण 'उद्गीथप्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। पिण्ड से संलग्न महिमामण्डल के त्रयस्त्रिंशत्तनुरूप अहर्गणों (३३वाङ्मय अहर्गणों) का विभाजक क्योंकि यही उद्गीथप्रजापति बनता है, अतएव इसके महिमण्डलस्थ केन्द्रात्मक सप्तदश अहर्गणात्मक स्वरूप को 'सप्तदशप्रजापति' नाम से व्यवहृत किया गया है। यह पिण्ड और महिमा, दोनों का संचालक बनता है। अतएव इसे पिण्डानुगत (सूर्यपिण्डानुगत) भी मान लिया गया है, एवं मण्डलानुगत (हरयमण्डलानुगत) भी मान लिया है। यही इसका उद्–गी–थ–रूप 'उद्गीथत्व' है, जिसके आधार पर सहस्रकर्मा साम्यतत्त्व प्रतिष्ठित है।

(२६६)—सर्वप्रजापतिस्वरूपपरिचय—

महिमामण्डल के इस ओर के (सूर्यपिण्ड की ओर के) षोडश (१६) आग्नेय वाङ्मय अहर्गण इस सप्तदश अहर्गणात्मक उद्गीथप्रजापति की सत्ता से आक्रान्त रहते हैं, जिनका यह सप्तदशप्रजापति साक्षी बना रहता है। उस ओर के सौम्य वाङ्मय षोडश अहर्गणों में व्याप्त सोम की आहुति इस ओर के आग्नेय वाङ्मय षोडश अहर्गणों में व्याप्त अग्नि में उभयमध्यस्थ इसी सप्तदशप्रजापति की साक्षी में होती है, जिस आहुति से महिमामण्डलानुगत सुप्रसिद्ध 'ज्योतिष्टोमयज्ञ' का स्वरूप सम्पन्न होता है। इस सम्बन्ध से ही इसे 'यज्ञप्रजापति' भी कहा गया है, जिस इस यज्ञप्रजापति के अहर्गणात्मक सप्तदश (१७) पर्वों की इस प्राकृतिकसम्पत् का अपने वैधयज्ञ में समावेश करने के लिए याज्ञिक महर्षि स्वयज्ञकर्म में 'संख्याविद्या' के आधार पर सत्रह अक्षरों का प्रयोग किया करते हैं *।

सम्पूर्ण महिमामण्डल को स्व सीमा में अन्तर्मुक्त रखने वाला हरयमण्डलाभ्यांश यही प्रजापति 'सर्वप्रजापति' कहलाया है। हरयमण्डलात्मक महिमामण्डल के क्योंकि वाङ्मय ३३ अहर्गण हैं, यह प्रजापति क्योंकि इन सब का अध्यक्ष है, अतएव इसे चतुस्त्रिंश (३४ वाँ) मान लिया गया है, जैसाकि

---

* चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च, द्वाभ्यां, पञ्चभिरेव च।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां, तस्मै यज्ञात्मने नमः॥
[सप्तदशप्रजापतये नमः]

* "ओ–श्रा–व–य" (ओश्रावय) इति। "अ स्तु, श्री, षट्" [अस्तुश्रौषट्] इति। 'य–ज' [यज]–इति। 'ये–य–जा–म–हे' [ये यजामहे] इति। 'वौ–षट्' [वौषट्]। इति, सप्तदशप्रजापतिः सम्पद्यते अक्षरसंख्यासम्पत्–माध्यमेन। तथा चाहुर्हपयः-"ओश्रावयेति वै देवा विराजमस्याजुहुवु। अस्तुश्रौषडिति वत्समुपावासृजन्। यजेत्युदजयन्। ये यजामहेति–उपासीदन्। वषट्कारेणैव विराजमदुहत। इय वै विराट्। अस्यैवाऽएष दोहः। एवं ह वाऽस्माऽइयं विराट् सर्वान् कामान् दुहे, य एवमेत विराजो दोह वेद"।

—शत० १।५।२।२०।

'चतुस्त्रिंश प्रजापति' (तास्थमहा॰ २२।७।५) इत्यादि ब्राह्मणनिगम से प्रमाणित है। इस प्रकार केन्द्र केन्द्रानुगत वस्तुपिण्ड, तदनुगत हृदयमण्डलार्द्ध पिण्ड, एवं केन्द्र–पिण्ड–मण्डल–रूप से एक ही हृदयप्रजापति के अनिरुक्त–उद्गीथ–सर्व–रूप से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। हृदयप्रजापति अनिरुक्त है, 'क' कार से सम्बोधित है। पृष्ठप्रजापति निरुक्तानिरुक्त है। एवं महिमप्रजापति निरुक्त है, 'स' कार से सम्बोधित है।

उपांशु–सप्तदश–चतुस्त्रिंश–प्रजापतिस्वरूपपरिलेखः—

१ अनिरुक्त	हृदयः	मूलप्रजापतिः	उपांशुप्रजापतिः	प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च
२ निरुक्तानिरुक्त	उद्गीथ	यज्ञप्रजापतिः	सप्तदशप्रजापति	
३ निरुक्त	सर्वः	महिमप्रजापतिः	चतुस्त्रिंशप्रजापति	

(२६७)—पशुपति–पाश–पशु–स्वरूपपरिचय—

उपनिरूपित त्रिविध प्राजापत्य संस्थाएँ ही क्रमशः गर्भ–पिण्ड–महिमा नाम की संस्थाएँ हैं। इन तीनों संस्थाओं में यद्यपि त्रिवृद्भाव के कारण आत्मरूप प्रजापति की तीनों–मनःप्राणवाक्–कलाओं का उपभोग हो रहा है। तथापि गौणमुख्यभाव के कारण अनिरुक्त हृदयप्रजापति प्राणवाग्गर्भित मनःप्रधान बनता हुआ 'मनोमय' कहलाया है। उद्गीथप्रजापति मनोवाग्गर्भित प्राणप्रधान बनता हुआ 'प्राणमय' कहलाया है एवं सर्वप्रजापति मनःप्राणगर्भित वाक्प्रधान बनता हुआ 'वाङ्मय' कहलाया है। वाङ्मयरूप से वही प्रजापति 'विश्व' है, प्राणमयरूप से वही विश्वकर्त्ता है, मनोमयरूप से वही विश्वाधार है। वाङ्मय विश्व (मूर्त्तमात्रात्मक भौतिक विश्व) ही 'अशीति' (भोग्य अन्न) लक्षण 'पशु' है, जिसका 'यत्पश्यत् तस्मात् पशु' (शत॰ ६।२।१।२) निर्वचन के अनुसार पञ्चविध प्रत्यक्षानुभव से सम्बन्ध है। अतएव पशुभाव प्रधान मानव इस प्रत्यक्षानुभव को ही प्रधान प्रमाण घोषित किया करता है। प्राणमयरूप से विश्व कर्त्ता बना हुआ प्रजापति विश्वकर्मा है। यही प्राणमय अर्कलक्षण 'पाश' है, जिस प्राणबन्धनात्मक पाश से वाग्रूप विश्वपशु आबद्ध है। मनोमयरूप से विश्वाधार बना हुआ प्रजापति सर्वाधिष्ठाता सर्वालम्बन है। यही मनोमय उक्थलक्षण 'पशुपति' है। 'पशुपति–पाश–पशु' भेद से त्रिधा विभक्त उक्थ-अर्क-अशीति रूप से यज्ञपरिभाषा में उपवर्णित–मनः–प्राण–वाग्रूप से आत्मपरिभाषा में प्रतिष्ठित त्रिसंस्थ–त्रिवृद्भावापन्न प्रजापति का यही संक्षिप्त स्वरूपपरिचय है, जिसे आधार-लक्षण बना कर ही हमें पूर्वोद्धृत श्रौत आख्यान के रहस्यार्थ का समन्वय करना है।

गर्भाव्यक्त-सूक्ष्मपिण्डाव्यक्त-दृश्यमण्डलाव्यक्त-विवर्तत्रयीस्वरूपपरिलेखः—

१-मनः (१) २-प्राण (१) ३-वाक् (१)	प्राणवाग्गर्भितं मन (१)-मनःप्रजापति (अनिरुक्तः-हृदयावच्छिन्नः)	गर्भाव्यक्त —पशुपतिः (आत्मभाव)
१-प्राण (२) २-मन (२) ३-वाक् (२)	मनोवाग्गर्भित प्राणः (२) प्राणप्रजापति (निरुक्तानिरुक्तः पिण्डानुगतः)	सूक्ष्मपिण्डाव्यक्त —पाश (सत्त्वभावः)
१-वाक् (३) २-प्राणः (३) ३-मन (३)	मनःप्राणगर्भिता वाक् (३) वाक्प्रजापति (निरुक्तः-महिमानुगतः)	दृश्यमण्डलाव्यक्त —पशु (शरीरभाव)

(२६८)-आत्म-सत्त्व-शरीर-संस्थात्रयी—

उक्त तीनों प्राजापत्य-संस्थाओं को हम क्रमशः आत्मसंस्था, सत्त्वसंस्था, शरीरसंस्था, इन नामों से व्यवहृत करेंगे, जिनका पूर्व परिच्छेदों में यत्रतत्र विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। दर्शनपरिभाषानुसार आत्मा 'आत्मा' कहलाया है, यही 'कारणशरीर' नाम से उपवर्णित हुआ है। सत्त्व 'मन' कहलाया है, यही 'सूक्ष्मशरीर' नाम से व्यवहृत हुआ है। एवं शरीर 'स्थूलशरीर' कहलाया है। पूर्वपरिच्छेदों में मनस्तन्त्र की तात्त्विक स्वरूपमीमांसा करते हुए इसके श्वोवसीयस्-सत्त्व-सर्वेन्द्रिय-इन्द्रियमेद-से चार विवर्त प्रतिपादित हुए हैं, जिनमें से यदि 'सत्त्व' रूप महन्मन का श्वोवसीयस् नामक अव्ययात्ममन में अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो तीन ही मनस्तन्त्र शेष रह जाते हैं। मनःप्राणवाग्भागों के विवर्तभाव के कारण पूर्व प्रतिपादित तीनों ही प्राजापत्यसंस्थाओं में मनस्तन्त्र समन्वित है। गर्भाव्यक्त प्राजापत्य मन श्वोवसीयस् नामक मुख्य मन है, जो वक्ष्यमाणादि पञ्चपर्वा पदार्थों में अव्यक्तरूप से गर्भीभूत है। एवं जिसका व्यक्तरूप एकमात्र परिपूर्ण मानव में ही प्रतिष्ठित माना गया है। दूसरा सूक्ष्मपिण्डाव्यक्त मन 'सर्वेन्द्रिय' नामक वह मन है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियों का सञ्चालन होता है। तीसरा दृश्यमण्डलाव्यक्त मन 'इन्द्रियमन' है, जो वाक्सोमा में अन्तर्मुक्त रहता हुआ वाग्रूप ही है। पूर्व के आख्यान में जिन वाक् तथा मन की 'अहम्भद्र' रूपा अहमहमिका (प्रतिस्पर्द्धा) बतलाई गई है, वह वाक् तो स्थूलशरीरानुगता मनःप्राणगर्भिता 'वाक्' है। एवं मन दूसरी प्राजापत्यसंस्थारूपा सूक्ष्मशरीरानुगता संस्था से सम्बद्ध सर्वेन्द्रिय नामक इन्द्रियाध्यक्ष मन है। जिस प्रजापति के सम्मुख ये दोनों निर्णय कराने जाते हैं, वह आत्मा

शरीरानुगता तीसरी प्राजापत्यसंस्था है, जिसे प्राणवाग्गर्भित मनोमय अनिरुक्त हृदयप्रजापतिसंस्था कहा गया है। निष्कर्ष कहने का यही है कि, दूसरी संस्था के सर्वेन्द्रिय नामक सूक्ष्मशरीरनिबन्धन मन, एवं तीसरी संस्था की स्थूलशरीरनिबन्धना वाक्, इन दोनों में तो प्रतिस्पर्द्धा होती है। एवं प्रथमसंस्थाध्यक्ष आत्मप्रजापतिरूप अनिरुक्तप्रजापति इस स्पर्द्धा के निर्णायक बनते हैं। यह है आख्यान के 'प्रजापति-मन वाक्' नामक तीन मुख्य पात्रों का स्वरूपविश्लेषण। अब आख्यान के समन्वय को लक्ष्य बनाइए।

निर्णायक-स्पर्द्धालु-स्पर्द्धाशील-विवर्त्तपरिलेखः—

१-प्रथमसंस्थाध्यक्षः	अनिरुक्तप्रजापतिः	(आत्मा)	कारणशरीरलक्षणः	निर्णायकः
२-द्वितीयसंस्थाध्यक्षः	सर्वेन्द्रियमनः	(सत्त्वम्)	सूक्ष्मशरीरलक्षणम्	स्पर्द्धालु
३-तृतीयसंस्थाध्यक्षा	वाक्	(शरीरम्)	स्थूलशरीरलक्षणा	स्पर्द्धाशीला

---

(२६६)-वाक् की अपेक्षा मन की श्रेष्ठता—

सर्वेन्द्रिय-अनिन्द्रिय-अतीन्द्रिय-आदि विविध नामों से उपलक्षित चान्द्र प्रज्ञान मन की कामना से ही वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-रसना-इन्द्रियमन-आदि इन्द्रियप्राणों का सञ्चालन-नियमन होता रहता है। सम्पूर्ण इन्द्रियों का अधिपति यही प्रज्ञानमन माना गया है। देखना-सुनना-सूँघना-स्वाद लेना-स्पर्शानुभव करना-सङ्कल्पविकल्प करना-आदि आदि यच्चयावत् ऐन्द्रिक प्राणव्यापार *मनःसंयोग पर ही निर्भर है* *। बिना मनःसहयोग के कोई भी इन्द्रिय अपना कर्म नहीं कर सकती +। इन सब कारणों से मन यह कह सकता है कि, "मैं न केवल तुम वागिन्द्रिय से ही श्रेष्ठ हूँ, अपितु सम्पूर्ण इन्द्रियों से श्रेष्ठ हूँ"। मानस कामना को मूल बनाए बिना इन्द्रियव्यापार असम्भव है, इसी भाव का प्रतिस्पर्द्धारूप से अभिनय हुआ है। जैसा मन से मनन होता है, वाक् को वैसा ही बोलना पड़ता है +। सिद्ध है कि, वाणी स्वच्छन्दरूप से गतिशील

---

* मनो वै प्राणानामधिपतिः। मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः।

—शत० ब्रा० १४।४।३।८।६।

— अन्यत्रमना अभूवं, नाहमदर्शम्। अन्यत्रमना अभूवं, नाहमश्रौषम्। इति मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति।

शत० १४।४।३।८।

+ यन्मनसा संकल्पयति, तद्वातमपिपद्यते।

—शत० ३।४।२।६

न ह्ययुक्तेन मनसा किंचन सम्प्रति शक्नोति कर्तुम्।

—शत० ६।३।१।१४।

मनने में असमर्थ है। अपितु मन जैसी कामना करता है, वाक् को उसी का अनुगमन करना पड़ता है। तदनुसार अनुवर्त्तमभावानुगता ऐसी वाक् अवश्य ही मन की अपेक्षा अवरकक्षा में ही प्रतिष्ठित मानी जायगी, जिस स्थिति का–'न वै मया त्वं विज्ञन–मनभिगतं वदसि, (अतः) अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि' इत्यादि रूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है।

(२७०)–मन की अपेक्षा वाक् का श्रेष्ठत्त्व—

मन ने अपनी कामना के आधार पर वाक् की अपेक्षा इस प्रकार जब अपना श्रेष्ठभाव (श्रेष्ठत्व) अभिव्यक्त कर दिया, तो वाक् को मन का यह श्रेष्ठत्व सह्य न हो सका। यह ठीक है कि, कामनामय मानस संकल्प के बिना वाणी स्वव्यापार–अनुष्ठान में सर्वथा असमर्थ बनी रहती है। तथापि कामनामय मानस संकल्पों को व्यक्तरूप प्रदान करने की क्षमता, दूसरे शब्दों में सर्वथा परोक्ष बने हुए मानस संकल्पों को प्रत्यक्षरूप प्रदान करने की क्षमता तो एकमात्र 'वागिन्द्रिय' पर ही अवलम्बित है। यदि वाणी कुछ बोले नहीं, कहे नहीं, तो उस प्राणी के मनोभाव अव्यक्तत्वावस्था से ज्यों के त्यों धरे रहें। 'वाचा हीदं सर्वमनुते' के अनुसार मन के मनन–धर्म की मान्यता एकमात्र वाग्व्यापार पर ही अवलम्बित है। मानस भावों को वाक् के द्वारा ही क्योंकि व्यक्तरूपता प्राप्त होती है, अतएव इस दृष्टिकोण से अवश्य ही वाक् को मन के समतुलन में श्रेष्ठ कहा जा सकता है, जिस श्रेष्ठता का 'यद्वै त्वं वेत्थ, अहं तद्विज्ञपयामि, अहं संज्ञपयामि' इत्यादिरूप से उपवर्णन हुआ है।

(२७१)–मन और वाक् का परोक्षत्त्व–प्रत्यक्षत्त्व—

मन, और वाक्, दोनों में मन 'परोक्ष' भाव है, वाक् प्रत्यक्ष तत्त्व है। मनोवाक् की प्रतिस्पर्द्धा वस्तुतः परोक्ष-प्रत्यक्ष भावों की स्पर्द्धा है। दोनों में किसे श्रेष्ठ माना जाय, जब कि दृष्टिकोणभेद से दोनों ही श्रेष्ठ प्रतीत हो रहे हैं !, दोनों ही पक्षों के समर्थक वचन हमें उपलब्ध हो रहे हैं। अतएव 'दोनों में कौन श्रेष्ठ' ? प्रश्न के विभिन्न दोनों ही प्रकार के समाधान उपलब्ध हो रहे हैं। आभ्यन्तर-सुसूक्ष्म, अतएव परोक्ष तत्त्वों की मीमांसा करने वाले सूक्ष्मदर्शी आत्मतत्त्ववेत्ता विद्वान् का उत्तर होगा 'मन' की श्रेष्ठता के पक्ष में। एवं बाह्य-स्थूल, अतएव प्रत्यक्ष भावों की मीमांसा करने वाले स्थूलप्रज्ञ लोकायतिक का उत्तर होगा 'वाक्' की श्रेष्ठता के पक्ष में। दोनों में से स्थूलारुन्धती-न्याय से दो शब्दों में पहिले प्रत्यक्षलक्षणा वाक् के श्रेष्ठत्व की ही–मीमांसा कर लीजिए।

(२७२)–वाग्व्यवहार का महामहिमत्त्वस्थापन—

जड़भूतवादी–क्षणिकविज्ञानवादी–स्थूलभगभिज्ञ–व्यवहारनिष्ठ–स्थूलप्रज्ञ–प्रत्यक्षपरायण लौकिक मानव कहेगा—'वाक् ही श्रेष्ठ तत्त्व इसलिए है कि लोकक्षेत्र में वाक् को माध्यम बनाए बिना किसी भी लोकक्षेम में सफलता नहीं प्राप्त हो सकती'। लोकभाषानुसार–बिना बोले कोई काम नहीं हो सकता, नहीं बन सकता। इस प्रकार की लोकोक्ति लोक में प्रसिद्ध है कि,–" बोलने वाले के तो छिलके भी बाजार में बिक जाते हैं। एवं न बोलने वाले के चने भी धरे रहते हैं"। निगमशास्त्र ने भी लौकिक मानवानुबन्धिनी इस वाक्प्रधाना–प्रत्यक्षमूला–लोकमान्यता का निम्नलिखित शब्दों में अभिनय किया है। श्रुति कहती है—

वागेव ऋग्श्च, सामानि च । मन एव यजूंषि । सा यत्रेय वागासीत्—सर्वमेव तत्राक्रियत, सर्व प्राज्ञायत । अथ यत्र मन आसीत्—नैव तत्र किंचनाक्रियत, न प्राज्ञायत । नो हि मनसा ध्यायतः कश्चन आजानाति ।

—शत० ब्रा० ४।६।७।५ त्रयोविद्यापरिशिष्टब्राह्मण

"वाक् ही ऋक् और साम है, मन ही यजु है *। (ऋक्‌साम ही वहिर्मण्डल के स्वरूप निर्माता हैं, अतएव वाङ्मण्डलात्मक वहिर्मण्डल को अवश्य ही ऋक्-साम-प्रधान माना जा सकता है । एवं केन्द्र-वर्त्ति गत्यागतिभावात्मक मन ही सूत्रभाव का स्वरूपसमर्पक बनता है, अतएव मनोमय आभ्यन्तर वस्तुपिण्ड को अवश्य ही यजुःप्रधान कहा जा सकता है, यही तात्पर्य्य है)। जहाँ जिस मानव के समीप 'वाक्' (वाणी रूप साधन विद्यमान था) थी,वहाँ उस (वाक्सम्पत्तियुक्त मानव ने, बोलने में चतुर-कुशल मानव) ने सब कुछ कर लिया, सब कुछ जान लिया (अर्थात् बोलने वाला लोक में कर्म्मठ भी बन गया, विज्ञ भी घोषित हो गया । ठीक इसके विपरीत) । जहाँ जिस मानव के समीप केवल मन था (जो मानव केवल मानसिक चिन्तन अनुशीलन में प्रवृत्त था), वहाँ उस (वाणीविलासवञ्चित मानव) ने न कुछ किया ही, न कुछ जाना ही (अर्थात् लोक में ऐसा केवल मननशील मानव न तो कर्म्मठ कहलाया, एवं न विज्ञ माना गया) । क्योंकि केवल(मन ही) मन से अनुध्यान-संकल्प-विकल्प करने वाले मानव के आभ्यन्तर सुसूक्ष्म मनोभावों को कोई नहीं जान पाता । परिणामस्वरूप केवल मनोराज्य में विचरण करने वाले मानव के संकल्प कभी बाह्यरूपात्मक मूर्त्तरूप में परिणत नहीं होते, जब तक कि यह बाह्यजगन्मूला वाक् का मन के साथ समन्वय नहीं करा देता"।

उक्त अक्षरार्थसमन्विता श्रुति का वाक्प्रधान + मूर्त्त भौतिक व्यक्तजगत् की दृष्टि से अक्षरशः समन्वय हो रहा है । 'स भूरिति व्याहरत्, पृथिव्यभवत्' प्रजापति ने अपने मुख से 'भू' इस एका-क्षरात्मक शब्द का उच्चारण किया, एवं उससे पृथिवी का स्वरूपनिर्म्माण हो गया, इत्यादि श्रुति भी यही प्रमाणित कर रही है कि, अव्यक्त-अमूर्त-अनिरुक्त-आध्यात्मिक-परोक्ष-मनोभावों को व्यक्त मूर्त्त निरुक्त आधिभौतिक प्रत्यक्ष स्वरूप प्रदान करने के लिए अवश्य ही उस 'व्यक्त' तत्त्व का आश्रय लेना अनिवार्य्य बन जाता है, जो व्यक्त वाक्तत्त्व मनोमय आत्मप्रजापति (हृदयस्थ अनिरुक्त प्रजापति)

---

* हृदयस्थावच्छिन्न वस्तुपिण्ड ही हृदयावच्छिन्न मन का आयतनक्षेत्र है। इस हृन्मूर्त्ति, किंवा हृत्प्रतिष्ठ मनोरूप यजुः के आधार पर ही यत्रूप गतिभाव, जूरूप स्थितिभाव, इन दोनों विसर्गादानलक्षण भावों के माध्यम से वस्तुपिण्डस्वरूपप्रतिष्ठा सुरक्षित रहती है। विज्ञानदृष्ट्या वस्तुपिण्डात्मक यजुम् निर्म्मन कभी प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता । प्रत्यक्ष का विषय बनता है हृदयाधार पर प्रतिष्ठित ऋक्साममय वाग्रूप वहिर्म्मण्डल, जिसे 'वाक्साहस्री' 'वाग्वषट्कारस्म' 'वषट्कार' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है। वस्तुपिण्ड केवल स्पृश्य है, दृश्य (प्रत्यक्ष) नहीं, जो मनोमय यजुर्वेदात्मक है। महिमामण्डल दृश्य है, जो ऋक्सामलक्षण वाङ्मय है । इसी आधार पर 'वागेव ऋग्श्च सामानि च । मनो यजूंषि' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है ।

+ वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता ।

के भूतप्रपञ्च के निष्कराधिष्ठाता परभाग से युक्त रहता हुआ भूतभौतिक सर्ग का मूलप्रभव-मूलोपादान मूलाधिष्ठाता बना रहता है। परप्रवृत्ता सर्वनाशकारिणी भावुकता के आवेश से भूताविष्ट आविष्ट वर्त्तमान शताब्दी की भारतीय भावुक प्रजा ने श्रुतिसिद्ध वाक्महत्त्व को विस्मृत कर सर्वथा कल्पित वेदान्तभावानुगत मनोराज्य में विचरण करते हुए किस प्रकार व्यक्त-भौतिक-सम्पत्ति को, अपने लोक-साम्राज्य-राज्य-सुराज्य-स्वराज्य-वैराज्य-वैभव को बलाञ्जलि समर्पित करने में ही अपना पुरुषार्थ समाप्त मान लिया है !, यह स्थिति नैष्ठिक भारतीय मानवों की दृष्टि से परोक्ष नहीं रह गई है। यह सर्वात्मना अनुभव किया जा रहा है कि, मनोमय आध्यात्मिक तत्त्व के वास्तविक परोक्ष स्वरूप से सर्वथा अपरिचित रहने वाली अन्य जातियों नें सर्वात्मना अशास्त्र अस्तव्यस्त, किन्तु उच्च-उच्चतर-उच्चतम-घोषणायुक्ता वाणी के माध्यम से कैसा उत्कर्ष प्राप्त कर लिया है, जो कुछ समय पूर्व नग्न-बुभुक्षितावस्था से इतस्ततः दन्द्रम्यमाण बनीं हुईं थीं। उच्च घोष करने वाला अज्ञ भी किस प्रकार अपनी मूर्खतापूर्णा वाणी के प्रभाव से कार्य्य संसिद्ध कर लेता है ! और सब कुछ जानता हुआ भी विद्वान् अपने अव्यवहार्य्य-असामयिक-मौनावलम्ब से किस प्रकार निस्सीमस्नेह निष्ठ विवेकता + का सम्मान्य अतिथि बना रहता है !, इत्यादि व्यञ्जनाओं की व्याख्या वर्त्तमान युग में इसलिए अनावश्यक है कि, कुछ एक शताब्दियों से नैष्ठिक जातियों के सतत आक्रमण से आक्रान्त भावुक भारतीय मानव परप्रत्ययनेयतामूलक दोष का अनुगामी बनता हुआ कल्पित वेदान्तनिष्ठा को लक्ष्य बनाता हुआ अपने वैय्यक्तिक-कौटुम्बिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-धार्मिक-आदि-आदि यच्चयावत् क्षेत्रों में तथा-कथिता निष्ठ'स्थितिस्थिति का ही सत्पात्र प्रमाणित हो रहा है। स्पष्ट है कि लौकिक व्यावहारिक व्यक्त क्षेत्र में मनोऽनुगत आत्मसत्य की अपेक्षा वागनुगत भूतबल अधिक ओजस्वी बना रहता है। अतएव ऐहिकतथा दोनों के समतुलन में वाग्बल को ही प्रधानता दी गई है, जैसा कि 'बलं वाव विज्ञानाद्भूय' इत्यादि अन्य निगमवचनों से भी प्रमाणित है।

लौकिक-व्यावहारिक क्षेत्र के परिवार-जाति-समाज-राष्ट्र-आदि अनेक विवर्त्त प्रसिद्ध हैं, जिनका महान् 'राजनैतिकक्षेत्र' में अन्तर्भाव हो जाता है। परिवारादि सभी क्षेत्र इतरेतरसम्बन्धात्मक परम्परसम्बन्ध से राजनैतिक क्षेत्र बने हुए हैं, जिन में 'वाग्बल' की ही प्रधानता मान्य मानी गई है। मनोमय आत्मा से समन्वित 'सत्य' के आग्रह, किंवा दुराग्रह की, तथा भूतानुगत वाङ्मय बल' के उद्घोष की, दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में भूतानुगत वागुद्घोष ही जयलाभ किया करता है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण वर्त्तमान भारतराष्ट्र में प्रत्यक्षतः सुप्रसिद्ध दो राजनैतिक-वर्गों की प्रतिद्वन्द्विता का ही ! परिणाम बन चुका है। सम्भवतः क्यों, निश्चयेनैव इसी लोकदृष्टि को लक्ष्य बना कर श्रुति ने मन और वाक्, दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में-"वाग् ह वागुवाच-अहमेव त्वच्छ्रेयसी-अस्मि। यद्वै त्वं (मन) वेत्थ, अहं-तद्विज्ञपयामि, संज्ञपयामि" इत्यादिरूप से वाक् का ही 'श्रेष्ठ' (मन की अपेक्षा श्रेष्ठ-उच्च) पद पर समासीन घोषित किया है।

(२७३)-मानससंकल्प का महामहिमत्वख्यापन —

अब क्रमप्राप्त मन के उस श्रेष्ठत्व का समन्वय कीजिए, जिसका आध्यात्मिक परोक्षभाव से सम्बन्ध है, एवं जिस पक्ष का स्वयं प्रजापति ने समर्थन किया है। यह ठीक है कि लौकिक-व्यावहारिक दृष्टिकोण से

+ दरिद्रता ।

मन की अपेक्षा वाक् ही श्रेष्ठ है। तथापि वस्तुतः तत्त्वदृष्ट्या मन का ही आभिजात्य स्वीकार करना पड़ता है। कारण स्पष्ट है। मानसबल अव्यक्त बनता हुआ जहाँ अपरिमित है, वहाँ वाग्बल व्यक्त बनता हुआ सीमित–परिमित है*। प्रत्यक्ष से अनुप्राणित परिमित भूतबल की अपेक्षा परोक्ष से अनुप्राणित अपरिमित मनोबल अवश्य ही श्रेष्ठ माना जायगा। कृत्यानुकरत्त्व तो प्रत्येकदशा में वाक् का ही माना जायगा, भले ही वह वाक् का अपना बाह्य लोकक्षेत्र ही क्यों न हो। बिना मानस संकल्प–प्रेरणा के वाग्व्यापार असम्भव है। इसी आधार पर 'वाग्वै मनसो ह्रसीयसी' (वाक् निश्चयेन मन की अपेक्षा निम्नभावानुगता है) यह कहा गया है। 'वृषा हि मनः' (शत० १।४।४।३।) के अनुसार मन जहाँ वृषा (पुरुष) स्थानीय बनता हुआ भोक्ता, अतएव श्रेष्ठ है, वहाँ 'योषा हि वाक्' (शत० १।१।४।४)। के अनुसार योषा (स्त्री) स्थानीया बनती हुई वाक् भोग्या, अतएव निम्ना है। 'वागिति स्त्री' (जै० उप० ४।२२।११) 'वागत्रि–आत्रेयी–योषित्–स्त्री (शत० १।४।५।१३) इत्यादिरूप से भी स्त्री–स्थानीया वाक् का पुरुषस्थानीय मनोऽपेक्षया अवरत्व ही प्रमाणित हो रहा है। स्पष्ट है कि, जिन में मनोबल अमुकामुक कारणों से अभिभूत रहता है, ऐसे मनोबलशून्य मानव ही उच्चैःस्वरेण उद्घोष का अनुगमन किया करते हैं। मनोबल–समन्वित मनस्वी का नादमवसमन्वित एकबार का मन्दघोष भी जहाँ श्रोता को आकर्षित कर लेता है, वहाँ मनोबलशून्य असबल-वाक्प्रभोक्ता मानव का अनेक बार का उद्घोष भी निरर्थक सिद्ध होता देखा गया है।

आध्यात्मिकी प्राकृतिकस्थिति की दृष्टि से भी वागपेक्षया मन का ही श्रेष्ठत्व प्रमाणित हो रहा है। शरीराकाश के गर्भ में अवस्थित हृदयाकाश में 'दभ्र' नामक 'दहराकाश' की सत्ता मानी गई है, जो स्थान 'विरजब्रह्मलोक' माना गया है। यहीं ज्योतिर्ज्योतिर्विन श्वोवसीयस् मनोमूर्त्ति प्राजापत्य अव्ययमन, किंवा मनोमय अव्ययात्मा (षोडशीपुरुष) प्रतिष्ठित है। इस षोडशीपुरुषलक्षण मनोमय अव्ययात्मारूप 'पुरुष' के आधार पर स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, सौर विज्ञानात्मा, चान्द्र प्रज्ञानात्मा, पार्थिव भूतात्मा, नामक पाँच प्राकृतात्मा समन्वित हैं, जिन्हें 'लयडात्मा' नाम से यत्रतत्र व्यवहृत किया गया है। इन पाँचों लयडात्माओं में से स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, इन दो लयडात्माओं का तो सर्वा-विधान–सर्वाधाररूप पुरुषात्मा (मायावाग्गर्भित श्वोवसीयस्मनोमूर्त्ति अव्ययप्रधान षोडशीप्रजापति) में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। तीसरा लयडात्मा सौर विज्ञानात्मा है, जो 'बुद्धि' नाम से प्रसिद्ध है। इस बुद्धिरूप सौर विज्ञानात्मा के, तथा अव्ययप्रधान पुरुषात्मा के मध्य में प्रतिष्ठित अव्यक्तात्मा–महानात्मा, दोनों लयडात्मा क्योंकि पुरुषात्मस्वरूपसीमा में अन्तर्भूत हैं। अतएव 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (गीता

---

* मनश्च ह वै वाक् च युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतः। यतरो वै युजोर्ह्रसीयान् भवति, उपवह वै तस्मै कुर्वन्ति। वाग्वै मनसो ह्रसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः, परिमिततरेव हि वाक्। तद्वाच एवैतदुपवहं करोति।

—आषाढब्राह्मण शत० १।४।४।७

१।४२) के अनुसार गीताचार्य्य ने बुद्धिरूप विज्ञानात्मा से परे पुरुषात्मा की ही सत्ता मान ली है*, जब कि उपनिषत् ने बुद्धि से परे, एवं पुरुष से इत: प्रतिष्ठित रहने वाले अव्यक्त, और महान् की भी स्वतन्त्ररूप से गणना की है+ ।

(२७४)—तस्यैव मात्रामुपादाय उपजीवन्ति–इन्द्रियाणि—

उक्त पाँचों सप्तात्माओं में चान्द्र प्रज्ञानात्मा ही सर्वेन्द्रिय–अतीन्द्रिय–अनिन्द्रिय–इत्यादि विविध अभिधाओं से प्रसिद्ध वह चान्द्र मन है, जिस का यजुःसंहिता के सुप्रसिद्ध 'मन:सूक्त' में उपवर्णन हुआ है, एवं जो प्रज्ञानमन श्वोवसीयस्नामक अव्यय मन की भाँति हृत्प्रदेश में ही प्रतिष्ठित माना गया है। हृत्प्रतिष्ठ–'प्रज्ञान' नामक इस इन्द्रियाधिष्ठाता × चान्द्रमन के साथ ही ब्राह्मणश्रुति ने वाक् की प्रतिस्पर्धा बतलाई है। पार्थिव अग्नित्रयी (अग्नि–वायु–आदित्यलक्षणा अग्नित्रयी) से कृतरूप वैश्वानर–तैजसप्राज्ञ मूर्ति पार्थिव 'भूतात्मा' नामक पाँचवाँ–अन्तिम सप्तात्मा ही देहाभिमानी 'देही' वह जीवात्मा है +, जो

---

* इन्द्रियाणि पराण्याहु –इन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः–यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥
—गीता० ३।४२।४३।

+ इन्द्रियाणि पराण्याहुः–इन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः–बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्त–अव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्–सा काष्ठा सा परा गतिः ॥
—कठोपनिषत् २।३।७,८,।

× यत् 'प्रज्ञान' मुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु ॥
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥१॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ॥
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२॥
—यजुर्संहिता ३४।३,६, मन्त्र ।

+ 'जीव' संज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥
—मनु १२।१३।

त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश-नामक पांच पार्थिव अयुग्मस्तोमलोकों में प्रतिष्ठित अग्नि-वायु-आदित्य-भास्वरसोम-दिक्सोम-नामक पञ्चप्राणों से कृतरूप वाक्-प्राण-चक्षु-मन-श्रोत्र-नामक पञ्चेन्द्रियवर्ग के द्वारा कर्ममार्ग में संलग्न बना रहता है। प्रज्ञानमन की प्रज्ञा-प्राण-भूत-मात्रालक्षणा शक्तित्रयी को प्रवर्ग्यरूप से अपना आधार बना कर ही-'तस्यैव मात्रामुपादाय जीवन्ति' न्याय से इन्द्रिय-वर्ग स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है।

(२७५)-सर्वाणीन्द्रियाण्यतीन्द्रियाणि—

'सर्वाणीन्द्रियाणि-अतीन्द्रियाणि' इत्यादि कौषीतकिसिद्धान्तानुसार सम्पूर्ण प्राणेन्द्रियों का विनिगमनद्वार बहिर्मुख है। स्वयम्भूमनुप्रजापति की सहजप्रेरणा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख ही बना रक्खा है। यही कारण है कि, जो इन्द्रियाँ अपनी बहिर्मुखता के कारण बाह्यविषय-ग्रहण-अनुभव में समर्थ बनीं रहतीं हैं, वे ही इन्द्रियाँ आभ्यन्तर विषयों के ग्रहणानुभव में नितान्त असमर्थ हैं। 'पराञ्चि खानि *' इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार 'ख' नामक इन्द्रियों की उन्मुखता (रुख) स्वयम्भूमनु ने क्योंकि बहिरुन्मुखा ही बनाई है। अतएव सभी इन्द्रियाँ हृदयस्थान से, किंवा हृदयस्थानस्थित आत्मक्षेत्र से बाहिर की ओर ही अपना व्यापार सञ्चालित करने में समर्थ बनतीं हैं। इन्द्रियवर्ग का सञ्चालन एकमात्र हृदयस्थ प्रज्ञानमन के द्वारा ही होता है। बिना इस प्रज्ञानमन-सहयोग के कोई भी इन्द्रिय स्वविषय का ग्रहणानुभव नहीं कर सकती। यही इन्द्रियापेक्षया मन का प्रथम अहंमहत्त्व है। 'अन्यत्र मे मनोऽभूत्, नाहमश्रौषम्' (कौ० उपनिषत्) इत्यादि के अनुसार मन के सहयोग के बिना न वाणी का व्यापार होता, न गन्धग्रहण होता, न रूपदर्शन होता, न शब्दश्रवण होता। हृदयस्थ आत्मा के सन्निकट (इन्द्रियों की अपेक्षा) 'इन्द्रियेभ्यः परं मनः' के अनुसार प्रज्ञानमन का ही स्थान है। और यही मन का द्वितीय अहंमहत्त्व है। इन्द्रियाँ जहाँ केवल पराङ्मुख हैं, बहिर्मुख हैं, वहाँ प्रज्ञानमन इन्द्रियापेक्षया बहिर्मुख बनता हुआ बुद्धिसहयोग से मननशील बनता हुआ अन्तर्मुख भी बना हुआ है। यही मन का इन्द्रियवर्गापेक्षया तृतीय अहंमहत्त्व है।

ज्ञानजनित भावनासंस्कार, कर्मजनित वासनासंस्कार से संस्कृत प्रज्ञानमन की संस्कारैक्यानुगता कामना के आधार पर मानसी प्रज्ञा-प्राण-भूत-नाम की मात्राओं को लेकर ही इन्द्रियवर्ग स्वविषयग्रहणानुभव में समर्थ बनता है। यह निश्चित है कि, जिस बाह्य भौतिक विषय का उक्थ संस्काररूप से प्रज्ञानमन में नहीं रहता इन्द्रिय कदापि न तो उस बाह्य विषय का अन्तर्याम सम्बन्ध से ग्रहण ही कर सकती, न अनुभव ही। यही कारण है कि, उक्थ के बलाबलतारतम्य से ही ऐन्द्रियक विषयों के ग्रहणानुभव में तारतम्य होता रहता है। स्वस्थ नीरोगदशा में मानसिक उक्थ के जागरूक बने रहने से जो रसनेन्द्रिय मधुर स्वाद के ग्रहणानुभव में समर्थ रहती है, वही रोगद्वारा मन के रसोक्थ के अभिभूत हो जाने से मधुर रसानुभव में असमर्थ बन जाती है। इन्हीं सब कारणों के आधार पर यह कहा और माना जा सकता है कि, मानवप्रज्ञा-प्राण-भूत-मात्राएँ ही

---

* पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति, नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥'
—कठोपनिषत् २।१।१।

सुप्रसिद्ध महर्षि भृगु इन्हीं वरुण के औरस पुत्र थे। असुरकुल में उत्पन्न होने पर भी इनमें पूर्वजमकृत-सूर्य्यसंस्कारातिशय से दैव वीर्य्य का प्राधान्य था। अतएव पामीर नामक प्राग्मेरु स्थानस्थित हिरण्यशृङ्गपर्वत-निवासी, प्राग्ज्योतिष नामक नगर के, तथा 'कान्तिमती' नामक लोकसभा के अध्यक्ष भौम ब्रह्माने भृगु को अपना दत्तक पुत्र (मानसपुत्र) बना लिया था। ब्रह्मा जिसमें जन्मतः ब्रह्मवीर्य्य की अतिशय प्रधानता देखते थे उसे ही अपना दत्तक पुत्र बना कर उसे वेदधर्म्म में दीक्षित कर लेते थे। वे ही ब्रह्मपुत्र पुराणपरिभाषा में 'मानसपुत्र' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। असुरों की देखा देखी देवमण्डलों में भी वारुणी का प्रलोभन व्याप्त हुआ। अन्त में वरुणपुत्र भृगु के द्वारा इसका निरोध हुआ *।

प्रकृत में उक्त ऐतिहासिक सन्दर्भ से यही बतलाना है कि, आसुरवेद के मूलप्रवर्तक असुरेन्द्र वरुण ही थे। इन्हीं की सम्प्रदाय में पुलस्त्य-पुलह-किलात-आकुली आदि असुरप्राणों की परीक्षा हुई। एवं तत्तदासुरप्राण परीक्षक असुर ऋषि तत्तन्नामों से ही प्रसिद्ध हुए। पुलस्त्यप्राण के परीक्षक पुलस्त्य कहलाए, पुलहप्राण के परीक्षक पुलह कहलाए। इन दोनों असुर कुलपतियों की ब्रह्मपर्षदें उस सुप्रसिद्ध 'पोलेण्ड' स्थान में थीं, जो रूस-तथा जर्म्मन् के संधि में स्थित है। देवेन्द्रानुगत दिव्यवेद में इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। अत आसुरपर्षत् का विवेचन यहीं समाप्त कर दिव्यपर्षदों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

*—(दिव्यब्रह्मपर्षत्)—

(२)—कश्यपपर्षत्—(स्वर्गपरिषत्)—

यों तो दिव्य परिषदें अनेक थीं। परन्तु उनमें से ३ परिषदें ही मुख्य मानीं जातीं थीं। इनमें १ पर्षत् भौम स्वर्ग में थी, १ पर्षत् भौम अन्तरिक्ष में थी, शेष पर्षदें भौमपृथिवी (भारतवर्ष) लोक में थीं। स्वर्गीय पर्षत् के कुलपति कश्यपमहर्षि थे, जिन्हें 'प्रजापति' भी कहा जाता था। इस पर्षत् में प्रधानरूप से कश्यपप्राण की ही परीक्षा होती थी। आदिब्रह्मा की आवासभूमि हिरण्यशृङ्ग पर्वत बतलाया गया है। इसी के समीप 'तिब्बत' प्रदेश है। तिब्बत से उत्तर कश्यपपर्षत् की प्रतिष्ठा थी। स्वर्गस्था होने से इसे विशेष सम्मान प्राप्त था।

(३)—अत्रिपर्षत्—

सांख्य अत्रि, भौम अत्रि, भेद से अत्रिवंश दो शाखाओं में विभक्त हुआ। इनमें भौम अत्रि के औरस पुत्र चन्द्रमा थे। ब्रह्माके द्वारा यही अत्रिपुत्र चन्द्रमा सोमवल्ली को असुरों के आक्रमण से बचाने के लिए, मौनेय गन्धर्वसेना के साथ उत्तरदिशा के दिक्पाल बनाए गए, एवं ओषधि (सोम) के लोकपाल बनाए गए। अपनी गान्धर्वमर्य्यादा का दुरुपयोग करते हुए राज्यमदोन्मत्त चन्द्रमा के द्वारा ही वह अप्रिय घटना घटित हुई, जो आगे जाकर देवकुलविनाश का कारण सिद्ध हुई। ताराापहरणजनित पाप से चन्द्रमा रक्षाकर्म्म में शिथिल हो गए। फलस्वरूप दिव्ययज्ञकर्म्म के शत्रुभूत असुरों ने यज्ञस्वरूप-उत्थापिका सोमवल्ली का मूलोत्पाटन कर डाला। देवबल उच्छिन्न हो गया, असुरों का साम्राज्य दृढ़मूल बन गया। इस आसुरी माया के

* सुरा वै मलमन्नाना पाप्मा च मलमुच्यते।
तस्माद् ब्राह्मण-राजन्यौ-वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥(मनुः)।

एकमात्र निमित्त चन्द्रमा ही बने थे, अतएव देवभेद धर्म्मविरोधी सम्प्रदायविशेषों में निदानविद्यासम्बन्धी संकेत के अनुसार चान्द्रतिथिको ही प्रधानता दी जाती है। तारागर्भ से चन्द्रमा के बुध पुत्र उत्पन्न हुए। बुध के साथ मनुभगिनी इला का परिणय हुआ। यही दम्पती–युग्म सोमवंश (चन्द्रवंश) का मूल प्रवर्त्तक बना। इसी आधार पर सोमवंशी क्षत्रिय 'ऐलः प्रकृतिरुच्यते' के अनुसार ऐल (इलावंशज) कहलाए।

दूसरे सांख्य अत्रि के वंशज वेदधर्म्म से बहिष्कृत होते हुए महासुराचारी बन गए। इनके अशुद्धाचरणों से दु:खी होकर सांख्य अत्रि ने देवनिकायपर्वत (सुलेमान पर्वत) को अपना आवास स्थान बना लिया। इनके पुत्रों के वंशज ही आगे जाकर 'यवनवंश' के प्रवर्त्तक बने। प्रसङ्गोपात्त यह भी जान लेना चाहिए कि, आज जिसे (ग्रीस को) यूनान कहा जाता है, वास्तव में वह तत्त्वतः यूनान नहीं है। वास्तविक यूनान (यवनदेश) अर्बस्तान से सम्बन्ध रखता है, वहाँ यवनों के मूलपुरुष सांख्य अत्रि के पुत्र निवास करते थे। अर्बस्तान (जो कि पुराण में 'धनायु' नाम से प्रसिद्ध है) ६ खण्डों में विभक्त माना गया है। इनमें एक खण्डविशेष ही यूनान कहलाया है। अत्रिपुत्र सात्यायन के वंशज, आसुरधर्म्मानुयायी, अतएव 'असुर' नाम से प्रसिद्ध 'हेलि' नामक असुर यहीं निवास करते थे। इनके निवास से ही यह धनायुखण्ड (अर्बखण्ड) यवन (यूनान) देश कहलाया। कालान्तर में शर्मों की आदि जाति ने यवनों को युद्ध में परास्त किया। पराजित यवनों ने अर्बखण्ड को छोड़ कर जिस पाश्चात्य प्रदेश (ग्रीक) को अपनी आश्रयभूमि बनाया, वही यूनान नाम से व्यवहृत हुआ। कालातिक्रमण से अर्बखण्डात्मक यूनान आज विस्मृत हो गया है, कल्पित यूनान यूनान माना जाने लगा है। वास्तविक यूनान ही पाश्चात्यभाषा में आज 'पोलेस्टाइन' नाम से प्रसिद्ध है। एवं यह वर्त्तमान युनानियों (ग्रीक निवासियों) का तीर्थस्थान माना जाता है। कालनेमि मय, आदि सुप्रसिद्ध यवनासुर यहीं निवास करते थे। सुप्रसिद्ध ज्योतिर्वित् वराहमिहिर ने यहीं आकर मयासुर से आसुर ज्यौतिष की शिक्षा ग्रहण की थी। यवनवंश के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, वर्तमान परिभाषा में यवन शब्द से जिस जातिविशेष का ग्रहण किया जाता है, उसका उस प्राक्तन यवनवंश से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जिसे आज 'ईरान' कहा जाता है, वही हमारा सुप्रसिद्ध 'आर्य्यायण' है। एवं जिसे आज 'हिन्दुस्तान' कहा जाता है, वही 'आर्य्यावर्त्त' है। एवं आर्य्यायण, तथा आर्य्यावर्त्त की समष्टि 'भारतवर्ष' है। आर्य्यावर्त्त पूर्व भारत है, आर्य्यायण पश्चिम भारत है। भारतीय भुवनकोश से अणुमात्र भी परिचय न रखने वाले जो राजनैतिक भौगोलिक सिन्धु–नद को भारतवर्ष की पश्चिम सीमा बतलाते हुए भारतांशभूत आर्य्यायण को पृथक् मान रहे हैं, वह नितान्त भ्रान्ति ही मानी जायगी, अथवा तो नैतिक–कौशल माना जायगा। भारतीय पर्वात्मक भुवनकोश के अनुसार भारतवर्ष ९० अंश पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखता है। पीतसमुद्र (चीन का यलोसी) भारतवर्ष की पूर्वसीमा है, एवं महीसागर नाम से प्रसिद्ध पश्चिम समुद्र (मेडिट्रेनियन्सी) पश्चिम सीमा है। यही ९० अंशात्मक भारतवर्ष है, जो आज हमारी उदासीनता से अपना आधा अङ्ग खो चुका है *।

---

* प्रस्तुत ग्रन्थप्रणयनात्मक वर्त्तमान दुर्भाग्यपूर्ण युग में तो उस खण्डात्मक भारत के भी हमारी भाव– कता से अनेक कल्पित खण्ड हो चुके हैं।

अथर्वा ऋषि के दौहित्र, पारसीमत के प्रवर्त्तक, छन्दोम्यस्ता की तुलना में 'जन्दावस्ता' का नवनिर्म्माण करने वाले जरथुस्त्र ही इस भ्रम-मन्त्र के कारण बने। वारुण, तथा ऐन्द्र-ब्राह्मणों की प्रतिस्पर्द्धा से विधवाविवाह के प्रश्न के आधार पर घोर जातीय कलह का बीजवपन हुआ। वारुण ब्राह्मण जहाँ इस आसुर कर्म्म के पक्ष में थे, वहाँ ऐन्द्र ब्राह्मण विपक्ष में थे। इस विवाद को शान्त करने के लिए ब्रह्मा ने सिन्धुनद को माध्यम बनाते हुए भारतवर्ष के दो विभाग कर डाले। सिन्धु से उस पार रहने वाले पारस्थानी कहलाये, वे ही 'पारसी' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस दृष्टि से सिन्धुनद यद्यपि हिन्दुस्थान की सीमा मानी जा सकती है, तथापि इसे भारतसीमा कहना कथमपि न्यायसंगत नहीं माना जा सकता।

उक्त भौगोलिक परिस्थिति से बतलाना यही है कि, भारतवर्ष की अन्तिम-पश्चिम सीमा महीसागर है। यही उस युग में स्वर्गसम्बन्ध का उपक्रम स्थान था। यहीं से भौम अन्तरिक्ष का आरम्भ माना जाता था। यहीं हमारे चरित्रनायक भौम अत्रि की वह सुप्रसिद्ध अत्रिपर्वत् थी, जहाँ पारदशकवाप्रतिबन्धक, धामच्छद, प्रजोत्पादक, मह्यामवर्त्तक, *अत्रिप्राण की परीक्षा होती थी। सुप्रसिद्ध वेदविद्महर्षि 'वात्स्य' की ब्रह्मपर्षत् भी* यहीं प्रतिष्ठित थी। इस पर्षत् ने किसी प्राण का प्रथमाविष्कार नहीं किया था, अपितु इसमें आविष्कृत प्राणों के स्वरूप की मीमांसा ही हुआ करती थी।

(४)—शिविपर्षत्—

गुजरात के सुप्रसिद्ध 'काठियावाड़' में यह पर्षत् प्रतिष्ठित थी। इसके ब्रह्मा (कुलपति) राजर्षि *'शिबि' थे।*

(५)—अङ्गिरापर्षत्—

पञ्चनद (पञ्जाब) प्रदेशस्थ त्रिगर्तदेश में अङ्गिरापर्षत् प्रतिष्ठित थी। यहाँ प्रधानतः अङ्गिराप्राण की परीक्षा होती थी। अङ्गिरा, बृहस्पति, सम्वर्त्त, उतथ्य, आदि अङ्गिराप्राण के २१ अवान्तर विवर्तों के आविष्कार का श्रेय इसी पर्षत् को प्राप्त हुआ था।

(६)—याज्ञवल्क्यपर्षत्—

मिथिलानगरी में एक स्थान 'जयन्तपुर' है। यही जयन्तपुर आज 'जनकपुर' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी जनकपुर के समीप अरण्यदेश में 'धनुषा' नामक स्थान है। यहाँ एक धनुषाकार पाषाणखण्ड प्रतिष्ठित है। यह भगवान् रामचन्द्र के द्वारा भग्न धनुष की प्रतिकृति मान कर पूजा जाता है। एवं इसी के सम्बन्ध से यह स्थान 'धनुषा' कहलाया है। इसी आरण्य प्रदेश में याज्ञवल्क्यपर्षत् प्रतिष्ठित थी। 'सीरध्वज' नामक राजर्षि जनक इसी स्थान पर समय समय पर याज्ञवल्क्य के दर्शनार्थ आया करते थे। यद्यपि याज्ञवल्क्य किसी स्वतन्त्र ऋषिप्राण के परीक्षक न थे, तथापि अपने समय के अनन्य वैज्ञानिक होने से इनकी भी पर्षत् का महत्त्व मान लिया गया था।

(७)—उद्दालकपर्षत्—

महाराज मिथि के कुलपुरोहित उद्दालक भी अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् थे। सुप्रसिद्ध 'सदानीरा' नाम की वह नदी, जो कोशलविदेहों की मर्य्यादा मानी जाती है, के समीप उद्दालकपर्षत् थी।

(८)—प्रावाहणिपर्षत्—

पाञ्चाल देशान्तर्गत कन्नौज में प्रवाहणि के पुत्र, अतएव प्रावाहणि नाम से प्रसिद्ध राजर्षि 'जनर' की पर्षत् थी।

(९)—अश्वपतिपर्षत्—

पञ्चनद प्रदेशस्थ केकयदेशाधिपति, अतएव 'कैकय' उपनाम से प्रसिद्ध राजर्षि अश्वपति ही इस पर्षत् के कुलपति थे।

(१०)—प्रतर्द्दनपर्षत्—

काशीराज राजर्षि प्रतर्द्दन ही इस पर्षत् के ब्रह्मा थे।

उक्त पर्षदों में ब्रह्मर्षि, राजर्षि ही कुलपति थे, एवं ये ही दीक्षित शिष्य थे। इस परम्परा से भी हमारी उस अधिकारमर्य्यादा का भलीभाँति समर्थन हो रहा है, जिसका संस्कृत द्विजातिवर्ग से सम्बन्ध है। अब पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

७—पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा—

अधिकारी-स्वरूप का संकेतभाषा में भगवान् पिप्पलाद ने बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। यद्यपि काण्व, याज्ञवल्क्यादि की भाँति भगवान् पिप्पलाद की कोई स्वतन्त्र ब्रह्मपर्षत् न थी। तथापि विशेषतः फलाशन करते हुए कठिन तपोयोग के प्रभाव से 'पिप्पलाद' नाम से प्रसिद्ध होने वाले ये महर्षि तत्कालीन सभी ब्रह्म पर्षदों के ब्रह्माओं में अग्रणी समझे जाते थे। इनकी ख्याति यहाँ तक बढ़ गई थी कि, सुकेशा भारद्वाज, शैब्य सत्यकाम, सौर्य्यायणी गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन, आरुणि उद्दालक, जैसे उच्चकोटि के परम वैज्ञानिक भी समय समय पर शिष्यभाव से इनकी सेवा में उपस्थित होते रहते थे, एवं अपने संशयों का निराकरण करते रहते थे। इन्हीं महर्षि पिप्पलाद ने अपनी सुप्रसिद्ध प्राणोपनिषत् (प्रश्नोपनिषत्) के आरम्भ में ही अधिकार-मर्य्यादा का विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त स्वरूप प्रकृत परिच्छेद में स्पष्ट किया जा रहा है।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत्' के अनुसार ब्रह्मविद्या के परब्रह्म, शब्दब्रह्म, भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। तत्त्वविद्या परब्रह्मविद्या है, तत्त्ववाचक-शब्दविद्या शब्दब्रह्मविद्या है। एतरेय-माण्डूक्यादि कुछ एक उपनिषदों को छोड़ कर प्रायः इतर सभी उपनिषदों में प्रधानरूप से परब्रह्मविद्या का ही विश्लेषण हुआ है, जैसाकि तत्तदुपनिषद्भाष्यों से स्पष्ट है। प्रतिपाद्य परब्रह्म के 'पर-अपर' भेद से दो विवर्त्त हैं। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, पाँचों विश्वपर्वों की समष्टिरूप 'ब्रह्मकूप' नाम से प्रसिद्ध विकारकूट (सत्व) लक्षण अक्षरतत्त्व 'अपरब्रह्म' है। दूसरे शब्दों में पाञ्चभौतिक विश्वविद्या अपरब्रह्मविद्या है, विश्वप्रविद्या-विश्वेश्वरविद्या परब्रह्मविद्या है। अपरब्रह्मविद्या कर्म्मप्रधाना, है, परब्रह्मविद्या ज्ञान-प्रधाना है।

जो व्यक्ति अपरब्रह्म के स्वरूप (विश्वात्मक कर्म्म प्रपञ्च) को भलीभाँति समझ लेता है, वही ज्ञान-प्रधान इस परब्रह्ममूलक औपनिषद तत्त्वज्ञान का अधिकारी बन सकता है। पिप्पलाद के समीप जिज्ञासाभाव

अथर्वा ऋषि के दौहित्र, पारसीमत के प्रवर्त्तक, छन्दोम्यस्ता की तुलना में 'छन्दाक्स्ता' का नवनिर्म्माण करने वाले वरुण ही इस मत-मत के कारण बने। वारुण, तथा ऐन्द्र-ब्राह्मणों की प्रतिस्पर्द्धा से विषयाविवाह के प्रश्न के आधार पर घोर जातीय कलह का बीजवपन हुआ। वारुण ब्राह्मण जहाँ इस आसुर कर्म्म के पक्ष में थे, वहाँ ऐन्द्र ब्राह्मण विपक्ष में थे। इस विवाद को शान्त करने के लिए ब्रह्मा ने सिन्धुनद को माध्यम बनाते हुए भारतवर्ष के दो विभाग कर डाले। सिन्धु से उस पार रहने वाले पारस्थानी कहलाये, वे ही 'पारसी' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस दृष्टि से सिन्धुनद यद्यपि हिन्दुस्थान की सीमा मानी जा सकती है, तथापि इसे भारतसीमा कहना कथमपि न्यायसंगत नहीं माना जा सकता।

उक्त भौगोलिक परिस्थिति से बतलाना यही है कि, भारतवर्ष की अन्तिम-पश्चिम सीमा महीसागर है। यही उस युग में स्वर्गसन्धि का उपक्रम स्थान था। यहीं से भौम अन्तरिक्ष का आरम्भ माना जाता था। यहीं हमारे चरितनायक भौम अत्रि की वह सुप्रसिद्ध अत्रिपर्षत् थी, जहाँ पारदर्शकत्वाप्रतिबन्धक, घामच्छद, प्रद्योत्पादक, ग्रहणप्रवर्त्तक, अत्रिप्राण की परीक्षा होती थी। सुप्रसिद्ध वेदवित्महर्षि 'काण्व' की ब्रह्मपर्षत् भी यहीं प्रतिष्ठित थी। इस पर्षत् ने किसी प्राण का प्रथमाविष्कार नहीं किया था, अपितु इसमें आविष्कृत प्राणों के स्वरूप की मीमांसा ही हुआ करती थी।

(४)—शिविपर्षत्—

गुजरात के सुप्रसिद्ध 'काठियावाड़' में यह पर्षत् प्रतिष्ठित थी। इसके ब्रह्मा (कुलपति) राजर्षि 'शिवि' थे।

(५)—अङ्गिरापर्षत्—

पञ्चनद (पञ्जाब) प्रदेशस्थ त्रिगर्त्तदेश में अङ्गिरापर्षत् प्रतिष्ठित थी। यहाँ प्रधानत अङ्गिराप्राण की परीक्षा होती थी। अङ्गिरा, बृहस्पति, सम्वर्त्त, उतथ्य, आदि अङ्गिराप्राण के २१ अवान्तर विवर्तों के आविष्कार का श्रेय इसी पर्षत् को प्राप्त हुआ था।

(६)—याज्ञवल्क्यपर्षत्—

मिथिलानगरी में एक स्थान 'जयन्तपुर' है। यही जयन्तपुर आज 'जनकपुर' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी जनकपुर के समीप अरण्यप्रदेश में 'धनुषा' नामक स्थान है। यहाँ एक धनुषाकार पाषाणखण्ड प्रतिष्ठित है। यह भगवान् रामचन्द्र के द्वारा भग्न धनुष की प्रतिकृति मान कर पूजा जाता है। एवं इसी के सम्बन्ध से यह स्थान 'धनुषा' कहलाया है। इसी आरण्य प्रदेश में याज्ञवल्क्यपर्षत् प्रतिष्ठित थी। 'सीरध्वज' नामक राजर्षि जनक इसी स्थान पर समय समय पर याज्ञवल्क्य के दर्शनार्थ आया करते थे। यद्यपि याज्ञवल्क्य किसी स्वतन्त्र ऋषिप्राण के परीक्षक न थे, तथापि अपने समय के अनन्य वैज्ञानिक होने से इनकी भी पर्षत् का महत्त्व मान लिया गया था।

(७)—उद्दालकपर्षत्—

महाराज मिथि के कुलपुरोहित उद्दालक भी अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् थ। सुप्रसिद्ध 'सदानीरा' नाम की वह नदी, जो कोसलविदेहों की मर्य्यादा मानी जाती है, के समीप उद्दालकपर्षत् थी।

(८)–प्रावाहणिपर्षत्—

पाञ्चाल देशान्तर्गत कपीव में प्रवाहणि के पुत्र, अतएव प्रावाहणि नाम से प्रसिद्ध राजर्षि 'जैवर' की पर्षत् थी।

(९)–अश्वपतिपर्षत्—

पञ्चनद प्रदेशस्थ केकयदेशाधिपति, अतएव 'कैकय' उपनाम से प्रसिद्ध राजर्षि अश्वपति ही इस पर्षत् के कुलपति थे।

(१०)–प्रतर्दनपर्षत्—

काशीराज राजर्षि प्रतर्दन ही इस पर्षत् के प्रधान थे।

उक्त पर्षदों में महर्षि, राजर्षि ही कुलपति थे, एवं ये ही दीक्षित शिष्य थे। इस परम्परा से भी हमारी उस अधिकारमर्य्यादा का भलीभाँति समर्थन हो रहा है, जिसका संस्कृत द्विजातिवर्ग से सम्बन्ध है। अब पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

७–पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा—

अधिकारी–स्वरूप का सङ्केतभाषा में भगवान् पिप्पलाद ने बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। यद्यपि काण्व, याज्ञवल्क्यादि की भाँति भगवान् पिप्पलाद की कोई स्वतन्त्र ब्रह्मपर्षत् न थी। तथापि विशेषतः फलाशन करते हुए कठिन तपोयोग के प्रभाव से 'पिप्पलाद' नाम से प्रसिद्ध होने वाले ये महर्षि तत्कालीन सभी ब्रह्म पर्षदों के प्रधानों में अग्रणी समझे जाते थे। इनकी ख्याति यहाँ तक बढ़ गई थी कि, सुकेशा भारद्वाज, शैब्य सत्यकाम, सौर्य्यायणी गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन, आरुणि उद्दालक, जैसे उच्चकोटि के परम वैज्ञानिक भी समय समय पर शिष्यभाव से इनकी सेवा में उपस्थित होते रहते थे, एवं अपने संशयों का निराकरण करते रहते थे। इन्हीं महर्षि पिप्पलाद ने अपनी सुप्रसिद्ध प्राणोपनिषत् (प्रश्नोपनिषत्) के आरम्भ में ही अधिकार–मर्य्यादा का विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त स्वरूप प्रकृत परिच्छेद में स्पष्ट किया जा रहा है।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत्' के अनुसार ब्रह्मविद्या के परब्रह्म, शब्दब्रह्म, भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। तत्त्वविद्या परब्रह्मविद्या है, तत्त्ववाचक–शब्दविद्या शब्दब्रह्मविद्या है। एतरेय–माण्डूक्यादि कुछ एक उपनिषदों को छोड़ कर प्रायः इतर सभी उपनिषदों में प्रधानरूप से परब्रह्मविद्या का ही विश्लेषण हुआ है, जैसाकि तत्तदुपनिषद्भाष्यों से स्पष्ट है। प्रतिपाद्य परब्रह्म के 'पर–अपर' भेद से दो विवर्त्त हैं। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, पाँचों विश्वपर्वों की समष्टिरूप 'ब्रह्मसत्य' नाम से प्रसिद्ध विकारकूट (सप) लक्षण परतत्त्व 'अवरब्रह्म' है। दूसरे शब्दों से पाञ्चभौतिक विश्वविद्या अवरब्रह्मविद्या है, विश्वमविश्व–विश्वेश्वरविद्या परब्रह्मविद्या है। अवरब्रह्मविद्या कर्म्मप्रधाना, है, परब्रह्मविद्या ज्ञान–प्रधाना है।

जो व्यक्ति अपरब्रह्म के स्वरूप (विश्वात्मक कर्म्म प्रपञ्च) को भलीभाँति समझ लेता है, वही ज्ञान–प्रधान इस परब्रह्ममूलक औपनिषद तत्त्वज्ञान का अधिकारी बन सकता है। पिप्पलाद के समीप जिज्ञासाभाव

अप्राश अत्रि के दौहित्र, पारसीमत के प्रवर्त्तक, छन्दोभ्यस्ता की तुलना में 'वन्दावस्ता' का नवनिर्म्माण करने वाले वरुण ही इस भक्त-भक्त के कारण बने। वारुण, तथा ऐन्द्र-ब्राह्मणों की प्रतिस्पर्द्धा से विधवाविवाह के प्रश्न के आधार पर घोर जातीय कलह का बीजवपन हुआ। वारुण ब्राह्मण जहाँ इस आसुर कर्म्म के पक्ष में थे, वहाँ ऐन्द्र ब्राह्मण विपक्ष में थे। इस विवाद को शान्त करने के लिए ब्रह्मा ने सिन्धुनद को माध्यम बनाते हुए भारतवर्ष के दो विभाग कर डाले। सिन्धु से उस पार रहने वाले पारस्थानी कहलाये, वे ही 'पारसी' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस दृष्टि से सिन्धुनद यद्यपि हिन्दुस्थान की सीमा मानी जा सकती है, तथापि इसे भारतसीमा कहना कथमपि न्यायसंगत नहीं माना जा सकता।

उक्त भौगोलिक परिस्थिति से बतलाना यही है कि, भारतवर्ष की अन्तिम-पश्चिम सीमा महीसागर है। यही उस युग में स्वर्गसन्धि का उपक्रम स्थान था। यहीं से भौम अन्तरिक्ष का आरम्भ माना जाता था। यहीं हमारे चरितनायक भौम अत्रि की यह सुप्रसिद्ध अत्रिपर्वत् थी, जहाँ पारदर्शकताप्रतिबन्धक, धामच्छद, प्रबोत्पादक, ग्रहणप्रवर्त्तक, अत्रिप्राण की परीक्षा होती थी। सुप्रसिद्ध वेदवित्महर्षि 'काप्य' की ब्रह्मपर्वत् भी यहीं प्रतिष्ठित थी। इस पर्वत् ने किसी प्राण का प्रथमाविष्कार नहीं किया था, अपितु इसमें आविष्कृत प्राणों के स्वरूप की मीमांसा ही हुआ करती थी।

(४)—शिविपर्वत्—

गुजरात के सुप्रसिद्ध 'काठियावाड़' में यह पर्वत् प्रतिष्ठित थी। इसके ब्रह्मा (कुलपति) राजर्षि 'शिवि' थे।

(५)—अङ्गिरापर्वत्—

पञ्चनद (पञ्जाब) प्रदेशस्थ त्रिगर्तदेश में अङ्गिरापर्वत् प्रतिष्ठित थी। यहाँ प्रधानतः अङ्गिराप्राण की परीक्षा होती थी। अङ्गिरा, बृहस्पति, सम्वर्त्त, उतथ्य, आदि अङ्गिराप्राण के २१ अवान्तर विवर्तों के आविष्कार का श्रेय इसी पर्वत् को प्राप्त हुआ था।

(६)—याज्ञवल्क्यपर्वत्—

मिथिलानगरी में एक स्थान 'जयन्तपुर' है। यही जयन्तपुर आज 'जनकपुर' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी जनकपुर के समीप अरण्यदेश में 'धनुषा' नामक स्थान है। यहाँ एक धनुषाकार पाषाणखण्ड प्रतिष्ठित है। यह भगवान् रामचन्द्र के द्वारा भग्न धनुष की प्रतिकृति मान कर पूजा जाता है। एवं इसी के सम्बन्ध से यह स्थान 'धनुषा' कहलाया है। इसी आरण्य प्रदेश में याज्ञवल्क्यपर्वत् प्रतिष्ठित थी। सीरध्वज' नामक राजर्षि जनक इसी स्थान पर समय समय पर याज्ञवल्क्य के दर्शनार्थ आया करते थे। यद्यपि याज्ञवल्क्य किसी स्वतन्त्र ऋषिप्राण के परीक्षक न थे, तथापि अपने समय के अनन्य वैज्ञानिक होने से इनकी भी पर्वत् का महत्त्व मान लिया गया था।

(७)—उद्दालकपर्वत्—

महाराज मिथि के कुलपुरोहित उद्दालक भी अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् थे। सुप्रसिद्ध 'सदानीरा' नाम की वह नदी, जो कोसलविदेहों की मर्य्यादा मानी जाती है, के समीप उद्दालकपर्वत् थी।

(८)—प्रावाहणिपर्षत्—

पाञ्चाल देशान्तर्गत कन्नौज में प्रवाहणि के पुत्र, अतएव प्रावाहणि नाम से प्रसिद्ध राजर्षि 'जवर' की पर्षत् थी।

(९)—अश्वपतिपर्षत्—

पञ्चनद प्रदेशस्थ केकयदेशाधिपति, अतएव 'केकय' उपनाम से प्रसिद्ध राजर्षि अश्वपति ही इस पर्षत् के कुलपति थे।

(१०)—प्रतर्दनपर्षत्—

काशीराज राजर्षि प्रतर्दन ही इस पर्षत् के प्रधान थे।

उक्त पर्षदों में ब्रह्मर्षि, राजर्षि ही कुलपति थे, एवं ये ही दीक्षित शिष्य थे। इस परम्परा से भी हमारी उस अधिकारमर्य्यादा का भलीभाँति समर्थन हो रहा है, जिसका संस्कृत द्विजातियों से सम्बन्ध है। अब पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

७—पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा—

अधिकारी-स्वरूप का सङ्केतमात्रा में भगवान् पिप्पलाद ने बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। यद्यपि काण्व, याज्ञवल्क्यादि की भाँति भगवान् पिप्पलाद की कोई स्वतन्त्र ब्रह्मपर्षत् न थी। तथापि विशेषतः फलाशन करते हुए कठिन तपोयोग के प्रभाव से 'पिप्पलाद' नाम से प्रसिद्ध होने वाले ये महर्षि तत्कालीन सभी ब्रह्म पर्षदों के ब्रह्मायों में अग्रणी समझे जाते थे। इनकी ख्याति यहाँ तक बढ़ गई थी कि, सुकेशा भारद्वाज, शैब्य सत्यकाम, सौर्य्यायणी गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन, आरुणि उद्दालक, जैसे उच्चकोटि के परम वैज्ञानिक भी समय समय पर शिष्यभाव से इनकी सेवा में उपस्थित होते रहते थे, एवं अपने संशयों का निराकरण करते रहते थे। इन्हीं महर्षि पिप्पलाद ने अपनी सुप्रसिद्ध प्रश्नोपनिषत् (प्रश्नोपनिषत्) के आरम्भ में ही अधिकार-मर्य्यादा का विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त स्वरूप प्रकृत परिच्छेद में स्पष्ट किया जा रहा है।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत्' के अनुसार ब्रह्मविद्या के परब्रह्म, शब्दब्रह्म, भेद से दो विवर्त माने गए हैं। तत्त्वविद्या परब्रह्मविद्या है, तत्त्ववाचक-शब्दविद्या शब्दब्रह्मविद्या है। एतरेय-माण्डूक्यादि कुछ एक उपनिषदों को छोड़ कर प्रायः इतर सभी उपनिषदों में प्रधानरूप से परब्रह्मविद्या का ही विश्लेषण हुआ है, जैसाकि तत्तदुपनिषद्भाष्यों से स्पष्ट है। प्रतिपाद्य परब्रह्म के 'पर-अपर' भेद से दो विवर्त हैं। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, पाँचों विश्वपर्वों की समष्टिरूप 'ब्रह्मरूप' नाम से प्रसिद्ध विकारकूट (सब) तथा सत्तत्त्व 'अपरब्रह्म' है। दूसरे शब्दों से पाञ्चभौतिक विश्वविद्या अपरब्रह्मविद्या है, विश्वप्रविष्ट-विश्वेश्वरविद्या परब्रह्मविद्या है। अपरब्रह्मविद्या कर्म्मप्रधाना, है, परब्रह्मविद्या ज्ञान-प्रधाना है।

जो व्यक्ति अपरब्रह्म के स्वरूप (विश्वात्मक कर्म्म प्रपञ्च) को भलीभाँति समझ लेता है, वही ज्ञान-प्रधान इस परब्रह्ममूलक औपनिषद तत्त्वज्ञान का अधिकारी बन सकता है। पिप्पलाद के समीप जिज्ञासाभाव

अप्राश ऋषि के दौहित्र, पारसीमत के प्रवर्त्तक, छन्दोम्यस्ता की तुलना में 'अन्दावस्ता' का नवनिर्म्माण करने वाले जरथुस्र ही इस भक्त–भक्त के कारण बने। वारुण, तथा ऐन्द्र–ब्राह्मणों की प्रतिस्पर्द्धा से विषमाविवाह के प्रश्न के आधार पर घोर जातीय कलह का बीजवपन हुआ। वारुण ब्राह्मण जहाँ इस आसुर कर्म्म के पक्ष में थे, वहाँ ऐन्द्र ब्राह्मण विपक्ष में थे। इस विवाद को शान्त करने के लिए ब्रह्मा ने सिन्धुनद को माध्यम बनाते हुए भारतवर्ष के दो विभाग कर डाले। सिन्धु से उस पार रहने वाले पारस्यानी कहलाये, वे ही 'पारसी' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस दृष्टि से सिन्धुनद यद्यपि हिन्दुस्थान की सीमा मानी जा सकती है, तथापि इसे भारतसीमा कहना कथमपि न्यायसंगत नहीं माना जा सकता।

उक्त भौगोलिक परिस्थिति से बतलाना यही है कि, भारतवर्ष की अन्तिम-पश्चिम सीमा महीसागर है। यही उस युग में स्वर्गसन्धि का उपक्रम स्थान था। यहीं से भौम अन्तरिक्ष का आरम्भ माना जाता था। यहीं हमारे चरितनायक भौम अत्रि की वह सुप्रसिद्ध अत्रिपर्षत् थी, जहाँ पारदशकताप्रतिबन्धक, भामच्छद, प्रकोत्पादक, ग्रहणप्रवर्त्तक, अत्रिप्राण की परीक्षा होती थी। सुप्रसिद्ध वेदवित्महर्षि 'काप्य' की ब्रह्मपर्षत् भी यहीं प्रतिष्ठित थी। इस पर्षत् ने किसी प्राण का प्रथमाविष्कार नहीं किया था, अपितु इसमें आविष्कृत प्राणों के स्वरूप की मीमांसा ही हुआ करती थी।

(४)—शिबिपर्षत्—

गुजरात के सुप्रसिद्ध 'काठियावाड़' में यह पर्षत् प्रतिष्ठित थी। इसके ब्रह्मा (कुलपति) राजर्षि 'शिबि' थे।

(५)—अङ्गिरापर्षत्—

पञ्चनद (पञ्जाब) प्रदेशस्थ त्रिगर्त्तदेश में अङ्गिरापर्षत् प्रतिष्ठित थी। यहाँ प्रधानतः अङ्गिराप्राण की परीक्षा होती थी। अङ्गिरा, बृहस्पति, सम्वर्त्त, उतथ्य, आदि अङ्गिराप्राण के २१ अवान्तर विवर्तों के आविष्कार का श्रेय इसी पर्षत् को प्राप्त हुआ था।

(६)—याज्ञवल्क्यपर्षत्—

मिथिलानगरी में एक स्थान 'जयन्तपुर' है। यही जयन्तपुर आज 'जनकपुर' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी जनकपुर के समीप अरण्यदेश में 'धनुषा' नामक स्थान है। यहाँ एक धनुषाकार पाषाणखण्ड प्रतिष्ठित है। यह भगवान् रामचन्द्र के द्वारा भङ्ग धनुष की प्रतिकृति मान कर पूजा जाता है। एवं इसी के सम्बन्ध से यह स्थान 'धनुषा' कहलाया है। इसी आरण्य प्रदेश में याज्ञवल्क्यपर्षत् प्रतिष्ठित थी। 'सीरध्वज' नामक राजर्षि जनक इसी स्थान पर समय समय पर याज्ञवल्क्य के दर्शनार्थ आया करते थे। यद्यपि याज्ञवल्क्य किसी स्वतन्त्र ऋषिप्राण के परीक्षक न थे, तथापि अपने समय के अनन्य वैज्ञानिक होने से इनकी भी पर्षत् का महत्त्व मान लिया गया था।

(७)—उद्दालकपर्षत्—

महाराज मिथि के कुलपुरोहित उद्दालक भी अपने समय के उत्कृष्ट के विद्वान् थे। सुप्रसिद्ध 'सदानीरा' नाम की वह नदी, जो कोसलविदेहों की मर्य्यादा मानी जाती है, के समीप उद्दालकपर्षत् थी।

(८)—प्रावाहणिपर्षत्—

पाञ्चाल देशान्तर्गत कन्नौज में प्रवाहणि के पुत्र, अतएव प्रावाहणि नाम से प्रसिद्ध राजर्षि 'जनर' की पर्षत् थी।

(९)—अश्वपतिपर्षत्—

पञ्चनद प्रदेशस्थ केकयदेशाधिपति, अतएव 'कैकय' उपनाम से प्रसिद्ध राजर्षि अश्वपति ही इस पर्षत् के कुलपति थे।

(१०)—प्रतर्दनपर्षत्—

काशीराज राजर्षि प्रतर्दन ही इस पर्षत् के ब्रह्मा थे।

उक्त पर्षदों में महर्षि, राजर्षि ही कुलपति थे, एवं ये ही दीक्षित शिष्य थे। इस परम्परा से भी हमारी उस अधिकारमर्य्यादा का भलीभाँति समर्थन हो रहा है, जिसका संस्कृत द्विजातिवर्ग से सम्बन्ध है। अब पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

७—पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा—

अधिकारी-स्वरूप का इसे समाधा में भगवान् पिप्पलाद ने बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। यद्यपि काण्व, याज्ञवल्क्यादि की भाँति भगवान् पिप्पलाद की कोई स्वतन्त्र ब्रह्मपर्षत् न थी। तथापि विशेषतः फलाशन करते हुए कठिन तपोयोग के प्रभाव से 'पिप्पलाद' नाम से प्रसिद्ध होने वाले ये महर्षि तत्कालीन सभी ब्रह्म पर्षदों के ब्रह्माओं में अग्रणी समझे जाते थे। इनकी ख्याति यहाँ तक बढ़ गई थी कि, सुकेशा भारद्वाज, शैब्य सत्यकाम, सौर्य्यायणी गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन, आरुणि उद्दालक, जैसे उच्चकोटि के परम वैज्ञानिक भी समय समय पर शिष्यभाव से इनकी सेवा में उपस्थित होते रहते थे, एवं अपने संशयों का निराकरण करते रहते थे। इन्हीं महर्षि पिप्पलाद ने अपनी सुप्रसिद्ध प्राणोपनिषत् (प्रश्नोपनिषत्) के आरम्भ में ही अधिकार-मर्य्यादा का विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त स्वरूप प्रकृत परिच्छेद में स्पष्ट किया जा रहा है।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत्' के अनुसार ब्रह्मविद्या के परब्रह्म, शब्दब्रह्म, भेद से दो विवर्त माने गए हैं। तत्त्वविद्या परब्रह्मविद्या है, तत्त्ववाचक-शब्दविद्या शब्दब्रह्मविद्या है। एतरेय-माण्डूक्यादि कुछ एक उपनिषदों को छोड़ कर प्रायः इतर सभी उपनिषदों में प्रधानरूप से परब्रह्मविद्या का ही विश्लेषण हुआ है, जैसाकि तत्तदुपनिषद्भाष्यों से स्पष्ट है। प्रतिपाद्य परब्रह्म के 'पर-अपर' भेद से दो विवर्त हैं। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, पाँचों विश्वपर्वों की समष्टिरूप 'ब्रह्मसत्य' नाम से प्रसिद्ध विकारकूट (सत्य) सत्यरूप परात्पर 'अपरब्रह्म' है। दूसरे शब्दों में पाञ्चभौतिक विश्वविद्या अपरब्रह्मविद्या है, विश्वमणि-विश्वेश्वरविद्या परब्रह्मविद्या है। अपरब्रह्मविद्या कर्मप्रधाना, है, परब्रह्मविद्या ज्ञान-प्रधाना है।

जो व्यक्ति अपरब्रह्म के स्वरूप (विश्वात्मक कर्म्म प्रपञ्च) को भलीभाँति समझ लेता है, वही ज्ञान-प्रधान इस परब्रह्ममूलक औपनिषद तत्त्वज्ञान का अधिकारी बन सकता है। पिप्पलाद के समीप जिज्ञासान्वित

भृगुप्राण ऋषि के दौहित्र, पारसीमत के प्रवर्तक, छन्दोम्यस्ता की तुलना में 'जन्दावस्ता' का नवनिर्माण करने वाले जरथुस ही इस प्रश्न-भङ्ग के कारण बने। वारुण, तथा ऐन्द्र-ब्राह्मणों की प्रतिस्पर्द्धा से विषमाविवाह के प्रश्न के आधार पर घोर जातीय कलह का बीजवपन हुआ। वारुण ब्राह्मण जहाँ इस आसुर कर्म्म के पक्ष में थे, वहाँ ऐन्द्र ब्राह्मण विपक्ष में थे। इस विवाद को शान्त करने के लिए ब्रह्मा ने सिन्धुनद को माध्यम बनाते हुए भारतवर्ष के दो विभाग कर डाले। सिन्धु से उस पार रहने वाले पारस्थानी कहलाये, ये ही 'पारसी' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस दृष्टि से सिन्धुनद यद्यपि हिन्दुस्थान की सीमा मानी जा सकती है, तथापि इसे भारतसीमा कहना कथमपि न्यायसंगत नहीं माना जा सकता।

उक्त भौगोलिक परिस्थिति से बतलाना यही है कि, भारतवर्ष की अन्तिम-पश्चिम सीमा महीसागर है। यही उस युग में स्वर्गग्रन्थि का उपक्रम स्थान था। यहीं से भौम अन्तरिक्ष का आरम्भ माना जाता था। यहीं हमारे चरित्रनायक भौम अत्रि की वह सुप्रसिद्ध अत्रिपर्षत् थी, जहाँ पारदर्शकत्वाप्रतिबन्धक, श्यामत्वप्रद, प्रकोपोत्पादक, ग्रहणप्रवर्तक, अत्रिप्राण की परीक्षा होती थी। सुप्रसिद्ध वेदवित्महर्षि 'वाष्य' की ब्रह्मपर्षत् भी यहीं प्रतिष्ठित थी। इस पर्षत् ने किसी प्राण का प्रथमाविष्कार नहीं किया था, अपितु इसमें आविष्कृत प्राणों के स्वरूप की मीमांसा ही हुआ करती थी।

(४)—शिविपर्षत्—

गुजरात के सुप्रसिद्ध 'काठियावाड़' में यह पर्षत् प्रतिष्ठित थी। इसके ब्रह्मा (कुलपति) राजर्षि 'शिबि' थे।

(५)—अङ्गिरापर्षत्—

पञ्चनद (पञ्जाब) प्रदेशस्थ त्रिगर्तदेश में अङ्गिरापर्षत् प्रतिष्ठित थी। यहाँ प्रधानतः अङ्गिराप्राण की परीक्षा होती थी। अङ्गिरा, बृहस्पति, सम्वर्त, उतथ्य, आदि अङ्गिराप्राण के २१ अवान्तर विवर्तों के आविष्कार का श्रेय इसी पर्षत् को प्राप्त हुआ था।

(६)—याज्ञवल्क्यपर्षत्—

मिथिलानगरी में एक स्थान 'जयन्तपुर' है। यही जयन्तपुर आज 'जनकपुर' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी जनकपुर के समीप अरण्यदेश में 'धनुषा' नामक स्थान है। यहाँ एक धनुषाकार पाषाणखण्ड प्रतिष्ठित है। यह भगवान् रामचन्द्र के द्वारा भग्न धनुष की प्रतिकृति मान कर पूजा जाता है। एवं इसी के सम्बन्ध से यह स्थान 'धनुषा' कहलाया है। इसी आरण्य प्रदेश में याज्ञवल्क्यपर्षत् प्रतिष्ठित थी। 'सीरध्वज' नामक राजर्षि जनक इसी स्थान पर समय समय पर याज्ञवल्क्य के दर्शनार्थ आया करते थे। यद्यपि याज्ञवल्क्य किसी स्वतन्त्र ऋषिप्राण के परीक्षक न थे, तथापि अपने समय के अनन्य वैज्ञानिक होने से इनकी भी पर्षत् का महत्त्व मान लिया गया था।

(७)—उद्दालकपर्षत्—

महाराज मिथि के कुलपुरोहित उद्दालक भी अपने समय के उपकाटि के विद्वान् थे। सुप्रसिद्ध 'सदानीरा' नाम की वह नदी, जो कोसलविदेहों की मर्य्यादा मानी जाती है, के समीप उद्दालकपर्षत् थी।

(८)—प्रावाहणिपर्षत्—

पाञ्चाल देशान्तर्गत कपीव में प्रवाहणि के पुत्र, अतएव प्रावाहणि नाम से प्रसिद्ध राजर्षि 'जनर' की पर्षत् थी।

(९)—अश्वपतिपर्षत्—

पञ्चनद प्रदेशस्थ केकयदेशाधिपति, अतएव 'कैकय' उपनाम से प्रसिद्ध राजर्षि अश्वपति ही इस पर्षत् के कुलपति थे।

(१०)—प्रतर्दनपर्षत्—

काशीराज राजर्षि प्रतर्दन ही इस पर्षत् के ब्रह्मा थ।

उक्त पर्षदों में ब्रह्मर्षि, राजर्षि ही कुलपति थे, एवं ये ही दीक्षित शिष्य थे। इस परम्परा से भी हमारी उस अधिकारमर्य्यादा का भलीभाँति समर्थन हो रहा है, जिसका संस्कृत द्विजातिवर्गों से सम्बन्ध है। अब पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

७—पिप्पलादसम्मता अधिकारमर्य्यादा—

अधिकारी–स्वरूप का सङ्केतभाषा में भगवान् पिप्पलाद ने बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण किया है। यद्यपि कण्व, याज्ञवल्क्यादि की भाँति भगवान् पिप्पलाद की कोई स्वतन्त्र ब्रह्मपर्षत् न थी। तथापि विशेषतः फलाशन करते हुए कठिन तपोयोग के प्रभाव से 'पिप्पलाद' नाम से प्रसिद्ध होने वाले ये महर्षि तत्कालीन सभी ब्रह्म पर्षदों के ब्रह्माओं में अग्रणी समझे जाते थे। इनकी ख्याति यहाँ तक बढ़ गई थी कि, सुकेशा भारद्वाज, शैब्य सत्यकाम, सौर्य्यायणी गार्ग्य, कौशल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन, आरुणि उद्दालक, जैसे उच्चकोटि के परम वैज्ञानिक भी समय समय पर शिष्यभाव से इनकी सेवा में उपस्थित होते रहते थे, एवं अपने संशयों का निराकरण करते रहते थे। इन्हीं महर्षि पिप्पलाद ने अपनी सुप्रसिद्ध प्राणोपनिषत् (प्रश्नोपनिषत्) के आरम्भ में ही अधिकार–मर्य्यादा का विश्लेषण किया है। उसी का संक्षिप्त स्वरूप प्रकृत परिच्छेद में स्पष्ट किया जा रहा है।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत्' के अनुसार ब्रह्मविद्या के परब्रह्म, शब्दब्रह्म, भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। तत्त्वविद्या परब्रह्मविद्या है, तत्त्ववाचक–शब्दविद्या शब्दब्रह्मविद्या है। ऐतरेय–माण्डूक्यादि कुछ एक उपनिषदों को छोड़ कर प्रायः इतर सभी उपनिषदों में प्रधानरूप से परब्रह्मविद्या का ही विश्लेषण हुआ है, जैसाकि तत्तदुपनिषद्भाष्यों से स्पष्ट है। प्रतिपाद्य परब्रह्म के 'पर–अपर' भेद से दो विवर्त्त हैं। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, पाँचों विश्वपर्वों की समष्टिरूप 'ब्रह्मसत्य' नाम से प्रसिद्ध विकारकूट (सब) लक्षण वस्तुतत्त्व 'अपरब्रह्म' है। दूसरे शब्दों से पाञ्चभौतिक विश्वविद्या अपरब्रह्मविद्या है, विश्वप्रतिष्ठ–विश्वेश्वरविद्या परब्रह्मविद्या है। अपरब्रह्मविद्या कर्म्मप्रधाना, है, परब्रह्मविद्या ज्ञान–प्रधाना है।

जो व्यक्ति अपरब्रह्म के स्वरूप (विश्वात्मक कर्म्म प्रपञ्च) को भलीभाँति समझ लेता है, वही ज्ञान–प्रधान इस परब्रह्ममूलक औपनिषद तत्त्वज्ञान का अधिकारी बन सकता है। पिप्पलाद के समीप जिज्ञासाभाव

से आए हुए माखाजादि ६ ओं विद्वानों ने इसी परब्रह्म-ज्ञान की जिज्ञासा प्रकट की थी। वे कर्मप्रधान अवरब्रह्म का यथार्थस्वरूप अवगत करने के अनन्तर ही परब्रह्मलक्षण औपनिषद ज्ञान की ओर आकर्षित हुए थे। न केवल आकर्षित ही हुए थे, अपितु अपनी जिज्ञासा को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए सन्नद्ध हो गए थे। न केवल सन्नद्ध ही हुए थे, अपितु उसे खोजने के लिए उसी जिज्ञासा को प्रधान लक्ष्य बनाते हुए अपने अपने आश्रमों से निकल पड़े थे। न केवल निकल ही पड़े थे, अपितु अपनी इस सच्ची लगन के प्रभाव से उन्होंने पिप्पलाद जैसा तत्त्वज्ञ आचार्य्य भी प्राप्त कर लिया था, जहाँ इनकी जिज्ञासा का यथावत् समाधान हुआ। परब्रह्म की ओर झुकना, दूसरे शब्दों में तद्विषयिणी जिज्ञासा करना प्रथमाधिकार है। जिसमें जिज्ञासा नहीं, वह औपनिषद ज्ञान का तो क्या, सामान्यज्ञान का भी अधिकारी नहीं माना जा सकता। जिज्ञासावृत्ति पहिली, तथा मुख्य अधिकारमर्य्यादा है, जिसका 'ब्रह्मपरा' शब्द से विशेषण हुआ है। जिज्ञासा करके ही यदि हम शान्त हो गए, तो जिज्ञासाधिकार सर्वथा व्यर्थ है। जिज्ञासा हुई, उस पर अनन्य भाव से आरूढ हो गए। जब तक जिज्ञासा का समाधान नहीं हो जाता, तब तक अध्यात्मसंस्था अशान्त है, कुछ नहीं सुहाता। यह जिज्ञासानन्यता ही दूसरी अधिकारमर्य्यादा है, जिसका 'ब्रह्मनिष्ठा' शब्द से विशेषण हुआ है। जिज्ञासा हुई, तन्निष्ठ भी बनें, परन्तु प्रयास न किया, खोज न की, तब भी काम नहीं चल सकता। अपनी तन्निष्ठता की पूर्त्ति के लिए हमें विविदिषा की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध हो जाना पड़ेगा, उसकी खोज में लग जाना पड़ेगा। एवं यही तीसरी अधिकारमर्य्यादा कहलाएगी, जिसका 'परं ब्रह्मान्वेषमाणा' शब्द से विशेषण हुआ है।

आत्मसमर्पण ही उक्त त्रिपर्वा अधिकारमर्य्यादा का मौलिक रहस्य है। आत्मा का सर्वतोभावेन त्याग करने वाला ही इस ज्ञान का अधिकारी माना जा सकता है। आत्मा की 'मन-प्राण-वाक्' भेद से तीन कलाएँ सुप्रसिद्ध हैं। जिज्ञासालक्षणा प्रथमाधिकारमर्य्यादा का मन से सम्बन्ध है, जिज्ञासानिष्ठालक्षणा द्वितीयाधिकार-मर्य्यादा का प्राण से सम्बन्ध है, एवं अन्वेषणलक्षणा तृतीयाधिकारमर्य्यादा का वाक् से सम्बन्ध है। इच्छा प्रथम व्यापार है, तदनुकूल अन्तःप्रयत्न करना तपोलक्षण कर्म द्वितीय व्यापार है, एवं शरीरव्यापारलक्षण श्रम तृतीय व्यापार है। प्राप्तव्य परब्रह्म सत्य है, तदंशभूत प्राप्तकर्त्ता जीवात्मा भी सत्य है। एवं यह सत्य उस सत्यस्य सत्यं ज्ञानं को तभी प्राप्त कर सकता है, जबकि, यह अपने आत्मसत्य को 'यावदनु मनः-तदनु प्राण'-तदनुगता वाक्' लक्षणा सत्यव्यापारत्रयी का अनुगमन करे। 'ब्रह्मपरा' मानस व्यापार है, 'ब्रह्मनिष्ठाः' प्राण व्यापार है, 'परंब्रह्मान्वेषमाणाः' वाग्व्यापार है। तृतीय व्यापार के अनन्तर 'जिन ढूँढा तिन पाइया गहरे पानी पैठ*' के अनुसार अवश्य ही तत्त्वदर्शी उपदेष्टा का आश्रय प्राप्त हो जाता है। इसी फलभाव को व्यक्त करने के लिए-'भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः' यह कहा गया है। यही वास्तविक अधिकारमर्य्यादा है, जिसका निम्न लिखित श्रुतिद्वारा सङ्केतविधि से स्पष्टीकरण हुआ है—

---

* मैं बौरी ढूँढन गई रही किनारे पैठ।
जिन ढूँढा तिन पइया गहर पानी पैठ ॥

"सुकेशा च भारद्वाज, शैब्यश्च सत्यकाम, सौर्य्यायणी च गार्ग्य, कौशल्यश्चाश्वलायन, भार्गवो वैदर्भि, कबन्धी कात्यायन, ते हैते ब्रह्मपरा (संकल्पपरा), ब्रह्मनिष्ठा (अभ्युदा), परंब्रह्मान्वेपमाणा (कृतप्रयत्ना)–'एष ह वै तत् सर्वं वक्ष्यति' इति (निश्चित्य) ते ह समित्पाणयो भगवन्त पिप्पलादमुपसन्ना" (प्रश्नोपनिषत् १।१।)।

यदि तत्त्वज्ञानजिज्ञासा है, तत्त्वज्ञाननिष्ठा है, साथ ही तत्त्वज्ञानापदशान्वेषणकर्म्मप्रवृत्ति है, तो ऐसा व्यक्ति अवश्यमेव औपनिषद ज्ञान का अधिकारी माना जायगा, एवं ऐसी सच्ची लगन वाले को अवश्यमेव गुरु मिल जायगा। गुरु के सम्बन्ध में श्रुति ने परोक्षभाषा में थोड़ा संकेत किया है। पहिले यह निश्चय कर लेना भी आवश्यक है कि, कौन गुरु हमारी जिज्ञासा का यथावत् समाधान कर सकता है ?। हठात् चाहे जिसे गुरु बना लेना आगे जाकर परिताप का कारण होता है। अयोग्य गुरु भी गुरु है, अतएव उसके प्रति प्रयत्नपूर्वक श्रद्धा रखना आवश्यक कर्म्म है, जो कि कर्म्म कष्टसाध्य है। इस विप्रतिपत्ति से बचने के लिए, अश्रद्धाजनित प्रत्यवाय से बचने के लिए पहिले से ही अपने अन्तरात्मा में अन्वेषण के द्वारा यह निश्चय कर लेना चाहिए कि, अमुक गुरु ही हमारी जिज्ञासा शान्त कर सकता है। इसप्रकार शिष्य यदि ब्रह्म–पर, ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मान्वेषमाण होना चाहिए, तो गुरु–'एष वै तत् सर्वं वक्ष्यति' लक्षण होना चाहिए। उक्त लक्षण शिष्य जहाँ अध्ययन का अधिकारी है, वहाँ उक्त लक्षण गुरु अध्यापन का अधिकारी माना गया है। इसप्रकार श्रुति ने दोनों की अधिकारमर्य्यादाओं का विश्लेषण कर दिया है।

प्राणविद्या ही वेदविद्या है, वेदविद्या ही ब्रह्मविद्या है, यह कहा जा चुका है। वेदतत्त्वात्मक यह प्राणाग्नि आध्यात्मिक संस्था में प्रादेशमित प्रदेश में अपनी व्याप्ति रखता है। 'स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' के अनुसार १॥ अङ्गुलात्मक परिमाण ही 'प्रादेश' है। प्रत्येक शारीरप्राण–'प्रादेशमितो वै प्राणः' (कौ॰ब्रा २।२।) के अनुसार प्रादेशपरिमाण से समतुलित है। प्रादेशमित यह प्राणाग्नि–'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति' (प्रश्नो ४।३।) के अनुसार इस आध्यात्मिक पुर (पाञ्चभौतिकशरीर) में सदा जागता रहता है। प्राणाग्नि–अग्नि है, अग्नि गायत्रीछन्द से छन्दित है, गायत्रीछन्द अष्टाक्षर है। इस अष्टाक्षर गायत्रीछन्द के सम्बन्ध से गायत्राग्निप्राण की आठ संस्था हो जाती है। दूसरे शब्दों में ब्रह्मरन्ध्र से आरम्भ कर पाद पर्य्यन्त व्याप्त प्राणाग्नि के आठ स्वतन्त्र संस्थान हैं। ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ पर्य्यन्त प्रथम प्रादेश है, कण्ठ से हृदयपर्य्यन्त द्वितीय प्रादेश है, हृदय से नाभिपर्य्यन्त तृतीय प्रादेश है, नाभि से ब्रह्मग्रन्थिपर्य्यन्त चतुर्थ प्रादेश है, ब्रह्मग्रन्थि से पाद पर्य्यन्त ४ प्रादेश हैं। सम्भूय आठ प्रादेश हो जाते हैं। प्रत्येक प्रादेश में प्रादेशमित, अक्षरात्मक एक एक गायत्राग्निप्राण प्रतिष्ठित है। प्रत्येक की व्याप्ति १॥ अङ्गुलमित है। इसप्रकार गायत्री के सम्बन्ध से अष्टप्रादेशात्मक पाञ्चभौतिक शरीर का मान ८४ अङ्गुलात्मक हो जाता है। प्रत्येक प्राणी अपने हाथों की अङ्गुली के नाप से चतुरशीति(८४)अङ्गुलिमित है। इन आठों प्राणों में नाभि से हृदयपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला, व्यानसहयोगी गायत्रप्राण सब में प्रधान है। व्यानप्राणात्मकता ही इसकी प्रधानता का मूलकारण है। हृदयावच्छिन्न व्यानप्राणात्मक गायत्रप्राण, किंवा गायत्रप्राणावच्छिन्न हृदयस्थ व्यानप्राण ही जीवनसूत्र की मूलप्रतिष्ठा है, जैसा कि–'मध्ये वामनमासीनम्'–'इतरेण तु जीवन्ति' इत्यादि उपनिषद्वचनों से प्रमाणित है।

से आए हुए भारद्वाजादि ६ ओं विद्वानों ने इसी परब्रह्म-ज्ञान की जिज्ञासा प्रकट की थी। वे कर्मप्रधान अपरब्रह्म का यथार्थस्वरूप अवगत करने के अनन्तर ही परब्रह्मलक्षण औपनिषद ज्ञान की ओर आकर्षित हुए थे। न केवल आकर्षित ही हुए थे, अपितु अपनी जिज्ञासा को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए उद्यत हो गए थे। न केवल सन्नद्ध ही हुए थे, अपितु उसे खोजने के लिए उसी जिज्ञासा को प्रधान लक्ष्य बनाते हुए अपने अपने आश्रमों से निकल पड़े थे। न केवल निकल ही पड़े थे, अपितु अपनी इस सच्ची लगन के प्रभाव से उन्होंने पिप्पलाद जैसा तत्त्वज्ञ आचार्य्य भी प्राप्त कर लिया था, जहाँ इनकी जिज्ञासा का यथावत् समाधान हुआ। परब्रह्म की ओर झुकना, दूसरे शब्दों में तद्विषयिणी जिज्ञासा करना प्रथमाधिकार है। जिसमें जिज्ञासा नहीं, वह औपनिषद ज्ञान का तो क्या, सामान्यज्ञान का भी अधिकारी नहीं माना जा सकता। जिज्ञासाप्रवृत्ति पहिली, तथा मुख्य अधिकारमर्य्यादा है, जिसका 'ब्रह्मपरा' शब्द से विश्लेषण हुआ है। जिज्ञासा करके ही यदि हम शान्त हो गए, तो जिज्ञासाधिकार सर्वथा व्यर्थ है। जिज्ञासा हुई, उस पर अनन्य भाव से आरूढ हो गए। जब तक जिज्ञासा का समाधान नहीं हो जाता, तब तक अध्यात्मसंस्था अशान्त है, कुछ नहीं सुहाता। यह जिज्ञासानन्यता ही दूसरी अधिकारमर्य्यादा है, जिसका 'ब्रह्मनिष्ठा' शब्द से विश्लेषण हुआ है। जिज्ञासा हुई, तन्निष्ठ भी बने, परन्तु प्रयास न किया, खोज न की, तब भी काम नहीं चल सकता। अपनी तन्निष्ठता की पूर्ति के लिए हमें विजिज्ञास्य की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध हो जाना पड़ेगा, उसकी खोज में लग जाना पड़ेगा। एवं यही तीसरी अधिकारमर्य्यादा कहलाएगी, जिसका 'परं ब्रह्मान्वेषमाणा' शब्द से विश्लेषण हुआ है।

आत्मसमर्पण ही उक्त त्रिपर्वा अधिकारमर्य्यादा का मौलिक रहस्य है। आत्मा का सर्वतोभावेन त्याग करने वाला ही इस ज्ञान का अधिकारी माना जा सकता है। आत्मा की 'मन-प्राण-वाक्' भेद से तीन कलाएँ सुप्रसिद्ध हैं। जिज्ञासालक्षणा प्रथमाधिकारमर्य्यादा का मन से सम्बन्ध है, जिज्ञासानिष्ठालक्षणा द्वितीयाधिकार-मर्य्यादा का प्राण से सम्बन्ध है, एवं अन्वेषणलक्षणा तृतीयाधिकारमर्य्यादा का वाक् से सम्बन्ध है। इच्छा प्रथम व्यापार है, तदनुकूल अन्तःप्रयत्न करना तपोलक्षण कर्म्म द्वितीय व्यापार है, एवं शरीरव्यापारलक्षण श्रम तृतीय व्यापार है। प्राप्तव्य परब्रह्म सत्य है, तदंशभूत प्राप्तकर्त्ता जीवात्मा भी सत्य है। एवं यह सत्य उस सत्यस्य सत्यं ज्ञानं को तभी प्राप्त कर सकता है, जबकि, यह अपने आत्मसत्य को 'मावत्सु मनः—तत्सु प्राण—तदनुगता वाक्' लक्षणा सत्यव्यापारत्रयी का अनुगमन करे। 'ब्रह्मपराः' मानस व्यापार है, 'ब्रह्मनिष्ठाः' प्राण व्यापार है, 'परंब्रह्मान्वेषमाणाः' वाग्व्यापार है। तृतीय व्यापार के अनन्तर 'जिन ढूँढा तिन पाइया गहरे पानी पैठ*' के अनुसार अवश्य ही तत्त्वदर्शी उपदेष्टा का आश्रय प्राप्त हो जाता है। इसी फलभाव को व्यक्त करने के लिए—'भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः' यह कहा गया है। यही वास्तविक अधिकारमर्य्यादा है, जिसका निम्न लिखित श्रुतिद्वारा तद्वत्वविधि से स्पष्टीकरण हुआ है—

---

* मैं बौरी ढूँढन गई रही किनारे बैठ।
जिन ढूँढा तिन पाइया गहरे पानी पैठ॥

अपिच समित्पाणि बन कर उपनीत होना उस अधिकारमर्य्यादा का भी पोषक बन रहा है, जिसका संस्कार-संस्कृत द्विजातिवर्ग के साथ अनन्य सम्बन्ध बतलाया गया है। पलाश ब्रह्मवीर्य्यप्रधान है, खदिर काष्ठ क्षत्रवीर्य्यप्रधान है, एवं उदुम्बर (गूलर) काष्ठ विड्वीर्य्यप्रधान है। जिस प्रकार सावित्री दीक्षाकाल (यज्ञोपवीत संस्कारकाल) में ब्राह्मण सजातीय पलाशदण्ड का, क्षत्रिय खदिरदण्ड का, एवं वैश्य उदुम्बरदण्ड का ग्रहण करता है, एवमेव उपनीत दशा में भी तीनों वर्ण क्रमशः पलाश-खदिर-उदुम्बर की प्रादेशमित समिधा को लेकर ही गुरु के समीप उपस्थित होते हैं। गुरु इस समित्-स्वरूप से ही यह जान लेते हैं कि, शिष्य अमुक वर्ण का अधिकारी है।

समित्-स्वरूप के अतिरिक्त योग्य गुरु भावी शिष्य के बाह्य स्वरूप के आधार पर भी इस बात का निश्चय कर लेते हैं कि, यह अधिकारी है, यह अधिकारी नहीं है। वर्णानुगत, वर्णस्वरूपपरिचायक समित्-काष्ठ के रहते भी मनोविज्ञानसम्मत पुरुषपरीक्षा- में ऋषि को वर्णविपर्य्यय का यदि थोड़ा भी सन्देह हो जाता है, तो तत्काल 'किं गोत्रोऽसि' ? प्रश्न हो पड़ता है। चतुष्पाद ब्रह्म के तात्त्विक रहस्यवेत्ता जबालापुत्र सत्यकाम की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाली किसी दोषवृत्ति से इनका स्वाभाविक ब्रह्मवीर्य्य दोषाक्रान्त था। जब ये समित्पाणि बन कर महर्षि गौतम के समीप पहुँचे, तो गौतम को पुरुषपरीक्षा के आधार पर इनके आधिकारिक वर्ण पर सन्देह हो गया। तत्काल प्रश्न कर बैठे—'किं गोत्रोऽसि'। अन्त में परिस्थितिवश उत्पन्न वीर्य्य-दोषनिवृत्ति के लिए गुरु का जो आदेश मिला, वह भी वर्त्तमानयुग के अधिकारलिप्सु महानुभावों के लिए मननीय है। आदेश ही क्या, वहाँ का पूरा कथानक ही भारतीय महर्षि, तथा भारतीय साहित्य की विज्ञानसम्मत उदारता का परिचय दे रहा है। घटना यों घटित हुई—

१—'सत्यकाम' ने अपनी जबाला माता को सम्बोधन करते हुए यह प्रश्न किया कि, मैं विद्याध्ययन करने के लिए गुरु-दीक्षा लेना चाहता हूँ। (दीक्षाधिकार के लिए द्विजाति मर्य्यादा आवश्यक है), इसलिए मैं यह जानना चाहता हूँ कि, मेरा गोत्र (कुल) क्या है ?

२—भारत की उस पवित्रहृदया जबाला ने उत्तर दिया—पुत्र ! तेरा क्या गोत्र है, यह मैं नहीं जानती। युवावस्था में इतस्ततः अनुधावन करते हुए मैंने तुझे प्राप्त किया है। मैं नहीं जानती (तू किसका पुत्र है, एवं) तेरा क्या गोत्र है। इस सम्बन्ध में मैं यही कह सकती हूँ कि, मेरा नाम जबाला है, तेरा नाम सत्यकाम है (अर्थात् तेरा पितृवंश

—"सोऽयं प्रजानामुपद्रष्टा प्रविष्टः", ताविमौ प्राणोदानौ। तस्मादाहु —मनो देवा मनुष्यस्याजानन्ति-इति। मनसा संकल्पयति, तत् प्राणमपिपद्यते, प्राणो वात, वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मन। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्त —

मनसा सङ्कल्पयति तद्वातमपिगच्छति।
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मन ॥ (शत० ३।४।२।६७,)।

इसी हृद्य प्राण के आधार पर सर्वेन्द्रिय-अनिन्द्रिय-लक्षण प्रज्ञानघन मन प्रतिष्ठित है। मन के आधार पर विज्ञानघना बुद्धि प्रतिष्ठित है। सूर्य्योपादानमूलभूता, अतएव अग्निसमतुलिता इसी बुद्धि में, किंवा विज्ञानज्ञानाग्नि में विद्यात्मक सोम की आहुति होती है। दूसरे शब्दों में हृद्य प्राणावच्छिन्न-प्रादेशमित-विज्ञान सम्परिष्वक्त-प्रज्ञान मन पर ही विद्यात्मक संस्कार प्रतिष्ठित होता है। इस विद्याहुति से आध्यात्मिक प्राण प्रज्वलित हो पड़ता है। साधारण-यथाजात-लौकिक मनुष्यों का शारीराग्नि जहाँ केवल लौकिक-भूतात्मक-अन्नाहुति से सबल बना रहता है, वहाँ विद्वानों का प्राणाग्नि दिव्यान्नलक्षण वेदतत्त्व, तथा यज्ञाशिशय से प्रज्वलित रहता है। भूताग्नि का प्रज्वलन भूतान्नाहुति से सम्बद्ध है प्राणाग्नि का प्रज्वलन दिव्यान्नाहुति से सम्बद्ध है। भूताग्निका प्रज्वलन कर्म्म इन्धन'है, प्राणाग्निका प्रज्वलन कर्म्म समिन्धन है। भूताग्नि में सामान्य काष्ठ डाल कर इसे प्रज्वलित करना इन्धन कर्म्म है। एवं इसी भूताग्नि में आधाररूप से प्रतिष्ठित प्राणाग्नि में तदनुरूप मन्त्रद्वारा प्राणपरिमित (प्रादेशमित) समिधाहुति डालना समिन्धन कर्म्म है। इन्धन भूत का होता है, समिन्धन प्राण का होता है। इन्धन सामान्य परिमाणशून्य काष्ठ से होता है, समिन्धन मन्त्रपूत-दिव्यप्राणयुक्त प्रादेशमित काष्ठ से होता है। सामान्य काष्ठ 'इध्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, अलौकिक प्राणभावापन्न काष्ठ 'सामिधेनी' नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी सामिधेनी-विज्ञान को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है-

> "इन्धे ह वा एतदध्वर्यु -रिध्मेनाग्निं, तस्मादिध्मो नाम। समिन्धे सामिधेनीभि-र्होता, तस्मात् सामिधेन्यो नाम" (शत०१।४।२।१)।

> "यो ह वा ऽ अग्निः सामिधेनीभि समिद्धः, अतितरां-ह वै स इतरस्मादग्नेस्तपति, अनवधृष्यो हि भवति, अनवमृश्य" (शत०१।४।३।१)।*

प्रादेशमित सामिधेनी (एतन्नामक काष्ठ) उस प्रादेशमित हृद्य प्राण की प्रतिकृति है, प्रतिमान है। शिष्य अपने प्रादेशमित इस प्राणाग्नि को गुरु के प्रादेशमित हृद्य आत्मा से निकली हुई विद्यासंस्काराहुतिलक्षणा सामिधेनी से प्रज्वलित करने के लिए ही गुरु की सेवा में उपस्थित होता है। दूसरे शब्दों में विद्या के द्वारा यह अपने प्रादेशमित प्राणाग्नि को ही विद्यासंस्कार से समिद्ध करना चाहता है। "मैं विद्यात्मिका सोमाहुति से अपने प्रादेशमित प्राणाग्नि को प्रज्वलित करने के लिए उपनीत हुआ हूँ" अपनी इसी जिज्ञासा को परोक्षविधि से प्रकट करने के लिए शिष्य प्रादेशमित समिधा हाथ में ले कर ही गुरु के समीप पहुँचता है। प्राचीन परिपाटी के अनुसार जिस किसी को गुरु का शिष्यत्व स्वीकार करना होता था, अथवा सामान्यतः अपनी सन्देहनिवृत्ति अभीष्ट होती थी, वह अपने मुख से आरम्भ में अपना शिष्यत्व प्रकट नहीं करता था। अपितु अपनी इस शिष्यवृत्ति के प्रकाशन के लिए वह समित्पाणिः बन कर ही उपस्थित होता था। भावी गुरु का अभ्युत्थानादिलक्षण सत्कार भावी शिष्य का अमङ्गल कर सकता है, इसलिए, साथ ही प्राणसमिन्धनाभिव्यक्ति के लिए समित्पाणि बन कर उपनीत होना ही विज्ञानसम्मत मार्ग है।

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत तत्तद् ब्राह्मणभाष्य में देखना चाहिए।

मणानुगता अधिकारमर्य्यादा को लक्ष्य में रख कर ही 'ते ह समित्पाणय'—'किं गोत्रोऽसि' इत्यादि वचन उद्धृत हुए हैं, यही वकर्म्यांश है। प्रश्न होता है कि, क्या अधिकारमर्य्यादा का यहीं विश्राम है?, नहीं। अभी ब्रह्मपरादि लक्षण द्विवाति अधिकारी के लिए कुछ एक अधिकारमर्य्यादाएँ और अपेक्षित हैं। ब्रह्मपराः-ब्रह्मनिष्ठाः-परंब्रह्मान्वेषमाणाः-ये तीनों अधिकारमर्य्यादाएँ कार्य्यस्थानीया हैं। एवं बतलाई जाने वाली तीन अधिकारमर्य्यादाएँ प्रकरणस्थानीया हैं। जब सुकेशादि विद्वान् समित्पाणि बन कर पिप्पलाद की सेवा में पहुँचते हैं, तो पिप्पलाद उन्हें उत्तर देते हैं—

"तान् ह स ऋषिरुवाच—

भूय एव तपसा, ब्रह्मचर्य्येण, श्रद्धया—सम्वत्सर सम्वत्स्यथ। यथाकाम प्रश्नान् पृच्छथ। यदि विज्ञास्याम, सर्वं वो वक्ष्याम" (प्रश्नो० १।२।)।

ब्रह्मविद्यात्मक संस्कार की प्रतिष्ठा के लिए जहाँ ब्रह्मपर-ब्रह्मनिष्ठ-ब्रह्मान्वेषणवृत्त्यनुगमन-अपेक्षित है, वहाँ इन तीनों धर्म्मों की प्रवृत्ति, तथा रक्षा के लिए तप, ब्रह्मचर्य्य, श्रद्धा, इन तीन आत्मधर्म्मों का अनुगमन करना भी आवश्यक हो जाता है। बिना इस त्रयी के वह त्रयी कथमपि स्वस्वरूप से सुरक्षित नहीं रह सकती। अतएव इसे हमनें प्रकरणस्थानीया कहा है, एवं उसे अर्थस्थानीया माना है। आत्मा मन-प्राण-वाङ्मय है, यह बतलाया गया है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' के अनुसार निर्बल आत्मा में न तो ब्रह्मजिज्ञासा सम्भव है, न तदनुकूल अन्तर्व्यापार सम्भव है, एवं न तदनुकूल बहिर्व्यापार सम्भव। आत्मा को, किंवा आत्मकलाओं को बलवान् बनाने वाले ब्रह्मचर्य्यादि तीन साधन मुख्य मानें गए हैं।

ब्रह्मचर्य्य वाग्भाग में बलाधान करता है, तप प्राणभाग में बलाधान करता है, एवं श्रद्धा मानसतन्त्र को बलवान् बनाती है। ठीक इसके विपरीत व्यभिचारप्रवृत्ति वाग्भाग को, आलस्य-अकर्म्मण्यता प्राणभाग को, तथा अश्रद्धामूलक असत्यभाव मनोभाग को निर्बल बनाता है। ऐसा निर्बल आत्मा दोषयुक्त है, अतिशय से रहित है, हीनाङ्ग है, अतएव अर्थसंस्कृत रहता हुआ विद्यासंस्कारग्रहण के लिए अयोग्य है। ब्रह्मचर्य्य दोषमार्जनलक्षण शोधक संस्कार है, तपःकर्म्म अतिशयाधानलक्षण विशेषक संस्कार है, एवं श्रद्धा (सत्यस्वधारण) हीनाङ्गपूर्तिलक्षण पूरक संस्कार है। श्रद्धासंस्कार से संस्कृत मन ब्रह्मजिज्ञासा का प्रवर्तक बनता हुआ जिज्ञासु को 'ब्रह्मपर' बनाता है, तपःकर्म्मसंस्कार से संस्कृत प्राण ब्रह्मनिष्ठा का प्रवर्त्तक बनता हुआ जिज्ञासु को ब्रह्माध्यासक्त बनाता है, एवं ब्रह्मचर्य्यसंस्कार से संस्कृता वाक् तदन्वेषणप्रवृत्ति का कारण बनती हुई जिज्ञासु को ब्रह्मान्वेषमाण बनाती है।

अविदित है)। तू जिस गुरु के समीप जाय, वहाँ यही कह देना कि, भगवन्! मेरा नाम सत्यकाम है, मेरी माता का नाम जबाला है *।

३-४—सत्यकाम समित्पाणि बन कर (पलाशसमित् लेकर) महर्षि गौतम के आश्रम में जाते हैं। वहाँ जाकर अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं। गौतम देखते हैं कि, इसके हाथ में पालाशी समित् है। प्रतीत होता है, 'यह ब्रह्मवीर्य्य से ही समुद्भूत है'। परन्तु बाह्यस्वरूप सूचित करता है कि, अवश्य ही इसके ब्रह्मवीर्य्य में कुछ न कुछ दोष है। फलतः समित् ग्रहण करना (शिष्य बनाना) अनुचित है। *यह निश्चय कर गौतम प्रश्न करते हैं—हे प्रिय!* तुम्हारा क्या गोत्र है ?। सत्यकाम उत्तर देता है—भगवन्! मैं नहीं जानता। माता से पूँछा था, परन्तु उसने कहा, मैंने युवावस्था में तुझे किसी से प्राप्त किया है। विदित नहीं तू किस गोत्र का है। इसलिए भगवन्! मैं नहीं जानता कि, मैं किस गोत्र का हूँ। मैं इस सम्बन्ध में अपनी माता के आदेशानुसार यही कह सकता हूँ कि, मेरा अपना नाम तो सत्यकाम है, एवं जबाला का मैं पुत्र हूँ"।

५—सत्यकाम की सत्यनिष्ठा से, निष्कपट इस विशुद्ध उक्ति से ऋषि गद्गद हो जाते हैं। और कहने लगते हैं—सत्यकाम! अपने गोत्र के सम्बन्ध में तूने जो स्पष्टीकरण किया है, यह एकमात्र ब्रह्मवीर्य्य का ही फल है। अवश्य ही तू जन्मना ब्राह्मण है। क्योंकि अब्राह्मण व्यक्ति अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐसा स्पष्टीकरण नहीं कर सकता। मैं समित् लेकर तुझे शिष्य बनाता हूँ।

६—गौतम ने शिष्य तो बना लिया। परन्तु अभी इसका ब्रह्मवीर्य्य असंस्कृत था, एवं संस्कृत द्विजाति ही ब्रह्मविद्या में अधिकृत है। अतएव उपदेश से पहले गौतम ने वीर्य्यशुद्धि आवश्यक समझी। फलस्वरूप आदेश हुआ कि—सत्यकाम! इन दुबली पतली ४०० गायों को अपने साथ लेकर चले जाओ। जब तक इनकी संख्या एक सहस्र (१०००) न हो जाय, तब तक वापस न लौटना" ✝ (छां० उ० ४।४।)।

गोपशु का सूर्य्य से सम्बन्ध है। उधर ब्रह्मात्मिका वेदविद्या का भी पूर्व में सूर्य्य से सम्बन्ध बतलाया गया है। जिस सौरतत्त्व से आत्मविकास होता है, वही सौरतत्त्व गोपशु में प्रतिष्ठित है। गौ का पादरज, गोमय, गोमूत्र दर्शन स्पर्श, सेवा हमारा क्या अभ्युदय नहीं कर सकती। कम से कम वेदस्वाध्यायी मित्रों के लिए तो गोसेवा एक आवश्यक कर्म्म माना जायगा। जिन्हें वेदतत्त्व हृदयङ्गम करने में कठिनता प्रतीत हो, वे गोसेवा भी इस सम्बन्ध में एक प्रकार का चिकित्साकर्म्म मानने का अनुग्रह करें।

---

*—क्या ऐसा स्पष्ट कथन अन्य साहित्य में उपलब्ध हो सकता है ?, पाठक मुकुलितनयन बन कर विचार करें, और रोमहर्ष का अनुगमन करें।

✝—गोसेवा से वीर्य्यगत दोष दूर जाते हैं, आत्मा पवित्र, तथा मेध्य बन जाता है, जैसाकि अन्यत्र निरुक्त है।

	१-मनोविवर्त्तभावा	२-प्राणविवर्त्तभावा	३-वाग्विवर्त्तभावाः
(१)—	१-ज्ञानशक्तिः	२-क्रियाशक्तिः	३-अर्थशक्तिः
(२)—	१-कारणशरीरम्	२-सूक्ष्मशरीरम्	३-स्थूलशरीरम्
(३)—	१-आत्मा	२-सत्त्वम्	३-शरीरम्
(४)—	१-प्रज्ञामात्रा	२-प्राणमात्रा	३-भूतमात्रा
(५)—	१-बीजचितिः	२-देवचितिः	३-भूतचितिः
(६)—	१-पशुपतिः	२-पाशः	३-पशुः
(७)—	१-शासकः	२-शासनदण्ड	३-शासितप्रजा
(८)—	१-उक्थम्	२-अर्कः	३-अशीतयः
(९)—	१-सत्यम्	२-ओजः	३-सप्तधातवः
(१०)—	१-आत्मा	२-प्राणाः	३-पशवः
(११)—	१-मोक्षः	२-भोगसाधनम्	३-भोग्यपदार्थाः
(१२)—	१-मनोमयकोशः	२-प्राणमयकोशः	३-अन्नमयकोशः
(१३)—	१-असङ्गभावः	२-ससङ्गासङ्गभावः	३-ससङ्गभावः
(१४)—	१-अकारः	२-उकारः	३-मकारः
(१५)—	१-आनन्दः	२-रतिः	३-प्रजातिः
(१६)—	१-लोकैषणा	२-पुत्रैषणा	३-वित्तैषणा
(१७)—	१-आनन्दविज्ञानमनोमयम्	२-मनःप्राणवाङ्मयः	३-वागापोऽग्निमयी
(१८)—	१-अमृतस्यात्मा	२-ब्रह्मस्यात्मा	३-पेयसस्यगर्भितभूतात्मा
(१९)—	१-स्वर्ज्योतिः	२-परज्योतिः	३-रूपज्योतिः
(२०)—	१-संज्ञा	२-[illegible]	३-संज्ञा
(२१)—	१-आयतनम्	२-अन्नाद	३-अन्नम्
(२२)—	१-ब्रह्मा	२-विष्णुः	३-शिवः
(२३)—	१-स्वर्लोकः	२-भुवर्लोकः	३-भूर्लोकः
(२४)—	१-हिंसोपहितप्रतिष्ठा	२-हिंसा	३-उपहिंसा

स वा एष आत्मा—वाङ्मयः, प्राणमयः, मनोमयः। त्रयं सदेकमयमात्मा।
आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्

मनस्तन्त्र ज्ञानशक्ति का आधार है, प्राणतन्त्र क्रियाशक्ति का उक्थ है, वाक्तन्त्र अर्थशक्ति का प्रभव है। ज्ञानशक्त्याधार मन कारणशरीरलक्षण 'आत्मा' है, क्रियाशक्त्युक्थप्राण सूक्ष्मशरीरलक्षण 'सत्त्व' है, अर्थशक्तिप्रभवभूता वाक् स्थूलशरीरलक्षण 'शरीर' है। दार्शनिक परिभाषानुसार मन 'प्रज्ञामात्रा' है, प्राण 'प्राणमात्रा' है, वाक् 'भूतमात्रा' है। वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार मन 'बीजचिति' है, प्राण 'देवचिति' है, वाक् 'भूतचिति' है। तन्त्रपरिभाषा के अनुसार मन 'पशुपति' है, प्राण 'पाश' है, वाक् 'पशु' है। नैतिक परिभाषानुसार मन 'शासक' है, प्राण 'शासनदण्ड' (शासनसूत्र) है, वाक् अनुशासिता 'प्रजा' है। निगूढविज्ञानसिद्धान्त के अनुसार मन 'उक्थ' है, प्राण 'अर्क' (रश्मि) है, वाक् 'अशीति' है। आयुर्वेदसिद्धान्त के अनुसार मन 'सत्त्व' है, प्राण 'ओज' है, वाक् 'सप्तधातुसमष्टि' है। माध्यमविज्ञानानुसार मन 'आत्मा' है, प्राण 'प्राण' है, वाक् 'पशु' है। लौकिक परिभाषानुसार मन 'भोक्ता' है, प्राण 'भोगसाधन' है, वाक् 'भोग्य' है। कोशविज्ञानानुसार मन 'मनोमयकोश' है, प्राण 'प्राणमयकोश' है, वाक् 'अन्नमयकोश' है। स्वरूपविज्ञानानुसार मन अस्ना है, प्राण 'ससज्ञासज्ञ' है, वाक् 'ससज्ञा' है। प्रणवविज्ञान के अनुसार मन 'अकार' है, प्राण 'उकार' है, वाक् 'मकार' है। कामविज्ञान के अनुसार मन 'आनन्द' है, प्राण 'रति' है, वाक् 'प्रजाति' है। एषणाविज्ञान के अनुसार मन 'लोकैषणात्मक' है, प्राण 'पुत्रैषणात्मक' है, वाक् 'वित्तैषणात्मिका' है। अश्वत्थविज्ञानानुसार मन 'आनन्द-विज्ञान-मनोमय-अमृततन्त्र' है, प्राण 'मनः-प्राण-वाङ्मय ब्रह्मतन्त्र' है, वाक् 'वाक्-आप-अग्निमय शुक्रतन्त्र' है। सत्यविज्ञानानुसार मन 'अमृतसत्यात्मा' है, प्राण 'ब्रह्मसत्यात्मा' है, वाक् 'देवसत्यगर्भित भूतात्मा' है। ज्योतिर्विज्ञानानुसार मन 'स्वर्ज्योति' है, प्राण 'परज्योति' है, वाक् 'रूपज्योति' है। शंगसविज्ञानानुसार मन 'संगस' है, प्राण 'रंगस' है, वाक् 'कंगस' है। अभावब्रह्मविज्ञानानुसार मन 'आवपन' है, प्राण 'अभाव' है, वाक् 'अन्न' है। त्रिदेवविज्ञानानुसार मन 'ब्रह्मा' है, प्राण 'विष्णु' है, वाक् 'शिव' (भूतपति) है। व्याहृतिविज्ञानानुसार मन 'स्वर्लोक' है, प्राण 'भुवर्लोक' है, वाक् 'भूलोक' है। आधारविज्ञान के अनुसार मन 'हितोपहितप्रतिष्ठा' है, प्राण 'हित' है, वाक् 'उपहिता' है। मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मा के इन कुछ एक व्याप्ति-उदाहरणों के आधार पर सम्भव है पाठक आत्मस्वरूपप्रतिपत्ति की ओर आकर्षित हो सकेंगे।

'बुद्धिनाशात्-प्रणश्यति' रूप मृत्युफल कालान्तर में अतिथि बन जाता है। इस मृत्युपाश-विमुक्ति का मुख्य साधन शुक्ररक्षात्मक ब्रह्मचर्य्य ही माना जायगा, जैसा कि-'ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवामृत्युमपाघ्नत' इत्यादि सूक्ति से प्रमाणित है।

"रसो ह्येष स, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" के अनुसार आनन्दघन आत्मा सर्वालम्बन है, यही शाश्वतानन्दोपलब्धि की प्रतिष्ठा है। इस पर विज्ञान प्रतिष्ठित है, विज्ञान पर कारणशरीरलक्षण मन का वेष्टन है, मन पर प्राणात्मक सूक्ष्मशरीर का वेष्टन है, प्राण पर वाङ्मय स्थूलशरीर का वेष्टन है। सर्व-प्रथम वाक्स्तर, तदन्तः प्राणस्तर, तदन्तः मनःस्तर, तदन्तः विज्ञानस्तर, सर्वान्तरतम आनन्द। यह व्यवस्थित क्रम है। 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः' के अनुसार विज्ञान ही आनन्दघन आत्मसाक्षात्कार का मुख्य द्वार माना गया है। यदि वाङ्मय शुक्र स्व-स्वरूप से सुरक्षित है, तो ओज बलवान् है। ओज स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित है तो मन बलवान् है। मन स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता हुआ यदि स्वस्थ है, तो-'स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति' के अनुसार विज्ञानात्मिका बुद्धि का विकास है। इस विज्ञानबल से ही अधिकारप्राप्ति सम्भव है, जिसके मन-प्राण-वाङ्मय श्रद्धा-तप-ब्रह्मचर्य्य, ये तीन कर्म प्रतिष्ठा बन रहे हैं। मनोमयी श्रद्धा, प्राणमय तप, वाङ्मय ब्रह्मचर्य्य, तीनों विज्ञानबलवर्द्धक हैं। प्रवृद्ध विज्ञान ही ब्रह्मपर-ब्रह्मनिष्ठ-परब्रह्मान्वेष-माण व्यक्तियों की अधिकारमर्य्यादा यथावत् सुरक्षित रखने में समर्थ है। सम्वत्सरयज्ञ से उत्पन्न त्रिजाति औपनिषद ज्ञान के लिए उपनीत बनता हुआ कम से कम सम्वत्सरपर्य्यन्त उक्त तीनों नियमों का अनुगमन करेगा। तभी इसका समित्पाणित्व चरितार्थ होगा, जिसका-'सम्वत्सरं सम्वत्स्यथ' से स्पष्टीकरण हुआ है। पिप्पलादसम्मता इसी अधिकारमर्य्यादा का निम्न लिखित अभियुक्त वचन से भी स्पष्टीकरण हुआ है—

> "ब्रह्मचर्य्य—तप—सत्यं—वेदानां—चानुपालनम्।
> श्रद्धा—चोपनिषच्चैव ब्रह्मोपायनहेतवः ॥

आगे जाकर भगवान् पिप्पलाद ने ब्रह्मचर्य्य-तप-सत्य की ओर विशेष ध्यान दिलाते हुए अनृत-जिह्मता-माया-को इस अधिकारमर्य्यादा का एकान्ततः परिपन्थी माना है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

> तेषामेवैष ब्रह्मलोको—येषां तपो, ब्रह्मचर्य्यं, येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।
> तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको, न येषु जिह्म—मनृत—माया च ॥
> (प्रश्नोप०१।१५,१६,)

"हमें अपने श्रद्धा-आस्था-शून्य अतएव सर्वथा शुष्क-रूक्ष-केवल बुद्धिवाद के बल पर, तात्कालिक उपलालन-द्वारा, तात्कालिक विनयप्रदर्शन-द्वारा, विविध प्रलोभनों के द्वारा, वाक्छल के द्वारा, किंवा अन्यान्य अनृत-जिह्म-मायादि-छलप्रपञ्चात्मक धर्मशून्य लोकनीतिपथों के द्वारा उपदेष्टा से येनकेनाप्युपायेन ज्ञानलाभ कर लेना चाहिए" इसप्रकार का धर्मविरुद्ध-आस्थाश्रद्धाशून्य-अनृत-जिह्मता-माया-मय प्रकार कदापि वेदतत्त्वज्ञान में सफलता प्रदान नहीं कर सकता, नहीं कर सकता, यही उक्त पिप्पलादवचन का स्वारस्य है।

—※—

मनः-प्राण-वाङ्मय आत्मतत्त्व का अमव्यापारप्रवर्तक वाग्भाग अन्नमयकोश बतलाया गया है। वाक् आकाश है। मनःप्राणात्मक आत्मतत्त्व से सर्वप्रथम इसी वाग्रूप आकाशतत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ है, जो कि वागाकाश स्तम्भनितारतम्य से क्रमशः वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन चार भूतों का प्रभव बन रहा है, जैसा कि-'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः', आकाशाद्वायुः' (तै उ २।१।) इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति से प्रमाणित है। आकाशात्मिका वाक् ही सर्वभूतजननी है, इसी वागाकाश में सब भूत अर्पित हैं, सम्पूर्ण भूत वाङ्मय हैं इत्यादि सिद्धान्तों को-'अथो वागेवेद सर्वम्' (ऐ आ०३।१।६।)- वागीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता' (तै०ब्रा०२।८।८।४।) इत्यादि श्रुतियों का समर्थन प्राप्त है। हमारा स्थूलशरीर पाञ्च-भौतिक है, इसी आधार पर तालिका में वाक् को स्थूलशरीर का सग्राहक माना गया है।

शरीरगत वैश्वानराग्नि में सायं प्रातः हम जिस पार्थिव अन्नद्रव्य की आहुति देते हैं, उस सोम्य अन्न में पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, तीनो लोकों का रसभाग समन्वित है। अन्नगत घनभाग पार्थिव दधिरस है, अन्न-गत मिठास दिव्य मधुरस है, अन्नगत स्नेहनद्रव्य आन्तरीक्ष्य घृतरस है, जैसा कि-'दधि हैवास्य लोकस्य रूपं, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य' (शत०७।५।१।३।) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है । पार्थिव द्रव्य स्थूलभाग है, तदन्तर्गत आम्यलक्षण प्राणभाग सूक्ष्म है, एवं सर्वान्तरतम मधुभागयुक्त दिव्य चान्द्ररस सुसूक्ष्म है। भुक्तान्न के स्थूलतमभाग से-'रस-असृक्-मांस-मेद्-अस्थि-मज्जा-शुक्र' इन सात स्थूल धातुओं की पुष्टि होती है। भुक्तान्न के सूक्ष्म आम्यभाग से प्राणमय ओज की स्वरूपरक्षा होती है। एवं भुक्तान्न के सुसूक्ष्म मधुभागावच्छिन्न दिव्य चान्द्ररस से मन की तुष्टि होती है। इसप्रकार त्रिधर्मावच्छिन्न अन्न आत्मा के तीनों पर्वों का स्वरूपरक्षक बन रहा है। इसी आधार पर इस आत्मपुरुष को आयुःशास्त्र ने-'अन्नरसमय पुरुष' कहा है, जैसा कि पूर्वप्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है।

सप्तधातुवर्ग वाङ्मय है, वाक्प्रधान है। 'शुक्र' धातु पृथिवी का अन्तिम रस है। इसका निर्गमन 'ऊर्ध्व-अधः-तिर्य्यक्' भेद से तीन प्रकार से सम्भव है। जो ज्ञानोपासक अपने इस शुक्र-सोम की ब्रह्मरन्ध्रो-पलक्षित शिरोगुहा में प्रतिष्ठित ज्ञानाग्नि में आहुति देते रहते हैं, वे-'ऊर्ध्वरेता' कहलाए हैं। ऐसे ज्ञानोपासक कुछ एक अपवादस्थलों को छोड़ कर शरीर से कृश रहते हैं। क्योंकि इनका शुक्र ज्ञानपोषण में उपयुक्त होता रहता है। अतएव ज्ञानोपासक ब्राह्मण के लिए आचार्य्यों नें शरीरायास निषिद्ध माना है। योषि-दग्नि में शुक्रसोम की आहुति देते हुए पुरन्ध्रिता धर्म्म के अनुयायी गृहमेधी-'अधोरेता' कहलाए हैं। ऊर्ध्व अधः-दोनों मार्गों का निरोध कर (शरीर-पुष्ट्यर्थ) केवल शरीराग्नि में शुक्राहुति देने वाले मनुष्य 'तिर्य्यग्-रेता' कहलाए हैं।

'सत्यज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्' के अनुसार ज्ञान ही 'ब्रह्म' है। इस ब्रह्म की चर्य्या (आचरण अनुगमन) ही 'ब्रह्मचर्य्य' है। यह चर्य्या शुक्ररक्षा पर ही अवलम्बित है। अतएव लक्षणया ब्रह्मचर्य्य को शुक्ररक्षापरक भी मान लिया गया है। शुक्ररक्षा से ओज(प्राण)का विकास होता है। जिसका शुक्र प्रतिक्षणमात्रा में क्षीण हो जाता है, उसका ओज निर्बल हो जाता है, स्फूर्ति विलीन हो जाती है। ओजक्षय से तत्प्रतिष्ठित मन निर्बल बन जाता है। क्योंकि शुक्रगत सोम ही तो ओजावस्था में आता हुआ अपने विशुद्ध सोमभाग से मन स्वरूप-सम्पादक बनता है । मन की निर्बलता से तत्प्रतिष्ठिता बुद्धि का व्यवसायधर्म्म उच्छिन्न हो जाता है।

'बुद्धिनाशात्-प्रणश्यति' रूप मृत्युफल कालान्तर में अतिथि बन जाता है। इस मृत्युपाश-विमुक्ति का मुख्य साधन शुक्ररक्षात्मक ब्रह्मचर्य्य ही माना जायगा, जैसा कि-'ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवामृत्युमपाघ्नत' इत्यादि सूक्ति से प्रमाणित है।

"रसो ह्येव सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" के अनुसार आनन्दघन आत्मा सर्वालम्बन है, यही शाश्वतानन्दोपलब्धि की प्रतिष्ठा है। इस पर विज्ञान प्रतिष्ठित है, विज्ञान पर कारणशरीरलक्षण मन का वेष्टन है, मन पर प्राणात्मक सूक्ष्मशरीर का वेष्टन है, प्राण पर वाङ्मय स्थूलशरीर का वेष्टन है। सर्व-प्रथम वाक्स्तर, तदन्त प्राणस्तर, तदन्तः मनःस्तर, तदन्तः विज्ञानस्तर, सर्वान्तरतम आनन्द। यह व्यवस्थित क्रम है। 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा' के अनुसार विज्ञान ही आनन्दघन आत्मसाक्षात्कार का मुख्य द्वार माना गया है। यदि वाङ्मय शुक्र स्व-स्वरूप से सुरक्षित है, तो ओज बलवान् है। ओज स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित है तो मन बलवान् है। मन स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता हुआ यदि स्वस्थ है, तो-'स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति' के अनुसार विज्ञानात्मिका बुद्धि का विकास है। इस विज्ञानबल से ही अधिकारप्राप्ति सम्भव है, जिसके मन-प्राण-वाङ्मय श्रद्धा-तप-ब्रह्मचर्य्य, ये तीन कर्म्म प्रतिष्ठा बन रहे हैं। मनोमयी श्रद्धा, प्राणमय तप, वाङ्मय ब्रह्मचर्य्य, तीनों विज्ञानबलवर्द्धक हैं। प्रबुद्ध विज्ञान ही ब्रह्मपर-ब्रह्मनिष्ठ-परब्रह्मान्वेष-माण व्यक्तियों की अधिकारमर्य्यादा यथावत् सुरक्षित रखने में समर्थ है। सम्वत्सरयज्ञ से उत्पन्न द्विजाति औपनिषद ज्ञान के लिए उपनीत बनता हुआ कम से कम सम्वत्सरपर्य्यन्त उक्त तीनों नियमों का अनुगमन करेगा। तभी इसका समित्पाणित्व चरितार्थ होगा, जिसका-'सम्वत्सरं सम्वत्स्यथ' से स्पष्टीकरण हुआ है। पिप्पलादसम्मता इसी अधिकारमर्य्यादा का निम्न लिखित अभियुक्त वचन से भी स्पष्टीकरण हुआ है—

> "ब्रह्मचर्य्यं-तपः-सत्यं-वेदानां-चानुपालनम्।
> श्रद्धा-चोपनिषच्चैव ब्रह्मोपायनहेतव ॥

आगे जाकर भगवान् पिप्पलाद ने ब्रह्मचर्य्य-तप-सत्य की ओर विशेष ध्यान दिलाते हुए अनृत-जिह्मता-माया-को इस अधिकारमर्य्यादा का एकान्ततः परिपन्थी माना है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

> तेषामेवैष ब्रह्मलोको-येषां तपो, ब्रह्मचर्य्यं, येषु सत्य प्रतिष्ठितम्।
> तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको, न येषु जिह्म-मनृत-माया च ॥
> (प्रश्नोप० १।१५,१६,)

"हमें अपने श्रद्धा-आस्था-शून्य अतएव सर्वथा शुष्क-रूक्ष-केवल बुद्धिवाद के बल पर, तात्कालिक उपलालन-द्वारा, तात्कालिक विनयप्रदर्शन-द्वारा, विविध प्रलोभनों के द्वारा, वाक्छल के द्वारा, किंवा अन्यान्य अनृत-जिह्म-मायादि-छलप्रपञ्चात्मक धर्म्मशून्य लोकनीतिपथों के द्वारा उपदेष्टा से येनकेनाप्युपायेन ज्ञानलाभ कर लेना चाहिए" इसप्रकार का धर्म्मविरुद्ध-आम्यासश्रद्धाशून्य-अनृत-जिह्मता-माया-मय प्रकार कदापि वेदतत्त्वज्ञान में सफलता प्रदान नहीं करा सकता; नहीं करा सकता, यही उक्त पिप्पलादवचन का स्वारस्य है।

——※——

८–याज्ञवल्क्यसम्मता अधिकारमर्य्यादा—

अपने युग के समय वैज्ञानिक, अशास्त्रीय रूढिवाद के अन्यतम शत्रु भगवान् याज्ञवल्क्य ने इस सम्बन्ध में अपना जो महत्त्वपूर्ण निर्णय प्रकट किया है, दो शब्दों में उसका भी स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए। याज्ञवल्क्य के द्वारा प्रदर्शित अधिकारमर्य्यादा के अनुगामी द्विजाति ही अध्ययनाध्यापन के अधिकारी हैं। एवं जिस अधिकारबीज को गर्भ में रख कर वे अधिकारी अध्ययनाध्यापन में प्रवृत्त होते हैं, वे ही उस बीज की पुष्पित–पल्लवितरूपा समृद्धि के भोक्ता बनते हैं, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

स्वाध्याय–प्रवचन का स्वाभाविक अनुराग[१], अनन्यमनस्कता[२], अपराधीनता[३], अर्थसाधनप्रवृत्ति[४], सुखस्वाप[५], आत्मचिकित्सानुगमन[६], इन्द्रियसंयम[७], एकारामता[८], प्रवृद्धप्रज्ञा[९], यशोऽनुगमन[१०], लोकपक्ति[११], ये ११ साधन ही अधिकारमर्य्यादा के मूलस्तम्भ माने गए हैं। इनका क्रमशः स्वरूप–दिग्दर्शन करा देना ही प्रकृत परिच्छेदार्थ है।

(१)–स्वाध्यायप्रवचन का स्वाभाविक अनुराग (प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतः)—

मानसक्षेत्र की अपेक्षा से पदार्थों को–'श्रेय, प्रेय, श्रेयप्रेय, श्रेयप्रेयोऽभाव, भेद से चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। 'हितकर' पदार्थ 'श्रेय' हैं। 'रुचिकर' पदार्थ 'प्रेय' हैं। 'हितकर'–'रुचिकर' पदार्थ 'श्रेय–प्रेय' हैं। एवं 'अहितकर–अरुचिकर पदार्थ' श्रेयप्रेयोऽभावलक्षण हैं। कायक्लेशात्मक अध्यात्मचिन्तन, सत्त्वोपासन, एवं यज्ञादि प्राकृतिक कर्म्म हितकर हैं, अतएव श्रेय हैं। इनके अनुगमन में कठिनता है। 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्' (गी०१८।१०।) के अनुसार श्रेयः कर्म्मों के आरम्भ में कठिनता है, किन्तु परिणाम में निःश्रेयस्भाव है। रास्नादि क्वाथ, गुग्गुल, एक वातरोगी के लिए हितकर बनते हुए श्रेय अवश्य हैं, परन्तु रुचिकर न होने से 'प्रेय' नहीं हैं। आध्यात्मिक यात्रिक संस्था के रक्षाकर्म्म में प्राप्त प्रकृत्यनुगत अन्नपान–शयनादि ऐन्द्रिक भोगों के अतिरिक्त, दूसरे शब्दों में बुद्धिपूर्विका–ईश्वर–प्रेरणाप्रतिफलरूपा उत्थिताकांक्षा के अनुगामी स्वाभाविक भोगों के अतिरिक्त–मानसेच्छानुगत–उत्थाप्याकाङ्क्षामूलक–संस्कारलोपप्रवर्त्तक–कल्पनात्मक–समस्त ऐन्द्रियक भोग केवल रुचिकर बनते हुए विशुद्ध प्रेयकर्म्म माने गए हैं। इन प्रेयपदार्थों के रजस्तमो भेद से आगे जाकर अवान्तर दो विभाग हो जाते हैं। प्रकृतिविरुद्ध, किन्तु इन्द्रियसुखलिप्सात्मक भोजन–दर्शन–भक्षणादि कुछ एक प्रेयोविषय तो ऐसे हैं, जिनके आरम्भ में तो सुखानुभव होता है, परन्तु परिणाम में वे महाभयङ्कर सिद्ध होते हैं। ऐसे प्रेय पदार्थ रजोगुणात्मक कहलाए हैं। रजोगुणप्रधान प्रेयः पदार्थों के सेवनकाल में बुद्धि का एकान्ततः अभिभव नहीं है। एक वातरोगी यह समझ रहा है कि, अम्लसेवन पीड़ा बढ़ा देगा महाकष्ट होगा। फिर भी 'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' (मनु०२।२१५।) के अनुसार वह लोभसंवरण करने में असमर्थ हो जाता है। परन्तु एक स्थिति ऐसी भी मानी गई है, जिसमें बुद्धि के सदसद्विवेक का एकान्ततः अभिभव है। न दुःखानुभव है, न सुखानुभव है। अमत्त मनुष्य की भाँति प्रवृत्तिमात्र है। ऐसा व्यक्ति विधि–निषेध–विवेक से वञ्चित रहता हुआ उन विषयों की ओर अन्धभाव से अनुगमन करता रहता है, जिनके आरम्भ, तथा अवसान में मोहलक्षण सुख का अनुभव रहता है। उपक्रम में भी आत्मविस्मृति, उपसंहार में भी आत्मविस्मृति, ऐसे मोहात्मक आन्तरिक–सुखाभासलक्षण सुखों के प्रवर्धक मद्यपान–

अभक्ष्यभक्षण-अगम्यागमनादि कर्म्म तमोगुणात्मक माने गए हैं। निद्राधिक्य से, आलस्य से, प्रमाद से एक प्रकार की शान्ति की झलक दिखलाई पड़ती है। परन्तु ऐसा सुख भी तमोगुणात्मक-मोहलक्षण-प्रेयाभाव ही माना गया है। सुख ही श्रेय है, सुख ही प्रेय है। परन्तु सत्वगुणक सुख श्रेय है, रजोगुणक, तथा तमोगुणक सुख प्रेय है। उभयविध प्रेय त्याज्य है, श्रेय ग्राह्य है, जिसकी प्रतिष्ठा बुद्धियोग माना गया है। निम्न लिखित श्रौत-स्मार्तवचन इन्हीं दोनों के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर रहे हैं

श्रेय-प्रेयस्वरूपमीमांसा—

"अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय स्ते उभे नानार्थे पुरुष सिनीत'।
तयो श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेर्थाय उ प्रेयो वृणीत"।

श्रेयोऽनुगमनादेश'—

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीर।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते"

श्रेयोऽनुगामिनः प्रशसा—

"स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षी।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्या"
(कठोपनिषत् १।२।१,२,३)

सत्त्वानुगतश्रेय स्वरूपमीमांसा—

"यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥"

रजोऽनुगतप्रेय स्वरूपमीमांसा—

"विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोऽपमम्।
परिणामे विषमिव तत् सुख राजस स्मृतम्॥"

तमोऽनुगतप्रेय स्वरूपमीमांसा—

"यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मन।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्" ॥(गी०१८।३७,३८,३९)

कुछ एक ऐसे पदार्थ, तथा कर्म्म भी हैं, जिन्हें हितदृष्टि से श्रेय भी कहा जासकता है, रुचिदृष्टि से प्रेय भी माना जासकता है। ऐसा उभयनिष्ठ विभाग ही 'श्रेय-प्रेयोभाव' नामक तीसरा श्रेणि विभाग है। शारीरस्वरक्षा के लिए अपेक्षित सुस्वादु दैनिक भोजनकर्म्म, अपेक्षित निद्राकर्म्म, भ्रमण, व्यायाम, बुद्धि-संस्कृत मानस विनोद, आदि हितकर भी हैं, रुचिकर भी हैं। च्यवनप्राशावलेह, सौवर्चलपाकवटी, हिंग्वष्टकचूर्ण, गन्धकरसबटी, आदि औषधियां रसलादि क्वाथादि की भांति केवल हितकर (श्रेय) ही नहीं हैं, अपितु रुचिकर

होतें के साथ साथ रुचिकर भी हैं। सर्वनाशक हालाहलादि कतिपय पदार्थ न हितकर हैं, न रुचिकर हैं। यही चौथा श्रेणि–विभाग है। वस्तुतस्तु भिन तीन विभागों का दिग्दर्शन कराया गया है, वे ही प्रज्ञापराध से उमयसम्पत्ति से वञ्चित होते हुए इस चतुर्थ विभाग के जनक बन रहे हैं। मात्रायुक्त महाविष भी स्वतन्त्ररूप से हितकर बन जाता है। अन्य औषधियों के सम्पर्क से अपनी कटुता छोड़ता हुआ यही विष हितकर होने के साथ साथ रुचिकर भी बन जाता है। उधर हितकर पदार्थ प्रज्ञापराध से अहितकर बन जाता है, रुचिकर पदार्थ भी अजीर्णदशा में अरुचिप्रवर्त्तक बन जाता है। सर्वथा श्रेणि–विभाग चार संख्याओं में ही विभान्त है।

प्रकान्त विद्याविभाग का, किंवा स्वाध्यायकर्म्म का श्रेय, तथा श्रेयःप्रेय, इन दो विभागों के साथ ही सम्बन्ध माना गया है। स्वाध्यायारम्भ काल में, दूसरे शब्दों में प्राथमिक शिक्षण काल में अध्येता के लिए अध्ययन केवल श्रेयोभावयुक्त बना रहता है। बुद्धि का अविकास ही प्रेयोभावाभाव (अरुचि) का कारण है। योग्य शिक्षक के अनुग्रह से ज्यों ज्यों बुद्धि विकसित होने लगती है, त्यों त्यों हितभाव के साथ साथ रुचिभाव भी बढ़ने लगता है। यही रुचिभाव आगे जाकर विद्यापूर्णता का कारण बन जाता है। स्वयं पढ़ने की रुचि, पठित विषय को प्रकट करने की रुचि, दोनों सफलता के मौलिक रहस्य हैं। शिक्षक की योग्यताविशेष से ही यह स्वाध्याय-प्रवचनानुबन्धी प्रियभाव (प्रेयोभाव–रुचि) शिष्य में उत्पन्न होता है। यही विद्याक्षेत्र का अधिकारी बनता है। यदि किसी में पूर्वजन्मसंस्कारवश बचपन से स्वतः एव स्वाध्याय-प्रवचन की रुचि का बीज प्रतिष्ठित है, तो उत्तमाधिकारी है, एवं वह स्वाध्याकाल में ही इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर लेता है। यदि किसी में प्रयास से भी रुचि उत्पन्न न हुई, तो वह इस क्षेत्र का अनधिकारी ही माना जायगा। "स्वाध्याय-(अध्ययन)-प्रवचन (अध्यापन) का अनुराग ही स्वाध्यायप्रवचन का प्रियत्व है, यही याज्ञवल्क्यमतानुसार प्रथम अधिकारमर्य्यादा है" यही छन्दर्मनिष्कर्ष है।

२—रुच्यनुगत। अनन्यमनस्कता-(युक्तमना भवति)–

हमारी विद्या की ओर रुचि है, अतएव हम अधिकारी हैं, यहां तक तो ठीक है। परन्तु इस रुचि की दो अवस्था हैं। रुचि का मन से सम्बन्ध है। मन 'युक्त–अयुक्त' भेद से दो वृत्तियों में विभक्त है। किसी भी विषय, किंवा कर्म्म के साथ मन का चिरकालपर्य्यन्त सम्बन्ध हो जाना मन की युक्तता है, एवं क्षणिक सम्बन्ध होना अयुक्तता है। इन दो विरुद्ध धर्म्मों का कारण है बुद्धिसंयोग का तारतम्य। अपने स्वाभाविक सौम्य विद्युत् के कारण मन स्वभावतः चञ्चल है, चाञ्चल्य मन का स्वाभाविक धर्म्म है। इसी वृत्ति के कारण यह किसी विषय के साथ अधिक काल पर्य्यन्त सम्बन्ध बनाये रखने में असमर्थ है। नवीनतामें रुचि रहती है, कालान्तर में रुचि हट जाती है। स्थिर विज्ञान (बुद्धि) के प्रवर्ग्यांश से मन स्वव्यापार करने में समर्थ होता है, यह स्थिर है। विज्ञानगत इन्द्र 'ओकःसारी' है, जैसा कि–ओकःसारी वा इन्द्र। यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वे गच्छति, ऐव तत्रापर गच्छति इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है।

मन ऐन्द्रियक संस्कारवश से बलवान् बनता हुआ विज्ञानस्थिरता को अपने वश में कर लेता है। अतएव विज्ञानस्थिरता इसका उपकार करने में असमर्थ हो जाती है। ऐसे ही व्यक्ति अन्यमनस्क, अयुक्तमना, विज्ञानवञ्चित कहलाए हैं। विद्याक्षेत्र में मानस रुचि का चिरकालिकत्व अपेक्षित है। यह चिरकालिकत्व 'यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा' (कठोपनिषत्) इस कठश्रुति के अनुसार तभी सम्भव

है, जब कि मन बुद्धि का अनुगामी बना रहे । बुद्धिगत स्थिरधर्म्म, मनोगत सोमात्मक स्नेहधर्म्म, दोनों के समन्वय से ही मन का व्यापार, मानस वृत्ति विद्याक्षेत्र में स्थिरधर्म्म की प्रवर्तिका बनती है । यही 'रुच्यनुगता अनन्यमनस्कता' है, यही मन की युक्तता है, यही दूसरी अधिकारमर्य्यादा है, जिसका बीज बुद्धिप्राधान्य माना गया है ।

३—अपराधीनता–(अपराधीनः)–

जीवात्मतन्त्र स्व, पर, भेद से दो तन्त्रों में विभक्त है । वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ की समष्टिलक्षण कर्म्मात्मा ही जीवात्मा है । इसके इस ओर प्रज्ञानमनोयुक्त इन्द्रियवर्ग है, उस ओर चिज्ज्योति से अनुगृहीता बुद्धि है । बुद्ध्यनुगत जीवात्मा स्वमूलभूत चिदात्मतन्त्र से अनुगृहीत रहता हुआ स्व-तन्त्र (आत्मतन्त्र) में प्रतिष्ठित है । प्रज्ञानमनोऽनुगत जीवात्मा विषयसंस्कारभूत जड़तन्त्र से अनुगृहीत रहता हुआ पर-तन्त्र (विषयतन्त्र) में प्रतिष्ठित रहता हुआ 'परतन्त्र' है । पारतन्त्र्य आत्मज्ञान का महाप्रतिबन्धक है, स्वातन्त्र्य महा उपकारक है । यही स्वातन्त्र्य बुद्धिविकास का कारण है । बुद्धिविकास ही मनःक्षेत्र की युक्तता का मूल है । युक्तमना अधिकारी ही अपने विद्यानुराग को सुरक्षित रख सकता है । इन्द्रियानुबन्धी अर्थक्षेत्र की परतन्त्रता ही पराधीनता है । पेट भर भोजन नहीं मिलता, जो कुछ मिलता है, उसके लिए आत्मसमर्पण करना पड़ता है, इसी अर्थचिन्ता में अहोरात्र व्यतीत हो जाता है, यही परतन्त्रता का दूसरा दृष्टिकोण है । धन कुछ बाह्य साधन रहने पर भी आसक्ति के अनुग्रह से प्राप्त परवशता भी आत्मस्वातन्त्र्य की बाधिका बनती हुई स्वाध्यायकर्म्म में प्रतिबन्धक है । बाह्य साधन न होने पर अगत्या प्राप्त अर्थचिन्ता भी आत्मस्वातन्त्र्य की प्रतिबन्धिका है । दोनों ही पराधीनताएँ बुद्धिविकास के लिए घातक यन्त्र हैं । प्राप्त वैभव में आसक्ति न हो, साथ ही आवश्यकतानुसार अर्थक्षेत्र की सुविधा भी बनी रहे, यही अपराधीनता है, यही तीसरी अधिकारमर्य्यादा है ।

(४)–अर्थसाधनप्रवृत्ति–(अहरहरर्थान् साधयते)–

दो प्रकार से इस अधिकारमर्य्यादा का समन्वय किया जा सकता है । रुचि भी है, अनन्यता भी है, अनन्यतारक्षक साधन भी प्रस्तुत हैं (अपराधीनता है) । परन्तु अर्थसाधनप्रवृत्ति नहीं है । गुरु ने आज जो उपदेश दिया, उसे कल पर छोड़ दिया, कल के उपदेश को परसों पर छोड़ दिया । प्रमादवश कल कल पर छोड़ते-गए । न कभी इस कल का अन्त होगा, न अधीत विषयों में सफलता मिलेगी । यही विद्याक्षेत्र में पूर्णता प्राप्त कर सकता है, जो 'न श्वः श्वः प्रतीक्षेत' के अनुसार कल-कल की प्रतीक्षा न करता हुआ प्रतिदिन अधीत (श्रुत) विषय का मनन-निदिध्यासन किया करता है । 'स्वाध्यायान्न प्रमदितव्यम्' यह आदेश भी इसी अधिकारमर्य्यादा का समर्थन कर रहा है । जैसे भोजन करना हम नहीं भूलते, वैसे स्वाध्यायकर्म्म का भी अनध्याय नहीं होना चाहिए, जिसका 'अहरहः स्वाध्यायोऽध्येतव्य' से स्पष्टीकरण हुआ है ।

'हमनें इतना जान लिया, अब बस है'–इसप्रकार विद्याक्षेत्र में 'अलं' बुद्धि रखने वाला भी अधिकारी नहीं माना जा सकता । ज्ञान अनन्त है, इसकी पिपासा भी अनन्त होनी चाहिए । 'न हम कभी बूढ़े होंगे, न हम कभी मरेंगे' इस भावना को आगे करते हुए यावज्जीवन हमें अपने इष्टसाधन में प्रवृत्त रहना चाहिए । सन्तोष करना अनन्त की उपासना से विरोध करना है । जो वस्तुतत्त्व प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त करो, जो प्राप्त कर चुके हो, उसका विकास करो । विकास करना एक दृष्टिकोण है, जिसका पूर्व में स्पष्टीकरण

हुआ है। प्राप्त करना दूसरा दृष्टिकोण है। इसी के लिए श्रुति ने कहा है—'अजितं जेतुमनुचिन्तयेत्, न कथञ्चिदप्यक्षबुद्धिमादध्यात्'।

(५)—सुखस्वाप (सुखं स्वपिति)—

सशक्त शरीर, उत्साहपूर्ण मन, विकसिता बुद्धि, निरालसभावानुगता अर्थसाधनप्रवृत्ति, इन सबका मूलाधार सुखस्वाप माना गया है। 'एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति' के अनुसार स्वाध्यायलक्षण तप से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आदि शक्तियों का पर्याप्त मात्रा में ह्रास होता है। इस अस्तकालीन दैनिक ह्रास (विसर्ग) की क्षतिपूर्ति के लिए इन शक्तियों का दैनिक आदान भी अपेक्षित है। अहःकाल में जहाँ हम शक्ति-दान करते हैं, वहाँ रात्रि में विश्रामद्वारा पुनः शक्तिसञ्चय में समर्थ हो जाते हैं। विश्राम का मुख्य क्षेत्र निद्रा है। जिसे सुखपूर्वक (भरपेट) निद्रा आती है, वही शक्तिलाभ कर सकता है। दिन के परिश्रम से क्लान्त ज्ञानस्नायु (स्नायुतन्तु) सुखस्वाप से पुनः सशक्त बनते हुए दूसरे दिन के कर्म्म के लिए योग्य बन जाते हैं। एवं यही पाँचवीं अधिकारमर्य्यादा है।

(६)—आत्मचिकित्सानुगमन—(आत्मनः परमचिकित्सको भवति)—

सुखपूर्वक निद्रा तभी आ सकती है, जब हमारी अध्यात्मसंस्था अपने तीनों पर्वों से स्वस्थ बनी रहती है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाशात्मक पाञ्चभौतिक, भूतमात्रात्मक स्थूलशरीर, ५-प्रज्ञामात्रा, ५-प्राणमात्रा, ५-भूतमात्रा, १-मन, २-बुद्धि, ३-चित्त, ४-अहङ्कार-लक्षण अन्तःकरणचतुष्टयी, इन १९ कलाओं से एकोनविंशतिमुख, देवमात्रात्मक सूक्ष्मशरीर, भावना, वासना, अविद्या, काम, कर्म्म, शुक्रसमष्टिरूप, आत्म-मात्रात्मक कारणशरीर, पञ्चकल आत्मक्षर, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल अव्यय, निष्कल परात्पर की समष्टिरूप शरीरत्रयी-नियन्ता शरीरी, इन चार संस्थाओं की समष्टि ही प्रकृत में 'आत्मा' शब्द से गृहीत है।

वात-पित्त-कफ, ये तीन स्थूलशरीर के धातु हैं। काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य्य, ये ६ सूक्ष्मशरीर के धातु हैं। भावना—वासना—शुक्र, ये तीन कारणशरीर के धातु हैं। एवं आनन्दविज्ञानादि आत्मा (शरीरी) के धातु हैं। इन धातुओं की न्यूनता, अधिकता, विषमता, अपाय, समता, ये पाँच अवस्थाएँ सम्भव हैं। भोग्य पदार्थों के सेवन में गड़बड़ करने से ही चार अवस्थाओं का उदय होता है। पांच में से चार अवस्था घातक हैं, अन्तिम अवस्था ही स्वस्थता है। हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग, अयोग, योग, इन पाँच वृत्तियों से उक्त पाँच अवस्था उत्पन्न होतीं हैं। कल्पना कर लीजिए, हमें आत्मसमत्वलक्षणा समत्वयोग के लिए एक सेर अन्न खाना है। परन्तु ऐसा न कर प्रज्ञापराध से हमनें कम खाया, यही हीनयोग है। मात्रा से अधिक खा लिया, यही अतियोग है। खाया तो मात्रा से, परन्तु प्रकृत्यनुकूल न खा कर प्रकृतिविरुद्ध अन्न खा लिया, यही मिथ्या-योग है। कुछ नहीं खाया, यही 'अयोग' है। एवं प्रकृत्यनुसार जिस नियत समय में जितना अपेक्षित है, उस समय में उतना ही खाया, यही समत्वप्रवर्त्तक, स्वास्थ्यमूलक योग है। हीनादि अयोगात्मक चारों योग स्वस्थता निवर्त्तक, तथा रोगप्रवर्त्तक हैं। योगात्मक पाँचवां योग रोगनिवर्त्तक, तथा स्वस्थताप्रवर्त्तक है। कौन वस्तु धातुवैषम्य का कारण है?, कौन विषमता के प्रबर्धक हैं?, इसप्रकार आहार-विहारादि का सम्यग्ज्ञान रखते हुए समत्वलक्षण योग का अनुगमन करना ही आत्मचिकित्सा है। आत्मचिकित्सा के अभाव में प्रज्ञापराधा—

मुग्रह से अध्यात्मसंस्था अस्वस्थ रहती है। निद्रा नहीं आती, मन अशान्त रहता है, बुद्धि अन्यवसायधर्म्म से आक्रान्त रहती है। ऐसी अध्यात्मसंस्था विद्याक्षेत्र में अनधिकृत है। इसी आधार पर आत्मचिकित्सा भी अधिकारमर्य्यादा मान ली गई है।

(७)-इन्द्रियसयम—

प्रश्न यह है कि, स्वस्थताप्रवर्त्तक आत्मचिकित्साकर्म्म में सफलता प्राप्त कैसे हो ?, दूसरे शब्दों में मन की स्वाभाविक चञ्चलता से सम्बन्ध रखने वाले प्रज्ञापराध का नियन्त्रण कैसे किया जाय ?। इन्द्रियसंयम ही इसका *मुख्य उपाय माना गया है। हमें विशुद्ध रुचिकर भावों से बचना चाहिए,* अपनी *वाक्-प्राण-चक्षुः-आदि इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए। शुभ-अशुभोदर्क को लक्ष्य में* रखते हुए ही ऐन्द्रियक भेयो विषयों की ओर सङ्कोच रहना चाहिए। सहनशक्ति का अनुगमन करना चाहिए। थोड़े साहस से काम लेने पर ही हम अपनी इन्द्रियों की विषयलोलुपता पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे *संसर्ग से बचना चाहिए, जो इन्द्रियभावों का उत्तेजक हो। और हमारे अपने अनुभव से तो जनसंसर्ग* से बचते रहना ही इन्द्रियसयम का मूलरहस्य है। एकान्तप्रियता हमें अनेक दुर्गुणों से बचा लेती है। इसीलिए अध्यात्मज्ञान के सम्बन्ध में हमें 'अरतिर्जनसंसदि' (गी० १३।१०।) यह आदेश मिला है। अपनी आवश्यकताओं को कम करना, जनसंसर्ग से बचना, शास्त्रोपदिष्ट स्वस्त्ययनकर्म्मों को अपनाना, तत्त्वदर्शी विद्वानों का सहयोग *प्राप्त करते रहना,* इत्यादि कुछ एक *ऐसे उपाय हैं, जिनसे हम इन्द्रियसंयम-*कर्म्म में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। यही इन्द्रियसंयमलक्षणा अधिकारमर्य्यादा का एक विशेष दृष्टिकोण है।

अब दूसरे दृष्टिकोण से इसका समन्वय कीजिए, जिसका स्वाध्यायकाल से सम्बन्ध है। गुरु से विद्योपदेश ग्रहण करते समय हमें इन्द्रियों पर, किंवा ज्ञानवृत्तियों पर पूर्णसंयम रखना पड़ेगा। एवं इस संयमकर्म्म के मुख्य अधिष्ठान चक्षु, श्रोत्र, मन, ये तीन इन्द्रियभाव बनेंगे। गुरु की ओर ही दृष्टि, उसी ओर श्रोत्रेन्द्रिय, उसी ओर मन, यही इन्द्रियसयम स्वाध्याय की सफलता का मूलाधार है। इन तीनों में भी मन का सयम मुख्यरूप से अपेक्षित है। एकाग्रमन से *श्रुत-दृष्ट विषय ही दृढ़संस्काररूप में परिणत* होता है। एक गुरु के समीप अनेक शिष्य विद्याध्ययन कर रहे हैं। आँखों, कानों की दृष्टि से सभी समानाधिकारी हैं। परन्तु-'केचिदर्थेयु ध्यन्ते, अपरे न'। कारण यही है कि, मनोबल की दृष्टि से सब असमान हैं। चक्षु-श्रोत्र-मन, के तारतम्य से इस अधिकारमर्य्यादा को चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

कितने हीं शिष्य न देखते, न सुनते, मनन की तो कथा ही दूर है। यही सर्वथा अनधिकारी वर्ग है। पुस्तक खुली पड़ी है। मन कहीं ओर है, देख दूसरी ओर रहे हैं, श्रोत्र अन्य ध्वनिश्रवण में *संलग्न* हैं। इन पुरुषार्थियों को छोड़ते हुए हमें उन अधिकारियों का विचार करना है, जो *प्रथम-मध्यम-उत्तम कोटित्रयी में विभक्त हैं। कितने एक विद्यार्थी सुनते भी हैं,* देखते भी हैं, मनोयोग भी रखते हैं, परन्तु स्वाध्याय-समाप्त्यनन्तर पुस्तक को पूजनपट में प्रतिष्ठित कर देते हैं। कितने एक पर आकर मनन तो करते हैं, परन्तु अनन्यता नहीं रखते। मनोविनोद में ही अधिक समय बिताते रहते हैं। परन्तु उत्तमाधिकारी शिष्य स्वाध्यायकाल में भी आत्मसमर्पणयोग का आश्रय लिए रहते हैं, एवं अनन्तर भी उसी कर्म्म में

हुआ है। प्राप्त करना दूसरा दृष्टिकोण है। इसी के लिए श्रुति ने कहा है—'अजितं जेतुमनुचिन्तयेत्, न कथञ्चिदप्यलंबुद्धिमावध्यात्'।

(५)—सुखस्वाप (सुख स्वपिति)—

सशक्त शरीर, उत्साहपूर्ण मन, विकसिता बुद्धि, निरालस्यभावानुगता अर्थसाधनप्रवृत्ति, इन सबका मूलाधार सुखस्वाप माना गया है। 'एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति' के अनुसार स्वाध्यायलक्षण तप से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आदि शक्तियों का पर्याप्त मात्रा में ह्रास होता है। इस अल्पकालीन दैनिक ह्रास (विसर्ग) की क्षतिपूर्ति के लिए इन शक्तियों का दैनिक आदान भी अपेक्षित है। अहःकाल में जहाँ हम शक्ति दान करते हैं, वहाँ रात्रि में विश्रामद्वारा पुनः शक्तिसञ्चय में समर्थ हो जाते हैं। विश्राम का मुख्य क्षेत्र निद्रा है। जिसे सुखपूर्वक (भरपेट) निद्रा आती है, वही शक्तिलाभ कर सकता है। दिन के परिश्रम से क्लान्त ज्ञानतन्तु (स्नायुतन्तु) सुखस्वाप से पुनः सशक्त बनते हुए दूसरे दिन के कर्म के लिए योग्य बन जाते हैं। एव यही पाँचवीं अधिकारमर्यादा है।

(६)—आत्मचिकित्सानुगमन—(आत्मन परमचिकित्सको भवति)—

सुखपूर्वक निद्रा तभी आ सकती है, जब हमारी अध्यात्मसंस्था अपने तीनों पर्वों से स्वस्थ बनी रहती है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाशात्मक पाञ्चभौतिक, भूतमात्रात्मक स्थूलशरीर, ५-प्रज्ञामात्रा, ५-प्राणमात्रा, ५-भूतमात्रा, १-मन, २-बुद्धि, ३-चित्त, ४-अहङ्कार-लक्षण अन्तःकरणचतुष्टयी, इन १९ कलाओं से एकोनविंशतिमुख, देवमात्रात्मक सूक्ष्मशरीर, भावना, वासना, अविद्या, काम, कर्म, शुक्रसमष्टिरूप, आत्म-मात्रात्मक कारणशरीर, पञ्चकल आत्मक्षर, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल अव्यय, निष्कल परात्पर की समष्टिरूप शरीरत्रयी-नियन्ता शरीरी, इन चार संस्थाओं की समष्टि ही प्रकृत में 'आत्मा' शब्द से गृहीत है।

वात-पित्त-कफ, ये तीन स्थूलशरीर के धातु हैं। काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य, ये ६ सूक्ष्मशरीर के धातु हैं। भावना—वासना—शुक्र, ये तीन कारणशरीर के धातु हैं। एवं आनन्दविज्ञानादि आत्मा (शरीरी) के धातु हैं। इन धातुओं की न्यूनता, अधिकता, विषमता, अपाय, समता, ये पाँच अवस्थाएँ सम्भव हैं। भोग्य पदार्थों के सेवन में गड़बड़ करने से ही चार अवस्थाओं का उदय होता है। पाँच में से चार अवस्था घातक हैं, अन्तिम अवस्था ही स्वस्थता है। हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग, अयोग, योग, इन पाँच वृत्तियों से उक्त पाँच अवस्था उत्पन्न होती हैं। कल्पना कर लीजिए, हमें आत्मसमतालक्षण समत्वयोग के लिए एक सेर अन्न खाना है। परन्तु ऐसा न कर प्रज्ञापराध से हमनें कम खाया, यही हीनयोग है। मात्रा से अधिक खा लिया, यही अतियोग है। खाया तो मात्रा से, परन्तु प्रकृत्यनुकूल न खा कर प्रकृतिविरुद्ध अन्न खा लिया, यही मिथ्या-योग है। कुछ नहीं खाया, यही 'अयोग' है। एवं प्रकृत्यनुसार जिस नियत समय में जितना अपेक्षित है, उस समय में उतना ही खाया, यही समत्वप्रवर्त्तक, स्वास्थ्यमूलक योग है। हीनादि अयोगात्मक चारों योग स्वस्थता निवर्त्तक, तथा रोगप्रवर्त्तक हैं। योगात्मक पाँचवाँ योग रोगनिवर्त्तक, तथा स्वस्थताप्रवर्त्तक है। कौन वस्तु धातुवैषम्य का कारण है?, कौन विषमता के प्रवर्त्तक हैं?, इसप्रकार आहार-विहारादि का सम्यग्ज्ञान रखते हुए समत्वलक्षण योग का अनुगमन करना ही आत्मचिकित्सा है। आत्मचिकित्सा के अभाव में प्रज्ञापराधा-

जिसमें यशःकरण का जितना अधिक विकास होता है, वह अपने कर्म्म से लोक में उतना ही अधिक यशस्वी होता है। देखा जाता है कि, बड़े बड़े काम करने वाले भी यश सम्पत्ति से वञ्चित रह जाते हैं। कारण यही है कि, उनका आध्यात्मिक यशःप्राण मूर्च्छित है। अतएव इन्हें लोकसम्पत्ति नहीं मिलती। परिणाम में कालान्तर में ये हतोत्साह बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में मानना पड़ेगा कि, यशोविकास भी स्वाध्यायकर्म में उपोद्बलक बन रहा है। इसी दृष्टि से ऋषि ने इसे भी अधिकारमर्य्यादा में अन्तर्भूत मान लिया है।

(११)–लोकपक्ति–

उक्त १० सों साधन तभी सर्वात्मना सफल हो सकते हैं, जब इसे लोकसहानुभूति सहयोग प्राप्त होता रहे। विद्याभ्यासी को समाजद्वारा सहयोग मिलना परम आवश्यक है। अन्यथा सांसारिक चिन्तायें इसे इस कर्म्म से च्युत कर देतीं हैं। "हम अमुक के लिए पच-मरने के लिए तय्यार हैं, इसमें हम अपना सौभाग्य समझते हैं" इसप्रकार की भावना ही लोकपक्ति है। तदनुगत अध्येता ही स्वाध्यायकर्म्म में सफल हो सकता है। भारतवर्ष का दुर्भाग्य है कि, आज यह लोकपक्ति–सम्पत् को सर्वथा भुला चुका है। यही कारण है कि, अन्य साधनों के रहते भी अध्येता अध्ययनकर्म्म में सफलता प्राप्त नहीं कर रहे।

शिष्य स्वाध्यायकर्म्म का अनुगामी है, गुरु प्रवचनकर्म्म का अनुगामी है। जो ११ गुण शिष्य के लिए अपेक्षित हैं, वे ही ११ गुण प्रवचनकर्त्ता गुरु के लिए अपेक्षित हैं। इन अधिकारमर्य्यादाओं का अनुगमन करने वाला शिष्यवर्ग, तथा आचार्य्यवर्ग, फलस्वरूप इन्हीं ग्यारह विभूतियों के सत्पात्र बन जाते हैं। उनका स्वाध्याय–प्रवचन स्वाभाविक कर्म्म बन जाता है। उनका मन स्थितप्रज्ञ बन जाता है। वे आत्मस्वातन्त्र्य के अनुगामी बन जाते हैं। वे अभीप्सित अर्थसाधन में समर्थ हो जाते हैं। उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती। वे पूर्ण स्वस्थ रहते हैं। उनका जीवन संयत बन जाता है। उनकी बुद्धि व्यवसायात्मिका बन जाती है। वे मनस्वी बन जाते हैं। लोक में उनका यश व्याप्त हो जाता है। एवं–'सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति' के अनुसार सब उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत रहते हैं। इसी अधिकार, एवं तदनुगत फलस्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अधिकारमर्य्यादा– (उद्देश्यरूपा)		फलमर्य्यादा– (विधेयरूपा)
१—प्रिये स्वाध्यायप्रवचने स्याताम्	—	१—"प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतः"
२—युक्तमना भवेत्	—	२—"युक्तमना भवति"।
३—अपराधीनः (भवेत्)	—	३—"अपराधीनः (भवति)"।
४—अहरहरर्थान् साधयेत्	—	४—"अहरहरर्थान् साधयते"।
५—सुखं स्वप्यात्	—	५—"सुखं स्वपिति"।
६—परमचिकित्सक आत्मनो भवेत्	—	६—"परमचिकित्सक आत्मनो भवति"।
७—इन्द्रियसंयम (युक्तो भवेत्)	—	७—"इन्द्रियसंयम (युक्तो भवति)"।

तल्लीन रहते हैं, डूबे रहते हैं। पानी से भरा सरोवर है। अनधिकारी किनारे से लौट आते हैं। प्रथमाधिकारी जानुपर्य्यन्त प्रवेश कर पाते हैं, मध्यमाधिकारी कक्षपर्य्यन्त प्रवेश कर लेते हैं। परन्तु उत्तमाधिकारी पूर्णरूप से अन्तस्तल पर पहुँच कर बाहर निकलते हैं। पूर्णेन्द्रियसंयमी ऐसे उत्तमाधिकारी ही वास्तविक अधिकारी हैं। इन्हीं तीनों अधिकारियों की स्थिति का सरोवरदृष्टान्त से स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति कहते हैं—

अनधिकारी—

"यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्" ॥

त्रिविधाधिकारिण —

"अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास, उपकक्षास, उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे" ॥

(ऋक्सं॰ १०।७१।६,७ मं॰)

(८)—एकारामता—

उद्देश्यविहीन की न जहाँ इन्द्रियारामता का प्रवर्त्तक है, वहाँ उद्देश्ययुक्त जीवन एकारामता का प्रवर्त्तक माना गया है। लक्ष्यविहीन अकर्म्मण्य मनुष्य ही प्रज्ञापराध के लक्ष्यपात्र बनते हुए ऐन्द्रियक भोगपाशों से बद्ध होते हैं। अनुभव से प्रमाणित है कि, अकर्म्मण्यदशा में ही हमारा मन इतस्ततः अनुधावन करता है। यदि हम इसके सामने कोई लक्ष्य रख देते हैं, तो इसकी अन्य वृत्तियों का लक्ष्य पर केन्द्रीकरण हो जाता है। इस लक्ष्य के सम्बन्ध में यह लक्ष्य रखना आवश्यक होगा कि, कहीं स्वयं लक्ष्य तो अलक्ष्य नहीं बन रहा है। एक समय में अनेक लक्ष्य बनाना लक्ष्य को अलक्ष्य बनाना है। ऐसा अलक्ष्यात्मक लक्ष्य एकारामता का प्रतिद्वन्द्वी बनता हुआ अन्ततोगत्वा इन्द्रियारामतामूलक चाञ्चल्य का ही प्रवर्त्तक बन जाता है। हमारा लक्ष्य स्थिर हो, और वह एक हो, यही एकारामता है। एकारामता ही इन्द्रिय संयम का मूल है।

(९)—प्रबुद्धप्रज्ञा—

एकारामता से प्रज्ञानमन अपने प्रज्ञाभाग से स्थिर बन जाता है। इन्द्रियारामता, तथा अनेक-लक्ष्यानुगमनता जहाँ प्रज्ञा को खण्ड-खण्डरूप में परिणत करती हुई इसके स्वाभाविक विकास का द्वार अवरुद्ध कर देती है, वहाँ आत्मानुगता, किंवा बुद्धिसंस्कृता एकारामता, तथा अनन्यलक्ष्यता प्रज्ञा को एकत्र आकर्षित करती हुई प्रज्ञाबुद्धि का कारण बन जाती है। यही नवीं अधिकारमर्य्यादा है। तीव्रप्रज्ञता ही इसका बीज है।

(१०)—यशोऽनुगमन—

'रेता-श्रद्धा-यश' ये तीन चन्द्रमा के मनोता हैं। चन्द्रमा मन का उपादान है। अतएव अध्यात्म संस्था में ये तीनों मानसधर्म्म बन रहे हैं। इसी मानस यशःप्राण से अध्येता का मन यशस्वी बनता है।

जिसमें यश करण का जितना अधिक विकास होता है, वह अपने कर्म्म से लोक में उतना ही अधिक यशस्वी होता है। देखा जाता है कि, बड़े बड़े काम करने वाले भी यश सम्पत्ति से वञ्चित रह जाते हैं। कारण यही है कि, उनका आध्यात्मिक यशःप्राण मूर्च्छित है। अतएव इन्हें लोकसम्मति नहीं मिलती। परिणाम में कालान्तर में ये हतोत्साह बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में मानना पड़ेगा कि, यशोविकास भी स्वाध्यायकर्म में उपोद्बलक बन रहा है। इसी दृष्टि से ऋषि ने इसे भी अधिकारमर्य्यादा में अन्तर्भूत मान लिया है।

(११)—लोकपक्ति-

उक्त १० सों साधन तभी सर्वात्मना सफल हो सकते हैं, जब इसे लोकसहानुभूति सहयोग प्राप्त होता रहे। विद्याभ्यासी को समाजद्वारा सहयोग मिलना परम आवश्यक है। अन्यथा सांसारिक चिन्तायें इसे इस कर्म्म से च्युत कर देतीं हैं। "हम अमुक के लिए पच-मरने के लिए तय्यार हैं, इसमें हम अपना सौभाग्य समझते हैं" इसप्रकार की भावना ही लोकपक्ति है। तदनुगत अध्येता ही स्वाध्यायकर्म्म में सफल हो सकता है। भारतवर्ष का दुर्भाग्य है कि, आज वह लोकपक्ति—सम्पत् को सर्वथा भुला चुका है। यही कारण है कि, अन्य साधनों के रहते भी अध्येता अध्ययनकर्म्म में सफलता प्राप्त नहीं कर रहे।

शिष्य स्वाध्यायकर्म्म का अनुगामी है, गुरु प्रवचनकर्म्म का अनुगामी है। जो ११ गुण शिष्य के लिए अपेक्षित हैं, वे ही ११ गुण प्रवचनकर्त्ता गुरु के लिए अपेक्षित हैं। इन अधिकारमर्य्यादाओं का अनुगमन करने वाला शिष्यवर्ग, तथा आचार्य्यवर्ग, फलस्वरूप इन्हीं ग्यारह विभूतियों के सत्पात्र बन जाते हैं। उनका स्वाध्याय-प्रवचन स्वाभाविक कर्म्म बन जाता है। उनका मन स्थितप्रज्ञ बन जाता है। वे आत्मस्वातन्त्र्य के अनुगामी बन जाते हैं। वे अभीप्सित अर्थसाधन में समर्थ हो जाते हैं। उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती। वे पूर्ण स्वस्थ रहते हैं। उनका जीवन संयत बन जाता है। उनकी बुद्धि व्यवसायात्मिका बन जाती है। वे मनस्वी बन जाते हैं। लोक में उनका यश व्याप्त हो जाता है। एवं-'सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति' के अनुसार सब उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत रहते हैं। इसी अधिकार, एव तदनुगत फलस्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अधिकारमर्य्यादा— (उद्देश्यरूपा)		फलमर्य्यादा— (विधेयरूपा)
१—प्रिये स्वाध्यायप्रवचने स्याताम्	—	१—"प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवत"
२—युक्तमना भवेत्	—	२—"युक्तमना भवति"।
३—अपराधीनः (भवेत्)	—	३—"अपराधीनः (भवति)"।
४—अहरहरर्थान् साधयेत्	—	४—"अहरहरर्थान् साधयते"।
५—सुखं स्वप्यात्	—	५—"सुखं स्वपिति"।
६—परमचिकित्सक आत्मनो भवेत्	—	६—"परमचिकित्सक आत्मनो भवति"।
७—इन्द्रियसंयम (युक्तो भवेत्)	—	७—"इन्द्रियसंयम (युक्तो भवति)"।

८—एकाग्रमता (प्राप्नुयात्) — ८—"एकाग्रमता (प्राप्नोति)"।
९—प्रज्ञावृद्धि (कार्य्या) — ९—"प्रज्ञावृद्धि (र्भवति)"।
१०—यशो(ऽनुगतः स्यात्) — १०—"यशोऽ(नुगामी भवति)"।
११—लोकपक्ति (रन्विच्छेत्) — ११—"लोकपक्ति (युक्तो भवति)"।

"ये ह वै केच श्रमा इमे द्यावापृथिवीऽअन्तरेण, स्वाध्यायो हैव तेषा परमता, काष्ठा– य एवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते। तस्मात्–स्वाध्यायोऽध्येतव्य"
(शत० ११। का० ४ प्र०। १ ब्रा०)।

९—परिशिष्ट—अधिकारमर्य्यादा,—

(१) ब्रह्मविद्या का अधिकार किसे है?, इस प्रश्न की मीमांसा मुण्डकोपनिषत् में भी हुई है। वहाँ वेदशास्त्रसम्मत कर्म्मानुगमन, ब्रह्मनिष्ठानुगमन, आत्मयज्ञानुगमन, श्रद्धानुगमन, शिरोव्रतोऽनुगमन, इन पाँच साधनों को अधिकारसमर्पक बतलाया गया है। जो शास्त्रसिद्ध कर्म्म के अनुगामी बने रहते हैं, जिनकी कुल–परम्परा में शास्त्रीय कर्म्मों का आचरणात्मक समादर है, जो स्वयं भी क्रियात्मक धर्म्मानुष्ठान में प्रवृत्त हैं, वे ही इस औपनिषद ज्ञानलक्षण ब्रह्मविद्योपदेश के अधिकारी हैं। जो सर्वत्र अभेददर्शन करते हुए 'एकर्षि' नाम से प्रसिद्ध आत्मा का यजन करते रहते हैं, आत्मधर्म्म के उपासक बने रहते हैं, वे ही इसके अधिकारी हैं। जो इस विद्या के प्रति श्रद्धा रखते हैं, वे ही इसके अधिकारी है। सर्वोपरि जिन्होंने शिरोव्रत का अनुगमन कर लिया है, वे ही इसके अधिकारी हैं।

ज्ञानाग्नि, प्राणाग्नि, भूताग्नि, भेद से आध्यात्मिक संस्था में तीन अग्निसंस्थान माने गए हैं। शिरोगुहा ज्ञानाग्निसंस्थान है, उरोगुहा प्राणाग्निसंस्थान है, एवं उदरगुहा भूताग्निसंस्थान है। शिरोगुहा–स्थित प्रज्ञान–संयुक्त विज्ञान (बुद्धि) ही ज्ञानाग्नि है। जो अपने शुक्रात्मक सोम की इस ज्ञानाग्नि में आहुति देते रहते हैं, वे ऊर्ध्वरेता कहलाए हैं, जैसाकि पूर्व परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है। इस शिरोभागस्थित ज्ञानाग्नि में शुक्राहुति देने वालों का ही ज्ञानाग्नि प्रबुद्ध रहता है। ऐसे ज्ञाननिष्ठ ही 'शिरोव्रती' कहलाए हैं। इसप्रकार ज्ञानयज्ञानुगत शिरोव्रती ही प्रधानतः ज्ञानप्रधाना इस ब्रह्मविद्या के प्रधान अधिकारी माने जा सकते हैं। ज्ञान की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति ही इस अधिकारमर्य्यादा का प्रत्यक्ष निदर्शन है। जो आत्यन्तिकरूप से विषय–परायण हैं, उनका ज्ञानाग्नि मूर्च्छित रहता है। ऐसे ही लोकव्रती (लोकपरायण) 'अचीर्णव्रती' हैं। ऐसे व्यक्ति इस क्षेत्र में सर्वथा अनधिकृत हैं। निम्न लिखित मुण्डकश्रुति इसी अधिकार–मर्य्यादा का स्पष्टीकरण कर रही है—

"क्रियावन्त श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा, स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥
तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिरा पुरोवाच–नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" (मुण्डकोप० ३।२।१०,११,)।

(२)—सबसे प्रधान मर्य्यादा 'अनुसूया' भाव है। जो व्यक्ति शास्त्रीय वचनों पर श्रद्धा करता है, शास्त्रादेशों के प्रति अनुराग रखता है, जिसे यह विश्वास है कि, इसके अनुगमन से अवश्य ही मेरा

अभ्युदय-निःश्रेयस् है, ऐसा श्रद्धालु, विश्वासी व्यक्ति ही इस शास्त्र का अधिकारी बन सकता है। स्वयं वेद भगवान् का इस सम्बन्ध में यह आवेशपूर्ण आदेश है कि, तुम उसी के प्रति विद्योपदेश करो, जो शास्त्र के प्रति श्रद्धा रखता है, अनुभाव से अनुकूल तर्क से अपनी जिज्ञासा प्रकट करता है। ठीक इसके विपरीत यदि तुमनें अनधिकारी-अश्रद्धालु को उपदेश का क्षेत्र बना लिया, तो विश्वास करो-तुम्हारा अपना विद्यासंस्कार निर्बल हो जायगा। अनधिकारी का अश्रद्धा दोष तुम्हारे आत्मा पर भी आक्रमण कर बैठेगा। इसी अधिकारमर्य्यादा का समर्थन करते हुए श्रुति कहते हैं—

"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया, वीर्य्यवती तथा स्याम्" ॥

"(किसी समय) विद्या (विद्याभिमानिनी वाग्देवी) वेदवित् ब्राह्मण के समीप आई, और कहने लगी, हे ब्राह्मण! तुम मेरे स्वरूप की रक्षा करो। सुरक्षित होती हुई मैं तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध कर सकूँगी। परनिन्दक, कुटिल, असंयतेन्द्रिय, अश्रद्धालु, मायावी, लोकैषणासक्त, ऐसे अनधिकारियों के लिए मेरा कदापि प्रवचन न करो। इस नियम के परिपालन से मैं तुम्हारे लिए वीर्य्यवती बनी रहूँगी'।

अधिकारीवर्ग को भी यह ध्यान रखना चाहिए कि, जिस गुरु से वे विद्योपदेशग्रहण करते हैं, उसके प्रति, उसके वचनों के प्रति पूर्ण श्रद्धा बनाए रक्खे। तभी इसमें विद्याविकास सम्भव होगा। जो गुरु अपने उपदेशामृत से शिष्य की अविद्या दूर करता हुआ इसे अमृतसम्पत्ति प्रदान करता है, इसें 'द्विज' सम्पत् प्रदान करने वाला ऐसा गुरु मातृ-पितृ-स्थानीय है। उस से द्रोह करना अपने आप से द्रोह करना है। गुरु के प्रति अनन्यश्रद्धा ही अधिकार-मर्य्यादा का मूलाधार है। उपदेष्टा गुरु के प्रति जो भूल से भी द्रोह करने लगते हैं, न उन पर गुरुकृपा रहती, एवं न गुरूपदेश ही उनके लिए सफल बनता। उनका सम्पूर्ण श्रुत उपदेश सर्वथा व्यर्थ चला जाता है। इसलिए—

"य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ॥
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्च नाह ॥१॥
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्म्मणा वा ॥
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥"

साथ ही उपदेशक गुरु को भी विद्योपदेश से पहिले यह निर्णय कर लेना चाहिए कि, अमुक व्यक्ति इस योग्य है, अथवा नहीं?। धर्म्मशास्त्रोक्त यम-नियमानुगमन के द्वारा जिसका अन्तःकरण निर्म्मल है, आशु ग्रहणलक्षण मेधागुण से जो युक्त है, जो जिज्ञासाभाव से यथाविधि शिष्य बन रहा है, साथ ही जिसके प्रति यह विश्वास है कि, यह कभी द्रोह नहीं करेगा, उसी के प्रति विद्योपदेश करना चाहिए—

८—एकाग्रता (प्राप्नुयात्)	—	८—"एकाग्रता (प्राप्नोति)"।
९—प्रज्ञावृद्धिः (काम्या)	—	९—"प्रज्ञावृद्धि (र्भवति)"।
१ —यशो(ऽनुगतः स्यात्)	—	१०—"यशोऽ(नुगामी भवति)"।
११—लोकपक्ति (रन्विच्छेत्)	—	११—"लोकपक्ति (युक्तो भवति)"।

"ये ह वै केच श्रमा इमे द्यावापृथिवीऽअन्तरेण, स्वाध्यायो हैव तेषां परमता, काष्ठा– य एवं विद्वान्स्वाध्यायमधीते। तस्मात्–स्वाध्यायोऽध्येतव्य "

(शत० ११। कां ४ प्र०। १ ब्रा०)।

९–परिशिष्ट–अधिकारमर्य्यादा,–

(१) ब्रह्मविद्या का अधिकार किसे है?, इस प्रश्न की मीमांसा मुण्डकोपनिषत् में भी हुई है। वहाँ वेदशास्त्रसम्मत कर्म्मानुगमन, ब्रह्मनिष्ठानुगमन, आत्मयज्ञानुगमन, श्रद्धानुगमन, शिरोव्रतोऽनुगमन, इन पाँच साधनों को अधिकारसमर्पक बतलाया गया है। जो शास्त्रसिद्ध कर्म्म के अनुगामी बने रहते हैं, जिनकी कुल-परम्परा में शास्त्रीय कर्म्मों का आचरणात्मक समादर है, जो स्वयं भी क्रियात्मक धर्म्मानुष्ठान में प्रवृत्त हैं, वे ही इस औपनिषद ज्ञानलक्षण ब्रह्मविद्योपदेश के अधिकारी हैं। जो सर्वत्र अभेददर्शन करते हुए 'एकर्षि' नाम से प्रसिद्ध आत्मा का यजन करते रहते हैं, आत्मधर्म्म के उपासक बने रहते हैं, वे ही इसके अधिकारी हैं। जो इस विद्या के प्रति श्रद्धा रखते हैं, वे ही इसके अधिकारी हैं। सर्वोपरि जिन्होंने शिरोव्रत का अनुगमन कर लिया है, वे ही इसके अधिकारी हैं।

ज्ञानाग्नि, प्राणाग्नि, भूताग्नि, भेद से आध्यात्मिक संस्था में तीन अग्निसंस्थान माने गए हैं। शिरोगुहा ज्ञानाग्निसंस्थान है उरोगुहा प्राणाग्निसंस्थान है, एवं उदरगुहा भूताग्निसंस्थान है। शिरोगुहा-स्थित प्रज्ञान-संयुक्त विज्ञान (बुद्धि) ही ज्ञानाग्नि है। जो अपने शुक्रात्मक सोम की इस ज्ञानाग्नि में आहुति देते रहते हैं, वे ऊर्ध्वरेता कहलाए हैं जैसाकि पूर्व परिच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है। इस शिरोभागस्थित ज्ञानाग्नि में शुक्राहुति देने वालों का ही ज्ञानाग्नि प्रबुद्ध रहता है। ऐसे ज्ञाननिष्ठ ही 'शिरोव्रती' कहलाए हैं। इसप्रकार ज्ञानयज्ञानुगत शिरोव्रती ही प्रधानतः ज्ञानप्रधाना इस ब्रह्मविद्या के प्रधान अधिकारी माने जा सकते हैं। ज्ञान की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति ही इस अधिकारमर्य्यादा का प्रत्यक्ष निदर्शन है। जो आत्यन्तिकरूप से विषय-परायण हैं, उनका ज्ञानाग्नि मूर्च्छित रहता है। ऐसे ही लोकव्रती (लोकपरायण) 'अचीर्णव्रती' हैं। ऐसे व्यक्ति इस क्षेत्र में सर्वथा अनधिकृत हैं। निम्न लिखित मुण्डकश्रुति इसी अधिकार-मर्य्यादा का स्पष्टीकरण कर रही है—

"क्रियावन्त श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा, स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्त ।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥
तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिरा पुरोवाच–नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" (मुण्डकोप० ३।२।१ ,११,)।

(२)—सबसे प्रधान मर्य्यादा 'अनुसूया भाव है। जो व्यक्ति शास्त्रीय वचनों पर श्रद्धा करता है, शास्त्रादेशों के प्रति अनुराग रखता है, जिसे यह विश्वास है कि, इसके अनुगमन से अवश्य ही मेरा

"उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात्—यो वाऽलं विज्ञातुं स्यात्,
मेधाविने-तपस्विने वा" (या०नि०२।३।६)।

अधिकारप्रश्न को लेकर आज अनेक प्रकार के ऊहापोह उपस्थित किए जारहे हैं। परिस्थिति वस्तुतः यह है कि, किसी को तत्त्वपरिज्ञान की जिज्ञासा नहीं है। जिज्ञासा के अतिरिक्त आज कई एक आगन्तुक दोषों से हमारा सत्त्वभाग सर्वथा मलिन हो चुका है। फलतः स्वाभाविक अधिकारमर्य्यादा एकान्ततः अभिभूत है। अधिकार माँगने से नहीं मिलता, अपितु वह अपनी योग्यता पर अवलम्बित है। जबतक विद्याग्रहणयोग्यतानुरूपा अधिकार-मर्य्यादा उद्बुद्ध नहीं हो जाती, तब तक 'हम अधिकारी हैं, हम अधिकारी हैं' इस निरर्थक उद्घोष से कोई लाभ नहीं हो सकता। ज्ञानलवदुर्विदग्ध वर्त्तमानयुग के मानव अधिकारी कभी सफल नहीं हो सकते। हम स्वयं विद्वान् बन कर, पहिले से अपना मन्तव्य स्थिर बना कर आगे बढ़ते हैं। ऐसी दशा में तत्त्वज्ञान न हो तो, कोई आश्चर्य्य नहीं है। 'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' इस औपनिषद आदेश के अनुसार हमें बच्चे बन कर ज्ञानक्षेत्र में प्रवृत्त होना चाहिए। शास्त्रप्रदिष्ट उन उपायों का अनुगमन करना चाहिए, जो आत्मगत दोषों को हटा कर उसे विद्यासंस्कारग्रहण के योग्य बनाते हैं। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' को लक्ष्य बनाकर तत्त्वदर्शी गुरु के प्रति आत्मसमर्पण किए बिना केवल अनुवाद-भाष्यादि के बल पर, किंवा धर्म्म, तन्मूला आस्था श्रद्धा, तदुपयुक्त शास्त्रीय विधि–विधान से सर्वथा असंस्पृष्ट रूक्ष विशुद्ध बुद्धिवाद के बल पर तत्त्वज्ञानप्राप्ति नितान्त असम्भव है, जैसाकि-निम्नलिखित छान्दोग्यवचन से प्रमाणित है–

"तमाचार्य्योऽभ्युवाद–सत्यकाम ! इति, भगव ! इति प्रतिशुश्राव ।
ब्रह्मविदेव वै सोम्य ! भासि, को नु त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्ये-
भ्य इति प्रतिजज्ञे। भगवाँस्त्वेव मे कामे ब्रूयात्। श्रुतं ह्येव
मगवद्दृशेभ्य –'आचार्य्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति,
इति तस्मै हैतदेवोवाच। अत्र ह न किञ्चन वीयाय–इति"
(छा०उ ४।९।१,२,३,)।

हमारी अधिकारमर्य्यादा, तथा शास्त्रीय अधिकारमर्य्यादा, दोनों के समतुलन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, हम वेदशास्त्र के लिए सर्वथा अनधिकारी हैं। विद्याविकास के लिए जो चिरकालिक धैर्य्य अपेक्षित है वह सर्वथा विलीन है। आज हम चाहते यह हैं कि, अहोरात्र अन्यान्य सांसारिक-अर्थ-प्रधानक्षेत्रों की उपासना करते रहें अपनी काल्पनिक लोकैषणाओं के द्वारा कल्पित व्यक्तित्व के विमोहन में व्यासक्त होकर आत्म–ब्रह्म–विद्या–वेद–धर्म्म–विरोधी भी लोकमानसों का समालिङ्गन करते हुए कल्पित मानवता का अभिनय करते रहें, और साथ ही हमारी विद्याक्षेत्र में भी पूर्ण प्रगति होती रहे। सर्वथा असम्भव। ऐसे अनधिकारियों के अनुग्रह से ही तो वेदशास्त्र आज अन्त्यमुख बने हुए हैं। प्रश्न के अव्यवहितोत्तरकाल में ही इच्छा यह प्रकट की जाती है कि, अभी इसका तत्त्वज्ञान करा दिया जाय। यदि प्रश्नकर्त्ता से यह कह दिया जाता है कि, अभी आप इसका उत्तर हृदयङ्गम नहीं कर सकेंगे, तो प्रश्नकर्त्ता तत्काल यह निर्णय कर डालता है

"यमेव विद्या शुचिमप्रत्त मेधाविनं ब्रह्मचर्य्योपपन्नम् ।
यस्तेन द्रुह्येत् कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूयान्निधिपाय ब्रह्मन्" ॥*॥

(३)—वेदव्याख्याता यास्काचार्य्य ने भी इस अधिकारमर्य्यादा का संक्षेप से स्पष्टीकरण किया है। निरुक्त का प्रधान लक्ष्य निर्वचन है, निर्वचन ही शब्दों के तत्त्वार्थ का बोधक माना गया है। अतएव निरुक्ति से पहिले शब्द-ज्ञान आवश्यक है। उपदेश का आधार शब्दशास्त्र है। अतएव शब्दज्ञानसाधक व्याकरण का विशेष बोध नहीं, तो सामान्यबोध अवश्यमेव अपेक्षित है। वदशास्त्राधिकार-प्राप्ति के लिए व्याकरणज्ञान नितान्त अपेक्षित है। व्याकरणशून्य के लिए वेदशास्त्र एक असमाधेय प्रश्न है। चाहे व्याकरणशास्त्र का पारगामी विद्वान् ही क्यों न हो, यदि उसमें प्रपन्नता नहीं है, शिष्यानुगता जिज्ञासा नहीं है, तो ऐसे अनुपसन्न वैय्याकरण को भी वेदशास्त्र का अनधिकारी ही माना जायगा। प्रत्येक दशा में शिष्य बनना अनिवार्य्य है। यदि कोई शुष्कवैय्याकरण है, जिसे कि, 'वैय्याकरणसखुचि' कहा गया है, तो वह भी 'अनिदंवित्' बनता हुआ अनधिकारी ही माना जायगा। वेदशास्त्र सर्वज्ञाननिधि है। इसमें प्रवेशाधिकार पाने के लिए केवल व्याकरणज्ञान ही पर्य्याप्त नहीं है। दर्शनादि अन्य शास्त्रज्ञान के बिना विशुद्ध वैय्याकरण अनिदंवित् बनता हुआ अनधिकारी है। अवश्य ही इस अधिकारप्राप्ति के लिए अन्य शास्त्रों का सामान्य बोध भी परम आवश्यक है। इसके अतिरिक्त स्वाभाविक प्रतिभा भी अपेक्षित है। प्रज्ञानुगामिनी प्रतिभा ही वेदशास्त्र के तात्त्विक बोध में समर्थ है। बिना प्रतिभा के वेद के निगूढ़ विषय समझ में नहीं आते। और उस दशा में प्रतिभाशून्य अधिकारी अपने अज्ञान का दोष उपदेष्टा के प्रति समर्पित करने लगता है। परिणाम में विद्याप्रतिबन्धक असूया-दोष उत्पन्न हो जाता है। इसप्रकार निरुक्तमतानुसार व्याकरणज्ञानयुक्त, अन्यशास्त्रबोधयुक्त प्रतिभासम्पन्न, शिष्यबुद्धियुक्त व्यक्ति ही वेदशास्त्राध्ययन का अधिकार प्राप्त कर सकता है। निम्न लिखिता सूत्रचतुष्टयी इसी अधिकारमर्य्यादा का स्पष्टीकरण कर रही है—

"१—नावैय्याकरणाय, २—नानुपसन्नाय, ३—अनिदंविदे वा,
४—नित्य ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया" (या०नि०२।३।५,६,७,८,)।

---

* विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम् ॥
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्य्यवत्तमा ॥१॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ॥
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥२॥

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ॥
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥३॥
—मनु २।११४,११५,११६,।

"उपसन्नाय तु निब्रूयात्–यो याऽलं विज्ञातुं स्यात्,
मेधाविने–तपस्विने वा" (या०नि०२।३।६)।

अधिकारप्रश्न को लेकर आज अनेक प्रकार के ऊहापोह उपस्थित किए जारहे हैं। परिस्थिति वस्तुतः यह है कि, किसी को तत्वपरिज्ञान की जिज्ञासा नहीं है। जिज्ञासा के अतिरिक्त आज कई एक आगन्तुक दोषों ने हमारा सत्त्वभाग सर्वथा मलिन हो चुका है। फलतः स्वाभाविक अधिकारमर्य्यादा एकान्ततः अभिभूत है। अधिकार माँगने से नहीं मिलता, अपितु वह अपनी योग्यता पर अवलम्बित है। जबतक विद्याग्रहणयोग्यतानुरूपा अधिकार-मर्य्यादा उद्बुद्ध नहीं हो जाती, तब तक 'हम अधिकारी हैं, हम अधिकारी हैं' इस निरर्थक उद्घोष से कोई लाभ नहीं हो सकता। ज्ञानलवदुर्विदग्ध वर्त्तमानयुग के मादृश अधिकारी कभी सफल नहीं हो सकते। हम स्वयं विद्वान् बन कर, पहिले से अपना मन्तव्य स्थिर बना कर आगे बढते हैं। ऐसी दशा में तत्वज्ञान न हो तो, कोई आश्चर्य्य नहीं है। 'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' इस औपनिषद आदेश के अनुसार हमें बच्चे बन कर ज्ञानक्षेत्र में प्रवृत्त होना चाहिए। शास्त्रप्रदिष्ट उन उपायों का अनुगमन करना चाहिए, जो आत्मगत दोषों को हटा कर उसे विद्यासंस्कारग्रहण के योग्य बनाते हैं। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' को लक्ष्य बनाकर तत्त्वदर्शी गुरु के प्रति आत्मसमर्पण किए बिना केवल अनुवाद-भाष्यादि के बल पर, किंवा धर्म्म, तन्मूला आस्था श्रद्धा, तद्युक्त शास्त्रीय विधि–विधान से सर्वथा असंस्पृष्ट रूक्ष विशुद्ध बुद्धिवाद के बल पर तत्वज्ञानप्राप्ति नितान्त असम्भव है, जैसाकि-निम्नलिखित छान्दोग्यवचन से प्रमाणित है-

"तमाचार्य्योऽभ्युवाद–सत्यकाम ! इति, भगव ! इति प्रतिशुश्राव।
ब्रह्मविदेव वै सोम्य ! भासि, को नु त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्ये-
भ्य इति प्रतिजज्ञे। भगवाँस्त्वेव मे कामे ब्रूयात्। श्रुत ह्येव
भगवद्दृशेभ्य'–'आचार्य्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति,
इति तस्मै हैतदेवोवाच। अत्र ह न किञ्चन वीयाय–इति"
(छा०उ ४।६।१,२ ३,)।

हमारी अधिकारमर्य्यादा, तथा शास्त्रीय अधिकारमर्य्यादा, दोनों के समतुलन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, हम वेदशास्त्र के लिए सर्वथा अनधिकारी हैं। विद्याविकास के लिए जो चिरकालिक धैर्य्य अपेक्षित है वह सर्वथा विलीन है। आज हम चाहते यह हैं कि, अहोरात्र अन्यान्य सांसारिक-श्रमप्रधानक्षेत्रों की उपासना करते रहें अपनी काल्पनिक लोकैषणाओं के द्वारा कल्पित व्यक्तित्त्व के विमोहन में ग्रासक्त होकर ग्राम–मत–धिया–वेद–धर्म्म–विरोधी भी लोकमानवों का समालिङ्गन करते हुए कल्पित मानवता का अभिनय करते रहें, और साथ ही हमारी विद्याक्षेत्र में भी पूर्ण प्रगति होती रहे। सर्वथा असम्भव। ऐसे अनधिकारियों के अनुग्रह से ही तो वेदशास्त्र आज अन्तर्मुख बने हुए हैं। प्रश्न के अव्यवहितोत्तरकाल में ही इच्छा यह प्रकट की जाती है कि, अभी इसका तत्वज्ञान करा दिया जाय। यदि प्रश्नकर्त्ता से यह कह दिया जाता है कि, अभी आप इसका उत्तर हृदयङ्गम नहीं कर सकेंगे, तो प्रश्नकर्ता तत्काल यह निर्णय कर डालता है

कि, इनमें कुछ नहीं आता। उधर औपनिषद ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली अधिकारमर्य्यादाओं के इतिवृत्त की ओर जब हमारा ध्यान जाता है, तो वर्त्तमानयुग की प्रवृत्ति पर स्तब्ध हो जाना पड़ता है।

सुकेशा भारद्वाजादि विद्वान् पिप्पलाद के सम्मुख जिज्ञासा ले कर उपस्थित होते हैं, उत्तर मिलता है— एकवर्ष पर्य्यन्त योग्यता सम्पादक नियमों का अनुगमन कीजिए। अनन्तर प्रश्न का समाधान किया जायगा। सत्यकाम को आदेश मिलता है ४०० गाएँ ले जाओ, जब ये १ ० बन जायँ, तब वापस लौटना, अनन्तर उपदेश के अधिकारी बनोगे। इन्द्र–विरोचन प्रजापति की सेवामें आत्मस्वरूप की जिज्ञासा ले कर उपस्थित होते हैं। उत्तर मिलता है–"एवमेवैष मघवन्निति होवाच। एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि। वसाऽपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि। स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास। तस्मै होवाच"(छां उ ८।१।१)। ये ही कुछ एक ऐसी जटिल समस्याएँ हैं, जिन्हें लक्ष्य में रखते हुए वर्त्तमान युग के ज्येष्ठ–श्रेष्ठ–सर्वज्ञ–बुद्धि-वादी अधिकारियों के सम्मुख अधिकारमर्य्यादा का स्वरूप रखते हुए हम हृत्कम्प का अनुभव कर रहे हैं।

९—स्वाध्यायव्रतमीमांसा—

"आदर्शवाद जिस युग में यथार्थवाद था, उस युग के लिए प्रतिपादित उक्त अधिकारमर्य्यादाओं के अनुगमन के बिना किसी भी युग में वेदशास्त्र का पूर्णरूप से तत्त्वबोध सम्भव नहीं है" इस सिद्धान्त को सुरक्षित रखते हुए भी हम उस युग से सम्बन्ध रखने वाले यथार्थवाद, किंवा परिस्थितिवाद की ओर से भी सर्वथा आँखमिचौली नहीं खेल सकते, जिस युग में कई एक कारणविशेषों से यथार्थवाद का आदर्शवाद से अनेक अंशों में पार्थक्य हो गया है। वर्त्तमान युग की विषम परिस्थितियों में प्रतिपादित अधिकारमर्य्यादा प्राप्त कर ली जाय, फलस्वरूप वेदशास्त्र का तत्त्वज्ञान उपलब्ध हो जाय, यह केवल काल्पनिक जगत् के काल्पनिक विचार हैं। यत्र कुत्रचित् परिगणित अपवाद स्थलों को छोड़ कर आज परिस्थितियों के आक्रमण से यह अधिकारमर्य्यादा हमारे लिए प्रणम्य बन रही है। ऐसी दशा में क्या यह किया जाय कि, वेदशास्त्र को बस्ते में बन्द कर पूजागृह में प्रतिष्ठित कर दिया जाय ?, नेति होवाच !

> न हि कल्याणकृत् कश्चिद् गतिं तात ! गच्छति ।
> स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

सिद्धान्त के आधार पर हम प्रतिपादित अधिकारमर्य्यादाओं में से वर्त्तमान की कुछ एक मर्य्यादाओं का वर्त्तमान परिस्थिति में भी अनुगमन कर सकते हैं, एवं इन्हीं अंशात्मिका अधिकारमर्य्यादाओं के आधार पर हम अंशतः अपने स्वाध्यायकर्म्म में सफलता भी प्राप्त कर सकते हैं। अधिकारमर्य्यादा के सम्बन्ध में जो नियमोपनियम बतलाए गए हैं, उन सबका एकमात्र लक्ष्य यही है कि हमारा मन दोषों से विमुक्त होता हुआ विद्यासंस्कार–ग्रहण–योग्य बन जाय, हमारा ज्ञानाग्नि विकसित हो जाय। परमकारुणिक महर्षियों ने कुछ एक ऐसे उपाय भी बतला दिए हैं, जिनके अनुगमन से कालान्तर में लक्ष्यसिद्धि हो जाती है एवं हम अधिकारी की कोटि में आ जाते हैं। हमें हमारी चर्य्याओं में कुछ एक ऐसे अतिशयों का समावेश कर डालना चाहिए, जिनसे अध्यात्मसंस्था का उत्तरोत्तर विकास निश्चित है। उन अतिशयाधायक नियम विशेषों को ही 'स्वाध्यायव्रत' कहा गया है।

यद्यपि निर्दिष्ट स्वाध्यायव्रत स्वाध्याय–कर्म्म में प्रवृत्त होने के अनन्तर स्वाध्यायकर्म्म की रक्षा के लिए उपयुक्त माने गए हैं। तथापि इन्हें अधिकारसमर्पक भी माना जा सकता है। अवश्य ही इनके

पूर्णानुगमन से, एवं सततानुगमन से स्वाध्याय की ओर हमारी प्रवृत्ति भी होने लगती है, एवं यह प्रवृत्ति सुरक्षित भी रह सकती है। जो इस अनन्त तप कर्म्मलक्षण स्वाध्याय में प्रवृत्त होना चाहते हैं, जिन्हें ब्रह्मविद्या-सेतु पर पहुँचने की आकांक्षा है, उन्हें निम्न लिखित (कतिपय) स्वाध्यायव्रतों का अनुगमन करना चाहिए—

स्वाध्यायव्रतनिदर्शनानि—

१—सूर्योदय से पहिले उत्थापन
२—ईशसस्मरणपूर्वक नित्यकर्म्मानुगमन
३—देव-द्विज-गुरु-ज्येष्ठ-वृद्धों का उपसेवन
४—अहरहः स्वाध्यायकर्म्मानुगमन
५—यथाशक्य सत्यभाषणानुगमन
६—सत्त्वगुणोपेतआहारविहारोपसेवन
७—कुसङ्ग का एकान्ततः विसर्जन
८—जनकलकलसंसर्ग का विसर्जन
९—गोवंशपूजन
१०—उद्दण्डतापरिवर्ज्जन
११—हित-मित-प्रियभाषणानुगमन
१२—असत्प्रियाख्यानवर्जन
१३—वृथाचेष्टाविसर्जन
१४—कुतूहलप्रवृत्तिवर्जन
१५—स्वस्त्ययनकर्म्मानुगमन *

"तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्" (मनु ४।१४।)

एक अनुभूत प्रयोग है—'स्वाध्यायकर्म्म का नैरन्तर्य्य'। हमें यह नियम बना लेना चाहिए कि, हम प्रतिदिन कुछ न कुछ अवश्य पढ़ेंगे। भोजनकर्म्मवत् इस कर्म्म को अनिवार्य्य बना लेना चाहिए। अवश्य ही थोड़े दिनों मानसजगत् अपने ऊपर अनुचित भार का अनुभव करेगा। परन्तु थोड़ी सावधानी से, बुद्धिपूर्वक बलप्रयोग से यदि हमनें इस अभ्यास को सुरक्षित रक्खा, तो अवश्यमेव स्वाध्यायानुष्ठान में सफलता मिलेगी। शास्त्राभ्यास ज्यों ज्यों वृद्धिगत होगा, त्यों त्यों बुद्धिगत विज्ञान विकसित होगा। स्वयं भगवान् मनु ने इस शास्त्राभ्यासनैरन्तर्य्य को सफलता का मूलसूत्र माना है—

१—बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्य शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥
२—यथा यथा हि पुरुष शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥ (मनु ४।१९,२०)।

इसी सम्बन्ध में एक बात और। स्वाध्यायकर्म के सम्बन्ध में कल्पसूत्र, स्मृत्यादि में अष्टमी, प्रतिपत् आदि जो अनध्यायकाल बतलाए गए हैं, उनके प्रति अपनी श्रद्धा को अणुमात्र भी कम न करते हुए इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण करने का साहस किया जायगा कि, जिस युग में वेदस्वाध्याय एकान्ततः विलुप्त हो चुका हो, वैदिक साहित्य स्मृतिगर्भ में विलीन हो रहा हो, आज के उस आपद्युग में हमें-'अनध्याय-

* जिन कर्म्मों के अनुगमन से आत्मा के अस्वस्तिभाव की निवृत्ति, तथा स्वस्तिभाव की प्रवृत्ति होती है, उन शान्ति-समृद्धि-तुष्टि-पुष्टि-प्रवर्त्तक कर्म्मों को ही 'स्वस्त्ययनकर्म्म' कहा गया है। इनका वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत कर्म्मयोगपरीक्षा-द्वितीयखण्डात्मक 'ग' विभाग के 'हमारे स्वस्त्ययनकर्म्म' नामक अवान्तर प्रकरण में देखना चाहिए।

कि, इन्हें कुछ नहीं भाता। उधर औपनिषद ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली अधिकारमर्य्यादाओं के इतिहास की ओर जब हमारा ध्यान जाता है, तो वर्त्तमानयुग की प्रवृत्ति पर स्तब्ध हो जाना पड़ता है।

सुकेशा भारद्वाजादि विद्वान् पिप्पलाद के सम्मुख जिज्ञासा ले कर उपस्थित होते हैं, उत्तर मिलता है–एकवर्ष पर्य्यन्त योग्यता सम्पादक नियमों का अनुगमन कीजिए। अनन्तर प्रश्न का समाधान किया जायगा। सत्यकाम को आदेश मिलता है ४०० गाएँ ले जाओ, जब ये १ ०० बन जायँ, तब वापस लौटना, अनन्तर उपदेश के अधिकारी बनोगे। इन्द्र–विरोचन प्रजापति की सेवामें आत्मस्वरूप की जिज्ञासा ले कर उपस्थित होते हैं। उत्तर मिलता है–"एवमेवैष मघवन्निति होवाच। एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि। वसाऽपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणि। स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास। तस्मै होवाच"(छां उ ८।९।३)। ये ही कुछ एक ऐसी कठिन समस्याएँ हैं, जिन्हें लक्ष्य में रखते हुए वर्त्तमान युग के ज्येष्ठ–श्रेष्ठ–सर्वज्ञ–बुद्धिवादी अधिकारियों के सम्मुख अधिकारमर्य्यादा का स्वरूप रखते हुए हम हृत्कम्प का अनुभव कर रहे हैं।

९–स्वाध्यायव्रतमीमांसा—

"आदर्शवाद जिस युग में यथार्थवाद था, उस युग के लिए प्रतिपादित उक्त अधिकारमर्य्यादाओं के अनुगमन के बिना किसी भी युग में वेदशास्त्र का पूर्णरूप से तत्त्वबोध सम्भव नहीं है" इस सिद्धान्त को सुरक्षित रखते हुए भी हम उस युग से सम्बन्ध रखने वाले यथार्थवाद, किंवा परिस्थितिवाद की ओर से भी सर्वथा आँखमिचौली नहीं खेल सकते, जिस युग में कई एक कारणविशेषों से यथार्थवाद का आदर्शवाद से अनेक अंशों में पार्थक्य हो गया है। वर्त्तमान युग की विषम परिस्थितियों में प्रतिपादित अधिकारमर्य्यादा प्राप्त कर ली जाय, फलस्वरूप वेदशास्त्र का तत्त्वज्ञान उपलब्ध हो जाय, यह केवल कल्पनिक जगत् के काल्पनिक विचार हैं। यत्र कुत्रचित् परिगणित अपवाद स्थलों को छोड़ कर आज परिस्थितियों के आक्रमण से यह अधिकारमर्य्यादा हमारे लिए प्रणम्य बन रही है। ऐसी दशा में क्या यह किया जाय कि, वेदशास्त्र को वस्ते में बन्द कर पूजागृह में प्रतिष्ठित कर दिया जाय !, नेति होवाच !

> न हि कल्याणकृत् कश्चिद् गतिं तात ! गच्छति ।
> स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

सिद्धान्त के आधार पर हम प्रतिपादित अधिकारमर्य्यादाओं में से वर्त्तमान की कुछ एक मर्य्यादाओं का वर्त्त मान परिस्थिति में भी अनुगमन कर सकते हैं, एवं इन्हीं अंशात्मिका अधिकारमर्य्यादाओं के आधार पर हम अंशतः अपने स्वाध्यायकर्म्म में सफलता भी प्राप्त कर सकते हैं। अधिकारमर्य्यादा के सम्बन्ध में जो नियमोपनियम बतलाए गए हैं, उन सबका एकमात्र लक्ष्य यही है कि हमारा मन दोषों से वियुक्त होता हुआ विचारसंस्कार–ग्रहण–योग्य बन जाय, हमारा ज्ञानाग्नि विकसित हो जाय। परमकारुणिक महर्षियों ने कुछ एक ऐसे उपाय भी बतला दिए हैं, जिनके अनुगमन से कालान्तर में लक्ष्यसिद्धि हो जाती है एवं हम अधिकारी की कोटि में आ जाते हैं। हमें हमारी चर्य्याओं में कुछ एक ऐसे अतिशयों का समावेश कर डालना चाहिए, जिनसे अध्यात्मसंस्था का उत्तरोत्तर विकास निश्चित है। उन अतिशयाधायक नियम विशेषों को ही 'स्वाध्यायव्रत' कहा गया है।

यद्यपि निर्दिष्ट स्वाध्यायव्रत स्वाध्याय–कर्म्म में प्रवृत्त होने के अनन्तर स्वाध्यायकर्म्म की रक्षा के लिए उपयुक्त माने गए हैं। तथापि इन्हें अभिप्रायसमर्पक भी माना जा सकता है। अवश्य ही इनके

४—"यन्ति वाऽआप, एति आदित्य, एति चन्द्रमा., यन्ति नक्षत्राणि। यथा ह वा ऽएता देवता नेयु, न कुर्यु, एवं हैव तदहर्ब्राह्मणो भवति, यदह स्वाध्याय नाधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य"। (शत० ११।५।७।१०।)।

—❀——
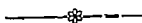
प्रकरणोपसहार—

'औपनिषद ज्ञान का अधिकारी कौन है'? इस प्रश्न के सम्बन्ध में अब तक जिन अलौकिक, लौकिक अधिकारों का दिग्दर्शन कराया गया है, उन सबका वस्तुत आत्मनिष्ठा से ही सम्बन्ध माना जायगा। जैसाकि कहा जा चुका है, अधिकार न तो प्राप्त करने की ही वस्तु है, न माँगने से ही अधिकार मिलता है। हृदयाकाशस्थ दभ्राकाश (दहराकाश) में उक्थरूप से प्रतिष्ठित चिज्ज्योतिर्घन ब्रह्म ही औपनिषद पुरुष है। यही वस्तुतः औपनिषद ज्ञान है, जिसके सम्पर्कमात्र से अशेष भेद प्रत्यस्त हैं, जो विशुद्ध सत्ताघन है, अतएव वाङ्मनस पथातीत बनता हुआ अगोचर है —। औपाधिक भेदनिवृत्ति हो जाने पर यह स्वतः प्रकट है। 'तत् स्वयं योगसंसिद्ध कालेनात्मनि विन्दति' के अनुसार शास्त्रसिद्ध सोपाधिक कर्म्मानुगमन से जब बुद्धियोगसम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, तो बिना किसी प्रयास के नाप्राप्त (नित्यप्राप्त) इस औपनिषद ज्ञान का अधिकार प्रकट हो जाता है। प्रतिपादित तप, मेधा, प्रवचन, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य्य, श्रवण, मनन, आदि अधिकार बुद्धियोग से सम्बन्ध रखते हैं, न कि औपनिषदज्ञान से। निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुति को सम्मुख रखते हुए प्रकरण विश्राम ग्रहण कर रहा है—

"नायमात्मा प्रवचेन लभ्य', न मेधया, न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम्॥"
(कठोपनिषत् १।२।२२)।

'औपनिषद–ज्ञानाधिकारिस्वरूपदिग्दर्शन' नामक
चतुर्थ स्तम्भ उपरत
४

—❀—

[पृष्ठ ३६२ की टिप्पणी का शेषांश]

आ हैव स नखाग्रेभ्य' परम तप्यते तप॥
य स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्याय शक्तितोऽन्वहम्॥२॥
—(मनु २ अ०।१६६–६७ श्लो०)।

—प्रत्यस्ताशेषभेद यत्, सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसवेद्य तज्ज्ञानं ब्रह्मसञ्ज्ञितम्॥

प्रिया हि छात्रा, विशेषतो गुरव" इस सुन्दर सूक्ति की एकान्तत उपेक्षा कर देनी चाहिए। यह हमारा सौभाग्य है कि, स्वयं श्रुति ने अनध्यायमर्य्यादा को दत्तकपुत्र-मर्य्यादावत् अपवादकोटि में ही सुरक्षित रक्खा है। सृष्टिकालोपलक्षित वेदस्रष्टा भगवान् ब्रह्मा के पुण्याह में कोई तिथि, कोई समय वर्ज्य नहीं है। सोते, खाते, पीते, उठते, बैठते, सब अवस्थाओं में सर्वत्र सदा हमारे आध्यात्मिक जगत् में स्वाध्यायकर्म्म का धारावाहिक स्रोत प्रवाहित रहना ही चाहिए। शाश्वतब्रह्म के शाश्वतयश (ब्रह्मयज्ञ) लक्षण स्वाध्यायकर्म्म का कभी अनध्याय नहीं है।

क्या कभी पानी अपना बहाव बन्द करते हैं?, क्या आदित्य अपनी दैनंदिनगति से कभी विश्राम लेते हैं?, क्या चन्द्रमा को कभी किसी ने अनध्याय करते देखा है?, क्या नक्षत्र कभी छुट्टी लेकर स्वक्षेत्र से पलायित होते हैं?। यदि दुर्भाग्य से ये प्राकृतिक देवता अनध्याय करने लगें, तो सृष्टिमर्य्यादा की कैसी दुर्दशा हो, कल्पना कीजिए। ब्राह्मण भी भूदेव हैं, प्राकृतिक देवताओं के अनुसार इन्हें भी सदा स्वाध्याय-यज्ञलक्षण सत्र में प्रतिष्ठित रहना चाहिए। मृत्यु, जरा, रोग, ये तीन प्रतिबन्धक ही इन्हें इस सत्र से विमुख बना सकते हैं। आत्मा 'स्व' लक्षण है। तदनुगत अध्ययन ही 'स्वाध्याय' है। शाश्वतधर्म्म स्व (आत्मा) का अध्ययनलक्षण स्वाध्यायकर्म्म भी इसी शाश्वतधर्म्म से युक्त है। यही स्वाध्यायकर्म्म की अनवच्छिन्नता का मूलरहस्य है, जिसका—"अभिव्याहरेत्-ब्रह्मस्याव्यवच्छेदाय" (शत० ११।४।१।१) से समर्थन हो रहा है। देखिए—स्वयं वेदभगवान् अपनी ओर से क्या आदेश दे रहे हैं—

१—"अथ ब्रह्मयज्ञ । स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञ । तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहू, मन उपभृत्, चक्षुर्ध्रुवा, मेधा स्रुव, सत्यमवभृथ, स्वर्गो लोक उदयनम्। यावन्तं ह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददँल्लोकं जयति, त्रिस्तावन्तं जयति, भूयांसं चाक्षय्यं, य एवं विद्वानहरह स्वाध्यायमधीते। तस्मात् स्वाध्यायो ऽध्येतव्य" (शत० ११।५।६।३)।

२—"तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य चत्वारो वषट्कारा —यद्वातो वाति, यद्विद्योतते विद्युत्, यत्स्तनयति, यदवस्फूर्जति। तस्मादेवंवित् वाते वाति, विद्योतमाने स्तनयति, अवस्फूर्जति—'अधीयीतैव' ×××। स चेदपि प्रबलमिव न शक्नुयात्, अप्येकं देवपदं—अधीयीतैव। तथा भूतेभ्यो न हीयते" (शत० ११।५।६।८।)।

३—"यदि ह वा अप्यभ्यक्त, अलङ्कृत, सुहित, सुखे शयने शयान, स्वाध्यायमधीते—आ हैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते, य एवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य।" (शत० ११।५।७।४।) *।

*—वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तम ॥
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तप परमिहोच्यते ॥१॥

[शेष पृष्ठ २६३ पर]

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत-

'ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-सम्बन्धस्वरूपदिग्दर्शन' नामक

पञ्चम-स्तम्भ

५

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

'औपनिषद-ज्ञानाधिकारिस्वरूपदिग्दर्शन' नामक

चतुर्थ-स्तम्भ-उपरत

४

—×—

श्रीः

ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-सम्बन्धस्वरूपदिग्दर्शन

पञ्चम स्तम्भ

——❀——

१-उपनिषत्, और उपनिषच्छास्त्र—

प्रकृत प्रकरण के यथावत् समन्वय के लिए हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि इस प्रकरण के अवलोकन से पहिले वे एकबार भूमिका-प्रथमखण्डान्तर्गत-'उपनिषत् शब्द का क्या अर्थ है?' नामक प्रकरण पर एक दृष्टि डाल लें। प्रकृत प्रकरण में जो कुछ वक्तव्य है, उसका रूपान्तर से वहां दिग्दर्शन कराया जा चुका है। प्रकरणसङ्गति के लिए सिंहावलोकनन्याय से दो शब्दों में उस मन्तव्य की पुनरावृत्ति कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। विधि, आरण्यक उपनिषत्, वेद के ब्राह्मणभाग के इन तीन शास्त्रसंग्रहों से सर्वसाधारण भलीभाँति परिचित हैं। प्राचीन व्याख्याताओं की दृष्टि से 'स्वर्गादिफलप्राप्तिसाधक-काम्य-कर्म्मयोगत्त्व' 'विधि' शब्द का अवच्छेदक है। 'ईश्वरानुग्रहप्राप्तिकामनालक्षण-भक्तियोगत्त्व' 'आरण्यक' शब्द का अवच्छेदक है, एवं 'सर्वकर्म्मविमोक्षलक्षण विशुद्ध ज्ञानयोगत्त्व' 'उपनिषत्'-शब्द का अवच्छेदक है। विधिभाग विशुद्ध कर्म्मयोग का, आरण्यकभाग विशुद्ध भक्तियोग का, तथा उपनिषत्-भाग विशुद्ध ज्ञानयोग का प्रतिपादन कर रहा है। व्याख्याताओं की इस विभक्त-दृष्टि से निष्कर्ष यह निकलता है कि, 'उपनिषत्' शब्द एकमात्र 'ईश-केन-कठ' आदि नामों से प्रसिद्ध, एतन्नामक उपनिषद्ग्रन्थों में ही निरूढ़ है। अतएव 'सर्वे वेदान्ता' सूक्ति वृद्धव्यवहार में उपनिषद्ग्रन्थों की ही संग्राहिका बन रही है।

वस्तुस्थिति यह सिद्ध कर रही है कि, ज्ञानयोगत्त्व उपनिषत्-शब्द का अवच्छेदक नहीं है। अपितु-'व्यवस्थितविज्ञानसिद्धान्तत्त्व' ही उपनिषत्-शब्द का अवच्छेदक है, जैसाकि भूमिका-प्रथमखण्ड में विस्तार से बतलाया जा चुका है। वह मौलिक सिद्धान्त तत्त्वविज्ञान अपने गर्भ में 'उपपत्ति-निश्चय-स्थिति' लक्षण 'उप-नि-षत्' भावों को अपने गर्भ में रखता हुआ ही 'उपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। व्याख्याताओं ने योगत्रयी के जो लक्षण माने हैं, जिनका कि-'उपनिषत् हमें क्या सिखाती है?' इस प्रकरण में दिग्दर्शन कराया जा चुका है, वे सर्वथा अवैज्ञानिक, अतएव अमान्य हैं। वही योगत्रयी वस्तुतः मान्य, तथा उपादेय है, जो क्रमशः काम‌निवृत्ति, अनुग्रहकामनिवृत्ति, कर्म्मप्रवृत्ति, से सम्बन्ध रखती हुई संशोधिता योगत्रयी है, जिसका उक्त प्रकरण में ही स्पष्टीकरण किया जा चुका है। धर्म्मबुद्धियोगात्मक कामनिवृत्तिपरक व्यक्त कर्म्मप्रवृत्तिपरक कर्म्म ही 'कर्म्मयोग' है। ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मक-अनुग्रहकामनिवृत्तिपरक उपासनातत्त्व ही 'भक्तियोग' है, कामनिवृत्तिपरक-अव्यक्तकर्म्मप्रवृत्तिपरक ज्ञान ही 'ज्ञानयोग' है। एवं-रागद्वेषविनिर्मुक्त-ज्ञानकर्म्मोभयात्मक-वैराग्यबुद्धियोग ही चौथा सिद्धान्त-स्थानीय 'बुद्धियोग' है। इस दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रकृत प्रकरण का विश्लेषण करना है।

अब शेष बचते हैं—पुरुषार्थकर्म्मानुगत अनारम्याधीत विधिवचन, तथा लोकार्थ-कर्म्मानुगत सामान्याधीत विधिवचन। पुरुषार्थकर्म्मों के भी सामान्य-विशेष भेद से दो भेद विभाग हैं। दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, वरुणप्रघासेष्टि, पुत्रेष्टि, तानूनप्त्रेष्टि, सौत्रामणी, आदि पुरुषार्थकर्म्म सामान्य हैं। महायाग, राजसूय, वाजपेय, चयन, प्रवर्ग्य, आदि पुरुषार्थकर्म्म उच्चकोटि के माने गए हैं। महाविज्ञानानुगत इन उभयविध पुरुषार्थकर्म्मों की उपनिषदों का प्राय तत्कर्म्मेतिकर्त्तव्यताप्रतिपादक-सदादनारम्याधीत विधिवचनों के साथ ही प्रतिपादन हो गया है। हाँ कुछ एक अनारम्याधीतविधियाँ ऐसी भी हैं, जिनका प्रतिपादन विधिग्रन्थों में नहीं भी हुआ है। पुरुषार्थकर्म्मानुगत विधिभाग में भी विधि (कर्म्म) की ही प्रधानता है। अतएव कल्पार्थवत् इन उपनिषदों का भी उपनिषत् शब्द से व्यवहार नहीं होने पाया है, जैसा कि सोदाहरण शब्दार्थप्रकरण में प्रतिपादित है।

महाविज्ञानानुबन्धी कुछ एक पुरुषार्थकर्म्मों का प्रतिपादन करने वाले अनारम्याधीत विधिवचन, तथा लोकार्थकर्म्मप्रतिपादक सामान्याधीत विधिवचन, दो विभाग शेष रह जाते हैं। कारुणिक महर्षियों ने इन दोनों की उपनिषदों का पृथक्रूप से निरूपण कर दिया है। यही विभाग उपनिषत्-प्रतिपादन की प्रधानता से उसी सद्वादन्याय से 'उपनिषत्' शब्द से प्रसिद्ध हुआ है। एकधनावरोध, वैश्वस्मर, यज्ञशिरिप्रसन्धान, आदि अनारम्याधीत विधियों की उपनिषदें उपनिषद्ग्रन्थों में ही प्रतिपादित हैं—(देखिए-कौ० उ० २।३।४।)-(छां० उ० ४।१७।)। स्पष्टीकरण यह है कि-समस्त कल्पार्थकर्म्म, एवं कुछ एक पुरुषार्थकर्म्मों को छोड़ कर समस्त पुरुषार्थकर्म्म उपनिषदों के सहित विधिभाग में प्रतिपादित हैं, एवं इनमें इतिकर्त्तव्यतालक्षणा कर्म्मभाग प्रधान है, उपपत्तिलक्षणा उपनिषदें गौण हैं। अतएव विधिभागान्तर्भूत उभयविध उपनिषदों को 'उपनिषत्' शब्द से व्यवहृत नहीं किया गया। कुछ एक पुरुषार्थकर्म्म (एकधनावरोधादि) ऐसे हैं, जिनकी इतिकर्त्तव्यता तो विधिभाग में विशेषरूप से प्रतिपादित हुई है, एवं उपपत्तिलक्षणा उपनिषत् स्वतन्त्ररूप से प्रतिपादित हुई है। एवमेव सामान्य विधियों की इतिकर्त्तव्यता तो प्रधानरूप से विधिभाग में, तदनुगत स्मृतिभाग में हुई है एवं उपनिषत् स्वतन्त्ररूप से प्रतिपादित हुई है। यही स्वतन्त्रोपनिषत्समष्टि 'उपनिषत्' प्राधान्य से 'उपनिषत्' नाम से व्यवहृत हुई है। 'यदि वेद के विधिभाग में उपनिषत्-शब्दावच्छेदक विद्यमान है, तो वह उपनिषत्-शब्द से व्यवहृत क्यों नहीं हुआ ?" इस प्रश्न का यही युक्तियुक्त, तथा विज्ञानसम्मत समाधान है।

विधिभाग के अनन्तर भक्तियोगप्रधान 'आरण्यकभाग' हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इसे उपनिषत् नाम से क्यों नहीं व्यवहृत किया गया, जबकि अवच्छेदकभावयुक्त उपनिषत् का विधिभागवत् इसमें भी समावेश है ?' प्रश्न के सम्बन्ध में इसलिए समाधान करना अप्रयोजक है कि, 'बृहदारण्यकोपनिषत्' इत्यादि रूढ व्यवहार स्वयं आरण्यकभाग का उपनिषत् के साथ सम्बन्ध मानता हुआ आरण्यक के उपनिषत्-त्व का समर्थन कर रहा है। अपिच आरण्यकप्रतिपादित भक्तियोग (तत्त्वोपासना) की उपनिषदों का तद्योगप्रतिपादन के साथ ही विधिभागवत् स्पष्टीकरण हो गया है। अतएव उसे भी विधिभागवत् स्वतन्त्ररूप से 'उपनिषत्' शब्द से व्यवहृत करने का अवसर अप्राप्त रह गया।

प्रकृत परिच्छेद से बतलाना हमें यही है कि, उपनिषत्-शब्द रहस्यविज्ञान से सम्बन्ध रखता है। वेद का उपनिषद् भाग क्योंकि प्रधानरूप से इसी रहस्यज्ञान का विश्लेषण करता है, कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-बुद्धियोग-

कर्म्म, भक्ति, ज्ञान, बुद्धि, नामक चारों ही योग पुरुषस्वरूप के विकासक बनते हुए 'पुरुषार्थ' माने जा सकते हैं। ये योग पुरुषार्थ क्यों माने गए ?, क्यों इनका अनुगमन किया जाय ?, किस कौशल से इनका अनुगमन किया जाय ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान तब तक असम्भव है, जब तक कि, इनकी मौलिक उपपत्तियाँ हृदयङ्गम न कर लीं जायँ। अवश्य ही सञ्चरविद्यात्मक विज्ञान, तथा प्रतिसञ्चरविद्यात्मक ज्ञान, इन दोनों के आधार पर प्रतिष्ठित कर्म्म (विज्ञान) तथा, ज्ञान के मौलिक रहस्य ही योगचतुष्टयी-प्रवृत्ति के मुख्य आधार हैं। 'रहस्यप्रतिपादनत्व' ही उपनिषत् शब्द का प्रधान अवच्छेदक है। एवं ऐसा 'उपनिषत्' शब्द न केवल उपनिषच्छास्त्र से ही सम्बद्ध है, अपितु कर्म्मयोगप्रतिपादक विधिभाग, भक्तियोगप्रतिपादक आरण्यकभाग, बुद्धियोगप्रतिपादक उपनिषद्-भाग, तीनों वेदभागों के साथ उपनिषत् शब्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उपनिषच्छास्त्र में प्रतिपादित उपनिषदें (तात्त्विकरहस्य) सर्वत्र व्याप्त हैं। यहाँ तक कि, स्वयं मूलसंहितायें भी इस मर्य्यादा से वञ्चित नहीं है, जैसाकि पाठक आगे जाकर देखेंगे।

प्रश्न इस सम्बन्ध में यह शेष रह जाता है कि, यदि 'उपनिषत्' शब्द का(उक्त अवच्छेदक मर्य्यादा से) विधि, आरण्यक भागों से भी सम्बन्ध है, तो उन्हें भी 'उपनिषत्' शब्द से व्यवहृत क्यों नहीं किया गया ?, क्या कारण है कि, उपनिषत् शब्द से केवल ईशाद्युपनिषद्भाग ही प्रसिद्ध हुआ ? । प्रश्न का समाधान उपनिषच्छब्दार्थ से गतार्थ है। यहाँ स्मरणमात्र करा दिया जाता है। कर्मयोगप्रतिपादक विधिभाग जिन कर्मों की इतिकर्त्तव्यता बतलाता है, वह कर्म्मकलाप क्रत्वर्थ, पुरुषार्थ, भेद से दो भागों में विभक्त है। अनेक क्रत्वर्थकर्म्मों के समन्वय से एक पुरुषार्थकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। क्रत्वर्थकर्म्मों का आरम्याधीत विधिवचनों से सम्बन्ध है, एवं पुरुषार्थकर्म्मों का अनारभ्याधीत विधिवचनों से सम्बन्ध है। आरम्याधीत विधिवचनों में 'लिङर्थ' इष्ट है, अनारम्याधीत विधिवचनों में 'स्वर्गादिफल' इष्ट हैं। आरम्याधीत विधिपरक क्रत्वर्थकर्म्म यज्ञार्थकर्म्म हैं, इनसे यज्ञकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। अनारम्याधीत विधिपरक कर्म्म यज्ञकर्म्म हैं, इनसे यज्ञकर्त्ता पुरुष का स्वार्थसाधन होता है, अतएव इन्हें 'पुरुषार्थ' कहा गया है।

क्रत्वर्थ-पुरुषार्थ भेदभिन्न यज्ञकर्म्म विशेष बनते हुए विशेष (द्विजाति) अधिकारियों के लिए ही विहित हैं। इनसे अतिरिक्त एक तीसरा सामान्य विधिभाग है जिसका मनुष्यमात्र को समानाधिकार है। **"सदा कर्म्म करते रहो, सत्य भाषण करो, धर्म्मपथ का अनुगमन करो, किसी की हिंसा न करो"** इत्यादि विधिवचन 'सामान्याधीत-विधिवचन' हैं। इसप्रकार विशेष-सामान्याधिकारी भेद से कर्म्मयोग 'क्रत्वर्थ-पुरुषार्थ-लोकार्थ' भेद से तीन भागों में विभक्त हो रहा है। तीनों क्रमशः-'आरम्याधीत-अनारम्याधीत-सामान्याधीत' इन विधिवचनों से सम्बद्ध हैं। इस त्रिविध कर्म्मभेद से कर्म्मोपपत्तिलक्षण-विज्ञानसिद्धान्तरूपा 'उपनिषत्' के भी तीन भेद हो जाते हैं।

क्रत्वर्थकर्म्मों की उपनिषदों (विज्ञानसिद्धान्तों) का प्रतिपादन तो सर्वात्मना विधिभाग में ही हो गया है। साधारण विज्ञानात्मिका ये उपनिषदें क्रत्वर्थकर्म्मेतिकर्त्तव्यता-प्रतिपादन के साथ साथ ही प्रतिपादित हैं। क्योंकि क्रत्वर्थ प्रतिपादक-विधिभाग में कर्म्मेतिकर्त्तव्यता का प्राधान्य है, यही विधि का मुख्य लक्ष्य है, उपपत्तिविज्ञानलक्षणा उपनिषदें गौण हैं, अतएव क्रत्वर्थकर्म्मप्रतिपादक आरम्याधीत विधिभाग से सम्बद्ध उपनिषदों को 'उपनिषत्' रूप से व्यवहार करने का अवसर नहीं आता। अपितु इनका 'विधि' शब्द से ही ('तद्वादन्याय' से) ग्रहण कर लिया जाता है।

अब शेष बचते हैं—पुरुषार्थकर्म्मानुगत अनारभ्याधीत विधिवचन, तथा लोकार्थ-कर्म्मानुगत सामान्याधीत विधिवचन। पुरुषार्थकर्म्मों के भी सामान्य-विशेष भेद से दो भेद थि विभाग हैं। दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, वरुणप्रघासेष्टि, पुत्रेष्टि, तानूनप्त्रेष्टि, सौत्रामणी, आदि पुरुषार्थकर्म्म सामान्य हैं। अश्वयाग, राजसूय, वाजपेय, चयन, प्रवर्ग्य, आदि पुरुषार्थकर्म्म उच्चकोटि के माने गए हैं। महाविज्ञानानुगत इन उभयविध पुरुषार्थकर्म्मों की उपनिषदों का प्रायः तत्कर्म्मेतिकर्त्तव्यताप्रतिपादक-तत्तदनारभ्याधीत विधिवचनों के साथ ही प्रतिपादन हो गया है। हाँ कुछ एक अनारभ्याधीतविधियाँ ऐसी भी हैं, जिनका प्रतिपादन विधिग्रन्थों में नहीं भी हुआ है। पुरुषार्थकर्म्मानुगत विधिभाग में भी विधि (कर्म्म) की ही प्रधानता है। अतएव क्रत्वर्थवत् इन उपनिषदों का भी उपनिषत् शब्द से व्यवहार नहीं होने पाया है, जैसा कि सोदाहरण शब्दार्थप्रकरण में प्रतिपादित है।

महाविज्ञानानुबन्धी कुछ एक पुरुषार्थकर्म्मों का प्रतिपादन करने वाले अनारभ्याधीत विधिवचन, तथा लोकार्थकर्म्मप्रतिपादक सामान्याधीत विधिवचन, दो विभाग शेष रह जाते हैं। कारुणिक महर्षियों ने इन दोनों की उपनिषदों का पृथक्रूप से निरूपण कर दिया है। यही विभाग उपनिषत्-प्रतिपादन की प्रधानता से उसी तद्वादन्याय से 'उपनिषत्' शब्द से प्रसिद्ध हुआ है। एकधनावरोध, वैषस्मर, यज्ञविरिष्टसन्धान, आदि अनारभ्याधीत विधियों की उपनिषदें उपनिषद्ग्रन्थों में ही प्रतिपादित हैं—(देखिए-कौ० उ० २।३।४।)-(छां उ० ४।१७।)। स्पष्टीकरण यह है कि-समस्त क्रत्वर्थकर्म्म, एवं कुछ एक पुरुषार्थकर्म्मों को छोड़ कर समस्त पुरुषार्थकर्म्म उपनिषदों के सहित विधिभाग में प्रतिपादित हैं, एवं इनमें इतिकर्त्तव्यतालक्षण कर्म्मभाग प्रधान है, उपपत्तिलक्षणा उपनिषदें गौण हैं। अतएव विधिभागान्तर्भूत उभयविध उपनिषदों को 'उपनिषत्' शब्द से व्यवहृत नहीं किया गया। कुछ एक पुरुषार्थकर्म्म (एकधनावरोधादि) ऐसे हैं, जिनकी इतिकर्त्तव्यता तो विधिभाग में विशेषरूप से प्रतिपादित हुई है, एवं उपपत्तिलक्षणा उपनिषत् स्वतन्त्ररूप से प्रतिपादित हुई है। एवमेव सामान्य विधियों की इतिकर्त्तव्यता तो प्रधानरूप से विधिभाग में, तदनुगत स्मृतिभाग में हुई है, एवं उपनिषत् स्वतन्त्ररूप से प्रतिपादित हुई है। यही स्वतन्त्रोपनिषत्समष्टि 'उपनिषत्' प्राधान्य से 'उपनिषत्' नाम से व्यवहृत हुई है। 'यदि वेद के विधिभाग में उपनिषत्-शब्दावच्छेदक विद्यमान है, तो वह उपनिषत्-शब्द से व्यवहृत क्यों नहीं हुआ ?'' इस प्रश्न का यही युक्तियुक्त, तथा विज्ञानसम्मत समाधान है।

विधिभाग के अनन्तर भक्तियोगप्रधान 'आरण्यकभाग' हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इसे उपनिषत् नाम से क्यों नहीं व्यवहृत किया गया, जबकि अवच्छेदकभावयुक्त उपनिषत् का विधिभागवत् इसमें भी समावेश है ?' प्रश्न के सम्बन्ध में इसलिए समाधान करना अप्रयोजक है कि, 'बृहदारण्यकोपनिषत्' इत्यादि वृद्ध व्यवहार स्वयं आरण्यकभाग का उपनिषत् के साथ सम्बन्ध मानता हुआ आरण्यक के उपनिषत्-त्व का समर्थन कर रहा है। अपिच आरण्यकप्रतिपादित भक्तियोग (तत्त्वोपासना) की उपनिषदों का तद्योगप्रतिपादन के साथ ही विधिभागवत् स्पष्टीकरण हो गया है। अतएव उसे भी विधिभागवत् स्वतन्त्ररूप से 'उपनिषत्' शब्द से व्यवहृत करने का अवसर अप्राप्त रह गया।

प्रकृत परिच्छेद से बतलाना हमें यही है कि, उपनिषत्-शब्द रहस्यविज्ञान से सम्बन्ध रखता है। वेद का उपनिषद् भाग क्योंकि प्रधानरूप से इसी रहस्यज्ञान का विश्लेषण करता है, कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-बुद्धियोग-

चतुष्टयी की उपनिषदें बतलाता है अतएव यह ईशाद्युपनिषद्विभाग में ही निरूढ बन गया है। 'उपनिषत्-और उपनिषच्छ्रद्धा अ' का यही स्वाभाविक सम्बन्ध है। अब हमें कुछ एक ऐसे वचन और उद्धृत कर देने हैं, जिनके आधार पर पाठक यह निर्णय कर सकें कि, 'उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक ज्ञानयोगात्व है, अथवा विज्ञानसिद्धान्तत्व ?। यद्यपि उपनिषच्छब्दार्थप्रकरण में दो एक उदाहरण उद्धृत हुए हैं, तथापि वे सर्वात्मना सन्तोषकर नहीं है। अत यहाँ और उदाहरण उद्धृत करना प्रासङ्गिक मान लिया गया है।

२—उपनिषत्–शब्द का अवच्छेदक—

'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' इत्यादि वचनों के अनुसार आर्षसाहित्य में प्रयुक्त शब्द ही अपने अवच्छेदकभावों को व्यक्त करने में समर्थ हैं। उदाहरण के लिए 'इति-हास-पुराण', शब्दों को ही लक्ष्य बनाइये। 'इति-ह-आस' (ऐसा-निश्चयेन था-) रूप से स्वयं 'इतिहास' शब्द अपने अवच्छेदक का स्पष्टीकरण कर रहा है। 'पुरा-नवं-भवति' निर्वचन पुराणशब्द का अवच्छेदक व्यक्त कर रहा है। एवमेव 'उपनिषत्' शब्द का अवच्छेदक भी हमें उपनिषत् शब्द से ही पूँछना चाहिए। 'उप-नि-षत्' ही उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक है। 'उप' का अर्थ है—'समीप'। 'नि' का अर्थ है—'निश्चयेन'। 'षत' का अर्थ है 'बैठना'। जिस तत्त्वज्ञान के परिज्ञान से हम तत्त्वज्ञानप्रतिष्ठ विषय के समीप निश्चयेन पहुँच जाते हैं, वह तत्त्वज्ञान ही 'उप-नि-षत्' का साधक बनता हुआ 'उपनिषत्' है। साधकत्वेन तत्त्वज्ञान यदि उपनिषत् है तो साध्यत्वेन भी यह उपनिषत् ही बन रहा है।

उपपत्तिज्ञान 'उप' है, निश्चयबोध 'नि' है, तत्रस्थिति 'षत्' है। उपपत्तिज्ञान ही निश्चयबोधपूर्वक तद्विषयस्थिति का कारण बनता है। अतएव इसे इस साध्यदृष्टि से भी 'उपनिषत्' (उप-उपपत्ति, नि-निश्चय, षत्-स्थिति) कहना अन्वर्थ बन रहा है। जो जिसकी मूलप्रतिष्ठा है, मूलाधार है, जिस मूलाधार के आधार पर तदाधेय स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है, वह मूलाधार 'उपपत्ति-निश्चय-स्थिति' रूप से उपनिषत् है, एवं ऐसी मूलाधारात्मिका उपनिषत् का परिज्ञान भी उप-नि-षत्-(समीपे-अन्तस्तले-निश्चयेन-स्थापयत्या-मानम्) रूप से उपनिषत् है। यही उपनिषत् शब्द का तात्त्विक अवच्छेदक है। निम्नलिखित वचन इसी अवच्छेदक को लक्ष्य में रख कर प्रवृत्त हुए हैं—

१—"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्"(शत० ब्रा० १०।४।५।६।)।
२—"अथादेशाः-उपनिषदाम्" (शत० ब्रा० १०।४।५।१)
३—"यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति"
(छान्दो० उप० १।१।१०।)।
४—"अथ खल्विय सर्गस्यै वाच उपनिषत्" (ऐ० ब्रा० ३।२।४)।
५—"तस्योपनिषदहमिति" (बृ० आ उ० ५।५।४)।
६—"तस्योपनिषदहरिति" (बृ० आ० उ० ५।५।३।)।
७—"तस्योपनिषन्न याचेत्-इति" (कौ० उ० २।१)।

८—"अन्नवानन्नादो भवति, य एतामेवं साम्नामुपनिषदं वेद" (छान्दो० उ० १।३।७)।

९—"एतेत्यसुराणां ह्येषोपनिषत्" (छान्दो० उ० ८।८।५)।

१०—"तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाच" (छान्दो० उ० ८।८।४)।

११—"तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यमिति" (बृ० आ० उ० २।१।२०।)।

१२—"उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमान" (बृ० आ० ४।२।१)।

१३—"अथात संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्याम" (तै० उ० १।३।१)।

१४—"ओं सत्यमित्युपनिषत्" (कैवल्योप० २)।

उद्धृत वचनों में प्रयुक्त 'उपनिषत्' शब्द 'ईशाद्युपनिषदों' का वाचक नहीं है, यह स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त स्वयं व्याख्याताओं ने भी 'अरण्यमियाम पुनरेयादित्युपनिषत्' इत्यादि रूप से उपनिषत् शब्द के यौगिकार्थ का अनेक स्थलों में समर्थन किया है। निम्न लिखित वचन भी उपनिषत् का अवच्छेदक पृथक् ही मान रहा है।

प्रथमं स्यात् महानाम्नी द्वितीयञ्च महाव्रतम्।

तृतीयं स्यादुपनिषद् गोदानञ्च ततः परम्" (आश्वालायनगृह्यकारिका)

इस प्रकार अवच्छेदक की मर्य्यादा से उपनिषत्तत्त्व का 'विधि–आरण्यक–उपनिषत्' तीनों काण्डों के साथ सम्बन्ध हो रहा है। जिस प्रकार अवच्छेदक मर्य्यादा से उपनिषत्-तत्त्व का तीनों काण्डों से सम्बन्ध है, एवमेव इसी अवच्छेदकमर्य्यादा से विधि, तथा आरण्यकभाग का भी तीनों काण्डों से घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। यही कारण है कि, एक काण्ड के परिज्ञान के लिए शेष दोनों काण्डों का स्वरूप–परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक हो जाता है।

३–काण्डत्रयी का त्रिपुटी–सम्बन्ध—

धर्म्मबुद्धियोगलक्षण कर्म्मयोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षण भक्तियोग, ज्ञानबुद्धियोगलक्षण ज्ञानयोग, एवं वैराग्यबुद्धियोगलक्षण बुद्धियोग, चारों में बुद्धियोग एक स्वतन्त्र मार्ग है, जिसका प्रधानरूप से उपनिषद्–भाग में विश्लेषण हुआ है। यही उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य है। इस बुद्धियोगसम्पत्ति के अनुग्रह से ही शेष तीनों योग सोपनिषत्क बनते हुए सफलतर बन रहे हैं। इस विलक्षण बुद्धियोग को थोड़ी देर के लिए पृथक् रखते हुए हमें काण्डत्रयी से सम्बद्ध योगत्रयी का विचार करना चाहिए। बुद्धियोग क्योंकि तीनों का आलम्बन है, अतएव इसकी स्वतन्त्र गणना नहीं होती। योगत्वेन योगत्रयी ही शेष रह जाती है, जिसका काण्डत्रयी से क्रमिक सम्बन्ध है। बुद्धियोग ही कर्म्मयोग का कौशल है, यही भक्तियोग का कौशल है, एवं यही ज्ञानयोग का कौशल है। वैज्ञानिकों ने इन योगों के जो वैज्ञानिक लक्षण किए हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि, प्रत्येक योग में गौणरूप से इतर दोनों का समन्वय हो रहा है। कर्म्मयोग में कर्म्म का प्राधान्य है, ज्ञानयोग में अध्यात्मज्ञान का प्राधान्य है। मध्यस्थ भक्तियोग का 'देहलीदीपकन्याय'

चतुष्टयी की उपनिषदें कहलाता है अतएव यह ईशाद्युपनिषद्विभाग में ही निरूढ बन गया है। 'उपनिषत्-और उपनिषच्छा त्र' का यही स्वाभाविक सम्बन्ध है। अब हमें कुछ एक ऐसे वचन और उद्धृत कर देने हैं, जिनके आधार पर पाठक यह निर्णय कर सकें कि, 'उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक ज्ञानयोगत्व है, अथवा विज्ञानसिद्धान्तत्व ?'। यद्यपि उपनिषच्छब्दार्थप्रकरण में दो एक उदाहरण उद्धृत हुए हैं, तथापि वे सर्वात्मना सन्तोषकर नहीं हैं। अत यहाँ और उदाहरण उद्धृत करना प्रासङ्गिक मान लिया गया है।

२—उपनिषत्—शब्द का अवच्छेदक—

'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात परं ब्रह्माधिगच्छति' इत्यादि वचनों के अनुसार आर्षसाहित्य में प्रयुक्त शब्द ही अपने अवच्छेदकभावों को व्यक्त करने में समर्थ हैं। उदाहरण के लिए 'इति-हास-पुराण', शब्दों को ही लक्ष्य बनाइये। 'इति-ह-आस' (ऐसा-निश्चयेन था-) रूप से स्वयं 'इतिहास' शब्द अपने अवच्छेदक का स्पष्टीकरण कर रहा है। 'पुरा-नवं-भवति' निर्वचन पुराणशब्द का अवच्छेदक व्यक्त कर रहा है। एवमेव 'उपनिषत्' शब्द का अवच्छेदक भी हमें उपनिषत् शब्द से ही पूँछना चाहिए। 'उप-नि-षत्' ही उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक है। 'उप' का अर्थ है—'समीप'। 'नि' का अर्थ है—'निश्चयेन'। 'षत' का अर्थ है 'बैठना'। जिस तत्त्वज्ञान के परिज्ञान से हम तत्त्वज्ञानप्रतिष्ठ विषय के समीप निश्चयेन पहुँच जाते हैं, वह तत्त्वज्ञान ही 'उप-नि-षत्' का साधक बनता हुआ 'उपनिषत्' है। साधकत्वेन तत्त्वज्ञान यदि उपनिषत् है, तो साध्यत्वेन भी यह उपनिषत् ही बन रहा है।

उपपत्तिज्ञान 'उप' है, निश्चयबोध 'नि' है, तत्रस्थिति 'षत्' है। उपपत्तिज्ञान ही निश्चयबोधपूर्वक तद्विषयस्थिति का कारण बनता है। अतएव इसे इस साध्यदृष्टि से भी 'उपनिषत्' (उप-उपपत्ति, नि-निश्चय षत्-स्थिति) कहना अन्वर्थ बन रहा है। जो जिसकी मूलप्रतिष्ठा है, मूलाधार है, जिस मूलाधार के आधार पर तदाधेय स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है, वह मूलाधार 'उपपत्ति-निश्चय-स्थिति' रूप से उपनिषत् है, एवं ऐसी मूलाधाराभिन्न उपनिषत् का परिज्ञान भी उप-नि-षत्-(समीपे-अन्तस्तले-निश्चयेन-स्थाप्यत्वा-मानम्) रूप से उपनिषत् है। यही उपनिषत् शब्द का तात्त्विक अवच्छेदक है। निम्नलिखित वचन इसी अवच्छेदक को लक्ष्य में रख कर प्रवृत्त हुए हैं—

१—"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्"(शत० ब्रा० १०।४।५।१।)।
२—"अथादेशा—उपनिषदाम्" (शत० ब्रा० १०।४।५।१)
३—"यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तर भवति"
(छान्दो० उप० १।१।१०।)।
४—"अथ खल्वियं सर्वस्यै वाच उपनिषत्" (ऐ० ब्रा० ३।२।५)।
५—"तस्योपनिषदहमिति" (बृ० आ० उ० ५।५।४।)।
६—"तस्योपनिषदहरिति" (बृ० आ० उ० ५।५।३।)।
७—"तस्योपनिषन्न याचेत्-इति" (कौ० उ० २।१।)।

४—"ईश्वरोऽयमस्तीति विश्वासभाजां दृढप्रत्ययेन सूर्य्ये, गुरौ, अवतारपुरुषे, धातुप्रतिमायां वा ईश्वरोचितकर्म्मकरणं-उपासनम्" ।

५—"कस्मिंश्चित् प्रत्येतव्येऽर्थे विज्ञानसमर्थानामधिकारिणां सौकर्य्येण प्रत्ययोत्पत्त्यर्थं-आधिभौतिके कस्मिंश्चित् सन्निहितेऽर्थे-आहार्य्यारोपमूलक, प्रतिरूपमूलक, प्रतीकमूलकं, वा प्रत्ययालम्बन (ऐन्द्रियकप्रत्यक्षज्ञानालम्बनं) तत्प्रत्यक्ष-(परोक्षाधिदैविकप्रत्यय)-प्रवाहोत्पादनम्-उपासनम्" ।

६—"उपासन नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्" (शां० भा० ४।१।७।) ।

७—"अन्यसिद्ध्यर्थमन्यत्र स्थिति'-'उपासना' ।

८—"श्रद्धानसूत्रेण मनो-बुद्ध्यर्पणम्-'उपासना' ।

९—"श्रद्धासूत्रद्वारा परमात्मनि स्व मनो-बुद्ध्यात्मार्पणपर्यन्त परमात्मभक्ता भवन्ति । भक्तिर्नाम मार्गोऽयं । भक्तिकरणं कर्म्माप्युपचारात्-भक्ति । सैषा भक्ति'-'उपासना' ।

१०—"तद्वृत्त्यनुकूलवृत्तिं धारयमाणस्य तदिच्छानुसारेण चरणमुपासनम्" ।

११—"श्रद्धानसूत्रार्पितमनोवृत्त्यनुकूलदृष्टिसूत्रार्पिताया श्रद्धेयपरिस्थित्यनुरोधवद्-पेक्षाबुद्धिसहकृताया भावनाबुद्धेस्तदनुरोधापेक्षितवृत्तिस्थिरत्वम् उपासनम्" । (इत्यादीनि लक्षणानि) ।

१—प्रत्यक्षज्ञान को मध्यस्थ बना कर इसके द्वारा परोक्षविषय को प्राप्त करना ही उपासना का प्रथम लक्षण है। स्वर्गादि फल परोक्ष हैं । आहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि-पुरोडाश-स्रुक्-उपभृत् ध्रुवा-दर्भ-वेदि, मन्त्र-आदि यज्ञकर्मस्वरूपसम्पादक सामग्री-सम्भार प्रत्यक्षज्ञानसिद्ध विषय हैं । एकमात्र श्रद्धासूत्र के आधार पर यज्ञकर्ता यजमान इन प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थों की मध्यस्थता के आधार पर उस परोक्ष स्वर्गफला वाप्ति की उपासना कर रहा है ।

२—हमारे (यजमान के) बौद्धिक धरातल में 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधि श्रद्धान से परोक्ष स्वर्गफल प्रतिष्ठित है । इस बुद्धिसंनिकृष्ट वास्नात्मक फल के आधार पर हम यज्ञकर्मद्वारा उस विदूरस्थ (दिव्यलोकस्थ) फलात्मक नाचिकेत-स्वर्गप्रत्यय के अधिकारी बन जाते हैं । यही उपासना का प्रथम लक्षण से मिलता जुलता दूसरा लक्षण है ।

३—जिस इन्द्रियातीत परोक्षभाव को हम जानना चाहते हैं निदानलक्षण संकेत के आधार पर उसका एक काल्पनिकरूप बना लिया जाता है । उस कल्पित रूप में 'स एवायम्' इसप्रकार का जो सत्यत्व धारणा है, वही श्रद्धा है । इस श्रद्धा से आकर्षित होकर उस कल्पितरूप की जो परिचर्य्या की जाती है, वही उपासना है । ब्रह्म स्वस्वरूप से निर्गुण है, निराकार है, परोक्ष है, इन्द्रियातीत है ।

से दोनों के साथ सम्बन्ध है। साथ ही मध्यस्थ होने से भक्तियोग इस ओर की कर्मसम्पत्ति, उस ओर की ज्ञानसम्पत्ति, दोनों से युक्त है। इसप्रकार प्रत्येक योग योगत्रयात्मक बन रहा है। सामान्य दृष्टि से भी कर्मयोग में ज्ञान भी अपेक्षित है, उपासना भी अपेक्षित है। भक्तियोग में उपासना के साथ साथ ज्ञान-कर्म भी अपेक्षित हैं। एवमेव ज्ञानयोग में ज्ञान के साथ साथ कर्म, तथा उपास्ति भी अनिवार्य्य हैं। पहिले कर्मप्रधान कर्मयोग की मीमांसा कीजिए, जिसका प्रधानतः विधिभाग से सम्बन्ध है।

जितने भी कर्म्म हैं, सब की प्रतिष्ठा भिन्न भिन्न उपनिषत् है। जिस कर्म्म की उपनिषत् भलीभाँति जान ली जाती है, वही कर्म्म सुसम्पन्न बनता है। उपनिषल्लक्षण तत्त्वज्ञान के आधार पर ही कर्म्म प्रतिष्ठित है। कर्म्मप्रधान विधिग्रन्थों में प्रजापति, आत्मा, उक्थ, पृष्ठ, आदि तत्त्वों का यत्र तत्र सुविशद निरूपण हुआ है। इन सब का तत्त्वज्ञान ब्रह्मविज्ञानप्रधाना उपनिषत् से ही सम्बद्ध है। कर्म्मात्मक यज्ञ यौगिक तत्त्व है, ज्ञानात्मक ब्रह्मतत्त्व मौलिक तत्त्व है। मौलिक ब्रह्मतत्त्व ही यौगिक यज्ञकर्म्म की प्रतिष्ठा है। ब्रह्मस्वरूप को यथावत् अवगत किए बिना तत्प्रतिष्ठ कर्म्म का स्वरूप सर्वथा अविदित ही रहता है। मानना पड़ेगा कि, जब तक औपनिषद लक्षण ज्ञान को आधार नहीं बना लिया जाता, तब तक कर्म्म में बलाधान सम्भव नहीं है। एवं इसी दृष्टि से उपनिषत्-सम्बन्धी ज्ञानयोग का कर्म्मयोग में अन्तर्भाव हो रहा है। इसके अतिरिक्त यह भी मानी हुई बात है कि, बिना तद्विषयक-इतिकर्त्तव्यतालक्षण ज्ञान के कर्म्मप्रवृत्ति अमर्य्यादित है, स्खलित है। अज्ञानसहकृत कर्म्म में पदे पदे पतन का भय है। ज्ञानसहकृत कर्म्म ही कर्म्म-सौष्ठव का प्रवर्त्तक है। इसप्रकार इस सामान्य दृष्टि से भी ज्ञान का कर्म्म में समह हो रहा है। निम्न लिखित वचन इसी ज्ञानसम्बन्ध की अनिवार्य्यता सिद्ध कर रहा है—

> ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा कर्म्म आचरेत्।
> अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे ॥

यही स्थिति उपासना के सम्बन्ध में समझिए। आरण्यकभागानुगता उपासना के अनेक लक्षण हुए हैं। उनमें से किसी न किसी लक्षण का कर्म्म में अवश्यमेव अन्तर्भाव रहता है। इसी आधार पर 'होता अध्वर्युमुपास्ते' इत्यादि वचन प्रतिष्ठित हैं। दृष्टि है—सूर्य्याग्नि पर, मन है विद्युदग्नि पर। यह भी एक प्रकार की उपासना ही है। पाठकों की सुविधा के लिए उपासना के कुछ एक तात्त्विक लक्षण उद्धृत कर दिए जाते हैं, जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताभाष्यान्तर्गत 'भक्तियोगपरीक्षा' प्रथमखण्ड में देखना चाहिए।

१—"प्रत्यक्षप्रत्ययेन परोक्षार्थ प्रत्ययप्रवाह-उपासनम्"।
२—"बुद्धिसन्निकृष्टार्थद्वारा विप्रकृष्टार्थप्रत्ययधारणम्-उपासनम्"।
३—"विश्रामितस्य मनसस्य यत्किञ्चिद्रूपं प्रतिपद्य-तत्र-सत्यत्वनास्था-धारणं श्रद्धानम्। श्रद्धानपारवश्यात्-तदनुकूला ऐकान्तिकी परिचर्य्या ध्यानरूपा-बुद्धियोग-तदुपासनम्"।

४—"ईश्वरोऽयमस्तीति विश्वासमाजा दृढप्रत्ययेन सूर्य्ये, गुरौ, अवतारपुरुषे, धातुप्रतिमायां वा ईश्वरोचितकर्म्मकरण—उपासनम्" ।

५—"कस्मिंश्चित् प्रत्येतव्येऽर्थे विज्ञानसमर्थानामधिकारिणां सौकर्य्येण प्रत्ययोत्पत्यर्थ—आधिभौतिके कस्मिंश्चित् सन्निहितेऽर्थे—आहार्य्यारोपमूलक, प्रतिरूपमूलक, प्रतीकमूलक, वा प्रत्ययालम्बन (ऐन्द्रियकप्रत्यक्षज्ञानालम्बनं) तत्प्रत्यय-(परोक्षाधिदैविकप्रत्यय)—प्रवाहोत्पादनम्—उपासनम्" ।

६—"उपासन नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्" (शा० भा० ४।१।७।)।

७—"अन्यसिद्ध्यर्थमन्यत्र स्थिति —'उपासना' ।

८—"श्रद्धानसूत्रेण मनो—बुद्ध्यर्पणम्—'उपासना' ।

९—"श्रद्धासूत्रद्वारा परत्रात्मनि स्व मनो—बुद्ध्यात्मांशमर्पयन्त परमात्मभक्ता भवन्ति । भक्तिर्नाम मार्गोऽश । भक्तिकरण कर्म्माप्युपचारात्—भक्ति । सैषा भक्ति —'उपासना' ।

१०—"तद्वृत्त्यनुकूलवृत्ति धारयमाणस्य तदिच्छानुसारेण चरणमुपासनम्" ।

११—"श्रद्धानसूत्रार्पितमनोवृत्त्यनुकूलदृष्टिसूत्रार्पिताया श्रद्धेयपरिस्थित्यनुरोधवट—पेक्षाबुद्धिसहकृताया भावनाबुद्धेस्तदनुरोधापेक्षितवृत्तिस्थिरत्वम् उपासनम्" । (इत्यादीनि लक्षणानि)।

१—प्रत्यक्षज्ञान को मध्यस्थ बना कर इसके द्वारा परोक्षविषय को प्राप्त करना ही उपासना का प्रथम लक्षण है। स्वर्गादि फल परोक्ष हैं । आहवनीय—गार्हपत्य—दक्षिणाग्नि—पुरोडाश—जुहू—उपभृत् ध्रुवा—दर्भ—वेदि, मन्त्र—आदि यज्ञकर्मस्वरूपसम्पादक सामग्री—सम्भार प्रत्यक्षज्ञानसिद्ध विषय हैं । एकमात्र श्रद्धासूत्र के आधार पर यज्ञकर्त्ता यजमान इन प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थों की मध्यस्थता के आधार पर उस परोक्ष स्वर्गफलप्राप्ति की उपासना कर रहा है।

२—हमारे (यजमान के) बौद्धिक धरातल में 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधिश्रद्धान से परोक्ष स्वर्गफल प्रतिष्ठित है । इस बुद्धिसंनिकृष्ट वासनात्मक फल के आधार पर हम यज्ञकर्म्मद्वारा उस विदूरस्थ (दिव्यलोकस्थ) फलात्मक नाचिकेत—स्वर्गप्रत्यय के अधिकारी बन जाते हैं । यही उपासना का प्रथम लक्षण से मिलता जुलता दूसरा लक्षण है।

३—जिस इन्द्रियातीत परोक्षभाव को हम जानना चाहते हैं निगमनलक्षण संकेत के आधार पर उसका एक काल्पनिकरूप बना लिया जाता है। उस कल्पित रूप में 'स एवायम्' इसप्रकार का जो सत्यत्वधारण है, वही श्रद्धा है। इस श्रद्धा से आकर्षित होकर उस कल्पितरूप की जो परिचर्य्या की जाती है, वही उपासना है। ब्रह्म स्वस्वरूप से निर्गुण है, निराकार है, परोक्ष है, इन्द्रियातीत है।

"अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मन ।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥"

इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार उसकी कल्पित प्रतिमा बना ली जाती है । साथ ही इसे साक्षात् वही समझते हुए उसकी परिचर्य्या की जाती है । ठीक यही स्थिति यज्ञकर्म में समझिए । यज्ञकर्मसम्पादक आहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्निकुण्ड क्रमशः स्वर्ग-अन्तरिक्ष-पृथिवीलोक से समतुलित हैं । तत्रस्थ अग्नित्रयी आदित्य-वायु-अग्नि से समतुलित हैं । तदनुरूप ही इनकी परिचर्य्या की जाती है । एवं इस दृष्टि से भी कर्म्म में उपासना का समन्वय हो रहा है ।

४—ईश्वर पर विश्वास रखने वाले श्रद्धालु ईश्वरांशभूत सूर्य्य, गुरु, अवतार, पाषाणप्रतिमा, आदि में वैसी ही भावना रखते हुए इनकी आराधना करते हैं । यथैव स्वर्गतत्त्व पर विश्वास करने वाले याज्ञिक स्वप्राप्त्युपायभूत कुण्डाग्नि-पुरोडाश-सोम-आज्यादि की श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं । वे गार्हपत्य को साक्षात् पृथिवी समझते हैं, आहवनीय को सूर्य्य मानते हैं, सोमरस को तृतीय द्युलोक की वस्तु मानते हैं ।

५—जिस तत्त्व को हम जानना चाहते हैं, किंवा प्राप्त करना चाहते हैं, मान लीजिए वह विज्ञातव्य-प्राप्तव्य तत्त्व आधिदैविक-सूक्ष्म-जगत् की वस्तु होने से परोक्ष है । उसके परिज्ञान, तथा उपलब्धि के लिए वैज्ञानिक अधिकारियों के बोधसौकर्य्य को लक्ष्य में रखते हुए आधिभौतिक पदार्थ को मध्यस्थ बना कर इसमें उस परोक्ष तत्त्व का आहार्य्यारोपविधि से, किंवा प्रतिरूपविधि से, किंवा प्रतीकविधि से आरोप कर इसके द्वारा उस परोक्ष तत्त्व के साथ जो अपने ज्ञानरूप से सम्बन्ध करा देना है, वही उपासना है । तात्पर्य्य यही है कि, आधिभौतिक पदार्थ में प्रत्ययालम्बनता तीन प्रकार से सम्भव है । आधिदैविक तत्त्व की प्राप्ति के सम्बन्ध में मध्यस्थ आधिभौतिक पदार्थों में दृष्टि-स्थिर करने के ये ही तीन आलम्बन है ।

'अन्य को अन्य समझना' ही आरोपविधि है । यह आरोप प्रातिभासिक, व्यावहारिक, भेद से दो श्रेणियों में विभक्त है । रज्जु में सर्प का, स्थाणु में पुरुष का, शुक्ति में रजत का, मृगमरीचिका में जल का, शश में शृङ्ग का, वन्ध्या में पुत्रप्रसूति का आरोप करना प्रातिभासिक आरोप है । अतएव ये आरोप मिथ्या-कोटि में अन्तर्भूत हैं । व्यावहारिक आरोप परमार्थदृष्टि से असत् रहता हुआ भी व्यवहारजगत् की दृष्टि से परमोपयोगी है । प्रातिभासिक आरोप जहाँ दार्शनिक परिभाषा में 'अध्यास' कहलाता है, वहाँ व्यावहारिक आरोप को प्रातिभासिक आरोप से पृथक् बतलाने के लिए 'आहार्य्यारोप' नाम से व्यवहृत किया गया है । जिस सत्य-परमार्थ बोध के लिए यह आरोप किया जाता है, बोधानन्तर वह आरोप स्वत निवृत्त हो जाता है । जिस भौतिक वस्तु में आहार्य्यारोप किया जाता है, उसके कुछ एक धर्म्मों का, तथा जिस परोक्षतत्त्व की प्राप्ति के लिए आहार्य्यारोप किया जाता है, उसके कुछ एक धर्म्मों का समतुलन करके ही आरोप किया जाता है । दोनों के अभिन्न धर्म्मों का ग्रहण कर लिया जाता है, भिन्न धर्म्मों का परित्याग कर दिया जाता है । समस्त सांसारिक व्यवहार इसी आहार्य्यारोप पर प्रतिष्ठित हैं । यही इसकी उपादेयता है । एक भ्राता दूसरे भ्राता में कर्म्मणादान-दृष्टिसाम्य से दक्षिण भुजा का आरोप करता है । पट्टिका पर लिखित वर्णमातृका में नित्य मातृतत्त्व का आरोप होता है । इसीप्रकार यज्ञिय कर्मकाण्ड में आज्य में वज्र का, विराट्छन्द में यज्ञ का, मृगचर्म में वेदमयी का आरोप है ।

आहार्य्यारोपविधि के अनन्तर प्रतिरूपविधि हमारे सामने आती है। शालग्रामशिला आभूप्रजापति (स्वयम्भू) का,प्रतिरूप (प्रतिकृति-प्रतिमा-नकल) है। अश्वत्थवृक्ष षोडशीप्रजापति का प्रतिरूप है। कच्छपप्राणी कूर्म्मप्रजापति का प्रतिरूप है। यज्ञकर्म्मप्रधान वेद के विधि भाग में चिति-यज्ञ की इतिकर्तव्यता बतलाते हुए प्रतिकृतिलक्षणा-प्रत्ययालम्बनात्मिका इसी प्रतिरूपोपासना का आश्रय लिया गया है। रुक्म-कूर्म्म पञ्चपशुशीर्ष-आदि चित्य पदार्थों के द्वारा प्रतिरूपविधि से सूर्य्य-कश्यप-पञ्चपशु आदि ही अभिप्रेत हैं, जैसाकि चयनविज्ञानात्मक क्रतु-प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है। तीसरी प्रतीकरूपा उपासना है, इसे ही 'अङ्गवती' उपासना भी माना गया है। सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-आदि पर्व उस विराट्पुरुष के प्रतीक हैं, अवयव हैं। अङ्ग शिरग्रहण से जैसे मनुष्य पर ध्यान चला जाता है, चरणसेवा से जैसे गुरुसेवा गतार्थ है, वस्त्रैकदेश के दग्ध हो जाने पर जैसे 'पटो दग्धः' व्यवहार लोकसम्मत है, एवमेव पुष्करपर्ण (कमलपत्र) ग्रहण से पृथिवी का ग्रहण मानते हुए ब्राह्मणग्रन्थों में इस प्रतीकरूपोपासना का भी यत्र तत्र समावेश हुआ है।

६—अपने मानसज्ञान को बुद्धिपूर्वक उपास्य देवता के प्रति अनन्यरूप से, अविच्छिन्नरूप से प्रवाहित करना ही उपासना है। यज्ञकर्म्मारम्भ से यज्ञसमाप्ति पर्य्यन्त ऋत्विजों से युक्त यजमान अपने मानस जगत् को अनन्यरूप से यज्ञकर्म्म में प्रतिष्ठित रखता हुआ इस लक्षण का भी अनुगामी बना हुआ है।

७—परोक्ष प्राणदेवता का अध्यात्म संस्था में आधान करने के लिए तत्-प्राणदेवताप्रधान तद्भूत पर मन का संयम किया जाता है। यही उपासना है। परोक्ष स्वर्गफलातिशय को अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित करने के लिए यजमान आधिभौतिक-प्रत्यक्ष यज्ञ पर अपनी निष्ठा रखता हुआ इस लक्षण का भी अनुगामी बन रहा है।

८—मानस-श्रद्धासूत्र के द्वारा उपास्य में मनोबुद्धि-समर्पित कर देना ही उपासना है। यज्ञकर्त्ता यजमान इसी श्रद्धा के आधार पर अपने मन, तथा बुद्धि को अनुष्ठेय कर्म्म में संलग्न रखता हुआ इस लक्षण का भी अनुगामी बन रहा है।

९—श्रद्धासूत्र के प्रभाव से उपासक अपने आत्मा को व्यापक परमात्मा के साथ युक्त करता हुआ उसका भाग बन जाता है। भक्ति ही भाग है, भाग ही अंश है। इस अंशस्वरूपात्मिका भक्ति-सम्पत् प्राप्ति के लिए जो कर्म्मविशेष किया जाता है, वह भी लक्षणया 'भक्ति' कहलाने लगा है। यही भक्ति (भक्त्युपाय) उपासना है। श्रद्धासूत्र के द्वारा यज्ञकर्त्ता यजमान अपने भौतिक मानुषात्मा को विश्वाविकेतस्वर्गं विधि सम्पत्सरयज्ञात्मक देवात्मा के साथ युक्त करता हुआ उसका भाग बन जाता है। इसी भागात्मिका (अंशात्मिका) भक्ति के आकर्षण से (देवात्माकर्षण से) यजमान का मानुषात्मा आयुर्भोगानन्तर स्थूलशरीर छोड़ता हुआ स्वर्गफलभोक्ता बनता है। इस भक्तिलक्षणा अतिशयसम्पत् के लिए अनुष्ठेय यज्ञकर्म्म भी उपचारविधि से भक्ति ही है।

१०—उपासक पुरुष उपास्य देवता के स्वरूप रुचि के अनुसार चलता हुआ, उसकी इच्छा के अनुसार अनुगमन करता हुआ ही स्वोपासना में समर्थ होता है। यज्ञकर्त्ता यजमान भी प्राप्तव्य प्राणदेवता की रुचि के अनुसार ही अनुगमन करता है। 'न वै देवा सर्वेण सम्वदन्ते' (शत० ३।१।१।१०) के अनुसार

"अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥"

इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार उसकी कल्पित प्रतिमा बना ली जाती है । साथ ही इसे साक्षात् वही समझते हुए उसकी परिचर्य्या की जाती है । ठीक यही स्थिति यज्ञकर्म्म में समझिए । यज्ञकर्मसम्पादक आहवनीय–गार्हपत्य–दक्षिणाग्निकुण्ड क्रमशः स्वर्ग–अन्तरिक्ष–पृथिवीलोक से समतुलित हैं । तत्रस्थ अग्नित्रयी आदित्य–वायु–अग्नि से समतुलित हैं । तदनुरूप ही इनकी परिचर्य्या की जाती है । एवं इस दृष्टि से भी कर्म्म में उपासना का समन्वय हो रहा है ।

४—ईश्वर पर विश्वास रखने वाले श्रद्धालु ईश्वरांशभूत सूर्य्य, गुरु, अवतार, पाषाणप्रतिमा, आदि में वैसी ही भावना रखते हुए इनकी आराधना करते हैं । तथैव स्वर्गादि पर विश्वास करने वाले याज्ञिक तत्प्राप्त्युपायभूत कुण्डाग्नि–पुरोडाश–सोम–आज्यादि की श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं । वे गार्हपत्य को साक्षात् पृथिवी समझते हैं, आहवनीय को सूर्य्य मानते हैं, सोमरस को तृतीय द्युलोक की वस्तु मानते हैं ।

५–जिस तत्त्व को हम जानना चाहते हैं, किंवा प्राप्त करना चाहते हैं, मान लीजिए वह विजिज्ञास्य–प्राप्तव्य तत्त्व आधिदैविक–सूक्ष्म–जगत् की वस्तु होने से परोक्ष है । उसके परिज्ञान, तथा उपलब्धि के लिए वैज्ञानिक अधिकारियों के बोधसौकर्य्य को लक्ष्य में रखते हुए आधिभौतिक पदार्थ को मध्यस्थ बना कर इसमें उस परोक्ष तत्त्व का आहार्य्यारोपविधि से, किंवा प्रतिरूपविधि से, किंवा प्रतीकविधि से आरोप कर इसके द्वारा उस परोक्ष तत्त्व के साथ जो अपने ज्ञानक्षेत्र से सम्बन्ध करा देना है, वही उपासना है । तात्पर्य्य यही है कि, आधिभौतिक पदार्थ में प्रत्ययालम्बनता तीन प्रकार से सम्भव है । आधिदैविक तत्त्व की प्राप्ति के सम्बन्ध में मध्यस्थ आधिभौतिक पदार्थों में दृष्टि-स्थिर करने के ये ही तीन आलम्बन हैं ।

'अन्य को अन्य समझना' ही आरोपविधि है । यह आरोप प्रातिभासिक, व्यावहारिक, भेद से दो श्रेणियों में विभक्त है । रज्जु में सर्प का, स्थाणु में पुरुष का, शुक्ति में रजत का, मृगमरीचिका में जल का, शश में शृङ्ग का, वन्ध्या में पुत्रप्रसूति का आरोप करना प्रातिभासिक आरोप है । अतएव ये आरोप मिथ्या-कोटि में अन्तर्भूत हैं । व्यावहारिक आरोप परमार्थदृष्टि से असत् रहता हुआ भी व्यवहारजगत् की दृष्टि से परमोपयोगी है । प्रातिभासिक आरोप जहां दार्शनिक परिभाषा में 'अध्यास' कहलाता है, वहां व्यावहारिक आरोप को प्रातिभासिक आरोप से पृथक् बतलाने के लिए 'आहार्य्यारोप' नाम से व्यवहृत किया गया है । जिस सत्य-परमार्थ बोध के लिए यह आरोप किया जाता है, बोधानन्तर वह आरोप स्वतः निवृत्त हो जाता है । जिस भौतिक वस्तु में आहार्य्यारोप किया जाता है, उसके कुछ एक धर्म्मों का, तथा जिस परोक्षतत्त्व की प्राप्ति के लिए आहार्य्यारोप किया जाता है, उसके कुछ एक धर्म्मों का समतुलन करके ही आरोप किया जाता है । दोनों के अभिन्न धर्म्मों का ग्रहण कर लिया जाता है, भिन्न धर्म्मों का परित्याग कर दिया जाता है । समस्त संसारिक व्यवहार इसी आहार्य्यारोप पर प्रतिष्ठित है । यही इसकी उपादेयता है । एक भ्राता दूसरे भ्राता में कर्म्मणाहार्य–दृष्टिसाम्य से दक्षिण भुजा का आरोप करता है । पट्टिका पर लिखित वर्णमालिका में नित्य वाक्तत्त्व का आरोप होता है । इसीप्रकार वैदिक कर्म्मकाण्ड में आज्य में वज्र का, हिरण्यकुन्द में यज्ञ का, मृगचर्म्म में वेदत्रयी का आरोप है ।

है। तीनों परस्पर अभिन्न हैं। दूसरे शब्दों में तीनों का परस्पर अभेद-सम्बन्ध है। एकमात्र इसी आधार पर प्राचीन वैज्ञानिकों ने तीनों काण्डों के लिए 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग किया है। "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" में 'मन्त्र' शब्द जहाँ अनेकशाखात्मिका मन्त्रसंहिता का संग्राहक है, वहाँ 'ब्राह्मण' शब्द 'विधि-आरण्यक-उपनिषत्' तीनों का संग्राहक बन रहा है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। यदि ब्राह्मण शब्द तीनों का संग्राहक है, तो केवल विधिभाग को ही 'शतपथब्राह्मण-ऐतरेयब्राह्मण' इत्यादि रूप से 'ब्राह्मण' नाम से क्यों व्यवहृत किया गया ?। जो 'विधि' शब्द विधिभाग के लिए नियत है, उस विधि शब्द से तो यह विधिभाग व्यवहृत होता नहीं, अपितु जो 'ब्राह्मण' शब्द तीनों के लिए समान है, उस ब्राह्मण शब्द से ही यह विधिभाग व्यवहृत होता है, जब कि आरण्यक, तथा उपनिषत्, दोनों भी इस नाम के समानाधिकारी बनते हुए इस नाम से वञ्चित-से रहे जाते हैं। प्रश्न का समाधान मन्त्रभाग से सम्बन्ध रखता है। वेद का मन्त्रभाग 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, शेष काण्डत्रयी के लिए 'ब्राह्मण' शब्द नियत है। ज्ञातव्य भाग ब्रह्मवेद है, कर्त्तव्य भाग ब्राह्मणवेद है। यद्यपि कर्त्तव्यात्मिका काण्डत्रयी में ब्रह्मविज्ञानसम्बन्धी ज्ञातव्य विषयों का भी पर्य्याप्त स्पष्टीकरण हुआ है, तथापि इनका प्रधान लक्ष्य कर्म्मशिक्षा ही माना गया है। कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-योगत्रयी मानव का अधिकार-भेदभिन्न कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य का 'कर्म्म' से सम्बन्ध है। ज्ञातव्य का ज्ञान से सम्बन्ध है। कर्म्म ही ज्ञान की व्याख्या है। ब्रह्म (ज्ञान) की व्याख्या का 'ब्राह्मण' कहलाना स्वतःप्राप्त है। 'ब्राह्मण' शब्द कर्त्तव्यलक्षण कर्म्म का सूचक है। योगत्रयी के प्रतिपादक तीनों काण्ड इसी कर्म्म मर्यादा से 'ब्राह्मण' उपाधि के अधिकारी बन रहे हैं। अतएव ब्राह्मण शब्द से (कर्त्तव्यकर्म्म द्वारा) तीनों का संग्रह हो जाना भी स्वतः प्राप्त है।

यद्यपि तीनों हीं योग कर्त्तव्यशिक्षा के सम्बन्ध से सामान्यतः 'ब्राह्मण' नाम के अधिकारी हैं, तथापि विधिभाग में क्योंकि कर्म्म शिक्षा का प्राधान्य है, उधर ब्राह्मण शब्द का विशेषतः कर्म्म से सम्बन्ध है, अतएव विधिभाग ही में आगे जाकर ब्राह्मण शब्द प्रधान गया है। एकमात्र इसी आधार पर हमनें प्रकृत प्रकरण के नामकरण में विधिभाग के लिए 'ब्राह्मण' शब्द को प्रधानता दी है।

'ब्रह्म-ब्राह्मण' की उक्त स्वरूपमीमांसा से हमें इस निश्चय पर भी पहुँचना पड़ता है कि कर्त्तव्यभाग-त्रयी का ज्ञातव्यभाग से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्, तीनों स्वस्वरूपबोध के लिए एक दूसरे के आश्रित हैं एवमेव मन्त्रभागात्मक ब्रह्मभाग भी तीनों को लक्ष्य बना कर ही अपने सम्यग्बोध का परिचायक बन रहा है। अतएव यह कहा जासकता है कि, वेदशास्त्र एक है, मन्त्र-ब्राह्मण, ये उसके दो तन्त्र हैं। मन्त्रभाग अनेक अवान्तर तन्त्रों (शाखाओं) में विभक्त है, ब्राह्मणतन्त्र अवान्तर तीन-तन्त्रों में विभक्त है। यही वेदशास्त्र का 'पटधर्म्म' है। पटधर्म्म से तात्पर्य हमारे कहने का यह है कि, जिस प्रकार पट (वस्त्र) के एक तन्तु के हाथ में लेने से सम्पूर्ण पट दृष्टि के सामने उपस्थित हो जाता है, एवमेव ब्रह्म-ब्राह्मणात्मक वेद के किसी भी एक तन्त्र को लक्ष्य बनाने से शेष सम्पूर्ण तन्त्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। अतएव व्यापक दृष्टि रक्खे बिना वेदशास्त्र का सम्यग्बोध असम्भव है। यही वेदस्वाध्याय की एक ऐसी जटिल समस्या है, जो अपने उपक्रमकाल में ही अध्येताओं को विचलित कर देती है। एवं उस समय तो हमारी यह समस्या और भी अधिक विषम बन जाती है, जबकि हम-ब्रह्म-ब्राह्मण को, ब्रह्म के ऋक्-यजु

द्विजातिवीर्य्यप्रवर्त्तक यज्ञिय देवता शूद्रादि से सम्बन्ध नहीं रखते। अतएव तत्सम्पादक दीक्षित यजमान भी यज्ञसमाप्तिपर्य्यन्त शूद्र से भाषण नहीं करता। होता अध्वर्यु के प्रैष (अनुज्ञा) के अनुसार चलता हुआ इस लक्षण का अनुगमन करता हुआ उपासक बन रहा है, जैसाकि-'अध्वर्युमुपास्ते' रूप से स्पष्ट किया जा चुका है। ११-ग्यारहवाँ लक्षण भी इन्हीं उक्त लक्षणार्थों से गतार्थ है।

इसप्रकार विधिभागोक्त यज्ञकर्म्म में प्रतिपादित सभी उपासना-लक्षणों का समन्वय हो रहा है। उपनिषत् तत्त्व से जैसे विधिभाग नित्य अन्वित है एवमेव उपासनातत्त्व से भी विधिभाग नित्य सम्बद्ध है। बिना उपनिषत्-उपासना-तत्त्व परिज्ञान के विधिभागोक्त कर्म्म का रहस्य जान लेना असम्भव है। कर्म्म-प्रधान विधिभाग, उपासनाप्रधान आरण्यकभाग, तथा ज्ञानप्रधान-उपनिषद्भाग के बिना अकृत्स्न है, असर्व है, अतएव अपूर्ण है।

यही अवस्था उपासनाप्रतिपादक आरण्यकभाग की है। उपासनातत्त्व तो यहाँ प्रधान है ही। इसके अतिरिक्त याज्ञकर्म्म, तथा ज्ञानाधारतत्त्व भी यहाँ अनिवार्य्य है। ज्ञानप्रतिष्ठ कर्म्म ही इन्द्रियधारणा लक्षणा तत्त्वोपासना का मूलप्रवर्त्तक माना गया है। शेष उपनिषत् भाग की भी यही परिस्थिति है। उपनिषदों में तीनों योगों का प्रत्यक्षरूप से स्पष्टीकरण हुआ है, जैसाकि-'उपनिषत् हमें क्या सिखाती है ?' प्रकरण में सोदाहरण बतलाया जा चुका है।

उक्त सन्दर्भ से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, विधि, आरण्यक, उपनिषत्, तीनों में परस्पर उपकार्य्योपकारक सम्बन्ध है। तीनों में तीनों विषयों का दृष्टिभेद से विश्लेषण हुआ है। स्वाध्यायप्रेमी हमारे इस कथन का सर्वात्मना समर्थन करेंगे कि, विधिभागोक्त कर्म्मकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक तत्त्व ऐसे हैं, जिनका आरण्यक-उपनिषत् भाग का आश्रय लिए बिना कथमपि समन्वय नहीं किया जा सकता। एवमेव आरण्यक में प्रतिपादित विषय भी अपनी पूर्णता के लिए विधि-उपनिषत्-भागों की अपेक्षा रखते हैं। एवमेव उपनिषत्-भाग के कतिपय विषयों का स्पष्टीकरण विधि-आरण्यक भागानुगमन पर ही अवलम्बित है। उदाहरण के लिए विधिभाग के यज्ञविशिष्टसंधानकर्म्म को ही लीजिए। जबतक छान्दोग्योपनिषदुपवर्णित इस विषय के विज्ञान को आत्मसात् नहीं कर लिया जाता, तबतक विधिभाग का यह विषय अपूर्ण बना रहता है। एवमेव कठोपनिषत् के नचिकेता-यम संवाद का विधि-भागोक्त चयनयज्ञस्वरूप का परिचय प्राप्त किए बिना कथमपि समन्वय नहीं किया जा सकता। विधिभाग कर्म्म के साथ साथ उपासना, एवं ज्ञान पर, आरण्यकभाग उपासना के साथ साथ कर्म्म तथा ज्ञान पर, एवमेव उपनिषत् भाग ज्ञान (विज्ञानयुक्तज्ञानात्मिका उपनिषत्) के साथ साथ कर्म्म तथा उपासना पर प्रकाश डालते हुए परस्परानुग्राह्यानुग्राहक बनते हुए अपनी अभिन्न मैत्री का समर्थन कर रहे हैं।

प्रधान प्रतिपाद्यों की दृष्टि से जहाँ 'विधि-आरण्यक-उपनिषत्' तीनों तीन शास्त्र हैं, वहाँ गौणविषयों की दृष्टि से तीनों की समष्टि एक शास्त्र है। यही क्यों, तीनों तीन शास्त्र नहीं, अपितु एक शास्त्र के तीन तन्त्र हैं। जिस प्रकार वैशेषिक-प्राधानिक-शारीरिक-तीनों एक ही दर्शनशास्त्र के तीन तन्त्र हैं, दर्शनशास्त्र एक है। एवमेव ये तीनों काण्ड एक शास्त्र है। काण्ड का अर्थ है 'पर्व'। पर्व स्वतन्त्र नहीं होता। एक गर्भ में अनेक पर्व होते हैं, सब पर्व एक गर्भ की दृष्टि से अभिन्न हैं। एवमेव कर्तव्यात्मक वेदशास्त्र के ये तीन पर्व

है। तीनों परस्पर अभिन्न हैं। दूसरे शब्दों में तीनों का परस्पर अभेद-सम्बन्ध है। एकमात्र इसी आधार पर प्राचीन वैज्ञानिकों नें तीनों काण्डों के लिए 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग किया है। "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" में 'मन्त्र' शब्द जहाँ अनेकशाखाविभक्त मन्त्रसंहिता का संग्राहक है, वहाँ 'ब्राह्मण' शब्द 'विधि-आरण्यक-उपनिषत्' तीनों का संग्राहक बन रहा है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। यदि ब्राह्मण शब्द तीनों का संग्राहक है, तो केवल विधिभाग को ही 'शतपथब्राह्मण-ऐतरेयब्राह्मण' इत्यादि रूप से 'ब्राह्मण' नाम से क्यों व्यवहृत किया गया ?। जो 'विधि' शब्द विधिभाग के लिए नियत है, उस विधि शब्द से तो यह विधिभाग व्यवहृत होता नहीं, अपितु जो 'ब्राह्मण' शब्द तीनों के लिए समान है, उस ब्राह्मण शब्द से ही यह विधिभाग व्यवहृत होता है, जब कि आरण्यक, तथा उपनिषत्, दोनों भी इस नाम के समानाधिकारी बनते हुए इस नाम से वञ्चित-से देखे जाते हैं। प्रश्न का समाधान मन्त्रभाग से सम्बन्ध रखता है। वेद का मन्त्रभाग 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, शेष काण्डत्रयी के लिए 'ब्राह्मण' शब्द नियत है। ज्ञातव्य भाग ब्रह्मवेद है, कर्त्तव्य भाग ब्राह्मणवेद है। यद्यपि कर्त्तव्यात्मिका काण्डत्रयी में ब्रह्मविज्ञानसम्बन्धी ज्ञातव्य विषयों का भी पर्य्याप्त स्पष्टीकरण हुआ है, तथापि इनका प्रधान लक्ष्य कर्त्तव्यशिक्षा ही माना गया है। कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-योगत्रयी मानव का अधिकार-भेदभिन्न कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य का 'कर्म्म' से सम्बन्ध है। ज्ञातव्य का ज्ञान से सम्बन्ध है। कर्म्म ही ज्ञान की व्याख्या है। ब्रह्म (ब्रह्म) की व्याख्या का 'ब्राह्मण' कहलाना स्वतःप्राप्त है। 'ब्राह्मण' शब्द कर्त्तव्यलक्षण कर्म्म का सूचक है। योगत्रयी के प्रतिपादक तीनों काण्ड इसी कर्म्ममर्यादा से 'ब्राह्मण' उपाधि के अधिकारी बन रहे हैं। अतएव ब्राह्मण शब्द से (कर्त्तव्यकर्म्मरूपा) तीनों का संग्रह हो जाना भी स्वतः प्राप्त है।

यद्यपि तीनों ही योग कर्त्तव्यशिक्षण के सम्बन्ध से सामान्यतः 'ब्राह्मण' नाम के अधिकारी हैं, तथापि विधिभाग में क्योंकि कर्म्म शिक्षा का प्राधान्य है, उधर ब्राह्मण शब्द का विशेषतः कर्म्म से सम्बन्ध है, अतएव विधिभाग ही में आगे जाकर ब्राह्मण शब्द प्रधान गया है। एकमात्र इसी आधार पर हमनें प्रकृत प्रकरण के नामकरण में विधिभाग के लिए 'ब्राह्मण' शब्द को प्रधानता दी है।

'ब्रह्म-ब्राह्मण' की उक्त स्वरूपमीमांसा से हमें इस निश्चय पर भी पहुँचना पड़ता है कि कर्त्तव्यभाग-त्रयी का ज्ञातव्यभाग से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्, तीनों स्वस्वरूपबोध के लिए एक दूसरे के आश्रित हैं, एवमेव मन्त्रभागात्मक ब्रह्मभाग भी तीनों को लक्ष्य बना कर ही अपने सम्यग्बोध का परिचायक बन रहा है। अतएव यह कहा जासकता है कि, वेदशास्त्र एक है, मन्त्र-ब्राह्मण, ये उसके दो तन्त्र हैं। मन्त्रभाग अनेक अवान्तर तन्त्रों (शाखाओं) में विभक्त है, ब्राह्मणतन्त्र अवान्तर तीन-तन्त्रों में विभक्त है। यही वेदशास्त्र का 'पटधर्म्म' है। पटधर्म्म से तात्पर्य हमारे कहने का यह है कि, जिस प्रकार पट (वस्त्र) के एक तन्तु के हाथ में लेने से सम्पूर्ण पट दृष्टि के सामने उपस्थित हो जाता है, एवमेव ब्रह्म-ब्राह्मणात्मक वेद के किसी भी एक तन्त्र को लक्ष्य बनाने से शेष सम्पूर्ण तन्त्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। अतएव व्यापक दृष्टि रक्खे बिना वेदशास्त्र का सम्यग्बोध असम्भव है। यही वेदस्वाध्याय की एक ऐसी जटिल समस्या है, जो अपने उपक्रमकाल में ही अध्येताओं को विचलित कर देती है। एवं उस समय तो हमारी यह समस्या और भी अधिक विषम बन जाती है, जबकि हम-ब्रह्म-ब्राह्मण को, ब्रह्म के ऋक् यजु

दिव्यविधीर्म्यप्रवर्त्तक यज्ञिय देवता शूद्रादि से सम्बन्ध नहीं रखते। अतएव तत्सम्बाहक दीक्षित यजमान भी यज्ञसमाप्तिपर्य्यन्त शूद्र से भाषण नहीं करता। इधर अध्वर्यु के प्रैष (अनुज्ञा) के अनुसार चलता हुआ इस लक्षण का अनुगमन करता हुआ उपासक बन रहा है, जैसाकि-'अध्वर्युमुपास्ते' रूप से स्पष्ट किया जा चुका है। ११-ग्यारहवाँ लक्षण भी इन्हीं उक्त लक्षणार्थों से गतार्थ है।

इसप्रकार विधिभागोक्त यज्ञकर्म्म में प्रतिपादित सभी उपासना-लक्षणों का समन्वय हो रहा है। उपनिषत् तत्त्व से जैसे विधिभाग नित्य अन्वित है एवमेव उपासनातत्त्व से भी विधिभाग नित्य सम्बद्ध है। बिना उपनिषत्-उपासना-तत्त्व परिज्ञान के विधिभागोक्त कर्म्म का रहस्य जान लेना असम्भव है। कर्म्म-प्रधान विधिभाग, उपासनाप्रधान आरण्यकभाग, तथा ज्ञानप्रधान-उपनिषद्भाग के बिना अकृत्स्न है, असर्व है, अतएव अपूर्ण है।

यही अवस्था उपासनाप्रतिपादक आरण्यकभाग की है। उपासनातत्त्व तो यहाँ प्रधान है ही। इसके अतिरिक्त यज्ञकर्म्म, तथा ज्ञानाधारस्व भी यहाँ अनिवार्य्य है। ज्ञानप्रतिष्ठ कर्म्म ही इन्द्रियधारणा लक्षणा तत्त्वोपासना का मूलप्रवर्त्तक माना गया है। शेष उपनिषत् भाग की भी यही परिस्थिति है। उपनिषदों में तीनों योगों का प्रत्यक्षरूप से स्पष्टीकरण हुआ है, जैसाकि-'उपनिषत् हमें क्या सिखाती है ?' प्रकरण में सोदाहरण बतलाया जा चुका है।

उक्त सन्दर्भ से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, विधि, आरण्यक, उपनिषत्, तीनों में परस्पर उपकार्य्योपकारक सम्बन्ध है। तीनों में तीनों विषयों का दृष्टिभेद से विश्लेषण हुआ है। स्वाध्यायप्रेमी हमारे इस कथन का सर्वात्मना समर्थन करेंगे कि, विधिभागोक्त कर्म्मकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक तत्त्व ऐसे हैं, जिनका आरण्यक-उपनिषत भाग का आश्रय लिए बिना कथमपि समन्वय नहीं किया जा सकता। एवमेव आरण्यक में प्रतिपादित विषय भी अपनी पूर्णता के लिए विधि-उपनिषद्-भागों की अपेक्षा रखते हैं। एवमेव उपनिषत्-भाग के कतिपय विषयों का स्पष्टीकरण विधि-आरण्यक भागानुगमन पर ही अवलम्बित है। उदाहरण के लिए विधिभाग के यज्ञविधिसंधानकर्म्म को ही लीजिए। जबतक छान्दोग्योपनिषदुपवर्णित इस विषय के विज्ञान को आत्मसात् नहीं कर लिया जाता, तबतक विधिभाग का यह विषय अपूर्ण बना रहता है। एवमेव कठोपनिषत् के नचिकेता-यम संवाद का विधि-भागोक्त चयनयज्ञस्वरूप का परिचय प्राप्त किए बिना कथमपि समन्वय नहीं किया जा सकता। विधिभाग कर्म्म के साथ साथ उपासना, एवं ज्ञान पर, आरण्यकभाग उपासना के साथ साथ कर्म्म तथा ज्ञान पर, एवमेव उपनिषत् भाग ज्ञान (विज्ञानयुक्तज्ञानात्मिका उपनिषत्) के साथ साथ कर्म्म तथा उपासना पर प्रकाश डालते हुए परस्परानुग्राह्यानुग्राहक बनते हुए अपनी अभिन्न मैत्री का समर्थन कर रहे हैं।

प्रधान प्रतिपाद्यों की दृष्टि से जहाँ 'विधि-आरण्यक-उपनिषत्' तीनों तीन शास्त्र हैं, वहाँ गौणविषयों की दृष्टि से तीनों की समष्टि एक शास्त्र है। यही क्यों, तीनों तीन शास्त्र नहीं, अपितु एक शास्त्र के तीन तन्त्र हैं। जिस प्रकार वैशेषिक-प्राधानिक-शारीरिक-तीनों एक ही दर्शनशास्त्र के तीन तन्त्र हैं, दर्शनशास्त्र एक है। एवमेव ये तीनों काण्ड एक शास्त्र है। काण्ड का अर्थ है 'पर्व'। पर्व स्वतन्त्र नहीं होता। एक गर्भ में अनेक पर्व रहते हैं, सब पर्व एक गर्भ की दृष्टि से अभिन्न हैं। एवमेव कर्म्मात्मक वेदशास्त्र के ये तीन पर्व

भङ्ग–भङ्ग किया है। जैसा कि पूर्व परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया गया है, वैशेषिक–प्राधनिक–शारीरक, तीनों तन्त्र व्याख्याताओं की दृष्टि में स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले पृथक्–पृथक् तीन दर्शनशास्त्र हैं। तीनों की समष्टि उक्त लक्षण के अनुसार सर्वशास्त्र है। यही भेदमूला सर्वता दर्शनतन्त्रों के विरोध का मूलकारण है। यदि वैज्ञानिक दृष्टि से यह समझ लिया जाता है कि, तीन शास्त्र नहीं है, अपितु एक ही दर्शनशास्त्र के तीन तन्त्र हैं, तीन अवयव हैं, फलतः तीनों की समष्टिलक्षण दर्शनशास्त्र उक्त लक्षण के अनुसार 'कृत्स्नशास्त्र' है, तो तीनों का निर्विरोध समन्वय हो जाता है। अभेदमूला यही कृत्स्नता दर्शनतन्त्रों के अविरोध की मूलप्रतिष्ठा है।

ठीक यही परिस्थिति वेदशास्त्र के सम्बन्ध में घटित हुई है। सर्वतापक्ष में ऋक्-यजु-साम अथर्व भेदभिन्ना "मन्त्रसंहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्" चारों पृथक्–पृथक् शास्त्र हैं। चारों की समष्टि सर्व लक्षणानुसार 'सर्वशास्त्र' है। ठीक इसके विपरीत तन्त्र पक्ष में चारों एक वेदशास्त्र के चार अवयव हैं। फलत: कृत्स्नलक्षणानुसार चारों की समष्टि 'कृत्स्नशास्त्र' है। बहुत सम्भव है, हमारी इस कृत्स्न–सर्वव्याख्या को एक काल्पनिक वस्तु मानते हुए पाठक वेदकृत्स्नता की उपेक्षा करने लगें। अत इस सम्बन्ध में हम एक ऐसी महत्त्वपूर्ण सम्मति उनके सम्मुख रख देना चाहिते हैं कि, जिससे वे इस कृत्स्नता के अनुगामी बन सकेंगे।

वेदशास्त्र की कृत्स्नता जिन चार तन्त्रों में विभक्त बतलाई गई है, उन विभागों को क्रमश· 'वेदकाण्ड विधिव्रतकाण्ड, तप काण्ड, रहस्यकाण्ड' इन नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है। वेदकाण्ड मन्त्रसंहिता है, विधिव्रतकाण्ड ब्राह्मण है, तप·काण्ड आरण्यक है, एव रहस्यकाण्ड उपनिषत् है। चारों के परिज्ञान पर ही कृत्स्नवेद की कृत्स्नता अवलम्बित है। "पृथिवीमपि चैवेमा कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति" (मनु· १।१०५)–"नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत्" (मनु १।१०३)–"कृत्स्नमेव कर्मेर्वाशमन्येनैव च कारयेत्" (मनु ८२७) इत्यादि स्थलों में सर्वत्र 'एकस्याशेषत्व कृत्स्नत्वम्' के अनुसार कृत्स्न शब्द का प्रयोग करने वाले भगवान् मनुने विस्पष्ट शब्दों में चतु–पर्वात्मक वेदशास्त्र की कृत्स्नता का ही समर्थन किया है। देखिए !

"तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।
वेद· कृत्स्नोऽधिगन्तव्य· सरहस्यो द्विजन्मना ॥" (मनु २।१६५)।

काण्डचतुष्टयात्मक, अतएव कृत्स्न वेदशास्त्र का मुख्य तन्त्र मन्त्रभाग है जिसके लिए मनुने 'वेद' शब्द का प्रयोग किया है। वेदज्ञानसाधक नियमादिलक्षण तपोऽनुष्ठान, स्वाध्यायविहित व्रतानुगमन, तथा रहस्यज्ञानानुगमन से ही कृत्स्न वेदाधिगम सम्भव है। इस साधनत्रयी के साथ साथ मनु ने संकेतविधि से तप·कर्म्मोपलक्षित उपासनाकाण्डात्मक आरण्यक का व्रतोपलक्षित कर्म्मकाण्डात्मक ब्राह्मण का, रहस्योपलक्षित ज्ञानकाण्डात्मक उपनिषत्भाग का संग्रह करते हुए कृत्स्नवेद के चारों पर्वों की ओर भी ध्यान आकर्षित कराया है। इस कृत्स्नवेद की कृत्स्नता "विज्ञान स्तुति, इतिहास कर्म्म उपासना ज्ञान," इन ६ भागों में विभक्त है। विज्ञान–स्तुति–इतिहास, तीनों प्रधानत· मन्त्रसंहिताभाग के प्रतिपाद्य विषय हैं।

साम-अथर्व-तन्त्रों को, ब्राह्मण के विधि-आरण्यक-उपनिषत्-तन्त्रों को पृथक् पृथक् तन्त्रायी मानते हुए वेदशास्त्र का समन्वय करने के लिए आगे बढ़ते हैं। इसी एकमात्र दोष से आज भारतीय समाज वेदार्थ के समन्वय में अपने आपको असमर्थ सिद्ध कर रहा है। इस असमर्थता का विशेष श्रेय उन व्याख्याताओं को ही अर्पण किया जायगा, जिन्होंने इन वेदतन्त्रों को स्वतन्त्र शास्त्र मानते हुए इनका पार्थक्य कर डाला है।

दूसरा क्षेत्र वर्त्तमान वेदाभ्यासियों का है, जिनके प्राच्य-प्रतीच्य भेद से दो श्रेणिविभाग हैं। अतीत प्राच्य व्याख्याताओं ने पार्थक्य के साथ मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद को एक वेदशास्त्र मानते हुए वहाँ आंशिक रूप से वेदतत्त्व की रक्षा करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है, वहाँ वर्त्तमानयुग के प्राच्य (भारतीय) वेदाभिमानियों ने तो ब्राह्मणभाग का वेदकोटि से बहिष्कार ही कर डाला है। जिन प्रतीच्य (विदेशी) विद्वानों ने दया मुँह इनका वेदत्व स्वीकार किया है, उनके इस सम्बन्ध में ये उद्गार हैं कि, "आरम्भ में भारतीय ब्राह्मण निरे कर्मठ थे, विधिभागपरायण थे। अनन्तर उन्हें उपासनाकाण्ड (आरण्यक) का बोध हुआ। बहुत आगे जाकर एकेश्वरवादमूलक उपनिषदों का आविर्भाव हुआ"। यही प्रवृत्ति वर्त्तमानयुग के उन भारतीय विद्वानों की है, जो 'गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः' को सर्वात्मना चरितार्थ कर रहे हैं।

मन्त्रभाग अप्रस्तुत है। शेष विधि-आरण्यक-उपनिषत्, भागों के सम्बन्ध में सर्वान्त में यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, जिस प्रकार 'अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य, एवं विषयावच्छिन्न चैतन्य' तीनों के समन्वय से उत्पन्न 'प्रत्यय' त्रिपुटीभाव से नित्य आक्रान्त है, एवमेव विधि-आरण्यक-उपनिषत्, तीनों एक दूसरे के उपकारक-उपकार्य्य बनते हुए त्रिपुटीभाव से आक्रान्त हैं। एक के बिना दूसरे का उत्थान असम्भव है। 'कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्'-'जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण'-'बृहदारण्यकोपनिषत्' इत्यादि शब्दव्यवहार भी तीनों के इसी अभिन्न सम्बन्ध का समर्थन कर रहे हैं। एवं-"ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्, तीनों का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?" इस प्रश्न का यही संक्षिप्त समाधान है, जिसके सम्बन्ध में अभी कुछ और जानना शेष रह जाता है।

——×——

४–कृत्स्नात्मक वेदशास्त्र, और तन्त्रों की अकृत्स्नता—

वेदशास्त्र की अङ्ग-महत्ता का मुख्य कारण जहाँ 'सर्व' शब्द बन रहा है, वहाँ इसकी पूर्णता का मूलाधार 'कृत्स्न' शब्द बना हुआ है। अनेक तन्त्रों को अपने गर्भ में रखने वाला वेदशास्त्र कृत्स्न है न कि सर्व। 'एकस्याशेषत्वं कार्त्स्न्यम्' के अनुसार एक वस्तु की सर्वाङ्गीणता का प्रतिपादन करने के लिए 'कृत्स्न' शब्द नियत है। एवं 'अनेकेषामशेषत्वं सार्व्यम्' के अनुसार अनेक वस्तुओं की समष्टि का प्रतिपादन करने के लिए 'सर्व' शब्द नियत है। एक मनुष्यशरीर हस्त-पाद-उरः-वक्ष-मस्तक-आदि सम्पूर्ण अवयवों से युक्त रहता हुआ 'कृत्स्न' है। अनेक मनुष्यों की समष्टि 'सर्व' है। कृत्स्न शब्द सर्वैक्य से सम्बद्ध है, सर्व शब्द सर्वानैक्य से सम्बद्ध है। एकसत्तात्मक एक पदार्थ की सर्वता नहीं है, अपितु कृत्स्नता है। भिन्न भिन्न सत्तात्मक अनेक पदार्थों की कृत्स्नता नहीं है, अपितु सर्वता है। व्याख्याताओं की जिस सर्वता-भ्रान्ति ने कृत्स्न-दर्शनशास्त्र का अङ्ग-भङ्ग किया है, उसी सर्वता-भ्रान्ति ने कृत्स्न वेदशास्त्र का

६—मन्त्रसंहिता की सर्वता —(१)

(१)—विज्ञानसमर्थकवचन—

१—"उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश ।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा, विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ" ॥
(ऋक्‌सं० ५।४७।३) ।

२—"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् ।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ" ॥
(यजु ३४।५५) ।

—×—

३—"इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्यारुहन् ।
प्रभूर्जयो यथापथो द्यामङ्गिरसो ययुः" । (सामस २।१०।२) ।

४—"अन्तिर्नाम देवता-ऋतेनास्ते परीवृता ।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः" ॥ (अथर्व १०।४।८।३१) ।

—×—

(२)—स्तुतिसमर्थकवचन—

१—"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम्" (ऋक्‌सं० १।१।१) ।

२—"नमस्ते रुद्र मन्यव उतोत इषवे नमः ।
बाहुभ्यामुत ते नमः" (यजुर्सं० १६।१) ।

३—"नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः ।
अमैरमित्रमर्दय" (सामस० १।२।१) ।

४—"नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते" ॥ (अथर्व० ११।४।१) ।

—×—

(३)—इतिहाससमर्थकवचन—

१—"क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुराचित् ।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते" ॥
(ऋक् ७।८८।५) ।

३—"इन्द्राय मद्वने सुत परिष्टोभन्तु नो गिर ।
अर्कमर्चन्तु कारव" (सामसं०पू० २।७।४।) ।

४—"देव सस्फान सहस्रापोपस्येशिपे ।
तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांस स्याम" ॥
(अथर्व० ६।७६।३।) ।

——×——

(६)–ज्ञानसमर्थकवचन—

१—"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदु ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत" ॥
(ऋक्सं० १।१६४।३६।) ।

२—"यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत ।
तत्र को मोह क. शोक एकत्वमनुपश्यत" ॥ (यजुःसं० ४० ७।) ।

३—"विधु दद्राण समने बहूनां युवान सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्य महित्वाद्यामभार स ह्य समान ॥
(साम० उ० ६।१।७।) ।

४—"अकामो धीरो अमृत स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्च नोन ।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मान धीरमजर युवानम्" ॥
(अथर्व० १०।८।४४)

——१——

७—ब्राह्मणवेद की सर्वता (२)—

(१)–विज्ञानसमर्थकवचन—

१—"प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्–दिवमित्यन्ये आहु, उपसमित्यन्ये । तामृश्यो भूत्वा रोहित भूतामभ्यैत् । तं देवा अपश्यन्–अकृत वै प्रजापति करोति–इति । ते तमैच्छत्–य एनमारिष्यति । एतमन्योऽन्यस्मिन्नाविन्दन् । तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसन्–ता एकधा समभरन् । ता सम्भृता एष देवोऽभवत् । अस्यैतद् भूतवन्नाम" ॥ (ऐ०ब्रा०१३अ०।६ खं० ऋग्ब्राह्मण) ।

२—"यदेतन्मण्डलं तपति–तन्महदुक्थं, ता ऋच , स ऋचाल्लोकः । अथ यदेत-

२—"आशु शिशानो वृषभो न भीमो घनाघन क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीर शत सेना अजयत् साकमिन्द्र" ॥
(यजुः १७।३३।)

३—"इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुत' ।
जघान नवतीर्नव" (सामस० उ० ३।१।८) ।

४—"अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान् पराभवयन् मनीषी ।
अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उमे इमे अनेनाजयत् प्रदेशश्चतस्र" ॥
—अथर्व० ८।३।३) ।

—×—

(४)—कर्म्मसमर्थकवचन—

१—"स वां कर्म्मणा ममिषा हिनोमीन्द्राविष्णू अपसारे अस्य ।
जुषेथां यज्ञ द्रविणं च धत्तमरिष्टैर्न पथिभि' पारयन्ता" ॥
(ऋक्सं० ६।६६।१।)

२—"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छत समा' ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे" ॥ (यजु ४०।२।)

३—"नकिष्टं कर्म्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् ॥
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्त्तमृभ्वसमधृष्ट धृष्णुमोजसा" ॥ (साम०उ० ४।८।)

४—"अनाप्ता ये व प्रथमा यानि कर्म्माणि चक्रिरे ।
वीरान् नो अत्र मा दमन् तद् व एतत् पुरो दधे" ॥
(अथर्व०४।७।७) ।

—×—

(५)—उपासनासमर्थकवचन—

१—"तद्विष्णो परम पद सदा पश्यन्ति सूरय ।
दिवीव चक्षुराततम्" ॥ (ऋक्सं० १।२२।२०।) ।

२—"य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिष यस्य देवाः ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम" ॥
(यजु २५।१३।) ।

४"तदप्येतदृचोक्तम्—

चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आविवेश" इति ।
(गो० ब्रा० पू० २।१६। अथर्वब्राह्मण)

(२)—इतिहाससमर्थकवचन—

१—"तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः, पञ्चाशदेव ज्यायांसो मधुच्छन्दसः, पञ्चाशत् कनीयांसः। तद्ये ज्यायांसो, न ते कुशलं मेनिरे।ताननुव्याजहारान्तान् वः प्रजा भक्षीष्टेति। त एतेऽन्ध्राः, पुण्ड्राः, शबराः, पुलिन्दाः, मूतिबा, इत्युदन्त्या बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः।"
(ऐ० ब्रा० ३३। । ऋग्ब्राह्मण)

२—"तच्च्यवनो वा भार्गवश्च्यवनो वाङ्गिरसस्तदेव जीर्णिः कृत्यारूपो जहे। शर्यातो ह वा इदं जीर्णिं कृत्यारूपमनर्थ्यं मन्यमानः—लोष्टैर्विपिपिषुः। स शर्यातेभ्यश्चुक्रोध। तेभ्योऽसंज्ञां चकार, पितैव पुत्रेण युयुधे, भ्राता भ्रात्रा। शर्यातो ह ईक्षाञ्चक्रे—यत् किमकर्म, तस्मादिदमापदीति। स गोपालांश्चाविपलांश्च स ह्वयित्वाऽउवाच" (शत० ब्रा० ४।१।५। —यजुर्ब्राह्मण)।

३—"केशिने वा एतद्दाल्भ्याय सामाऽऽविरभवत्" (सा० ब्रा० १३।१०।८)—"उशना वै काव्योऽकामयत-यावानितरेषां काव्यानां लोकस्तावन्तं स्पृणुयामिति" (तां० ब्रा० १४।१२।५।)—"स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यन्तमसाविध्यत्। त देवा न व्यजानन्। तेऽत्रिमुपाधावन्। तस्यात्रिर्भासेन तमोऽपाहन्यत्"
(तां० ब्रा० ६।६।८। —सामब्राह्मण)।

४—"एतद्ध स्मैतद् विद्वांसमेकादशाक्षम्मौद्गल्य ग्लावो मैत्रेयोऽभ्याजगाम। स तस्मिन् ब्रह्मचर्यं वसतो भिक्षायोवाच—किं स्विन्मर्य्या अयं त मौद्गल्योऽध्येति, यदास्मिन् ब्रह्मचर्ये वसतीति। तद्धि मौद्गल्यस्यान्तेवासी शुश्राव"।
(गो० ब्रा० पू० १।३१ —अथर्वब्राह्मण)

यदेतदर्चिर्दीप्यते-तन्महाव्रत, तानि सामानि, स साम्नां लोक । अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुष-सोऽग्नि, तानि यजूंषि, स यजुषां लोक । सैषा त्रय्येव विद्या तपति" (शत० ब्रा० १०।३।४।१-२, यजुर्ब्राह्मण)

३—प्रजापतिरकामयत—बहु स्यां, प्रजायेयेति । सोऽशोचत् । तस्य शोचत आदित्यो मूर्ध्नोऽसृज्यत । सोऽस्य मूर्द्धानमुदहन् । स द्रोणकलशोऽभवत् । तस्मिन् देवा शुक्रमगृह्णत । तो मे स आयुर्याचिमत्यजीवत्" ।

(ताण्ड्य० ब्रा० ६।५।१। सामब्राह्मण) ।

४—"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् स्वयन्त्वेकमेव । तदैक्षत—महद्वै यक्ष—तदेकमेवास्मि, हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्ममे—इति । तदभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहो यदार्द्रयं मजायत-तेनानन्दत् । तमब्रवीत्-महद्वै यक्ष सुवेदमविदामहे-इति । तस्मात् सुवेदोऽभवत् । त वा एतं सुवेदं सन्तं स्वेद इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः" । (गो० ब्रा० पू० १।१।१।—अथर्वब्राह्मण)

(२)—स्तुतिसमर्थकवचन—

१—"इन्द्रस्य नु वीर्य्याणि प्रवोचं" मिति सूक्त शंसति । तद्वा एतत् प्रियमिन्द्रस्य सूक्त निष्केवल्य हैरण्यस्तूपम् । एतेन वै सूक्तेन हिरण्यस्तूप आङ्गिरस इन्द्रस्य प्रियं धामोपागच्छत्,—स परमं लोकमजयत्"

(ऐ० ब्रा० १२।१३। ऋग्ब्राह्मण) ।

२—"ईडेन्यो नमस्य इति । तिरस्तमांसि दर्शत इति । समग्निरिध्यते वृषेति । वृषोऽग्निः समिध्यते-इति । अश्वो न देव वाहन इति । तं हविष्मन्त ईडत इति वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषण' समिधीमहि । अग्ने दीद्यतं बृहत्"

(शत० ब्रा० १।४।१।२६,३३,—यजुर्ब्राह्मण) ।

३—"चात्वालमवेक्ष्य बहिष्पवमानं स्तुवन्ति । अग्र वा असावादित्य आसीत् । तं देवा बहिष्पवमानेन स्वर्गं लोकमहरन् । यच्चात्वालमवेक्ष्य बहिष्पवमानं स्तुवन्ति, यजमानमेव तत् स्वर्गं लोकं हरन्ति"

(ता० ब्रा० ६।७।२४। सामब्राह्मण) ।

४—"यो ह वा एतन्नित्, स ब्रह्मवित् । पुण्या च कीर्त्ति च लभते, सुरभींश्च गन्धान् । सोऽपहतपाप्मानन्त्यश्रियमश्नुते—य एवं वेद, यश्चैवं विद्वानेता-मेवां वेदानां मातर सावित्रीसम्पदमुपनिषदमुपास्ते" ।

(गो० ब्रा० १।३८ अथर्वब्राह्मण) ।

(६)—ज्ञानसमर्थकवचन—

१—"तेषा चित्ति स्रुगासीत् , चित्तमाज्यमासीत् , वाग्वेदिरासीत् , आधीत बर्हिरासीत् , केतो अग्निरासीत् , विज्ञातमग्नीदासीत् , प्राणो हविरासीत् , सामाध्वर्युरासीत्, वाचस्पतिर्होतासीत्, मन उपवक्तासीत् । ते वा एत ग्रहमगृह्णत" । (ऐ० ब्रा० २४।६। ऋग्ब्राह्मण) ।

२—"स एष नेति नेत्यात्मा । अगृह्यो न हि गृह्यते, अशीर्य्यो न हि शीर्य्यते, असङ्गोऽसितो न सज्जते न व्यथते । अभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः" (शत० १४।५।८।६। यजुर्ब्राह्मण) ।

८—आरण्यक वेद की सर्वता (३)—

(१)—विज्ञानसमर्थकवचन—

१—"अथातो रेतस सृष्टि । प्रजापते रेतो देवाः, देवानां रेतो वर्षम्, वर्षस्य रेत ओषधयः, ओषधीनां रेतोऽन्नं, अन्नस्य रेतो रेतः, रेतसो रेत प्रजा , प्रजानां रेतो हृदयं, हृदयस्य रेतो मन , मनसो रेतो वाक्, वाचो रेत कर्म्म । तदिद कर्म्म कृतमयं पुरुषो ब्रह्मणो लोकः" (ऐ०आ०२।१।३।) ।

(२)—स्तुतिसमर्थकवचन—

१—"यो मंहिष्ठो मघोनां चिकित्वो अभि नो नय ।
इन्द्रो विदे तमु स्तुषे वशी हि शक्रः" ।। (ऐ०आ०४।१।१।) ।

(४-)कर्म्मसमर्थकवचन—

१-"देवा वै यज्ञेन श्रमेण तपसाऽऽहुतिभिः स्वर्गं लोकमजयन् । तेषां वपायामेव हुतायां स्वर्गो लोकः प्राख्यायत । ते वपामेव हुत्वाऽनाहृत्येतराणि कर्म्माण्यूर्ध्वाः स्वर्गं लोकमायन् । ततो वै मनुष्याश्च ऋषयश्च देवानां यज्ञवास्त्वभ्यायन्" (ऐ० ब्रा० ७।४। ऋग्ब्राह्मण) ।

२-"श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे-इति । यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म ।
तस्मादाह-श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे' इति"

(शत० ब्रा० १।६।५।४। यजुर्ब्राह्मण) ।

३-"आत्मा वा एष सम्वत्सरस्य-यद्विषुवान् । पक्षावेतावभितो भवतः, येन यतोऽमीवर्त्तेन यन्ति, यश्च परस्तात् प्रगाथो भवति, तावुभौ विषुवति कार्य्यौ । पक्षावेव तद्यज्ञस्यात्मन् प्रतिदधाति स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै" ।

(तां० ब्रा० ४।७।१। सामब्राह्मण) ।

४-"अथातो यज्ञक्रमाः । अग्न्याधेयम् । अग्न्याधेयात् पूर्णाहुतिः । पूर्णाहुतेरग्निहोत्रम् । अग्निहोत्राद्दर्शपूर्णमासौ । दर्शपूर्णमासाभ्यामाग्रयणम् । आग्रयणाच्चातुर्मास्यानि । चातुर्मास्येभ्यः पशुबन्धः । अग्निष्टोमः, राजसूयः, वाजपेयः, अश्वमेधः, पुरुषमेधः, सर्वमेधः" (गो० ब्रा० पू० ५।७। अथर्वब्राह्मण) ।

---

(५)-उपासनासमर्थकवचन—

१-"अथैनमुवाच (नारदो) वरुणं राजानमुपधाव-'पुत्रो मे जायताम्,' तेन त्वा यजा' इति । तथेति, स वरुणं राजानमुपससार, तेन त्वा यजा, इति । तथेति । तस्य पुत्रो जज्ञे रोहितो नाम" ।

(ऐ० ब्रा० ३३।२। ऋग्ब्राह्मण) ।

२-"तद्येऽमुष्मिँल्लोके रुद्रास्तेभ्य एतन्नमस्करोति । तद्येऽस्मिँल्लोके रुद्रास्तेभ्य एतन्नमस्करोति । तऽएवास्मै मृडन्ति" (शत० ६।१।१। यजुर्ब्राह्मण) ।

३-"नमो गन्धर्वाय विश्वगुवादिने वर्चोधा असि, वर्चो मयि धे हि" । (तां० ब्रा० १।३।१)-"नमः समुद्राय, नमः समुद्रस्य चक्षुषे" ।

(तां० ब्रा० ६।४।७ -सामब्राह्मण) ।

४–"यो ह वा एवंवित्, स ब्रह्मवित्। पुण्या च कीर्त्तिं च लभते, सुरभींश्च गन्धान्। सोऽपहतपाप्मानन्त्यश्रियमश्नुते–य एवं वेद, यश्चैवं विद्वानेव-मेवा वेदाना मातर सावित्रीसम्पदमुपनिपदमुपास्ते"।

(गो० ब्रा० १।३८। अथर्वब्राह्मण)।

---

(६)–ज्ञानसमर्थकवचन—

१–"तेषां चित्ति स्रुगासीत्, चित्तमाज्यमासीत्, वाग्वेदिरासीत्, आधीत वर्हिरासीत्, केतो अग्निरासीत्, विज्ञातमग्नीदासीत्, प्राणो हविरासीत्, सामाध्वर्युरासीत्, वाचस्पतिर्होतासीत्, मन उपवक्तासीत्। ते वा एत ग्रहमगृह्णात"। (ऐ० ब्रा० २४।६। ऋग्ब्राह्मण)।

२–"स एप नेति नेत्यात्मा। अगृह्यो न हि गृह्यते, अशीर्य्यो न हि शीर्य्यते, असङ्गोऽसितो न सज्जते न व्यथते। अभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्य" (शत० १४।४।८।६। यजुर्ब्राह्मण)।

८–आरण्यक वेद की सर्वता (३)—

(१)–विज्ञानसमर्थकवचन—

१–"अथातो रेतस सृष्टि। प्रजापते रेतो देवा, देवानां रेतो वर्षम्, वर्षस्य रेत ओपधयः, ओपधीनां रेतोऽन्नं, अन्नस्य रेतो रेतः, रेतसो रेत प्रजा, प्रजानां रेतो हृदय, हृदयस्य रेतो मन, मनसो रेतो वाक्, वाचो रेत कर्म्म। तदिदं कर्म्म कृतमयं पुरुषो ब्रह्मणो लोकः" (ऐ०आ०२।१।३।)।

---

(२)–स्तुतिसमर्थकवचन—

१–"यो मंहिष्ठो मघोनां चिकित्वो अभि नो नय।
इन्द्रो विदे तमु स्तुषे वशी हि शक्रः"॥ (ऐ०आ०४।१।१)।

---

(३)—इतिहाससमर्थकवचन—

१—"विश्वामित्रं ह्येतदहः शशिष्यन्तमिन्द्र उपनिषसाद । स हाग्नमित्यभिव्याहृत्य बृहतीसहस्रं शशंस । तेनेन्द्रस्य प्रियं धामोपेयाय । तमिन्द्र उवाच—ऋषे ! प्रियं वै धामोपागा । वरं ते ददामि—इति" (ऐ०आ०२।२।३)।

(४)—कर्मसमर्थकवचन—

१—"पञ्चकृत्व प्रस्तौति, पञ्चकृत्व उद्गायति, पञ्चकृत्व प्रतिहरति, पञ्चकृत्व उपद्रवति, पञ्चकृत्वो निधनमुपयन्ति । तत् स्तोमसहस्रं भवति" (ऐ०आ०२।३।४)।

(५)—उपासनासमर्थकवचन—

१—"कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा ? इति । येन वा पश्यति, शृणोति, गन्धानाजिघ्रति, वाचं व्याकरोति, स्वादु-चास्वादु च विजानाति० ××। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति" (ऐ०आ०२।६।१)।

(६)—ज्ञानसमर्थकवचन—

१—"एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे । वाचि हि प्राणं जुहुमः, प्राणे वा वाचम् । यो ह्येव प्रभवः, स एवाप्ययः" (ऐ०आ०३।२।६)।

६—उपनिषत् वेद की सर्वता (४)—

(१)—विज्ञानसमर्थकवचन—

१—"अन्नमशितं त्रेधाविधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः । आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते । तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः ।

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति, यो मध्यमः स मज्जा, योऽणिष्ठः सा वाक् । अन्नमयं हि सोम्य ! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्'' (छां०उप०६।५।४) ।

---
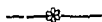
(२)–स्तुतिसमर्थकवचन—

१–''विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
स बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः'' ॥
(श्वेताश्व०३।३) ।

---
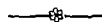
(३)–इतिहाससमर्थकवचन—

१—मटचीहतेषु कुरुष्वाटक्या सह जायययोपस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ।
स हेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं बिभिक्षे । तं होवाच–नेतोऽन्ये विद्यन्ते, यच्च ये म इम उपनिहिता–इति । मे देहीति होवाच । तानस्मै प्रददौ''(छां उप०१।१० ।)।

---

(४)–*कर्म्मसमर्थकवचन
(५)–उपासनासमर्थकवचन
(६)–ज्ञानसमर्थकवचन

* प्रकरणोपसंहार

संहिताभाग को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाने वाली विधि–आरण्यक–उपनिषत्–भेदभिन्ना काण्डत्रयी का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?, इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर तो काण्डत्रयी के सम्यक् स्वाध्याय पर ही निर्भर है । इस सम्बन्ध में हमारा अपना तो यही स्पष्टीकरण है कि, जिस प्रकार शिर–हृदय–पाद, ये तीनों शरीरपर्व एक ही शरीर के स्वरूपनिर्म्माता हैं तीनों का जैसे परस्पर उपकार्य्य–उपकारक सम्बन्ध है, एवमेव शिर स्थानीय उपनिषत्, हृदयस्थानीय आरण्यक, तथा पादस्थानीय ब्राह्मण (विधि), तीनों शरीरस्थानीय कर्त्तव्यात्मक एक ही वेदशास्त्र के स्वरूपनिर्म्माता हैं, एवं तीनों का परस्पर उपकार्य्य–उपकारक सम्बन्ध है । प्रत्येक पर्व के सम्यक् अवबोध के लिए इतर दोनों पर्वों का सम्यक्–ज्ञान नितान्त अपेक्षित है ।

---

* पूर्व के द्वितीय परिच्छेद में तीनों के उदाहरण उद्धृत किए जा चुके हैं ।

(३)—इतिहाससमर्थकवचन—

१—"विश्वामित्रं ह्येतदहः शंसिष्यन्तमिन्द्र उपनिषसाद। स हाभमित्यभिव्याहृत्य बृहतीसहस्रं शशंस। तेनेन्द्रस्य प्रियं धामोपेयाय। तमिन्द्र उवाच–ऋषे! प्रियं वै धामोपागाः। वरं ते ददामि–इति" (ऐ०आ०४।१।३)।

—❀—

(४)—कर्मसमर्थकवचन—

१—"पञ्चकृत्व प्रस्तौति, पञ्चकृत्व उद्गायति, पञ्चकृत्व प्रतिहरति, पञ्चकृत्व उपद्रवति, पञ्चकृत्वो निधनमुपयन्ति। तत् स्तोमसहस्रं भवति"
(ऐ०आ०२।३।८)।

—❀—

(५)—उपासनासमर्थकवचन—

१—"कोयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा? इति। येन वा पश्यति, शृणोति, गन्धानाजिघ्रति, वाचं व्याकरोति, स्वादु–चास्वादु च विजानाति० ××। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति" (ऐ०आ०२।६।१)।

—❀—

(६)—ज्ञानसमर्थकवचन—

१—"एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुरृषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे। वाचि हि प्राणं जुहुमः, प्राणे वा वाचम्। यो ह्येव प्रभवः, स एवाप्ययः" (ऐ आ०३।२।६)।

—❀—

६—उपनिषत् वेद की सर्वता (४)—

(१)—विज्ञानसमर्थकवचन—

१—"अन्नमशितं त्रेधाविधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः। आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते। तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः।

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

'ब्राह्मणारण्यकोपनिषत्-सम्बन्धस्वरूपदिग्दर्शन' नामक

पञ्चम-स्तम्भ उपरत

५

उक्त पारस्परिक सम्बन्ध के द्वारा प्रकृत में बतलाना यही है कि, पटस्थानीय वेदशास्त्र के तन्तुस्थानीय संहिता आदि चारों का स्वाध्याय सर्वथा-तथा कृत्स्नथा-भावनिबन्धन निखिल वेदशास्त्र-स्वाध्याय पर ही अवलम्बित है। केवल एक भाग को लक्ष्य बनाते हुए उस भाग के प्रतिपाद्य विषय की उसी भाग पर विश्रान्ति मानते हुए सन्तोष कर लेना मौग्ध्यवादमात्र ही माना जायगा। खण्डखण्डात्मक भाग का स्वाध्यायकर्म्म इसी हेतु से वेदशास्त्रबोध का परिपन्थी बना हुआ है। वेदस्वाध्याय-प्रेमियों से इस सम्बन्ध में सानुनय निवेदन किया जायगा कि, यदि वे वेदतात्पर्य्य-जिज्ञासु हैं, तो उन्हें मन्त्रब्राह्मणात्मक कृत्स्न वेदशास्त्र को लक्ष्य बना कर ही स्वाध्यायकर्म्म में प्रवृत्त होना चाहिए।

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत
'ब्राह्मणारण्यकोपनिषत्-सम्बन्धस्वरूपदिग्दर्शन' नामक
पञ्चमस्तम्भ-उपरत
५

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत-

'श्रुतिशब्दमीमासा, एव एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि' नामक

षष्ठ-स्तम्भ

६

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत-

'श्रुतिशब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि' नामक

षष्ठ—स्तम्भ

६

श्री

श्रुतिशब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि

षष्ठ स्तम्भ
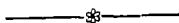
१-भारतीय शास्त्र—

अनुशासन करने वाला वाङ्मय समूह ही 'शास्त्र' है। विशुद्ध लोकतन्त्र को लक्ष्य में रख कर जिन लौकिक मनुष्यों नें लौकिक मनुष्यों के लोकतन्त्र को सुरक्षित रखने के लिए लौकिक भाषा में जो आदेशोपदेश दिए हैं, उनका संग्रह 'लौकिकशास्त्र' है, *जिसके गर्भ में भारतीयातिरिक्त विश्व के यच्चयावत् शास्त्रों का समावेश* है। लोकतन्त्र के साथ साथ अध्यात्ममूलक आधिदैविक तन्त्र को लक्ष्य में रख कर जिन अलौकिक महर्षियों नें लौकिक मनुष्यों के उभय तन्त्र को सुरक्षित रखने के लिए अलौकिक भाषा में जो आदेशोपदेश दिए हैं, उनका संग्रह 'भारतीय शास्त्र' है। *दूसरे शब्दों में केवल भूतोत्पत्ति-जिसका चरम फल 'पत्-नति' निर्वचन के* अनुसार पतन है—को लक्ष्य में रखने वाला अनुशासनग्रन्थ इतरशास्त्र है। एवं पतनभावविरहित भूताभ्युदय, तथा प्राण-निःश्रेयस्, दोनों से सम्बन्ध रखने वाला अनुशासनग्रन्थ भारतीय शास्त्र है, और यही भारतीय शास्त्र का इतर लौकिक-उत्पत्तिसाधक-शास्त्रों की अपेक्षा वैशिष्ट्य है, *जिस वैशिष्ट्य को आज के लौकिक शिक्षा आवरण* ने आवृत कर लिया है।

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। पुरुष (मनुष्य) को लक्ष्य में रख कर ही सम्पूर्ण शब्दोपदेश प्रवृत्त हुए हैं, यह तो निर्विवाद है। क्योंकि—चतुर्दशविध भूतसर्ग में से एकमात्र मनुष्यसर्ग ही—'मनुष्या एवैके-ऽतिक्रामन्ति' (शत० २।४।२।६।) के अनुसार प्रज्ञापराध से प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करता हुआ तत्पथ का अनुगमन करता है। आवश्यक है कि, प्राकृतिक नियमोल्लंघन से होने वाली हानियाँ, तथा प्रकृत्यनुगमन से प्राप्त होने वाले लाभ इसके सम्मुख रक्खे जाँय, एवं दोनों का समतुलन करते हुए इसे लाभप्रद प्राकृतिक नियमों की ओर आकर्षित किया जाय। जो शब्दशास्त्रोपदेश पुरुष का एवंविध अनुशासन कर सकेगा, वही अपने 'शास्त्र' शब्द को अन्वर्थ बनाता हुआ 'शास्त्र' शब्द का अधिकारी माना जायगा। 'पुरुष की प्रकृति को यथावस्थित बनाए रखने वाला *अनुशासन ग्रन्थ ही शास्त्र है*,' शास्त्र की इस परिभाषा के गर्भ में वह प्रकृति-विज्ञान अन्तर्निहित है, जिसका लौकिक मनुष्य अपनी लौकिक दृष्टि से समन्वय नहीं कर सकते। लौकिक मनुष्य ऐन्द्रियक ज्ञान के अनुगामी होते हैं। इन्द्रियों का प्रवाह बाह्य भौतिक जगत् की ओर है, जिसे कि हम 'वैकारिक जगत्' कहा करते हैं। जिनका एकमात्र लक्ष्य वैकारिक जगत् है, अतएव इन्द्रियातीत अतएव सर्वथा परोक्ष प्रकृतितन्त्र का जिन्हें आभास तक नहीं है, उन लौकिक मनुष्यों के इन्द्रियार्थमूलक आदेशोपदेश पुरुष के वास्तविक पुरुषार्थ—साधन में नितान्त असमर्थ हैं। वे ही आदेशोपदेश पुरुषार्थ माने जायँगे, *जो वैकारिक जगत् के साथ साथ प्राकृतिक अन्तर्जगत् के विकास को भी अपना लक्ष्य बनाए रहेंगे।* अपने इस लक्ष्य में क्योंकि एकमात्र भारतीय शास्त्र ही सफल हुआ है, अतएव 'शास्त्र' परिभाषा में एकमात्र इसी को प्रतिष्ठित माना जा सकता है। 'पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा' लक्षण भारतीय शास्त्र अन्तर्जगत् को लक्ष्य में

रख कर ही प्रवृत्त हुआ है। यदि कोई कर्त्तव्य लौकिक-सामयिक-ऐन्द्रियक दृष्टि से लाभप्रद प्रतीत हो रहा है, तब भी उसका उस दशा में सर्वथा परित्याग कर दिया जायगा, अथवा, यह लाभ शास्त्रद्वारा अलाभ घोषित कर दिया जायगा। क्योंकि लौकिक दृष्टि जहाँ भ्रान्त है, वैधारिक है, वहाँ शास्त्रीय दृष्टि निर्भ्रान्त है, प्राकृतिक है, जिसका साक्षात्कार अस्मदादि लौकिक जन्तु नहीं कर सकते। तात्पर्य्य यह निकला कि-"वैकारिक जगत् से सम्बद्ध आदेशोपदेशसंग्रह शास्त्राभासलक्षण शास्त्र है, एवं अन्तर्दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला आदेशोपदेशसंग्रह वस्तुगत्या 'शास्त्र' है, और वही हमारा भारतीय शास्त्र है, जिसके सम्बन्ध में भगवत्पुरुषों के द्वारा हमें यह आदेश मिला है कि-"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ" (गीता)।

केवल पुरोऽवस्थित पदार्थों के आधार पर ऐन्द्रियक ज्ञान के अनुसार विधि–निषेध की व्यवस्था करने वाले पुरुष लौकिक पुरुष हैं, एवं इन्हें ही शास्त्रीय परिभाषा में 'यथाजात' कहा गया है। पुरोऽवस्थित वस्तु को माध्यम बना कर उसके अवारपारीण-भूत–भविष्यत् परिणामों के आधार पर विधिनिषेध करने वाले पुरुष अलौकिक पुरुष हैं। एवं इन्हें ही 'ऋषि' कहा गया है। ऋषिदृष्टि योगजदृष्टि है, ऋतम्भरा प्रज्ञा से सम्बन्ध रखने वाली आर्षदृष्टि है, दिव्यदृष्टि है। इस दृष्टि से दृष्ट अर्थ सर्वथा निर्भ्रान्त है, एवं प्रत्येकदशा में अभ्युदयकर है। अतएव इस ऋषिदृष्टि से दृष्ट अर्थ का स्पष्टीकरण करने वाला शब्दशास्त्र किसी भी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखता हुआ स्वतःप्रमाण है। ऋषियों का दृष्टिरूप अर्थ शब्दावच्छेदेन हमारे लिए 'श्रुति' है। यही 'श्रुति' हमारे लिए प्रत्यक्षदृष्टिस्थानीया बनती हुई स्वतःप्रमाणभूता है, जैसा कि अगले परिच्छेदों में स्पष्ट होने वाला है। अभी इस सम्बन्ध में यही वक्तव्यांश है कि, अतीतानागतज्ञ, परोक्षदर्शिद, महामहर्षियों के सहज (प्राकृतिक) ज्ञान– जोकि ईश्वरीयज्ञान है–से सम्बद्ध शब्दराशि ही भारतीय शास्त्र है। यही भारतीय शास्त्र पुरुष का परमपुरुषार्थ है। पुरुष के परम पुरुषार्थ से सम्बन्ध रखने वाला भारतीय शास्त्र भारतीय ऋषियों की 'कृति' कहलाता हुआ भी इसलिए अकृति है कि, इस शास्त्र का विधान उस पुरुषचतुष्टयी के आधार पर हुआ है, जिसे श्रुतिशास्त्र ने नित्यशब्द से व्यवहृत किया है। पुरुष–ऋषि भारतीय शास्त्र के द्रष्टा हैं, कर्त्ता नहीं। कर्त्ता है—वह पुरुष, जिसने अपने आपको चार संस्थाओं में विभक्त कर रक्खा है। एवं जिसके चार विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराना प्रसङ्गत आवश्यक हो रहा है।

२–चतुःसंस्थ अपौरुषेय शास्त्र—

'क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (पातञ्जलयोगसूत्र) के अनुसार प्रकृति से नित्य संयुक्त, महामायी, विश्वेश्वर ही 'पुरुष' है। 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्' इस स्मार्त्त सिद्धान्तानुसार वह पुरुष इस प्रकृति के द्वारा ही विश्व, तथा विश्वधर्म्मों का प्रणेता (विधानकर्त्ता) बना हुआ है। उस पुरुष का प्राकृतिकरूप ही विश्व का मूल है, जिसका 'अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति' से भी समर्थन हुआ है। प्रकृत्यवच्छिन्न वही पुरुष महामाया, एवं तद्गर्भीभूत योगमायाओं के तारतम्य से चार विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। पुरुष के ये ही चारों विवर्त्त–क्रमशः इन नामों से प्रसिद्ध हैं— "१—महापुरुष, २—वेदपुरुष, ३—छन्दःपुरुष, ४—शरीरपुरुष"।

पुरुषविज्ञानवेत्ता महर्षि 'याज्ञ' ने सम्वत्सरविज्ञान के आधार पर उक्त पुरुषचतुष्टयी का समन्वय करते हुए बतलाया है कि, ज्योतिर्म्मण्डलावच्छिन्न, स्तनत्रयात्मक सम्वत्सर ही (पार्थिवदृष्टि की अपेक्षा से) महापुरुष है।

इस सम्वत्सरपुरुष की सवनत्रयाध्यक्षभूता देवत्रयी से सम्पन्न यज्ञप्रवर्त्तक त्रयीवेद (मौलिक यज्ञमात्रिकवेद, जिसका भूमिका द्वितीयखण्ड में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है) वेदपुरुष है। वेदवागलक्षणा नित्या वाक् का विवर्त्तभूत नित्य अक्षरसमाम्नाय छन्द·पुरुष है। एवं महा, वेद, छन्द·पुरुषत्रयी के आदित्य, ब्रह्मा, एवं 'अ' काररस से समुत्पन्न वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञलक्षण देही शरीरपुरुष है। प्रज्ञानात्मा ही इसका रस है। इस प्राज्ञरसावच्छिन्न शरीरपुरुष (देही) का ही नाम मुण्डकपरिभाषानुसार मोक्तासुपर्ण है। एवं देही के दहरा काश में अन्तर्य्यामीरूप से प्रतिष्ठित छन्द', वेद, महापुरुषात्मक तत्त्व साक्षीसुपर्ण है। फलत शरीरपुरुष का चतुःपुरुषत्त्व सिद्ध हो रहा है। शरीरपुरुष जीवन का हेतु है, छन्दःपुरुष आयतन का संरक्षक है, वेदपुरुष आध्यात्मिक महद्यश का सञ्चालक है, एवं आदित्यरसात्मक महापुरुष मन प्राण–वाङ्मय आयु·सूत्र का प्रदाता है। यही आध्यात्मिक–पुरुषचतुष्टयी का संक्षिप्त इतिवृत्त है—(देखिए–ऐत० आ० २।३।६।)।

१—शरीरपुरुष·–योगमायावच्छिन्नो वैश्वानरतैजसप्राज्ञमूर्त्तिर्जीवनहेतुर्देही–तस्य प्रज्ञानात्मा रस·

अध्यात्मम् २—छन्द पुरुषः–योगमायावच्छिन्न·–आकाररूपप्रदाता साममय· स्वरः–तस्· कारो रस.

३—वेदपुरुष·—योगमायावच्छिन्नः–यज्ञप्रवर्त्तक प्रजापति –तस्य ब्रह्मा रस

४—महापुरुष –महामायावच्छिन्न· आयु प्रवर्त्तकः–सम्वत्सरः–तस्य आदित्यो रस·

इस प्रकार 'यथेवेह,तथामुत्र' न्याय से अधिभूत, तथा अधिदैवत संस्था में भी उक्त पुरुषचतुष्टयी का भोग हो रहा है। उदाहरणरूप से वेदशास्त्र को ही अपना लक्ष्य बनाइए। वेदपुस्तक, जिसके आधार पर हम वेदतत्त्व का मनन करते हैं, आधिभौतिक पदार्थ हैं। पत्र (कागज)–मसी (स्याही)–लिपि–आदि सभी आधिभौतिक पदार्थ हैं। अतएव तद्रूप वेदपुस्तक को अवश्य ही 'आधिभौतिकसंस्था' कहा जा सकता है। यही वेदपुस्तक 'शरीरपुरुष' है, जिसके आधार पर वेदग्रन्थ प्रतिष्ठित है। स्मरण रखिए—ऋग्वेदग्रन्थ एक है, परन्तु पुस्तकें हजारों हैं। ऋग्वेद की पुस्तक हमारी है। किन्तु ऋग्वेदग्रन्थ हमारा नहीं है। अक्षरसमाम्नायात्मक शब्दप्रपञ्च ग्रन्थ है, जिसका आधार पुस्तक है। पुस्तकरूप शरीरपुरुष पर प्रतिष्ठित ग्रन्थ भिन्न वस्तुतत्त्व है। ऋग्वेदपुस्तक का अधिकार सब को है, किन्तु–ऋग्वेदग्रन्थ का अधिकार केवल द्विजाति को ही है। जिसे अक्षरबोध है, वह सामान्य यथाजात भी पुस्तक बाँच सकता है। परन्तु ब्रह्म-क्षत्र-विड् वीर्य्यातिरिक्त सामान्य लौकिक मनुष्य ग्रन्थ नहीं समझ सकता। ग्रन्थ–और पुस्तक का यही अहोरात्रवद् महान् विभेद है। वाङ्मय प्रपञ्चरूप इसी ग्रन्थ को हम 'छन्द पुरुष' कहेंगे। वाङ्मय प्रपञ्चलक्षण छन्द· पुरुष के गर्भ में मायात्मक नित्यविज्ञान प्रतिष्ठित है। वह नित्यविज्ञान अनेक धाराओं में विभक्त है। उन अनन्त विज्ञानों की समष्टि ही वेदपुरुष' है। अनन्तविज्ञानात्मक सर्वसमष्टिलक्षण महामायी वेदैकवेद्य तत्त्व ही 'महापुरुष है। इसप्रकार हमारे इस आधिभौतिक उदाहरण में भी चारों पुरुषविवर्तों का भोग हो रहा है।

महापुरुष स्वयं अकृतक है, नित्यकूटस्थ है अतएव अपौरुषेय है। उक्थ-स्थानीय अपौरुषेय महापुरुष के अर्क (निःश्वास) स्थानीय विज्ञानात्मक अनन्त वेद भी तत्सम (अपौरुषेय) ही हैं। वेदाभिन्न वाङ्मय प्रपञ्च भी अपौरुषेयमर्य्यादा से बहिर्भूत नहीं हैं। वाक्तत्त्व के ये तीनों पद गुहानिहित हैं। महापुरुषाधार पर प्रतिष्ठित वेदपुरुषावच्छिन्न छन्दःपुरुषपर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखने वाला शास्त्र एकान्ततः अपौरुषेय है। एवं चौथा वैखरीवाङ्मय विवर्त्त यद्यपि पुरुषप्रयत्नसाध्य होने से पौरुषेय है, तथापि अपौरुषेय–वेदतत्त्व से

समतुलित इस वेद शब्द को भी लौकिक–पौरुषेय भाषा के समान धरातल पर नहीं रक्खा जा सकता। यही कारण है कि, पौरुषेय भी यह शरीरपुरुषात्मक वेदशास्त्र आस्तिक सम्प्रदाय में अपौरुषेय नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, जो प्रसिद्धि इस तत्त्वदृष्टि से सर्वथा समीचीन है।

तात्पर्य्य-परिच्छेदान्तर का यही हुआ कि, भारतीय शास्त्रों में स्वतः प्रमाणभूत शास्त्र वेदशास्त्र है। एवं यह उक्त दृष्टि से चतुःसंस्थ है। चतुःसंस्थ अपौरुषेय यह वेदशास्त्र प्राकृतिक शास्त्र है, विज्ञानशास्त्र है, आर्षदृष्टि से एक श्रुतिशास्त्र है, अतएव निर्भ्रान्त सनातनशास्त्र है। इस सनातनशास्त्र के प्रति अप्रामाण्य बुद्धि रखना, इसे लौकिक–पौरुषेय–सामयिक–शास्त्राभासों की भाँति बुद्धिवाद की शून्य–निकषा पर कसना भ्रान्ति है। अप्रामाण्यगन्धलेशतोऽपि शून्य स्वतःप्रमाणसिद्ध चतुःसंस्थ अपौरुषेय वेदशास्त्र क्योंकि पुरुष के अन्तर्जगत् का विकासक बनता हुआ अपने यज्ञस्वरूपोपलक्षित यज्ञविधान से इसके बहिर्जगत् की भी स्वरूप रक्षा कर रहा है, अतएव इसे 'सर्वशास्त्र' कहना अन्वर्थ बनता है ०।

३—आगमनिगमरहस्य—

अनन्त वेदशास्त्र की अनन्तता को अपने सान्त–सादि जीवन के सम्बन्ध में एक जटिल समस्या समझते हुए हमें उस शास्त्रत्रयी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है, जिसका हम अपने स्वस्वजीवन में अधिक से अधिक उपयोग कर सकते हैं। हमारी उत्पत्ति, हम सुनते आ रहे हैं, माता–पिता के दाम्पत्यभाव से होती आ रही है। शोणिताधिष्ठात्री माता के प्रवर्ग्यभूत शोणित भाग से, तथा शुक्राधिष्ठाता पिता के प्र० शुक्रभाग से–दोनों के अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक चिति–सम्बन्ध से–देही–शरीर का आविर्भाव हुआ है। तत्त्वद्रष्टा महर्षि कहते हैं कि, वस्तुतः हमारे माता–पिता द्यावापृथिवी हैं। स्त्रीसृष्टि में माता पृथिवी के प्राण की प्रधानता है, पुरुषसृष्टि में पिता द्यु के प्राण का प्राधान्य है। इसी परम्परा से शुक्राहुतिप्रदाता पिता, एवं शोणिताग्नि में शुक्राहुति को गर्भरूप से प्रतिष्ठित करने वाली माता नाम से व्यवहृत हुई है। द्युलोकोपलक्षित सूर्य्य हमारे पिता हैं, एवं पृथिव्युपलक्षिता उषा हमारी माता है, जैसाकि–'द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः' (ऋक् ६।५१।५) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। द्यावापृथिवी की समष्टिरूप सम्वत्सरपुरुष–जिसका अहःकालोपलक्षित–अर्द्ध–दृश्य–खगोल अग्नितत्त्वप्रधान बनता हुआ द्युतत्त्वप्रधान है–प्राकृतिक 'पति' है। एवं रात्रिकालोपलक्षित–अर्द्ध–अदृश्य–खगोल सोमतत्त्वप्रधान बनता हुआ पृथिवी–तत्त्व प्रधान है, यही 'जाया' भाव है। इसप्रकार द्यावापृथिव्यात्मक सम्वत्सरपुरुष ही पार्थिवप्रजा का प्रधान उपादान है।

'प्रकृति के गर्भ में प्रकृति के अंश से हमारी उत्पत्ति हुई है', इस सिद्धान्त का तात्पर्य्य यही है कि, द्यावापृथिव्यात्मक आधिदैविक सम्वत्सरस्वरूप से हमारी उत्पत्ति हुई है, जिसके धर्म्म सर्वथा नियत हैं। इन नियत धर्म्मों के कारण ही इसे 'नियति' कहा गया है, जो कि नियति द्यु–पृथिवी भेद से दो भागों में विभक्त

०—सप्तखण्डात्मक–'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता' नामक निबन्ध के द्वितीय खण्ड में–'किमिदं शास्त्रम् ?, केय वा शास्त्रनिष्ठा ?' नामक परिच्छेद में विस्तार से भारतीयशास्त्र–स्वरूप का उपबृंहण हुआ है।

है। हमारा अभ्युदय तभी सम्भव है, जबकि हम अपनी प्रभवभूता इस नियतिद्वयी के नियत धर्म्मों का यथानुरूप अनुगमन करते रहें। दूसर शब्दों में प्रकृत्यनुसार जीवनयात्रा का निर्वाह करने से ही हमारा अभ्युदय हो सकता है, एवं तभी निःश्रेयसभाव की प्राप्ति सम्भव है। अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि, द्युलोकोपलक्षिता नियति का सूर्य्यपर्व तो किन धर्म्मों का अनुयायी है ?, एवं पृथिवीपर्व किन धर्म्मों का अनुगमन कर रहा है ?। इन्हीं दोनों प्रश्नों के समाधान के लिए परोक्षद्रष्टा महर्षियों की ओर से निगमागमशास्त्रद्वयी का आविर्भाव हुआ है।

सूर्य्यविद्या प्रकृतिविद्या का प्रथम, तथा मुख्य पर्व है। पारमेष्ठ्य समुद्रगर्भ में यह विद्यापर्व स्वयं विनिर्गत है। स्वयं निर्गत' निर्वचन से ही सूर्य्यविद्या 'निगम' नाम से व्यवहृत हुई है। अथर्वगर्भिता ऋग्-यजुः-सामात्मिका त्रयीविद्या ही सूर्य्यविद्या है, जिसका 'सैषा त्रयीविद्या तपति' (शत० १०।५।२।२।) रूप से स्पष्टीकरण हुआ है। एवं जिसका कि 'भूमिका द्वितीयखण्ड' में तात्त्विक वेदनिरुक्तिप्रकरण में 'गायत्रीमात्रिक वेदनिरुक्ति' रूप से विश्लेषण हुआ है। इस प्राकृतिक वेदविद्या-जिसे कि स्वयं निर्गत होने से निगम विद्या कहा जायगा-का स्पष्टीकरण शब्दात्मक-ग्रन्थात्मक-जिस वेदपुस्तक से हुआ है, वह भी ताच्छब्द्यन्याय से 'निगमविद्या' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। द्युशास्त्र, वेदशास्त्र, पितृशास्त्र, निगमशास्त्र, त्रयीशास्त्र, इत्यादि शब्द अंशतः समानार्थक हैं।

पृथिवीविद्या प्रकृतिविद्या का दूसरा पर्व है। ग्रहोपग्रहविज्ञानानुसार पृथिवी सूर्य्य का उपग्रह माना गया है। पृथिवीविवर्त्त का मूलाधार सूर्य्यविवर्त्त है। अतएव यह कहा जा सकता है कि, स्वयंनिर्गत सूर्य्य से पृथिवी विवर्त्त आगत है। त्रयीविद्याघन सूर्य्य निगम है। इस निगम से आगत होने के कारण ही पृथिवीविद्या 'निगमादागत' निर्वचन से 'आगम' है। इस प्राकृतिक आगमविद्या का स्पष्टीकरण शब्दात्मक जिस ग्रन्थ से हुआ है, वह भी उक्त न्याय से 'आगमविद्या' नाम से ही प्रसिद्ध हो गया है। पृथिवीशास्त्र, मातृशास्त्र, आगमशास्त्र, इत्यादि शब्द अंशतः समानार्थक हैं।

निगमशास्त्र अपौरुषेय श्रुतिशास्त्र है, आगमशास्त्र पौरुषेय स्मृतिशास्त्र है। श्रुति-स्मृतिलक्षणा शास्त्रद्वयी ही 'भारतीय शास्त्र' है, जिसे हम प्राकृतिक शास्त्र कह सकते हैं। इन आगम-निगम निर्वचनों से सम्भवतः यह मान लेने में कोई आपत्ति न होगी कि, भारतीय श्रुतिस्मृतिशास्त्र मानवीय कल्पना नहीं है। अपितु सर्वजगदाधार स्वयं ईश्वरप्रजापति का आदेश है। ऋषि इसके निमित्तमात्र हैं। वे स्वयं इसके अनुगामी रहे हैं, इस अनुगमन से उन्होंने अभ्युदय-निःश्रेयस् प्राप्त किया है। अतएव उन्होंने लोकाभ्युदय निःश्रेयस् के लिए अपने शास्त्रों में अपनी सन्तति के सम्मुख उन आदेशोपदेशों को रक्खा है, जिनका अनुगमन से आर्यप्रजा का उभयविध संरक्षण संशयरहित है। हमारा मुख्य लक्ष्य 'श्रुति' शब्द है। परन्तु बिना निगमागमपरिभाषाओं के लक्ष्यपूर्ति अपूर्ण रह जाती है। अतएव उस परिभाषा का दिग्दर्शन करना आवश्यक समझा गया। अब इस सम्बन्ध में प्रसङ्गोपात्त निगमागमग्रन्थों के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अनुचित न होगा।

क्रमप्राप्त पहिले निगमविस्तार पर ही दृष्टि डालिए। 'चतुष्टयं वा इद सर्वम्' इस निगम प्रमाण से निगमशास्त्र भी चार भागों में विभक्त माना जा सकता है। १-संहिता, २-ब्राह्मण, ३-कल्प, ४-अङ्ग, ये ही निगमशास्त्र के चार विवर्त्त हैं। ऋक्-यजु-साम-अथर्व, भेद से संहिता के चार मुख्य पर्व हैं। विधि,

आरण्यक, उपनिषत् , भेद से ब्राह्मण विभाग के तीन पर्व हैं। श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, सामयाचारिकसूत्र, भेद से कल्प तीन विभागों में विभक्त है। शिक्षा छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, कल्प, ये ६ अङ्ग विभागों के अवान्तर पर्व हैं। इनमें से संहिता, ब्राह्मण, इन दोनों का सविभाग विशद वैज्ञानिक निरूपण भूमिका द्वितीय खण्ड से गतार्थ है। वितानयज्ञेतिकर्त्तव्यताप्रतिपादक श्रौतसूत्र, पाकयज्ञेतिकर्त्तव्यताप्रतिपादक गृह्यसूत्र, एवं सामयिकाचारसूत्र, त्रिधा विभक्त इस कल्प के सम्बन्ध में भी विशेष वक्तव्य नहीं है। वक्तव्य है—षडङ्ग के सम्बन्ध में।

४—षडङ्गस्वरूपपरिचय—

शिक्षादि षडङ्ग 'वेदाङ्ग' नाम से क्यों प्रसिद्ध हुए ?, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। नित्यसिद्ध विज्ञान ही वेद पदार्थ है, यह बहुधा स्पष्टित है। किसी भी नित्यसिद्ध विज्ञान की सर्वाङ्गीणता के सम्बन्ध में छन्द, निरुक्त, व्याकरण, गणित, शिक्षा, कल्प, ये ६ विषय आवश्यकरूप से अपेक्षित हैं। इन्हीं का क्रमशः दिग्दर्शन कराया जा रहा है—

(१)—छन्द —

अमुक अङ्गी वस्तु में कितनें पदार्थ किस क्रम से अन्तर्भूत हैं ?, इस प्रश्नोत्तर से सम्बन्ध रखने वाला, अङ्गभूत पदार्थों का रीतिबन्धरूप से प्रतिपादन करने वाला वाक्परिमाणात्मक भावविशेष ही 'छन्द' है। जिन अङ्गशक्तियों के सघठन से अङ्गी का स्वरूपनिर्म्माण होता है, वे अङ्गशक्तियां भृत्यस्थानीया हैं, एवं स्वयं अङ्गी स्वामी—स्थानीय है। स्वामिशक्ति क्योंकि भृत्यशक्तियों के सघठन से सम्बन्ध रखती है, दूसरे शब्दों में अङ्गशक्तियां अङ्गीशक्ति के प्रति आत्मसमर्पण किए रहतीं हैं, अतएव अङ्ग से सम्बन्ध रखने वाले वाक्परिमाणात्मक, रीतिबन्धनात्मक छन्द 'परच्छन्द' कहलाते हैं, एवं अङ्गी—छन्द 'स्वच्छन्द' कहलाता है। इस प्रकार गौण—मुख्य—न्याय से छन्दस्तत्त्व के दो विवर्त्त हो जाते हैं। यदि अङ्गीशक्ति की अविवक्षा कर अङ्गशक्ति का स्वातन्त्र्येण ग्रहण किया जाता है, तो उस समय ये अङ्गच्छन्द भी स्वच्छन्दरूप बन जाते हैं। छन्दस्तत्त्व की इस परिभाषा के आधार पर कहा जा सकता है कि, "स्वरूपसन्निवेश छन्द है, अवयवसन्निवेश छन्द है, अन्तरङ्गपदार्थ छन्द है, रीतिबन्ध छन्द है"।

वस्तुतत्त्व विज्ञानभाषा में 'वय' नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक वय (वस्तु) का कोई न कोई नियत आयतन होता है, जिसमें कि वय प्रतिष्ठित रहता है। यह आयतन आधार—आवपन भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। एकतः आयतन को आधार कहा जाता है, सर्वतः आयतन को आवपन कहा जाता है। उदाहरण के लिए भूपृष्ठ, और आकाश को लक्ष्य बनाइए। भूपृष्ठ, आकाश दोनों हमारे आयतन हैं। परन्तु भूपृष्ठ हमारा एकतः आयतन है, आकाश सर्वायतन है। आकाश ने हमें सर्वतः व्याप्त कर रक्खा है। भूपृष्ठ केवल एकतोऽनुरूपा प्रतिष्ठा है। वय को चारों ओर से सीमित बनाने वाला, सीमित बना कर उसे अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला वागाकाशरूप परिणाह ही 'वयोनाध' नाम से प्रसिद्ध है। आकाशायतन से समतुलित अतएव सर्वाधारलक्षण यह वयोनाध आवपन है, यही छन्दःपदार्थ है। छन्दोभेद ही वस्तुभेद का मूलकारण है, जैसाकि शतपथभाष्यादि में विस्तार से प्रतिपादित है।

नित्यसिद्ध विज्ञान एक प्रकार का वय है। विज्ञानात्मक प्रत्येक वय छन्दोरूप वयोनाध से बद्ध है। बिना वयोनाध—परिज्ञान के वयज्ञान असम्भव है। अतएव वैज्ञानिकों नें वयात्मक वेदमन्त्रविज्ञान के लिए

छन्दोविज्ञान आवश्यक माना है। छन्दोभेद ही विज्ञानभेद की मूलप्रतिष्ठा है। विज्ञानघन प्राणतत्त्व, जिसे कि याज्ञिक परिभाषा में 'देवता' कहा गया है, छन्द पर ही प्रतिष्ठित है। छन्द से छन्दित प्राणदेवता के संग्रह के लिए उसकी छन्दोभक्ति का समाश्रय आवश्यक रूप से अपेक्षित है। एवं यही छन्दोरूप अङ्ग का दिग्दर्शन है।

(२)–निरुक्तम्—

विज्ञानात्मक वेदतत्त्व यद्यपि नित्य है। तथापि आविर्भाव-तिरोभाव की दृष्टि से इसे हम उत्पत्ति-स्थिति-संहृति-धर्म्मों से युक्त मान सकते हैं। उत्पत्ति (प्रभव), स्थिति (प्रतिष्ठा), संहृति (परायण) लक्षणा भावत्रयी विज्ञानात्मक वेद की दूसरी भक्ति है। निश्चयेन प्रत्येक पदार्थ सम्पत्ति, प्रतिपत्ति, विपत्ति–भावों से नित्य आक्रान्त है। अर्थप्रतिपत्ति ही अर्थस्थिति है। उपचय, अपचय, साम्य, भेद से प्रत्येक अर्थस्थिति को तीन भागों में विभक्त माना जा सकता है। वस्तु का प्रातिस्विक स्वरूप ज्यों का त्यों है, इसका स्वरूपधर्म्म किसी आगन्तुक अतिशय के कारण उत्कृष्ट हो गया है, यह स्वरूपवृद्धि ही इस अर्थ का उपचय है, यही उपचय-लक्षणा अर्थप्रतिपत्ति, किंवा अर्थस्थिति है। यही वस्तु की समृद्धि है, सौभाग्य है, लक्ष्मीभाव है। वस्तुस्वरूप का अपनापन तो सुरक्षित है, परन्तु किसी आगन्तुक परधर्म्म के समावेश से स्वरूपधर्म्म विकास से दब गया है। स्वरूपहानि नहीं हुई है, स्वरूप विकृत हो गया है, यही इस वस्तु का अपचय है, यही अपचयलक्षणा अर्थप्रतिपत्ति (स्थिति) है। यही वस्तु की न्यूनता है, दुर्भाग्य है, निऋतिभाव है। न उपचय है, न अपचय है। अपितु वस्तुस्वरूप यथानुरूप प्रतिष्ठित है। यही वस्तु का 'योगक्षेमलक्षण' साम्य है। तात्पर्य्य इन स्थिति-विशेषों से यही है कि, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक तत्त्व उत्पत्ति, वृद्धि, स्थिति, क्षय, संहार, विपरिणाम, इन ६ परिस्थितियों में से अवश्य ही किसी न किसी परिस्थिति से आक्रान्त रहता है। इन ६ भों भावविकारों का निरूपण करने वाला शास्त्र ही 'निरुक्तशास्त्र' है, जिसके परिज्ञान के बिना भी वस्तुतत्त्वपरिज्ञान अधूरा ही बना रहता है।

(३)–व्याकरणम्—

निरुक्तशास्त्रसिद्धा निर्वचनप्रक्रिया के आधार पर परिज्ञात षड्भावविकारों के अनन्तर तत्तत् तत्त्व-विशेषों में सामान्य, विशेष बुद्धि का उदय हो जाता है। इन सामान्य-विशेष भावों के आधार पर एक ही तत्त्व का अनेकधा प्रतिपादन होने लगता है। सामान्यलक्षण एकत्व के आधार पर विशेषलक्षण अनेकत्व विकसित हो जाता है। एक ही वस्तुतत्त्व के आधार से निर्वचनानुग्रह से एक तत्त्व अनेक भावों में परिणत हो जाता है। एक का यह अनेकत्व ही 'एकस्य विविधाकारत्वं' निर्वचन से व्याकरण तत्त्व है। यही वेदशास्त्र की तीसरी भक्ति है। इस व्याकरणभक्ति का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र ही 'व्याकरणशास्त्र' है। घट अनेक प्रकार के हैं, पट अनेक प्रकार के हैं, प्राणी अनेक प्रकार के हैं, इसप्रकार प्रत्येक जाति में अनेकत्व सर्वानुभूत है। परन्तु साथ ही यच्चयावत् घटों, पटों, प्राणियों का मूलाधार मृद्–तन्तु–प्राण समान है, यह भी स्वतः सिद्ध है। नानाविध भावों के रहने पर भी तत्त्वाभेद सुस्थिर है। अवश्य ही इन सब विभिन्न आकार–प्रकारों में एक कोई अभिन्न तत्त्व मूलाधार है, जिसकी यह व्याकृति है। नाम–रूप ही इस व्याकृति के मुख्य प्रवर्त्तक हैं। आख्यात, उपसर्ग, निपात, प्रकृति, प्रत्यय, प्रयत्न, स्वर, वर्णादि, सम्पूर्ण व्याकृतियों का नाम–रूप–व्याकृति में ही अन्तर्भाव है।

आरण्यक, उपनिषत् , भेद से ब्राह्मण विभाग के तीन पर्व हैं। श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, सामयाचारिकसूत्र, भेद से कल्प तीन विभागों में विभक्त है। शिक्षा छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, कल्प, ये ६ अङ्ग विभागों के अवान्तर पर्व हैं। इनमें से संहिता, ब्राह्मण, इन दोनों का उपविभाग विशद वैज्ञानिक निरूपण भूमिका द्वितीय खण्ड से गतार्थ है। वितानयज्ञेतिकर्त्तव्यताप्रतिपादक श्रौतसूत्र, पाकयज्ञेतिकर्त्तव्यताप्रतिपादक गृह्यसूत्र, एवं सामयिकाचारसूत्र, त्रिधा विभक्त इस कल्प के सम्बन्ध में भी विशेष वक्तव्य नहीं है। वक्तव्य है–षडङ्ग के सम्बन्ध में।

४–षडङ्गस्वरूपपरिचय—

शिक्षादि षडङ्ग 'वेदाङ्ग' नाम से क्यों प्रसिद्ध हुए ?, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। नित्यसिद्ध विज्ञान ही वेद पदार्थ है, यह बहुधा प्रपञ्चित है। किसी भी नित्यसिद्ध विज्ञान की सर्वाङ्गीणता के सम्बन्ध में छन्द, निरुक्त, व्याकरण, गणित, शिक्षा, कल्प, ये ६ विषय आवश्यकरूप से अपेक्षित हैं। इन्हीं का क्रमशः दिग् दर्शन कराया जा रहा है—

(१)–छन्द —

अमुक अङ्गी वस्तु में कितने पदार्थ किस रूप से अन्तर्भूत हैं ?, इस प्रश्नोत्तर से सम्बन्ध रखने वाला, अङ्गभूत पदार्थों का रीतिबन्धरूप से प्रतिपादन करने वाला वाक्परिमाणात्मक भावविशेष ही 'छन्द' है। जिन अङ्गशक्तियों के संघठन से अङ्गी का स्वरूपनिर्म्माण होता है, वे अङ्गशक्तियाँ भृत्यस्थानीया हैं, एवं स्वयं अङ्गी स्वामी–स्थानीय है। स्वामिशक्ति क्योंकि भृत्यशक्तियों के संघटन से सम्बन्ध रखती है, दूसरे शब्दों में अङ्गशक्तियाँ अङ्गिशक्ति के प्रति आत्मसमर्पण किए रहती हैं, अतएव अङ्ग से सम्बन्ध रखने वाले वाक्–परिमाणात्मक, रीतिबन्धनात्मक छन्द 'परच्छन्द' कहलाते हैं, एवं अङ्गी–छन्द 'स्वच्छन्द' कहलाता है। इस प्रकार गौण–मुख्य–न्याय से छन्दस्तत्त्व के दो विवर्त्त हो जाते हैं। यदि अङ्गीशक्ति की अविवक्षा कर अङ्ग–शक्ति का स्वातन्त्र्येण ग्रहण किया जाता है, तो उस समय ये अङ्गच्छन्द भी स्वच्छन्दरूप बन जाते हैं। छन्दस्तत्त्व की इस परिभाषा के आधार पर कहा जा सकता है कि, "स्वरूपसन्निवेश छन्द है, अवयवसन्निवेश छन्द है, अन्तरङ्गपदार्थ छन्द है, रीतिबन्ध छन्द है"।

वस्तुतत्त्व विज्ञानभाषा में 'वय' नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक वय (वस्तु) का कोई न कोई नियत आयतन होता है, जिसमें कि वय प्रतिष्ठित रहता है। यह आयतन आधार–आवपन भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। एकदेश आयतन को आधार कहा जाता है, सर्वतः आयतन को आवपन कहा जाता है। उदाहरण के लिए भूपृष्ठ, और आकाश को लक्ष्य बनाइए। भूपृष्ठ, आकाश दोनों हमारे आयतन हैं। परन्तु भूपृष्ठ हमारा एकदेश आयतन है, आकाश सर्वायतन है। आकाश ने हमें सर्वतः व्याप्त कर रक्खा है। भूपृष्ठ केवल एकदेशोपयुक्तया प्रतिष्ठा है। वय को चारों ओर से सीमित बनाने वाला, सीमित बना कर उसे अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला वागाकाशरूप परिग्राह ही 'वयोनाध' नाम से प्रसिद्ध है। आधारायतन से समतुलित, अतएव सर्वाधारलक्षण यह वयोनाध आवपन है, यही छन्दःपदार्थ है। छन्दोभेद ही वस्तुभेद का मूलकारण है, जैसाकि शतपथभाष्यादि में विस्तार से प्रतिपादित है।

नित्यसिद्ध विज्ञान एक प्रकार का वय है। विज्ञानात्मक प्रत्येक वय छन्दोरूप वयोनाध से बद्ध है। बिना वयोनाध–परिज्ञान के वयज्ञान असम्भव है। अतएव वैज्ञानिकों ने वयात्मक वेदमन्त्रविज्ञान के लिए

शास्त्र ही 'शिक्षाशास्त्र' है। यही वेदशास्त्र की पाँचवीं भक्ति है। यह निश्चित सिद्धान्त है कि, प्रत्येक वस्तुतत्त्व स्वरूप–सत्ता–विशेष–सामान्य भेदभिन्न अन्तरङ्ग धर्म्मों के विकास के लिए अनुकूल कुछ एक बहिरङ्ग धर्म्मों का आश्रय लेकर स्व–स्वरूपाविर्भाव में समर्थ बनता है। इस आश्रयभाव का विशेषत नाम–प्रपञ्च के साथ ही सम्बन्ध माना गया है। नित्यसिद्ध विज्ञानप्रतिपादक शरीरपुरुषस्थानीय शब्द की अनुरूपता, उच्चारण विशेषता ही विज्ञानग्रहण का अन्यतम द्वार है। भौतकर्म्मोपयुक्त–शब्दोच्चारणवैशिष्ट्यलक्षण उपकरणरूप बहिरङ्ग धर्म्म की विशेषताओं का प्रतिपादन करने वाला शास्त्रविशेष ही शिक्षाशास्त्र है, जिसका 'स्थूलारुन्धती–न्याय' से सर्वप्राथम्य माना गया है। बिना शिक्षा के शब्दप्रपञ्च सर्वथा अविज्ञात ही बना रहता है।

(६)–कल्प —

स्वरूप, कारण (सत्ता), विशेष, सामान्य, बहिरङ्ग, पूर्वोक्त पाँच शास्त्रों के द्वारा सिद्ध इन पाँच धर्म्मों से सर्वात्मना संसिद्ध वस्तुतत्त्व का उपयोग कहाँ, कैसे, कब करना?, उस उपयोग से क्या क्या फलसिद्धि सम्भव है?, इन प्रश्नों का समाधान करने वाला शास्त्र ही 'कल्पशास्त्र' है। यही ६ ठी वेदभक्ति है। इसी वेदभक्ति को सफल बनाने के लिए पूर्वाङ्गशास्त्रों के द्वारा वेद का अनुगमन किया जाता है। उन पाँचों वेदभक्तियों के सम्यक् परिज्ञान के बिना उपयोगिताज्ञानप्रवर्त्तक कल्पशास्त्रानुगमन सर्वथा निष्फल रह जाता है। यह मानी हुई बात है कि, प्रत्येक वस्तुतत्त्व को उपयोग में लाने से पहिले यदि उसके स्वरूप–कारणादि पञ्च धर्म्मों का सम्यक्–ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है, तो वह विशेष प्रतिपत्तिकर बन जाता है, जैसाकि–'यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति' इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से भी प्रमाणित है। अमुक अथ से क्या अतिशय उत्पन्न किया जा सकता है?, किस कर्म्मकौशल से अमुक अर्थ प्राप्त किया जा सकता है?, अमुक अर्थानुष्ठान से क्या फलसिद्धि सम्भव है?, इन सब विषयों की उपपत्ति जान लेने से विज्ञाता पुरुष स्वभाव से कर्म्मेतिकर्त्तव्यता में प्रवृत्त होता हुआ इष्टसाधक पुरुषार्थसाधन में प्रवृत्त हो जाता है, सफल बन जाता है। इसी उपयोगिताज्ञानसाधक तत्कर्त्तव्यतासमर्थक शास्त्रविशेष का नाम 'कल्पशास्त्र' है।

उपर्युक्त षडङ्गों से संसिद्ध अर्थों से अङ्गीभूत वेदशास्त्र सर्वात्मना उपकृत हो जाता है। इसी सम्बन्ध से इसे 'वेदाङ्ग' कहना अन्वर्थ बनता है। अङ्गीभूत वेदशास्त्र जिस कर्त्तव्यकर्म्म की हमें शिक्षा देता है, वह श्रौत–यज्ञकर्म्म है। श्रौत यज्ञकर्म्म के द्वारा हम अपनी अध्यात्मसंस्था में दिव्यप्राणातिशय उत्पन्न करते हैं। इस दिव्यसंस्कारग्रहण की योग्यता के लिए ही प्रथम षडङ्ग–अध्ययन आवश्यक माना गया है। संस्कार्य्य आत्मा मन–प्राण–वाङ्मय है। षडङ्ग–द्वारा प्रथम इसी त्रिकल आत्मा की तीनों कलाओं का दोषमार्जन होता है। शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ये चारों अङ्गशास्त्र वाग्भाग का संस्कार करते हैं। कल्प प्राणभाग को सुसंस्कृत बनाता है। एवं ज्यौतिष मानस विश्व का परिशोधन करता है। कहना न होगा कि, आज हमने अपनी शिक्षापद्धति को दूषित कर किस प्रकार वेदतत्त्व से अपने आपको पराङ्मुख बना लिया है। अङ्गशास्त्रसे वञ्चित निगमशास्त्र आज सर्वात्मना निर्गत है, यह जान कर फिर निगमप्रेमी का अन्तर्जगत् शान्त रहेगा?

३–आगमविवर्त्तपरिचय—

चतुर्विध जिस पुरुषसंस्था का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है उस पुरुषसंस्था के आदि पर्व का 'महापुरुष' नाम से व्यवहृत करते हुए उसे सम्वत्सरात्मक बतलाया गया है। इस सम्वत्सरात्मक महापुरुष के

प्रत्येक पदार्थ में आत्मधर्म्म, अनात्मधर्म्म, भेद से द्विविध धर्मों का समावेश रहता है। आत्मधर्म्महानि से वस्तुस्वरूप का उच्छेद हो जाता है, अतएव इसे 'स्वधर्म' कहा जाता है, एवं इसका छन्दोधर्म्म में अन्तर्भाव है। दूसरे अनात्मधर्म्म के समावेश से एक ही वस्तुतत्त्व अनेक नाम-रूपों में परिणत होता रहता है। इस नानाविध-रहस्य का, व्याकृतितत्त्व का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र ही 'व्याकरणशास्त्र' है। उदाहरण के लिए निरुक्तसिद्ध 'पट्' धातु को ही लीजिए। 'पट्' के पठ्य-पठनं-पठः-पठ्यते, इत्यादि विविध भाव व्याकरण पर अवलम्बित हैं। एवमेव निरुक्तसिद्ध 'पट' शब्द के-'पटः-पटौ-पटाः' ये अनेक व्याकृतियाँ व्याकरणसिद्ध हैं। इस शब्दव्याकरणवत् अर्थ व्याकरण का समन्वय अपेक्षित है। जो नियमानुनियम शब्दव्याकरण के हैं, वे ही तद्वत्सामान्य अर्थ व्याकरण के हैं। निष्कर्षतः समस्त का व्यास ही व्याकरण है, संक्षिप्त का विवरण ही व्याकरण है, एक का विविधाकारसमर्थन ही व्याकरण है। एवं इस व्याकरणतत्त्व का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र ही व्याकरणशास्त्र है।

(४)—गणितम्—

व्याकरणशास्त्र के द्वारा अनेकधा गृहीत अर्थ का विज्ञान-सौकर्य्य के लिए संकलन करना ही गणन है। तत्प्रतिपादक शास्त्र ही गणितशास्त्र है, यही वेदशास्त्र की चौथी वेदभक्ति है। व्याकरणशास्त्र से ठीक उलटा गणितशास्त्र है। व्यवकलन व्याकरण है, तो संकलन गणित है। विकास व्याकरण का प्रयत्न है, तो संकोच गणन का प्रयत्न है। विवृति व्याकरण पर अवलम्बित है, तो संवृति गणन से सम्बन्ध रखती है। एकाकार का विविधाकारत्व समर्थन यदि व्याकरण से होता है,तो विविधाकार को एकाकारत्व प्रदान करना गणित पर निर्भर है। व्याकरण यदि विस्तार का अनुगामी है, तो गणन प्रस्तार का पक्षपाती है। समस्त का व्यास यदि व्याकरण पर अवलम्बित है, तो व्यस्त का समास गणन पर अवलम्बित है।

गणितशास्त्र की गुणनप्रक्रिया के आधार पर पूर्वपक्ष किया जा सकता है कि, जिस प्रकार एक को अनेकरूप प्रदान करना व्याकरण का काम है, एवमेव गणितशास्त्र की गुणनप्रक्रिया से भी एक को अनेक भाव में ही परिणत किया जाता है। ऐसी स्थिति में इसे संकोच-शास्त्र कैसे माना जा सकता है ?। पूर्वपक्ष के समाधान के सम्बन्ध में प्रकृत में यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, पक्षों के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण गणितशास्त्र में गौणरूप से संगृहीत गुणनकर्म्मात्मक व्याकरणधर्म्म के सन्निविष्ट रहने पर भी गणित के संकोचप्रधान मुख्य प्रतिपाद्य का अपलाप नहीं किया जा सकता, जैसा कि-'वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्त्वम्' नामक संस्कृत निबन्ध के 'षडङ्गनिरुक्ति' प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है। प्रकृत में इस सम्बन्ध में यही कहना है कि, तत्तत्संकोचप्रक्रिया के विविध-प्रकारों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्रविशेष ही 'गणितशास्त्र' है, जिसके बिना जाने वेदशास्त्र में प्रतिपादित वेदव्यूह का स्वरूप कथमपि गतार्थ नहीं बन सकता।

(५)—शिक्षा—

स्वरूपधर्म्मप्रतिपादक छन्दःशास्त्र, सत्ताधर्म्मप्रतिपादक निरुक्तशास्त्र, विशेषधर्म्मप्रतिपादक व्याकरणशास्त्र एवं सामान्यधर्म्मप्रतिपादक गणितशास्त्र, इन चारों शास्त्रों से क्रमशः स्वरूपमुखेन सत्तामुखेन विशेषमुखेन, सामान्यमुखेन, परिगृहीत वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में आपेक्षिक बहिरङ्ग-गुणधर्म्म उपस्थित होते हैं। इन्हीं आपेक्षिक बहिरङ्ग धर्मों को 'उपकरण' कहा गया है। इन उपकरणों का रहस्योद्घाटन करने वाला

ही उपलब्ध वाङ्मय में लेखिनी, मषीपात्र, आदि सब साधनों का नामोल्लेख भी उपलब्ध होता। इसी प्रकार कुछ एक और भी तर्कभासों के द्वारा हमारे ये मान्य 'रिसर्चस्कॉलर' इस तथ्य पर पहुँचे हैं कि, "लेखनकला के अभाव को सूचित करने के लिए ही निगमशास्त्र के लिए 'श्रुति' शब्द व्यवहार में आया है"।

उक्त कल्पना का हमने तो यही अर्थ लगाया है कि, यदि किसी वर्त्तमान युग के शिष्टपुरुष की रचना में 'शयन–मोजन–गमन–उत्थानादि शब्द न होंगे, तो कुछ एक शताब्दियों के अनन्तर प्रकट होने वाले तत्–सम रिसर्चस्कॉलर् वर्त्तमान रिसर्च–पद्धति का अनुगमन करते हुए इस तथ्य पर पहुँचेंगे कि, आज से कुछ शताब्दियों पहिले मनुष्य न सोते थे, न भोजन करते थे, न चलते फिरते थे। न उस युग में बाग बगीचे ही थे। उस युग की सन्तान जब इनसे प्रमाण मांगेगी, तो बिना किसी सङ्कोच के उत्तर दे दिया जायगा कि, अमुक युग की अमुक साहित्यिक रचना में शयन–भोजन–गमनादि शब्द नहीं आए। कैसी विडम्बना है ! साहित्यक्षेत्र का कैसा नग्न प्रदर्शन है !!

वर्ण–पद–वाक्य–श्लोक–ग्रन्थादि का संकलन बिना लेखनकला के केवल सुन सुना कर सम्पन्न हो गया, 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' सूत्रसिद्धा वेदरचना यों ही निकल पड़ी, इसे कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा। 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्' (ऋक्सं० १०।७१।४) का क्या तात्पर्य्य है !, लेखिनी के लिए प्रयुक्त वेदभाषा का 'क्षुरभ्राज' (लौहमयी लेखिनी) शब्द किस अर्थ का द्योतक है !, यह उन्हीं श्रुति–रहस्य–वेत्ताओं से पूँछना चाहिए। कल्पनारसिक विद्वान् कहते हैं—विश्वविजयी, मगधेश्वर देवानांप्रियदर्शी सम्राट् अशोक से पहिले लिपि न थी। अशोकसाम्राज्यकाल लगभग २२४ वर्षों पर ठहरता है। भगवान् रामचन्द्र का अवतारकाल आधुनिकों की दृष्टि से भी अशोक से कई सहस्र पूर्व विश्राम करता है। रामभक्त के अनन्योपासक भीमाकृति अशोकवाटिका में बैठी हुई जगन्माता के क्रोड़ में जिस मुद्रिका के द्वारा सन्देश पहुँचाते हैं, वह मुद्रिका 'रामनामाङ्किता' है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

वानरोऽहं महाभागे ! दूतो रामस्य धीमतः ।
रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम् ॥ (वा० सु० का- ३६।२।)।

लिपि के अभाव में मुद्रिका का रामनाम से संयुक्त होना कैसे सम्भव था !, यह उन्हीं लिपिविशारदों से प्रष्टव्य है। स्वयं ऋग्वेद में कई स्थलों में पत्रादि–प्रेषण कर्म्मों के समर्थनद्वारा लिपि की सत्ता प्रतिध्वनित हुई है। विज्ञानभवनापरपर्य्याय सूर्य्यसदन, सोमरसदोग्ध्री गौ, सोमवल्ली, तीनों देवबलों के विनाशक असुरों का जब भारतीय सुदास आदि राजाओं से दमन न हुआ, तो यह समाचारपत्र–द्वारा स्वर्गाधिपति इन्द्र के समीप पहुँचाए गए। इन्द्र ने पत्रवाहक के द्वारा सन्देश भिजवा कर स्वयं उपस्थित हो उन्हें सान्त्वना दी, एवं असुरदल का विध्वंस किया। अस्तु, भारतीय दृष्टिकोण के धरातल से ऐसे रिसर्च का कोई महत्त्व नहीं है। भारतीय शास्त्र अपनी कुछ एक परिभाषाएँ रखता है, जिनका परिज्ञान प्राप्त किए बिना बुद्धिबलसाहसी से भी भारतीयकाश के सङ्केत शब्दों का समन्वय नहीं किया जा सकता।

७–श्रुति-स्मृति-सञ्ज्ञामीमांसा—

वस्तुतत्त्व का तथाभूत स्वरूप 'सत्य' है, अतथाभूत स्वरूप 'मिथ्या' है। याथातथ्य ही सत्य की मौलिक परिभाषा है। जो जैसा है, उसे वैसा ही समझना सत्यज्ञान है, यही सत्यज्ञान दर्शनपरिभाषा में 'प्रमा' नाम से

यज्ञ, काल, भेद से दो विवर्त हैं, जिनका विष्णुपुराण में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। अग्न्यात्मक सम्वत्सर सोमाहुति के सम्बन्ध से 'यज्ञपुरुष' बन रहा है, यमात्मक सम्वत्सर आवपनरूप से 'कालपुरुष' बन रहा है। यज्ञपुरुष द्युलोक का अधिष्ठाता है, यही निगमशास्त्र का प्रवर्त्तक है। कालपुरुष भूलोक का अधिष्ठाता है, यही आगमशास्त्र का प्रवर्त्तक है। पुराणभाषा में इसी स्थिति का यों स्पष्टीकरण किया जा सकता है कि, वैष्णवशास्त्र निगमशास्त्र है, शैवशास्त्र आगमशास्त्र है।

शिवशक्तिप्रधान, कालनियामक, इस आगमशास्त्र के कल्प, सिद्धान्त, संहिता, डामर, यामल, तन्त्र, भेद से ६ विवर्त हैं। कल्प ५ हैं, सिद्धान्त १४ हैं, संहिता १८ हैं, डामर ८ हैं, यामल १० हैं, तन्त्र ६४ हैं। सम्भूय आगमशास्त्रविवर्त्त १२० ग्रन्थों में विभक्त हैं। चतुर्दशविध सिद्धान्त विवर्त्तों में ही 'षडाम्नाय' का अन्तर्भाव है। भूपृष्ठ पर प्रतिष्ठित मानव सिद्धिकामना से पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः, इन ६ दिग्मार्गों में से किसी भी एक का अनुगमन कर सकता है। तदनुसार ही ये आम्नाय क्रमशः पूर्वाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय, दक्षिणाम्नाय, ऊर्ध्वाम्नाय, अधराम्नाय, नामों से प्रसिद्ध हैं।

वैदिक मन्त्रानुगत सिद्धिमार्ग पूर्वाम्नाय है। समस्त भाषाक्षरमन्त्रानुगत सिद्धिमार्ग पश्चिमाम्नाय है। पञ्चमकारानुगत सिद्धिमार्ग सर्वोत्कृष्ट, किन्तु सर्वथा जटिल, अतएव 'वाम' नाम से प्रसिद्ध 'उत्तराम्नाय' है। पञ्चदशाक्षरानुगत सिद्धिमार्ग पञ्चदेवतोपासनात्मक, सर्वथा सुखुमावापन्न मार्ग दक्षिणाम्नाय है। सुषुम्नानाडी से सम्बद्ध अक्षरप्रानुगत योगसिद्धिमार्ग ऊर्ध्वाम्नाय है। मूलमन्त्र्यनुगत गणपतिसंयुक्त अघोरमार्ग(अघोराम्नाय) अधराम्नाय है। ६ ओं में यही शीघ्र फलप्रद मार्ग है। भारतवर्ष का यह बहुत बड़ा दुर्भाग्य है कि, जहाँ उसने निगममार्ग की उपेक्षा कर रक्खी है, वहाँ आगमशास्त्र भी एकान्ततः उसके हाथ से निकल चुका है। आगमशास्त्रोक्त सिद्धियों का हमारा पण्डितसमाज बड़े गर्व से अभिमान तो अवश्य करता है, परन्तु खेद है कि, उसका यह अभिमान केवल शब्दों पर ही विश्रान्त है। सम्पूर्ण विश्वविभूतियों पर अपना नियन्त्रण रखने वाले आगमशास्त्र के मस्त पण्डित स्वयं अपनी बुभुक्षा भी शान्त नहीं कर सकते, इससे बढ़ कर हमारा नैतिक पतन और क्या होगा। आज हम शास्त्र,तत्सिद्ध धर्म्म की रक्षा के लिए उस सत्ता की कृपा भिक्षा माँग रहे हैं, जिसे इनका अणुमात्र भी बोध नहीं है। आज हमनें हमारे इष्टदेव का आश्रय छोड़ दिया है, और यही हमारी पराश्रयता का बीज है, जिसे उमामाहेश्वरी के बल से समूल उखाड़ देनें में ही विश्व का शाश्वत अभ्युदय है

६—श्रुतिशब्द के आधुनिक व्याख्याता—

'श्रुति' शब्दमीमांसा के सम्बन्ध में भारतीय शास्त्रनिबन्धों का दिग्दर्शन कराना प्रासङ्गिक समझा गया। अब प्रकृत विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। नितान्त गुप्त, एकमात्र गुरु परम्परा में ही परम्परया सुरक्षित परम्परोच्छेद से वर्त्तमान में विलुप्तप्राय वैदिक परिभाषाओं को न जानने के कारण वर्त्तमानयुग के पश्चिमी व्याख्याताओं नें, तथा तदनुगामी उच्छिष्टभोगी कतिपय भारतीय वेदाभिमानियों नें निगमशास्त्र के लिए निरूढ 'श्रुति' शब्द का यह तात्पर्य्य समझ रक्खा है कि, वेदकाल में 'लेखन' कला का सर्वथा अभाव था। परम्परया सुन-सुना कर ही निगमशास्त्र की रचा होती थी। अतएव तत्कालीन भाषामयी यह साहित्यराशि 'श्रुति' नाम से व्यवहृत हुई है। यदि वेदकाल में लेखन कला होती तो अवश्य

फलतः ऋषिदृष्टि अन्तर्यामी की दृष्टि से अभिन्न बन जाती है। इनकी दृष्टि उससे योग कर तद्रूपा बन जाती है, अतएव इसे 'योगजदृष्टि' कहा गया है। इन्द्रियातीत तत्त्वों के सम्बन्ध में यही दृष्टि सफल होती है। अतएव प्रामाण्यवाद के सम्बन्ध में निर्दिष्ट 'प्रत्यक्ष' प्रमाण से यह अलौकिक-ऋषिदृष्टि ही अभिमेत है, जो कि अनुपद में ही 'श्रुति' रूप से पाठकों के सम्मुख उपस्थित होने वाली है।

अतीतानागतज्ञ, अतएव विदितवेदितव्य, महामहर्षियों नें अलौकिक आर्षदृष्टि के प्रभाव से इन्द्रियातीत तत्त्वों का साक्षात्कार किया। इन्होंनें जिस तत्त्वसमष्टि का साक्षात्कार किया, यह साक्षात्कृता तत्त्वसमष्टि इनकी 'प्रत्यक्षदृष्टि' कहलाई। प्रत्यक्षदृष्टिरूप इस दृष्ट अर्थ का ऋषियों नें परोक्षदृष्टिशून्य अस्मदादि लौकिक पुरुषों को शब्दद्वारा उपदेश दिया। ऋषियों के द्वारा सुना गया वही उपदेश 'श्रुति' कहलाया। दृष्टि से दृष्ट अर्थ का अभिनय करने वाला शब्द दृष्टि से अभिन्न है। अतएव इस शब्द को हम ऋषिदृष्टि ही कहेंगे। ऋषिदृष्टिरूप शब्द क्योंकि हमारे श्रवण का विषय बनता है, एकमात्र इसी हेतु से इसे 'श्रुति' कहना न्यायसङ्गत मान लिया गया है। इसी दृष्टिरूपा श्रुति का रहस्यार्थ सूचित करते हुए अभियुक्तों नें कहा है—

"साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽसाक्षात्कृतधर्म्मभ्योऽवरेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादु —र्दैवीं वाचमुपासमिति"

ऋषियों के द्वारा उपदिष्ट शब्द, जिसे कि हम हमारी अपेक्षा से श्रुति कहते हैं, क्या-वस्तुतत्त्व है ?, इस प्रश्न की मीमांसा करने पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, ऋषियों की आर्षदृष्टि से दृष्ट अर्थ साक्षात् 'दृष्टि' (प्रत्यक्षज्ञान) है। उपदिष्ट शब्द इस दृष्टि का ही विषय बन रहा है। दूसरे शब्दों में ऋषि शब्दों के द्वारा दृष्टार्थरूपा दृष्टि का ही अभिनय कर रहे हैं। दृष्ट अर्थ, तद्वाचक शब्द, दोनों शब्दार्थतादात्म्यन्याय से, किंवा शब्दार्थ के औत्पत्तिकसम्बन्ध से-जिसका कि सारम्भ में विस्तार से प्रतिपादन किया जा चुका है— अभिन्न हैं। अर्थ आत्मा है, शब्द शरीर है। आत्मशरीरसमष्टि जैसे एक देवदत्त है, एवमेव दृष्टार्थरूपा दृष्टि, एवं तद्वाचक शब्द, दोनों मिल कर एक तत्त्व है। फलतः ऋषिशब्द ही ऋषिदृष्टि है, ऋषिदृष्टि ही ऋषिशब्द है। अतएव च दृष्टि ही श्रुति (शब्द) है, श्रुति ही दृष्टि है।

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। 'हमारा सुना हुआ शब्द द्रष्टा का शब्द है' जब हमें यह बोध हो जाता है, तो ऐसे शब्दप्रामाण्य के लिए हमें फिर अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रह जाती। यही नहीं, अपितु दृष्टि का अभिनय करने वाले इसी शब्द से तदभिन्न दृष्टिरूप अर्थ की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है। क्योंकि यह शब्द अपने से अभिन्न दृष्टिरूप अर्थ का ही तो स्पष्टीकरण कर रहा है। क्योंकि द्रष्टा महर्षि के दृष्ट अर्थ को हम उन्हीं के शब्दों में सुनते हैं, इसलिए भी इस ऋषिशब्द को 'श्रुति' कहना अन्वर्थ बनता है। ऋषिशब्द-ऋषि के लिए शब्दार्थतादात्म्यन्याय से 'दृष्टि' है। परन्तु हम क्योंकि उसे सुनते मात्र हैं, सुन कर उस पर प्रत्यक्षवत् विश्वास करते हैं, इसलिए भी उस ऋषि शब्द को 'श्रुति' कहा जाता है। साथ ही ऋषि-दृष्ट अर्थ को हम ऋषिशब्द से ही सुनते हैं, इसलिए भी यह शब्द श्रुति कहलाने योग्य है। इस प्रकार दो विभिन्न दृष्टियों से 'श्रुति' शब्द के अर्थ का समन्वय किया जा सकता है।

व्यवहृत हुआ है। जिस साधन से यह प्रमारमक सत्यज्ञान उत्पन्न होता है, 'प्रमाजनकम्' निर्वचन से वही प्रमासाधन 'प्रमाण' नाम से व्यवहृत हुआ है। याथातथ्यात्मक सत्यस्वरूप प्रमाज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, भेद से तीन साधनों के द्वारा सम्भव है। अतएव उक्त निर्वचनानुसार तीनों प्रमासाधनों को 'प्रमाण' कहा जा सकता है। इन तीनों प्रमाणों में अनुमान, और शब्द, दोनों प्रमाण प्रत्यक्षमूलक हैं। प्रत्यक्ष के आधार पर दोनों की प्रामाणिकता अवस्थित है। अतएव इन दोनों को प्रत्यक्ष प्रामाण्यसापेक्ष होने से 'परतःप्रमाण' कहा जायगा। प्रत्यक्ष प्रमाण अपने प्रामाण्य के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखता हुआ अपना स्वयं आप ही प्रमाण है, अतएव 'प्रमाणानां प्रमाणभूत' इस प्रत्यक्ष प्रमाण को 'स्वतःप्रमाण' कहा जायगा।

प्रत्यक्ष का चक्षुरिन्द्रिय से सम्बन्ध है। एवं सम्पूर्ण इन्द्रियों में चक्षुरिन्द्रिय ही एकमात्र सत्य का अनुगामी है। कारण यही है कि-'सच्चत्-तत्-सत्यमसौ स आदित्य' (शत०) इत्यादि निगमानुसार सत्यात्मक आदित्य ही चक्षुरिन्द्रिय का प्रभव है। सचमुच प्रजापति ने चक्षु में ही सत्य का निधान किया है। यही कारण है कि, "मैंने देखा है–इसलिए मेरा कथन सत्य है, मैंने सुना है–इसलिए मेरा कथन सत्य है" इसप्रकार परस्पर विविदमान दो व्यक्तियों के सम्मुख उपस्थित होने पर हम उसी के कथन पर विश्वास प्रकट कर देते हैं, जो कि-'मैंने देखा है' यह कहता है। इसी चाक्षुष सत्य का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं–

> "नानृतं वदेत् विचक्षणवतीं वाचं वदेत्। चक्षुर्वै विचक्षणम्। एतद्वै मनुष्येषु सत्यं निहितं, यच्चक्षु। यत्र द्वौ विवदमानावेयातां- अहमदर्शं, अहमश्रौषम् इति। य एव ब्रूयात् 'अहमदर्शम्' इति, तस्मा एव श्रद्दध्याम',
>
> (शत० १।३।१।२७।)

प्रत्यक्ष का अर्थ है–'दृष्टि', जो कि दृष्टि अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा न रखती हुई स्वतःप्रमाणभूता है। इस सम्बन्ध में यह विवेक अवश्य कर लेना चाहिये कि—लौकिक-भौतिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली दृष्टि ऐन्द्रियक दृष्टि है, एवं लौकिक अर्थों की सत्यता के सम्बन्ध में यह ऐन्द्रियक लौकिक दृष्टिरूप प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। अलौकिक–आधिदैविक, आध्यात्मिक सुसूक्ष्म विषयों से सम्बन्ध रखने वाली दृष्टि–योगजदृष्टि है, आर्षदृष्टि है, पवित्र-शुद्ध-व्यवसायधर्मानुसंस्ता निश्चयविज्ञानदृष्टि है। एवं इन्द्रियातीत अलौकिक अर्थों की सत्यता के सम्बन्ध में यह अलौकिक दृष्टिरूप प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। लौकिक सत्य में लौकिक चक्षु (इन्द्रियसत्य) प्रमाण है, अलौकिक सत्य में अलौकिक चक्षु (विज्ञानसत्य) प्रमाण है। श्रवण-दर्शन की प्रतिस्पर्द्धा में दर्शन को प्रामाण्य है। एवं दर्शनदृष्टि, विज्ञानदृष्टि की प्रतिस्पर्द्धा में विज्ञानदृष्टि को प्रामाण्य है।

आदित्य से ही चक्षुरिन्द्रिय का सम्बन्ध है, आदित्य से ही विज्ञानचक्षु का सम्बन्ध है। दोनों के स्वरूप में भेद यही है कि, आदित्यप्राणात्मक (इन्द्रात्मक) देवभाव चक्षुरिन्द्रिय का स्वरूपसमर्पक है। आदित्यगत चिदात्मतत्त्व विज्ञानचक्षु का प्रवर्त्तक है। 'योऽसावादित्ये पुरुष सोऽहम्' वाला आत्मसत्य ही विज्ञानसत्य है, जिसका 'चाक्षुषपुरुष' रूप से, एवं 'दक्षिणाक्षिपुरुष' रूप से उपनिषदों में विश्लेषण हुआ है। यही अन्तर्यामी है। इसके लिए भूत–भविष्यत्–सब कुछ वर्तमानवत् प्रत्यक्ष है। चिरकालिक तपोयोग से विशुद्ध सत्त्वनिष्ठ बने हुए ऋषियों के अलग्नरागमस्पृशाधरातल पर प्रतिबिम्बित इस अन्तर्यामी का अनुग्रह हो जाता है।

में मानवधर्म्मशास्त्र का विशेष समादर है। अन्य स्मृतिकार भी मानवधर्म्मशास्त्र के इस वैशिष्ट्य का निम्न लिखित शब्दों में अभिनय कर रहे हैं—

"वेदार्थोपनिवन्धत्वात् प्राधान्य हि मनोः स्मृतम् ॥
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृति सा न शस्यते ॥१॥
तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्क-व्याकरणानि च ॥
धर्म्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न मापते ॥१॥" (बृहस्पतिः)
"पुराण मानवो धर्म्म साङ्गो वेदाश्चिकित्सितम् ॥
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभि ॥" (व्यास)

स्मार्त्तप्रमाण को हमनें 'अनुमान' प्रमाण बतलाया है। यह अनुमान प्रमाण आगे जाकर स्मृति, निबन्ध, भेद से दो विभागों में परिणत हो जाता है। परत प्रमाणभूत स्मृतिशास्त्र में वक्ता के भेद से यदि सिद्धान्तों में परस्पर विरोध प्रतीत होनें लगता है, तो अनुमान के द्वारा उन विरुद्ध प्रतीत स्मार्त्त आदेशों की यथावत् सङ्गति लगा दी जाती है। उस सङ्गतिशास्त्र का ही नाम 'निबन्धशास्त्र' है, जिसके कि निर्णयसिन्धु, धर्म्मसिन्धु, चतुर्वर्गचिन्तामणि, व्रतराज, तीर्थराज, श्राद्धकल्प, आदि अनेक अवान्तर विभाग सुप्रसिद्ध हैं। इसप्रकार श्रुति, स्मृति, निबन्ध, भेद से प्रामाण्यवाद तीन मार्गों में विभक्त है। श्रुति प्रत्यक्षप्रमाण है, स्मृति शब्दप्रमाण है, निबन्ध अनुमानप्रमाण है। निबन्धों का प्रामाण्य स्मृति पर, स्मृतिप्रामाण्य श्रुतिशास्त्र पर अवलम्बित है। तीन से अतिरिक्त जो शब्दप्रपञ्च है, वह सब वागृविलासनमात्र है, अप्रमाण है, मत्तप्रलाप है।

परिच्छेदारम्भ में हमनें स्मृति को अनुमान प्रमाण कहा था। परन्तु अनुपद में ही इसे तो शब्द प्रमाण कहा एवं निबन्ध को अनुप्रमाण कहा। इस विरोध का भी समन्वय कर लेना चाहिए। यदि श्रुति प्रत्यक्ष प्रमाण है, तो स्मृति अवश्य ही शब्दप्रमाण, तथा निबन्ध अनुप्रमाण है। यदि निबन्ध का स्मृतिप्रमाण में ही अन्तर्भाव है, तो उस दशा में स्मृति अवश्य ही अनुमानप्रमाण है। प्रमाणत्रयी का इस दृष्टि से भक्ति-दृष्टि विषय के आधार पर समन्वय किया जायगा। श्रुति के दृष्टि—श्रुति' भेद से दो पर्व बतलाए गए हैं। ऋषिदृष्टि जहाँ प्रत्यक्षप्रमाण है, वहाँ दृष्टार्थ का अभिनय करने वाला ऋषिशब्द आप्तोपदेशलक्षण शब्दप्रमाण है। निबन्धगर्भित स्मृतिप्रपञ्च इस शब्दानुमान के द्वारा अपनी प्रामाणिकता सुरक्षित रखता हुआ अनुमानप्रमाण है।

विभिन्न दृष्टि से विषय का समन्वय कीजिए। प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द, इन तीन प्रमाणों में से जो शब्दप्रमाण है, वही स्वयं प्रत्यक्ष अनुमान, भेद से दो मार्गों में विभक्त है। श्रुति भी शब्दप्रमाण है, स्मृति भी शब्दप्रमाण है। भेद दोनों में यही है कि, श्रुतिलक्षण शब्दप्रमाण दृष्टिमूलक (प्रत्यक्षमूलक) बनता हुआ स्वतःप्रमाण है। एवं स्मृतिलक्षण शब्द श्रुतिमूलक बनता हुआ परतःप्रमाण है। श्रुतिरूप शब्दप्रमाण प्रत्यक्षदृष्टिरूप बनता हुआ प्रत्यक्षात्मक शब्दप्रमाण है, एवं स्मृतिरूप शब्दप्रमाण प्रत्यक्षदृष्टिलक्षण श्रुति-शब्द को आधार बनाता हुआ अनुमानात्मक शब्दप्रमाण है। इसप्रकार तीन प्रमाणों के अन्तर्गतत्वा प्रत्यक्ष,

द्रष्टा का शब्द उभयथा 'श्रुति' है, यही तात्पर्य्य है। क्योंकि द्रष्टा का शब्द उसकी स्वतः प्रमाणभूता प्रत्यक्षदृष्टि की भाँति स्वतःप्रमाण है। स्वप्रामाण्य के लिए यह भी दृष्टिवत् अन्य किसी स्वविशेष (शब्दविशेष) की अपेक्षा नहीं रखता। अतएव आप्तपुरुषों ने श्रुति का लक्षण किया है—"निरपेक्षो रव श्रुतिः"। *सम्पूर्ण मीमांसा से बतलाना हमें यही है कि, द्रष्टा की दृष्टिरूप प्रत्यक्षज्ञान का अभिनय करने वाला द्रष्टा का* शब्द श्रुति है। यह श्रुति उस द्रष्टा की दृष्टि है, अतएव दृष्टिरूपा श्रुति को हम अवश्य ही स्वतःप्रमाणलक्षण प्रत्यक्षप्रमाण कह सकते हैं।

मेधावी श्रोता ने द्रष्टा के इस अर्थ का दृष्टिरूप श्रुतिद्वारा श्रवण किया। द्रष्टा के शब्द से इसने जो कुछ सुना, उसे संस्काररूप से मानसजगत् में प्रतिष्ठित किया। मानस जगत् में संस्काररूप से प्रतिष्ठित इस श्रुत अर्थ का इस श्रोता ने अपने शब्दों में दूसरों को उपदेश दिया। इसका यही शब्दोपदेश 'स्मृति' कहलाया। संस्कार ही स्मृति का जनक माना गया है। संस्कारज्ञान के आधार पर जो भी शब्द हमारे मुख से निकलता है, वह 'स्मृति' कहलाता है। क्योंकि श्रोता संस्कारावच्छिन्न ज्ञान के आधार पर द्रष्टा के द्वारा श्रुत अर्थ का अभिनय करता है, अतएव इसे अवश्य ही 'स्मृति' कहा जा सकता है।

श्रोता अपने शब्दों से अर्थश्रुति सुनाता है, अर्थदृष्टि नहीं। अर्थदृष्टि तो स्वयं इसका संस्कार है। इस संस्कार के आधार पर अर्थश्रुति ही यह स्वशब्दों में प्रकट कर सकता है। श्रोता की अर्थश्रुति से स्मृतिशब्द श्रोता व्यवहित अर्थदृष्टि का अनुमान अवश्य लगा लेता है। अतएव इस स्मृतिशब्द को हम 'अनुमानप्रमाण' कह सकते हैं, जो कि प्रत्यक्षरूप श्रुतिप्रमाण के आधार पर प्रतिष्ठित है। यही स्मृति का परतःप्रामाण्य है। स्वप्रामाण्य के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा रखने वाला प्रमाण ही परतःप्रमाण है। तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, दृष्टि (प्रत्यक्ष) द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान प्राथमिक ज्ञान है, अन्यज्ञानानपेक्ष स्वतन्त्र ज्ञान है। श्रोता इसे सुन कर जो कुछ कहता है, वह दृष्टिरूप श्रुति के आधार पर कहता है। अतएव इसका शब्द श्रुत-अर्थ को आधार बनाता हुआ परतःप्रमाण है। अतएव 'द्रष्टुर्वाक्यं श्रुतिः' श्रुति का जहाँ यह लक्षण किया जाता है, वहाँ स्मृति का 'स्मर्त्तुर्वाक्यं स्मृतिः' यह लक्षण होता है। मन्वादि धर्म्माचार्य्यों ने श्रौत अर्थ को सुना मात्र है, देखा नहीं। साक्षात्कार नहीं किया। जैसा सुना, तदनुसार अपने शब्दों में व्यक्त किया। यहाँ वक्ता स्वयं आप्त (पड्चयान-विषयप्राप्त-विषयसाक्षात्कर्त्ता) नहीं है, अपितु आप्तों से श्रुत अर्थ का स्मर्त्तामात्र है। अन्यपुरुषज्ञानाधार पर इसका ज्ञान प्रकट हुआ है। इसका ज्ञान उसके ज्ञान पर प्रतिष्ठित है। अतएव स्मृतिशास्त्र को परतःप्रमाण कहना समीचीन बनता है। जब तक स्मृतिकार अपने वाक्यार्थ के सम्बन्ध में श्रौतप्रमाण का आश्रय नहीं ले लेते, तब तक उनके वाक्य में प्रामाण्य बुद्धि नहीं होती। इसी आधार पर स्मृति कहती है—

> या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
> सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ (मनुः १२।९५)।

याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, पाराशर, शङ्ख लिखितादि इतर स्मृतियों की अपेक्षा मनुस्मृति वेदप्रामाण्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। अतएव "मनुर्वै यत् किञ्चावदत्, तद्भेषजं भेषजताया" के अनुसार स्मार्त्त मन्त्रों

शब्दों के द्वारा हम सुनते भर हैं, देख नहीं सकते, एकमात्र इसी रहस्यसूचन के लिए प्रयुक्त 'श्रुति' शब्द बुद्धि मानों में ऐसा व्यामोह उत्पन्न कर देगा, एवं जिसके निराकरण के लिए हमें श्रुतिशब्दमीमांसाप्रकरण में ऐसे अप्रिय सत्य का आश्रय लेना पड़ेगा, यह सब कुछ श्रुतिपरायण प्राण देश के लिए विडम्बना ही तो मानी जायगी।

८—एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि—

जो आधुनिक विद्वान्–'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या-देवता' (ऐ० ब्रा० १।१।१) का यह तात्पर्य्य लगाने की भूल कर सकते हैं कि, किसी समय विष्णुपूजा प्रधान बन गई थी,–जो काल्पनिक साङ्केतिक 'श्रुति' शब्द के आधार पर वेदकाल में लिपि का अभाव मानने का दुस्साहस कर सकते हैं,–जो इतिवृत्त भारतीय सभ्यता के इतिवृत्त को अपनी विशुद्ध कल्पना के आधार पर पाषाणयुग, लौहयुग, ताम्रयुग, आदि काल्पनिक युगों की प्रतिच्छाया से आवृत कर सकते हैं*,–जो राजनैतिक भारतीय स्वत्वापहरणवृत्ति को दृढमूल बनाने के लिए प्राग्मेरु (पामीर) को भारतीयों का मूलनिवास मानने की धृष्टता कर सकते हैं,–वे यदि यह सिद्धान्त स्थापित कर दें कि, भारतीयों का एकेश्वरवाद केवल उपनिषदों की देन है, तो हमें कोई आश्चर्य्य नहीं करना चाहिए। "मन्त्रकाल में भारतीय अनेक देवताओं के ही उपासक रहे हैं। क्योंकि तब तक इन्हें सर्वव्यापक अखण्ड आत्मतत्त्व का बोध नहीं था। अनेक शताब्दियों के पीछे उपनिषत्काल में इन्हें अभिन्न ईश्वरात्मा का बोध हुआ" सिद्धान्त एक भारतीय की दृष्टि में इसलिए सर्वथा उपेक्षणीय है कि, इस सिद्धान्त के समर्थन में जो युक्ति-तर्क-प्रमाण उद्धृत हुए हैं वे सर्वथा आपात रमणीय हैं।

वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, विगत कतिपय शताब्दियों से भारतीय आर्षप्रज्ञा की स्व-निष्ठा अनेक कारणों से विकम्पित हो पड़ी है, जिसके दुष्परिणामस्वरूप भारतीय मानव अपनी आत्मनिष्ठा से सर्वथा पराङ्मुख बन गया है। अतएव च इसकी आत्मिक-बौद्धिक-मानसिक-तथा शारीरिक यच्चयावत्-प्रवृत्तियाँ 'स्व' की उपेक्षा कर 'पर' भाव को ही प्रमुखता प्रदान करने लग पड़ी है। यह अपने स्वरूप से न कुछ सोचता न करता, अपितु इसका प्रत्येक विचार प्रत्येक कर्म्म निष्ठाविभवमूला परप्रत्ययनेयतानुगता 'भावुकता' के अनुग्रह से 'पर' को अवलम्ब बना कर ही प्रवृत्त हो रहा है। 'एकेश्वरवाद' लक्षणा विप्रतिपत्ति भी इसी भावुकता को लक्ष्य बना कर प्रवृत्त हो पड़ी है, जिसका आर्षनिष्ठा के क्षेत्र में कुछ भी तो महत्त्व इसलिए नहीं है कि, वेदशास्त्रसिद्ध अभिन्नब्रह्मसत्तावाद, बहुदेवतावाद, स्वयम्भूत्मवाद, विभिन्न कर्म्मभेदवाद, उपास्यदेवताभेदवाद, उपमनाप्रकार भेदवाद, सब कुछ विभिन्न तत्त्ववादों के आधार पर प्रतिष्ठित सुव्यवस्थित वैसे ज्ञान-विज्ञान-सम्मत दृढतम सिद्धान्त हैं, जिनमें भावुकता का प्रवेश भी निषिद्ध है। "अमुक सम्प्रदायविशेष एक ही ईश्वर मानता है, जबकि हमारे यहाँ बहुदेवतावाद है। अवश्य ही इस दिशा में हम उनसे निम्न कोटि में आ गए हैं" इस प्रकार की भावुकतामूला मानस-कल्पना के व्यामोह में आसक्त-व्यासक्त हो पड़ने वाले आतुर मानवों ने ही 'एकेश्वर

---

*–गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–'बहिरङ्गपरीक्षा' नामक प्रथमखण्ड में इन आपातरमणीय कल्पित पाषाणादि युगों के कल्पित इतिहास का स्पष्टीकरण हुआ है।

अनुमान, ये दो ही विवर्त शेष रह जाते हैं। प्रत्यक्ष भी शब्दप्रमाण ही है, अनुमान भी शब्दप्रमाण ही है। द्रष्टा का शब्दप्रमाण–प्रत्यक्षप्रमाण है, श्रोता का शब्दप्रमाण अनुमान प्रमाण है। प्रत्यक्षप्रमाणात्मक शब्द प्रमाण श्रुतिशास्त्र है, अनुमानप्रमाणात्मक शब्दप्रमाण स्मृतिप्रमाण है। इसप्रकार 'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" (ब्रह्मसूत्र ३।२।२४) के अनुसार प्रत्यक्ष श्रुति, अनुमेया स्मृति, इन दो प्रमाणों पर ही भारतीय प्रामाण्यवाद विश्रान्त है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि, शब्दप्रमाण का प्रत्यक्ष–अनुमान के साथ समतुलन करने से शब्ददृष्टि विष्य (श्रुतिस्मृतिशब्ददृष्टि विष्य) ही प्रत्यक्षानुमानप्रमाणद्वयी बन जाता है।

यदि शब्द को प्रत्यक्षानुमान से पृथक करके देखा जाता है, तो उस समय प्रत्यक्ष, अनुमान का स्वरूप भिन्नवत् प्रतीत होने लगता है। उस समय द्रष्टा की दृष्टि प्र० प्र० है, द्रष्टा का वाक्य शब्दप्रमाण है, एवं श्रोता का शब्द अनुमानप्रमाण है। अथवा तो द्रष्टा का वाक्य प्रत्यक्षप्रमाण है, श्रोता का वाक्य शब्दप्रमाण है, एवं निबन्धशब्द अनुमान प्रमाण है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

प्रत्यक्ष, अनुमान, इन दो प्रधान प्रमाणों को ही सिद्धान्तपक्ष मानते हुए एक तीसरे ही दृष्टिकोण से विषय का समन्वय कीजिए। दृष्टि, युक्ति, श्रुति, स्मृति, भेद से दो के चार विवर्त हो जाते हैं। आर्षदृष्टि से दृष्ट ज्ञान ऋषि की 'अशाब्दी' दृष्टि है। इस अशाब्दी दृष्टि(प्रत्यक्षज्ञान)का अभिनय करने वाली श्रुति (वेदशब्द) शाब्दीदृष्टि है। अशाब्दी दृष्टि भी प्रत्यक्षप्रमाण है, शाब्दीदृष्टि भी प्रत्यक्षप्रमाण है, दोनों स्वतःप्रमाण हैं। स्मृतिशब्द शाब्दतर्क (युक्ति) है, युक्ति अशाब्दतर्क है। इसप्रकार अनुमान प्रमाण भी युक्ति, स्मृति भेद से दो मार्गों में विभक्त हो जाता है। फलतः चार प्रमाण सिद्ध हो जाते हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

१–प्रत्यक्षम् (१)–अशाब्दम्—दृष्टिः—स्वतःप्रमाणम्	}	–प्रत्यक्षे २
२–अनुमानम्(२)–अशाब्दम्—युक्तिः—परतःप्रमाणम्	}	
३–प्रत्यक्षम् (१)–शाब्दम्—श्रुतिः—स्वतःप्रमाणम्	}	–अनुमाने २
४–अनुमानम्(२)–शाब्दम्—स्मृतिः—परतःप्रमाणम्	}	

मन्त्रभागवत् विधि–आरण्यक–उपनिषत् की समष्टिरूप ब्राह्मणभाग भी वेदशास्त्र है, श्रुतिशास्त्र है, यह 'क्या उपनिषत् वेद है ?' प्रकरण में महत्समारम्भ से प्रमाणित किया जा चुका है। एवं श्रुति शब्द का श्रवण–परक अर्थ लगाने वाले सम्भवतः यह स्वीकार करते होंगे कि, ब्राह्मणकाल में 'लिपि' अवश्य थी। यदि ऐसा है, तो उनके उस रिसर्च का क्या मूल्य रहा ?, जिसके आधार पर उन्होंने श्रुति शब्द की मागुक्त मीमांसा की है। अस्तु थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि, मन्त्रभाग ही 'श्रुति' है। और यह भी तुष्यतु दुर्जन–न्याय से स्वीकार कर लेते हैं कि, लिपि के अभाव से मन्त्रभाग 'श्रुति' कहलाया है। परन्तु उस दशा में हम उनसे यह प्रश्न करेंगे कि–'स्मृति' शब्द का उन्होंने अपनी परिभाषा में क्या अर्थ किया है ?। तब तो श्रुति को 'स्मृति' कहना विशेष सुविधा का द्योतक होगा। क्योंकि, सुनी–सुनाई बातों में स्मृति की विशेष अपेक्षा रहती है। इसीलिए तो हमें विवश होकर कहना पड़ता है कि, आज का यह रिसर्चअवश्य भारतीय पारिभाषिक तत्त्ववाद से सर्वथैव बहिष्कृत है। इन्द्रियातीता आर्षदृष्टि के द्वारा प्रत्यक्षीकृत ज्ञान को प्रत्यक्षकर्ता के

२—"अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि—"अजस्य रूपे किमपि स्वि-'देकम्'' ॥
(ऋक्सं० १।१६४।६) ।

३—"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्-म्भम्भ किमासीद्गहनं गभीरम् ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेत ।
आनीदवातं स्वधया 'तदेकं' तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥
तम आसीत्तमसा गूलमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जाय-'तैकम्'' ॥
(ऋक्सं०१०।१२६।१,२,३) ।

४—"तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्र-'देक' ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम्'' ॥
(ऋक्म० १।१६४।१०) ।

५—"ऋचो अक्षरे 'परमे-व्योमन्' यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते'' ॥
(ऋक्सं०१।१६४।३९) ।

६—"एकः' सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि-'रेकं सन्तं' बहुधा कल्पयन्ति ।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश'' ॥
(ऋक्स०१ ।११४।४ ५,) ।

७—"आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एष ।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम'' ॥
(ऋक्सं०१०।१६८।४) ।

८—"य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
यश्चिदापो महिना पर्य्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधिदेव 'एकः' आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

वाद' मूला विप्रतिपत्ति को जन्म दे डाला है। और इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के द्वारा अपने आपको उन सम्प्रदायविशेषों के समकक्ष खा खड़ा कर देने के व्यामोहन से ही उन्हें यह कल्पित मार्ग निकालना पड़ा है कि, "उपनिषत्काल में भारतीय भी एकेश्वरवाद के ही समर्थक बन गए थे"। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! महती विडम्बना !!! भ्रान्त भारतीयों को इसी परदर्शनमूला महती भ्रान्ति के उपशालन के लिए ही हमें भी लोकसंग्रह बुद्ध्या 'श्रुतिशास्त्रमीमांसा, तथा एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि' जैसे भावुकतापूर्ण परिच्छेद का यहाँ समावेश करना पड़ रहा है, जिसका तत्तेतिवृत्त निम्न-लिखितरूपेण भावुकप्रजा के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

हमारे ये विचारशील बन्धु अपने कल्पना-प्रसूनों को उपस्थित करते हुए सम्भवतः यह भूल जाते हैं कि, आज के इस हीनयुग में भी, जिसमें कि उन्हीं के अनुग्रहविशेष से भारतीयों ने अपने मौलिक वेदशास्त्र का स्वाध्याय छोड़ दिया है, यत्रतत्र वेदाभ्यासी प्रकट हो ही जाते हैं। और तब उनकी आँखों में इसप्रकार धूलिप्रक्षेप करना सर्वथा असम्भव बन जाता है। धीरजों का यह कहना कि, "ऋग्वेद सब से प्राचीन ग्रन्थ है। उपनिषदों का निर्माण बहुत आगे जाकर हुआ है। विकासवाद-सिद्धान्त के अनुसार भारतीयों ने अपने ज्ञानक्षेत्र में क्रमिक उन्नति की है। पहिले पाषाणपूजा आरम्भ की, इन्हीं के शस्त्रास्त्र बनाए। अनन्तर अग्नि-वायु-सूर्य्य के सामने घुटने टेकने लगे। इनकी शक्तियों से प्रभावित होकर इन जड़ पदार्थों की उपासना होने लगी। इस क्रमविकास के अनुग्रह से अनन्तकाल के अनन्तर इन्हें एकेश्वर का बोध प्राप्त हुआ। ऋग्वेद केवल देवताग्रन्थ है। उसमें 'देवता' नामक अग्नि-वायु-सूर्य्य-वर्षा-आदि जड़ पदार्थों का ही प्राधान्य है। सिद्ध है कि, ऋग्वेदकाल में आर्य्य अभिन्नात्मतत्त्व से सर्वथा अपरिचित थे। इस परिचय का सौभाग्य प्राप्त हुआ इन्हें 'उपनिषत्काल' में' कहाँ तक धन्य है ?, इस प्रश्न का उत्तर देने में अतीत परतन्त्र भारतवत् आज का सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारत भी दुर्भाग्यवश इसलिए असमर्थ है कि, इसको सत्ताशिल्प सत्ता देश की मौलिक-संस्कृति, एवं तदाधारभूत आर्षवेदशास्त्र को अपनी परमप्रसन्नेयता से सर्वथैव विस्मृत किए हुए है।

वेदशास्त्र भारतवर्ष की प्रातिस्विक सम्पत्ति है। हमारे पिता-पितामह-प्रपितामहों की स्वोपार्जिता अक्षय्य-निधि है। सहस्रों कोस दूर बैठे हुए वेदशास्त्रपरिभाषानभिज्ञ उन्होंने तो वेदरहस्य समझ लिया, किन्तु भारतीय उसके इतिवृत्त से भी अपरिचित हैं !, कैसा प्रलाप ! कैसी धृष्टता !! कैसी विडम्बना !!! 'कालाय तस्मै नमः' ?।

छोड़िए इस अप्रिय प्रसङ्ग को। हमें उस तथ्य पर थोड़ा विचार अवश्य कर लेना है, जो सङ्कदोष से आस्तिकवर्ग में भी भ्रान्ति का कारण बन जाया करता है। जिस ऋग्वेद में आद्ध समूलक एकेश्वरवाद का अभाव बतलाया जा रहा है, वही ऋग्वेद एकेश्वरदर्शन से अथ से इतिपर्य्यन्त ओतप्रोत है। पुष्टि के लिए कुछ एक मन्त्रों के उद्धरण ही पर्य्याप्त होंगे। अग्नि, वायु, सूर्य्य, चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण यम, मातरिश्वा, इत्यादि सम्पूर्ण देवता उस एक ही के अनेकरूप हैं। उसी व्यापक तत्त्व का स्मरण कराते हुए निम्न लिखित मन्त्र जड़वादियों का उद्बोधन करा रहे हैं—

१—"एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति "एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" ॥
(ऋक्सं०८।५८।२)।

२—"अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांसि—"अजस्य रूपे किमपि स्वि-'देकम्'' ॥
(ऋक्सं० १।१६४।६) ।

३—"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्-अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया 'तदेकं' तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जाय-'तैकम्'' ॥
(ऋक्सं०१ ।१२९।१,२,३) ।

४—"तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्र-'देक' ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम्'' ॥
(ऋक्सं० १।१६४।१०) ।

५—"ऋचो अक्षरे 'परमेव्योमन्' यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते'' ॥
(ऋक्सं०१।१६४।३९) ।

६—"एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥
सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि-'रेकं सन्तं' बहुधा कल्पयन्ति ।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश'' ॥
(ऋक्सं०१०।११४।४,५,) ।

७—"आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः ।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम'' ॥
(ऋक्सं०१०।१६८।४) ।

८—"य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
यश्चिदापो महिना पर्य्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधिदेव 'एक' आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्" ॥
(ऋक्सं०१०।१२१।२८,१०,) ।

९—"यो न पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवाना नामधा 'एक' एव तं सम्प्रश्न भुवना यन्त्यन्या ॥
(ऋक्सं०१०।८२।३) ।

१०—"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
स बाहुभ्यां धमति स पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव 'एक'" ॥
(ऋक्सं०१०।८१।३) ।

११—"इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान् ।
'एक' सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु" ॥
(ऋक्सं० १।१६४।४६) ।

उक्त ऋग्वेदीय वचन यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि, उपनिषदों का एकेश्वरवाद स्वयं मन्त्र-संहिता में ही पूर्णरूप से पुष्पित पल्लवित है । एकेश्वरवाद के आधार पर मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र का विधान हुआ है । अन्यदेशीय विद्वान् हमारी निधि से अपरिचित रहने के कारण अनर्गल कहने लगे, यह अपराध किसी सीमा तक क्षम्य माना जा सकता है । परन्तु आश्चर्य हमें तब होता है, जब इसी देश के कतिपय वेदभक्त भी संहिता में अद्वैतसिद्धान्तप्रवर्त्तक ब्रह्मात्मवाद पर नाच कुच करते दिखलाई देने लगते हैं । भगवान् शङ्कराचार्य्य के भुविसिद्ध अद्वैतवाद की समालोचना करते हुए ऐसे ही एक वेदभक्त ने अपने निम्न लिखित उद्‌गार प्रकट किये हैं—

"तथा उपसंहार (प्रलय) के होने पर भी ब्रह्म-कारणात्मक जड़-और जीव बराबर बने रहते हैं । इसलिए उपक्रम और उपसंहार भी इन वेदान्तियों की झूँठी कल्पना है । ऐसी अन्य बहुत सी बातें हैं, जो शास्त्र प्रत्यक्ष प्रमाणों से विरुद्ध हैं" (सत्यार्थप्रकाश ११ समुल्लास) ।

भारतवर्ष में, तत्रापि ब्रह्मकुल में जन्म लेने वाले अपने आपको वेदोद्धारक कहने-कहलाने-वाले, एक भारतीय विद्वान् के मुख से निनि सत उपयुक्त अक्षर सुन कर किस भारतीय को दुःख न होगा । सम्पूर्ण वेदशास्त्र जहाँ एकस्वर से सिद्धान्ततः ब्रह्मात्मवादमूलक ऐकात्म्यवाद का समर्थन कर रहा है, वहाँ उक्त कल्पना के मिथ्यात्व में क्या सन्देह रह जाता है । इन्हीं सब परिस्थितियों को देखते हुए कहना पड़ता है कि, मताभिनिवेश ही मानव के तत्त्वज्ञान-प्राप्ति-मार्ग का महा प्रतिबन्धक है । वेदतत्त्वजिज्ञासुओं से सानुनय निवेदन किया जायगा कि, यदि वे वस्तुतत्त्व पर पहुँचना चाहते हैं तो उन्हें वेद की परिभाषाओं के आधार पर विशुद्ध आर्षप्रणाली को ही अपना उपास्य बनाना चाहिए । प्रस्तुत प्रकरण को विश्राम देते हुए निम्न लिखित उन सूक्तियों की ओर उपनिषत्-प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जो सर्वतोभावेन एकेश्वर वादमूलक अभिन्न-आत्मतत्त्व का समर्थन करते हुए मृत्युप्रवर्त्तक नानात्व का आमूलचूड़ खण्डन कर रहे हैं—

१—"यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम !" ॥
—कठोपनिषत् ४।१५।

२—"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" ॥
—कठोपनिषत् ४।१०।

३—'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः" ॥
—मुण्डकोपनिषत् २।२।५।

४— गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति" ॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।७।

५— यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" ॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।८।

६— स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" ।
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।९।

७— एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"
—छान्दोग्योपनिषत् ६।२।१।

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ॥
—ईशोपनिषत् १।

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—तृतीयखण्डान्तर्गत
'श्रुतिशब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि' नामक
षष्ठ स्तम्भ—उपरत

६

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

'श्रुतिशब्दमीमासा, एव एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि' नामक

षष्ठ-स्तम्भ-उपरत

६

—×—

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत-
'औपनिषद-ज्ञानप्रवर्त्तकेतिवृत्तदिग्दर्शन' नामक

सप्तम-स्तम्भ

श्री

औपनिषद–ज्ञानप्रवर्त्तकेतिवृत्तदिग्दर्शन

१–औपनिषद ज्ञान का स्वरूप–

यदि औपनिषद ज्ञान से निरस्तसमस्तोपाधि–सर्वप्रपञ्चोपशम–तुरीयशब्दवाच्य–अव्याकृत–विशुद्ध ब्रह्मज्ञान अभिप्रेत है, जैसाकि व्याख्याताओं का मन्तव्य है, तब तो हमारे प्रकृत–प्रकरण का कोई तात्पर्य शेष नहीं रह जाता है, क्योंकि–'तत्र ब्रह्म अमृतं भवति०' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार उस स्थिति में पहुँचने वाले ब्रह्मवेत्ता वर्णमर्य्यादा से अतीत हैं, अतएव उनके लिए वर्णव्यवहार करना सर्वथा असङ्गत है। यदि काण्डत्रयी में संगृहीत निवृत्तिकर्म्ममूलक ज्ञानयोग–जिसे हम गीतापरिभाषा में 'ज्ञानबुद्धियोग' कहेंगे–औपनिषद ज्ञान से अभिप्रेत है,तो निश्चयेन कहना पड़ेगा कि,औपनिषद ज्ञान के प्रथम प्रवर्त्तक क्षित्रजाति में उत्पन्न, अतएव 'सिद्ध' उपाधि से प्रसिद्ध महर्षि कपिल थे। एवं ऐसे औपनिषद ज्ञान की अपेक्षा प्रकृत प्रश्न के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि,–'ब्राह्मण ही औपनिषद ज्ञान के प्रवर्त्तक थ'।

परन्तु जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में यत्रतत्र स्पष्ट किया जा चुका है, विज्ञान, स्तुति, इतिहास, ज्ञान, भक्ति, कर्म्म, इन ६ ओं प्रतिपाद्य विषयों के अतिरिक्त उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य योगात्मिका वह ब्रह्मविद्या है, जिसे हम गीता–परिभाषा के अनुसार 'अव्ययात्मविद्यानुगता राजर्षिविद्या' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। अव्ययज्ञान उपनिषदों का ज्ञान है, वैराग्यबुद्धियोग उपनिषदों का योग है, ऐसे ब्रह्मज्ञानात्मक वैराग्यबुद्धियोग का ही उपनिषदों में प्राधान्य है, जैसाकि–'उपनिषदों में क्या है?–उपनिषत्–हमें क्या सिखाती है?, इन प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जा चुका है। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि, ब्राह्मणवंश ही इस विद्या, तथा इस योग का सूत्ररूप से प्रवर्त्तक रहा है, और इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि, ब्रह्मर्षि ही औपनिषद–ज्ञान के निश्चयेन प्रथम प्रवर्त्तक हैं, तथापि एकविशेष दृष्टिकोण के माध्यम से इस बुद्धियोगात्मक औपनिषद–ज्ञान की सम्प्रदायप्रवृत्ति का श्रेय अमुक सीमापर्य्यन्त राजर्षिवर्ग को भी प्रदान किया जा सकता है। इसी दृष्टिकोण की अपेक्षा से लोकभावुकता–संरक्षणात्मक निम्न लिखित मानस–मन्तव्य पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

अभी इस सम्बन्ध में हमें पाठकों के सामने केवल इस परिस्थिति का स्पष्टीकरण करना है कि, ज्ञान–कर्म्मोभयमूर्त्ति अव्ययपुरुष ही उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य है। एवं इसकी प्राप्ति का साधनभूत वैराग्यलक्षण बुद्धियोग ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। वैराग्यबुद्धियोगावच्छिन्न अव्ययज्ञान ही औपनिषद ज्ञान है। एवं इसी औपनिषद ज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि,'औपनिषद ज्ञान के प्रवर्त्तक कौन थे?'। ब्राह्मणमहर्षियों के यश को अणुमात्र भी कम न करते हुए इस सम्बन्ध में स्वयं उपनिषदों के अक्षरों के आधार पर ही हमें जैसा कुछ भान हुआ है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि,–'औपनिषद ज्ञान के प्रवर्त्तक राजर्षि ही थे'।

२–देवयुग, और योगव्यवस्था—

कर्म्म, भक्ति, ज्ञान, बुद्धियोग, भेद से अनुष्ठेय योग को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। आत्मसत्य की संस्थाचतुष्टयी ही इस विभागचतुष्टयी का मूलकारण है। अव्ययात्मा बुद्धियोग की प्रतिष्ठा है, अक्षरात्मा ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा है, आत्मक्षरात्मा भक्तियोग की प्रतिष्ठा है, एवं आत्मक्षरानुगत शिथिलिष्ठात्मा कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा है। ये चारों कर्त्तव्ययोग जिस देवयुग में सुप्रतिष्ठित थे, उस देवयुग में चारों में से प्रधानता अव्ययात्मानुगत बुद्धियोग की ही थी। तत्कालीन भूमण्डल पर प्रकृतिवत् त्रैलोक्य व्यवस्था थी। प्रकृति में अग्नि–वायु–इन्द्रादि देवभेद से जैसे पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यु–आदि लोक व्यवस्थित हैं, एवमेव यहाँ भी त्रैलोक्य, एवं लोकाधिपति मानुष देवताओं का आवास निवास था। दक्षिण समुद्र से आरम्भ कर हिमालय पर्य्यन्त भूलोक की व्याप्ति थी। यही देवयुगकालीन भारतवर्ष था, एवं यहाँ की प्रजा सम्राट् 'मनु' के सम्बन्ध से 'मनुष्य' नाम से प्रसिद्ध थी। यहाँ के शासनोनपात्–अधिष्ठाथा–(अधिष्ठाता) देवता 'भारत' उपाधि से विभूषित 'अग्नि' थे। हिमालय पर्वत से आरम्भ कर अलतायी पर्यन्तान्त मध्यप्रदेश उस युगव्यवस्था का अन्तरिक्षलोक था। यहाँ का प्रजावर्ग 'तिर्य्यक्' नाम से प्रसिद्ध था, जिसके यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, गुह्यक, राक्षस, पिशाच, आदि आठ भेद थे। इन्हीं को 'देवयोनि' कहा जाता था। सुप्रसिद्ध चैत्ररथवन, काननवन, उमावन, स्कन्दवन, आदि वनोपवन इसी लोक की शोभा बढ़ाते थे। इस लोक के अधिष्ठाता 'वायु' देवता थे। अलतायी पर्वत से आरम्भ कर उत्तरसमुद्रान्त सम्पूर्ण भूप्रदेश उस युग का 'स्वर्ग' था। यहाँ का प्रजावर्ग 'देवता' नाम से प्रसिद्ध था, एवं यहाँ के अधिष्ठाता देवता 'इन्द्र' थे। तत्वतः जो लोक–देवादि व्यवस्था प्राकृतिक–आधिदैविक जगत् में व्यवस्थित है, किसी युग में वह सम्पूर्ण व्यवस्था इसी लोक में व्यवस्थित थी। एवं यही युग देवप्राधान्य से 'देवयुग' नाम से प्रसिद्ध था, जिसे साध्ययुग की तुलना में हम 'द्वितीययुग' भी कह सकते हैं।

उसी देवयुग में पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यु–लोकों में तत्तत् स्थानविशेषों में वैज्ञानिकों की ब्रह्मपर्षदें विद्यमान थीं, जिनका दिग्दर्शन पूर्वप्रकरणों में कराया जा चुका है। इन सब ब्रह्मपर्षदों के प्रधानाध्यक्ष भगवान्–ब्रह्मा थे, जो कि ब्रह्मविद्या के प्रवर्त्तक माने गए हैं। ब्रह्मा के तत्त्वावधान में ही इन पर्षदों में तत्त्वान्वेषण–कर्म्म प्रक्रान्त था। इसप्रकार जिस देवयुग में, जिसे कि आर्षधर्म्ममूलाधार वेद के सम्बन्ध से 'वेदयुग' भी कह सकते हैं–हमारा ज्ञानक्षेत्र सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित था, उस महा–भव्य युग में ज्ञानक्षेत्र के पथिक चार श्रेणियों में विभक्त थे। एवं इस श्रेणि–विभाग की मूलप्रतिष्ठा वही पूर्वोक्ता योगचतुष्टयी बन रही थी।

यद्यपि ज्ञानक्षेत्र में ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य, तीनों का ही समानाधिकार है, तथापि वर्णक्रमानुसार इस क्षेत्र में भी सदा से भी तारतम्य रहता चला आया है। और जिस देवयुग का हम स्मरण कराने चले हैं, उस देवयुग में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय इन दो वर्णों के हाथ में ही शिक्षा का प्रचार–प्रसार था। यही कारण है कि, देवयुगकालीन ज्ञानेतिहास के सम्बन्ध में दो वर्णों का ही नामग्रहण उपलब्ध होता है। उस युग के ब्राह्मण, क्षत्रिय, इन दोनों वर्णों को क्रमशः दो दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। कर्म्मठ ब्राह्मण, तपस्वी ब्राह्मण, ये दो दो ब्राह्मणवर्ग थे। एवं भक्त क्षत्रिय, तथा बुद्धियोगनिष्ठ क्षत्रिय, ये दो क्षत्रियवर्ग थे।

यज्ञमूलक धर्मतत्त्व के द्रष्टा, धर्मतत्त्व के आधार पर यज्ञकर्म्म का विधान करने वाले कर्म्मठ ब्राह्मण 'ऋषि' कहलाते थे। इनका प्रधान लक्ष्य कर्म्मयोग (धर्म्मबुद्धियोग) था। एवं उक्त चार आत्मसंस्थाओं में से

आत्मक्षरानुगत शिपिविष्टात्मा इनका मुख्य लक्ष्य था। इनकी यह आत्मविद्या इनके इस (ऋषि) नाम सम्बन्ध से गीतापरिभाषा में 'आर्षविद्या' कहलाई है, एवं तत्प्राप्तिसाधनभूत प्रवृत्तिकर्म्मलक्षण योग 'धर्म्मबुद्धियोग' (कर्म्मयोग) नाम से व्यवहृत हुआ है।

अव्यक्त अक्षरात्मोपासक सिद्ध कपिलानुयायी तपस्वी ब्राह्मण 'सिद्ध' कहलाते थे। इनका प्रधान लक्ष्य ज्ञानयोग (ज्ञानबुद्धियोग) था। एवं उक्त चार आत्मसंस्थाओं में से इनका लक्ष्य अव्यक्तेश–द्वारा प्राप्त होने वाला अक्षरात्मा था, इनकी यह आत्मविद्या इनके इस (सिद्ध) नाम से 'सिद्धविद्या' कहलाई है, एवं तत्–प्राप्तिसाधनभूत निवृत्तिकर्म्मलक्षण योग 'ज्ञानबुद्धियोग' (ज्ञानयोग) नाम से प्रसिद्ध हुआ है। कर्म्मठ ब्राह्मणों का कर्म्मयोग गीता में 'योगनिष्ठा' नाम से, एवं तपस्वी ब्राह्मणों का ज्ञानयोग 'सांख्यनिष्ठा नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिनका निम्न लिखित भगवदुक्ति से स्पष्टीकरण हुआ है—

> लोकऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ !
> ज्ञानयोगेन सांख्यानां, कर्म्मयोगेन योगिनाम् ॥ (गी ३।३।)।

दूसरा क्षत्रियवर्ग क्रमप्राप्त हमारे सामने आता है। अध्यात्मप्रसादानुगत आत्मक्षर जिन क्षत्रिय राजाओं का प्रधान लक्ष्य था, वे क्षत्रियराजा तत्प्राप्तिसाधनभूता निष्कामकर्म्मलक्षणा परानुरक्ति (भक्ति) के अनुगामी थे। इनकी यह आत्मविद्या इन्हीं के नाम से 'राजविद्या' नाम से प्रसिद्ध थी। एवं तत्साधनभूत योग 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' (भक्तियोग) नाम से प्रसिद्ध था।

सर्वप्रपञ्चानुगत–ज्ञानकर्म्मोभयसमतुलित–अमृतमृत्युमूर्त्ति–उदर्कलक्षण अव्ययात्मा को अपना लक्ष्य बनाने वाला, फलाफल–सुखदुःखादि द्वन्द्वों से एकान्ततः पृथक् रहने वाला क्षत्रियवर्ग ही 'राजर्षि' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन्हीं के नाम से यह अव्ययात्मविद्या 'राजर्षिविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई। एवं तत्प्राप्ति–साधनभूत योग 'वैराग्यबुद्धियोग' (बुद्धियोग) नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजर्षिविद्या परम्परया राजर्षि क्षत्रियों में ही प्रतिष्ठित रही। आगे चलकर राजर्षियों के सम्पर्क से ही ब्राह्मणों में इस औपनिषद ज्ञान का प्रचार–प्रसार हुआ।

इसप्रकार कर्म्मठ, तपस्वी, राजा, राजर्षि, भेद से उस युग का ब्रह्म-क्षत्रबल चार भागों में विभक्त था। चारों क्रमशः उक्त विद्यात्मक योगों के उपासक थे। यही इन चारों योगों का पूर्वापरक्रम था। चारों में राजर्षियों से सम्बन्ध रखने वाला अव्ययज्ञान ही औपनिषद ज्ञान है, एवं वैराग्यबुद्धियोग ही योग है, जबकि लोकसंग्रहमूला अधिकारी–भेदद्रष्टि से इतर तीनों संस्थाओं का भी उपनिषदों में ग्रहण हुआ है।

१—राजर्षिविद्या—वैराग्यबुद्धियोगः—(बुद्धियोग—अव्ययानुगत)—राजर्षीणाम्
२—राजविद्या—ऐश्वर्य्यबुद्धियोग—(भक्तियोग—आत्मक्षरानुगतः) राज्ञाम्
३—सिद्धविद्या—ज्ञानबुद्धियोग—(ज्ञानयोग—अक्षरानुगत)—सिद्धानाम्
४—आर्षविद्या—धर्म्मबुद्धियोग—(कर्म्मयोग—शिपिविष्टानुगत)—ऋषीणाम्

३–ब्रह्म-क्षत्र का समन्वय

कठ, पिप्पलाद, मुण्डक, माण्डूक्य, तित्तिरि, जाबाल, श्वेताश्वतर, मैत्रायण, आदि–ब्रह्मर्षियों के नाम से ही कठ–पिप्पलादि (प्रश्नादि) उपनिषद्ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि, औपनिषद ज्ञान की प्रवृत्ति के श्रेय से उपनिषत्–द्रष्टा महर्षियों को पृथक् नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त स्वयं उपनिषदों में भी विस्पष्टरूप से यत्र तत्र इस विषय का पूर्ण समर्थन हुआ कि, औपनिषद्–ज्ञानमूला ब्रह्मविद्या ब्रह्मर्षिपरम्परा में ही सुरक्षित रही है, जैसाकि निम्न लिखित मुण्डकवचनों से प्रमाणित है—

> ब्रह्मा देवाना प्रथम सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ॥
> स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥
> अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा ता पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ॥
> स भरद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भरद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥
>
> (मुण्डक १। ।१,२,)।

जिन विद्यापर्षदों का आरम्भ में उल्लेख किया गया है, उनमें कुछ एक पर्षदें राजर्षि–क्षत्रियों की थी, एवं इन ब्रह्म–क्षत्र–पर्षदों का परस्पर 'ब्रह्मोद्य' (ब्रह्मचर्चा) के नाते सम्बन्ध हुआ करता था। यह मान लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि, उपनिषदों में जिस निगूढ़ ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया है, उसके प्रथमद्रष्टा राजर्षि ही हुए हैं। राजर्षियों के द्वारा ही यह औपनिषद ज्ञान ब्रह्मर्षिपरम्परा में प्रतिष्ठित हुआ है। राजर्षियोंने ब्रह्मर्षियों से कभी किसी तत्त्ववाद के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा प्रकट की हो, ऐसा उपनिषदों में उपलब्ध नहीं होता। अपितु ठीक इसके विपरीत ऐसे कथानक स्थान-स्थान पर उपलब्ध हो रहे हैं, जिनसे स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है कि, औपनिषद तत्त्व एकमात्र राजर्षियों की ही देन है। उदाहरण के लिए दिग्दर्शन करा देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा—

(१)–शालावत्य 'शिलक', चैकितायन 'दाल्भ्य', ये दोनों ब्रह्मर्षि, एवं जैवलि 'प्रवाहण' नामक राजर्षि तीनों 'उद्गीथ' विद्या में बड़े कुशल थे। एक समय इन तीनों ने उद्गीथविद्या पर विचार विमर्श प्रकट करने की इच्छा की। *मर्यादामर्यादारक्षिक राजर्षि प्रवाहण* ने कहा कि, पहले इस सम्बन्ध में आप अपने विचार प्रकट कीजिए। आपसे पहिले मैं सुनना चाहता हूँ। दोनों में से शिलक दाल्भ्य से बोले, पहिले आप। तदनुसार सर्वप्रथम उद्गीथ के सम्बन्ध में दाल्भ्य ने अपने विचार प्रकट किए। 'आपने जिस साम को उद्गीथाधार की चरम प्रतिष्ठा बतलाया, वस्तुतः ऐसा नहीं है। मैं आपसे निवेदन करता हूँ, कह कर शिलक ने इस लोकप्रतिष्ठा पर विश्राम माना। सर्वान्त में जैवलि ने सिद्धान्त किया कि, आकाश ही उद्गीथ का परोवरीय परायण है। इसप्रकार राजर्षि का मत सर्वमान्य रहा" (छान्दो १प्र०८ख)।

(२)–औपमन्यव–'प्राचीनशाल', पौलुषि–'सत्ययज्ञ', भाल्लवेय–'इन्द्रद्युम्न', शार्कराक्ष्य–'जन', आश्वतराश्वि–'बुडिल', पाँचों ब्रह्मर्षि * 'महाशाल' थे, महाश्रोत्रिय थे। एक बार पाँचों महाविद्वान् एकत्र

---

* अनेक शाखाएँ जिनकी अध्यक्षता में चलती थीं, वे 'महाशाल उपाधि से विभूषित किए जाते थे, एवं कर्मकाण्डपारावारीण को 'महाश्रोत्रिय' की उपाधि से अलङ्कृत किया जाता था।

हुए, और इस विषय की मीमांसा आरम्भ की कि, आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या पदार्थ है ?। अपनी आत्म-ब्रह्म-मीमांसा के निश्चयात्मक निर्णय के सम्बन्ध में इन्होंने यह परामर्श किया कि, भगवान् उद्दालक इस समय वैश्वानरात्मा के विशेषज्ञ माने जाते हैं। उनके समीप चलना चाहिए। परामर्शानुसार पाँचों महाशालपुत्र उद्दालक के आश्रम में पहुँचे। स्वयं उद्दालक यह जानते थे कि, वर्तमान में इस विषय के पूरे जानकार सुप्रसिद्ध राजर्षि अश्वपति कैकय महाराज हैं। फलतः आगत महाशालों को साथ लेकर उद्दालक कैकयराजधानी पहुँचे।

राजर्षिने सम्मान्य अतिथियों के लिए पृथक् पृथक् भवनों का प्रबन्ध कर दिया। दूसरे दिन प्रातः राजर्षि इनकी सेवा में पहुँचे, और विनीतभाव से उनके आगे भेंट धरते हुए इसे ग्रहण करने की प्रार्थना की। जब उद्दालकादि ने भेंट ग्रहण न की, तो राजर्षि क्षुब्ध हो कर कहने लगे—भगवन्! मेरे राज्य में जब कोई चोर नहीं है, अदाता नहीं है, मद्यप नहीं है, अनाहिताग्नि नहीं है, मूर्ख नहीं है, व्यभिचारी पुरुष नहीं है, कुलटा स्त्री नहीं है, इसप्रकार भेंट-ग्रहणप्रतिबन्धक जब कोई दोष नहीं है, तब भी आपको मेरे आतिथ्य स्वीकार करने में क्या आपत्ति है ?।

महाशाल लोग कहने लगे, राजर्षिप्रवर! आपका कथन यथार्थ है। हम जिस अभिलाषा से आपके समीप आए हैं, हमें वही मिलना चाहिए, और हमारी वह अभिलाषा है—'वैश्वानरात्मा का आपसे ज्ञान प्राप्त करना'। राजर्षि ने प्रातःकाल का समय निश्चित किया। यथासमय ६ ओं समित्पाणि बन कर शिष्यबुद्धि से कैकयभवन में उपस्थित हुए। राजर्षि ने वर्णमर्य्यादानुसार बिना शिष्य बनाए ही निवेदन के रूप में आत्म-स्वरूप का विश्लेषण कर इन्हें सन्तुष्ट किया" । (छां० उ० ५ प्र०।११ खण्ड)।

(१)—आरुणेय श्वेतकेतु अभी युवा थे। सुप्रसिद्ध उद्दालक गौतम आपके पिता थे। कुमार श्वेतकेतु एक बार पञ्चाल-राजसभा में निमन्त्रित हो कर पधारे। वहाँ सुप्रसिद्ध राजर्षि जैवलि भी विद्यमान थे। प्रसङ्ग ही प्रसङ्ग में राजर्षि श्वेतकेतु से प्रश्न कर बैठे कि—कुमार! क्या आपने अपने पिता से सब विद्या ग्रहण कर ली है। उत्तर में श्वेतकेतु ने कहा, हाँ मैंने पिता से ही विद्या प्राप्त की है। अव्यवहितोत्तरक्षण में ही राजर्षि ने पाँच प्रश्न उपस्थित कर दिए। आरुणेय स्तब्ध हो गए। पाँचों में से वे एक का भी समाधान न कर सके। इस पर श्वेतकेतु का उपहास सा करते हुए राजर्षि कहने लगे कि क्या इसी बल पर तुमने यह कहने का साहस किया था कि, मैंने पिता से सब कुछ सीख लिया है ?। तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि, जो इन प्रश्नों का समाधान नहीं कर सकता, वह विद्वन्मण्डली में विद्वान् नहीं कहला सकता।

राजर्षि से भर्त्सित श्वेतकेतु खिन्नमना होकर अपने घर लौटे। आते ही आवेशपूर्वक पिता के सामने अपने ये उद्गार प्रकट किए कि, हे पिता! उस राजन्यबन्धु (क्षत्रियनामधारी-अभिमानी राजा) ने मुझ से पाँच प्रश्न किए। खेद है कि, मैं एक का भी उत्तर न दे सका। पिता कहने लगे-पुत्र! तुमनें जिन पाँच प्रश्नों का स्वरूप मेरे सम्मुख रक्खा है, मैं स्वयं उनका उत्तर नहीं जानता। यदि जाने रहता, तो अवश्य तुम्हें बतला देता। इसप्रकार अपनी स्पष्टवादिता से गौतम ने श्वेतकेतु का तो जैसे तैसे सन्तोष कर दिया। परन्तु—

स्वयं इनके अन्तःकरण में प्रश्नरहस्यार्थपरिज्ञान की उत्कण्ठा उत्पन्न हो गई। परिणामस्वरूप गौतम राजर्षि के स्थान पर पहुँच गए। राजर्षि ने यथाविधि गौतम का सत्कार किया। आतिथ्य ग्रहण करने वाले

३—ब्रह्म-क्षत्र का समन्वय

कठ, पिप्पलाद, मुण्डक, माण्डूक्य, तित्तिरि, जाबाल, श्वेताश्वतर, मैत्रायण, आदि-महर्षियों के नाम से ही कठ-पिप्पलादि (प्रश्नादि) उपनिषद्ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि, औपनिषद ज्ञान की प्रवृत्ति के भेय से उपनिषत्-द्रष्टा महर्षियों को पृथक् नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त स्वयं उपनिषदों में भी विस्पष्टरूप से यत्र तत्र इस विषय का पूर्ण समर्थन हुआ कि, औपनिषद-ज्ञानमूला ब्रह्मविद्या ब्रह्मर्षिपरम्परा में ही सुरक्षित रही है, जैसाकि निम्न लिखित मुण्डकवचनों से प्रमाणित है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ॥
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ॥
स भरद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भरद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥
(मुण्डक १। ।१,२,)।

जिन विद्यापर्वदों का आरम्भ में उल्लेख किया गया है, उनमें कुछ एक पर्वदें राजर्षि-क्षत्रियों की थी, एवं इन ब्रह्म-क्षत्र-पर्वदों का परस्पर 'ब्रह्मोद्य' (ब्रह्मचर्चा) के नाते सम्बन्ध हुआ करता था। यह मान लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि, उपनिषदों नें जिस निगूढ ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया है, उसके प्रथमद्रष्टा राजर्षि ही हुए हैं। राजर्षियों के द्वारा ही यह औपनिषद ज्ञान ब्रह्मर्षिपरम्परा में प्रतिष्ठित हुआ है। राजर्षियोंनें ब्रह्मर्षियों से कभी किसी तत्त्ववाद के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा प्रकट की हो, ऐसा उपनिषदों में उपलब्ध नहीं होता। अपितु ठीक इसके विपरीत ऐसे कथानक स्थान-स्थान पर उपलब्ध हो रहे हैं, जिनसे स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है कि, औपनिषद तत्त्व एकमात्र राजर्षियों की ही देन है। उदाहरण के लिए दिग्दर्शन करा देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा—

(१)—शालावत्य 'शिलक', चैकितायन 'दाल्भ्य', ये दोनों ब्रह्मर्षि, एवं जैवलि 'प्रवाहण' नामक राजर्षि तीनों 'उद्गीथ' विद्या में बड़े कुशल थे। एक समय इन तीनों नें उद्गीथविद्या पर विचार विमर्श प्रकट करने की इच्छा की। वर्णमर्य्यादाभिज्ञ राजर्षि प्रवाहण ने कहा कि, पहले इस सम्बन्ध में आप अपने विचार प्रकट कीजिए। आपसे पहिले मैं सुनना चाहता हूँ। दोनों में से शिलक दाल्भ्य से बोले, पहिले आप। तदनुसार सर्वप्रथम उद्गीथ के सम्बन्ध में दाल्भ्य ने अपने विचार प्रकट किए। 'आपने जिस साम को उद्गीथाक्षर की चरम प्रतिष्ठा बतलाया, वस्तुतः ऐसा नहीं है। मैं आपसे निवेदन करता हूँ, कह कर शिलक ने इस लोकप्रतिष्ठा पर विश्राम माना। एवमन्त में जैवलि ने सिद्धान्त किया कि, आकाश ही उद्गीथ का परोवरीय परायण है। इसप्रकार राजर्षि का मत सर्वमान्य रहा" (छान्दो० १प्र०८ख०)।

(२)—औपमन्यव-'प्राचीनशाल', पौलुषि-'सत्ययज्ञ', भाल्लवेय-'इन्द्रद्युम्न', शार्कराक्ष्य-'जन', आश्वतराश्वि-'बुडिल', पाँचों ब्रह्मर्षि * 'महाशाल' थे, महाश्रोत्रिय थे। एक बार पाँचों महाविद्वान् एकट्ठे

* अनेक शालाएँ जिनकी अध्यक्षता में चलती थीं, वे 'महाशाल' उपाधि से विभूषित किए जाते थे, एवं कर्म्माध्ययनपारगामीण को 'महाश्रोत्रिय' की उपाधि से अलङ्कृत किया जाता था।

में रखने वाली बुद्धियोगात्मिका राजर्षिविद्या की प्रथम प्रवृत्ति किस से हुई ?, इस समस्या का निराकरण उक्त समय भलीभाँति हो जाता है, जबकि भारतीय 'अवतारहस्य' की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। वासुदेवतत्त्व ही इस विद्या, तथा योग के प्रथमप्रवर्त्तक माने गए हैं, जो कि कालातिक्रम से समय समय पर विलुप्त हो जाने वाले योग के पुनरुद्धार के लिए नराक्तार धारण किया करते हैं। देवयुगारम्भ में किसी अन्य शरीर से इसी वासुदेवतत्त्व ने राजर्षि विवस्वान् को इस योग का प्रथम शिष्य बनाया। विवस्वान् भारतवर्ष के प्रथम मनु (सम्राट्) थे। इन्होंने अपने ज्येष्ठपुत्र श्रद्धादेव मनु को, जो कि पुराणों में 'वैवस्वतमनु' नाम से प्रसिद्ध हुए, इस योग का उपदेश दिया। वैवस्वत के द्वारा इनके ज्येष्ठपुत्र अयोध्याधिप महाराज इक्ष्वाकु इनके शिष्य बने। इसप्रकार वासुदेवतत्त्व के द्वारा राजर्षि विवस्वान् के प्रति प्रथमोपदिष्ट यह विद्यात्मक योग राजर्षि परम्परा में ही प्रतिष्ठित रहा। आगे जाकर कालातिक्रम से यह योग विलुप्तप्राय हो गया। यहाँ तक कि, विवस्वान् की १२८ वीं पीढ़ी में उत्पन्न महाभारतकालीन सूर्य्यवंशी महाराज सुमित्र के युग में तो एक प्रकार से इसका सर्वथा उच्छेद ही हो गया। इसी युग में उसी वासुदेवतत्त्व के द्वारा अर्जुन के प्रति पुनः उस विलुप्त योग का उपदेश हुआ था, यह सार्वजनीन है। एवं इसी आधार पर यह भी सर्वसम्मत ही पक्ष माना जायगा कि, औपनिषद ज्ञान एकमात्र राजर्षिवंश की ही प्रातिस्विक वस्तु बनता रहा है। उपनिषदों में उपवर्णित यह औपनिषद ज्ञान स्वयं औपनिषद पुरुष (श्रीकृष्ण) द्वारा प्रथम प्रवृत्त है। अतएव भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में–'ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः' रूप से इसे अपना प्रातिस्विक मत बतलाते हुए राजर्षिपरम्परा की ओर ही सङ्केत किया है, जैसा कि निम्न लिखित भगवदुक्ति से प्रमाणित है—

> "इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ॥
> विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
> एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ॥
> स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ! ॥२॥
> स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥
> भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्" ॥३॥ (गीता ४।१,२,३,) ।

५–लोकभावुकतासंरक्षक-प्रकरण का उपसंहार—

वस्तुतस्तु गुरुपरम्परा प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाले, अतएव 'अपौरुषेयभावाक्रान्त' किसी भी अपौरुषेय ज्ञान के सम्बन्ध में प्रवर्त्तक का अन्वेषण करना स्वयं आर्षमर्य्यादा के ही सर्वथा विपरीत है। आर्षज्ञान, जो कि औपनिषद ज्ञान का नामान्तर है–सहजज्ञान है। एवं ऐसा सहजज्ञान–जिसका मानवीय-मानस प्रवृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है–सर्वथा अप्रमेय है। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' के अनुसार जन्मान्तरीय दिव्य संस्कारों से पवित्रीकृत निर्म्मल अन्तःकरणों में यह स्वतः प्रकट हो जाता है। 'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' भी इसी पक्ष का समर्थन कर रहा है। ऐसी दशा में आर्षदृष्टि से यद्यपि 'औपनिषद ज्ञान के प्रवर्त्तक कौन थे ?, इस प्रश्न का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, तथापि वर्त्तमानदृष्टि के आधार पर विचारपद्धति का आश्रय लेने से हमें इसी तथ्य पर पहुँचना पड़ता है कि, 'औपनिषद ज्ञान' अपने

गौतम दूसरे दिन प्रातः जब राज सभा में पहुँचे, तो राजर्षि ने निवेदन किया कि, आप मुझ से यथेच्छ सम्पत्ति प्राप्त कर सकते हैं। गौतम उत्तर देते हैं कि, राजन्! मुझे आपका मानुष वित्त नहीं चाहिए, अपितु कुमार से आपने जो पाँच प्रश्न किए थे, आप कृपा कर उन्हीं का समाधान कीजिए। आपसे केवल मैं यह विद्यावित्त ही प्राप्त करना चाहता हूँ।

भगवान् गौतम के इन नम्र शब्दों ने राजर्षि का मस्तक लज्जा से अवनत कर दिया। राजर्षि को कुमार श्वेतकेतु के प्रति कहे गए अपने अनुचित शब्दों पर पश्चाताप हुआ। विचार किया कि, मेरी कटूक्ति पर अप्रसन्न होना तो दूर रहा, अपितु विश्वविख्यात गौतम जैसे पर्षत्प्रवक्ता मेरा शिष्यत्व स्वीकार करने पधार आए। इसप्रकार अपने कर्त्तव्य पर मानस-परिताप का अनुभव करते हुए राजर्षि बड़े ही विनय-भाव से कहने लगे कि, भगवन्! आज मैं आपको इस ब्रह्मविद्या का निधि बताता हूँ। विश्वास कीजिए। आज से पहिले इसे ब्राह्मणसम्प्रदाय में कोई नहीं जानता था। सदा से इस विद्या का क्षत्रियवंशपरम्परा में ही समावेश रहा है, परन्तु आज मैं इसे आपके द्वारा ब्राह्मणवंश में प्रवृत्त कर रहा हूँ" (छान्दो॰५प्र ३ख॰)।

आख्यान से सम्बन्ध रखने वाली निम्नलिखित मूल, तथा भाष्य पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण है कि, औपनिषद ज्ञान ब्रह्म-क्षत्र के समन्वय का फल है, एवं क्षत्रसमाज ही इसका प्रथमप्रवर्त्तक है। क्षत्रिय राजर्षि राजर्षियों के अतिरिक्त अन्य को इस विद्या का शिष्य नहीं बनाते थे। क्षत्रियों में ये ही ऐसे प्रथम क्षत्रिय हुए, जिन्होंने अपनी मर्य्यादा तोड़ी। एवं ब्राह्मणों में ये ही पहिले ब्राह्मण हुए, जिन्होंने क्षत्रियराजा से ब्रह्मविद्या प्राप्त की, एवं उसे ब्राह्मणसम्प्रदाय में प्रचलित किया। देखिए—

"ह होवाच (राजर्षिः)—यथा मा त्वं गौतमाऽवदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः—पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति। तस्माद् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत्" (छां॰उ॰ ५।३।७)।

"तत्रास्ति वक्तव्य—यथा येन प्रकारेणेयं विद्या प्राक् त्वत्तो ब्राह्मणान्—गच्छति, न गतवती, न च ब्राह्मणा अनया विद्ययाऽनुशासितवन्तः। तथैतत् प्रसिद्ध लोके यतस्तस्माद् पुरा पूर्वं सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव क्षत्रजातेरेवानया विद्यया प्रशासनं प्रशास्तृत्वं शिष्याणामभूद्—बभूव। क्षत्रियपरम्परयैवेयं विद्या—एतावन्तं कालमागता। तथाऽप्यहमेतां तुभ्यं वक्ष्यामि, त्वत्सम्प्रदानादूर्ध्वं ब्राह्मणान् गमिष्यति" (शाङ्करभाष्य)।

४—राजर्षिविद्यात्मक औपनिषदज्ञान के प्रथम प्रवर्त्तक—

औपनिषद ज्ञान आरम्भ में राजर्षिपरम्परा में प्रतिष्ठित था, आगे जाकर ब्रह्म-क्षत्र के समन्वय से यह ब्रह्मर्षिपरम्परा में भी प्रतिष्ठित हो गया, यह उक्त परिच्छेद से भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। अब इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, राजर्षिविद्यात्मक इस औपनिषद ज्ञान के प्रथम प्रवर्त्तक कौन?। सन्तोष के लिए माना जा सकता है कि, सांख्यनिष्ठात्मिका सिद्धविद्या के प्रथम प्रवर्त्तक कपिल सिद्ध थे। योग-निष्ठात्मिका आर्षविद्या के प्रथम प्रवर्त्तक हिरण्यगर्भ ऋषि थे। तथैव भक्तियोगात्मिका राजविद्या को अपने गर्भ

में रखने वाली बुद्धियोगात्मिका राजर्षिविद्या की प्रथम प्रवृत्ति किस से हुई ?, इस समस्या का निराकरण उस समय भलीभाँति हो जाता है, जबकि भारतीय 'अवताररहस्य' की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। वासुदेवतत्त्व ही इस विद्या, तथा योग के प्रथमप्रवर्त्तक माने गए हैं, जो कि कालातिक्रम से समय समय पर विलुप्त हो जाने वाले योग के पुनरुद्धार के लिए नरावतार धारण किया करते हैं। देवयुगारम्भ में किसी अन्य शरीर से इसी वासुदेवतत्त्व ने राजर्षि विवस्वान् को इस योग का प्रथम शिष्य बनाया। विवस्वान् भारतवर्ष के प्रथम मनु (सम्राट्) थे। इन्होंने अपने ज्येष्ठपुत्र श्रद्धादेव मनु को, जो कि पुराणों में 'वैवस्वतमनु' नाम से प्रसिद्ध हुए, इस योग का उपदेश दिया। वैवस्वत के द्वारा इनके ज्येष्ठपुत्र अयोध्याधिप महाराज इक्ष्वाकु इनके शिष्य बने। इसप्रकार वासुदेवतत्त्व के द्वारा राजर्षि विवस्वान् के प्रति प्रथमोपदिष्ट यह विद्यात्मक योग राजर्षि परम्परा में ही प्रतिष्ठित रहा। आगे जाकर कालातिक्रम से यह योग विलुप्तप्राय हो गया। यहाँ तक कि, विवस्वान् की १२८ वीं पीढ़ी में उत्पन्न महाभारतकालीन सूर्यवंशी महाराज सुमित्र के युग में तो एक प्रकार से इसका सर्वथा उच्छेद ही हो गया। इसी युग में उसी वासुदेवतत्त्व के द्वारा अर्जुन के प्रति पुनः उस विलुप्त योग का उपदेश हुआ था, यह सार्वजनीन है। एवं इसी आधार पर यह भी सर्वसम्मत ही पक्ष माना जायगा कि, औपनिषद ज्ञान एकमात्र राजर्षिवंश की ही प्रातिस्विक वस्तु बनता रहा है। उपनिषदों में उपवर्णित यह औपनिषद ज्ञान स्वयं औपनिषद पुरुष (श्रीकृष्ण) द्वारा प्रथम प्रवृत्त है। अतएव भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में–'ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः' रूप से इसे अपना प्रातिस्विक मत बतलाते हुए राजर्षिपरम्परा की ओर ही सङ्केत किया है, जैसा कि निम्न लिखित भगवदुक्ति से प्रमाणित है—

> "इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ॥
> विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
> एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ॥
> स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ! ॥२॥
> स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥
> भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्" ॥३॥ (गीता ४।१,२,३,।)।

५–लोकभावुकतासंरक्षक–प्रकरण का उपसंहार—

यद्यपि ऋतम्भरा प्रज्ञा से सम्बन्ध रखने वाले, अतएव 'अपौरुषेयभावाक्रान्त' किसी भी अपौरुषेय ज्ञान के सम्बन्ध में प्रवर्त्तक का अन्वेषण करना स्वयं आर्षमर्य्यादा के ही सर्वथा विपरीत है। आर्षज्ञान, जो कि औपनिषद ज्ञान का नामान्तर है–सहजज्ञान है। एवं ऐसा सहजज्ञान–जिसका मानवीय–मानस प्रवृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है–सर्वथा अपौरुषेय है। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' के अनुसार जन्मान्तरीय दिव्य संस्कारों से पवित्रीकृत निर्म्मल अन्तःकरणों में यह स्वतः प्रकट हो जाता है। 'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' भी इसी पक्ष का समर्थन कर रहा है। ऐसी दशा में आर्षदृष्टि से यद्यपि 'औपनिषद ज्ञान के प्रवर्त्तक कौन थे ?, इस प्रश्न का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, तथापि वर्त्तमानदृष्टि के आधार पर विचारपद्धति का आश्रय लेने से हमें इसी तथ्य पर पहुँचना पड़ता है कि, 'औपनिषद ज्ञान' आगे

चल कर यद्यपि ब्रह्म-क्षत्र, दोनों वर्गों से सम्बद्ध हो गया है। तथापि इसके प्रथमप्रवर्त्तकत्व का श्रेय राजर्षि वंश को ही है। एवं यही उक्त प्रश्न का स्पष्टनिवारक समाधानामात्र है।

६—प्रकरणोपसंहारदृष्टि का उपलालनभाव, एवं सिद्धान्तपक्ष—

उक्त समाधान को स्पष्टनिवारक इसलिए कहा गया है कि, दिग्देशकालावच्छिन्न प्राकृत विश्वसर्ग की दृष्टि से कालात्मक बुद्धिवाद के माध्यम से ही–'यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति' (छान्दोग्य• ५।३।७।) इत्यादि रूप से औपनिषद ज्ञान की सम्प्रदायप्रवृत्ति राजर्षिक्षत्रियपरम्परा से अनुप्राणित मान ली गई है। कुछ एक विशेष विद्याएँ राजर्षिपरम्परा में ही प्रतिष्ठित रहीं थीं, एवं तद्द्वारा ही उन कतिपय विद्याओं की सम्प्रदायप्रवृत्ति ब्राह्मणवर्ग में हुआ करती थी, एतावता ही यह निष्कर्ष निकाल लेना कि, "औपनिषद ज्ञान के प्रथम सम्प्रदायप्रवर्तक राजर्षि क्षत्रिय ही थे" कदापि सुसङ्गत इसलिए नहीं बन सकता कि,–'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' (ऋक्) 'तस्माद्धान्य-न परः किञ्चनास' (ऋक्) 'अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' इत्यादि मन्त्रवचनों के अनुसार मन्त्रद्रष्टा ब्राह्मण-महर्षि ही 'अज' नामक अव्ययपुरुष से सम्बन्ध रखने वाले वैराग्यबुद्धियोगात्मक 'औपनिषद-ज्ञान' के प्रथमद्रष्टा, तथा प्रथमसम्प्रदायप्रवर्त्तक उद्घोषित हैं। सर्वादिभूत ईशोपनिषत् तो स्वयं ऋषिद्रष्टा यजुः-संहिता का ही अन्तिम भाग है। "अमुक विशेष विद्याओं का प्रथमसम्प्रदायप्रवर्त्तकत्व क्षत्रियों के साथ कैसे सम्बद्ध मान लिया गया?" प्रश्न का समन्वय किसी विशेषदृष्टि से सम्बन्ध रखता है, जिसे अवगत कर लेने पर छान्दोग्यवचन से उत्पन्न होने वाली भ्रान्ति का सर्वात्मना निराकरण हो जाता है।

'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मो षडङ्गो वेदोऽध्येयो, ज्ञेयश्च' इस आदेश को शिरोधार्य्य करने वाले ब्राह्मणश्रेष्ठ बिना किसी लोकैषणा-वित्तैषणा के सर्वथा कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका उत्तरदायित्त्व की निष्ठा से * गुहानिहितरूपेण तत्त्वान्वेषण-कर्म्म में ही प्रधानरूपेण तल्लीन रहते हैं। लोकव्यामोह-सामाजिक प्रचार-लोकख्याति-जनकलकलसंसर्ग आदि प्राकृतिक अनुबन्धों से ब्राह्मणवर्ग सदा से ही तटस्थ रहता आया है, रहना चाहिए। स्वयं राजर्षि मनुने भी–'सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव' (मनु• २।१६२) इत्यादि रूप से ब्राह्मणवर्ग को लोकैषणाप्रवर्त्तक-समग्र सम्मानात्मक सामाजिक अनुबन्धों से आत्मत्राण किए रहने का ही सङ्केत किया है। अनन्यनिष्ठा से चिन्तन करने वाला कदापि प्रचारक नहीं बन सकता, एवं प्रचारक कभी अनन्यनिष्ठा से तत्त्वचिन्तक नहीं बना रह सकता। भावुकता के निग्रहानुग्रह से दुर्भाग्यवश जब से भारतराष्ट्र की ब्राह्मणप्रजा में तत्त्वचिन्तन के साथ साथ प्रचार का मोह जागरूक हो पड़ा, तभी से इसका तत्त्वचिन्तन लोकानुरञ्जक-लोकभावुकता-संरक्षक बनता हुआ सर्वथा अभिभूत हो गया। यही नहीं, इसी प्रचारव्यामोहनानुग्रह से इसकी आत्मबुद्धिनिष्ठा मनःशरीरप्रधाना बनती हुई लोकैषणा-वित्तैषणा की लिप्सा से आमूलचूल ओतप्रोत हो गई। और फलस्वरूप इसका एकान्तनिष्ठ तत्त्वचिन्तन सर्वथैव

---

* सामाजिक बाह्य वातावरण में मुक्तरूप से विचरण करते रहने वाला क्षत्रिय, तथा वैश्यवर्ग जहाँ–'सौर्य्यमासिक'–'वासन्तिक' कहलाया है, वहाँ–'अरतिर्जनसंसदि' लक्षण एकान्तनिष्ठा का अनुगामी तत्त्वचिन्तक ब्राह्मणवर्ग 'गुहानिहित' माना गया है।

अभिभूत हो गया। 'दूसरे कैसे सन्तुष्ट रहें !, लोक-समाज में हमारा लोकैषणामूलक (नामख्यातिरूप) कल्पित व्यक्तित्व कैसे अनुदिन पुष्पित-पल्लवित हो !, सभी वर्ग हमें ही सर्वात्मना कैसे विद्वान्-तत्त्वज्ञ-मर्मज्ञ पक्षपातरहित-यशस्वी उद्घोषित करते रहें !, इत्यादि जघन्य प्रश्नों के तात्कालिक समाधानों में ही अहोरात्र प्रवृत्त ये प्रचारकधुरीण-'दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा' × को अक्षरशः अन्वर्थ प्रमाणित कर रहे हैं।

'तत्त्वचिन्तक ब्राह्मणवर्ग गुहानिहिता आत्ममूला — तत्त्वनिष्ठा में अनन्यनिष्ठा से निष्प्रकरण प्रवृत्त रहता हुआ लोक-समाज-प्रचार से तटस्थ है। तृतीय वैश्यवर्ग अपने विश्वेदेवानुगत समाजप्रिय विट्वीर्य्य से सामाजिक बनता हुआ भी प्रचार में अनधिकृत है। चतुर्थ वर्ग तो केवल योगक्षेमतन्त्र पर ही विश्रान्त है। शेष रह जाता है क्षत्रियवर्ग, जिसके सामान्य क्षत्रिय, तथा मूर्द्धाभिषिक्त राजा, ये दो विभाग हैं। दोनों में सामान्य क्षत्रिय भी लोकैषणानुगति से प्रचार में अनधिकृत है। शेष रह जाता है-मूर्द्धाभिषिक्त राजन्यवर्ग। अवश्य ही इसे पहिले से ही यह लोकसम्मान प्राप्त है, जिसके समतुलन में इसे अन्य सामान्य लौकिक सम्मानों की कोई अपेक्षा नहीं रहती। अतएव भारतीय प्रचारपद्धति में लोकसत्ता-सञ्चालक राजर्षिक्षत्रिय ही विद्या प्रचार का मूलाधार मान लिया गया है। राजा ही लोकतन्त्र की प्रज्ञा का संरक्षण करता हुआ लोकानुरञ्जन विधा से कालगति का स्वरूपनिर्वाहक माना गया है, जैसाकि-'इति ते संशयो मा भूद्-राजा कालस्य कारणम्' (महाभारत) इत्यादि से स्पष्ट है।

मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा ही सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रचार का मूलाधार बनता हुआ 'राजर्षि' उपाधि से सुविभूषित मान लिया गया है। किसी विद्याविशेष के कारण 'राजर्षि' उपाधि व्यवस्थित नहीं हुई है अपितु यह तो अभिषिक्त सत्ताधीश की सामान्य उपाधि है। तभी तो 'वेन' जैसे हीनकर्म्मा-वेदविरोधी-आर्षधर्म विरोधी-सत्ताधीश भी मनुद्वारा 'राजर्षि' नाम से व्यवहृत हो गए हैं*। तत्त्वचिन्तन के द्वारा सुव्यवस्थिता लोकानुगता विविध विद्याएँ सत्ताधीश से ही अनुप्राणित होकर लोकप्रचारानुगता बनती रहीं हैं। जब से यह परम्परा शिथिल हो गई, दूसरे शब्दों में जब से राजसत्ता अपने इस महान् सांस्कृतिक उत्तरदायित्त्व से पराङ्मुख हो गई, तभी से भारतीय विद्याक्षेत्र, तथा तन्मूलक सांस्कृतिक क्षेत्र उन अर्थ-श्रमाधिपतियों के उपलालन का क्रीडाक्षेत्र बन गया, जो प्रकृत्या ही प्रत्येक क्षेत्र को अर्थ की तुला से, तथा शारीरिक श्रमतुला

× अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।

—कठोपनिषत्

— अणोरणीयान्-महतोमहीयान्-आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥

—कठोपनिषत् १।२०।

* स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा।
वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ (मनुः)

चल कर यद्यपि ब्रह्म-क्षत्र, दोनों वर्गों से सम्बद्ध हो गया है। तथापि इसके प्रथमप्रवर्त्तकत्व का श्रेय राजर्षि संस्था को ही है। एवं यही उक्त प्रश्न का कण्टकनिवारक समाधानाभास है।

६—प्रकरणोपसंहारदृष्टि का उपलालनभाव, एवं सिद्धान्तपक्ष—

उक्त समाधान को कण्टकनिवारक इसलिए कहा गया है कि, दिग्देशकालावच्छिन्न प्राकृत विश्वसर्ग की दृष्टि से कालात्मक बुद्धिवाद के माध्यम से ही—'यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति' (छान्दोग्य० ५।३।७।) इत्यादि रूप से औपनिषद ज्ञान की सम्प्रदायप्रवृत्ति राजर्षिवंश्यपरम्परा से अनुप्राणित मान ली गई है। कुछ एक विशेष विद्याएँ राजर्षिपरम्परा में ही प्रतिष्ठित रहतीं थीं, एवं तद्द्वारा ही उन कतिपय विद्याओं की सम्प्रदायप्रवृत्ति ब्राह्मणवर्ग में हुआ करती थी, एतावता ही यह निष्कर्ष निकाल लेना कि, "औपनिषद ज्ञान के प्रथम सम्प्रदायप्रवर्त्तक राजर्षि क्षत्रिय ही थे" कदापि सुसङ्गत इसलिए नहीं बन सकता कि,—'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' (ऋक्) 'तस्माद्धान्य-न परः किञ्चनास' (ऋक्) 'अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्' इत्यादि मन्त्रवचनों के अनुसार मन्त्रद्रष्टा ब्राह्मण-महर्षि ही 'अज' नामक अव्ययपुरुष से सम्बन्ध रखने वाले वैराग्यबुद्धियोगात्मक 'औपनिषद्-ज्ञान' के प्रथमद्रष्टा, तथा प्रथमसम्प्रदायप्रवर्त्तक उद्घोषित हैं। सर्वादिभूत ईशोपनिषत् तो स्वयं ऋषिद्रष्टा यजुः-संहिता का ही अन्तिम भाग है। "अमुक विशेष विद्याओं का प्रथमसम्प्रदायप्रवर्त्तकत्व क्षत्रियों के साथ कैसे सम्बद्ध मान लिया गया?" प्रश्न का समन्वय किसी विशेषदृष्टि से सम्बन्ध रखता है, जिसे अवगत कर लेने पर छान्दोग्यवचन से उत्पन्न होने वाली भ्रान्ति का सर्वात्मना निराकरण हो जाता है।

'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो, ज्ञेयश्च' इस आदेश को शिरोधार्य्य करने वाले ब्राह्मणश्रेष्ठ बिना किसी लोकैषणा-वित्तैषणा के सर्वथा कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका उत्तरदायित्व की निष्ठा से * गुहानिहितरूपेण तत्त्वान्वेषण-कर्म्म में ही प्रधानरूपेण तल्लीन रहते हैं। लोकव्यवहार-सामाजिक प्रचार-लोकख्याति-जनकलाकलापसर्ग आदि प्राकृतिक अनुबन्धों से ब्राह्मणवर्ग सदा से ही तटस्थ रहता आया है, रहना चाहिए। स्वयं राजर्षि मनुने भी—'सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव' (मनु: २।१६२) इत्यादि रूप से ब्राह्मणवर्ग को लोकैषणाप्रवर्त्तक-समाज के सम्मानात्मक सामाजिक अनुबन्धों से आत्मत्राण किए रहने का ही सङ्केत किया है। अनन्यनिष्ठा से चिन्तन करने वाला कदापि प्रचारक नहीं बन सकता, एवं प्रचारक कभी अनन्यनिष्ठा से तत्त्वचिन्तक नहीं बना रह सकता। मानुकता के निग्रहानुग्रह से दुर्भाग्यवश जब से भारतवर्ष की ब्राह्मणप्रजा में तत्त्वचिन्तन के साथ साथ प्रचार का मोह जागरूक हो पड़ा, तभी से इसका तत्त्वचिन्तन लोकानुरञ्जक-लोकभावुकता-संरक्षक बनता हुआ सर्वथा अभिभूत हो गया। यदि नहीं, इसी प्रचारव्यामोहनानुग्रह से इसकी आत्मबुद्धिनिष्ठा मनःशरीरप्रधाना बनती हुई लोकैषणा-वित्तैषणा की लिप्सा से आमूलचूड़ ओतप्रोत हो गई। और फलस्वरूप इसका एकान्तनिष्ठ तत्त्वचिन्तन सर्वथैव

---

* सामाजिक बाह्य वातावरण में मुक्तरूप से विचरण करते रहने वाला क्षत्रिय, तथा वैश्यवर्ग जहाँ—लोकैषणावृत्ति'-'यायावरिक' कहलाया है, वहाँ—'अरतिर्जनसंसदि' लक्षणा एकान्तनिष्ठा का अनुगामी तत्त्वचिन्तक ब्राह्मणवर्ग 'गुहानिहित' माना गया है।

प्रकार शब्द और अर्थ का उत्पत्तिसिद्ध (सहज-नित्य) सम्बन्ध है, एवमेव वेदशास्त्र, और तत्प्रथमप्रवर्त्तक ब्राह्मण का उत्पत्तिसिद्ध सम्बन्ध ही है, जिस प्रथमप्रवर्त्तकत्वमूलक सहजसम्बन्ध का निम्न लिखित शब्दों में यशोगान हुआ है—

ओं-तत्-सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध स्मृत ॥
ब्राह्मणा-स्तेन वेदाश्च-यज्ञाश्च विहिता पुरा ॥१॥ —गीता १७।२३।

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य, क्षत्रियस्य च रक्षणम् ॥
वार्त्ता कर्म्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्म्मसु ॥२॥
—मनु १०।८०।

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत
'औपनिषद-ज्ञानप्रवर्त्तकेतिवृत्तदिग्दर्शन' नामक
सप्तम-स्तम्भ-उपरत

—७—

———

से वैसा करते हैं। सम्पूर्ण विश्व आज तत्त्वदृष्ट्या क्षुब्ध-त्रस्त-संत्रस्त क्यों है ?, प्रश्न का यही बीज है। मन से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ ने, एवं शरीर से सम्बन्ध रखने वाले श्रम ने, दोनों नें बुद्धि-सम्बन्धी धर्म्म, तथा आत्मसम्बन्धिनी निष्ठा, दोनों को निस्तेज प्रमाणित कर दिया है। साहित्य-संस्कृति-धर्म्म-निष्ठा-आस्था-आदि का मूल्याङ्कन आज वित्त-श्रम-जीवियों के द्वारा उसी प्रकार हो रहा है, जैसे कि वे अपने आपण व्यवसाय (दुकानदारी), तथा श्रमव्यवसाय (मेहनत) के माध्यम से लौकिक-भौतिक जड़-पदार्थों का मूल्याङ्कन किया करते हैं। आपणरसिक भूतपदार्थों के प्रति भाव-ताव-मोल-तोल-लेखा-जोखा-बही-खाता रखनें वाले ही आज ब्राह्मणप्रज्ञा से अनुप्राणिता सांस्कृतिक निष्ठा का, अ-मर्य्याद अवमान का 'बाजारभाव' लगाने का अक्षम्य अपराध करने की धृष्टता करते हुए यत्किञ्चित् भी तो लज्जा से अवनतशिरस्क नहीं हो जाते। ऐसा क्यों हो रहा है ?, कैसे हो गया ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान है अर्थ-श्रम-जीवियों के हाथों में प्रचार का उत्तरदायित्व-समर्पण। यही विश्वक्षोभ का महान् कारण है —। क्योंकि दोनों ही वर्ग अपने आप को न तो लोकैषणा से ही बचाए रख सकते, न वित्तैषणा ही इन्हें मुक्त कर सकती। इन्हीं सब प्राकृतिक स्थितियों के आधार पर भारतीय ऋषिप्रज्ञा ने प्रचार का समस्त उत्तरदायित्व लोकतन्त्रात्मक से ही सम्बद्ध माना है। देशाधिपति ही स्वयं अन्वेषणा कर राष्ट्रीय विद्याक्षेत्रों को प्रोत्साहित करता रहता था, एवं वसुधिपाएँ इसीके द्वारा राष्ट्रीय ज्ञानकोष को समृद्ध करतीं रहतीं थीं। स्वयं तत्त्वचिन्तक भी वैसी विधाओं को-जिनका लोकाभ्युदय से विशेष सम्बन्ध है-सत्ताक्षेत्र में उपहाररूप से समर्पित कर जाते थे, एवं सत्ताधीश उनका सम्प्रदायप्रवर्त्तक बना करता था। पूर्वोक्त छान्दोग्यवचनों का, तथा शाङ्करभाष्य का यही तत्त्वसम्मत समन्वय हो सकता है। ब्रह्म-क्षत्र के इस सहज समन्वय का अभिभव हुआ एकमात्र ब्राह्मण की लोकैषणा से ही। प्रचारैषणा में आसक्त ब्राह्मणवर्ग का ही सर्वप्रथम स्खलन हुआ। इस स्खलन के जो जो भीषण परिणाम राष्ट्र को भोगने पड़े, एवं पड़ रहे हैं, स्पष्टतम हैं। वर्त्तमान सभी क्षुब्धवातों की उपशान्ति का एकमात्र निदान है अभिभूता ब्रह्मप्रज्ञा का जागरण। यह तभी सम्भव है, जबकि ब्रह्मप्रज्ञा प्रचार-प्रसारादि समस्त लोकैषणापथों का अकिञ्चित्कर परित्याग कर अनन्यनिष्ठा से गुहानिहित बन कर न्यूनतम एक शताब्दिपर्य्यन्त गुहानिहित-मतमाध्यम से तत्त्वचिन्तन-वेदस्वाध्याय-में प्रवृत्त हो पड़े। इसी मङ्गलकामना के साथ प्रस्तुत स्तम्भ इस निष्कर्ष पर उपरत हो रहा है कि, "औपनिषद-ज्ञान हो, अथवा आरण्यकोपासना, विधिभागात्मक कर्मकाण्ड हो अथवा वो मन्त्रसंहितात्मक तत्त्ववाद, सम्पूर्ण वेदशास्त्र की प्रथमप्रवृत्ति का मूलश्रेय महर्षिवर्ग को ही प्राप्त है"। वेद-और ब्राह्मण का परस्पर आत्म-शरीर सम्बन्ध है। जिस

— वैश्य-शूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्म्माणि कारयेत्।
तौ हि च्युतौ स्वकर्म्मभ्य क्षोभयेतामिदं जगत्॥
—मनुः ८।४१८।

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

'श्रौती उपनिषत् के साथ स्मार्त्ती उपनिषत् का समतुलन' नामक

(उपनिषत् के साथ गीता का समतुलन-नामक)
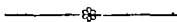
अष्टम-स्तम्भ

८

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

'औपनिषद-ज्ञानप्रवर्त्तकेतिवृत्तादिग्दर्शन' नामक

सप्तम-स्तम्भ उपरत

७

———❀———

श्री

वेदोपनिषत् के साथ गीतोपनिषत् का समतुलन

१–उपनिषत् और गीता—

'उपनिषत्' शब्द के अवच्छेदक का स्पष्टीकरण करते हुए षष्ठ स्तम्भ में यह निवेदन किया जा चुका है कि, 'उपनिषत्' शब्द नित्यसिद्ध उपपत्तिविज्ञानात्मक निश्चयभावप्रवर्त्तक मौलिक सिद्धान्त का ही संग्राहक है। भारतीय शास्त्रनिधि में अपौरुषय–वेदशास्त्र के अतिरिक्त 'गीताशास्त्र' ही एक ऐसा पौरुषेयशास्त्र (स्मृतिशास्त्र) है, जिसने उपनिषत् शब्द के तथोक्त अवच्छेदक का अक्षरशः अनुगमन किया है। अमुक (पूर्वपरिच्छेदप्रतिपादित) कारणविशेष से अपौरुषय वेदशास्त्र के अध्यात्मानुगत बुद्धियोग–प्रतिपादक अन्तिम वेदभाग में निरूढ हो जाने वाला 'उपनिषत्' शब्द पौरुषेय स्मार्त्त गीताशास्त्र की अध्यात्मभित्ता, एवं तदनुगत वैराग्यबुद्धियोग का संग्राहक बनता हुआ इसके साथ भी समन्वित हो पड़ा है। यही कारण है कि, वेदातिरिक्त सम्पूर्ण भारतीय शास्त्रों में एकमात्र गीताशास्त्र को ही 'उपनिषत्' की उपाधि प्राप्त हुई है। अतएव गीताशास्त्र आर्षपरम्परा में 'स्मार्त्त–उपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। 'स्मार्त्त' शब्द ही यह व्यक्त कर रहा है कि, गीता अपौरुषेय शास्त्र नहीं है, अपितु अपौरुषेय श्रुतिशास्त्र (उपनिषच्छास्त्र) प्रामाण्य के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला स्मृतिशास्त्र है। स्वयं गीताशास्त्र ने अपने मन्तव्य की प्रामाणिकता के लिए "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ" (गीता १६।२३) इत्यादि रूप से अपनी प्रामाणिकता का आधार शास्त्र को ही माना है।

२–गीता की शास्त्रमर्य्यादा—

नितान्त भावुकतापूर्णा आज की मानवप्रज्ञा की कुछ ऐसी मान्यता हो चली है कि, "मानव जीवन के ऐहलौकिक अभ्युदय सुख की प्राप्ति के लिए, तथा पारलौकिक निःश्रेयस–शान्तिभाव के लिए केवल गीताशास्त्र ही पर्य्याप्त है। तात्पर्य्य–गीताशास्त्र मानव की यच्चयावत् कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठाओं के लिए पर्य्याप्त है। कोई आवश्यकता नहीं, गीता से अतिरिक्त किसी अन्य उस शास्त्राडम्बर के अनुगमन की, जो अपने विधिनिषेधात्मक कर्म्मकाण्डों से मानव की प्रज्ञा को अधिकाधिक विकम्पित ही करता रहता है"।

अपनी तथोपवर्णिता मान्यता के अनुग्रह से वर्त्तमान भारतीय प्रज्ञा की दृष्टि में गीताशास्त्र ही उसका कर्त्तव्यकर्म्म का अन्यतम निर्णायक ग्रन्थ बन गया है। कर्त्तव्यकर्म्मविचारविमुख इसी महती भ्रान्ति ने एकमात्र विज्ञानसिद्धान्तसूत्रक इस गीताशास्त्र को आबालवृद्धवनिता–सब का उपलालन–साधन बना दिया है। गीताशास्त्र की भाषा इतिहास की (महाभारत की) भाषा है, अतएव व्याकरणानुगत प्रकृति–प्रत्यय–भावानुबन्ध से बोधगम्या है। अतएव सभी इसके अक्षरार्थ से सहज में ही परिचित हो जाते हैं, जिस अक्षरार्थबोध का विश्राम इनकी दृष्टि में केवल कर्त्ता–करण–पञ्चमी–षष्ठी–आदि भावों पर ही हो जाता है। और यों अपनी

प्रकृति के विभिन्न तत्त्ववादों को लक्ष्य बना रहा है । इन्हीं अभिलाषाओं के कारण गीतावत् दर्शन आबालवृद्ध-वनिता के तो उपलालन के माध्यम नहीं बन सके । हाँ उन भारतीय विद्वानों का उपलालन अवश्य ही इन दर्शनों ने कर डाला, जो श्रुति-स्मृतिसिद्धा आचारनिष्ठा को विस्मृत कर चुके थे। अथवा यों कह लीजिए कि, दर्शनों के व्यामोहन ने ही भारतीय विद्वत्प्रजा को आत्मनिष्ठानुगत, अतएव शाश्वत-धर्म्मनिष्ठानुगत आचारपथ से,एवं तत्प्रतिपादक रहस्यपूर्ण श्रुति-स्मृतिशास्त्र से पराङ्मुख कर दिया। अस्तु, यह विषय स्वतन्त्र रूप से अन्य निबन्ध में * प्रतिपादित है । प्रकृत में इस दिशा में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, दर्शन भी गीतावत् अमुक प्राकृतिक सिद्धान्तों के ही प्रतिपादक हैं । धर्म्मानुगता आचारनिष्ठा से दर्शन का कोई सम्बन्ध नहीं है । अतएव गीतावत् दर्शन भी भारतीय कर्त्तव्यनिर्णायक शास्त्र की सीमा से सर्वथा बहिष्कृत है। गीता और दर्शन, दोनों ही तन्त्रों का धर्म्मनिष्ठा से साक्षात् रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। और दुर्भाग्यवश आज भारतवर्ष धर्म्मात्मिका आर्यनिष्ठा के क्षेत्र में धर्म्मस्वरूपप्रतिपादक श्रुति-स्मृतिशास्त्र, एवं धर्म्म-कर्म्मेतिहास-निरूपणात्मक पुराणशास्त्र की आत्यन्तिक अवहेलना कर केवल तत्त्ववादात्मिका गीता-दर्शन-भक्ति का ही भ्रान्त-पथिक प्रमाणित हो रहा है । विद्वानों का पाण्डित्य दर्शन पर समाप्त है, एवं सर्वसाधारण की मान्यता गीतापारायण पर विश्रान्त है ।

४-गीता का महान् कौशल—

'उपनिषत्' के प्रतिपाद्य-सम्बन्ध में पूर्वप्रकरणों में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जा चुका है । 'दर्शन' के प्रतिपाद्य-सम्बन्ध में स्वतन्त्ररूप से अन्य निबन्ध में इच्छा न रहते भी कुछ निवेदन कर देना पड़ा है, क्योंकि भारतीय दर्शनवाद ने भारतीय श्रौत-स्मार्त्त धर्म्म का कोई उपकार नहीं किया है । शेष रह जाता है गीताशास्त्र । इसी के सम्बन्ध में दो शब्द निवेदन कर प्रस्तुत प्रकरण उपरत हो रहा है ।

क्या करना चाहिए ?, विध्यात्मक अनुशासनात्मक इस शास्त्रोपदेश से, दूसरे शब्दों में कर्त्तव्याकर्म्मेतिकर्त्तव्यता से कोई सम्बन्ध न रखता हुआ गीताशास्त्र 'कैसे करना चाहिए ?,' इस कर्म्म कौशल का ही स्पष्टीकरण कर रहा है, जो कि गीताशास्त्र का महान् कौशल माना जायगा । इस कर्म्मकौशल का नित्यसिद्ध मौलिक विज्ञान-सिद्धान्त ही मुख्य आधार है । जो विषय वेद के उपनिषत्-भाग का है, वही विषय विस्तार से गीता में प्रतिपादित है । तभी तो इसे भी 'उपनिषत्' का सम्मान प्राप्त हो गया है । पद्यात्मक संकोचभाव यदि उपनिषत् का लक्ष्य है, तो गेयात्मक विस्तारभाव इसका लक्ष्य है । तभी तो इसे 'गीता' (संक्षिप्त औपनिषद सिद्धान्त का विस्तार) नाम से सुविभूषित किया गया है। निवृत्त-ज्ञानभाव समन्विता सांख्यनिष्ठा, एवं प्रवृत्त-कर्म्मभावसमन्विता योगनिष्ठा, दोनों विभिन्न निष्ठाओं का सर्वत्र समरूपेण अवस्थित समत्वयोगाधिष्ठाता अव्ययब्रह्म के माध्यम से समत्व स्थापित करते हुए मानव को बुद्धियोगनिष्ठा से समन्वित कर देना सचमुच गीताशास्त्र का महान् कौशल माना जायगा । इस मुख्य कौशल के साथ साथ गीता ने जिस कौशल से सम्पूर्ण अपौरुषेयशास्त्र

---

*-'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश, और भारतीय आर्यधर्म्म के नवग्रह' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में इस विषयों का विस्तार से उपबृंहण हुआ है ।

इतिहासभाषा के आकर्षण से अत्यन्त निगूढ विज्ञानसिद्धान्तों का सूचक गीताशास्त्र आज सर्वसामान्य का भीड़ाक्षेत्र बन रहा है। एवं यही आज भावुक-प्रज्ञा का अन्यतम शास्त्र बन रहा है, जबकि कर्त्तव्यकर्म्मात्मिका आचारनिष्ठा (आचरणपद्धति) के अनुशासन से सम्बन्ध रखने वाले 'शास्त्र' शब्द के अवच्छेदक का गीता से यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। 'भारतीय मानव का क्या कर्त्तव्य है!,' इस प्रश्न का गीता से कोई सम्बन्ध नहीं है। सहज भाषानुसार-'हमें क्या करना चाहिए, एवं क्या नहीं करना चाहिए!,' शास्त्रविधि से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रश्न का गीता कोई समाधान नहीं करती। ठीक इसके विपरीत यदि गीता से कोई इस दिशा में यह प्रश्न कर बैठता है, तो गीता विस्पष्ट शब्दों में इस उत्तरदायित्त्व का भार 'शास्त्र' पर ही डाल देती है।

"क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए ?, इस जिज्ञासा का समाधान शास्त्र के द्वारा ही प्राप्त करना चाहिए। 'जो ऐसा न कर अपनी इच्छामात्र से अच्छे-बुरे की कल्पना कर काल्पनिक कर्म्मों में प्रवृत्त हो जाता है, उसे न लोकसुख मिलता, न आत्मशान्ति उपलब्ध होती"* इत्यादि रूप से गीता विस्पष्ट शब्दों में कर्त्तव्य कर्म्म-निर्णय के सम्बन्ध में किसी अन्य शास्त्र की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है, जिस 'अन्यशास्त्र' का सम्बन्ध उस 'श्रुति-स्मृतिशास्त्र' से है, जिसमें श्रौत-स्मार्त कर्त्तव्य-कर्म्मों का स्वरूप विहित हुआ है। श्रुति से श्रौतकर्म्म, श्रौती उपासना, श्रौत ज्ञान प्रतिपादक 'ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्'-नामक कर्त्तव्यवेदभाग ही गृहीत है। क्योंकि वेद के इसी 'कर्त्तव्यवेद भाग' में मानव के कर्म्मोपास्तिज्ञानात्मक देवप्राणनिबन्धन समस्त कर्त्तव्यों का विधान हुआ है। स्मृति से श्रुतिसिद्ध एवं लौकिक कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता बतलाने वाला कल्पशास्त्र, तथा मन्वादि स्मृतिशास्त्र ही गृहीत है, क्योंकि इसी में मानव के भूतप्राणनिबन्धन लौकिक कर्म्मों का संग्रह हुआ है। विधि-आरण्यक-उपनिषदात्मक ब्राह्मणश्रुति एवं तत्प्रामाण्याधार पर, प्रतिष्ठिता स्मृति, दो पर ही कर्त्तव्यकर्म्म विधायक अनुशासनात्मक 'शास्त्र' शब्द विश्रान्त है। एवं-'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते' से यही शास्त्र अभिप्रेत है। यही गीता की शास्त्रमर्य्यादा है, जिसे विस्मृत कर आर्य्यप्रजा ने अपनी समस्त आचारनिष्ठा को अभिभूत कर लिया है।

३-दर्शन, और शास्त्रमर्य्यादा—

गीता की भांति 'दर्शन' के व्यामोहन ने भी भारतीय प्रज्ञा को सर्वात्मना विकम्पित ही किया है। दोनों में अन्तर केवल यही रहा है कि, दर्शन सूत्रात्मक है, अतएव भाषादृष्ट्या क्लिष्ट है, जब कि गीता की भाषा इतिहासग्रन्थ की मर्य्यादा के अनुबन्ध से सरल है। दर्शनों के भाष्य भी 'इग्रस्य टीका विशेषा' रूपेण क्लिष्ट ही बने हुए हैं। फिर विषय भी अन्तोपक्रमभूता-बहुतत्त्ववादसमाकुलिता-नानाभावनिबन्धना-भूत्युलक्षणा

---

* यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम् ॥१॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्मकर्त्तुमिहार्हसि ॥२॥ (गीता।१६।२३,२४,)।

निःसंकोच कहा जा सकता है—कि, उपनिषत्-और गीता का परस्पर वही सम्बन्ध है, जो कि सम्बन्ध वैदिक परिभाषाओं में उक्थ और अर्क का माना गया है।

हृदयावच्छिन्न मूलतत्त्व 'उक्थ' माना गया है। इस मूलोक्थ के आधार पर चारों ओर वितत होने वाली तूलात्मिका रश्मियाँ 'अर्क' कहलाई हैं। रश्मिमण्डल ही अर्कमण्डल है, यही विभूतिमण्डल, महिम-मण्डल, पुनःपद, साहस्री, वैश्वरूप्य, मण्टकार, आदि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है। दूसरे शब्दों में सूक्ष्मरूप उक्थ है, स्थूल-विकसित-रूप अर्क है। जिन विषयों का उपनिषच्छास्त्र में सुसूक्ष्म भाषा में थोड़े में निरूपण हुआ है, उन्हीं विषयों का गीताशास्त्र में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। उपनिषत् जहाँ उक्थ-शास्त्र है, वहाँ गीता अर्कशास्त्र है। उपनिषत् यदि भाषाविज्ञान की दृष्टि से पद्यस्थानीय है, तो गीता गेयस्थानीया है। पद्य का वितत रूप ही गान है। पद्य वाणी का सङ्कुचित रूप है,गान वाणी का वितत रूप है। क्योंकि गीताशास्त्र पद्यस्थानीय उपनिषच्छास्त्र में उपवर्णित विषयों का विस्तारभाव से, वितानभाव से प्रतिपादन करता है। एकमात्र इसी आधार पर इस शास्त्र को 'गीता' नाम से व्यवहृत किया गया है।

इसी आधार पर हम गीताशास्त्र को न केवल ज्ञानशास्त्र मानते, न केवल विज्ञानशास्त्र। जिस प्रकार उपनिषच्छास्त्र ज्ञानविज्ञानोभयशास्त्र है, एवमेव तत्समतुलित गीताशास्त्र भी ज्ञानविज्ञानोभयशास्त्र है, जैसाकि–'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः' इत्यादि गीतासूक्ति से प्रमाणित है। यही कारण है कि, हमनें गीताशास्त्र को दर्शनपरिभाषा से पृथक् मानते हुए इसे एक अपूर्व, पूर्ण, तथा विलक्षण शास्त्र माना है (देखिए गीताविज्ञानभाष्यभूमिका बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथम खण्ड)।

६–गीता, और कृत्स्नवेदशास्त्र–

गीताशास्त्र का उपनिषच्छास्त्र से क्या सम्बन्ध है ?, इस प्रश्न के उपयुक्त समाधान के अनन्तर हमारे सम्मुख 'यदागम' न्याय से कृत्स्न वेदशास्त्र उपस्थित होता है। जैसाकि पूर्व स्तम्भों में बतलाया गया है, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, वेदशास्त्र के ये चारों खण्ड विज्ञान, स्तुति, इतिहास, कर्म्म, उपासना, ज्ञान इन ६ ओं प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण करते हुए 'सर्व' मर्य्यादा से युक्त हैं। क्योंकि उपनिषत् इस मर्य्यादा से 'सर्वशास्त्र' है, एवं गीताशास्त्र उपनिषत् से समतुलित है। अतएव कहा जा सकता है कि, गीताशास्त्र अवश्यमेव सर्वशास्त्र है, जैसाकि—'गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः' इत्यादि सूक्ति से भी ध्वनित है। षड्विषयप्रतिपादक वेदशास्त्र से समतुलित गीताशास्त्र में अवश्य ही विज्ञानादि ६ ओं विषयों का प्रतिपादन होना ही चाहिए।

उक्त ६ ओं विषयों के अतिरिक्त 'बुद्धियोग' नामक एक स्वतन्त्र विषय और बच रहता है, जिसके रहस्यविश्लेषण का श्रेय एकमात्र वेद के उपनिषत्-भाग को ही है। षड्विषयप्रतिपादन से जहाँ गीताशास्त्र वेद-शास्त्र से समतुलित है, वहाँ बुद्धियोगप्रतिपादन से गीताशास्त्र उपनिषत् शास्त्र से समतुलित है। बुद्धियोग एकमात्र उपनिषच्छास्त्र का विषय है। उधर गीताशास्त्र षड्विषयप्रतिपादन के साथ साथ इसी बुद्धियोग को अपना प्रधान प्रतिपाद्य बना रहा है। एकमात्र इसी प्रधानता के कारण 'तद्वाद' न्याय से गीताशास्त्र सर्ववेद-समान्यविषय का निरूपण करता हुआ भी नाम से 'उपनिषत्' ही कहलाया। इस मीमांसा से हमें इस

(वेदशास्त्र) के रहस्यपूर्ण ज्ञान-विज्ञानात्मक निगूढ़ सिद्धान्तों की जैसी संग्राहिका तालिका (सूची) अपने क्रोड़ में समाविष्ट कर ली है, वैसा अन्य किसी भारतीय शास्त्र में नहीं है । और यही गीताशास्त्र का कृत्स्नसंग्रहात्मक दूसरा महान् कौशल है । इन उभयविध अलौकिक महान् कौशलों का कौशलपूर्वक संग्रह करने वाले गीताशास्त्र ने यहाँ मानवीय अलौकिक आत्मभाव को पुष्पित-पल्लवित किया है, वहाँ भौतिक विश्व से अनुप्राणित लोकसंग्रहलक्षण लोकसंरक्षण की भी उस राजपद्धति का यथैव अनुभाव से स्वरूप-विश्लेषण किया है, जिसके अनुष्ठान से मानव का लोकतन्त्र भी सर्वात्मना सुव्यवस्थित बन जाता है । एवं यही गीताशास्त्र का तृतीय महान् कौशल है । इन्हीं कौशलों के कारण गीताशास्त्र स्मृतिस्थानीय बनता हुआ भी श्रुतिशास्त्र (उपनिषच्छास्त्र) के सम्मान से सम्मानित हो गया है, जोकि सम्मान गीताशास्त्र के अतिरिक्त अद्यावधि और किसी भी भारतीय शास्त्र को उपलब्ध नहीं हो सका है ।

५–गीता का दृष्टिकोण–

वेदप्रामाण्य के आधार पर प्रतिष्ठित, ईश्वरावतार भगवान्-कृष्ण के मुखपङ्कज से विनिःसृत गीताशास्त्र का अन्य परत प्रमाणशास्त्रों में विशेष समादर देखा सुना जाता है । यही कारण है कि, भारतीय सम्प्रदायाचार्यों नें स्वसम्प्रदाय-प्रामाण्य के लिए उपनिषत्, वेदान्तसूत्रों के साथ साथ गीताशास्त्र का भी संग्रह करना आवश्यक समझा है, जो कि प्रामाण्यत्रयी विद्वत्समाज में 'प्रस्थानत्रयी' नाम से प्रसिद्ध है । प्रथम स्थान उपनिषच्छास्त्र का है, द्वितीय स्थान गीताशास्त्र का है, एवं तृतीय स्थान वेदान्तसूत्र का है । वेदान्त-सूत्रोंनें उपनिषदों के वचनों का समन्वय किया है, अतएव इसे भी यद्यपि उपनिषच्छास्त्र से समतुलित माना जा सकता है माना गया है, तथापि उपनिषदों के तात्त्विक विषयों का साक्षात्रूप से स्पष्टीकरण करने वाला गीताशास्त्र वेदान्तसूत्र की अपेक्षा उपनिषच्छास्त्र के अधिक समीप है, यह स्वीकार कर लेनें में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती ।

प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से भी उक्त मान्यता तथ्यपूर्ण ही मानी जायगी । 'आत्मयुक्त विश्व' का दर्शन कराने वाला शास्त्र ही दर्शनशास्त्र है । *अव्यय-अक्षर-आत्मक्षरसमष्टि 'आत्मा' है, एवं आत्मक्षरविशिष्ट* विकारक्षरसंघ 'विश्व' है । आत्मक्षरयुक्त विकारक्षरसंघात्मक विश्व का दर्शन वैशेषिकशास्त्र ने कराया है । आत्मक्षरगर्भित अक्षर नामक आत्मकला के दर्शन सांख्यशास्त्र ने कराए हैं । अव्ययगर्भित अक्षरकला के दर्शन वेदान्तशास्त्र ने कराये हैं । इसप्रकार वेदान्तशास्त्र का पर्य्यवसान एक प्रकार से अक्षर पर ही समाप्त हो जाता है, जैसाकि–"अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्" (वे॰सू॰ ३।४।११) इस सूत्र से स्पष्ट है । सर्वमूर्द्धन्य उपनिषच्छास्त्र विश्व आत्माक्षर, अक्षरगर्भित अव्ययपुरुष को अपना मुख्य *लक्ष्य बनाता है, एवं अव्ययप्राप्ति के साधनभूत बुद्धियोग का स्पष्टीकरण करता है । उधर हमारा गीताशास्त्र भी* उपनिषत् के लक्ष्यीभूत अव्ययपुरुष को, तथा तत्प्राप्तिसाधनभूत बुद्धियोग को ही अपना लक्ष्य बनाता है । अतएव गीताशास्त्र को वेदान्तशास्त्र की तुलना में हम उपनिषत् के अधिक समीप माननें के लिए तैयार हैं । गीताशास्त्र उपनिषत्-शास्त्र से सर्वात्मना समतुलित है, एकमात्र इसी सौसादृश्य के आधार पर गीताशास्त्र 'उपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है –जैसाकि–'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' इत्यादि अध्यायसंहारवाक्यों से प्रमाणित है । इन्हीं कुछ एक प्रामाणिक परिस्थितियों के आधार पर यह

आत्मविभूतिविज्ञानम्

४—"रसोऽहमप्सु कौन्तेय ! प्रभास्मि शशिसूर्य्ययो' ॥
प्रणव सर्ववेदेषु शब्द खे पौरुषं नृषु ॥१॥
पुण्यो गन्ध' पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ॥
जीवन सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥२॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्व श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥३॥
—गीता ७।८, ६,।

आत्मगतिविज्ञानम्

५—"अग्निर्ज्योतिरह शुक्ल षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना ॥१॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्ण षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥२॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगत शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्त्तते पुनः ॥३॥
—गीता ८।२४, २५, २६, ।

महद्विज्ञानम्

६—"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भव' सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥१॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तय सम्भवन्ति या ।
तासा ब्रह्म महद्योनिरह बीजप्रद' पिता ॥२॥ "
—गीता १४।३, ४, ।

अश्वत्थविज्ञानम्

७—"ऊर्ध्वमूलमध शाखमश्वत्थ प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्त वेद स वेदवित् ॥१॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवाला ।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्म्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥ ※
—गीता १५।१,२।

※ इत्यादि विज्ञानों के अतिरिक्त ऋग्वेदीय दशधा विभक्त सृष्टिविज्ञानों का भी गीता में यत्र तत्र स्पष्टीकरण हुआ है, जिनका विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' द्वितीयखण्ड 'ख' विभाग के 'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' नामक प्रकरण में किया जा चुका है।

निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, गीताशास्त्र षड्विषयप्रतिपादनपूर्वक औपनिषद बुद्धियोग का ही प्रधानरूप से प्रतिपादन कर रहा है। अब इस सम्बन्ध में हमारा यह कर्त्तव्य शेष रह जाता है कि, वेदशास्त्र के समतुलन के लिए गीताशास्त्र के आधार पर पहिले तो ६ श्रौ विषयों का दिग्दर्शन करा दिया जाय, अनन्तर उपनिषच्छास्त्र सम्मत बुद्धियोगानुगत प्रमाण उद्धृत कर दिया जाय।

(१)—विज्ञानसमर्थकवचनानि—

प्रजापतिविज्ञानम्

१—"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः॥
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः ॥२॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्॥
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्" ॥३॥

—गीता ३।१०, १४, १५।

आत्मसमष्टिविज्ञानम्

२—"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः॥
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥१॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना॥
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥२॥

—गीता ३।४२, ४३।

प्रकृतिविज्ञानम्

३—"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥१॥
अपरेयम्
इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत् ॥२॥

—गीता ७।४, ५,।

३–कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि ॥
—गीता ३।२०।

४–यज्ञदानतप कर्म्म न त्याज्य कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
—गीता १८।५।

५–सर्वकर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥"
—गीता १८।५६।

---

(५)–उपासनासमर्थकवचनानि —

१–"योगिनामपि सर्वेषा मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मा स मे युक्ततमो मत ॥
—६।४७।

२–पुरुष स पर पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्त स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥
—८।२२।

३–अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्य सम्यग्व्यवसितो हि स ॥
—९।३०।

४–अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
—९।२२।

५–सतत कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता ।
नमस्यन्तश्च मा भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
—९।१४।

---

(२)—स्तुतिसमर्थकवचनानि—

१—"ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जय ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥
२—"कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्—
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ॥
अनन्त देवेश जगन्निवास—
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥
३—नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥"
—गीता ११।१४,३७,४०।

(३)—इतिहाससमर्थकवचनानि—

१—"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ॥
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥
२—एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ॥
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ! ॥
—गीता ४।१,२
३—महर्षीणां भृगुरहम् । देवर्षीणां च नारदः । गन्धर्वाणां चित्ररथः ।
सिद्धानां कपिलो मुनिः । प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम् । वृष्णीना-
वासुदेवोस्मि । मुनीनामप्यहं व्यासः । कवीनामुशनाकविः ।"

(४)—कर्मसमर्थकवचनानि—

१—"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
—गीता १८।४६।
२—सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥
—गीता, १८।४८

३–कर्म्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादय ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥

—गीता ३।२०।

४–यज्ञदानतप कर्म्म न त्याज्य कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

—गीता १८।५।

५–सर्वकर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वत पदमव्ययम् ॥"

—गीता १८।५६।

(५)–उपासनासमर्थकवचनानि—

१–"योगिनामपि सर्वेषा मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत ॥

—६।४७।

२–पुरुष स पर पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्त स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

—८।२२।

३–अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्य सम्यग्व्यवसितो हि स ॥

—९।३०।

४–अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना पर्य्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

—९।२२।

५–सतत कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

—९।१४।

(२)—स्तुतिसमर्थकवचनानि—

१—"तत स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जय. ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥

२—"कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन्—
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ॥
अनन्त देवेश जगन्निवास—
त्वमक्षर सदसत्तत्परं यत् ॥

३—नम पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्य्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व ॥"

—गीता ११।१४,३७,४०।

(३)—इतिहाससमर्थकवचनानि—

१—"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ॥
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥

२—एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदु' ॥
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ! ॥

—गीता ४।१,२।

३—महर्षीणां भृगुरहम् । देवर्षीणां च नारद' । गन्धर्वाणां चित्ररथः ।
सिद्धानां कपिलो मुनि । प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम् । वृष्णीना—
वासुदेवोस्मि । मुनीनामप्यहं व्यास' । कवीनामुशनाकवि ।"

(४)—कर्म्मसमर्थकवचनानि—

१—"यत प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव ॥

—गीता १८।४६।

२—सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

—गीता, १८।४८

३—कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि ॥

—गीता ३।२०।

४—यज्ञदानतप कर्म्म न त्याज्य कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

—गीता १८।५।

५—सर्वकर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥"

—गीता १८।५६।

---

(५)—उपासनासमर्थकवचनानि—

१—"योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत" ॥

—६।४७।

२—पुरुष स पर' पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्त'स्थानि भूतानि येन सर्वमिद ततम् ॥

—८।२२।

३—अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्य सम्यग्व्यवसितो हि स ॥

—९।३०।

४—अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना पर्य्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

—९।२२।

५—सतत कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

—९।१४।

---

(६)—ज्ञानयोगसमर्थकवचनानि—

१—"यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्-आत्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य्यं न विद्यते ॥

२—श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ! ।
सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

३—न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

४—उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

५—अपिचेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥

---

(७)—सिद्धान्तयोग (बुद्धियोग) समर्थकवचनानि—

१—"एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धि,-र्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि ॥
—२।३९।

२—व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह ! कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
—२।४१।

३—योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
—२।४८।

४—दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ! ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥
—२।४९।

५—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥

६ कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥
—२।५०।

७ श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥
—२।५३।

—————❀—————
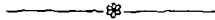
निरूपणीय प्रधान विषय के साथ साथ गीताशास्त्र के सम्बन्ध में हमारा अपना एक प्रातिस्विक मन्तव्य यह भी है कि,-'गीता वेदशास्त्रीय विषयों की संक्षिप्त सूची है'। दूसरे शब्दों में यह कहना अधिक समीचीन होगा कि,-'औपनिषद कुछ एक तत्त्वों के लिए गीताशास्त्र जहाँ विस्तारभूमि है वहाँ इतर वेदभागों के लिए गीताशास्त्र एकप्रकार का स्मारक ग्रन्थ है'। एक एक, दो दो, तीन तीन श्लोकों में गीताशास्त्र में गहनतम तत्त्वों का, निगूढ विधाओं का सङ्केतविधि से विश्लेषण हुआ है, जिनके पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए वेदशास्त्रसमाश्रय परमावश्यक बन जाता है। केवल गीताशास्त्र के आधार पर जो महानुभाव गीताप्रतिपाद्य विषयों का समन्वय कर डालना चाहते हैं, हमारी दृष्टि में यह उनका साहस है, कल्पित आत्मतुष्टिमात्र है।

अस्तु, गीता किन विषयों का तो संकेतविधि से, तथा किन विषयों का विस्तारविधि से निरूपण करती है ?, इत्यादि प्रश्न अप्राकृत हैं। स्वयं गीताभाष्य इन सब समस्याओं का समाधान करने के लिए पर्याप्त है। प्रकृत में इस सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि, वेदशास्त्र, तथा गीताशास्त्र, दोनों अनेक दृष्टियों से समसम्बन्धी हैं। इसमें भी वेद के उपनिषद्भाग की तुलना में तो गीता निकटतमसम्बन्धिनी बन रही है। यहाँ कुछ एक ऐसे वचन उद्धृत कर देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा, जो दोनों के इस सख्यभाव का पूर्ण समर्थन कर रहे हैं—

(१)—"अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते" (गीता १३।१२।)।
"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्" (ऋक् सं० १०।१२।६।१।)।

(२)—"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" (गी० १०।८)।
"अहं ता (नि) विश्वा (नि) चकरम्" (ऋक् सं० ४।४२।६।)।

(३)—"अहं क्रतुरहं यज्ञः" (गी० ९।१६)।
"अहमर्या सि वितरामि सुक्रतु" (ऋक्सं० १०।४८।४८।)।

(४)—"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन" (गीता ९।१९।)।
"उभयं हैतदग्रे प्रजापतिरास-मर्त्यं चैवामृतं च" (शत० १०।१।४।१।)।

(५)—"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः ॥" (कठोप० १।३।१०) ।
"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः ॥" (गी० ३।४२) ।

(६)—"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" (कठो० ६।१)
"ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्" (गी० १५।१) ।

(७—"द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च" ॥
—ऋक् सं० १०।८८।१५।
शुक्ल-कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः ॥ (गी० ८।२६।) ।

---

* प्रकरणोद्देश्य—

प्रस्तुत प्रकरण का उद्देश्य एकमात्र यही है कि, जिन्हें औपनिषद ज्ञान की जिज्ञासा है, उन्हें उपनिषत् साहित्य के साथ साथ गीतासाहित्य को भी अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। कारण यही है कि, उपनिषदों ने आत्मविदों में से जिस पुरुषोत्तम (अव्यय) को अपना लक्ष्य बनाया है, एवं आत्यन्तिक शान्तिप्राप्तिसाधनभूत जिस वैराग्यलक्षणा बुद्धियोग का उपनिषदों में दिग्दर्शन कराया गया है, वह ऋषिभेद से यत्रतत्र बिखरा हुआ सा है। किसी एक ही उपनिषत् में अव्ययपुरुष, तथा बुद्धियोग का विस्पष्ट निरूपण नहीं है। यदि इस सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय, तो भी अतिशयोक्ति न मानी जायगी कि, जो अव्ययपुरुष, एवं जो बुद्धियोग उपनिषदों में सर्वथा गुहानिहित है, गीताचार्य्य ने उसे साक्षात्स्वरूप प्रदान किया है। अतएव गीताचार्य्य ही इसके प्रथम प्रवर्त्तक मान लिए गए हैं। एक ही ग्रन्थ में बड़ी प्राञ्जलभाषा में समस्त उपनिषदों के सारभूत अव्ययात्मा, तथा बुद्धियोग का प्रतिपादन करने वाला गीताशास्त्र अवश्यमेव उपनिषत्-स्वाध्याय प्रेमियों के लिए श्रेयःप्रेयःपन्था माना जायगा। जिस युग में वैदिक परिभाषाएँ विलुप्त सी हो गई हों, उस भाव के युग में तो गीताशास्त्र ही एक ऐसा साधन है, जिसको सेतु बना कर हम औपनिषद ज्ञानसमुद्र का सन्तरण कर सकते हैं। किन्तु ।

'किन्तु' का समावेश इसलिए किया जा रहा है कि, कुछ एक साम्प्रदायिकों से पुष्पित पल्लवित सम्प्रदायवाद ने ज्ञान-विज्ञानप्रधान तत्त्वप्रतिपादक गीताशास्त्र को 'दर्शनशास्त्र' का रूप दे डाला है। साम्प्रदायिक दर्शन-भाव की प्रतिच्छाया से युक्त गीताशास्त्र अपने रहस्यपूर्ण औपनिषद तत्त्वभाव से बहुत पीछे हट गया है। यदि पाठकों ने उसी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से गीता को माध्यम बनाया, तो कहना पड़ेगा कि, वे औपनिषद-तत्त्वपरिज्ञान में सफल न हो सकेंगे। गीता तभी माध्यम मानी जा सकेगी, जबकि साम्प्रदायिक दृष्टिकोण

से इसे सर्वथा असंस्पृष्ट रखते हुए विशुद्ध तत्त्ववाद के आधार पर इसका अवलोकन किया जायगा। गीताशास्त्र की इसी तत्त्वमर्यादा को सुरक्षित रखने के लिए आर्षसाहित्यप्रेमी महानुभावों की सेवा में 'गीताविज्ञानभाष्य' उपस्थित हुआ है। उपनिषदों में संक्षेप से, साथ ही मधुकरवृत्ति से प्रतिपादित अध्यात्मस्वरूप, एवं तत्प्राप्तिसाधनभूत वैराग्यबुद्धियोग का विशद एकत्र स्पष्ट निरूपण देखना हो, उन्हें अवश्य ही 'गीताविज्ञानभाष्य' को लक्ष्य बनाना चाहिए, एकमात्र यही सूचित करना प्रकृत प्रकरण का मुख्य उद्देश्य है।

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—तृतीयखण्डान्तर्गत
'श्रौती उपनिषत् के साथ स्मार्त्ती उपनिषत् का समतुलन' नामक
अष्टम स्तम्भ—उपरत

८

——❁——

(५)–"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः · · ॥" (कठोप० १।३।१०) ।
"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः · ॥" (गी० ३।४२) ।

(६)–"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" (कठो० ६।१) ।
"ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्" (गी० १५।१) ।

(७–"द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च" ॥
—ऋक् सं० १०।८८।१५।
शुक्ल–कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ (गी० ८।२६।) ।

प्रकरणोद्देश्य—

प्रस्तुत प्रकरण का उद्देश्य एकमात्र यही है कि, जिन्हें औपनिषद ज्ञान की जिज्ञासा है, उन्हें उपनिषत् साहित्य के साथ साथ गीतासाहित्य को भी अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। कारण यही है कि, उपनिषदों ने आत्मश्रुतियों में से जिस पुरुषोत्तम (अव्यय) को अपना लक्ष्य बनाया है, एवं आत्यन्तिक शान्तिप्राप्तिसाधन-भूत जिस वैराग्यलक्षण बुद्धियोग का उपनिषदों में दिग्दर्शन कराया गया है, वह श्रुतिभेद से यत्रतत्र बिखरा हुआ सा है। किसी एक ही उपनिषत् में अव्ययपुरुष, तथा बुद्धियोग का विस्पष्ट निरूपण नहीं है। यदि इस सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय, तो भी अतिशयोक्ति न मानी जायगी कि, जो अव्ययपुरुष, एवं जो बुद्धियोग उपनिषदों में सर्वथा गुहानिहित है, गीताचार्य्य ने उसे व्यक्तस्वरूप प्रदान किया है। अतएव गीताचार्य्य ही इसके प्रथम प्रवर्तक मान लिए गए हैं। एक ही ग्रन्थ में सरल प्राञ्जलभाषा में समस्त उपनिषदों के सारभूत अव्ययात्मा, तथा बुद्धियोग का प्रतिपादन करने वाला गीताशास्त्र अवश्यमेव उपनिषत्-स्वाध्याय प्रेमियों के लिए श्रेयःप्रेयस्कर माना जायगा। जिस युग में वैदिक परिभाषाएँ विलुप्त सी हो गई हों, उस अभाव के युग में तो गीताशास्त्र ही एक ऐसा साधन है, जिसको सेतु बना कर हम औपनिषद ज्ञानसमुद्र का सन्तरण कर सकते हैं। किन्तु ।

'किन्तु' का सन्निवेश इसलिए किया जा रहा है कि, कुछ एक शताब्दियों से पुष्पित पल्लवित सम्प्रदाय-वाद ने ज्ञान–विज्ञानप्रधान तत्त्वप्रतिपादक गीताशास्त्र को 'दर्शनशास्त्र' का रूप दे डाला है। साम्प्रदायिक दर्शन–भाव की प्रतिच्छाया से युक्त गीताशास्त्र अपने रहस्यपूर्ण औपनिषद तत्त्वभाव से बहुत पीछे हट चुका है। यदि पाठकों ने उसी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से गीता को माध्यम बनाया, तो कहना पड़ेगा कि, वे औप-निषद–तत्त्वविज्ञान में सफल न हो सकेंगे। गीता तभी माध्यम मानी जा सकेगी, जबकि साम्प्रदायिक दृष्टिकोण

*–भूमिका–तृतीयखण्डोपसंहार, एवं खण्डत्रयात्मक भूमिकाग्रन्थोपसंहार—

प्रकरण आवश्यकता से अधिक विशद हो गया है, जब कि 'उपनिषदों का आत्मतत्त्व,' वेदान्तसूत्र, और उपनिषत्' आदि आवश्यक विषय अभी ज्यों के त्यों सुरक्षित हैं। आरम्भ में भूमिकाग्रन्थ २०० पृष्ठों में सम्पन्न हुआ, आगे चलकर ५०० पृष्ठों का आश्रय लिया गया। जब प्रकाशनप्रतिलिपि (प्रेसकॉपी) का अवसर आया, तो विशेष स्पष्टीकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप भूमिकाग्रन्थ के १५०० पृष्ठ हो गए, एवं उस समय इसे तीन खण्डों में विभक्त करना पड़ा।

ग्रन्थ समाप्त करने से पहिले हम यह निवेदन करना आवश्यक समझते हैं—कि, उपनिषदों के अक्षरार्थमात्र से तब तक औपनिषद तत्त्वों का समन्वय नहीं किया जा सकता, जब तक कि समस्त वैदिक तत्त्वों से सम्बन्ध रखने वाली परिभाषाओं का विशुद्ध आर्षप्रणाली से समन्वय नहीं कर लिया जाता। साथ ही उपनिषद्–भाग के यथावत् स्वरूपपरिचय के लिए विधि, आरण्यकादि अन्य वेदभागों का आलोडन विलोडन भी आवश्यकरूप से अपेक्षित है। उदाहरण के लिए कठोपनिषत् के 'नचिकेतोपाख्यान' को ही लीजिए। यमराज के अतिथि नचिकेता यमराज से 'स्वर्ग्याग्नि' का स्वरूप पूँछते हैं। यमराज निम्न लिखित शब्दों में नचिकेता का समाधान करते हैं—

> "लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
> स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः॥"
>
> (कठोपनिषत् १।१। १५)।

हम साहस पूर्वक कह सकते हैं कि, ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित, पञ्चचितिक, चयनयज्ञ की इतिकर्त्तव्यता का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किए बिना परिडतराज भी उपर्युक्त शब्दार्थ मात्र के आधार पर स्वर्ग्याग्नि का रहस्य नहीं समझ सकते। वेदशास्त्र की तात्त्विक परिभाषाओं का ऋषियों ने पृथक् ग्रन्थरूप से संकलन अवश्य किया था, जिनके लिए यत्र तत्र 'रहस्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है। परन्तु कालपुरुष के प्रकोप से, अथवा तो हमारी आत्यन्तिक उदासीनता से रहस्यप्रतिपादक वे रहस्यग्रन्थ हमारी दृष्टि से ओझल हो गए हैं। वेदार्थसमन्वय में यही एक कठिनाई है। दूसरी कठिनाई है—स्वाध्यायपरम्परा की विलुप्ति। तीसरी कठिनाई है स्वमत का प्राबल्य, एवं आप्तधर्म्म, तथा तन्मूलक आर्षसाहित्य (वैदिक साहित्य) के प्रति वर्त्तमान भारतीयप्रजा की अनन्य उपेक्षा। इन्हीं सब जटिल समस्याओं के कारण हमारा यह 'भाषाप्रयास' भी यदि दुरूह मान लिया जायगा, तो विशेष आश्चर्य न होगा। एकमात्र इसी जटिलता के अनुग्रह से हमें अनेक विषयों को पुनरुक्तिदोष का अतिथि बनाना पड़ा है।

सर्वान्त में सत्यतत्त्व के प्रतिपादन के नाते यदि किन्हीं महानुभावों के प्रति हमारे मुख से अनुचितोचित निकल गया हो, तो उसके लिए हम हृदय से क्षमाप्रार्थी हैं। निगूढ़तम रहस्यपूर्ण वैदिक परिभाषाओं के

श्री

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-तृतीयखण्डान्तर्गत

'श्रौती उपनिषत् के साथ स्मार्ती उपनिषत् का समतुलन' नामक

अष्टम स्तम्भ–उपरत

८

यथावत्-बोध से हम सर्वात्मना वञ्चित हैं। ऐसी दशा में हमारा यह प्रयास सर्वथा दोषरहित होगा, यह प्रतिज्ञा तो व्यर्थ है। तथापि इस सम्बन्ध में यह तो कहना अनुचित न माना जायगा कि, विलुप्त वेदराशि के पुनः अन्वेषणकर्म्म में यह अंशतः सहायक मान लिया जायगा। परमात्मा आर्यप्रजा का ध्यान अपनी इस आर्षसम्पत्ति की ओर आकर्षित करे, इसी उपलालन के साथ भूमिका-ग्रन्थ विश्राम ले रहा है।

ओम्-शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इत्युपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकायाः—

तृतीयः खण्डः समाप्तः

३
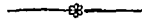
समाप्तश्चाय भूमिकाग्रन्थः

प्रीयतामनेनात्मदेवतेति शम्

श्री

उपरतश्चायम्-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकाया·-

तृतीय-खण्डः

अष्टस्तम्भात्मकः

३

———∝———

उपरता चेयमुपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका खण्डत्रयात्मिका

——⊷○⊶——